आचार्य देवेन्द्र मुनि

2954

कर्म-विज्ञान

८

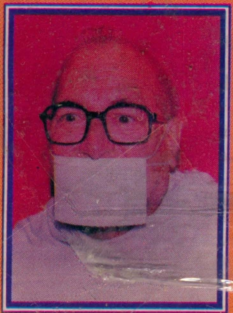

प्रज्ञापुरुष आचार्य श्री देवेन्द्र मुनि

साधुता, सरलता से दीप्तिमान होती है,

विद्या, विनय से शोभती है,

सबके प्रति सद्भाव, समभाव और सबके लिए हित-कामना से संघनायक का पद गौरवान्वित होता है।

श्रद्धेय आचार्य श्री देवेन्द्र मुनि जी के साथ यदि आप कुछ क्षण बितायेंगे और उनके विचार; व्यवहार को समझेंगे तो आप अनुभव करेंगे–ऊपर की पंक्तियाँ उनकी जीवन-धरा पर बहती हुई वह त्रिवेणी धारा है, जिसमें अवगाहन करके सुख, शान्ति और सन्तोष का अनुभव होगा।

श्रुत की सतत समुपासना और निर्दोष निष्काम सहज जीवनशैली, यही है आचार्य श्री देवेन्द्र मुनि जी म. का परिचय। छोटे-बड़े, अमीर-गरीब सभी के साथ शालीन व्यवहार, मधुर स्मित के साथ संभाषण और जन-जन को संघीय एकतासूत्र में बांधे रखने का सहज प्रयास; आचार्यश्री देवेन्द्र मुनिजी की विशेषताएँ हैं।

वि. सं. १९८८ धनतेरस (कार्तिक वदी १३) ७-११-१९३१ को उदयपुर में जन्म।

वि. सं. १९९७ में गुरुदेव उपाध्यायश्री पुष्कर मुनि जी म. सा. के चरणों में भागवती जैन दीक्षा।

वि. सं. २०४९ अक्षय तृतीया को श्रमण संघ के आचार्य पद पर प्रतिष्ठा।

प्राकृत-संस्कृत, गुजराती, मराठी, हिन्दी आदि भाषाओं का अधिकार पूर्ण ज्ञान तथा आगम, वेद, उपनिषद्, पिटक, व्याकरण, न्यास, दर्शन; साहित्य, इतिहास आदि विषयों का व्यापक अध्ययन अनुशीलन और धारा प्रवाह लेखन।

लिखित/संपादित/प्रकाशित पुस्तकों की संख्या ३६० से अधिक। लगभग पैंतालीस हजार से अधिक पृष्ठों की सामग्री।

विनय, विवेक, विद्या की त्रिवेणी में सुस्नात पवित्र जीवन; इन सबका नाम है आचार्य श्री देवेन्द्र मुनि जी महाराज।

–दिनेश मुनि

कर्म-विज्ञान

आठवाँ भाग

मोक्ष तत्त्व का स्वरूप-विवेचन

आचार्य श्री देवेन्द्र मुनि

श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय, उदयपुर

श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय का ३४६वाँ रत्न

● कर्म-विज्ञान : आठवाँ भाग
(मोक्ष तत्त्व का स्वरूप-विवेचन)

● लेखक : आचार्य श्री देवेन्द्र मुनि

● सम्पादक : विद्वद्रत्न मुनि श्री नेमिचन्द्र जी

● प्रथम आवृत्ति : वि. सं. २०५३, कार्तिक शुक्ला ५
ज्ञान पंचमी
नवम्बर १९९६

● प्रकाशक/प्राप्ति-स्थान : श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय
गुरु पुष्कर मार्ग, उदयपुर-३१३ ००१
फोन : (०२९४) ४१३५१८

● मुद्रण : श्री राजेश सुराना द्वारा,
दिवाकर प्रकाशन
ए-७, अवागढ़ हाउस, एम. जी. रोड
आगरा-२८२ ००२
फोन : (०५६२) ३५११६५

● मूल्य : एक सौ पच्चीस रुपया

प्रकाशकीय बोल

धर्म और कर्म अध्यात्म जगत् के ये दो अद्भुत शब्द हैं, जिन पर चैतन्य जगत् की समस्त क्रिया/प्रतिक्रिया आधारित है। सामान्यतः धर्म शब्द मनुष्य के मोक्ष/मुक्ति का प्रतीक है और कर्म शब्द बंधन का। बंधन और मुक्ति का ही यह समस्त खेल है। कर्मबद्ध आत्मा प्रवृत्ति करता है, कर्म में प्रवृत्त होता है, सुख-दुःख का अनुभव करता है, कर्म से मुक्त होने के लिए फिर धर्म का आचरण करता है, मुक्ति की ओर कदम बढ़ाता है।

'कर्मवाद' का विषय बहुत गहन गम्भीर है, तथापि कर्म-बंधन से मुक्त होने के लिए इसे जानना भी परम आवश्यक है। कर्म-सिद्धान्त को समझे बिना धर्म को या मुक्ति-मार्ग को नहीं समझा जा सकता।

हमें परम प्रसन्नता है कि जैन जगत् के महान् मनीषी, चिन्तक/लेखक आचार्यसम्राट् श्री देवेन्द्र मुनि जी महाराज ने 'कर्म-विज्ञान' नाम से यह विशाल ग्रन्थ लिखकर अध्यात्मवादी जनता के लिए महान् उपकार किया है। यह विराट् ग्रन्थ लगभग ४५०० पृष्ठ का होने से हमने नौ भागों में विभक्त किया है। प्रथम भाग में कर्मवाद पर दार्शनिक एवं वैज्ञानिक चर्चा है तथा दूसरे भाग में पुण्य-पाप पर विस्तृत विवेचन है। तृतीय भाग में आस्रव एवं उसके भेदोपभेद पर तर्क पुरस्सर विवेचन है। चौथे भाग में कर्म-प्रकृतियों का, पाँचवें भाग में बंध की विविध प्रकृतियों की विस्तृत चर्चा है। छठे भाग में कर्म का निरोध एवं क्षय करने के हेतु संवर तथा निर्जरा के साधन एवं स्वरूप का विवेचन किया गया है तथा सातवें भाग में संवर साधना के विविध उपायों का दिग्दर्शन करते हुए निर्जरा तत्त्व के भेद-प्रभेद पर विस्तार के साथ चिन्तन किया है। आठवें भाग में मोक्ष का स्वरूप तथा उसके साधनभूत तत्त्वों का दिग्दर्शन है।

यद्यपि कर्म-विज्ञान का यह विवेचन बहुत ही विस्तृत होता जा रहा है, प्रारम्भ में हमने तीन भाग की कल्पना की थी। फिर पाँच भाग का अनुमान लगाया, परन्तु अब यह नौ भागों में परिपूर्ण होने जा रहा है। किन्तु इतना विस्तृत विवेचन होने पर भी यह बहुत ही रोचक और जीवनोपयोगी बना है। पाठकों को इसमें ज्ञानवर्द्धक सामग्री उपलब्ध होगी, साथ ही जीवन में आचरणीय भी।

इसके प्रकाशन में पूर्व भागों की भाँति दानवीर डॉ. श्री चम्पालाल जी देशरडा का पूर्ण सहयोग प्राप्त हुआ है। डॉ. श्री देशरडा साहब बहुत ही उदारमना समाजसेवी परम गुरुभक्त सज्जन हैं। पूज्य गुरुदेव उपाध्याय श्री पुष्कर मुनि जी महाराज के प्रति आपकी अपार आस्था रही है, वही जीवन्त आस्था श्रद्धेय आचार्यश्री के प्रति भी है। आपके सहयोग से इस भाग का ही नहीं, अपितु कर्म-विज्ञान के आठ भागों के प्रकाशन का आर्थिक अनुदान आपश्री ने प्रदान किया है। जिसके फलस्वरूप कर्म-विज्ञान ग्रन्थ का प्रकाशन सम्भव हो सका है। ऐसे परम गुरुभक्त पर हमें हार्दिक गौरव है।

चुन्नीलाल धर्मावत

श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय

पुस्तक प्रकाशन के विशिष्ट सहयोगी
डॉ. श्री चम्पालाल जी देसरडा

सभी प्राणी जीवन जीते हैं, परन्तु जीना उन्हीं का सार्थक है जो अपने जीवन में परोपकार, धर्माचरण करते हुए सभी के लिए सुख और मंगलकारी कर्त्तव्य करते हों। औरंगाबाद निवासी डॉ. श्री चम्पालाल जी देसरडा एवं सौ. प्रभादेवी का जीवन ऐसा ही सेवाभावी परोपकारी जीवन है।

श्रीयुत चम्पालाल जी के जीवन में जोश और होश दोनों ही हैं। अपने पुरुषार्थ और प्रतिभा के बल पर उन्होंने विपुल लक्ष्मी भी कमाई और उसका जन-जन के कल्याण हेतु सदुपयोग किया व कर रहे हैं। आपमें धार्मिक एवं सांस्कृतिक अभिरुचि है। समाजहित एवं लोकहित की प्रवृत्तियों में उदारतापूर्वक दान देते हैं, स्वयं अपना समय देकर लोगों को प्रेरित करते हैं। अपने स्वार्थ व सुख-भोग में तो लाखों लोग खर्च करते हैं परन्तु धर्म एवं समाज के हित में खर्च करने वाले विरले होते हैं। आप उन्हीं विरले सत्पुरुषों में एक हैं।

आपके पूज्य पिता श्री फूलचन्द जी साहब तथा मातेश्वरी हरकूबाई के धार्मिक संस्कार आपके जीवन में पल्लवित हुए। आप प्रारम्भ से ही मेधावी छात्र रहे। प्रतिभा की तेजस्विता और दृढ़ अध्यवसाय के कारण धातुशास्त्र (Metallurgical Engineering) में पी-एच. डी. की उपाधि प्राप्त की।

आपका पाणिग्रहण पूना निवासी श्री मोतीलाल जी नाहर की सुपुत्री अ. सौ. प्रभादेवी के साथ सम्पन्न हुआ। सौ. प्रभादेवी धर्मपरायण, सेवाभावी महिला हैं। जैन आगमों में धर्मपत्नी को '**धम्मसहाया**' विशेषण दिया है वह आपके जीवन में चरितार्थ होता है। आपके जीवन में सेवा, दान, स्वाध्याय एवं सामायिक की चतुर्मुखी ज्योति है।

आपके सुपुत्र हैं—श्री शेखर जी। वे भी पिता की भाँति तेजस्वी प्रतिभाशाली हैं। इंजीनियरिंग परीक्षा १९८६ में विशेष योग्यता से समुत्तीर्ण की है। आपने तभी से पिता के कारखानों के कारोबार में निष्ठा से तथा अतियोग्यता के साथ काम-काज सम्भाला है। पेपर मिलों के अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में अपने उत्पादन को लब्धप्रतिष्ठित किया है। शेखर जी की धर्मपत्नी सौ. सुनीतादेवी तथा सुपुत्र श्री किशोर कुमार एवं मधुर हैं।

परम गुरुभक्त डा. चम्पालाल जी फूलचन्द जी देसरडा धर्मशीला सौ. प्रभा देवी चम्पालाल जी देसरडा

श्री शेखर जी भी धर्म एवं समाज-सेवा में भाग लेते हैं तथा उदारतापूर्वक सहयोग प्रदान करते हैं।

श्री चम्पालाल जी की दो सुपुत्रियाँ हैं–सौ. सपना दुगड नासिक और कुमारी शिल्पा।

आप अनेक सेवाभावी सामाजिक संस्थाओं के उच्च पदों पर आसीन हैं। दक्षिणकेसरी मुनि श्री मिश्रीलाल जी महाराज होम्योपैथिक मेडिकल कॉलेज, गुरु गणेशनगर तथा गुरु मिश्री अस्पताल, औरंगाबाद के आप सेक्रेटरी हैं। आप अभी दक्षिणकेसरी मुनि मिश्रीलाल जी महाराज ग्रामीण केन्सर अस्पताल तथा रिसर्च इन्स्टीट्यूट की विशाल महायोजना को सम्पन्न कराने में तन-मन-धन से जुटे हुए हैं।

सन् १९८८ में श्रद्धेय उपाध्याय श्री पुष्कर मुनि जी महाराज एवं आचार्य श्री देवेन्द्र मुनि जी महाराज अहमदनगर का वर्षावास सम्पन्न कर औरंगाबाद पधारे, तब आपका आचार्यश्री से सम्पर्क हुआ। आचार्यश्री के साहित्य के प्रति आपकी विशेष अभिरुचि जाग्रत हुई। कर्म-विज्ञान पुस्तक के विभिन्न भागों के प्रकाशन में आपश्री ने विशिष्ट अनुदान प्रदान किया है। अन्य अनेक प्रकाशनों में भी आपश्री ने मुक्त हृदय से अनुदान प्रदान किया है तथा स्वाध्यायोपयोगी साहित्य फ्री वितरण करने में भी बहुत रुचि रखते हैं। आपकी भावना है, घर-घर में सत्साहित्य का प्रचार हो, धर्म एवं नीति के सद्विचारों से प्रत्येक पाठक का जीवन महकता रहे।

आपकी उदारता और साहित्यिक सुरुचि प्रशंसनीय ही नहीं अनुकरणीय भी है। आपके सहयोग के प्रति हार्दिक साधुवाद !

आपके व्यावसायिक प्रतिष्ठान निम्न हैं :

- **PRATISHTHAN ALLOY CASTINGS**
- **PRATISHTHAN ALLOYS PVT. LTD.**
- **PARASON MACHINERY (INDIA) PVT. LTD.**
- **SUNMOON SLEEVES PVT. LTD.**

–चुन्नीलाल धर्मावत
कोषाध्यक्ष
श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय, उदयपुर

समस्या अनेक : समाधान एक

जैनदर्शन अनेकान्तवादी दर्शन है। सापेक्षवाद की पृष्ठभूमि पर इसका विकास हुआ है। प्रत्येक प्रश्न पर वह सापेक्षदृष्टि से विचार करता है। आत्मा के सम्बन्ध में भगवान महावीर ने कहा है—एगे आया—आत्मा एक है। यह कथन स्वभाव की दृष्टि से है। आत्मा का स्वभाव है चेतना। उपयोग। चेतना की दृष्टि से संसार की सभी आत्माएँ समान हैं। सबमें सुख-दुःख की संवेदना है। सबको सुख प्रिय है। दुःख अप्रिय है। इस दृष्टि से सब आत्माएँ समान हैं। स्वभाव, स्वरूप एवं अस्तित्व की दृष्टि से प्रत्येक आत्मा समान है।

दूसरी दृष्टि से चिन्तन करने पर हम यह देखकर विस्मय में पड़ जाते हैं कि संसार में कोई भी आत्मा समान नहीं है। कोई जीव एकेन्द्रिय वाला है, कोई दो इन्द्रिय वाला, कोई तीन तो कोई चार व पाँच इन्द्रिय वाला। किसी प्राणी की चेतना बहुत विकसित है, बुद्धि प्रखर है, शरीर व इन्द्रियाँ परिपूर्ण हैं तो किसी प्राणी की आत्म-चेतना बहुत अल्पविकसित है, मंद-बुद्धि है, शरीर से रोगी है, इन्द्रियाँ भी हीन हैं। इस प्रकार संसार में कोई भी आत्मा या जीव समान नहीं दीखता। प्रत्येक जीव के बीच इतनी असमानता व भिन्नता है कि देखकर विस्मय एवं कुतूहल होता है कि यह कौन कलाकार है जिसने इतनी कुशलता व चतुरता के साथ प्रकृति के प्रत्येक पदार्थ का निर्माण किया है कि सभी परस्पर एक-दूसरे से भिन्न और असमान दिखाई देते हैं।

संसार की विचित्र स्थितियों को देखकर मन में एक कुतूहल जगता है। संसार में इतनी विभिन्नता/इतनी विचित्रता क्यों है? प्रकृति के अन्य अंगों को छोड़ देवें, सिर्फ मनुष्य जाति पर ही विचार करें तो हम देखेंगे, भारत के ८० करोड़ मनुष्यों में कोई भी दो मनुष्य एक समान नहीं मिलते। उनकी आकृति में भेद है, प्रकृति में भेद है। कृति, मति, गति और संस्कृति में भी भेद है। विचार और भावना में भेद है। तब प्रश्न उठता है, आखिर यह भेद या अन्तर क्यों है? किसने किया है? इसका कारण क्या है?

प्रकृतिजन्य अन्तर या भेद के कारणों पर तो वैज्ञानिकों ने बड़ी सूक्ष्मता और व्यापकता से विचार किया है और उन्होंने एक कारण खोज निकाला—हेरिडिटी—(Heredity) वंशानुक्रम।

वैज्ञानिकों का कहना है—हमारा शरीर कोशिकाओं द्वारा निर्मित है। एक कोशिका (एक सेल) कितना छोटा होता है, इस विषय में विज्ञान की खोज है—एक

पिन की नोंक पर टिके इतने स्थान पर लाखों लाख कोशिकाएँ हैं। कोशिकाएँ इतनी सूक्ष्म हैं। उन सूक्ष्म कोशिकाओं में जीवन-रस है। उस जीवन-रस में जीवकेन्द्र–न्यूक्लीयस (Nucleus) है। जीवकेन्द्र में क्रोमोसोम (Chromosomes) गुणसूत्र विद्यमान हैं। उनमें जीन (जीन्स–Genes) हैं। जीन में संस्कारसूत्र हैं। ये जीन (Genes) ही सन्तान में माता-पिता के संस्कारों के वाहक या उत्तराधिकारी होते हैं। एक जीन जो बहुत ही सूक्ष्म होता है, उसमें छह लाख संस्कारसूत्र अंकित होते हैं। इन संस्कारसूत्रों के कारण ही मनुष्यों की आकृति, प्रकृति, भावना और व्यवहार में अन्तर आता है।

इस वंशानुक्रम विज्ञान (जीन सिस्टमोलोजी) का आज बहुत विकास हो चुका है। यद्यपि वंशानुक्रम के कारण अन्तर की बात प्राचीन आयुर्वेद एवं जैन आगमों में भी उपलब्ध है। आयुर्वेद के अनुसार पैतृक गुण अर्थात् माता-पिता के संस्कारगत गुण सन्तान में संक्रमित होते हैं। भगवान महावीर ने भी भगवती तथा स्थानांगसूत्र में जीन को मातृअंग पितृअंग के रूप में निरूपित किया है। इसलिए आधुनिक विज्ञान में वंशानुक्रम विज्ञान की खोज कोई नई बात नहीं है। मारवाड़ी भाषा का एक दोहा प्रसिद्ध है :

"बाप जिसो बेटो, छाली जिसो टेटा,
घड़े जिसी ठिकरी, माँ जिसी दीकरी।"

यह निश्चित है कि माता-पिता के संस्कार सन्तान में संक्रमित होते हैं और वे मानव व्यक्तित्त्व के मूल घटक होते हैं। परन्तु देखा जाता है, एक ही माता-पिता की दो सन्तान–एक समान वातावरण में, एक समान पर्यावरण में पलने पर, एक समान संस्कार और शिक्षा की व्यवस्था होने पर भी–दोनों में बहुत-सी असमानताएँ रहती हैं। एक समान जीन्स होने पर भी दोनों के विकास में, व्यवहार में, बुद्धि और आचरण में भेद मिलता है। एक अनपढ़ माता-पिता का बेटा प्रखर बुद्धिमान् और एक डरपोक कायर माता-पिता की सन्तान अत्यन्त साहसी, वीर, शक्तिशाली निकल जाती है। बुद्धिमान् माता-पिता की सन्तान मूर्ख तथा वीर कुल की सन्तान कायर निकल जाती है। सगे दो भाइयों में से एक का स्वर मधुर है, कर्णप्रिय है, तो दूसरे का कर्कश है। एक चतुर चालाक वकील है, तो दूसरा अत्यन्त शान्तिप्रिय, सत्यवादी हरिश्चन्द्र है। ऐसा क्यों है?

वंशानुक्रम विज्ञान के पास इन प्रश्नों का आज भी कोई उत्तर नहीं है। मनोविज्ञान भी यहाँ मौन है। एक सीमा तक जीन्स का अन्तर समझ में आ सकता है। परन्तु जीन्स में यह अन्तर पैदा करने वाला कौन है? विज्ञान वहाँ पर मौन रहता है, तब हम कर्म-सिद्धान्त की ओर बढ़ते हैं। कर्म जीन से भी अत्यन्त सूक्ष्म सूक्ष्मतर

है और जीन की तरह प्रत्येक प्राणधारी के साथ संपृक्त है। अतः जब हम सोचते हैं कि व्यक्ति-व्यक्ति में जो भेद है, अन्तर है, उसका मूल कारण क्या है? तो कर्म शब्द में इसका समाधान मिलता है। कर्म की विभिन्न प्रकृतियों का सूक्ष्म विवेचन समझने पर यह बात स्पष्ट होती है कि–असमानता एवं विविधता का कारण कर्म है।

गणधर गौतम ने भगवान महावीर से पूछा–इन प्राणियों में परस्पर इतना विभेद क्यों है? तो भगवान महावीर ने इतना स्पष्ट और सटीक उत्तर दिया– **"गोयमा ! कम्मओ णं विभत्तीभावं जणयइ !"**–हे गौतम ! कर्म के कारण यह भेद है? 'कर्म' ही प्रत्येक प्राणी के व्यक्तित्त्व का घटक है। कर्म ही संसार की विचित्रता का कारण है।

बहुत-से धर्मचिन्तकों एवं दार्शनिकों ने कर्म को संस्कार के रूप में प्रतिपादित किया है। जैन तत्त्वज्ञान की दृष्टि से कर्म एक विशेष शब्द है जिसमें क्रिया, प्रवृत्ति और संस्कार से भी सूक्ष्म तथा विशिष्ट अर्थ छिपा है। जैनदर्शन के अनुसार क्रिया अर्थात् प्रवृत्ति के साथ जब कषाय (राग-द्वेष) का संयोग होता है, तब आत्मा (जीव) के भीतर एक कम्पन/खिंचाव (आकर्षण) पैदा होता है इस प्रदेश-स्पन्दन द्वारा आकृष्ट विशेष प्रकार के पुद्‌गल स्कंध आत्मा के साथ दूध में पानी की तरह संश्लिष्ट हो जाते हैं अर्थात् आत्मा द्वारा आकृष्ट उन पुद्‌गल स्कंधों को कर्म कहते हैं जो स्वयं तो पुद्‌गल/जड़ हैं किन्तु अपने स्वभाव के द्वारा आत्मा पर आवरक बनकर छा जाते हैं जैसे सूरज पर बादल, दीपक या बल्ब पर काँच आदि का आवरण। कर्म आत्मा का स्वभाव नहीं, विभाव है, वह स्वभाव को आवृत करता है, स्वभाव में विकार, रुकावट या प्रतिरोध पैदा करता है। धर्म आत्मा का स्वभाव है। आत्मा अर्थात् परम शुद्ध चेतना। उस चेतना का स्वभाव है ज्ञानमय, सतत जागृति शक्ति-सम्पन्नता और सतत आनन्दमय। सामान्य भाषा में हम जिसे सत्-चित्-आनन्दमय स्वरूप कहते हैं वही आत्मा का स्वभाव है।

जैनदर्शन के अनुसार आत्मा के चार मुख्य गुण या स्वभाव हैं–**प्रकाश** अर्थात् अनन्त ज्ञानमय स्वरूप, जागृति अर्थात् अनन्त दर्शनमय स्वरूप अथवा अनन्त आनन्दमय स्वरूप, अव्याबाध सुख तथा अनन्त शक्ति-सम्पन्नता। इसे अनन्त चतुष्टय कहा जाता है। यह अनन्त चतुष्टय प्रत्येक आत्मा का स्वभाव है।

उदाहरण द्वारा इस प्रकार समझें कि–यह आत्मा एक केन्द्रीय शक्ति है। इस आत्मा के परिपार्श्व में कषाय, राग-द्वेष की वृत्तियाँ चारों तरफ से घेरा डाले हुए हैं और उसके बाहर है–कर्मपुद्‌गल का वलय अर्थात् आठ प्रकार की कर्म संरचना। इसे हम इस प्रकार भी कह सकते हैं। मध्य में आत्मा स्थित है। उसके चारों तरफ कषाय का घेरा है, कषाय-रस (चिकनाई) आत्मा को सचिक्कण बनाये हुए है और

उसके बाहर आठ कर्म वलय हैं। जैसे कोई पहलवान अखाड़े में उतरने से पहले पूरे शरीर को तेल चुपड़ लेता है फिर वह कसरत व्यायाम करता है तो हवा में व्याप्त मिट्टी के कारण उस शरीर से चिपक जाते हैं। आत्मा की लगभग यही स्थिति है। इन कर्म कणों में कुछ कर्म आत्मा की शक्ति पर आवरण डालते हैं जैसे ज्ञानावरण, दर्शनावरण। यह आवरण आँखों पर पड़े पर्दे की तरह आत्मा की ज्ञान-दर्शन आदि शक्तियों को ढँक लेता है। कुछ कर्म विकारक होते हैं वे आत्मा में मोह, मूर्च्छा, आसक्ति पैदा करके उसे दिग्मूढ़ कर देते हैं, जैसे–मोहनीय कर्म। मदिरा के नशे की तरह यह ज्ञानमय आत्मा को मोह की मूर्च्छा से ग्रस कर देता है आत्मा अपनों को पहचान नहीं पाता और पर-वस्तु के प्रति आसक्ति, मोह, राग आदि करने लगता है। इसे हम विकारक शक्ति कह सकते हैं। आवरक शक्ति से विकारक शक्ति ज्यादा खतरनाक है। इसी कारण मोहकर्म को सबसे प्रबल और सबसे अधिक हानिकारक माना है। कुछ कर्म न आवरण डालते हैं और न विकार पैदा करते हैं किन्तु आत्मा की शक्ति में रुकावट या प्रतिरोध पैदा कर देते हैं। इस प्रतिरोधक शक्ति को ही अन्तराय कर्म कहते हैं।

व्यक्ति अनेक कल्पनाएँ करता है, मंसूबे बाँधता है, योजनाएँ बनाता है और प्रयत्न भी प्रारंभ करता है परन्तु कुछ न कुछ विघ्न-बाधाएँ आ जाती हैं और उसकी इच्छाएँ धरी की धरी रह जाती हैं। इस प्रकार की बाधा उत्पन्न करने वाले कर्म को अन्तराय कर्म के नाम से पहचाना गया है। अन्तराय कर्म आत्मा की स्वाभाविक शक्तियों पर आवरण डालता है, उसमें मूर्च्छा या मोह भाव जगाकर भ्रमित करता है तथा प्रबल पुरुषार्थ शक्ति में प्रतिरोध पैदा करके सहज उपलब्धियों में बाधक बनता है। आत्मा को अपने अनन्त चतुष्टय स्वरूप को प्रकट या जाग्रत करने के लिए कर्म का क्षय करना अनिवार्य है।

कर्मवाद के मुख्य चार आधार-स्तम्भ हैं–आस्रव-बंध, संवर-निर्जरा। कर्मबंध के हेतु और बंध की विभिन्न प्रक्रिया, स्थितियाँ, परिणतियाँ; आस्रव और बंध तत्त्व विवेचन में बताई गई हैं तथा कर्म प्रवाह को रोकने तथा कर्मों को क्षय करके उनसे मुक्त होने की प्रक्रिया संवर एवं निर्जरा तत्त्व में समाहित है। इस प्रकार हमने भाग १ से ४ तक में कर्म के आस्रव और बंध स्वरूप की विवेचना करने के पश्चात् कर्ममुक्ति की प्रक्रिया के प्रसंग में संवर तथा निर्जरा तत्त्वों के अगणित भेद-प्रभेद, संवर-निर्जरा के उपाय, उनकी साधना आदि पर विस्तार से चिन्तन किया है। भाग ५, ६, ७ में इन तत्त्वों पर काफी विवेचन हो गया है और मुझे विश्वास है पाठक इस गहन विषय का स्वाध्याय करने पर काफी कुछ ग्रहण कर सकेगा।

मेरी यह दृढ़ धारणा है कि कर्म-सिद्धान्त का यह विवेचन केवल सैद्धान्तिक पक्ष की प्रस्तुति नहीं है इसमें जीवन का सम्पूर्ण विज्ञान है। जीवन का विकास, विस्तार एवं परिवर्तन की समस्त संभावनाएँ कर्मवाद में छिपी हैं और यह उन संभावनाओं का द्वार उद्घाटित करता है। जीवन में जो सुख-दुःख, उतार-चढ़ाव, यश-अपमान, वेदना और विषाद, हर्ष और आनन्द की प्राप्ति होती है उन सबकी सहेतुक व्याख्या कर्मवाद करता है। उदाहरण के रूप में किसी व्यक्ति का दिन सुख व शान्ति से बीतता है परन्तु रात में बेचैनी होती है, किसी को एक प्रकार की जलवायु में दमा, श्वास आदि की बीमारी हो जाती है दूसरे प्रकार की जलवायु में वह स्वस्थ रहता है। स्थान, समय, क्षेत्र, भाव, अवस्था, सहायक आदि कारणों में परिवर्तन या बदलाव आने से सुख-दुःख की स्थितियों में बदलाव आता है। मान-सम्मान में अन्तर आ जाता है। आयु-परिवर्तन के कारण अनेक प्रकार की स्थितियाँ बदलती हैं। इन सबके पीछे कर्म-सिद्धान्त का कार्य-कारण हेतु है।

प्रज्ञापनासूत्र में आचार्य ने बताया है कर्मविपाक के विभिन्न कारण हैं, जैसे– **गतिं पप्प, ठितिं पप्प, भवं पप्प, पोग्गलं पप्प**–गति, स्थिति, भव, पुद्‌गल परिणाम। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव आदि कारणों से कर्मविपाक की स्थितियों में परिवर्तन आता है। जैसे दिन में नींद कम आती है रात को नींद अधिक। कर्मशास्त्रीय दृष्टि से इसका कारण है दर्शनावरणीय कर्म का उदय। रात के समय दर्शनावरण का उदय प्रबल होता है। सामान्यतः युवा अवस्था में मोहनीय का तथा बुढ़ापे में असातावेदनीय का उदय अधिक होता है। इस प्रकार एक-एक घटना की गहराई में जाने से यह समझ में आता है कि इस स्थिति के पीछे किसी अन्य का हाथ नहीं, किन्तु हमारा अपना कृत कर्म है। कृत कर्म का विपाक-नियम समझने पर मानसिक असमाधि दूर होती है, धर्म-साधना अच्छी प्रकार होती है। दुःख में भी सुख, रोग में भी शान्ति और प्रसन्नता का अनुभव किया जा सकता है। इस कारण कर्म-सिद्धान्त केवल दार्शनिक गुत्थी या खाली मस्तिष्क का व्यायाम नहीं है, किन्तु यह जीवन व जगत् के परिवर्तनों के नियम को, सुख-दुःख के हेतु को समझने का विज्ञान है और मेरा तो यह भी विश्वास है कि कर्म-विज्ञान का सूक्ष्म अध्येता, कर्मों की विभिन्न प्रकृतियों पर चिन्तन-मनन करने वाला अपने भावी जीवन व जन्म-जन्मान्तरों की स्थिति का भी पूर्वाभास, पूर्वानुमान कर सकता है। इसलिए अध्यात्म के विषय में, आत्मा के विषय में रुचि रखने वाले पाठक को कर्म-विज्ञान का परिशीलन, स्वाध्याय और चिन्तन बहुत ही उपयोगी व लाभप्रद सिद्ध होगा।

कर्म-विज्ञान के कुछ भागों में जहाँ कर्मास्रव के कारण और उसकी बंध स्थिति आदि का विस्तारपूर्वक वर्णन हुआ है, वहाँ मानवें भाग में कर्म से मुक्त होने की

प्रक्रिया संवर और निर्जरा धर्म पर विस्तृत रूप में चिन्तन किया गया है। संवर के अन्तर्गत दस श्रमणधर्म और मैत्री आदि शुभ भावनाओं/अनुप्रेक्षाओं पर विवेचन किया है। क्योंकि जब तक कर्म प्रवाह का निरोध नहीं होगा, तब तक आत्मा कर्म-बन्धन से मुक्त नहीं हो सकेगा। कर्म-सरोवर में आता जल-प्रवाह जब तक रुकेगा नहीं, तब तक उस जल को सुखाकर सरोवर को खाली करने का प्रयास सफल नहीं हो सकता। संवर धर्मकर्म प्रवाह को रोकता है। निर्जरा से संचित कर्म जल सूख जाता है। इसलिए सातवें भाग में संवर एवं निर्जरा के भेदोपभेदों पर, उसकी बहुमुखी, बहुआयामी साधना पर विस्तारपूर्वक प्रकाश डाला गया है।

प्रस्तुत आठवें भाग में मोक्ष का स्वरूप तथा मोक्ष से आत्मा का योग कराने वाले पंचविधयोग, बत्तीस योग-संग्रह, पंच आचार, ध्यान एवं अन्तःक्रिया आदि के स्वरूप पर विस्तारपूर्वक अनेक सन्दर्भों व उदाहरणों के साथ विवेचन किया गया है।

इस प्रासंगिक प्राक्कथन के साथ ही आज मैं अपने अध्यात्म नेता, श्रमणसंघ के महान् आचार्यसम्राट् श्री आत्माराम जी महाराज व आचार्यसम्राट् राष्ट्रसन्त महामहिम स्व. श्री आनन्द ऋषि जी महाराज का पुण्य स्मरण करता हूँ, जिन्होंने मुझे श्रमणसंघ का दायित्व सौंपने के साथ ही यह आशीर्वाद दिया था कि "अपने स्वाध्याय, ध्यान और श्रुताराधना की वृद्धि के साथ ही श्रमणसंघ में आचार कुशलता, चारित्रनिष्ठा, पापभीरुता और परस्पर एकरूपता बढ़ती रहे–जनता को जीवन-शुद्धि का सन्देश मिलता रहे इस दिशा में सदा प्रयत्नशील रहना।" मैं उनके आशीर्वाद को श्रमण-जीवन का वरदान समझता हुआ उनके वचनों को सार्थक करने की अपेक्षा करता हूँ.... चतुर्विध श्रीसंघ से।

मेरे परम उपकारी पूज्य गुरुदेव स्व. उपाध्याय श्री पुष्कर मुनि जी महाराज का पावन स्मरण करते हुए मैं अपनी श्रद्धा व विश्वास के सुमन उनके पावन चरणों में समर्पित करता हूँ कि उनकी प्रेरणा और आशीर्वाद मुझे जीवन में सदा मिलता रहा है और मिलता रहेगा।

आदरणीया पूजनीया मातेश्वरी प्रतिभामूर्ति प्रभावती जी महाराज व बहिन महासती पुष्पवती जी महाराज की सतत प्रेरणा सम्बल के रूप में रही है।

कर्म-विज्ञान जैसे विशाल ग्रन्थ के सम्पादन में हमारे श्रमणसंघीय विद्वद् मनीषी मुनि श्री नेमिचन्द्र जी महाराज का आत्मीय सहयोग प्राप्त हुआ है। मुझे विहार, प्रवचन, जनसम्पर्क व संघीय कार्यों में अत्यधिक व्यस्त रहने के कारण समयाभाव

रहा है, पर मेरे स्नेह सद्भावनापूर्ण अनुग्रह से उत्प्रेरित होकर मुनिश्री ने अपना अनमोल समय निकालकर सम्पादन का कठिन कार्य सम्पन्न किया तदर्थ वे साधुवाद के पात्र हैं। उनका यह सहयोग चिरस्मरणीय रहेगा और प्रबुद्ध पाठकों के लिए भी उपयोगी होगा। मैं उनके आत्मीय भाव के प्रति हृदय से कृतज्ञ हूँ।

इस लेखन-सम्पादन में जिन ग्रन्थों का अध्ययन कर मैंने उनके विचार व भाव ग्रहण किये हैं, मैं उन सभी ग्रन्थकारों/विद्वानों का हृदय से कृतज्ञ हूँ।

पुस्तक के शुद्ध एवं सुन्दर मुद्रण के लिए श्रीयुत श्रीचन्द जी सुराना का सहयोग तथा इसके प्रकाशन कार्य में परम गुरुभक्त उदारमना दानवीर डॉ. श्री चम्पालाल जी देसरडा की अनुकरणीय साहित्यिक रुचि भी अभिनन्दनीय है। श्री देसरडा साहब तो इस प्रकाशन में इतनी रुचि ले रहे हैं कि उनका उत्साह व उदार भाव देखकर मन प्रमुदित हो जाता है। प्रमोद भावपूर्वक दिया गया उनका सहकार अनुकरणीय है।

मैं पुनः पाठकों से अनुरोध करता हूँ कि जैनधर्म के इस विश्वविजयी कर्म-सिद्धान्त को वे समझें और जीवन की प्रत्येक समस्या का शान्तिपूर्ण समाधान प्राप्त करें। समता, सरलता, सौम्यता का जन-जन में संचार हो, यही मंगल मनीषा....।

–आचार्य देवेन्द्र मुनि

शक्तिनगर जैन स्थानक
दिल्ली

कर्म-विज्ञान : भाग ८

विषय-सूची

क्या ?		कहाँ ?
१.	निर्जरा का मुख्य कारण : सुख-दुःख में समभाव	१
२.	समतायोग का मार्ग : मोक्ष की मंजिल	१७
३.	समतायोग का पौधा : मोक्षरूपी फल	४०
४.	मोक्ष से जोड़ने वाले : पंचविध योग	६७
५.	बत्तीस योग-संग्रह : मोक्ष के प्रति योग, उपयोग और ध्यान के रूप में	१०३
६.	मोक्ष : क्यों, क्या, कैसे, कब और कहाँ ?	१२४
७.	मोक्षमार्ग का महत्त्व और यथार्थ स्वरूप	१५१
८.	निश्चयदृष्टि से मोक्षमार्ग : क्या, क्यों और कैसे ?	१८९
९.	भक्ति से सर्वकर्ममुक्ति : कैसे और कैसे नहीं ?	२२१
१०.	शीघ्र मोक्ष-प्राप्ति के पुरुषार्थ की सफलता	२५२
११.	शीघ्र मोक्ष-प्राप्ति के विशिष्ट सूत्र	२७०
१२.	मोक्ष अवश्यम्भावी : किनको और कब ?	३१०
१३.	मोक्ष-सिद्धि के साधन : पंचविध आचार	३३२
१४.	मोक्ष के निकट पहुँचाने वाला : उपकारी समाधिमरण	३५६
१५.	संलेखना-संथारा : मोक्षयात्रा में प्रबल सहायक	३९४
१६.	मोक्षप्रापक विविध अन्तःक्रियाएँ : स्वरूप, अधिकारी, योग्यता	४३०
१७.	मुक्ति के आध्यात्मिक सोपान	४६१
१८.	मुक्ति के अप्रमत्तताभ्यास के सोपान	४८६

कर्म-विज्ञान

आठवाँ भाग

मोक्ष तत्त्व का स्वरूप-विवेचन

जैनदर्शन मोक्षवादी दर्शन है। वह आत्मा की परम विशुद्ध स्वभाव-दशा में विश्वास करता है। स्वभाव है सुख/आनन्द/परम निर्मलता।

आत्मा में मलिनता स्वाभाविक नहीं, कर्मों के कारण है। कर्ममुक्ति की प्रक्रिया को समझना—जैनधर्म का साधना मार्ग है।

साधना का पथ है संयम; संवर और तप अर्थात् निर्जरा। इन्हीं दो उपायों से कर्ममुक्ति की साधना सम्भव है।

संयम-तप की साधना से ही सिद्धि अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति होती है। मोक्ष के सर्वांगीण स्वरूप का विवेचन प्रस्तुत भाग में पढ़िये।

१

निर्जरा का मुख्य कारण : सुख-दुःख में समभाव

एकान्त सुख और एकान्त दुःख किसी जीवन में नहीं आता

साधारणतया यह देखा जाता है कि संसार में अधिकांश व्यक्ति सुख के समय अहंकार से फूल जाते हैं, हर्ष से उछल पड़ते हैं और जब दुःख आ पड़ता है, तब विषाद, शोक, चिन्ता और उदासीनता से भर जाते हैं, खिन्न हो उठते हैं। पर उन्हें प्रायः यह भान नहीं रहता कि सुख शुभ कर्म = पुण्य का फल है, जबकि दुःख अशुभ कर्म = पाप का फल है। मगर अधिकांश मनुष्य सुख ही चाहते हैं, दुःख बिलकुल नहीं चाहते; सरस-सुखद जीवन चाहते हैं; नीरस-दुःखद जीवन नहीं चाहते। वे यह नहीं सोच पाते कि संसार में एक भी व्यक्ति ऐसा नहीं मिलेगा, जिसके जीवन में सुख ही सुख आया हो, दुःख कभी न आया हो। ऐसा एक भी व्यक्ति नहीं मिलेगा, जिसने जीवन में सुख ही सुख का अनुभव किया हो, दुःख का अनुभव कभी न किया हो। इसके विपरीत ऐसा भी कोई व्यक्ति नहीं मिलेगा, जिसके जीवन में दुःख ही दुःख आये हों, सुख के दर्शन कभी न हुए हों। प्रश्न होता है-व्यक्ति जब सुख ही भोगना चाहता है, तब दुःख भोगने का अवसर क्यों आता है? ये सुख और दुःख किसने अर्जित किये हैं? भगवान महावीर से जब यह प्रश्न किया गया तो उन्होंने कर्मविज्ञान की भाषा में उत्तर दिया-"दुःख अपने आप द्वारा किया हुआ है।"[१] इसका फलितार्थ यह है कि मनुष्य स्वयं सातावेदनीय और असातावेदनीय कर्म का बन्ध करता है और उदय में आने पर सुखरूप और दुःखरूप फल भोगता है।

दुःख सुखरूप फल के समय आसक्ति से कर्मबन्ध करता है

वास्तव में, जो सुख भोगमे में आसक्त होता है, वह दुःखभोग को भी आमंत्रित करता है। क्योंकि पुण्य और पाप दोनों उस मनुष्य को बराबर बन्धन में डालते हैं,

---

१. (क) दुक्खे केण कडे? अत्तकडे दुक्खे।
(ख) अप्पा कत्ता विकत्ता य दुहाण य सुहाण य। *-उत्तराध्ययनसूत्र*

जो सुख-दुःखरूप फल भोगते समय सुख के प्रति राग या आसक्ति और दुःख के प्रति द्वेष, घृणा, अरुचि रखता है। ऐसा व्यक्ति पुण्य का फल भोगते समय हर्षोन्मत्त होता है, तो राग को बल मिलता है और पाप का फल भोगते समय, घृणा या अरुचि दिखाता है, तब द्वेष को बल मिलता है। राग और द्वेष दोनों कर्मबन्ध के कारण हैं। दोनों प्रकार का कर्मबन्ध जीवन को दुःख में डालता है, दोनों प्रकार के कर्मबन्ध को तोड़ना (निर्जरा = कर्मक्षय करना) ही वस्तुतः अव्याबाध आत्मिक-सुख (आनन्द) को प्राप्त करना है।

कर्मबन्ध को कैसे तोड़ें ? कैसे निर्जरा करें ?

प्रश्न होता है–"कर्मविज्ञान की दृष्टि में कर्मबन्ध को कैसे तोड़ा जा सकता है ?" इसका समाधान भी कर्मविज्ञान यही देता है कि सुख और दुःख दोनों में समभाव रखना, सम रहना ही कर्मबन्ध को तोड़ने का अमोघ उपाय है, इसे ही कर्मविज्ञान की भाषा में निर्जरा कहा जाता है। कर्म का सुख-दुःखरूप फल समभावपूर्वक भोग लेने से उस कर्म का बन्ध टूट जाता है, उस कर्म का क्षय हो जाता है, कर्मनिर्जरा हो जाती है। इसे दूसरे शब्दों में यों भी कहा जा सकता है–जो व्यक्ति पुण्य का फल भोगते समय (सुखी) सुखोन्मत्त नहीं बनता और पाप का फल भोगते समय दुःखमग्न (दुःखी) नहीं बनता, वही ज्यों का त्यों समभाव से कर्मफल भोगकर उक्त कर्मबन्ध को तोड़ डालता है। अर्थात् सुख (कर्मजनित सुख) प्राप्त होने पर सुखी न होना और दुःख प्राप्त होने पर दुःखी न होना ही कर्मबन्ध से छुटकारा पाने की कला है–कर्मफल भोगने की कला है; इसे ही निर्जरारूप धर्म की कला कहा जाता है। इस सम्बन्ध में आचार्य कुन्दकुन्द ने समताधर्म की कला को न जानने वाले लोगों के लिये कहा है–

"वेदन्तो कम्मफलं सुहिदो दुहिदो य हवदि जो वेदा।
सो तं पुणो वि बंधदि बीयं दुक्खस्स अट्ठविहं॥"

–जो व्यक्ति कर्मफल को भोगता हुआ वेदन में सुखी और दुःखी होता है, वह पुनः दुःख के बीजरूप अष्टविध कर्मों को बाँध लेता है।

सुख-दुःख का वेदन न करे, तभी आंशिक मुक्ति पाता है

कर्मनिर्जरारूप धर्म की कला को वही भलीभाँति अभ्यस्त और अवगत कर पाता है, जो सुख और दुःख की स्थिति में सुख और दुःख का वेदन न करे, समभाव में स्थित रहे। जब पुण्यफल के रूप में व्यक्ति को सुख-सुविधाएँ और भौतिक सुख-सामग्री मिले, उस समय उसे सुख से गर्वोन्मत्त न होना, अंहकार और हर्षोन्माद से ग्रस्त न होना तथा अशुभ कर्म (पाप) के फल के रूप में रोग, दुःख,

पीड़ा, विपदा आदि आ पड़े, उस समय दुःख से न तड़फना ही समभावपूर्वक कर्मफल भोगकर निर्जराधर्म को पाने = बन्धन से आंशिक मुक्ति पाने की कला है।

जो व्यक्ति इस धर्म की कला नहीं जानता, वह कर्मबन्ध की शृंखला में सदा जकड़ा रहता है, इसे जाने बिना जीवन और जीविका की सभी कलाएँ अर्थहीन वन जाती हैं।

धर्मकला से अव्याबाध सुख-प्राप्ति

जो व्यक्ति शुभाशुभ कर्मफल को समभाव से भोगने की कला जानता है, वही धर्म की कला को आत्मिक-सुख–अव्याबाध आनन्द की प्राप्ति की कला को जान लेता है, जीवन में आचरित भी कर लेता है। कर्मफल को भोगने की कला को भलीभाँति जान लेता है, उसमें उदारता, महानता, सांसारिक सजीव-निर्जीव पदार्थों के प्रति निर्लिप्तता, सहिष्णुता तथा सभी परिस्थितियों में प्रसन्नता आ जाती है। पुण्योदय के फलस्वरूप भौतिक सुख के प्रचुर साधन मिलने पर भी वह हर्षोन्मत्त या गर्वोद्धत नहीं होता, वह उसमें आसक्त या लिप्त भी नहीं होता, वह विवेकपूर्वक जीवन-पथ पर चलता है।

भरत चक्रवर्ती की निर्लिप्तता और सुखभोग में समता

भरत चक्रवर्ती को राज्यऋद्धि, अपार वैभव, ऐश्वर्य और भौतिक सुख के सभी साधन प्राप्त थे। उनके पास चौदह अद्भुत रत्न थे, जिनसे वे मनचाहा कार्य सम्पन्न कर सकते थे। मतलब यह है कि चक्रवर्ती भरत वैभव-विलास की सभी सामग्री होते हुए भी उससे अलिप्त रहते थे। यही कारण है कि वे समस्त कर्मों से शीघ्र ही मुक्त हो सके।

एक बार उनकी निर्लिप्तता की कठोर कसौटी हुई। भगवान ऋषभदेव ने जब धर्मसभा में यह कह दिया कि भरत चक्रवर्ती पूर्व पुण्य के फलस्वरूप सुख-सामग्री प्राप्त होने पर भी निर्लिप्त है और मोक्षगामी है। उस पर एक व्यक्ति ने शंका उठाई–"भगवान भी अपने पुत्र का पक्षपात करते हैं, इतना अपार वैभव होते हुए भी निर्लिप्त है और इस परिषद् में त्यागी-तपस्वी, साधु तथा सद्गृहस्थ बैठे हैं, वे मुक्तिगामी एवं निर्लिप्त नहीं; यह कैसे हो सकता है?" उस व्यक्ति को समझाने के लिए भरत चक्रवर्ती ने तेल से लबालब भरा कटोरा उसके हाथ में देकर अयोध्या के सारे बाजारों में घुमा लाने का आदेश सिपाहियों को दिया और साथ में यह भी कहा–"यदि इस कटोरे में से तेल की एक बूँद भी गिर गई तो इसका सिर उड़ा दिया जाए।" चक्रवर्ती की आज्ञा को मान्य करके वह व्यक्ति मौत के डर से घबराता हुआ, तेल की बूँद न गिर जाए, इसकी पूरी सावधानी रखते हुए अयोध्या नगर के

बाजारों में घूमकर आ गया।.... आते ही चक्रवर्ती भरत ने पूछा -"बताओ, तुमने नगर के बाजारों में क्या-क्या देखा, क्या-क्या सुना?" उसने कहा-"मैं तो केवल मौत को ही देख-सुन रहा था। मैंने केवल मृत्यु का ही गीत सुना। बाजारों में न कुछ देखा, न ही कुछ सुना। आपकी कठोर शर्त को पूरी करनी थी।"

सब व्यवहार करता हुआ भी मैं अलिप्त रहता हूँ

भरत चक्रवर्ती ने इस आदेश का रहस्योद्घाटन करते हुए कहा-"भाई ! तुम्हारे सामने एक मृत्यु का प्रश्न था, फिर भी तुम्हारा रस न तो गाना सुनने में था, न नाटक देखने और नाच-गान में था। तुम्हारा सारा ही रस मृत्यु से बचने में जुटा हुआ था। यही स्थिति मेरी है। मैं इतने बड़े राज्य का संचालन कर रहा हूँ, किन्तु मेरा रस न तो राज्य में है, न ही सुखभोगों में है, पुण्य के फलस्वरूप मुझे जो पदार्थ मिले हैं, उनमें भी मुझे कोई आसक्ति नहीं है। पुण्यफल के भोगने में भी मुझे कोई रस नहीं है। मेरा रस इस पुण्य-बन्धन से भी छुटकारा पाने में है। मेरे मन-मस्तिष्क में रात-दिन कर्मबन्ध से मुक्त होने का प्रश्न मँडराता रहता है। इसलिए मैं जीवन के समस्त व्यवहारों को चलाते हुए भी निर्लिप्त रहता हूँ।"

स्पष्ट है कि पुण्य के फल भोगते समय जो आदमी सुखासक्त नहीं होता, वही धर्मकला-कर्मबन्ध से मुक्त होने की कला जानता है।

सुखरूप फल प्राप्त होने पर सुखासक्त होने का परिणाम

परन्तु वर्तमानकाल के सुख-सुविधावादी लोगों का कहना है कि पुण्य का सुखरूप फल मिले, उसको न भोगकर हम ठुकरा दें और सुखात्मक (सुखी) न बनें, यह कैसे हो सकता है? जबकि वर्तमान के अधिकांश मानव सुखी जीवन जीना चाहते हैं? परन्तु एक बात निश्चित है कि सुखरूप फल भोगते समय मन में समभाव न हो, निर्लिप्तता का भाव न हो तो वह व्यक्ति राग के बन्धन में पड़ेगा और जब उसके मन के विपरीत दुःखरूप फल मिलेगा, उसे भोगते समय द्वेष के बन्धन में पड़ेगा ही; अतः उक्त राग-द्वेष से अशुभ (पाप) कर्म का बन्ध होगा, जिसके उदय में आने पर दुःखरूप फल भोगना ही पड़ेगा।

सुखभोगासक्त होने से अन्त में नरक-दुःखों की प्राप्ति

ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती को पूर्व-जन्म में सम्भूति मुनि के भव में, अपनी तपस्या के फलस्वरूप चक्रवर्तीपद-प्राप्ति के निदान (नियाणा) करने से अगले जन्म में चक्रवर्तीपद मिला। उसी पुण्यपद के फलस्वरूप उसे सभी कामभोगों के साधन, वैभव एवं सुख-सुविधाएँ प्राप्त हुईं। परन्तु पुण्य का फल भोगते समय वह अहंकार और सुख की आसक्ति में लिप्त हो गया, इतना मोहमूढ़ बन गया कि उसके पाँच

पूर्व-जन्मों के भ्राता = साथी चित्त मुनि के जीव (निर्ग्रन्थ साधु) द्वारा अनेक प्रकार से समझाने पर भी उसने उनकी बात बिलकुल नहीं मानी; प्रत्युत पुण्य के सुखरूप फल में गाढ़ आसक्त बन गया। यहाँ तक कि आर्यकर्म भी करने को तैयार न हुआ। फलतः वहाँ से मरकर चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त नरक का मेहमान बना।

यह था पुण्य के सुखरूप फल भोगते समय समभावरूप धर्म (निर्जरा) की कला न जानने-सीखने या अपनाने से भविष्य में होने वाला दुष्परिणाम।[१]

सुखरूप फल भोगते समय सुखासक्त होना दुःख को आमंत्रित करना है

निष्कर्ष यह है कि पूर्वकृत शुभ कर्मों के फलस्वरूप पुण्य का उदय यानी सातावेदनीय कर्म का उदय होने पर सुखभोग प्राप्त होते हैं, उस समय व्यक्ति उसे समभाव से भोगे, उस सुख में इतना आसक्त न हो तथा उसे भोगने में अहंकारवश लिप्त न हो, जिससे वह पुण्यफल का भोग सघन पापकर्मबन्ध का कारण बने। अधिकांश लोग सुखरूप फल को छोड़ नहीं सकते, यहाँ तक कि बड़े सुख को छोड़ना तो दूर रहा, खाने-पीने-पहनने के छोटे सुख को छोड़ना भी नहीं चाहते। इससे यह बोध लेना चाहिए कि पुण्य के सुखरूप फल को भोगकर सुखासक्त होना दुःखरूप फल को आमंत्रण देना है।

सुख-सुविधावादी लोगों का कुतर्क उन्हें दुःख के गर्त्त में डालता है

भौतिक सुख-सुविधावादी लोगों का प्रायः यह कहना है कि मनुष्य-जन्म मिला किसलिए है? जब सुख के साधन मिले हैं तो खाना-पीना और मौज उड़ाना चाहिए। उसे सुखमय जीवन जीना चाहिए; जो भी मनोज्ञ पदार्थ मिलें, उनका उपभोग बेखटके करना चाहिए। वे तर्क करते हैं–ये भोग्य पदार्थ भगवान ने बनाये किसलिए हैं? हम इन सब पदार्थों को नहीं भोगेंगे तो ऐसे ही पड़े-पड़े बर्बाद हो जायेंगे। संत लोग तो कहते रहते हैं–शराब, माँस, अंडे, व्यभिचार, अनाचार आदि का त्याग करो। इनके त्याग के उपदेश को मान लें तो हम सदा दुःख, अभाव और असुविधा का जीवन जीते रहेंगे, दूसरे सुखी लोगों को देख-देखकर तरसते रहेंगे। इससे अच्छा है, हम स्वयं सुख-सुविधाओं को भोगें, जो पुण्यफल के रूप में प्राप्त हुए हैं। मगर वे यह भूल जाते हैं कि पुण्यफल भोगने के साथ-साथ विवेक और समभाव न हुआ तो पाप का फल भी अवश्य जुड़ा हुआ है। पुण्यफल को आसक्तिपूर्वक भोगने वाले को पापफल भोगने के लिए भी तैयार रहना चाहिए। सुख भोगने की जितनी तत्परता है, उतनी ही दुःख भोगने की तैयारी होनी चाहिए।

---

१. देखें–उत्तराध्ययनसूत्र के १३वें अध्ययन में चित्त-संभूति जीवन-वृत्तान्त

सनत्कुमार चक्रवर्ती को भयंकर रोगरूप-दुःख प्राप्त हुआ

सनत्कुमार चक्रवर्ती को शरीर-सौन्दर्य का अहंकार था और अपने रूप की प्रशंसा सुनने में उसे सुखानुभव होता था। इस शरीर में हाड़-माँस, मल-मूत्र आदि घिनौने पदार्थ भरे हुए हैं, यह जानते हुए भी व्यक्ति शरीर-सौन्दर्य को पुण्य का सुखरूप फल मानकर अहंकार में डूबा रहता है। चक्रवर्ती के सौन्दर्य की महिमा स्वर्ग तक पहुँच गई थी। एक देव बूढ़े ब्राह्मण का रूप बनाकर उनका सौन्दर्य देखने आया। ब्राह्मणरूपधारी देव की प्रार्थना पर चक्रवर्ती ने उसे दर्शन देना स्वीकार किया। विप्ररूपधारी देव टकटकी लगाकर उसके सौन्दर्य को देखने लगा। चक्रवर्ती ने कहा–"अजी ! तुम मेरे सौन्दर्य को अभी क्या देखते हो? जब मैं स्नान करके राजसी वस्त्रों और आभूषणों से सजधजकर राजसभा में रत्नजटित सिंहासन पर बैठूँ, तब मेरा सौन्दर्य देखना, तुम्हारे नेत्र और अन्तःकरण तृप्त हो जायेंगे।"

चक्रवर्ती के आदेश से ब्राह्मणरूपधारी देव को ठहरने आदि की व्यवस्था कर दी गई। जब सनत्कुमार चक्रवर्ती विशेष रूप से सुसज्जित होकर राजसभा में पहुँचा, सिंहासन पर आसीन होने के पश्चात् उसने ब्राह्मण को सादर बुलाया। चक्रवर्ती को देखते ही ब्राह्मण का माथा ठनका। ब्राह्मण की उदासीन मुखमुद्रा देखकर चक्रवर्ती ने पूछा–"क्या अभी मेरा सौन्दर्य सुबह की अपेक्षा बढ़कर नहीं है? अभी तुम्हें क्या हो गया? मेरे रूप को देखकर तुम उदासीन क्यों हो गए?" ब्राह्मण–"सुबह जैसी सुन्दरता अब नहीं है। अभी आपकी सारी सुन्दरता लुप्त हो गई है।" चक्रवर्ती–"वाह ! क्या बात करते हो? सुबह जब मैं साधारण स्थिति में था, तब तुम्हें सुन्दर लग रहा था और अब विशेष साजसज्जा से युक्त हूँ, तब कहते हो, वह सौन्दर्य गायब हो गया है। आश्चर्य है ! जरा निकट आकर अच्छी तरह देखो।" ब्राह्मण–"देख लिया, महाराज ! अब वह रूप विकृत हो चुका है। विश्वास न हो तो पीकदानी मँगवाकर उसमें थूककर देखें।" चक्रवर्ती ने पीकदानी मँगवाई, उसमें थूका तो अनेक कीड़े कुलबुलाते हुए दिखाई दिये। सनत्कुमार ने साश्चर्य पूछा–"ऐसा क्यों हुआ, विप्रवर?"

ब्राह्मण–"महाराज ! आपके शरीर में १६ भयंकर रोग उत्पन्न हो गये हैं। आपका रूप अब नष्टप्रायः हो चुका है।" यह था सौन्दर्य-सुख के अहंकार से रोगरूप दुःख को आमंत्रण !

रोगरूप दुःख को समभाव से सहने से कर्मनिर्जरा का अलभ्य लाभ

यह देखकर सनत्कुमार चक्रवर्ती का सौन्दर्य-दर्प चूर-चूर हो गया। मन विरक्ति से ओतप्रोत हो गया। ओह ! इस कंचनवर्णी काया की ऐसी दशा ! वे राज्य का त्याग कर निर्ग्रन्थ मुनि बन गए, अपने आत्म-स्वरूप में लीन हो गए। पापकर्म के

फलस्वरूप रोगों का भयंकर दुःख आ पड़ने पर भी वे चिकित्सा से उपरत होकर समभाव की साधना में डूब गए। उनके मन में अब शरीर के प्रति प्रियता-अप्रियता का भाव नहीं रहा।

सनत्कुमार चक्रवर्ती को पूर्वकृत शुभ कर्म के पुण्य-फलस्वरूप उत्कृष्ट रूप सुख मिला, जिसके अहंकार से पापकर्मबन्ध होकर उसके उदय में आने पर रोग का दुःख प्राप्त हुआ। मगर रोग-दुःखरूप फल को समभाव से भोगने की धर्मकला उन्हें हस्तगत हो गई।

उनकी समभाव से दुःखरूप फल भोगने की धर्मकला की परीक्षा करने हेतु वही देव वृद्ध ब्राह्मण वैद्य का रूप बनाकर आया। मुनि से निवेदन किया–"मैं एक कुशल वैद्य हूँ। आप कुष्ट जैसे भयंकर रोग से ग्रस्त हैं। मुझे चिकित्सा करने की आज्ञा दीजिए, ताकि मैं भी सेवा का लाभ ले सकूँ।" सनत्कुमार–"वैद्यप्रवर ! मुझे अब चिकित्सा की आवश्यकता नहीं है। मैं अपनी आध्यात्मिक औषध-सेवन करके चिकित्सा कर रहा हूँ। जिससे कर्मरोग मिटने पर स्वतः सुख-शान्ति और आनन्द-मंगल हो जायेगा।" वैद्य ने पुनः आग्रह करते हुए कहा–"आपका शारीरिक रोग मिटाने की तो हमें अनुमति दीजिए।" सनत्कुमार ने कहा–"आप क्या चिकित्सा करेंगे? यह देखिये यों कहकर मुनि ने अपनी उँगली मुँह में डाली जहाँ कोढ़ झर रहा था, उस पर थूक के छींटे डाले। जिससे देखते ही देखते वहाँ का रूप कंचन-सा बन गया। वैद्य स्तब्ध हो गया यह देखकर। मुनि सोचते थे–मेरे द्वारा कृत अशुभ कर्मों का यह विपाक है, जिसे समभाव से भोगकर नष्ट करना है। इसके दुःख से मैं क्यों दुःखी होऊँ। दुःख शरीर को हो रहा है, मुझे (आत्मा को) नहीं।" इस प्रकार के आत्म-शुद्धि के भावों से धर्मकला के प्रयोग से उनको कर्मनिर्जरा (कर्मों का क्षय) हो गई।

वस्तुतः अशुभ कर्मों का दुःखरूप विपाक प्राप्त होने पर यानी दुःख के (रोगादि रूप में) आ पड़ने पर दुःखी न होकर समभाव से उसे भोग लेना धर्मकला को जाने बिना नहीं हो सकता।

आज के अधिकांश मानव धर्मकला से अनभिज्ञ

वर्तमान युग के अधिकांश मानव उस दुःख को समभाव से सहने की धर्मकला से अनभिज्ञ, अपरिचित, अनभ्यस्त और अरुचि लाने वाले हैं। इसी कारण उनके सामने अगणित समस्याएँ मुँहबाए खड़ी रहती हैं। थोड़ा-सा ज्वर आ गया, पेट दुखने लगा कि व्यक्ति हायतोबा मचाने लगता है, वैद्य-डॉक्टरों के दरवाजे खटखटाता है। वह यह नहीं सोचता कि "यह तो क्या, इससे भी भयंकर रोग मेरे द्वारा ही किये गए अशुभ (पाप) कर्म के फल हैं, मुझे इन्हें समभावपूर्वक भोग लेने चाहिए।"

धर्मकला : कब और कब नहीं ?

परन्तु आज तो असातावेदनीय कर्म का उदय होते ही आदमी दुःख का वेदन करने लगता है। व्याधि आते ही मन के गगन में सन्ताप, कष्ट, दुःख और दैन्य के घनघोर बादल मँडराने लगते हैं। कैंसर, एड्स, हार्ट या टी. बी. की भयंकर बीमारियाँ होने पर या उनका नाम सुनने पर मनुष्य भय से काँपने लगता है। रोगजन्य वेदना को समभाव से भोगने के बजाय वह तड़फने लगता है। पूर्वकृत अशुभ कर्मों के उदय में आने पर दुःख भोगना पड़े तो समभावपूर्वक भोगे, उक्त दुःख के वेदन में आदमी दुःखी न हो, तभी वह धर्मकला कहलाएगी, ऐसी परिस्थिति में भी व्यक्ति की मनःस्थिति शान्त, सहनशील रहेगी। इसके विपरीत सुख और दुःख, इन दोनों स्थितियों में जो सम रहना नहीं जानता, आसक्ति और घृणा, अशान्ति और दुःखमूलक पीड़ा से मुक्त रहने का अभ्यासी नहीं है, वह न समताधर्म की कला जानता है, न जीवन की कला से अभ्यस्त है और न ही वह कर्मबन्ध से आंशिक मुक्तिरूप निर्जरा की कला जानता है। यह कर्मफल को समभाव से भोगने की कला में माहिर है। जो इस कला को जान लेता है, वह प्रत्येक परिस्थिति में प्रसन्न, शान्त और सुखी रह सकता है। जीवन में कठिनाइयों, बीमारियों एवं समस्याओं में भी वह स्वस्थ एवं प्रसन्न रह सकता है। अध्यात्मयोगी श्रीमद् राजचन्द्र की इस उक्ति में इसी तथ्य का प्रतिपादन है–

"सुख प्राप्त करतां सुख टळे छे, लेश ए लक्षे लहो।"[1]

मन के अनुकूल-प्रतिकूल संयोगों में सुख-दुःख की कल्पना करना मिथ्या है

माना कि मनुष्य सुख से जीना चाहता है। मनुष्य ही क्यों, प्राणिमात्र भी सुख से जीना चाहते हैं, दुःख उनको अच्छा नहीं लगता परन्तु सुख किसमें है? सुख कैसे प्राप्त होता है? इस बात को अन्य प्राणी तो क्या, प्राणियों में सर्वाधिक विकसित चेतनाशील बुद्धिमान् मानव भी नहीं समझता। पाँचों इन्द्रियों के विषय अपने मन के अनुकूल हों तो सुख और मन के प्रतिकूल हों तो दुःख का अनुभव करता है। वास्तव में सुख और दुःख किसी भी पदार्थ या विषय में नहीं रखा हुआ है। पदार्थ या विषय की प्राप्ति होने पर प्रिय-अप्रिय, शुभ-अशुभ, अनुकूल-प्रतिकूल, अच्छे-बुरे की जो कल्पना मन कर लेता है, उसे ही सुखरूप या दुःखरूप मान लिया जाता है। वस्तुतः कोई भी पर-पदार्थ या इन्द्रिय-विषय अपने आप में सुखदाता या दुःखदाता नहीं होता।

कोई भी जीव किसी दूसरे को सुख या दुःख नहीं दे सकता

इसी प्रकार जैन-कर्मविज्ञान का यह सिद्धान्त भी उतना ही सत्य है कि इस समग्र विश्व में कोई भी प्राणी किसी को सुख या दुःख दे नहीं सकता। यह मानना भ्रान्तिपूर्ण

---

१. श्रीमद् राजचन्द्र का तत्त्वचिन्तनात्मक पद्य

और अयथार्थ है कि अमुक व्यक्ति ने मुझे सुख दिया और अमुक व्यक्ति ने दुःख दिया। सम्यग्दृष्टि और समतायोगी साधक अपने सुख और दुःख को दूसरे पर आरोपित नहीं करता। किन्तु स्थूलदृष्टि एवं विषमता के बीहड़ में भटकने वाला प्राणी प्रायः यही कहता है-उसने मुझे दुःखी बना दिया अथवा उसने मुझे सुखी कर दिया। यह मिथ्या भ्रम है। आदमी प्रायः अपने आप को, अपने उपादान को न देखकर ही ऐसी बात कहता और सोचता है। उसे इस तथ्य को समझने में बहुत ही कठिनाई होती है कि दूसरा कोई पदार्थ, विषय या प्राणी स्वयं को सुखी या दुःखी नहीं कर सकता।

यह भ्रम इसलिए पैदा होता है कि व्यक्ति दूसरे के द्वारा सुख या दुःख के साधन जुटाते देखकर यह मान लेता है कि यह व्यक्ति मुझे सुख या दुःख देने वाला है अथवा इसने मुझे सुख या दुःख दिया। यद्यपि दूसरा व्यक्ति भी भ्रान्तिवश यह समझकर रौद्रध्यानवश दूसरों को सुखी या दुःखी करने की कल्पना कर सकता है, प्लान बना सकता है, षड्यंत्र कर सकता है, किसी को सुख देना भी चाह सकता है और दुःख देने की भी इच्छा कर सकता है; किन्तु यह उसके वश की बात नहीं है कि वह किसी को दुःख या सुख दे सके। वह केवल सुख के साधनों को भी जुटा सकता है, दुःख के साधनों को भी। वह दुःख प्राप्त होने के वातावरण, संयोग और परिस्थिति का निर्माण कर सकता है, इसी प्रकार सुख प्राप्त होने के वातावरण, संयोग और परिस्थिति का भी सृजन कर सकता है, मगर व्यक्ति अगर उस दुःख अथवा सुख के वातावरण, परिस्थिति और संयोग में भी स्वयं को दुःख या सुख से संलग्न न करे, उसमें लिप्त या मूढ़ न बने, उसे स्वीकार न करे तो कोई कारण नहीं कि वह व्यक्ति (निमित्त) उसे सुख या दुःख दे दे या सुखी अथवा दुःखी कर दे। दूसरा व्यक्ति पदार्थ या इन्द्रिय और मन का विषय केवल निमित्त बन सकता है, इससे आगे उसकी सीमा समाप्त हो जाती है कि वह उसे सुख या दुःख दे दे।

गाली स्वीकार ही न करे, तो गाली देने वाला उसे दुःखी नहीं कर सकता

गाली देना या अपमान करना दुःख का साधन है, स्थूलदृष्टि वाला व्यक्ति सोचता है, मैं इसे गाली देकर या अपमानित करके दुःखी कर दूँगा, किन्तु सामने वाला व्यक्ति यदि उस गाली या अपमान को स्वीकार ही न करे तो वह कैसे दुःखी हो जायेगा?

तथागत बुद्ध को एक व्यक्ति ने गाली दी। तथागत उससे बिलकुल विक्षुब्ध न हुए, चुप रहे। जब वह व्यक्ति अनेक गालियाँ देकर चुप हो गया, तब तथागत बुद्ध ने उससे कहा-"भाई ! यह बताओ कि कोई दुकानदार ग्राहक को अनेक चीजें बतलाता है और खरीदने के लिए कहता है, किन्तु ग्राहक उन चीजों को ले नहीं, खरीदे नहीं तो वह चीज किसके पास रहेगी?"

वह बोला-"वह चीज दुकानदार के पास ही रहेगी।"

गौतम बुद्ध–"तो भाई ! तुमने मुझे ये गालियाँ दीं, परन्तु मैंने ये ली नहीं, स्वीकार नहीं कीं तो ये तुम्हारे पास ही रहेंगी न?" और उन्होंने इस श्लोक के द्वारा अपना अभिप्राय उसे वता दिया–

"ददतु ददतु गालिर्गालिमन्तो भवन्तः।
वयमिह तदभावात् तद्दानेऽप्यसमर्थाः॥"

–आप गाली वाले हैं, इसलिए आप गाली भले ही दें, हम उन्हें लेने को तत्पर नहीं हैं। हमारे पास गालियाँ नहीं हैं, इसलिए हम आपको (उन गालियों के वदले में) गालियाँ देने में असमर्थ हैं।

स्पष्ट है, दूसरा व्यक्ति तथागत बुद्ध को गालियाँ देकर दुःखी करना चाहता था, लेकिन उन्होंने उन गालियों को स्वीकार नहीं किया, इसलिए वे दुःखी नहीं हुए।

दुःख के वातावरण में समभाव रखे तो संवर-निर्जरा कर सकता है

अतएव यह तथ्य समझ लेना चाहिए कि दुःख के वातावरण, संयोग, निमित्त या परिस्थिति दूसरे व्यक्ति या पदार्थ द्वारा प्रस्तुत करने पर या होने पर भी, जो व्यक्ति तुरन्त अपने आप को सँभालकर पूर्वोक्त सिद्धान्त के अनुसार उसे स्वीकार नहीं करता वह संवर अर्जित कर सकता है और समताभाव में स्थित रहकर सकामनिर्जरा भी कर सकता है।

जैनदर्शन का यह प्रसिद्ध सूत्र है–"**अप्पा कत्ता विकत्ता य दुहाण य सुहाण य।**"–सुखों और दुःखों की कर्त्ता और विकर्त्ता अपनी आत्मा ही है (दूसरा कोई नहीं)। यदि दूसरा कोई व्यक्ति सुख और दुःख का कर्त्ता होता तो भगवान महावीर द्वारा अनुभूत और प्ररूपित यह सिद्धान्त गलत हो जाता। यह सिद्धान्त यथार्थ है, अकाट्य है। स्थूलदृष्टि-परायण या अतत्त्वज्ञ व्यक्ति ही ज्ञाता-द्रष्टा समभावी साधक के लिए दूसरे के द्वारा दुःख, कष्ट या वेदना का वातावरण, संयोग, निमित्त या परिस्थिति उत्पन्न करते देखकर यह सोच लेते हैं कि इस साधक को इसने कितना दुःखी कर दिया, किन्तु वह समभावी साधक क्या सोचता है? यही महत्त्वपूर्ण है। वह संवर-निर्जरा तत्त्वों का ज्ञाता साधक अपने पूर्वबद्ध अशुभ कर्मों के क्षय करने का अवसर प्रदान करके कर्ममुक्ति के द्वारा मोक्ष के अव्याबाध अनन्त शाश्वत-सुख में सहायक एवं उपकारी निमित्त मानता है। वह उक्त दुःख के वातावरण को समभाव से सह (भोग) कर कर्मनिर्जरा कर लेता है, द्रव्य-भाव-संवर तो वह पहले ही मोर्चे पर कर लेता है।

गजसुकुमाल मुनि महाकाल श्मशान में कायोत्सर्ग करके (ध्यानमुद्रा में) खड़े हैं। सोमल नामक विप्र वहाँ यज्ञ-सामग्री लेने आया। वहाँ गजसुकुमाल को मुनि अवस्था में ध्यानस्थ देखकर पूर्व-भव में बाँधे हुए वैर का प्रतिशोध लेने की तीव्रता

आई। आवेश की आग उसके तन-मन में भड़क उठी। उसने सोचा-"अभी इसे अत्यन्त दुःखित करके मार डालूँ।" निकटवर्ती एक तालाब की पाल पर गया। वहाँ से गीली मिट्टी लाकर पहले गजसुकुमाल मुनि के मस्तक पर चारों ओर पाल बाँध दी। तत्पश्चात् श्मशान में जल रही चिता की आग से मिट्टी के एक खप्पर में जलते अंगारे भरकर ले आया और मुनि के मस्तक पर वे अंगारे उँड़ेल दिये। कितनी तीव्र वेदना हुई होगी, उस महामुनि को? बाहर से देखने वाले यही कहेंगे या सोचेंगे-"सोमिल ने गजसुकुमाल मुनि को कितना दुःखी कर दिया? अहो ! कितना घोर दुःख हो रहा है मुनि को?" परन्तु ज्ञाता-द्रष्टा, समभावी और भेदविज्ञान निपुण मुनि इसे दुःख नहीं समझते, न ही वे दुःख के साधन जुटाने वाले सोमिल को दुःखदाता मानते हैं, न ही उस पर किसी प्रकार का रोष या द्वेष करते हैं। वे अपने आत्म-भाव में, ज्ञानघन आत्मा के परम ज्ञान में, आत्मानन्द में लीन हो रहे हैं। फलतः उन्हें केवलदर्शन-केवलज्ञान की प्राप्ति हो गई, मोहकर्म और अन्तरायकर्म का सर्वथा क्षय हो जाने से कर्ममुक्ति का अव्याबाध, शाश्वत और अनन्त आत्म-सुख (आनन्द) उनमें प्रगट हो गया। वे सदा-सर्वदा के लिए जन्म-मरणादि दुःखों से मुक्त हो गए। अनन्त सुख में डूब गए।[1]

स्थूलदृष्टि से तथा प्रतिशोधदृष्टि से देखने वालों की मिथ्या भ्रान्ति

दुःख के इतने निमित्त जुटाने पर भी सोमिल ब्राह्मण समतायोगी गजसुकुमाल मुनि को दुःखित नहीं कर सका। परन्तु स्थूलदृष्टि से देखने वाले व्यक्ति सोचते हैं-बेचारा कितना दुःखी है और दुःख देने के निमित्त जुटाने वाला व्यक्ति सोचता है-मैंने इसे अत्यन्त दुःखी करके अपने वैर का बदला ले लिया। क्या **'सुख-दुःखदाता कोई न आन, मोह-राग ही दुःख की खान'**, इस सिद्धान्तसूत्र के साथ उपर्युक्त भ्रान्तिपूर्ण दृष्टि वालों के चिन्तन की कहीं संगति है? कहना चाहिए कि इसी विसंगतियुक्त या विषमतावर्द्धक राग-द्वेष-कषायादि विभावों से लिप्त विचारों के कारण व्यक्ति स्वयं दुःखी या सुखी (सुखाभासी) समझता है।

सुख के साधन जुटा देने पर भी दूसरे व्यक्ति उसे सुखी न बना सके

सुख के सन्दर्भ में भी इसी सिद्धान्तसूत्र की कसौटी पर यही तथ्य यथार्थ उतरता है कि कोई पर-पदार्थ या व्यक्ति किसी को सुखी नहीं बना सकता। इसे एक दृष्टान्त द्वारा समझ लें-एक व्यक्ति के व्यापार में अचानक इतना घाटा लग गया। इसी चिन्ता में वह बहुत दुःखी था, उदास और बेचैन था। उसके यहाँ रहने वाले नौकर उस व्यक्ति की उदासी और खिन्नता का कारण समझ नहीं पाए। वे अपने मालिक के लिए प्रत्येक सुख-सुविधा के साधन प्रस्तुत करने लगे। गर्मी का मौसम

१. देखें-अन्तकृद्दशांगसूत्र में गजसुकुमाल मुनि का प्रकरण

था। पंखा चला दिया, कूलर भी चला दिया। आराम करने के लिए डनलप का मुलायम गद्दा बिछा दिया, तकिये लगा दिये। भोजन और पेय की उत्तम सामग्री भी उसके सामने टेबल पर प्रस्तुत कर दी। रेडियो का स्विच ऑन कर सुन्दर गायन भी प्रस्तुत कर दिया। और भी सुख-सुविधा और प्रसन्नता की जितनी सामग्री जुटानी चाहिए, जुटा दी। फिर भी मालिक की उदासी और बेचैनी नहीं मिटी। बाह्य सुख-सुविधा की उत्तमोत्तम सामग्री उसके सामने पड़ी है, फिर भी वह क्यों इतना दुःखी और बेचैन है? कारण स्पष्ट है–उसने सुख के वास्तविक कारण समताभाव को, ज्ञाता-द्रष्टाभाव को नहीं अपनाया। वह धन के संयोग को सुख का और धन के वियोग को दुःख का कारण समझ रहा था। इसलिए नौकरों द्वारा सुख-सुविधा की सामग्री जुटा देने पर भी वह सुखी नहीं हो सका। इसलिए यह सिद्धान्त यथार्थ है कि दूसरा सुख-सुविधा की सामग्री जुटा सकता है, सुख का वातावरण, संयोग और परिस्थिति उत्पन्न कर सकता है, किन्तु किसी को सुखी नहीं बना सकता।

स्थूलदृष्टि वाले लोग शरीरलक्षी, समतादृष्टि वाले आत्मलक्षी

स्थूलदृष्टि वाले लोग शरीरलक्षी दृष्टिकोण से सोचते हैं–शरीर को मनोऽनुकूल सुख मिला या सुख दिया तो सुखी और शरीर के या मन के प्रतिकूल हुआ या किसी ने किया तो दुःखी मानते हैं, परन्तु समता, वीतरागता एवं कर्ममुक्ति के साधक का दृष्टिकोण आत्मलक्षी होता है। आत्मा के वर्तमान और अतीत के कर्तृत्व और भोक्तृत्व के कारण होने वाले सुख-दुःख के बाह्य कारणों के उपस्थित होने पर वह किसी पर-पदार्थ या किसी दूसरे जीव को सुख-दुःख का कारण नहीं मानता। इसी कारण वह सुख-दुःख के प्रसंगों में समभावी रहकर निर्जरा कर लेता है।

सुख-दुःख में समभावी साधक द्वारा कर्ममुक्ति का संगीत

सुख और दुःख में समभावी मानव शीघ्रता से कर्मनिर्जरा कर लेता है। उसके जीवन का मधुर और प्रेरक संगीत इस प्रकार है–

सुख-दुःख एक समान मनवा, सुख-दुःख एक समान।
ज्ञान तराजू में रख तोलो, मिटे सभी अज्ञान॥ मनवा.॥ ध्रुव ॥
इक आवे, दूजा पुनि जावे, सूरज-चन्द्र समान।
भाग्य-गगन के हैं दो तारे, अजब निराली शान॥ मनवा.॥१॥
जो जग में दुःख ही नहीं होता, सुख की क्या पहचान।
बिछुड़-मिलन का है यह जोड़ा, धूप-छांह-सम जान॥ मनवा.॥२॥
पतझड़ की हरियाली है यह, ऋतु-तब्दील-समान।
खेल रहा है खेल खिलाड़ी, जीव करे अभिमान॥ मनवा.॥३॥

दुःख के दर्द को भूल के मूरख, सुख में ग़ावे गान।
उलट-फेर में चपत लगे जब, भूल जाय सब तान॥ मनवा.॥४॥
सुख-दुःख में इकरंगी रहते, ऐसे विरले जान।
धन्य-धन्य उस धीर-वीर को, दुःख में गावे गान॥ मनवा.॥५॥

कितना प्रेरणादायक है, यह सुख और दुःख में समता का बोधगीत !

सुख-दुःख में ज्ञानी समभावी और अज्ञानी विषमभावी हो जाते हैं

वस्तुतः सुख और दुःख दोनों मनुष्य के जीवन में आते हैं। इतना ही नहीं, वीतरागी महापुरुषों के जीवन में भी ये दोनों वेदनीय कर्म के फलस्वरूप आते हैं। किन्तु वे सुख और दुःख में ज्ञाता-द्रष्टा बने रहते हैं। समभाव के तत्त्व से अनभिज्ञ और सांसारिक दुःखबीज सुख के अभ्यासी, अज्ञ जीव सुख में फूल जाते हैं और दुःख आने पर घबराकर हायतोबा मचाते हैं।

जीवन में सुख की अधिकता होने पर भी अज्ञानतावश दुःख को आमंत्रण

वास्तव में देखा जाय तो मानव-जीवन में सुख अधिक है, बशर्ते कि दुःख में से सुख निकालने की कला आ जाए। वह तभी आ सकती है, जब व्यक्ति यह समझे कि यह दुःख अपने आप में दुःख नहीं है, मेरी ही अज्ञानता से, प्रमाद से तथा अशुभ भावों से उपार्जित है; अगर मैं समभाव रखकर इसे सहन कर लूँ तो यह भी सुखरूप बन सकता है। दुःख मुझे जाग्रत करने और अहिंसा-सत्यादि की साधना में; जप-तप में पुरुषार्थ करने की प्रेरणा देने के लिए आया है। अगर मैं सुख में आसक्त हो जाता, आलसी बन जाता तो दूसरों के दुःख का क्या पता लगता। जीवन तो सुख की धारा है, किन्तु मनुष्य अपने मन, वचन और काया के कटु व्यवहार से, वैर-विरोध करके, अपने हृदय को तुच्छ और अनुदार बनाकर, अंहकारवश दूसरों का तिरस्कार करके दुःख और आफत को आमंत्रण दे देते हैं। अतः प्रत्येक परिस्थिति में मनुष्य सुख का उज्ज्वल पहलू पकड़े तो वह स्वस्थ और प्रसन्न रह सकता है।

सेठ ने दुःखकर प्रसंग को भी सुखरूप मान लिया

एक सेठ बहुत ही शान्त, उदार और सहिष्णु था। कुछ मनचले युवकों ने उसकी परीक्षा लेने की ठानी। उसके नौकर से मिलकर उन्होंने कहा—"अगर तुम अपने मालिक को क्रोधित कर दो तो हम तुम्हें सौ रुपये इनाम देंगे।" नौकर ने हाँ भर ली। नौकर जानता था कि मालिक को पलँग का बिछौना टेढ़ा और सलवटदार नापसंद है। उसने रात को मालिक का बिछौना अस्त-व्यस्त बिछा दिया। मालिक समझ गया। वह सुबह उठा तब नौकर से मुस्कराते हुए कहा—"क्या आज बिछौना

ठीक नहीं बिछा था?" नौकर बोला–"सेठ जी ! मैं भूल गया था।" दूसरी रात नौकर ने पहली रात से भी अधिक खराब ढंग से बिछौना बिछाया। मालिक ने अपने शान्त स्वभाववश ऐसा करने का कारण पूछा तो कहा–"मुझे अवकाश नहीं मिला।" तीसरे दिन भी उसने जब ऐसा ही किया तो मालिक ने मुस्कराकर कहा–"मालूम होता है, तू मेरी इस आदत को पसंद नहीं करता और इस काम से उकता गया है तो डर मत। मैंने भी अपनी आदत अब ऐसे अस्त-व्यस्त बिछौने पर सोने की बना ली है। मुझे ऐसे सोने में कोई दुःख नहीं है।" यह सुनकर नौकर लज्जित होकर सेठ के चरणों में गिर पड़ा, क्षमा माँगी और सारी दास्तान कह सुनाई।

यह है दुःख के प्रसंगों में अपने को एडजस्ट करके सुखानुभव करने का ज्वलन्त उदाहरण !

सुख-दुःख के सभी प्रसंगों में समभाव से अभ्यस्त व्यक्ति का जीवन

सुख-दुःख के प्रसंगों में भी सुख-दुःख महसूस न करके समभाव में स्थित रहना भी बहुत बड़ी कला है। इसका अभ्यास करने से व्यक्ति तात्त्विक दृष्टि से विचार करके कर्मनिर्जरा भी कर सकता है। इस सम्बन्ध में एक ऐतिहासिक उदाहरण लीजिए–

अरबस्तान के खानदानी परिवार का एक लड़का दुर्दशा से ग्रस्त हो जाने से शत्रुओं के हाथ में पड़ गया। उन्होंने उसे गुलाम के रूप में बेच डाला। जिसने उसे खरीदा था, वह मालिक बहुत क्रूर था। एक व्यापारी, जो उसे गाँव में व्यवसाय के निमित्त आया करता था, उसने इस युवक को कठोर परिश्रम करते देखकर पूछा–"भाई ! तुम्हें बड़ा दुःख हो रहा है न?" युवक बोला–"जो पहले नहीं था और भविष्य में रहेगा नहीं, उस विनश्वर दुःख की क्या चिन्ता की जाए?"

कुछ वर्षों बाद वह व्यापारी फिर उस गाँव में आया, उसे पता लगा कि उस युवक का अनुदार मालिक मर गया है और वह युवक अपने मालिक की गिरती दशा देख, गुलामी से मुक्त होकर मालिक की पत्नी और पुत्र का अपनी कमाई से भरण-पोषण कर रहा है। व्यापारी ने इस समय युवक से कहा–"अब तो सुख में हो न?" उसने उत्तर दिया–"जो परिवर्तनशील है, उसे सुख भी क्यों मानना और दुःख भी क्यों माना जाए?" इसके दो साल बाद वही व्यापारी आया और उसने देखा कि वह दास अब जिले का अग्रेसर बन गया है। उसके मातहत बहुत-से व्यक्ति काम कर रहे हैं। आसपास के गाँव वालों ने उसे सरदार बना दिया है, क्योंकि उसने उस इलाके के डाकुओं और लुटेरों को दबा दिया है। उसकी इस महान् सेवा के बदले में गाँव वालों ने उसे बहुत-सी जमीन भेंट दे दी है।" ऐसी स्थिति में उक्त व्यापारी द्वारा पूर्ववत् सुख-सम्बन्धी प्रश्न किये जाने पर उसने वैसा ही उत्तर दिया कि-मेरे लिए सुख और दुःख दोनों एक-से हैं। आप जिसे सुख कहते हैं, मैं उसे भी नम्रतापूर्वक

कर्त्तव्य और दायित्व का निर्वाह करना मानता हूँ। कुछ वर्षों बाद जब वह व्यापारी आया तो उसने देखा कि अब वह भूतपूर्व दास 'राजा' बन गया है। एक खास युद्ध में उसने राजा को काफी सहायता पहुँचाई, जिसके कारण उस राजा ने उसे अपना दामाद और उत्तराधिकारी बना दिया है।" व्यापारी ने आश्चर्यचकित होकर उस राजा बने हुए भूतपूर्व दास से पूछा-"क्यों, अब तो सुखी हो गए न?" राजा बने हुए उस भूतपूर्व दास ने अपना वही पहले वाला उत्तर दोहरा दिया।

पुण्योपार्जन के साथ-साथ निर्जरा कैसे ?

निष्कर्ष यह है कि इस सत्य घटना में अंकित व्यक्ति की तरह यदि कोई व्यक्ति निःस्वार्थ एवं निःस्पृहभाव से परोपकारार्थ सुख और दुःख की स्थिति में समभाव रखता है तो पुण्य-उपार्जन करने के साथ-साथ निर्जरा भी कर सकता है। शर्त यही है कि महापुरुषों एवं अरिहन्तों-सिद्धों का आदर्श सामने रखकर निःस्वार्थ-निष्कामभाव से सुख और दुःख दोनों परिस्थितियों में समत्व में डटा रहे, स्थितप्रज्ञ (स्थितात्मा) बनकर रहे। उसमें किसी प्रकार की नामना-कामना, प्रसिद्धि, प्रशंसा या कीर्ति की भावना न हो। यही धर्मकला है-संवर-निर्जरारूप मोक्षमार्ग (कर्ममुक्तिपथ) की कला है।

दुःख में दैन्य न हो, सुख में गर्व न हो, यही समभावी का लक्षण

कुछ लोगों का यह तर्क है कि समस्त जीव, यहाँ तक कि मनुष्य और उसमें भी निर्ग्रन्थ मुनि, स्थविरकल्पी साधु-साध्वीवर्ग भी पूर्वकृत कर्मों के अधीन हैं। हालांकि शुभ-अशुभ कर्म जीव के द्वारा स्वयं ही बाँधे हुए हैं, ऐसी स्थिति में वह जब अशुभ कर्म के उदय से रोग, विपत्ति आदि के रूप में दुःख पाता है, उस समय वेदना से तड़फ उठता है, दुःखी हो जाता है, तथैव शुभ कर्मोदय से सुख की स्थिति में सुख-प्राप्ति से मन में हर्षित एवं गर्वित हो उठता है, ऐसी स्थिति में साधुवर्ग भी प्रायः समभाव में स्थित नहीं रह पाता है, अन्य सामान्य गृहस्थ की बात ही क्या है? इसका युक्तिसंगत समाधान करते हुए एक आचार्य कहते हैं-

"दुःखं प्राप्य न दीनः स्यात्, सुखं प्राप्य न विस्मितः।
मुनिः कर्मविपाकस्य जानन् परवशं जगत्॥"

-सारा जगत् कर्मविपाक के अधीन है, यह जानकर समता-साधक मुनि दुःख को पाकर दीन न हो और सुख को पाकर विस्मित न हो। वह समभाव में डटा रहे।

कर्मपरवश जीव सत्पुरुषार्थ से आत्मा स्वतंत्र हो सकती है

आशय यह है कि जगत् के सभी जीव कर्मपरवश हैं, यह जानकर भी आत्मा अपनी प्रबल शक्ति से अप्रमत्त और समभावस्थ रहकर स्वतंत्र रह सकती है। वह न

चाहे तो कर्मोदय होने पर भी समभावपूर्वक उसे भोगकर उक्त कर्मों *की निर्जरा की जा सकती है।*

स्वेच्छा से और अनिच्छा से कर्मफल भोगने का अन्तर

निर्जरा के सम्बन्ध में एक तथ्य और समझ लेना चाहिए। पूर्वकृत कर्म के उदय में आने पर उसका फल मन के प्रतिकूल होने पर भी अवश्यमेव भोगना पड़ता है, किन्तु एक व्यक्ति तो रो-रोकर, बिना उत्साह के भोगता है, जबकि दूसरा विवेकशील व्यक्ति उसी प्रतिकूल फल को हँसते-हँसते, प्रसन्नतापूर्वक समभाव से यह सोचकर भोगता है कि इसे समभावपूर्वक भोगने से शीघ्र ही क्षय हो जायेगा, जबकि रोते-झींकते, निमित्तों को कोसते हुए भोगने से वे कर्म कई वर्षों और कभी-कभी कई जन्मों में जाकर क्षीण होते हैं। समभावपूर्वक भोगने से नये कर्म का बन्ध रुक जाता है अर्थात् संवर हो जाता है और सकामनिर्जरा भी होती है। जबकि विवशतावश विषमभाव से भोगने पर काफी अर्से के बाद उन कर्मों की निर्जरा तो होती है, किन्तु वह होती है—अकामनिर्जरा। फिर उसे रोते-पीटते अनिच्छा से भोगने से नये अशुभ कर्मों का भी बन्ध हो जाता है। वह व्यक्ति संवर और सकामनिर्जरा से भी वंचित हो जाता है। इसी तथ्य को एक आचार्य ने स्पष्ट किया है—

"स्वकृत-परिणामानां दुर्नयानां विपाकः,
पुनरपि सहनीयोऽत्र ते निर्गुणस्य।
स्वयमनुभवताऽसौ दुःखमोक्षाय सद्यो,
भव-शत-गति-हेतुर्जायतेऽनिच्छतस्ते॥"

—स्वकृत अशुभ (दुर्नीतियुक्त) कर्मों के बन्ध का विपाक (फल) अभी खेदरहित होकर (प्रसन्नतापूर्वक) स्वेच्छा से सहन नहीं करोगे तो आखिर कभी न कभी सहन करना (भोगना) ही पड़ेगा। यदि उस अशुभ कर्म का फल स्वेच्छा से (उत्साहपूर्वक) भोग लोगे तो उस दुःखजनक कर्म से शीघ्र ही छुटकारा हो जायेगा। इसके विपरीत यदि अनिच्छा से (खेद और विवशतापूर्वक) भोगोगे तो वह *सौ भवों में गमन* (भ्रमण) का कारण हो जायेगा।

स्पष्ट है, स्वेच्छा से प्रसन्नतापूर्वक पूर्वकृत अशुभ कर्मबन्ध का फल (उस कर्म के उदय में आने पर) भोगने से उस कर्म से शीघ्र ही मुक्ति हो जाती है, संवर और सकामनिर्जरा का भी लाभ अनायास ही प्राप्त हो जाता है। अतः अशुभ कर्म का फल स्वेच्छा से, समभावपूर्वक भोग लेना ही संवर और सकामनिर्जरा की साधना है, जो इनके साधक को सुखानुभूति, निर्भयता और सहिष्णुता प्रदान करती है।

● ●

२

समतायोग का मार्ग : मोक्ष की मंजिल

अध्यात्मयात्री की रीति-नीति

सच्चा यात्री सुख-दुःख, लाभ-अलाभ, जीवन-मरण, निन्दा-प्रशंसा तथा सम्मान-अपमान इत्यादि द्वन्द्वों को जान-देखकर इनमें उलझकर नहीं बैठ जाता। इसी प्रकार उसके मार्ग में पड़ने वाले अनुकूल-प्रतिकूल संयोगों, मनचाही-अनचाही परिस्थितियों, भयों और प्रलोभनों के दृश्यों से भी हर्ष-शोक में ग्रस्त नहीं होता, अपनी यात्रा को ठप्प नहीं करता। वह भयों से घबराकर या प्रलोभनों से आकर्षित होकर नहीं ठिठकता अथवा मार्ग में मिलने वाले ठगों, लुटेरों या जेबकटों से भी असावधान नहीं रहता। न ही रास्ते की कठिनाइयों और असुविधाओं को देखकर निराश होकर वापस मुड़ता या लौटता है, न ही पस्तहिम्मत होकर मार्ग में ही पड़ाव डालकर बैठ जाता है। अपितु अपना आत्म-बल, प्राण-बल, साहस और परिपूर्ण आत्म-विश्वास बटोरकर समभावपूर्वक उनका सामना करता है। वह विषमता बढ़ाने वाले द्वन्द्वों, संयोगों और परिस्थितियों के सामने घुटने नहीं टेकता, बल्कि तीव्र मनोबल के साथ उनको परास्त करके अपनी यात्रा आगे बढ़ाता है और एक दिन अपनी मंजिल तक पहुँच जाता है।[1]

अध्यात्मयात्री मोहजाल में नहीं फँसता

ठीक यही बात अध्यात्मयात्री के सम्बन्ध में समझिये। अध्यात्मयात्री भी अपनी अध्यात्मयात्रा प्रारम्भ करता है, तब सुख-दुःख, लाभ-अलाभ आदि द्वन्द्वों का जाल रास्ते में बिछा रहता है; काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर, ईर्ष्या, द्वेष आदि ठग तथा लुटेरे भी उसे लूटने या ठगने की टोह में रहते हैं। संयोग या परिस्थितियाँ भी उसको मोक्ष की मंजिल तक पहुँचने में बाधक या प्रलोभक बनकर खड़ी रहती हैं। भय और प्रलोभन भी उसे रुकने को बाध्य करते हैं। यदि अध्यात्मयात्री बाहोश और जाग्रत न हो तो उसके वाहन-शरीर, मन, बुद्धि या इन्द्रियाँ आदि भौतिक उपकरण भी उसके सहयोगी न बनकर उसे कषायों या राग-द्वेषादि विकारों की ओर प्रबल रूप से प्रेरित कर सकते हैं अथवा शरीरादि प्रायः उसकी अध्यात्मयात्रा

---

१. 'समतायोग' से भाव ग्रहण, पृ. ५

में बाधक या अवरोधक बनकर संसार की भूलभुलैया में डाल सकते हैं। ऐसी स्थिति में मोक्ष की मंजिल तक पहुँचने का उसका स्वप्न धरा रह सकता है। किन्तु जाग्रत और बाहोश अध्यात्मयात्री में इतना आत्म-बल, प्राण-बल, साहस और आत्म-विश्वास होता है तथा उसमें इतनी क्षमता, शक्ति और निर्भयता आ जाती है कि वह इन सब उपर्युक्त विषमता बढ़ाने वाले संयोगों, परिस्थितियों, भयों, प्रलोभनों या सुख-दुःख आदि के मोहजाल में नहीं फँसकर सर्वकर्ममुक्तिरूप मोक्षलक्ष्य की ओर अबाधरूप से गति-प्रगति कर पाता है।

अध्यात्मयात्री समतायोग के सहारे मोक्ष की मंजिल तक पहुँचता है

प्रश्न होता है—अध्यात्मयात्री अपनी यात्रा में बिना थके, बिना रुके, बिना झुँझलाए, बिना राग-द्वेषादि द्वन्द्वों के जाल में उलझे कैसे द्रुतगति से अपनी मंजिल तक पहुँच सकता है?

इसके उत्तर में यही कहा जा सकता है कि समतायोग ही एक ऐसा प्रबल सम्बल मार्ग, साधन या माध्यम है, जिसके सहारे से सर्वकर्ममुक्तिरूप मोक्ष का अध्यात्मयात्री अपनी आत्मा को प्रबल, सशक्त, सक्षम एवं बलवान् बनाकर शरीर आदि उपकरणों को अपने सहयोगी बनने के लिए बाध्य कर सकता है। इसी प्रकार संसार का निर्माण करने तथा बढ़ाने वाले लाभ-अलाभ, सुख-दुःख, जीवन-मरण, निन्दा-प्रशंसा, सम्मान-अपमान आदि द्वन्द्वों से अलिप्त या दूर रहकर अपनी अध्यात्मयात्रा से बिना किसी विघ्न-बाधा के पूर्ण कर सकता है। इसीलिए 'इसिभासियाइं' में कहा गया है—"सव्वत्थेसु समं चरे।"—मनुष्य को सभी अर्थों में समभावी रहना चाहिए।

समतायोग में अविनाशी के साथ योग है

समतायोग में निहित योग शब्द का अर्थ है—जुड़ना या जोड़। जुड़ना या योग दो प्रकार का होता है। एक होता है—विनाशी के साथ और दूसरा होता है—अविनाशी के साथ। दृश्यमान संसार, संसार के पदार्थ या पुद्गल या लाभ-अलाभ आदि सभी द्वन्द्वात्मकभाव विनाशशील, परिवर्तनशील हैं—उत्पादव्ययुक्त हैं। अविनाशी वह है, जो ध्रुव है, शाश्वत है, सनातन है, जो विनाशी का ज्ञाता-द्रष्टा है, जिसे हम आत्मा, परमात्मा, चेतन या जीव कहते हैं अथवा धर्म एवं मोक्ष भी ध्रुव—अविनाशी है।[1] हरिभद्रसूरि के अनुसार—धर्म (समतादि) की समस्त प्रवृत्ति मोक्ष के साथ योग कराती है, इसलिए वह (समता) योग है।[2]

---

१. एस धम्मे धुवे णिच्चे सासए जिणदेसिए। —*आचारांग, श्रु. १, अ. १*

२. मोक्खेण जोयणाओ जोगो सव्वो वि धम्मवावारो। —*योगविंशिका १*

• जैन-कर्मविज्ञान में विनाशी के साथ जुड़ने को–सम्बन्ध स्थापित करने को 'योग' कहा है। योग के मुख्यतया तीन प्रकार हैं–मन, वचन और काया। इसके विपरीत अविनाशी के साथ जुड़ने या केवल प्रेर्य-प्रेरकभाव से सम्बन्धित होने को पातंजल योगदर्शन ने तथा जैनयोग के आचार्यों ने योग कहा है।

समतायोग आत्मा को परमात्मा से या मोक्ष से जोड़ता है

समतायोग में योग शब्द समता के माध्यम से आत्मा को परमात्मा से, परमात्मपद से, सर्वकर्ममुक्तिरूप मोक्षलक्ष्य से जोड़ता है–मिलाता है। समतायोग आत्मा को परमात्मा से अथवा आत्मा को अपने शुद्ध स्वरूप से मिलाने या मोक्षलक्ष्य को प्राप्त कराने वाला है। वह आत्मा को परमात्मपद तक, कर्मयुक्त आत्मा को सर्वकर्ममुक्ति तक पहुँचने के मार्ग में जो भी विघ्न-बाधाएँ, उतार-चढ़ाव, विरोध-अवरोध आते हैं, उन्हें दूर कराने में पथ-प्रदर्शक (गाइड) है। इसीलिए 'भगवद्गीता' में–"समत्त्वं योग उच्यते।"–समताबुद्धि को योग कहा गया है।[1]

समतायोग से ही शान्ति, विरक्ति, सहिष्णुता एवं सर्वकर्ममुक्ति

समतायोग जीवन के सभी क्षेत्रों (परिवार, समाज, जाति, प्रान्त, सम्प्रदाय, मत, राष्ट्र, पन्थ आदि सभी क्षेत्रों) में शान्ति, सहिष्णुता, कषाय-उपशान्ति, विषय भोगेच्छा से विरक्ति लाता है। आध्यात्मिक क्षेत्र में समता आ जाने पर व्यक्ति स्वेच्छा से प्राणिमात्र के प्रति समभाव तथा सांसारिक विषयभोगों के प्रति अनासक्ति, विरक्ति आदि रखता है।

समतायोग के अभाव में दुःख, पीड़ा, असन्तोष, अशान्ति

समतायोग के अभाव में व्यक्ति के पास प्रचुर धन, साधन, बल, बुद्धि, विद्या, वैभव आदि होते हुए भी दूसरों के प्रति ईर्ष्या, द्वेष, मात्सर्य तथा मद, अहंकार, ममता, आसक्ति आदि के कारण दुःखी, बेचैन और अशान्त होता रहता है। एक व्यक्ति किसी वस्तु के अभाव के कारण दुःखित–पीड़ित होता रहता है, जबकि दूसरा व्यक्ति प्रचुर मात्रा में वस्तु के होने पर भी असन्तुष्ट और दुःखी होता है। यह सब होता है, समतायोग के अभाव में। आज अधिकांश लोगों की शिकायत है कि परिवार, समाज, प्रान्त, राष्ट्र, धर्म-सम्प्रदाय आदि सभी क्षेत्रों में संघर्ष, चिन्ता, तनाव, असन्तोष, रोग, क्लेश, द्वेष, मोह, राग, परेशानी आदि का दौर है। जीवन के सभी क्षेत्रों में व्याप्त इस वैषम्यविष को मिटाने का एकमात्र उपाय है–समतायोग।

---

१. (क) 'समतायोग' से भाव ग्रहण, पृ. ६

(ख) भगवद्गीता, अ. २, श्लो. ४८

समतायोग स्वीकार करने पर ही समाधि, मुक्ति या सुगति

यदि समतायोग को स्वीकार किये बिना ही प्रचुर धन, सुख-सामग्री, नृत्य, गीत, वाद्य, रागरंग, राज्य, पद-प्रतिष्ठा, जमीन-जायदाद आदि से मनुष्य को सुख-शान्ति, समाधि, मुक्ति या सुगति प्राप्त हो जाती तो बड़े-बड़े चक्रवर्ती नृपेन्द्रों, नरेशों, धनिकों, वैभवशाली व्यक्तियों, बड़े-बड़े व्यवसायियों, श्रेष्ठिवर्यों आदि को इन सबका त्याग करने की क्या आवश्यकता थी? 'उत्तराध्ययनसूत्र' की ये गाथाएँ इस तथ्य की साक्षी हैं कि सगर, मघवा, सनत्कुमार, शान्तिनाथ, कुन्थुनाथ, भरत, महापद्म, हरिषेण, जय, दशार्णभद्र, नमिराजर्षि, करकण्डु, सौवीरराज, उदायन, काशीराज, विजय, महाबलराजर्षि इत्यादि अनेक चक्रवर्तियों, नरेन्द्रों, प्रत्येकबुद्धों आदि ने अपना विस्तृत राज्य, विपुल वैभव, ऋद्धि-समृद्धि आदि सब पर से ममत्व त्यागकर समता की साधना द्वारा सर्वकर्ममुक्तिरूप मोक्ष प्राप्त किया था। उनकी कितनी ही परीक्षाएँ हुईं, कसौटियों पर कसा गया, फिर भी वे समत्व में खरे उतरे। समतायोग (सामायिक) की साधना से ही उन्हें शान्ति, सन्तोष, सुख (आनन्द) और समाधि मिली, मगर कामभोग के साधनों से, राजमहलों से, धन-सम्पत्ति, सत्ता और वैभव से नहीं। समतायोग के माध्यम से आत्मा में—आत्म-स्वरूप में अवस्थित होने या रमण करने पर ही उन्हें शान्ति एवं समाधि प्राप्त हुई।[1]

अतीत, अनागत और वर्तमान में समतायोग के प्रभाव से ही मोक्ष

इसीलिए एक आचार्य कहते हैं—

"जे केवि गया मोक्खं, जे वि य गच्छंति, जे गमिस्संति।
ते सव्वे सामाइअ-पभावेण मुणेयव्वं॥"

—जो भी साधक भूतकाल में मोक्ष गये हैं, जो वर्तमान में मोक्ष जा रहे हैं और भविष्य में भी जो मोक्ष जायेंगे, वे सब सामायिक (समतायोग) के प्रभाव से ही गये हैं, जा रहे हैं और जायेंगे, ऐसा समझना चाहिए। सामायिक (समतायोग) की साधना से ही भरत चक्रवर्ती ने शीशमहल में खड़े-खड़े सुन्दर शरीर और बहुमूल्य वस्त्राभूषण आदि से ममत्व छोड़कर समताश्रय से केवलज्ञान और मोक्ष प्राप्त किया।

और तो और, इहलौकिक जीवन में भी समतायोग के अभाव में कोई भी मनोनीत कार्य सफलतापूर्वक सम्पन्न नहीं होता। चाहे सुख का प्रसंग हो या दुःख का, चाहे इष्टवियोग और अनिष्टयोग का प्रसंग हो अथवा अनिष्टवियोग और इष्टसंयोग का प्रंसग हो, भवन मिले या वन में झोंपड़ी मिले या वृक्ष के नीचे रहने को स्थान मिले अथवा उच्च पद, प्रतिष्ठा या सत्ता मिले या नीचा पद, अप्रतिष्ठा

---

१. देखें—उत्तराध्ययनसूत्र, अ. १८ की गा. ३४ से ५१ तक का विवेचन

या सत्ताधीनता मिले, शत्रु हो या मित्र, विरोधी हो या अविरोधी, सम्पन्नता मिले या विपन्नता, इन या ऐसे परस्पर विरोधी प्रसंगों में यदि समता, मानसिक सन्तुलन, साम्ययोग या समभाव न हो तो सर्वत्र अशान्ति ही अशान्ति दृष्टिगोचर होगी। जहाँ भी जातिगत, सम्प्रदायगत, समाजगत, परिवारगत, राष्ट्रगत, प्रान्तगत वैषम्य होगा, पक्षपात और भेदभाव होगा, वहाँ कलह, संघर्ष, युद्ध और वैमनस्य से विषमता और अशान्ति की चिनगारियाँ ही फूटेंगी। शान्ति के लिए तो समतायोग का ही आश्रय लेना पड़ेगा। जहाँ-जहाँ जिस-जिस व्यक्ति या वस्तु के प्रति अहंत्व-ममत्व होगा, वहाँ-वहाँ विषमता और अशान्ति ही बढ़ेगी, कर्मबन्धन ही होगा, अतः उस विषमता, शारीरिक-मानसिक अशान्ति और असमाधि को मिटाने या रोकने का सर्वोत्तम उपाय समतायोग ही है।

समता के बिना जप, तप, क्रियाकाण्ड आदि अकिंचित्कर

धार्मिक जगत् में भी कई लोग उत्कट बाह्यतप, त्याग, प्रत्याख्यान करते हैं, विविध कष्टों और परीषहों को भी सह लेते हैं, व्यवसाय-वृद्धि, पद, प्रतिष्ठा, धन और सत्ता की प्राप्ति के लिए भयंकर से भयंकर कष्ट, संकट भी सह लेते हैं। साधुवर्ग या श्रावकवर्ग व्रत नियम भी ग्रहण कर लेते हैं, स्थूल क्रियाकाण्डों के रूप में व्यवहारचारित्र का भी पालन कर लेते हैं, जप भी प्रचुर संख्या में कर लेते हैं, किन्तु जब तक जीवन में समभाव नहीं आता, तब तक राग, द्वेष, मोह और क्रोधादि कषाय और नोकषाय उपशान्त, क्षीण या मन्द नहीं होते। इसीलिए एक आचार्य ने कहा है—"उस तीव्र तप से क्या होगा या अधिकाधिक जप से भी क्या होगा अथवा व्यवहारचारित्र के पालन से भी क्या होगा, जब तक उसके साथ समताभाव नहीं हो? क्योंकि समता के बिना न तो कभी मोक्ष (सर्वकर्ममुक्तिरूप) हुआ है, न ही किसी अन्य प्रकार से होता है।"[1]

समता से श्रमण और श्रमणोपासक होता है

आशय यह है कि जब तक साधु-जीवन में या श्रावक-जीवन में समभाव नहीं आता है, तब तक बाह्यतप, जप, क्रियाकाण्ड या बाह्यत्याग-प्रत्याख्यान से कर्मक्षय में सफलता नहीं मिलती। इसीलिए 'उत्तराध्ययनसूत्र' में कहा है—**मुण्डित होने मात्र से श्रमण नहीं होता, समता से ही श्रमण होता है।**[2]

---

१. किं तवेण तिव्वेण, किं च जपेण किं चरित्तेण।
समयाइ विण मोक्खो न हुओ, कहा वि न हु होई॥

२. (क) नवि मुण्डिएण समणो। *—उत्तराध्ययन, अ. २५, गा. ३१*
(ख) समयाए समणो होई। *—वही, अ. २५, गा. ३२*
(ग) सामाइयम्मि कए समणो इव सावओ हवइ तम्हा। ***—विशेषावश्यक भाष्य, गा. २६९०***

समतायोग का अभ्यास न होने पर फलाकांक्षा दोष आ सकता है

मान लीजिए, एक गृहस्थ ने श्रावक के पाँच अणुव्रत और तीन गुणव्रत अंगीकार कर लिये, साधु-साध्वियों की प्रेरणा से अमुक त्याग, तप, जप, व्रत नियम आदि भी कर लिये, सामायिक के पाठों का उच्चारण करके सामायिकधारी के वेष में भी बैठ गया, किन्तु समतायोग (सामायिक) के तत्त्व, प्रयोजन विधि, सावधानी और रहस्यार्थ से अनभिज्ञ होने के कारण तथा भेदविज्ञान का या आत्मा-अनात्मा का विवेक न होने के कारण वह अपने त्याग, तप, जप आदि के साथ इहलोक-परलोक में सुख-प्राप्ति, भोग-प्राप्ति या अमुक साधन-प्राप्ति की सौदेबाजी (निदान = फलाकांक्षा) कर बैठता है अथवा जिसने समतायोग का न तो प्रशिक्षण लिया है और न जीवन-व्यवहार में उसका अभ्यास किया है, ऐसी स्थिति में जब उसके सामने सांसारिक उलझनें, चिन्ताएँ, झंझटें और मुसीबतें उपस्थित होती हैं, तब वह मानसिक सन्तुलन खो बैठेगा अथवा मन में तरह-तरह के कुविचारों, आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान के भूचाल अथवा निमित्तों पर दोषारोपण करने के कुतर्क उठेंगे अथवा जीवन में अटपटे प्रश्न उपस्थित होने पर वह शान्ति, धैर्य और सन्तुलन खो बैठेगा, समता का जीवन-व्यवहार में उपयोग न करके वह या तो देवी-देवों की मनौती करने दौड़ता है अथवा साधु-सन्तों के पास मंत्र, तंत्र, यंत्र एवं जाप आदि प्राप्त करने जाता है, किन्तु समतायोग का अभ्यास न होने के कारण बात-बात में नये-नये कर्मबन्धन करता रहता है। तथैव त्याग, नियम या क्रियाकाण्डों के साथ अहंकार-प्रदर्शन, दूसरों के प्रति तिरस्कारभाव अथवा इहलौकिक-पारलौकिक फलासक्ति का विष उस साधक की की-कराई साधना को चौपट कर सकता है।

समतायोग के अभाव में बार-बार समस्याएँ आने पर जीव कर्मों से संश्लिष्ट हो सकता है। वह कर्मों का भारी जत्था आत्मा से चिपका लेता है, जिसका दुष्फल भविष्य में उसी जीव को भोगना पड़ता है। प्रश्न होता है–जीव और कर्मों के परस्पर श्लिष्ट हो जाने पर क्या कोई ऐसा सफल उपाय है, जो इन दोनों को पृथक्-पृथक् कर सके? एक आचार्य ने समतायोगरूप सामायिक को इसका अचूक उपाय बताते हुए कहा है–"जिसे आत्मा का परिज्ञान और उसका निश्चय दृढ़ हो गया है, वह साधक समतायोगरूप सामायिक की सलाई से परस्पर संश्लिष्ट (चिपके हुए) जीव और कर्म को पृथक्-पृथक् कर लेता है।"[1]

समतायोग के बिना स्थायीरूप से कोई भी समस्या हल नहीं हो सकती

निष्कर्ष यह है कि समस्या चाहे पारिवारिक हो, आर्थिक हो, सामाजिक हो, राजनैतिक हो, सांस्कृतिक हो या सामाजिक, लौकिक हो या लोकोत्तर, समतायोग

---

१. कर्म जीवं च संश्लिष्टं परिज्ञातात्म-विनिश्चयः।
विभिन्नीकुरुते साधुः सामायिकशलाकया॥

के बिना स्थायीरूप से कोई भी समस्या हल नहीं हो सकती। इसलिए साधारण मानव के जीवन से लेकर श्रावक-जीवन में, साधु-जीवन में और उच्च कोटि के निर्ग्रन्थ-जीवन में पद-पद पर समतायोगी की आवश्यकता है।

समतायोग के बिना ये सब व्यर्थ हैं

'नियमसार' में स्पष्ट कहा गया है–"जो श्रमण समता से रहित है, उसका वनवास, कायक्लेश, विचित्र उपवासादि तप, शास्त्रों का अध्ययन तथा मौन आदि क्या कर सकते हैं, समतायोग के बिना ये सब व्यर्थ हैं, अकिंचित्कर हैं।"

सामायिक की शुद्ध साधना कब और कैसे ?

सामायिक या समतायोग की शुद्ध साधना तभी हो सकती है, जब सामायिक के व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ के अनुरूप आत्म-स्थिति हो–

"समय का अर्थ है–आत्मा; आत्मा के साथ एकीभूत होकर रहना समाय है, समाय जिसका प्रयोजन हो, वह सामायिक है।" 'ज्ञानार्णव' के अनुसार–"समता (साम्य) में उच्च स्थिति तभी होती है, जब यह आत्मा स्वयं को समस्त पर-द्रव्यों व उनकी समस्त पर्यायों से भिन्न (विलक्षण) स्वरूप निश्चय करता है।" वस्तुतः आत्मा (स्वरूप) में स्थिरता (स्थितप्रज्ञता) तभी आती है, जब समतायोग जीवन में ओतप्रोत हो जाये।

'प्रवचनसार' में समत्व की परिभाषा दी गई है–"आत्मा का मोह और क्षोभ से रहित विशुद्ध परिणाम ही समत्व है।" "इस दृष्टि से जो श्रमण सुख और दुःख में समयोग रखता है, वही शुद्धोपयोगी (समतायोगी) है।" आत्मा में ऐसी स्थिरता (स्वरूपस्थिति) तभी आती है,[1] जब समतायोग जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में ओतप्रोत हो जाता है।

आत्म-स्थिरतारूप समतायोग के अभाव में

ऐसे आत्म-स्थिरतारूप समतायोग के अभाव में मनुष्य अपने पर आ पड़े हुए संकट, चिन्ता, शोक, दुःख, विपत्ति एवं अभावजनित कष्ट तथा मानसिक संक्लेश

---

१. (क) किं काहदि वणवासो, कायकिलेसो विचित्त उववासो।
अज्झयण-मोण-पहुदी, समदा-रहियस्स समणस्स॥ *–नियमसार १२४ पा.*

(ख) समयः आत्मा, तेन सहैकीभूतेन वर्त्तनं समायः, तत्प्रयोजनं यस्य तत्सामायिकम्।

(ग) अशेष-परपर्यायैरन्यद्रव्यैर्विलक्षणम्।
निश्चिनोति यदात्मानं तदा साम्ये स्थितिर्भवेत्॥ *–ज्ञानार्णव*

(घ) मोहक्खोहविहीणो, परिणामो अप्पणो हु समो। *–प्रवचनसार १/७*

(ङ) समणो समसुहदुक्खो, भणिदो सुद्धोवओगोत्ति। *–वही १/१४*

के निवारण के लिए चाहे जितना धन, साधन एवं सुख-सामग्री जुटा ले, चाहे जितने भौतिकविज्ञान के प्रयोग और नित नये आविष्कार कर ले, बौद्धिक उड़ान के द्वारा चाहे जल, स्थल और आकाश पर आधिपत्य जमा ले, चाहे जितने जप, तप, नामस्मरण कर ले, चाहे जितनी प्रभु-प्रार्थना कर ले, भौतिक विद्याएँ पढ़ ले, जटाएँ या शिखायें रख ले या चाहे साधुवेष धारण कर ले, लच्छेदार भाषण कर ले, चाहे जितने रजोहरण, पात्र आदि धर्मोपकरण ले ले, विभिन्न उत्कट क्रियाकाण्ड कर ले, पूर्वोक्त विभिन्न समस्याओं का हल, चिन्ताओं एवं दुःखों का निवारण नहीं हो सकेगा।

समतायोग का उद्देश्य और प्रयोजन

समतायोग का उद्देश्य भी साधक को समभावों से ओतप्रोत कर देना है। उसके मन, वचन, काया, व्यवहार और अध्यात्म-जीवन में समत्वरस भलीभाँति आ जाये तथा उसके आन्तरिक जीवन में क्रोध, मान, माया, लोभ, मोह, राग-द्वेष, अज्ञान, दुराग्रह, मिथ्यात्व, अन्ध-श्रद्धा आदि के उपशम, क्षय या क्षयोपशम की मात्रा बढ़ती जाये, भोगों के प्रति विरक्ति और आत्म-भावों में स्थिरता बढ़े तथा उसे सांसारिक या भौतिक विषयों में विशेष दिलचस्पी न रहे, यही समतायोग का प्रयोजन है।

समतायोग का बाह्य एवं आन्तरिक स्वरूप ही उसका उद्देश्य

समतायोग के लिए आन्तरिक और बाह्य दोनों प्रकार की समता का जीवन में आना नितान्त आवश्यक है। आन्तरिक समता का सम्बन्ध मानसिक तथा आध्यात्मिक क्षेत्र से है, जबकि बाह्य समता का सम्बन्ध पारिवारिक, साम्प्रदायिक, सामाजिक, राष्ट्रीय, शारीरिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक आदि क्षेत्रों से है। समतायोग से अभ्यस्त होने पर दृश्यमान तथा सम्पर्कगत संसार अथवा भौतिक संसार के प्रति समता आ जानी चाहिए। जैसा कि एक तत्त्वज्ञ ने कहा है–"सामायिक (समतायोग) का मुख्य लक्षण 'समभाव' है; जिसे तृण और कंचन, शत्रु और मित्र इत्यादि से सम्बद्ध विषमताओं के अवसर पर रखना आवश्यक है। समभाव में चित्त को रखने के लिए उसे आसक्तिरहित रखना और उचित निरवद्य प्रवृत्ति करना आवश्यक है।" सामायिक का स्वरूप भी बाह्याभ्यन्तर-समतामूलक बताते हुए एक आचार्य ने कहा है–"समस्त प्राणियों के प्रति समता (समभाव), शुभ भावनाएँ तथा आर्त्त-रौद्रध्यान का परित्याग, यही तो सामायिकव्रत है।" फलितार्थ यह है कि समभाव की प्राप्ति, समता का अनुभव और प्राणिमात्र में समता की वृत्ति–प्रवृत्ति आदि ही समतायोग का प्रधान उद्देश्य है। 'धवला' में भी यही तथ्य द्योतित किया गया है–"शत्रु-मित्र, तृण-मणि, सोना

और मिट्टी आदि सभी सजीव-निर्जीव पदार्थों के प्रति राग-द्वेष के अभाव का नाम समता है।"[1]

समतायोग का मूल्य

समतायोग (सामायिक) का मूल्य यदि कोई रुपयों-पैसों, सुख-साधनों या किसी पद, प्रतिष्ठा या सत्ता आदि की प्राप्ति के रूप में चाहे तो समझना चाहिए, उसने समतायोग का स्वरूप ही नहीं समझा। जो समतायोग का स्वरूप भलीभाँति नहीं समझता, वह उसका मूल्य इहलौकिक सुख, भोगोपभोग, यशःकीर्ति आदि या पारलौकिक सुख, समृद्धि आदि के रूप में पाना चाहता है। परन्तु समतायोग ऐसी सौदेबाजी की वस्तु नहीं है। उसका मूल्य अगर भौतिक सम्पदा के रूप में होता तो मगध-सम्राट् श्रेणिक अपने राज्य के नागरिक पूणिया श्रावक से उसे खरीद नहीं लेता? भगवान महावीर से जब पूछा गया—"सामायिक से जीव को क्या लाभ होता है।" इसके उत्तर में उन्होंने कहा—"सामायिक (समताभाव जीवन के सभी क्षेत्रों में ओतप्रोत हो जाने) से जीव सावद्ययोग (अठारह पापस्थानयुक्त मन, वचन, काय प्रयोग) से विरति[2] हो जाती है। समतायोग (समभाव) की परम्परागत उपलब्धि या परम्परा से लाभ का स्पष्ट और निष्पक्ष उल्लेख करते हुए एक आचार्य कहते हैं— "समता का साधक चाहे श्वेताम्बर हो, चाहे दिगम्बर हो, चाहे बौद्ध हो अथवा किसी अन्य धर्म से सम्बद्ध हो; जिसकी आत्मा समभाव से भावित है, वह निःसन्देह मोक्ष (सर्वकर्ममुक्ति) पा लेता है।"[3]

समत्वचेतना जाग्रत होने से शान्ति, समाधि और आनन्दानुभूति

भगवान महावीर के तथा पूर्वोक्त आचार्य के कथन का फलितार्थ यह है कि जब इस प्रकार का समत्वयोग (सामायिक) मन, बुद्धि, चित्त और हृदय में स्थिर हो जाता है, आत्मा में समत्व की चेतना जाग्रत हो जाती है, तब पाप की समस्त धाराएँ अवरुद्ध होनी प्रारम्भ हो जाती हैं। समत्व के जाग्रत होने पर लेश्याओं में,

---

१. (क) समभावो सामाइयं, तण-कंचण-सत्तु-मित्त-विसउ ति।
णिरभिसंगचित्तं उचित-पवित्ति-पहाणं च॥

(ख) समता सर्वभूतेषु संयमः शुभभावनाः।
आर्त्त-रौद्र-परित्यागस्तद्धि सामायिकं व्रतम्॥

(ग) सत्तु-मित्त-मणि-पहाण-सुवण्ण-मट्टियास।
रागदोसाभावो समदा णाम॥ —*धवला ८/३, ४१/१*

२. सामाइएणं सावज्जजोगविरइं जणयइ। —*उत्तराध्ययन २९/८*

३. (क) आया सामाइए, आया सामाइयस्स अट्ठे। —*भगवतीसूत्र*

(ख) सेयंबरो य आसंबरो य बुद्धो वा तहव अन्नो वा।
समभाव-भावियप्पा लहइ मुक्खं न संदेहो॥

परिणामों में तथा वेदन में परिवर्तन होने लगता है। लेश्याएँ शुभ, शुभतर और शुभतम होने लगती हैं। परिणाम (अध्यवसाय) भी विशुद्ध, विशुद्धतर होने लगते हैं और सुख-दुःखकारिणी परिस्थिति घटना या समस्या उपस्थित होने पर समतायोगी उस प्रकार का वेदन नहीं करता। उसका पदार्थ-निरपेक्ष, आत्म-सापेक्ष सुख-आनन्द बढ़ जाता है। अन्तःकरण की पवित्रता, शान्ति, समाधि और आनन्द की अनुभूति बढ़ती जाती है। अतः समतायोग की अनन्तर उपलब्धि है-समागत प्रतिकूलता को प्रसन्नता से सहने की शक्ति तथा दूसरों द्वारा किये गए प्रतिकूल व्यवहार को अनुकूलता में बदल देने की क्षमता।[१]

समभाव से आत्मा भावित हो जाने पर साधक के बाह्य जीवन में अन्य धर्म-सम्प्रदाय, जाति, परिवार, समाज या राष्ट्र आदि के मानवों तथा दूसरे प्राणियों के प्रति आत्मौपम्य की भावना जग जाती है और बाह्य पदार्थों के प्रति भी समत्वबुद्धि जागती है। प्राचीनकाल में जैनेतर जगत् का मनुष्य पर ही ध्यान था, इसलिए मानव समभाव की बात को महत्त्व दिया गया, लेकिन बाद में अन्य प्राणियों पर भी ध्यान गया कि मनुष्य के लिए पशु, पक्षी आदि भी उपयोगी एवं सहायक हैं; इसलिए 'गीता' में कहा है-"विद्या-विनय-सम्पन्न ब्राह्मण, गाय और हाथी पर तथा कुत्ते पर तथा श्वपाक (चाण्डाल) पर पण्डितजन समदर्शी होते हैं।" किन्तु जैन-जीवविज्ञान ने एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के सभी प्राणियों में जीव मानकर समत्वयोगी को उनके प्रति संयम रखने का निर्देश किया है, साथ ही अजीवकाय (प्रकृतिजन्य पदार्थों) के प्रति भी, शरीर इन्द्रियाँ, मन, अंगोपांग तथा अन्य अचेतन पदार्थों के प्रति भी संयम रखने का विधान है। आशय यह है कि पर्यावरण सन्तुलन तथा समत्वयोग की दृष्टि से उन्होंने कहा-"किसी भी जीव को मत मारो तथा जिसमें जीव पैदा करने की क्षमता है, उसे (मिट्टी, पानी, हवा, अग्नि आदि को) भी नष्ट मत करो, क्योंकि उसमें उत्पादक-शक्ति है। समत्व का सिद्धान्त है-कहीं भी विषमता पैदा मत करो, सन्तुलन रखो। न चेतन जगत् में विषमता पैदा करो और न अचेतन जगत् में। तुम्हारे कारण कहीं भी विषमता उत्पन्न न हो। पूर्णतया समत्व में रहो, सन्तुलन रखो।"[२]

फलतः एक ओर से मन, वचन, काय आदि सावद्य (हिंसादि पापमय) प्रवृत्तियों से हटकर निरवद्य अहिंसा आदि प्रवृत्तियों में प्रवृत्त होते हैं। दूसरी ओर से, मन आदि अन्तःकरण समभाव में स्थिर हो जाने से क्रोधादि कषाय-

---

१, 'जैनयोग' के आधार पर, पृ. १०७

२. (क) वही, पृ. १०३-१०४

(ख) विद्या-विनय-सम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥ *-भगवद्गीता, अ. ५/१८*

नोकषाययुक्त विकार तथा राग, द्वेष, मोह आदि विभाव शान्त या क्षीण होते जाते हैं। चित्त में आत्मा के प्रति एकाग्रता, एकीभूतता, स्थिरता, अनुद्विग्नता आ जाती है। जैसा कि सामायिक का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ किया गया है–सम का अर्थ है–"सावद्ययोग-परिहारपूर्वक निरवद्य योगानुष्ठानरूप जीव का परिणाम, उसकी आय (प्राप्ति) समाय है। समाय (समभाव) की उपलब्धि = प्राप्ति ही सामायिक है।" अथवा "समय का अर्थ आत्मा भी है। आत्मा के साथ एकीभूत होकर रहना–प्रवृत्त होना समाय है। समाय (आत्मा के साथ एकीभूत होकर रहना) जिसका प्रयोजन है, वह सामायिक है।"[1]

समत्वयोगी की विशेषता

समतायोग से अभ्यस्त व्यक्ति जानता है कि संसार अपने आप में विषम या विकृत नहीं है, उसे विषम या विकृत बनाने वाली मनुष्य की अपनी बुद्धि या दृष्टि है। सम्यग्दृष्टि या समत्वबुद्धियुक्त मनुष्य संसार की अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियों तथा विविध द्वन्द्वों में भी राग-द्वेष, प्रियता-अप्रियता, अच्छे-बुरे का भाव नहीं लाकर सम रहता है, ज्ञाता-द्रष्टा बनकर रहता है, जिससे वह शुभाशुभ कर्मों का बन्ध न करके, अबन्धक कर्म से युक्त (अकर्म) रहता है। 'आचारांगसूत्र' में कहा गया है–"वीतरागता (समता की पूर्णता) में कुशल पुरुष न तो कर्मों से बद्ध है और न ही (पूर्ण) मुक्त है।"[2] जैसा कि 'भगवद्गीता' में कहा गया है–"समत्वबुद्धि से युक्त पुरुष इस लोक में पुण्य और पाप (पुण्योपार्जनार्थ सुकृत तथा पापोपार्जक दुष्कृत) दोनों (शुभाशुभ कर्मों) का त्याग कर देता है। अर्थात् उनमें लिप्त नहीं होता। इसलिए समत्वयोग के लिए प्रयत्न कर, क्योंकि समत्वयोग ही कर्मों में कुशलता है, यानी कर्म करते हुए भी (अकर्मा बनकर) कर्मबन्ध से अलिप्त रहना है।"

समतायोगी यह भलीभाँति जानता है कि यदि संसार-समुद्र (जन्म-मरणादि रूप संसार-सागर) को पार करके एकान्त आत्मिक सौख्यरूप मोक्ष में पहुँचना है तो समतायोग का आश्रय लिये बिना कोई चारा नहीं है।[3]

---

१. (क) समः सावद्य-योग-परिहारः निरवद्य-योगानुष्ठानरूप-जीव-परिणामः।
तस्य आयः लाभः समायः, समाय एव सामायिकम्॥

(ख) समयः आत्मा तेन सहैकीभूतेन वर्तनं समायः।
तत्प्रयोजनं यस्य तत्-सामायिकम्॥

२. कुसले पुण नो बद्धे नो मुक्के। —*आचा. १/२/६*

३. बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृत-दुष्कृते।
तस्माद्योगाय युज्यस्व, योगः कर्मसु कौशलम्॥ —*भगवद्गीता, अ. २, श्लो. ५०*

राग-द्वेषरूपी दो छोरों के बीच में समत्वयोग का पथ है

संसार और मोक्ष दोनों एक-दूसरे से विपरीत दिशा में हैं; क्योंकि जहाँ विषमता है, वहाँ संसार है। जहाँ समता है, वहाँ कर्ममुक्ति (मोक्ष) है। राग और द्वेष कर्मबन्ध के हेतु हैं और कर्मबन्ध के कारण ही जन्म-मरणादिरूप संसार है। इसीलिए साम्य (समतायोग) की परिभाषा करते हुए एक आचार्य कहते हैं–"संसार के दो छोर हैं–एक ओर रागरूपी महासमुद्र है, तो दूसरी ओर द्वेषरूपी दावानल है। इन दोनों छोरों के बीच में जो मार्ग है–जिससे राग और द्वेष, दोनों का लगाव नहीं है–वह साम्य–समतायोग का पथ कहलाता है।"[१] 'दशवैकालिक' में कहा है–"जो राग-द्वेष के प्रसंगों में सम रहता है, वही समतायोगी पूज्य है।"[२]

चित्त या बुद्धि की स्थिति समतामय होने पर ही विषमता मिट सकती है

आज सारे विश्व में सामाजिक और आर्थिक समानता के विषय में प्रायः सभी राष्ट्रों का चिन्तन चल रहा है, किसी भी राष्ट्र को सामाजिक और आर्थिक क्षेत्र में विषमता मान्य नहीं है। परन्तु अभी तक जितने भी प्रयत्न सत्ता द्वारा विषमता को मिटाने के हुए हैं, उनमें सफलता नहीं मिली है। विषमता अभी भी बनी हुई है। स्वार्थान्ध व्यक्तियों द्वारा समाज या राष्ट्र में व्याप्त विषमता केवल नारों से या योजना बना देने, कानून या विधेयक पास कर देने से मिट नहीं सकती, न ही मिटी है। जब तक आर्थिक-सामाजिक विषमताओं के कारणों को नहीं मिटाया जाता, तब तक ये विषमताएँ मिटने वाली नहीं हैं। जनता के चित्त, बुद्धि और दृष्टि की स्थिति जब तक समतामय नहीं हो जाती, तब तक विषमता की जड़ें नहीं उखड़ सकतीं। मन, बुद्धि, चित्त और दृष्टि की विषमता का प्रतिबिम्ब सामाजिक, आर्थिक ही नहीं, धार्मिक और सांस्कृतिक क्षेत्रों पर भी पड़ता है, उनमें भी समता की बातें होती हैं, पर जीवन में समता प्रायः दूर रहती है।

लाभ-अलाभ आदि द्वन्द्वों में समभाव में स्थित रहे तभी समतायोगी

अतः जब तक आध्यात्मिक जीवन में समता नहीं आती, तब तक सांसारिक जीवन में समता आनी कठिन है। आध्यात्मिक जीवन में समता तभी आ सकती है, जब लाभ-अलाभ आदि द्वन्द्वों में मनुष्य न उलझे, इन द्वन्द्वों के प्रसंगों में राग और द्वेष–आसक्ति और घृणा–प्रियता-अप्रियता के भाव न लाकर समभाव में–ज्ञाता-द्रष्टाभाव में–स्थित रहे।

---

१. इतो रागमहाम्भोधिरितो द्वेष-दवानलः।
यस्तयोर्मध्यगः पन्थास्तत् साम्यमिति गीयते॥

२. जो रागदोसेहिं समो सपुज्जो। –दशवै. ९/३/११

'उत्तराध्ययनसूत्र' में द्वन्द्वों के प्रसंगों में सम रहने का निर्देश करते हुए कहा है–"लाभ हो या अलाभ, सुख हो या दुःख, जीवन हो या मरण, निन्दा हो या प्रशंसा, सम्मान हो या अपमान, समतायोगी सभी स्थितियों (द्वन्द्वों) में सम (समभाव में स्थित) रहता है।" "वह इहलौकिक तथा पारलौकिक आशंसाओं के प्रति अनिश्चित (अनासक्त या अप्रतिबद्ध) रहता है। कोई व्यक्ति कुल्हाड़ी से प्रहार करे या शरीर को छीले अथवा कोई शरीर पर चन्दन का लेप लगाए, दोनों परिस्थितियों में तथा आहार मिले अथवा निराहार रहना पड़े, दोनों स्थितियों में समभाव (अनासक्तभाव) में रहे।"[1] 'आचारांगसूत्र' में कहा गया है–"साधक प्राप्त होने पर गर्व न करे और प्राप्त न होने पर शोक न करे।"[2]

द्वन्द्वयुक्त जीवन संसार-जीवन है, समतायुक्त जीवन अध्यात्म-जीवन

इस प्रकार चेतना के स्तर पर ये और इस प्रकार के अनेक द्वन्द्व हैं। इन द्वन्द्वों में सुख-दुःख, प्रसन्नता-अप्रसन्नता या हर्ष-शोक का अनुभव करना ही कर्मबन्ध और जन्म-मरणरूप संसार है। संक्षेप में कहें तो द्वन्द्वयुक्त जीवन संसार का जीवन और द्वन्द्वमुक्त समतायुक्त जीवन अध्यात्म-जीवन है।

जैसे–लाभ और अलाभ का एक द्वन्द्व है, जोड़ा है। मनचाहे पदार्थ का प्राप्त होना लाभ है और मनचाहे पदार्थ का न मिलना अलाभ है। संसार के अधिकांश व्यक्तियों का जीवन इष्ट पदार्थ के लाभ और अलाभ में सुख-दुःख मानकर जीता है। यदि मनचाहा मिल गया तो प्रसन्न, न मिला तो अप्रसन्न। यह प्रक्रिया यहाँ तक ही सीमित नहीं रहती, इस द्वन्द्व के साथ फिर सुख-दुःख का अनुबन्ध हो जाता है। यदि अभीष्ट पदार्थ का संयोग नहीं मिलता है तो मनुष्य बेचैन हो जाता है, उसे प्राप्त करने के लिए नैतिक-अनैतिक सभी प्रकार के प्रयत्न करता है, प्राप्त हो जाने पर उसका वियोग न हो, इसके लिए चिन्तित रहता है, व्यथित रहता है, यदि उस पदार्थ को दूसरा कोई छीन लेता है या किसी को अपने भाग्यवश प्राप्त हो जाता है तो वह उसके प्रति ईर्ष्या, द्वेष या रोष करता है, कलह या युद्ध करता है। इस प्रकार इस एक द्वन्द्व में उलझने के कारण घोर पापकर्मबन्ध होकर मानव संसारवृद्धि करता जाता है। सुख-दुःख का स्वतंत्र द्वन्द्व भी संसार बढ़ाने वाला है। बीमारी, मानसिक व्यथा, चिन्ता, उद्विग्नता, संतान की अप्राप्ति, व्यापार में घाटा अथवा अत्यधिक धनलाभ आदि के कारण भी मानस में इस काल्पनिक पदार्थजन्य विनश्वर सुख-दुःख उत्पन्न होता है।

---

१. लाभालाभे सुहे दुक्खे, जीविए मरणे तहा।
समो निंदा-पसंसासु तहा माणावमाणओ॥९०॥
अणिस्सिओ इहं लोए, परलोए अणिस्सिओ।
वासी-चंदण-कप्पो य असणे अणसणे तहा॥९२॥ *–उत्तराध्ययन, अ. १९, गा. ९०, ९२*

२. लाभुत्ति न मज्जिज्जा, अलाभुत्ति न सोइज्जा। *–आचारांग, श्रु. १, अ. २, उ. ५*

लाभ-अलाभ के द्वन्द्व में ग्रस्त होने से कितनी समस्याएँ पैदा होती हैं ?

प्रायः देखा जाता है कि अधिकांश व्यक्ति अलाभ की स्थिति में भयंकर मानसिक पीड़ा से संतप्त रहते हैं। व्यवसाय में घाटा लग गया या कर्जदारी हो गई अथवा चोरी-डकैती होने से बहुत-सा धनमाल चला गया, तो मानसिक स्थिति अत्यन्त चिन्तामग्न हो जाती है। कई लोग तो इसी चिन्ता के मारे आत्महत्या तक कर बैठते हैं। अभी-अभी समाचार-पत्र में पढ़ा था कि बम्बई के एक जौहरी के परिवार के ५ व्यक्तियों ने एक साथ आत्महत्या कर ली। उसकी वृद्ध माता ने भी जहर खा लिया था, किन्तु तत्काल उपचार कराकर कुछ लोगों ने उसे बचा लिया। कई विद्यार्थी परीक्षा में फेल हो जाने पर आत्महत्या कर बैठते हैं। किसी बड़े अफसर की पदावनति हुई कि वह व्याकुल होकर प्राण त्याग के लिए उतारू हो जाता है। जान-बूझकर मरने से या आत्महत्या करने से उसे वह अभीष्ट लाभ नहीं मिल पाता, उलटे वह इहलोक और परलोक दोनों जगह दुःखी होता है। किन्तु वह मृत्यु का इसलिए वरण करता है कि उसने अपने चित्त को लाभ और अलाभ के द्वन्द्व में उलझा रखा है। अतिलाभ होने पर भी कई व्यक्ति उस खुशी को सहन नहीं कर पाते और हार्ट फेल होकर मर जाते हैं। यह सब चित्त की विषमता के प्रकार हैं। चित्त में समता न होने से ये सब घटित होते हैं। जितनी सामाजिक या आर्थिक विषमता पीड़ित नहीं करती, उतनी या उससे भी अधिक यह मानसिक विषमता पीड़ित करती है। इसी विषमता के कारण समताधारक कहलाने वाले तथाकथित व्यक्ति भी समता का दिवाला निकाल देते हैं। 'गीता' में स्पष्ट कहा है—"जो प्रिय वस्तु को पाकर हर्षित नहीं होता और अप्रिय को पाकर उद्विग्न नहीं होता, ऐसा स्थिरबुद्धि ब्रह्मवेत्ता (सम्यग्दृष्टि) पुरुष सच्चिदानन्द ब्रह्म (वीतराग परमात्मा) में स्थित है। अर्थात् वह वीतरागभाव में तल्लीन है।"[१]

सम्मान-अपमान तथा निन्दा-प्रशंसा का द्वन्द्व भी विषमतावर्द्धक

सम्मान और अपमान का अथवा निन्दा और प्रशंसा का द्वन्द्व भी सामाजिक, पारिवारिक और आर्थिक विषमता से, यहाँ तक कि धार्मिक और आध्यात्मिक विषमता से भी जुड़ा हुआ है। बड़े-बड़े अधिकारी, पदाधिकारी, आचार्य, उपाध्याय एवं साधु-संन्यासी भी इस विषमता से ग्रस्त हैं। निन्दा होती है, तो व्यक्ति तिलमिला जाता है और निन्दा करने वाले पर रोष, द्वेष एवं वैर-विरोध कर बैठता है, उससे बदला लेता है, रौद्रध्यानग्रस्त हो जाता है। यह समतायोग से अनभ्यस्त का लक्षण है। इसी प्रकार प्रशंसा होने पर या सम्मान मिलने पर फूल जाना, अहंकारग्रस्त हो

---

१. न प्रहृष्येत् प्रियं प्राप्य, नोद्विजेत् प्राप्य चाप्रियम्।
स्थिरबुद्धिरसम्मूढो, ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः॥ —*भगवद्गीता* ५/२०

जाना, दूसरों का अपने से भिन्न सम्प्रदाय, जाति, कौम वालों का अपमान, तिरस्कार करना, उन्हें बदनाम करना, नीचा दिखाना अथवा उनकी निन्दा–चुगली करना, ये सब इन द्वन्द्वों की विषमता में उलझने के कारण होता है। अहंकार-स्फीत होकर मनुष्य बोलने का विवेक भी खो बैठता है अथवा अपमान या निन्दा के कारण मनुष्य हीनभावना से ग्रस्त हो जाता है।

'भगवद्‌गीता' के अनुसार–"जो व्यक्ति सर्दी-गर्मी, सुख-दुःख आदि तथा मान और अपमान में अन्तर से प्रशान्त रहता है, ऐसे समाहितमना तथा जितात्मा (स्वाधीन आत्मा वाले) व्यक्ति के समन्दयुक्त ज्ञान में परमात्मा सम्यक् प्रकार से स्थित है। सचमुच समत्वयोगी परमात्मपद के निकट पहुँच जाता है।"[1] किन्तु समत्वयोग से वंचित व्यक्ति अपने पास सुख-सुविधा के अत्यधिक साधन जुट जाने से सुख के गौरव से फूल जाता है, इसके विपरीत दुःख, संकट या विपत्ति आ पड़ने पर वह हीनभावना से इतना ग्रस्त हो जाता है कि वह निराश–हताश होकर जीता है। वह सोचता है–संसार में मेरे लिये कहीं स्थान नहीं है, मेरा जीवन बेकार है। तात्पर्य यह है कि सुख और दुःख दोनों के साथ अहंता और हीनता की ग्रन्थि मनुष्य को विषमता की खाई में डालती है, वह समत्वयोग का आनन्द नहीं ले सकता।

जीवन और मरण का द्वन्द्व भी विषमता का उत्पादक

इसी प्रकार जीवन और मरण का द्वन्द्व = जोड़ा भी मनुष्य के चित्त को विषमता से भर देता है। मनुष्य का जीवन के प्रति अत्यधिक मोह और लगाव रहता है कि वह जीवन से रहित करने वाली या दुःखी करने वाली प्रत्येक घटना या व्यक्ति से घबराता है। संलेखना-संथारा के पाठ में इसका स्पष्ट वर्णन है। वह सर्प, चोर, डाँस, मच्छर, व्याधि, वात-पित्त-कफ-जनित रोग, शीत-उष्ण आदि द्वन्द्व तथा इष्ट-वियोग, अनिष्ट-संयोग आदि परिस्थितियों में मनुष्य के चित्त की विषमता उभर आती है, वह जीवन-मरण से ऊपर उठकर समभाव में–आत्म-भाव में स्थिर नहीं रह पाता। मनुष्य अनेक बार सुनता है, पढ़ता है, अपने जीवन में अनुभव भी करता है–देखता है कि जीवन अनित्य है, क्षणभंगुर है, सदा एक-सा रहने वाला या स्थायी रहने वाला नहीं है, फिर भी वह जीवन से मोह करता है, मरने से घबराता है। अनुभवी साधकों ने बताया है कि जीर्ण-शीर्ण वस्त्र को बदलने की तरह शरीर जीर्ण-शीर्ण होने पर[2] या आयुष्य के कण समाप्त होने पर बदलता है।

---

१. जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः।
शीतोष्ण-सुख-दुःखेषु तथा मानापमानयोः॥ *–भगवद्‌गीता, अ. ६, श्लो. ७*

२. देखें–भगवद्‌गीता में मृत्युविषयक श्लोक–
वासांसि जीर्णानि यथा विहाय, नवानि गृण्हाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही॥ *–वही, अ. २, श्लो. २२*

इसमें डरने की कोई बात ही नहीं है। ज्ञानी और सम्यग्दृष्टि के लिए जीवन-मरण समान है। जन्म जैसे महोत्सव है, वैसे मरण भी उनके लिए 'मृत्यु-महोत्सव' है। उन्होंने अधिक जीने की इच्छा की तरह शीघ्र मर जाने की इच्छा को भी अध्यात्म-दोष बताया है। यह चित्त की विषमता है, जो समतायोग के आनन्द से मनुष्य को वंचित कर देती है।[१]

अन्य द्वन्द्वों में भी विषमता न लाने की प्रेरणा

इसी प्रकार 'सामायिक पाठ' में भी आचार्य अमितगति ने कई अन्य द्वन्द्वों में मेरा मन सम (समत्वभाव में स्थित) रहे, ऐसी प्रार्थना वीतराग प्रभु से की है–"हे नाथ ! सुख में अथवा दुःख में, शत्रु पर या मित्र (वैरी या बन्धुवर्ग) पर, संयोग या वियोग में, भवन या वन (मनोज्ञ-अमनोज्ञ क्षेत्र या स्थान) में, मेरा मन सम रहे।" अर्थात् हर अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थिति में मेरी मनःस्थिति सम रहे।[२]

मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि की सुख-दुःख विषयक मान्यता में बहुत ही अन्तर

सुख और दुःख में समभाव रखने पर सम्यग्दृष्टि संवर और निर्जरा का उपार्जन कर सकता है। ऐसी स्थिति में प्रश्न होता है, क्या समतायोगी दुःख से निवृत्त होने और सुख प्राप्त करने का प्रयत्न नहीं करता? इसका समाधान यह है कि समतायोगी भी सुख चाहता है, किन्तु वह इस क्षणिक वैषयिक सुख को या पदार्थनिष्ठ या परिस्थितिजन्य सुख को वास्तविक सुख नहीं मानता, न ही ऐसे क्षणिक सुख में वह आसक्त होता है, न उसे पाने की लिप्सा रखता है और ऐसा सुख प्राप्त हो भी जाए तो वह आसक्तिपूर्वक भोगता नहीं, न ही ऐसे सुख के संरक्षण के लिए दौड़-धूप करता है, न ही उस सुख के वियोग होने पर व्यथित होता है। सम्यग्दृष्टि समत्वयोगी उस दुःख, कष्ट या संकट का सुखरूप में अनुभव करता है, जो अहिंसा-सत्यादि धर्म या सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रयरूप धर्म के पालन के लिए; क्षमा, समता, विनय, वैयावृत्य आदि धर्मों की साधना के लिए सहना पड़ता है। वैषयिक या पदार्थनिष्ठ सुखों को वह दुःख के बीज मानकर उनमें लुब्ध नहीं होता। पूर्वकृत पुण्य के फलस्वरूप कदाचित् स्वस्थ शरीर, सशक्त मन, प्रखर बुद्धि, प्रबल मनोबल, पंचेन्द्रियपूर्णता दीर्घायुष्य, स्वस्थ तन-मन, सहयोगी कुटुम्ब या परिजन तथा अन्यान्य सुख के प्रचुर साधन प्राप्त हों तो भी वह भरत चक्रवर्ती की तरह उनमें मोहग्रस्त, आसक्त या लिप्त नहीं होता, वह इन्हें पर-पदार्थ समझकर

---

१. 'सोया मन जाग जाए' के आधार पर, पृ. १८२

२. दुःखे सुखे वैरिणि बन्धुवर्गे, योगे वियोगे भवने वने वा।
निराकृताशेष-ममत्वबुद्धेः, समं मनो मेऽस्तु सदापि नाथ !" —*सामायिक पाठ, श्लो. ३*

निःस्पृहभाव से इनका उपयोग करता है। वह उन साधनों को स्व-पर-कल्याण-साधना या आत्म-विकास की साधना में लगाता है।[1]

भौतिक सुख पराधीन है, आत्मिक-सुख स्वाधीन है

समतायोगी की दृष्टि में आत्मिक-सुख और दुःख की परिभाषा ही दूसरी है। उसकी दृष्टि में भौतिक साधन, धन, सुख-सुविधाओं की प्रचुरता आदि पराश्रित एवं पराधीन होने से दुःखरूप हैं। भौतिक सुखलिप्सु की दृष्टि में अपने मनोऽनुकूल वस्तु, आकांक्षानुसार अमुक परिस्थिति या मनोज्ञ विषय मिलें तो सुख, नहीं तो दुःख है। परन्तु सभी वस्तुएँ या परिस्थितियाँ मनोऽनुकूल मिलें ही, ऐसा सम्भव नहीं। वस्तु, परिस्थिति या विषय अनुकूल मिलने पर भी इन्द्रियाँ क्षीण, मन्द या नष्ट हो गईं, मन भी शोक और तनाव से ग्रस्त हुआ, शरीर रुग्ण हुआ या किसी ने अपमानित कर दिया, मन प्रतिकूल या मन्द रहा तो भी दुःख का दुःख ही रहा। अनुकूल वस्तु भी कम मिली या दूसरे को अधिक मिली तो भी दुःख होगा। वस्तु यथेष्ट मिलने पर भी उसका वियोग हो गया, नष्ट हो गई या किसी ने छीन ली, चुरा ली या खो गई तो भी दुःख होगा। इस प्रकार पदार्थनिष्ठ या पराश्रित भौतिक सुख एक प्रकार से दुःखरूप ही है, **'पराधीन सपनेहु सुख नाहीं'**, गोस्वामी तुलसीदास जी की यह उक्ति अक्षरशः सत्य है।

इसके विपरीत आत्मिक-सुख स्वाधीन-स्वाश्रित है; अपने पास ही है। वस्तु न हो, कम हो, मनोऽनुकूल न मिले, नष्ट हो जाए तो भी आत्मिक-सुख के अन्वेषक समतायोगी को कोई दुःख नहीं होता। वह अपनी इच्छा से संवर और निर्जरा की भावना से वस्तु का त्याग कर देता है, परिस्थिति प्रतिकूल हो तो भी अपने आप को वह एडजस्ट कर लेता है, अपना सन्तुलन नहीं बिगाड़ता। जो स्वाधीन है, स्वेच्छाकृत है, उसमें किसी भी साधन की अपेक्षा नहीं रहती। आत्मिक-सुख की उपलब्धि के लिए अमुक परिस्थितियों, अमुक विषयों, अमुक इन्द्रियों अथवा अमुक साधनों आदि की भी अपेक्षा अथवा आवश्यकता नहीं रहती। आत्मिक-सुख-दुःख की परिभाषा एक आचार्य ने इस प्रकार की है–

"सर्वं परवशं दुःखं, सर्वमात्मवशं सुखम्।
एतद् विद्यात् समासेन लक्षणं सुख-दुःखयोः॥"

–जो पर-वश (पराश्रित या पराधीन) है, वह सब दुःख है और जो स्व-वश अर्थात् स्वाधीन या स्वाश्रित है, वह सब सुख है। यही संक्षेप में सुख और दुःख का लक्षण समझना चाहिए।

---

१. 'समतायोग' से भाव ग्रहण, पृ. ११४

ऐसे समतायोगी साधक के जीवन में सम्यग्दृष्टिपूत सम्यग्ज्ञान प्रकाशित हो उठता है। उसके अज्ञान अन्ध-विश्वास, भ्रान्ति और मोह का अन्धकार नष्ट हो जाता है। वह मोक्ष के स्वाधीन और अव्याबाध सुख को इसी जीवन में प्राप्त कर लेता है।[१]

'भगवद्गीता' भी इसी तथ्य की साक्षी है—"जिनका मन समत्वभाव में स्थित है, उन्होंने जीते-जी ही सारे संसार को जीत लिया। अर्थात् वे जीते हुए ही संसार से मुक्त हैं। क्योंकि सच्चिदानन्दरूप ब्रह्म (शुद्ध आत्मा) निर्दोष और सम है। इसलिए वे समभाव में स्थित पुरुष ब्रह्म (शुद्ध आत्मा = परमात्मभाव) में स्थित हैं।"[२]

'प्रशमरति' में इस तथ्य को स्पष्ट रूप से निरूपित किया गया है—"स्वर्ग के सुख परोक्ष हैं, अतः उनके बारे में कदाचित् विचिकित्सा हो सकती है। मोक्ष का सुख उससे भी परोक्ष है। अतः उसके विषय में तुम्हें सन्देह हो सकता है। किन्तु समताधर्म से प्राप्त होने वाला प्रशम (शान्ति) का सुख प्रत्यक्ष है। इसे प्राप्त करना भी पराश्रित नहीं है, स्वाधीन (स्व-वश) है और इसे प्राप्त करने में अर्थव्यय भी नहीं होता, किन्तु आत्मा में समत्व की अनुभूति करने से वह सुख प्राप्त हो सकता है।"[३] निष्कर्ष यह है कि समत्व की साधना से जिस आत्मिक-सुख की प्राप्ति होती है, उसमें न तो कोई व्यक्ति बाधक हो सकता है, न परिस्थिति और न ही कोई वस्तु।

समतायोगी साधक में दुःख को सुखरूप में परिणत करने की कला

समतायोगी साधक में ऐसी कला, ऐसी सम्यग्दृष्टि होनी चाहिए कि वह दुःख को भी साम्य भावनाओं से, सुख में परिणत कर सके। मनुष्य के पास भावना, अनुप्रेक्षा, साहस, उत्साह, पौरुष और क्षमता आदि सब कुछ है, अगर उसके साथ समत्व की सुदृष्टि हो तो दुःख भी विकासप्रेरक आत्मोन्नतिजनित सुखरूप प्रतीत होगा। 'अध्यात्म कल्पद्रुम' में दुःख और सुख के मूल को बताते हुए कहा गया है—"हे विद्वान् ! शोकों (चिन्ताओं) का मूल ममता है और सुखों का मूल है—समता। इस तत्त्व को समझो।" समतायोगी दुःख के समय घबराता और चिन्तित नहीं होता, वह सोचता है—"मुझे अपने पूर्वकृत पापकर्मों को काटने का सुन्दर अवसर मिला है।" इसके अतिरिक्त दुःख आ पड़ने पर मनुष्य सावधान और अप्रमत्त होकर समभावपूर्वक उस दुःख को ज्ञानबल से सहकर निर्जरा कर सकता है।[४]

---

१. 'समतायोग' से भाव ग्रहण, पृ. ११४-११५

२. इहैव तैर्जितः स्वर्गो, येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म, तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः॥ —*भगवद्गीता, अ. ५, श्लो. २०*

३. स्वर्गसुखानि परोक्षाण्यत्यन्तपरोक्षमेव मोक्षसुखम्।
प्रत्यक्षं प्रशमसुखं, न परवशं, न च व्ययप्राप्तम्॥ —*प्रशमरति, श्लो. २३७*

४. (क) 'समतायोग' से भाव ग्रहण, पृ. १२१
(ख) अवेहि विद्वन् ! ममतैव मूलं, शुचां सुखानां समतैव चेति। —*अध्यात्म कल्पद्रुम*

समतायोग के मार्ग से मोक्ष की मंजिल पाने के पाँच उपाय

अतः समतायोगी साधक को समतायोग के शुद्ध मार्ग से मोक्ष की मंजिल पाने के लिए पाँच उपायों को आजमाना चाहिए। वे पाँच मार्ग इस प्रकार हैं–(१) प्रतिक्रिया से विरति, (२) सर्वभूत-मैत्री, (३) उपयोगयुक्त समस्त क्रियाएँ, (४) धर्म-शुक्लध्यान की स्थिरता, और (५) ज्ञाता-द्रष्टाभाव।

प्रतिक्रिया-विरति : क्या, क्यों और कैसे ?

समत्व-साधक के तन, मन, वचन में किसी भी वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति तथा संयोग को लेकर प्रतिक्रिया नहीं होनी चाहिए। अधिकांश लोग मन में पूर्वाग्रह-हठाग्रह-दुराग्रह के वशीभूत होकर प्रतिक्रिया की भाषा में ही सोचते हैं, प्रतिक्रिया की चेष्टा भी काया से करते हैं। अमुक व्यक्ति ने मेरा बुरा कर दिया तो मैं भी उसका दुगुना बुरा कर दूँ, उसे हानि पहुँचा दूँ। इस प्रकार प्रतिक्रियावश एक व्यक्ति अपने दिल-दिमाग में कितनी ही व्यक्तियों से जुड़ी हुई घटनाएँ ढोता रहता है। ऐसी ही प्रतिक्रिया धीरे-धीरे शत्रुता में परिणत हो जाती है। किन्तु प्रतिक्रिया-विरत व्यक्ति किसी भी प्रतिकूल घटना, परिस्थिति या व्यक्ति का वैचारिक भार नहीं ढोता, वह इतना-सा सोचकर कि जो हो गया, हो गया; साम्यभाव में स्थित हो जाता है। मनुष्य के मन में जब तुच्छ स्वार्थ की प्रबलता होती है, तब तरह-तरह की प्रतिक्रियाएँ उभरती रहती हैं। सबके प्रति जब बन्धुता या आत्म-समता की भावना होती है, तब प्रतिक्रिया नहीं होती, न ही शत्रुता के भाव उभरते हैं।

'जैसे को तैसा' यह प्रतिक्रिया का सिद्धान्त अधिकांश लोगों के दिल-दिमाग में जमा हुआ है। मूर्ख कहे तो उसके बदले में सामने वाले को महामूर्ख कहना इत्यादि प्रतिक्रियाओं के सूत्र हैं, किन्तु प्रतिक्रिया-विरति के कुछ सूत्र हैं–(१) प्रतिक्रिया के समय को लम्बाना; (२) एक साथ क्रोधादि कषायों को शान्त न कर सको तो तत्काल प्रतिक्रिया मत करो; (३) प्रत्येक परिस्थिति में स्वस्थ और प्रसन्न रहो; (४) किसी का उपकार, सेवा अथवा हित बदले की भावना से न करो।

प्रतिक्रिया-विरति का एक सूत्र है–समस्त प्राणियों के प्रति आत्मौपम्य बुद्धि, सबमें आत्मा की अनुभूति। "जो अपनी आत्मा को जानता-देखता है, वह दूसरों की आत्माओं को भी जान-देख पाता है।"[1] जैसी आत्मा मेरे में है, वैसी ही आत्मा दूसरे में है, ऐसी अनुभूति करने से मन में प्रतिक्रिया का भाव नहीं आ सकता। जब मानव साम्यसूत्र के द्वारा सब प्राणियों में उसी परम शुद्ध आत्मा का अनुभव

---

1. जे एगं जाणइ, से सव्वं जाणइ।
जे सव्वं जाणइ, से एगं जाणइ॥ *–आचारांग, श्रु. १, अ. ३, उ. ४*

करता है, जो सत्ता मेरे अन्दर है; तब विभिन्न विकल्पों या पर्यायों के रूप में प्रतिक्रिया नहीं होती।[1]

समतायोग से मोक्ष की मंजिल पाने का दूसरा उपाय : सर्वभूत-मैत्री

समतायोग से मोक्ष की मंजिल प्राप्त करने के लिए दूसरा उपाय है-सर्वभूत-मैत्री। यह समतायोग की प्राण है। मैत्री का सामान्य लक्षण एक आचार्य ने किया है-'परहितचिन्ता-मैत्री'-'दूसरों के हित का विचार करना।' दूसरों को जिससे आनन्द प्राप्त हो, दूसरों का विश्वास जीता जाए, दूसरों के कल्याण एवं आत्म-रक्षा का विचार करना, दूसरों के सुख-दुःख को अपना सुख-दुःख समझकर निःस्वार्थभाव से मार्गदर्शन या प्रेरणा करना मैत्री है। दूसरों के प्रति निःस्वार्थ प्रेम, वात्सल्य, वन्धुत्व और आत्मौपम्यभाव रखना भी मैत्री है। मैत्री मन, वचन, काया, बुद्धि, चित्त और हृदय को पवित्र भावना से भर देती है। मैत्री में अपने सुख या स्वार्थ की, स्वयं के जीने की भावना मुख्य नहीं होती, मुख्य होती है-सबके सुख, हित, आरोग्य या जीवन की भावना। अगर व्यक्ति किसी के दवाव से, किसी भय या प्रलोभन से, किसी पद, प्रतिष्ठा, यश या प्रसिद्धि की, नौकरी में तरक्की पाने की भावना से दूसरों को शारीरिक सुख पहुँचाता या उनको सुख-सामग्री मुहैया करता है अथवा किसी सामाजिक स्वार्थ से प्रेरित होकर कार्य करता है या सहयोग देता है; समझ लो, अभी तक वहाँ सच्चे माने में मैत्री नहीं आई। किन्तु भविष्य में वैर-विरोध उत्पन्न न हो, बढ़े नहीं, संघर्ष न हो, रौद्रध्यान की भयंकर परिणति होने की संभावना न हो अथवा वर्तमान में बढ़े हुए या पनपे हुए वैर-विरोध शान्ति से मिट जाएँ अथवा दूसरे की प्रगति, उन्नति, प्रसिद्धि या कीर्ति आदि देखकर मन में ईर्ष्या, द्वेष, कुढ़न, जलन, घृणा आदि दुर्भाव बढ़ने की अधिक आशंका हो, ऐसी स्थिति में कोई स्व-पर-हितैषी, आत्म-रक्षक, वीतरागभक्त, धर्मवीर, पारस्परिक क्षमायाचना, शान्ति, कषायोपशमन हेतु यदि मैत्री या मैत्री के अंगभूत सन्धि, सुलह, क्षमापना, अनुनय-विनय आदि का मार्ग अपनाता है, उसके लिए उसे स्वयं को कुछ क्षति, हानि भी उठानी या सहनी पड़े तो वह तत्पर रहता है। वह सच्ची मैत्री है। ऐसी मैत्री कैसे स्थायी और सुदृढ़ हो, इसके लिए **'समतायोग का पौधा : मोक्षरूपी फल'** तथा **'आत्म-मैत्री : कर्मों से मुक्ति का ठोस कारण'** तथा **'मैत्री आदि चार भावनाओं का प्रभाव'** शीर्षक निबन्ध में स्पष्ट कर आए हैं। विश्वमैत्री की शुद्ध भावना से व्यक्ति संवर और निर्जरा करते हुए मोक्ष के निकट पहुँच सकता है।

---

१. 'अपना दर्पण : अपना बिम्ब' (आचार्य महाप्रज्ञ) के आधार पर, पृ. ३०-३१

सर्वक्रियाएँ उपयोगयुक्त हों : मोक्ष की मंजिल प्राप्त करने का तीसरा उपाय

समतायोग के माध्यम से मोक्ष की मंजिल प्राप्त करने हेतु तीसरा उपाय है–उपयोगयुक्त सर्वक्रियाएँ करना। तात्पर्य है–अन्यमनस्क होकर कार्य करना द्रव्यक्रिया है और तन्मय होकर कार्य करना–उपयोगयुक्तक्रिया। भावक्रिया भी इसे कहा जा सकता है। जिस प्रवृत्ति या क्रिया के साथ चेतना का अद्वैत होता है अथवा चेतना और क्रिया दोनों एक ही दिशा में चलें, वहाँ भावक्रिया है और शून्य मन से क्रिया करना, जिसमें चेतना और क्रिया भिन्न-भिन्न दिशा में जा रही हो, वहाँ द्रव्यक्रिया है। भावक्रिया ही प्राणवान् क्रिया है। द्रव्यक्रिया निष्प्राण है। खाने, पीने, पहनने, सोने, जागने आदि प्रत्येक क्रिया या प्रवृत्ति के साथ चेतना को जोड़ देने पर वह क्रिया या प्रवृत्ति भावक्रिया है। ऐसी यतनापूर्वक क्रिया कर रहा है, वहाँ प्रतिक्षण भावक्रिया है; क्योंकि व्यक्ति जागरूक होता है, तभी उपयोगपूर्वक काम करता है। भावक्रिया के तीन आयाम हैं–(१) सतत जागरूक रहना, (२) वर्तमान में जीना, और (३) जानते हुए कर्म करना। सतत जागरूकता में रहने वाला व्यक्ति कार्यसिद्धि में सफलता चाहे तो उसे इन तीन सूत्रों के प्रकाश में चलने से मिल सकती है, वह सर्वकर्ममुक्तिरूप मोक्ष की मंजिल।

भावक्रिया और द्रव्यक्रिया के स्वरूप और परिणाम में अन्तर

अतः उपयोगसहित क्रिया भावक्रिया है, जिसमें चेतना और क्रिया दोनों का योग होता है। तन कोई भी प्रवृत्ति करे, वाणी कुछ भी बोले, आँख कुछ भी देखें, कान कुछ भी सुनें; ध्यान, चेतना में केन्द्रित रहे, तो अवग्रह के साथ ईहा, अवाय और धारणा भी जुड़ जाती है, यही भावक्रिया की सिद्धि है। जिस प्रवृत्ति में शरीर, इन्द्रियों, मन आदि का योग चेतना के साथ नहीं होता, वहाँ केवल अवग्रह सम्भव है, ईहा, अवाय और धारणा तथा स्मृति की सम्भावना नहीं होती। ऐसी स्थिति में द्रव्यक्रिया होगी, भावक्रिया नहीं। इसी प्रकार तप, जप, ध्यान, धारणा, त्याग, प्रत्याख्यान, सामायिक, प्रतिक्रमण आदि जो भी धर्मक्रिया की जाए, उसके साथ चेतना, उपयोग, यत्नाचार या विवेक को जोड़ा जाए तो वह क्रिया भावक्रिया होगी। इसलिए तप, जप आदि को भावक्रिया से युक्त करने के लिए उस प्रवृत्ति या क्रिया का शब्दबोध, अर्थबोध और उसमें चेतना का उपयोग, ये तीनों बातें आवश्यक हैं। ऐसी शुद्ध आध्यात्मिक भावक्रिया से संवर और निर्जरा तो है ही, उत्कृष्ट भावरसायण आए तो सर्वकर्ममुक्तिरूप मोक्ष भी प्राप्त हो सकता है।

धर्म-शुक्लध्यान की स्थिरता से सर्वकर्ममुक्ति

सर्वकर्ममुक्तिरूप मंजिल पाने के लिए धर्म-शुक्लध्यान की स्थिरता चौथा उपाय है। सम्यग्दृष्टि की भूमिका में समतायोग के सन्दर्भ में धर्मध्यान का जो विकास

होता है, उससे अधिक क्रमशः विकास आगे के गुणस्थानों में होता है। सम्यग्दृष्टि *आध्यात्मिक विकास की प्राथमिक अवस्था* है। इस अवस्था में अपायविचय या विपाकविचय का केवल चिन्तन था। मगर आगे की अवस्थाओं में जब समतायोग सुदृढ़ बन जाता है, तब अपायों के त्याग की स्थिति प्राप्त हो जाती है। धर्मध्यान भी इतना परिपक्व और सुदृढ़ हो जाता है कि त्यागभावना से जीवन ओतप्रोत हो जाता है। समता का जागरण हो जाने पर जब अप्रमाद की भूमिका आती है, तब अपायों का त्याग करने, आस्रवों का यथासम्भव निरोध करने, संवर का विकास करने एवं सकामनिर्जरा (दोषजनित कर्मों का क्षय) करने की क्षमता बढ़ जाती है। इससे धर्मध्यान में स्थिरता तो होती ही है, साथ ही शुक्लध्यान की संभावनाओं में वृद्धि हो जाती है, उसका भी पथ प्रशस्त हो जाता है।[१]

निष्कर्ष यह है कि जब समतायोग का जागरण हो जाता है, तो धर्म-शुक्लध्यान में स्थिरता आ जाती है, साधक की प्रज्ञा भी *स्थिर हो जाती है, पदार्थ* के प्रति उसकी धारणा बदल जाती है। ऐसी स्थिति में मुक्ति की मंजिल निकट से निकटतर होती जाती है।

ज्ञाता-द्रष्टाभाव : मोक्ष की मंजिल के निकट पहुँचाने वाला

समतायोग के शुद्ध पथ से मोक्ष की मंजिल पाने का पंचम उपाय है–ज्ञाता-द्रष्टाभाव। मनुष्य प्रति क्षण अनेकों दृश्य देखता है, श्रव्य सुनता है, जीभ से खट्टी-मीठी आदि अनेक प्रकार की वस्तुएँ चखता है, कई प्रकार की कोमल-कठोर वस्तुओं का स्पर्श करता है, नाक से सुगन्धित-दुर्गन्धित पदार्थों को सूँघता है, मन में कई प्रकार के अच्छे-बुरे विचार आते हैं; परन्तु समतायोगी साधक राग-द्वेष, अच्छे-बुरे, मनोज्ञ-अमनोज्ञ आदि विकल्पों के प्रवाह में नहीं बहता। ज्ञाता-द्रष्टाभाव से जब समतायोगी जीवन में अभ्यस्त हो जाता है, तब वह किसी भी घटना, व्यक्ति या वस्तु के प्रति आसक्ति या घृणा के भाव नहीं लाता, न ही बाहर के द्रश्य, श्रव्य, खाद्य, स्पृश्य आदि से उसका समत्वध्यान भंग होता है। उसका ध्यान एकमात्र आत्मा में, आत्म-भावों में, आत्म-गुणों में या आत्म-स्वरूप में होता है। बाहर जो हो रहा है, हो रहा है, उससे उसका कोई वास्ता नहीं, वह उन्हें पर-भाव समझता है। वह नेत्र आदि इन्द्रियों से जानता-देखता है, किन्तु उनमें रागभाव या द्वेषभाव नहीं लाता। इस प्रकार एकमात्र आत्मा में प्रज्ञा को स्थिर कर देना ही ज्ञाता-द्रष्टा का विशुद्ध रूप है। ऐसी ज्ञाता-द्रष्टा की चेतना के विकास के लिए अप्रमाद का विकास आवश्यक है। इस प्रकार जो अपने आप (आत्मा) के प्रति जागरूक हो जाता है, वह शीघ्र ही मुक्ति की मंजिल पा लेता है।

---

१. 'जैनयोग' (आचार्य महाप्रज्ञ) के आधार पर, पृ. १०७

ऐसा ज्ञायकभाव तभी दृढ़ हो सकता है, जब समत्वसाधक 'समाधितंत्र' के अनुसार-"मैं गोरा हूँ, मैं स्थूल या कृश हूँ, इस प्रकार शरीर के साथ तादात्म्य का अनुभव न करता हुआ, एकमात्र ज्ञान ही मेरा शरीर है, इस तथ्य से भावित होता है। अर्थात् केवल शुद्ध ज्ञायकभाव के साथ-ज्ञान के साथ ही अपने तादात्म्य का अनुभव करता है।" 'अमृतवेल की सज्झाय' में इस तथ्य को स्पष्ट करते हुए कहा गया है-"मैं (आत्मा) (निश्चयनय से) अखण्ड आनन्द और ज्ञानस्वरूप ही हूँ; मन-वाणी-काया मैं नहीं हूँ। मन-वाणी-काया से होने वाले कार्य भी मेरे नहीं हैं, ऐसे भानपूर्वक मन-वाणी-काया से होने वाली क्रिया को शान्तभाव से सिर्फ देखते-जानते रहो।" ऐसे शुद्ध ज्ञायकभाव के प्रकट होते ही तत्क्षण मुक्ति की लहर के स्पर्श का अनुभव होता है। बाह्य समस्त दृश्य जगत् से वह स्वयं को बिलकुल स्वतंत्र अनुभव करता है। ऐसी स्थिति में समत्वसाधक देह और मन के पर्यायों से स्वयं (आत्मा) को भिन्न देख सकता है, वही कर्मकृत व्यक्तित्व से ऊपर उठ जाता है। वह यह जानता-देखता है कि तन और मन के सभी परिवर्तनों के बीच स्वयं एक अखण्ड सत्तारूप में अचल है। बाह्य समस्त परिवर्तनों से-प्राप्तियों, संयोगों या विचारों से-स्वयं को कोई हानि-लाभ नहीं है। 'ऐजन' के अनुसार-"आत्मा को इन सबसे पृथक् और सदानन्दमय देखने वाले समत्व-साधक को दुःख में द्वेष और सुख की स्पृहा नहीं होती।" ऐसी सम्यग्दृष्टि खुल जाने पर रति-अरति या राग-द्वेष के चक्र में फँसे बिना, समभाव में रहकर संकल्प-विकल्प के चंगुल से मुक्त हो जाता है। फिर मुक्ति की मंजिल उस साधक से दूर नहीं रहती। 'ज्ञानार्णव' में कहा है-"चिरकाल से दृढ़मूल हुए अविद्या के संस्कारों के कारण चित्त आत्म-तत्त्व से दूर रहता है, परन्तु वही चित्त एकमात्र ज्ञान से वासित होने पर हृदयगुफा में स्थित आत्म-देव को देख पाता है।" समत्वयोग का ही यह चमत्कार है।[1]

● ●

---

१. (क) गौरः स्थूलः कृशो वाऽहमित्यंगेनाविशेषयन्।
आत्मानं धारयेन्नित्यं केवल-ज्ञप्तिविग्रहम्॥ *-समाधितंत्र, श्लो. ७०*

(ख) 'अमृतवेलनी सज्झाय' (उपाध्याय यशोविजय जी) से भाव ग्रहण, गा. २४

(ग) 'साधनानुं शिखर : साक्षीभाव' (मुनि श्रीअमरेन्द्रविजय जी) से भाव ग्रहण

(घ) ततो विविक्तमात्मानं सदानन्दं प्रपश्यतः।
नाऽस्य संजायते द्वेषो, दुःखे, नाऽपि सुखे स्पृहा॥ *-ऐजन, श्लो. ५०३*

(ङ) अज्ञान-विलुप्तं चेतः, स्वतत्त्वादपवर्तते।
विज्ञानवासितं तद्धि, पश्यत्यन्तःपुरे प्रभुम्॥ *-ज्ञानार्णव, सर्ग ३२, श्लो. ५०*

३

समतायोग का पौधा : मोक्षरूपी फल

आपका यह प्रतिदिन का अनुभव है कि चतुर माली जब किसी फलदार पौधे को लगाता है, तब बड़ी उमंग, उत्साह और श्रद्धा से पहले उपजाऊ मिट्टी को समतल और मुलायम बनाता है। उस मिट्टी में से काँटे, कंकड़, झाड़-झंखाड़, निरर्थक घास-फूस निकाल लेता है। उसके बाद उस मिट्टी में बीजारोपण करता है, पानी सींचता है। इतना ही करके वह निश्चिन्त नहीं हो जाता। वह उस बीज के अंकुरित हो जाने के बाद उसकी सुरक्षा के लिए उसके चारों ओर गोल घेरा (थला) बनाता है, ताकि वही पौधा पानी पी सके। साथ ही वह उस पौधे के चारों ओर काँटों की बाड़ लगाता है, ताकि जानवर तथा अन्य कीड़े उस पौधे को नुकसान न पहुँचा सकें। इसके पश्चात् भी वह प्रतिदिन समय-समय पर पौधे की निगरानी रखता है कि पौधे को दीमक न लग जाए; अतिवृष्टि, अनावृष्टि, सूखा, पतझड़ आदि उसकी बढ़ोतरी को रोक न दे। इस प्रकार चतुर माली जब धीरे-धीरे पौधे को लहलहाते, बढ़ते और फूलते-फलते देखता है तो उसकी प्रसन्नता का कोई पार नहीं रहता, उसकी सफलता में चार चाँद लग जाते हैं और जब वह पौधा एक दिन वृक्ष का रूप ले लेता है, उस पर मधुर फल लग जाते हैं और वे फल परिपक्व होकर धरती की गोद में गिरते हैं, जिस धरती माता ने उसे जन्म देकर अंकुरित किया, बढ़ाया, पुष्पित-फलित किया और तब धरती माता से उस भूमि-पुत्र माली को वह मधुर फल प्राप्त हो जाता है। वस्तुतः पौधे के बीजारोपण से लेकर पुष्पित-फलित होने तक माली के अनवरत परिश्रम के कारण ही उसे मधुर फल प्राप्त होता है।

ठीक इसी प्रकार मुमुक्षु और आत्मार्थी साधक जब सर्वकर्ममुक्तिरूप मोक्षफल प्राप्त करना चाहता है तो केवल मनसूबे बाँधने से उसे वह मोक्षफल प्राप्त नहीं हो सकता। मोक्षफल प्राप्त करने के लिए पहले उसे अपनी हृदयभूमि को शुद्ध, कोमल और समतल बनाना पड़ेगा। इसके लिए उसे अपने हृदय में वर्षों से जड़ जमाकर बैठे हुए क्रोध, रोष, द्वेष, अहंकार, मद, माया, दम्भ, लोभ, राग, मोह आदि के काँटों और कंकड़ों को बटोरकर तथा ईर्ष्या, घृणा, आसक्ति, लिप्सा, लालसा, स्पृहा, तृष्णा, कामना, वासना, ममता आदि कँटीली झाड़ियों को उखाड़कर बाहर निकालना होगा और हृदयभूमि को क्षमा, दया, नम्रता, मृदुता, सरलता, सत्यता आदि से मुलायम बनाना होगा। उसे संयम, तप और विवेक के जल से सींचकर

कोमल और समतल बनाना होगा। तत्पश्चात् उसमें समत्व का बीजारोपण करना होगा। इतना करने मात्र से ही झटपट समता का बीज अंकुरित नहीं हो जाएगा। बीजारोपण करने के पश्चात् उसे अंकुरित करने तथा उसकी रक्षा करने का बार-बार ध्यान रखना होगा। पर-भाव और विभावरूपी पशु-पक्षी आकर उस समता के अंकुरित पौधे को उखाड़ें और रौंदें नहीं, इसके लिए उसे स्वभाव-रमणतारूपी पहरेदारी से उसका रक्षण करना होगा, बार-बार तप, संयमरूपी भावों के जल से उसे सींचते रहना होगा। इस प्रकार समता के पौधे को पुष्पित–फलित करने के लिए उसे विषमतारूपी दीमकों से बचाना होगा। जहाँ-जहाँ विषमता है, विकृतियाँ हैं, वहाँ समतायोग का साधक विषमताओं को समत्व में परिणत कर लेता है। वह प्रत्येक घटना, प्रतिकूलता, अप्रिय पदार्थ, परिस्थिति या व्यक्ति आदि को देखकर निषेधात्मक दृष्टि से न सोचकर विधेयात्मक दृष्टि से सोचेगा और संसार की विषमता के बीच रहकर भी अपनी मनःस्थिति को सम, सौम्य एवं धैर्य से युक्त रखकर समता स्थापित कर लेता है। विषम परिस्थिति, व्यक्ति, घटना या वस्तु से वास्ता पड़ने पर समतायोगी समतायोग के पौधे की सुरक्षा के लिए अपनी दृष्टि, बुद्धि, मन, चित्त और प्रज्ञा समभाव से ओतप्रोत रखता है। वह इन अन्तःकरणों और बाह्यकरणों (इन्द्रियों) पर सतत निगरानी रखता है कि कहीं ये आत्मा को विषमता की ओर न ले जाएँ।

समतायोगरूप वृक्ष के चार रूपों की आराधना

समतायोग के पौधे को विशाल वृक्ष के रूप में पुष्पित–फलित करने हेतु मुमुक्षु-साधक समतायोग की चार चरणों में सतत श्रद्धा-भक्तिपूर्वक आराधना करता है। वे चार चरण इस प्रकार हैं–(१) भावनात्मक, (२) दृष्टिपरक, (३) साधनात्मक, और (४) क्रियात्मक।

समतायोग के इन चारों रूपों की सम्यक् आराधना एवं अभ्यास करने से समतायोगी मुमुक्षु समतायोगरूपी वृक्ष के सर्वकर्ममुक्तिरूप मोक्षफल को प्राप्त कर लेता है।

समतायोग का प्रथम रूप : भावनात्मक समभाव

भावनात्मक समतायोग का स्वरूप और मूल्य

समतायोग के इन चार मुख्य रूपों में भावनात्मक समभाव मुख्य है। इस समभाव में भावना की प्रधानता रहती है। विषमता की परिस्थिति, प्रतिकूल व्यक्ति, वस्तु या घटना का संयोग आ पड़ने पर समभाव में, समतायोग में स्थिर रहना, समत्व से जरा भी विचलित न होना भावनात्मक समतायोग का स्वरूप है।[1]

---

१. 'पानी में मीन पियासी' (आचार्य देवेन्द्र मुनि) से भाव ग्रहण, पृ. २४४

भावनात्मक समतायोग की प्रबलता तथा दृढ़ अभ्यास होने पर मुमुक्षु-साधक शीघ्र ही परमात्मपद को–मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। भावनात्मक (समता) योग का महत्त्व एवं सुफल बताते हुए 'सूत्रकृतांगसूत्र' में कहा गया है–"जिसकी आत्मा भावनात्मक (समत्व) योग से शुद्ध है, वह व्यक्ति जल में नौका के समान संसार-समुद्र को पार करने में समर्थ कही गई है। जैसे तट पर पहुँचकर नौका विश्राम करती है, वैसे ही भावनात्मक (समता) योगी भी संसार-समुद्र के तट पर पहुँचकर समस्त दुःखों से छूट (मुक्त हो) जाता है।"[1]

भावनात्मक समभाव के कई रूप हैं। मुख्यतया हम इसे पाँच रूपों में विभक्त कर सकते हैं–(१) सर्वप्राणियों के प्रति समभाव, (२) मैत्र्यादि भावनामूलक समभाव, (३) पारिस्थितिक समभाव, (४) भेदविज्ञानरूप समभाव, और (५) आत्म-भावरमणरूप समभाव।

(१) समस्त जीवों के प्रति समभाव–इसे हम संक्षेप में आत्मौपम्यभाव कह सकते हैं। इसी आत्मवत् सर्वभूतेषु की भावना से व्यक्ति प्राणियों में शान्ति, समाधि, विश्वास और आश्वासन तथा निर्भयता जगा सकता है। भगवान महावीर की यह अनुभवमूलक उक्ति कितनी प्रेरणादायी है–**"अप्पसमं मन्निज्ज छप्पिकाए।"**–षट्कायिक जीवों (समस्त प्राणियों) को आत्मवत् माने और देखे। 'अनुयोगद्वारसूत्र' में इस भावनात्मक समतायोग *(सामायिक)* का स्वरूप इस प्रकार बताया गया है–"जो त्रस और स्थावर, सभी प्राणियों पर सम है–समभावी है, उसी की सही माने में सामायिक (समतायोग-प्राप्ति) होती है, इस प्रकार केवलज्ञानी भगवान द्वारा भाषित है।"[2] जिसमें आत्मौपम्यभाव का विकास हो जाता है, वह समतायोगी मनुष्य से लेकर विश्व के समस्त प्राणियों को आत्मतुल्य मानता है। वह संसार के सभी प्राणियों में अपना ही प्रतिबिम्ब देखता है। तब उसे प्रत्येक प्राणी में अपना ही आकार-प्रकार, अपने ही समान सुख-दुःख, अपने ही समान अनुभूति, अपने ही समान संवेदन प्रतीत होने लगता है। इसी आत्मौपम्यदृष्टि को लेकर भगवान महावीर ने 'आचारांगसूत्र' में कहा है–"तू वही है, जिसे तू मारना चाहता है। तू वही है, जिसे तू शासित करना चाहता है। तू वही है, जिसे तू परिताप (सन्ताप) देना चाहता है। तू वही है, जिसे तू गुलाम या बंदी बनाकर रखना चाहता है। तू

---

१. (क) *भावणा-जोग-सुद्धप्पा जले नावा व आहिया।*
नावा व तीर-संपन्ना, सव्वदुक्खा तिउट्टइ॥ –*सूत्रकृतांगसूत्र १/१-५/५*

(ख) देखें–इस गाथा की व्याख्या सूत्रकृतांग अमरसुखबोधिनी व्याख्या में, पृ. ९५८

२. जो समो सव्व भूएसु तसेसु थावरेसु य।
तस्स सामाइयं होइ, इइ केवलि-भासियं॥ –*अनुयोगद्वारसूत्र*

वही है, जिसे तू डराना-धमकाना चाहता है।"[१] तात्पर्य यह है कि स्वरूपदृष्टि से सभी आत्माएँ एकसमान हैं। यह अद्वैत-अवस्था ही समतायोग का मूलाधार है। ऐसी स्थिति में अपना-पराया, मित्र-शत्रु, द्वेषी-अद्वेषी, प्रतिपक्षी-अप्रतिपक्षी, विरोधी-अविरोधी, अनुकूल-प्रतिकूल आदि का कोई भेदभाव नहीं रहता, सबके प्रति समभाव रखना ही उसका धर्म हो जाता है। सभी उसके अपने हैं, पराया कोई नहीं है। 'शान्तसुधारस' के अनुसार–"इस जगत् में सभी तुम्हारे प्रिय बान्धव (स्वजन) हैं, कोई भी तुम्हारा शत्रु नहीं है। तुम अपने मन को, स्व-पुण्य को नष्ट करने वाले (दुर्भावना या भेदभावनायुक्त) क्लेश से कलुषित मत बनाओ।"[२] इस प्रकार की आत्मीयतायुक्त समता जब जीवन में आ जाती है, तब उसके मन में किसी के प्रति राग-मोह, आसक्ति या द्वेष, द्रोह, घृणा, अरुचि को कोई स्थान नहीं होता। फिर उसमें जातिगत, सम्प्रदायगत, देश-वेष-भाषागत, प्रान्त-राष्ट्रगत कोई भेदभाव या पक्षपात नहीं रहता। इस प्रकार की 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' की भावना या दृष्टि जब आ जाती है, तब उसे राग-द्वेष, भेदभाव आदि वैषम्यवर्द्धक भावहिंसाजनित पापकर्म का बन्ध नहीं करता, यही तथ्य 'दशवैकालिकसूत्र' में प्रकट किया है–"जो सर्वभूतात्मभूत है, जिसकी प्राणियों के प्रति समभावपूर्वक दृष्टि है, जो आस्रवद्वारों का जिसने निरोध कर दिया है, वह पापकर्म का बन्ध नहीं करता।"[३] यही समस्त जीवों के प्रति समभाव का रहस्य है।

'भगवद्गीता' में समतायोग के इसी भावनात्मक रूप को दोहराया गया है–"हे अर्जुन ! जो समत्वयोगी सर्वत्र आत्मवत् (अपने सदृश) समस्त प्राणियों को देखता है, वह सुख हो या दुःख सबमें सम रहता है, वह परम श्रेष्ठ–योगी माना गया है।" सर्वभूतात्मभूत की दशवैकालिकसूत्रोक्त भावना भगवद्गीता में भी प्रतिबिम्बित हुई है–"अपनी आत्मा को सभी प्राणियों में और सभी प्राणियों को अपनी आत्मा में जो (समत्व) योग से युक्त आत्मा सर्वत्र देखता है, वह सर्वत्र समदर्शी है।"[४]

---

१. तुमं सि नाम तं चेव, जं हंतव्वं ति मन्नसि, तुमं सि नाम तं चेव जं अज्जावेयव्वं ति मन्नसि, तुमं सि नाम तं चेव जं परितावेयव्वं ति मन्नसि, तुमं सि नाम तं चेव जं परिघेतव्वं ति मन्नसि, तुमं सि नाम तं चेव जं उद्दवेयव्वं ति मन्नसि। *–आचारांग, श्रु. १, अ. ५, उ. ५*

२. सर्वे ते प्रियवान्धवा, नहि रिपुरिह कोऽपि।
मा कुरु कलिकलुषं मनो, निज-सुकृत-विलोपि। *–शान्तसुधारस, मैत्रीभावना, श्लो. २*

३. सव्वभूयप्पभूयस्स समं भूयाइं पासओ।
पिहिआसवस्स दंतस्स पावकम्मं न वंधइ॥ *–दशवै., अ. ४, गा. ९*

४. आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन !
सुखं वा यदि वा दुःखं, स योगी परमो मतः॥३२॥
सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा, सर्वत्र समदर्शनः॥२९॥ *–भगवद्गीता, अ. ६, श्लो. ३२, २९*

(२) **मैत्री आदि भावनामूलक समभाव**–यह भावनात्मक समभाव का दूसरा रूप है। इस समभाव में समतायोगी साधक मैत्री आदि भावनाओं के माध्यम से समग्र विश्व के प्राणिमात्र को अपने साथ जोड़ने के लिए उद्यत होता है। समभाव का अभ्यासी साधक मैत्री आदि चारों भावनाओं का प्राणियों की भूमिका के अनुसार यथायोग्य संयोजन करता है। वह अन्तर से सदैव सर्वत्र सामायिक पाठ में उक्त वीतरागप्रभु से प्रार्थना की भाषा में पुकार करता है–

"हे वीतरागदेव ! मैं चाहता हूँ कि मेरी आत्मा सदैव प्राणिमात्र के प्रति मैत्रीभावना, गुणिजनों के प्रति प्रमोद या मुदिताभावना, दुःखित-पीड़ित जीवों के प्रति करुणाभावना और धर्म से विपरीत आचरण करने वाले पापात्मा, दुष्ट, दुर्जन या विरोधी जीवों के प्रति माध्यस्थ या उपेक्षाभावना विशेष रूप से धारण करे, सँजोए।"[१] मैत्री आदि चारों भावनाओं के सम्बन्ध में हमने **'मैत्री आदि चार भावनाओं का प्रभाव'** शीर्षक निबन्ध में पर्याप्त प्रकाश डाला है। भगवान महावीर ने प्रत्येक भव्य जीव को प्रेरणा दी है कि अपनी अन्तरात्मा की खिड़कियों को खोल देखें कि तुम्हें जगत् के जीवों से मैत्री पसंद है या अमैत्री (शत्रुता)? यदि मैत्री पसंद है तो फिर तुम भी प्राणिमात्र के साथ मैत्रीभाव का संकल्प करो।[२] तुम्हारी मैत्रीभावना की प्रतिध्वनि दूसरे प्राणी पर भी पड़ेगी, वह भी तुम्हारे साथ मैत्री का हाथ बढ़ाएगा। भगवान महावीर से पूछा गया–"आपके शत्रु कौन हैं?" उन्होंने अपनी समतायोग की शैली में उत्तर दिया–"मेरी सभी प्राणियों के प्रति मैत्री है, मेरा किसी से वैर-विरोध है ही नहीं, मेरा कोई शत्रु नहीं है।"[३] एक आचार्य ने मैत्री को सामायिक (समतायोग) से अभिन्न बतलाते हुए कहा है– "सर्वभूत-मैत्री 'साम' (समभाव) है, उसकी आय = उपलब्धि या लाभ सामायिक (समत्वयोग) है।" 'भगवद्गीता' में भी इस तथ्य को प्रकट किया गया है–"जो व्यक्ति निःस्वार्थ हितैषी, मित्र या शत्रु, मध्यस्थ, उदासीन (तटस्थ या निष्पक्ष), द्वेषी तथा बन्धुजनों, धर्मात्माओं और पापात्माओं पर भी समबुद्धि है, वही विशिष्ट समतायोगी है।"[४]

---

१. सत्त्वेषु मैत्रीं गुणिषु प्रमोदं, क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम्।
माध्यस्थ्यभावं विपरीतवृत्तौ, सदा ममाऽऽत्मा विदधातु देव ! —*सामायिक पाठ, श्लो. १*

२. अप्पणा सच्चमेसेज्जा, मित्तिं भूएहिं कप्पए। —*उत्तराध्ययन, अ. ६, गा. २*

३. मित्ती मे सव्व भूएसु वेरं मज्झं न केणइ। —*आवश्यकसूत्र*

४. (क) सर्वभूतमैत्री साम, तस्यायः लाभः समायः, समाय एव सामायिकम्।
(ख) सुहृन्मित्रार्युदासीन-मध्यस्थ-द्वेष्य-बन्धुषु।
साधुष्वपि पापेसु समबुद्धिर्विशिष्यते॥ —*गीता, अ. ६, श्लो. ९*

मैत्रीभावना-साधक समतायोग को समृद्ध कैसे करे ?

मैत्रीभावना-साधक सर्वप्राणियों का हित-चिन्तन करता है[1] वह स्वयं किसी के प्रति पक्षपात, आसक्ति या मोहपूर्वक रागभाव से न तो मित्रता बाँधता है और न ही किसी के प्रति घृणा, द्वेष, ईर्ष्या, रोष आदि भावों से प्रेरित होकर वैर-विरोध करता-कराता है। न ही अपनी ओर से किसी को विरोधी या अन्धानुरागी बनने की प्रेरणा या प्रोत्साहन देता है। साथ ही वह केवल अपने माने हुए एक धर्म-सम्प्रदाय, मत, पंथ, वर्ग, जाति, देश, वेश, भाषा, प्रान्त, राष्ट्र के प्रति ही मैत्री की भावना और तदनुरूप व्यवहार न करके, समस्त धर्म-सम्प्रदायों, मतों, पंथों, वर्गों, जाति, देश, वेश, भाषा, प्रान्तों, राष्ट्रों या दर्शकों के प्रति विश्व-मैत्री की सद्भावना रखे, उनका हित-चिन्तन करे, नय की दृष्टि से भले ही वह अपने सम्प्रदाय आदि का विशिष्ट गुणकीर्तन करे, परन्तु दूसरे सम्प्रदाय आदि के प्रति उपेक्षा न करे, उनके हितों एवं गुणों का चिन्तन करे, सद्भाव रखे। तभी समतायोग समृद्ध हो सकता है, उसके जीवन में। तभी वह सामायिक के प्रभाव से संवर और निर्जरा का उपार्जन कर सकेगा।

चार कोटि के प्राणियों के साथ समतायुक्त व्यवहार कैसे-कैसे हो ?

इस अनन्त जीवों से परिपूर्ण तथा विषमताभरे संसार में सभी जीवों या सभी मनुष्यों की आत्मा निश्चयदृष्टि से स्वरूप की अपेक्षा से एकसमान होते हुए भी व्यवहारदृष्टि से अपने-अपने शुभाशुभ कर्मानुसार शुभ-अशुभ गति, योनि, जाति, शरीर, मन, वचन, प्राण, इन्द्रियाँ एवं अंगोपांग आदि तथा प्रकृति, पर्याप्ति, मनःस्थिति, परिस्थिति, अवस्था आदि का संयोग मिलता है। उन प्राणियों में कई अच्छे, शान्त स्वभावी, सहृदय, हितैषी, पुण्यात्मा एवं तन-मन से स्वस्थ होते हैं, कई प्राणी या व्यक्ति दुःखित, पीड़ित, संत्रस्त, अभावग्रस्त एवं दीनता-हीनतायुक्त भी होते हैं, कई पुण्यवान्, गुणवान्, परोपकारकर्मठ, स्वार्थत्यागी, तपस्वी, ज्ञानी, विद्वान्, रत्नत्रयसाधनाशील तथा आध्यात्मिक विकास में अग्रसर होते हैं और ऐसे भी कई जीव या व्यक्ति होते हैं, जो क्रूर हैं, सामाजिक, नैतिक नियमों के विरुद्ध चलने वाले, पापपंक में लिप्त, दुष्ट, दुर्जन, विरोधी या आतंकवादी भी हैं। इन चारों कोटि के प्राणियों या व्यक्तियों से एक या दूसरे प्रकार से समतायोगी साधक का वास्ता पड़ता है, एक-दूसरे से सहयोग देना-लेना होता है।

केवल मैत्री नहीं, प्रमोद, कारुण्य एवं माध्यस्थ्यभावना भी आवश्यक है

ऐसी स्थिति में उनके साथ समतायोगी का व्यवहार केवल मैत्री से नहीं चलता जो क्रूर, विरोधी या विपरीत वृत्ति-प्रवृत्ति वाले हैं, उनके साथ माध्यस्थ्यभाव रखना

१. परहितचिन्ता मैत्री

अनिवार्य है, जिसका विश्लेषण हम अगले पृष्ठों में करेंगे। यों तो मैत्री आदि चारों भावनाओं पर विश्लेषण हम '**मैत्री आदि चार भावनाओं का प्रभाव**' शीर्षक निवन्ध में कर चुके हैं। मैत्रीभावना का समुचित विकास होने के साथ-साथ जो गुणीजन हैं, वे चाहे जिस जाति, कुल, पंथ, धर्म-सम्प्रदाय, राष्ट्र या प्रान्त के हों, उनके प्रति ईर्ष्या, द्वेष, दोषदृष्टि न रखकर **प्रमोदभावनावश** केवल उनके विशिष्ट गुणों की प्रशंसा, अनुमोदना और गुणग्राहिता प्रगट करता है, गुणीजनों को देखकर प्रसन्न होता है, उनके प्रति आदरभाव रखता है। प्रमोदभावना में पक्षान्धता, राष्ट्रान्धता, सम्प्रदायान्धता, प्रान्तीयता, जातीयता आदि निकृष्ट दोषदृष्टि का जहर नहीं हो, तभी समतायोग सही माने में आ सकता है और वह संवर-निर्जरा का कारण बनता है। इसी प्रकार जो विशेष रूप से दीन, हीन, दुःखित, पीड़ित, व्यथित, शोषित या पददलित हैं, उनके प्रति **करुणाभावना** जागती है, तब समतायोगी उनके प्रति करुणा, दया, सेवा, सहानुभूति, अनुकम्पा और सद्भावना, हितकामना रखकर उनके दुःख को अपना दुःख समझकर निःस्वार्थ, निष्कांक्ष भाव से उनके दुःख-निवारण की मंगलभावना और सात्विक नैतिक पुरुषार्थ भी करता है। तभी उसका सम्यग्दर्शनयुक्त समतायोग सुरक्षित, समृद्ध और सुदृढ़ होता है और वह संवर और सकामनिर्जरा का कारण बनता है।

यद्यपि मैत्री आदि चारों भावनाएँ पुण्यवन्ध की तथा निश्चयदृष्टि से भाव-मैत्री आदि भावनाचतुष्ट्य संवर-निर्जरा की कारण हैं तथा ये भावनाएँ संकीर्णदृष्टि तथा अहंता-ममता परादृष्टि से की जाएँगी तो स्वराग, परद्वेष की कारण भी होनी सम्भव हैं। इसलिए मैत्री आदि चारों भावनाएँ विश्वव्यापी सम्यग्दृष्टि से युक्त होनी चाहिए।

विश्व-मैत्री के सम्बन्ध में कतिपय शंकाएँ उपस्थित होती हैं, उनका यथार्थ समाधान समतायोगी साधक को कर लेना चाहिए। विश्व-मैत्री भावना-परायण सम्यग्दृष्टि समतायोगी साधक अपनी तरफ से किसी व्यक्ति, परिवार, सम्प्रदाय, समाज आदि के प्रति राग-द्वेष या ईर्ष्या-घृणा आदि से प्रेरित होकर शत्रुता नहीं बाँधता, न ही मोह, आसक्ति, ममत्व आदि से प्रेरित होकर मित्रता (स्वार्थ-मैत्री) नहीं बाँधता, नहीं रखता; फिर भी व्यवहार में कई लोग पूर्वाग्रहवश, विचारभेदवश या जाति-प्रान्त-सम्प्रदायादि भेदवश उसे अपना विरोधी, विपक्षी, शत्रु या पराया मान वैठते हैं। उससे किसी प्रकार की स्वार्थपूर्ति न होने से अथवा किसी सांसारिक या आर्थिक प्रयोजनवश कई उसके विरोधी बन जाते हैं, कई उसके पक्ष में हो जाते हैं। कई लोग जाति, सम्प्रदाय, प्रान्त, राष्ट्र आदि या इसी प्रकार के किसी वर्गगत मोह-ममत्व के कारण समतायोगी के सकारण या अकारण अनुरागी, पक्षपाती या अन्धभक्त भी बन जाते हैं अथवा कई लोग मंत्रतंत्रादि द्वारा अपना कोई स्वार्थ सिद्ध कराने के लिए अस्थायी भक्त भी बन जाते हैं। कई बार

तथाकथित समतायोगी भी अपनी प्रशंसा, प्रसिद्धि, प्रतिष्ठा या किसी पदवी को पाने के लिए अथवा सरस, स्वादिष्ट या पौष्टिक खान-पान या मान-सम्मान पाने के लिए लोगों को अपनी भाषणवाजी से, मंत्रादि विद्या से या अन्य अनुचित तरीकों से अथवा वाह्य क्रियाकाण्डों का या वाह्य तप का आडम्बर, प्रदर्शन, दिखावा, प्रलोभन या राजनीतिज्ञों की तरह थोथी भाषणवाजी का सब्जवाग दिखाकर अथवा किसी प्रकार से जनता की भीड़ इकट्ठी करके भोली जनता को आकृष्ट या प्रभावित करके या सम्यक्त्व-परिवर्तन कराकर अपने अनुरागी, अनुयायी, अन्ध-विश्वासी भक्त बनाने का प्रयत्न करता है तो वहाँ मैत्री के या समता के नाम पर ममत्व-साधना है, समत्व-साधना नहीं। वहाँ रागभाव की ओर तीव्रता से प्रस्थान है, वीतरागभाव की ओर नहीं। समतायोगी के मन में सबके प्रति आत्मवत् सर्वभूतेषु की समभावना तथा परहित-चिन्तारूप मैत्रीभावना अवश्य होनी चाहिए, भले ही वह विरोधी, विपक्षी, अन्य धर्म-सम्प्रदायी या अन्य जाति, वर्ग, राष्ट्र, प्रान्त का हो। इसके विपरीत समतायोगी में अपने माने या कहे जाने वाले लोगों-अपने अनुयायियों या अपने वर्ग, सम्प्रदाय, देश, प्रान्त, जाति, भाषा या वर्ण के लोगों के प्रति झूठा मोह, अन्धानुराग, अन्धभक्ति, पक्षपात, स्वार्थसिद्धि, प्रशंसा या प्रतिष्ठा-प्राप्ति की आशा से अपनी ओर आकर्षित करने की वृत्ति-प्रवृत्ति नहीं होनी चाहिए। छल-प्रपंच, झूठफरेब, आडम्बर, प्रपंच या गुटबंदी करके साम्प्रदायिक कट्टरता फैलाने या भय अथवा प्रलोभन देकर अपना पिट्ठू या पिछलग्गू बनाने की लालसा भी समत्व की साधना में वाधक है। कई लोग समतायोगी के प्रति अत्यन्त विनयभक्ति एवं बहुमान प्रदर्शित करके उसकी सेवा-शुश्रूषा में जुट जाते हैं। उसकी चापलूसी, मिथ्या प्रशंसा करके अपना उल्लू सीधा करना चाहते हैं। कई बार ऐसे चापलूस लोग समतायोगी की बढ़ा-चढ़ाकर झूठी प्रशंसा करके उसे बिलकुल निर्दोष, सत्य का अवतार तथा भगवान कहकर उसका मिथ्या अहंकार बढ़ा देते हैं। उसे सम्मान से फुलाकर आशीर्वाद चाहते हैं या फिर अनुचित कार्य करने या करा देने के लिए प्रेरित करते हैं। ऐसे समय में समतायोगी साधक को बहुत ही फूँक-फूँककर कदम रखना चाहिए कि कहीं मोह और रागभाव के झौंके से उसका समत्व-दीपक बुझ न जाए। ज्ञाता-द्रष्टा बनकर बहुत ही सतर्कता से अपनी वृत्ति-प्रवृत्ति की जाँच-पड़ताल करते रहना चाहिए।[1]

मध्यस्थ द्वारा माध्यस्थ्यभाव की विचारणा, भावना और सार्थकता

आशय यह है कि समभावी साधक को यही मानकर चलना चाहिए कि सभी प्राणी अपने-अपने शुभाशुभ कर्मों के अनुसार शुभाशुभ संस्कारों से ग्रस्त हैं। जब तक उनके उस-उस ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय एवं मोहनीय कर्म का क्षय,

१. 'समतायोग' से भाव ग्रहण, पृ. १२४-१२५

क्षयोपशम या उपशम नहीं होता, भवस्थिति का परिपाक नहीं होता, तब तक वे उसकी सम्यग्ज्ञान की बातों को ग्रहण करने के लिए कैसे तैयार हो सकते हैं? उनके तथाकथित अशुभ संस्कार क्षीण या उपशान्त होने पर ही शुभ संस्कार जाग्रत हो सकते हैं। तभी व्यक्ति सुधर सकता है।

अतः यदि समतायोगी साधक को बिलकुल अयोग्य, संस्कारहीन, मूढ़, पूर्वाग्रहग्रस्त, स्व-सम्प्रदायमोही, द्वेषी, निन्दक, धर्मोपदेश ग्रहण करने में अरुचि वाले, दुष्ट, क्रूर, व्यभिचारी, हत्यारा, पापी, वक्रजड़ मनुष्य मिले तो सर्वप्रथम उसका कर्त्तव्य है—सद्भावनापूर्वक, निःस्वार्थ एवं निःस्पृहभाव से ऐसे अधर्माचारी व्यक्तियों को उपदेश, प्रेरणा या उद्बोधन करना। प्रयत्न करना समभावी का कर्त्तव्य है, सुधरना—न सुधरना व्यक्ति की मनःस्थिति पर निर्भर है। समतायोगी साधक के मन में सुधार का आग्रह या अहंकर्तृत्व नहीं होना चाहिए, न ही उपदेश देने के पश्चात् प्रयास विफल होने पर उसे क्षुब्ध, व्याकुल, क्रुद्ध, उद्विग्न, संदिग्ध या शीघ्र फलाकांक्षी होना चाहिए। यदि विपरीत वृत्ति-प्रवृत्ति वाला व्यक्ति उसकी हितकर बात न सुने, बल्कि रोषवश मारने-पीटने या गाली आदि देने पर उतारू हो जाए, तो बदले में हिंसक प्रतीकार, गाली, अभद्र शब्द या व्यंग्य का प्रयोग न करके मौनावलम्बन करना ही माध्यस्थ्य है।

मध्यस्थदृष्टि से प्रत्येक धर्म, शास्त्र, दर्शन या मत पर विचार करो

माध्यस्थ्यभावना को सार्थक करने के लिए समतायोगी को शान्ति, धैर्य एवं सहिष्णुता एवं सद्भावनापूर्वक दूसरे धर्म, सम्प्रदाय, दर्शन, मत या देव, गुरु एवं शास्त्र की बातें सुननी चाहिए। पूर्वाग्रह एवं हठाग्रहवश अपनी ही बात सत्य है, दूसरों की सब बातें असत्य हैं, ऐसा नहीं सोचकर मध्यस्थदृष्टि से विवेक करना चाहिए। जैसा कि 'धर्मरत्न प्रकरण' में कहा गया है—"सर्वत्र राग, मोह और द्वेष से रहित मध्यस्थ सौम्यदृष्टि साधक सभी धर्म-सम्प्रदाय, दर्शन, मत, देव, गुरु एवं शास्त्र आदि में जैसे-जैसे जिसके धर्म विचार हैं, उन्हें समझने का प्रयत्न करता है। तत्पश्चात् उनमें निहित ज्ञान-दर्शन-चारित्रादि गुणों से सम्पर्क करता है, अर्थात् उन्हें ग्रहण कर लेता है। इसके विपरीत उनमें जो ज्ञानादि गुणों से रहित दोषयुक्त विचार हों, उन्हें दूर छोड़ देता है।" मध्यस्थ का कार्य हंस के समान नीर-क्षीर-विवेक करने का है। 'आचार्य हरिभद्रसूरि' की यह उक्ति उसके हृदय में अंकित हो जानी चाहिए—"हम न तो रागमात्र (स्वत्व-मोह) वश अपने माने हुए शास्त्र को पकड़ेंगे और न ही द्वेषमात्र (घृणा या पूर्वाग्रह) वश दूसरों के द्वारा मान्य शास्त्रों को छोड़ेंगे, किन्तु राग-द्वेषरहित होकर मध्यस्थ (सम्यक्) दृष्टि से विवेक करके ही किसी शास्त्र या शास्त्रवाक्य को ग्रहण या त्याग करेंगे।" 'नंदीसूत्र' में स्पष्ट कहा

है–"ये ही मिथ्याश्रुतों में परिगणित शास्त्र या ग्रन्थ सम्यग्दृष्टि के लिए सम्यक्रूप से ग्रहण किये जाने से सम्यक्श्रुत हैं।"[1]

माध्यस्थ्यभाव से शाश्वत परब्रह्म या मोक्ष की प्राप्ति

आचार्य हरिभद्र ने कहा है–"राग (मोह या आसक्ति) का कारण प्राप्त होने पर जिसका मन रागयुक्त नहीं होता और द्वेष (घृणा, वैर-विरोध, दोष आदि) का कारण प्राप्त होने पर जिसके मन में द्वेष उत्पन्न नहीं होता, अर्थात् राग और द्वेष चाहे किसी व्यक्ति के निमित्त से पैदा होने जा रहे हों या किसी वस्तु या परिस्थिति के निमित्त से, दोनों ही अवस्थाओं में मध्यस्थ का मन तटस्थ होने से उसके इस गुण को माध्यस्थ्य गुण कहा जाता है।" आचार्यश्री ने मध्यस्थभाव से परब्रह्म-प्राप्ति बतलाते हुए कहा है–"जैसे भिन्न-भिन्न नदियाँ टेढ़े-मेढ़े विभिन्न मार्गों से बहती हुई अन्त में एक विशाल समुद्र में जाकर मिल जाती हैं, वैसे ही मध्यस्थ साधकों के लिए विभिन्न धर्मपन्थ हैं, जो विभिन्न नयतरंगों को लेकर चलते हुए अन्त में एक ही अक्षय परब्रह्म (सिद्ध परमात्मा) में मिल जाते हैं अथवा अक्षय-शाश्वत मोक्ष-लक्ष्य को प्राप्त करते हैं या पहुँचते हैं।"[2] 'आचार्य सिद्धसेन' ने अनेकान्त शैली से जिनवाणी को समस्त मिथ्यादर्शनों का समूह (समन्वयमूलक समुच्चय) रूप बताते हुए कहा है–"मिथ्यादर्शनों के समूहबुद्धिरूप अमृत साररूप और मुमुक्षुओं द्वारा सुखपूर्वक अधिगम्य = प्राप्य पूजनीय (भगवान) जिनवचन का भद्र (मंगल) हो।" आशय यह है–जैनदर्शन सभी दर्शनों का सापेक्षदृष्टि से समन्वय करता है।[3]

अनेकान्तवादी मध्यस्थ माध्यस्थ्यभाव के दोषों से बचे

दूसरों के विचार, भावना और रुचि को सुनते ही अगर जरा-सा विभेद हो तो उबल पड़ना, उसका पद-पद पर विरोध करना, दूसरों को नीचा दिखाना, सुनने

---

१. (क) मज्झत्थ-सोम्मदिट्ठी धम्मवियारं जहट्ठियं मुणइ।
कुणइ गुण संपओगं दोसे दूरं परिच्चयइ॥ –*धर्मरत्न प्रकरण*

(ख) स्वागमं रागमात्रेण, द्वेषमात्रात् परागमम्।
न श्रयामस्त्यजामो वा, किन्तु मध्यस्थया दृशा॥ –*आचार्य हरिभद्र सूरि*

(ग) एयाइं चेव सम्मदिट्ठिस्स सम्मत्त परिग्गहत्तेण सम्मसुयं। –*नन्दीसूत्र*

२. (क) माध्यस्थ्यभावना का विशेष स्पष्टीकरण देखें–'मैत्री आदि चार भावनाओं का प्रभाव' नामक निबन्ध में

(ख) राग-कारण-सम्प्राप्ते न भवेद् रागयुग् मनः।
द्वेषहेतौ न च द्वेषस्तस्माद् माध्यस्थ्यगुणः स्मृतः।

(ग) विभिन्ना अपि पन्थानः समुद्रं सरितामिव।
मध्यस्थानां परंब्रह्म प्राप्नुवन्त्येकमक्षयम्॥ –*अष्टक प्रकरण*

३. भद्दं मिच्छादंसण-समूह-मइयस्स अमयसारस्स।
जिणवयणस्स भगवओ संविग्ग-सुहाहिगम्मस्स॥ –*सन्मतिप्रकरण, काण्ड ३, गा. ६९*

की सहिष्णुता भी न रखना, नयदृष्टि से समन्वय करने की जरा भी उदारता न रखना इत्यादि दुर्गुण माध्यस्थ्यभावना के मूल में आग लगाने वाले हैं; इनमें स्वयं के अहंकार, ममकार, स्वत्वमोह, पूर्वाग्रह, हठाग्रह, घृणा और द्वेष की दुर्गन्ध आती है जो माध्यस्थ्यभावना को दूषित करती है। अनेकान्तवादी मध्यस्थ विभिन्न नयों की दृष्टि से रुचिविविधता और विचारभिन्नता से घबराता नहीं, वह किसी न किसी अपेक्षा से व्यक्ति की रुचि और विचारधारा में सत्यांश हो तो उसे समन्वयबुद्धि एवं सम्यग्दृष्टि से ग्रहण कर लेता है।

माध्यस्थ्यभाव का विवेकसूत्र : घृणा पाप से हो, पापी से नहीं

कई लोगों का कहना है–'पापी, दुष्ट, अत्याचारी, विरोधी, आततायी आदि को तो देखते ही मार डालना चाहिए', परन्तु यह मार्ग बहुत ही खतरों से भरा, प्रतिहिंसा और द्वेष–वैर की परम्परा को बढ़ाने वाला है, अपनी आत्मा के लिए विकासघातक, समत्वघातक है, प्रत्याक्रमण एवं प्रतिशोध को निमंत्रण देने वाला है। इसीलिए भगवान महावीर ने एक विवेकसूत्र दिया–"घृणा या द्वेष पाप से हो, पापी से नहीं। चिकित्सक रोग का नाश करता है, रोगी का कदापि नहीं, न ही रोगी के प्रति घृणा, द्वेष आदि रखता है। भारतीय इतिहास के पृष्ठों पर इसके अगणित उदाहरण अंकित हैं। जैन इतिहास में–बंकचूल, अर्जुनमाली, चिलातीपुत्र, दृढ़प्रहारी, रोहिणेय चोर आदि; बौद्ध इतिहास में–अंगुलिमाल तथा अम्बपाली वेश्या आदि एवं वैदिक इतिहास में–वाल्मीकि, अजामिल, बिल्वमंगल आदि उदाहरण प्रसिद्ध हैं। ये लोग अपनी पूर्वभूमिका में जितने निकृष्ट, भयंकर, पापी एवं निन्द्य थे, उत्तरभूमिका में उतने ही अभिनन्दनीय और बन्दनीय हुए।

'आचारांगसूत्र' में बताया गया है–"**मज्झत्थो निज्जरापेही।**"–मध्यस्थ वही होता है, जो निर्जराप्रेक्षी या निर्जरापेक्षी हो। अर्थात् मध्यस्थ वहीं ठीक मध्यस्थता कर पाता है, जहाँ न तो राग, मोह, पक्षपात आदि या द्वेष, द्रोह, घृणा, वैरभाव, ईर्ष्या आदि न हो, निर्जरा हो–कर्मक्षय हो, आत्म-शुद्धि हो। इसी प्रकार करुणाभावना और प्रमोदभावना में भी विवेक की आवश्यकता है। जो जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव-संवर, बन्ध और निर्जरा का यथार्थ ज्ञाता है, वही करुणाभावना को सार्थक कर सकता है। प्रमोदभावना भी गुण-दोषों के विवेक की अपेक्षा रखती है। 'मेरी भावना' में कहा गया है–

"गुण-ग्रहण का भाव रहे नित, दृष्टि न दोषों पर जावे।"

प्रमोदभावना में भी हंसबुद्धि का होना आवश्यक है। ऐसा न होने पर 'गंगा गये गंगादास, जमुना गये जमुनादास' वाली कहावत चरितार्थ हो सकती है। मध्यस्थ का अर्थ आचार्य मलयगिरि ने किया है–"**मध्यस्थः समः यः आत्मानमिव परं पश्यति।**"–मध्यस्थ का अर्थ सम है, वह अपनी आत्मा की तरह दूसरे जीव की

आत्मा (शुद्ध आत्मा) को देखता है। 'तत्त्वार्थ राजवार्तिक' के अनुसार–"जहाँ राग-द्वेषपूर्वक पक्षपात का अभाव हो, वही माध्यस्थ्य है। 'व्यवहारसूत्र' की टीका में कहा गया है–"जो अति-उत्कट राग-द्वेष से रहित होकर समचित्त रहते हैं, वे मध्यस्थ हैं।"

ये चारों ही भावनाएँ आगे चलकर केवल भावनाएँ न रहकर सक्रिय भी हो सकती हैं, परन्तु इन सब की बुनियाद में समभाव अवश्य होना चाहिए।[1]

(३) भावनात्मक समभाव का तीसरा रूप है–**पारिस्थितिक समभाव।** समतायोगी (सामायिक) साधक के जीवन में कई उतार-चढ़ाव आते हैं। सबकी सदा एक-सी स्थिति-परिस्थिति नहीं रहती। सुख-दुःख, हानि-लाभ, जीवन-मरण, निन्दा-प्रशंसा, हार-जीत, शत्रु-मित्र, स्वर्ण-पाषाण, भवन-वन, इष्ट-वियोग–अनिष्ट-योग अथवा इष्ट-संयोग–अनिष्ट-वियोग, अनुकूल या प्रतिकूल, प्रिय-अप्रिय आदि समस्त द्वन्द्वों में या परिस्थितियों में राग-द्वेष की परिणति को छोड़कर, ममत्वबुद्धि से रहित होकर मन को समभाव में स्थिर रखना पारिस्थितिक समभाव है। 'अमितगति श्रावकाचार' में सामायिक (समत्वयोग) का लक्षण कहा गया है–"जीवन-मरण, संयोग-वियोग, अप्रिय-प्रिय, शत्रु-मित्र और सुख-दुःख में सर्वत्र (राग-द्वेष छोड़कर) समभाव रखने को सामायिक कहा गया है।" 'सामायिक पाठ' में भी कहा गया है–"हे नाथ ! समस्त ममत्वबुद्धि दूर करके मेरा मन दुःख में, सुख में, वैरियों में, बन्धुओं में, संयोग में, वियोग में, भवन में या वन में सर्वत्र राग-द्वेष का भाव छोड़कर सम बना रहे।"[2]

इन सब अनुकूल-प्रतिकूल संयोगों या परिस्थितियों में मन को, सम को कैसे समभाव रखा जाय ? इसके लिए हम कुछ चिन्तन बिन्दु प्रस्तुत कर रहे हैं।

पारिस्थिति समभाव का मूलाधार संयोग-वियोग समभाव हो इसलिए सर्वप्रथम इस पर चिन्तन करना जरूरी है।

इष्ट-अनिष्ट संयोग-वियोग में समभाव रखना है

संयोग और वियोग का भी एक द्वन्द्व है, जिसमें उलझकर समतायोगी अपनी समता को खो बैठता है। ऐसा कदापि नहीं हो सकता कि मनुष्य परिवार, धन,

१. (क) रागद्वेषपूर्वकपक्षपाताभावो माध्यस्थ्यम्। *–तत्त्वार्थ राजवार्तिक*

(ख) अत्युत्कट रागद्वेषविकलतया समचेतसो मध्यस्थाः। *–व्यवहारसूत्र टीका*

२. (क) 'पानी में मीन पियासी' (आचार्य देवेन्द्र मुनि) से भाव ग्रहण, पृ. २४८

(ख) जीविते मरणे, योगेवियोगे विप्रिये-प्रिये।
शत्रौ मित्रे सुख-दुःखे साम्यं सामायिकं विदुः॥

(ग) दुःखे सुखे वैरिणि बन्धुवर्गे, योगे-वियोगे भवने-वने वा।
निराकृताशेषममत्वबुद्धेः समं मनो मेऽस्तु सदापि नाथ॥ *–सामायिक पाठ ३*

मकान आदि संयोगों से किनाराकसी करके एकान्त अलग-थलग रह सके, किसी से वास्ता भी न रखे। मान लो, वह एकान्त जनशून्य गुफा में भी जाएगा, तो वहाँ भी उसका तन, मन, बुद्धि, हृदय, अच्छे-बुरे संस्कार, अच्छी-बुरी आदतें, भला-बुरा स्वभाव मन में प्रविष्ट गुण-दोष के भाव तो साथ ही होंगे। एकमात्र एकाकी तो आप तभी कहला सकते हैं, जब आपके साथ केवल राग-द्वेषरहित शुद्ध आत्मा हो; पूर्वोक्त शरीरादि न हों। आपका मन समत्वयोग से सधा हुआ नहीं होगा, तो वह कहीं भी रहेगा, अमुक वस्तुओं, व्यक्तियों या परिस्थितियों से संयोग तथा अमुक से वियोग करायेगा या करना चाहेगा ऐसा तो सम्भव ही नहीं कि सदैव अच्छे ही, अच्छे संयोग मिलें, बुरे संयोग मिलें ही नहीं। फिर एक के साथ संयोग से राग या मोह होगा। दूसरे के साथ संयोग से द्वेष, दुर्भाव, घृणा या ईर्ष्या होगी। एक से वियोग होने पर खुशी या प्रसन्नता होगी और दूसरे से वियोग होने पर दुःख, चिन्ता या उद्विग्नता होगी। मनुष्य के द्वारा अमुक व्यक्तियों, वस्तुओं, परिस्थितियों या प्रियता-अप्रियतायुक्त भावों से जुड़ जाना या इनका मिल जाना संयोग है तथा अमुक व्यक्तियों, वस्तुओं आदि से छूट जाना, वियुक्त हो जाना, अलग हो जाना या दूर हो जाना वियोग है। इस प्रकार संयोग और वियोग को लेकर मुख्यतया चार विकल्प होते हैं–(१) इष्ट का संयोग, (२) अनिष्ट का संयोग, (३) इष्ट का वियोग, और (४) अनिष्ट का वियोग। समतायोगी की कसौटी इन चार प्रकार के संयोग-वियोगों में होती है।

इष्ट-अनिष्ट संयोग-वियोग सर्वकाल स्थायी या अपरिवर्तनीय नहीं

समतायोगी समत्वबुद्धि से यह जानता है कि इष्ट या अनिष्ट का संयोग या वियोग सर्वकालस्थायी या अपरिवर्तनीय नहीं है। इष्ट और अनिष्ट सापेक्ष भी हैं। एक जीव को जो इष्ट लगता है, दूसरे को अनिष्ट लगता है। इसी प्रकार एक को जो अनिष्ट लगता है, वह दूसरे को इष्ट लग सकता है। कड़वा नीम मनुष्य को अच्छा नहीं लगता, वही ऊँट को अच्छा लगता है। जिस पुत्र को माता-पिता इष्ट समझते थे, वही बड़ा होने पर उद्दण्ड, अविनीत और दुष्ट हो गया तो वही पुत्र माता-पिता को अनिष्ट और अप्रिय लगने लगता है। सर्दियों में जो गर्म कपड़े इष्ट समझे जाते हैं, वे ही कपड़े गर्मियों में अनिष्ट समझे जाते हैं। जिस इष्ट का वियोग आज अरुचिकर समझा जाता है, वही कालान्तर में अभीष्ट और रुचिकर माना जाता है। अपना इष्ट एवं प्रिय पुत्र घर-बार, धन-सम्पत्ति और परिवार को छोड़कर जब साधु बनने लगता है, तब माता-पिता को अनिष्ट और अरुचिकर लगता है, परन्तु वही पुत्र जब ज्ञान-दर्शन-चारित्र की आराधना करके तेजस्वी एवं विशिष्ट प्रसिद्ध महात्मा बनकर उस नगर में आता है तो सबको बहुत ही प्रिय एवं श्रद्धास्पद लगता है। अनिष्ट का वियोग जो एक दिन सुखदायी लगता था, वही समय पाकर दुःखदायी प्रतीत होने लगता है। अतः इष्ट हो या अनिष्ट, दोनों निश्चित रूप से वैसे ही बने नहीं रहते।

पूर्वोक्त चारों ही विकल्पों या स्थितियों के प्रति मनुष्य के मनोभाव, दृष्टिकोण या विचार बदलने से ये चारों ही स्थितियाँ बदल सकती हैं।

अतः संयोग और वियोग को एकान्त स्थायी न समझकर समतायोगी साधक को इनमें समभाव रखना चाहिए।

इष्ट-अनिष्ट संयोग-वियोग कैसे-कैसे, किस-किस रूप में ?

प्रश्न होता है कि इष्ट का संयोग या वियोग तथा अनिष्ट का संयोग या वियोग मानव-जीवन में किस-किस रूप में आते हैं, मिलते हैं या प्राप्त होते हैं? ये चारों विकल्प निम्नोक्त रूप में प्राप्त होते हैं–(१) शरीरादि के रूप में, (२) इन्द्रिय-विषयों के रूप में, (३) निन्दा-प्रशंसा आदि द्वन्द्वों के रूप में, (४) अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियों के रूप में, (५) अच्छे-बुरे साधनों के रूप में, (६) अच्छे-बुरे व्यक्तियों या जीवों के रूप में, एवं (७) अजीवादि पदार्थों के रूप में तथा कर्मों के रूप में।

प्रश्न होता है–मनुष्य का मन संयोगों और वियोगों के रूप में कैसे विषय बन जाता है और सम कैसे रह सकता है? आचार्य अमितगति ने संयोगों और वियोगों के आ पड़ने पर वीतराग प्रभु के समक्ष संकल्पयुक्त निवेदन किया है–"हे नाथ ! कैसे भी संयोग और वियोग के समय मेरा मन सदैव सम रहे, समभाव में लीन रहे।" किसी को शरीर, मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ, अंगोपांग, माता-पिता, परिवार, गाँव, नगर, राष्ट्र, प्रान्त आदि अशुभ कर्मों के कारण बुरे मिले तथा शुभ कर्मों के उदय के कारण किसी को ये अच्छे मिले। अच्छे शरीरादि वाला मोह एवं आसक्तिवश हिंसादि पापकर्म करने लगा, मद्य, माँस आदि अभक्ष्य खान-पान करने लगा, इस प्रकार पापकर्मबन्ध करने लगा। एक दिन इष्ट शरीर आदि का वियोग हो गया। दूसरी ओर रोग, विकलांगता, बुद्धिमन्दता से युक्त अशुभ शरीर आदि मिले, किन्तु उसने इसे अपने पूर्वकृत अशुभ कर्म का फल मानकर समभाव रखा, शरीरादि का उपयोग दूसरों की सेवा, सहायता, सत्कर्म, परोपकार, दान, तप, शील, सदाचार, व्रत-नियम आदि के पालन में लगाकर शरीरादि की अशुभता का कोई विचार नहीं किया। हेलनकेलर अंधी, गूँगी और बहरी हो जाने पर भी पूर्वकृत शुभ कर्म के योग से उसे एक दयालु अध्यापिका अन्नी सलीवान का संयोग मिला। उसने केलर को टसकंबिया आकर प्रशिक्षण दिया। दस वर्ष की होते-होते उसके ज्ञानचक्षु खुल गए। आत्म-विश्वास बढ़ा। अपना ८८ वर्ष का दीर्घ-जीवन समाज-सेवा में लगाकर उसने अनेक विकलांग व्यक्तियों को प्रेरणा और आगे बढ़ने की शक्ति दी। 'अष्टावक्र' के आठ अंग टेढ़े-मेढ़े थे, पर उसकी आत्म-ज्योति विकसित थी। उसने अंग के बेडौलपन की कोई परवाह न करके अपनी ज्ञान-शक्ति में वृद्धि की। इसी प्रकार विश्व में अनेक व्यक्ति कुरूपता, अंग-विकलता, मातृ-पितृवियोग आदि अनिष्ट-संयोग पाकर भी मानसिक समता के अंगभूत धैर्य, आशा, उत्साह और

आत्म-विश्वास के आधार पर समभाव रखकर संवर और निर्जरा कर सके। हरिकेशबल जैसे शरीर के काले, कुरूप, बेडौल होते हुए भी ज्ञान-दर्शन-चारित्र-तपरूप मोक्षमार्ग की साधना-आराधना करके सर्वकर्ममुक्तिरूप मोक्ष को भी प्राप्त कर सके थे।

अमनोज्ञ-मनोज्ञ शरीरादि मिलने पर समता में रहे

इसी प्रकार समतायोगी साधक रुग्ण, दुर्बल, अशक्त, अनिष्ट शरीरादि का संयोग मिलने पर अरुचि, घृणा, निराशा, निरुत्साह या आत्महत्या का भाव आदि विषमतावर्द्धक दुर्गुणों को मन में स्थान नहीं देता, न ही तीव्र रोगाक्रान्त होने पर शरीर को जल्दी छोड़ने की इच्छा करता है। न ही कालेकलूटे, कुरूप, बुद्धिमन्द अंगहीन, निर्बल लोगों के शरीरादि देखकर उनसे घृणा, द्वेष, दुर्भाव करता हैं, न ही उन्हें अपमानित करता है। अपने मनोज्ञ शरीरादि का वियोग होते देखकर भी उसे रंजोगम नहीं होता।

मनोज्ञ-अमनोज्ञ इन्द्रिय-विषयों के संयोग-वियोग में समभाव रखे

इसी प्रकार मनोज्ञ इन्द्रिय-विषयों को पाने के लिए समतायोगी साधक लालायित नहीं होगा, न उनके लिए मन में बेचैन होगा। दूसरों के पास अत्यधिक विषयोपभोग के साधन देखकर वह उनसे ईर्ष्या, असूया, द्वेष आदि करेगा अथवा जिनके पास पर्याप्त इन्द्रिय-विषयभोगों के साधन नहीं हैं अथवा विषयों को प्राप्त करने की जिनकी शक्ति क्षीण या नष्ट हो गई है, उनके प्रति भी वह घृणा, द्वेष, दुर्भाव या तिरस्कारबुद्धि नहीं रखेगा। समत्व-साधना के लिए अनायास आवश्यक इन्द्रिय-विषय या साधन प्राप्त होने पर मन में अहंकार, रागभाव, मोह या आसक्ति नहीं आने देगा अथवा अभीष्ट आवश्यक इन्द्रिय-विषयोपभोगों के साधनों के वियोग हो जाने पर भी उसके मन में किसी प्रकार की ग्लानि, चिन्ता, दीनता आदि नहीं आएगी अथवा अमनोज्ञ, अनिष्ट इन्द्रिय-विषयों का संयोग होने पर भी वह आर्त्त-रौद्रध्यानवश नहीं होगा, मन में ग्लानि या अरुचि नहीं लाएगा, अपितु समभाव से वह उन अनिष्ट विषयों को अपनाएगा, समत्व को नहीं खोयेगा। अभीष्ट इन्द्रिय-विषयों को पाकर वह विलासिता, कामभोगवृद्धि, पापवृद्धि, आलस्य, प्रमाद आदि विषमतावर्द्धक कृत्यों में नहीं लगाएगा, किन्तु समता, क्षमा, दया आदि सद्धर्माचरण एवं तप व संयम की आराधना में लगाएगा।[१]

---

१. (क) देखें–'मेरी भावना' में इष्ट-वियोग अनिष्ट-योग में सहनशीलता दिखलावें

(ख) कोई बुरा कहो या अच्छा, लक्ष्मी आवे या जावे।
लाखों वर्षों तक जीऊँ या, मृत्यु आज ही आ जावे॥
अथवा कोई कैसा ही भय, या लालच देने आवे।
तो भी न्यायमार्ग से मेरा, कभी न पद डिगने पावे॥ *–मेरी भावना*

द्वन्द्वों तथा अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियों में समभाव कैसे रखे ?

समतायोगी निन्दा-प्रशंसा, वन्दना-निन्दना, हानि-लाभ, शीत-उष्ण तथा अनुकूल-प्रतिकूल संयोगों में राग-द्वेषादि विषमभावों को स्थान नहीं देता, न ही लाभादि प्रसंगों पर अहंकार या गर्व करता है। इसी प्रकार अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियाँ मिलने पर भी समतायोगी न तो गर्व करता है, न ही खेद। दोनों ही परिस्थितियों को पूर्वकृत पुण्य-पाप का खेल समझता है। वह प्रत्येक परिस्थिति में सन्तुलन रखकर अपने को एडजस्ट कर लेता है। परिस्थितियों के हाथ की कठपुतली नहीं बनता। अच्छे-बुरे साधनों के रूप में संयोग या वियोग होने पर भी वह समत्व-साधना में तत्पर रहता है। बुरे साधन या पर्याप्त साधन मिलने, न मिलने पर भी वह किसी प्रकार की गर्वोक्ति या शोकोक्ति नहीं करता। इसी प्रकार अच्छे-बुरे या प्रिय-अप्रिय व्यक्तियों या जीवों के मिलने या उनसे वास्ता पड़ने पर वह आसक्त या भयभीत व चिन्तित नहीं होता। इसी प्रकार अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध आदि कारण कर्मोदय होने पर अनभिज्ञतावश समभाव न रखकर नाना दुःखों व यातनाओं को भोगता रहता है। अपनी आत्म-शक्ति को भूलकर शुभाशुभ कर्मों के चक्कर में पड़कर अशान्त और दुःखी होता है।[१]

परिस्थिति के अनुकूल मनःस्थिति बना लेना ही समतायोग है

समतायोगी के लिए बुरी परिस्थितियों के संयोग और अच्छी परिस्थितियों के वियोग में समताभाव रखना बहुत ही आवश्यक है। पाश्चात्य विद्वान् ह्यूम (Hume) परिस्थिति-समभाव के विषय में कहते हैं–

"He is happy whose circumstances suit his temper, but he is more excellent who can suit his temper to any circumstance."

–वह व्यक्ति प्रसन्न रहता है, जिसकी परिस्थितियाँ उसकी मनःस्थिति के अनुकूल हैं; किन्तु वह व्यक्ति और अधिक प्रसन्न एवं उत्कृष्ट है, जो अपनी मनःस्थिति को परिस्थिति के अनुकूल बना लेता है।

ज्ञाता-द्रष्टा बनकर कार्य करने वाला समतायोगी कर्मबन्ध से युक्त नहीं होगा

ऐसा समतायोगी ही ज्ञाता-द्रष्टा बनकर कर्म करता हुआ भी कर्मबन्धन से युक्त नहीं होता। 'भगवद्गीता' भी इसी तथ्य की साक्षी है–"अनायास ही

---

१. (क) तुल्यनिन्दा-स्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येन केनचित्।
समदुःख-सुखः स्वस्थः समलोष्टाश्म-काञ्चनः॥ *–भगवद्गीता, अ. १२, श्लो. १९*
तुल्य-प्रियाप्रियो धीरस्तुल्य-निन्दात्मसंस्तुतिः। *–वही, अ. १४, श्लो. २४*

(ख) जे न वंदे न से कुप्पे, वंदिओ ण समुक्कसे।
एवमन्नेसमाणस्स सामण्णमणुचिट्ठइ॥ *–दशवैकालिकसूत्र*

(सहजभाव से) जो भी कुछ (अच्छा या बुरा संयोग) प्राप्त हो, उसी में सन्तुष्ट रहने वाला (हानि-लाभ, हर्ष-शोक, शीत-उष्ण, जीवन-मरण, अनुकूल-प्रतिकूल आदि) द्वन्द्वों से अतीत (पर) तथा मात्सर्य (ईर्ष्या, डाह) से रहित एवं सिद्धि (सफलता) और असिद्धि (असफलता) में सम रहने वाला समतायोगी कर्म करता हुआ भी कर्मबन्ध से युक्त नहीं होता।"[१]

अनुकूल हो या प्रतिकूल क्षेत्र : समतायोगी समभाव में स्थिर रह सकता है

इसी प्रकार समतायोगी को मनोज्ञ, सुन्दर, अनुकूल या अच्छा क्षेत्र (स्थान) मिले या अमनोज्ञ, गंदा, बुरा, प्रतिकूल क्षेत्र (स्थान) मिले, वह मन को समभाव में स्थिर रहकर यथालाभ संतोष कर लेता है। प्रत्येक स्थान में अपने आप को एडजस्ट कर लेता है। क्षेत्र से यहाँ मनोज्ञ-अमनोज्ञ, सुन्दर-असुन्दर, अच्छा-बुरा, अनुकूल-प्रतिकूल, घर, मकान, निवास-स्थान, झोंपड़ी, बाग, महल, कुटिया, मंदिर, गुफा, शहर, गाँव, प्रान्त, राष्ट्र, स्वदेश, परदेश, जंगल, नदीतट, समुद्रतट, वृक्षतल या रेगिस्तान अथवा हरा-भरा उपजाऊ स्थान, अच्छा-बुरा खेत, रूखा-सूखा या हरा-भरा प्रदेश आदि का ग्रहण कर लेना चाहिए। कैसा भी स्थान या क्षेत्र मिले, उसी में सन्तोष करना, प्रिय के प्रति राग, अप्रिय के प्रति द्वेष, घृणा आदि न करने से ही समतायोग में स्थिर रहना चाहिए, तभी कर्मनिर्जरा होगी।[२]

महल हो या जंगल, समतायोगी के लिए दोनों समान हैं

एक राजा एक निःस्पृह संन्यासी को अपने महल में ले आया। महल में भी वह अलिप्तभाव से रहता था। रानियों की आग्रहभरी प्रार्थना के कारण संन्यासी को दो-चार दिन नहीं, एक महीना बीत गया। राजा ने सोचा—इनको महल में रहने का चस्का लग गया है। अतः एक दिन राजा ने कहा—"आज हम जंगल में घूमने चलेंगे।" संन्यासी इसके लिए तुरंत तैयार हो गया। दोनों नगर से बहुत दूर जंगल में पहुँच गए, तब राजा ने कहा—"महाराज ! अब बहुत दूर आ गए, वापस महलों की ओर लौट चलें।" संन्यासी ने कहा—"अब लौटकर महलों में क्या जाना है? अब मैं तो जंगल की ओर ही बढ़ूँगा।" राजा ने पूछा—"क्षमा करें, महाराज ! एक बात पूछता हूँ, मैं भी महलों में रहता था, आप भी; फिर आप में और मेरे में क्या अन्तर रहा?" संन्यासी ने उत्तर दिया—"राजन् ! मैं महल में था, तब भी मेरे मन में महल नहीं था; तुम महल में थे और अब भी तुम्हारे मन में महल है। मैं जंगल में था, तब भी महल की मस्ती में था और महल में था, तब भी जंगल में बैठा था।

---

१. यदृच्छा-लाभ-सन्तुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः।
समः सिद्धावसिद्धौ च, कृत्वाऽपि न निबध्यते॥ —*भगवद्गीता, अ. ४, श्लो. २२*

२. 'समतायोग' से भाव ग्रहण, पृ. १५३-१५४

महल में रहने और जंगल में रहने में मेरे लिए कोई फर्क नहीं पड़ता था, किन्तु तुम्हारे लिए जंगल-जंगल है, असुविधाजनक; और महल-महल है–सुविधाजनक; यही तुम्हारी और मेरी दृष्टि में अन्तर है।" यही क्षेत्र सामायिक का रहस्य है।

भेदविज्ञान होने पर ही समत्व में ऊर्ध्वारोहण सम्भव

(४) भावनात्मक समभाव का चौथा अंग है–भेदविज्ञानरूप समभाव–शरीर और आत्मा का स्व और पर का भेदविज्ञान करना, स्वभाव में रमण करना, पर-भावों के प्रति अहंत्व-ममत्व न करना भी भेदविज्ञानमूलक समभाव है। मुख्यतया आत्मा को विषमभावों–पर-भावों से हटाकर स्वभाव–समभाव में स्थिर करने से यह भेदविज्ञान की भावना सुदृढ़ होती है। 'सामायिक पाठ' में कहा गया है–हे वीतराग प्रभो ! आपकी स्वभाव-सिद्ध कृपा से मेरी आत्मा में ऐसी शक्ति प्रकट हो कि मैं शरीरादि समस्त पर-भावों से अपनी आत्मा को उसी प्रकार पृथक् कर सकूँ, जिस प्रकार म्यान से तलवार अलग की जाती है, क्योंकि मेरी आत्मा अन्तर शक्ति-सम्पन्न है और समस्त दोषों से रहित होने के कारण (निश्चयदृष्टि से) वीतरागस्वरूप है।

समतायोग (सामायिक) का मूल उद्देश्य शरीर और शरीर से सम्बद्ध सजीव-निर्जीव व्यक्तियों या वस्तुओं से आत्मा को पृथक् जानना, मानना और मन-वचन-काया से भेदविज्ञान करना। आशय यह है कि शरीर और शरीर से सम्बद्ध वस्तुओं को लेकर जो मोह, ममता, आसक्ति और मूर्च्छा उत्पन्न होती है, उन्हीं के कारण हिंसादि पाप-दोषों की वृद्धि होती है तथा परिवार, सम्प्रदाय, जाति, राष्ट्र, धन-सम्पत्ति, राजसत्ता और जमीन-जायदाद आदि भौतिक वस्तुओं को लेकर जो क्रोध, अहंकार, ईर्ष्या, राग, द्वेष, मोह, लोभ, माया, अभ्याख्यान, पैशुन्य, पर-परिवाद आदि विकार बढ़ते रहते हैं, जिनके कारण कर्मबन्ध होता है। उससे फिर जन्म-मरण का चक्र बढ़ता है, नाना कष्ट, दुःख, यातनाएँ आदि सहने पड़ते हैं, इन सबको शुद्ध आत्मा से पृथक् करना ही समतायोग का मुख्य प्रयोजन है। इस दृष्टि से विषमतावृद्धि करने और विविध दुःखों–कष्टों में डालने वाला शरीर है। पूर्वोक्त प्रकार से शरीर और शरीर से सम्बद्ध वस्तुओं के प्रति आसक्ति और मोह के कारण जो विषमताएँ पैदा होती हैं, वे आत्मा को समतायोग की साधना में आगे नहीं बढ़ने देतीं।

शरीरदृष्टि बहिरात्मा समतायोग की साधना नहीं कर पाता

इस प्रकार के भेदविज्ञान कर लेने से कर्मबन्ध रुक जाएगा तथा पूर्वकृत कर्मों का तीव्र गति से क्षय; क्षयोपशम एवं उपशम करने में समतायोग में जीव शीघ्र ही अभ्यस्त हो जाता है। भेदविज्ञान न करने पर शरीर की ही प्रधानता रहेगी, ऐसी

स्थिति में बहिरात्मा बना हुआ शरीरदृष्टि मानव प्रायः भोगसाधना ही करेगा; समतायोग की साधना नहीं। समतायोग आध्यात्मिक वस्तु है, वह आत्म-भावों में लीन होने या आत्मा में अवस्थित होने की वस्तु है। इसी दृष्टि से 'भगवतीसूत्र' में कहा गया है–"आत्मा ही सामायिक (समत्वयोग) है, आत्मा ही सामायिक (समतायोग) का अर्थ (समता की उपलब्धि का) प्रयोजन है।" ऐसे समतायोग की उपलब्धि शरीरप्रधानदृष्टि के रहते नहीं हो सकेगी, क्योंकि शरीरादि पर ममत्व समत्व का विरोधी है, विषमतावर्द्धक है। ऐसे भेदविज्ञान के दृढ़-संकल्प के बिना समता सुदृढ़ एवं परिपक्व नहीं होती।[१]

ममत्व और समत्व परस्पर विरुद्ध हैं

जिंदगी का शरीर से सीधा सम्बन्ध है। इसलिए अज्ञजन जिंदगी के ममत्व को लेकर शरीरादि के लिए संसार की वस्तुओं, व्यक्तियों और मान्यताओं पर हठाग्रहपूर्वक मेरेपन की छाप लगाता है। अपनी कल्पित वस्तु व्यक्ति या मान्यता, अन्ध-विश्वास आदि पर 'मेरापन' स्थापित करने से राग, आसक्ति, मोह हो जाता है, समत्व से वह कोसों दूर हो जाता है, ममत्वबुद्धि ही प्रति क्षण दौड़ लगाती रहती है। मेरे के इस घेरे से एक भी चीज छूटती या वियुक्त हो जाती है, तो उसे मृत्यु का-सा अनुभव होने लगता है। किन्तु समतायोगी सोचता है कि ममत्व काल्पनिक है, जबकि समत्व स्वाभाविक है। संसार में कोई भी वस्तु मेरी नहीं है। मेरी होती तो वह नष्ट या वियुक्त होती ही क्यों? संसार की कोई भी वस्तु ऐसी नहीं है, जिस पर मैं ममत्व करूँ। अनित्यता मेरा (आत्मा का) स्वभाव नहीं है, मेरा स्वभाव तो नित्यता है। नमि राजर्षि ने इन्द्र को यही कहा था–"हम इसलिए सुख से रहते हैं और जीते हैं कि संसार में हमारा कुछ भी अपना नहीं है। हमारी आत्मा अकिंचन है। इसलिए मिथिला के जल जाने पर मेरा (आत्मा का) कुछ भी नहीं जलता।" यह है भेदविज्ञानी समतायोगी का अकाट्य उत्तर।[२]

(५) **आत्म-भावरमणरूप समभाव**–भावनात्मक समभाव का यह पाँचवाँ अंग है। वस्तुतः समतायोग मूल में आध्यात्मिक वस्तु है। वह आत्मा में अवस्थित होने अथवा आत्म-भावों में लीन होने की वस्तु है। 'समयसार टीका' में सामायिक का निर्वचन इस प्रकार किया गया है–"समय का अर्थ है–आत्मा। उसके साथ एकीभूत होकर रहना (समाय है, समाय) जिसका प्रयोजन हो, वह सामायिक है अर्थात् आत्म-भावों में रमण करना सामायिक है।" आत्म-भावों में निवास (स्थिरता) कैसे किया जाय? इसके लिए 'नियमसार' में कहा गया है–"यदि तू अपने आप

---

१. आया सामाइए, आया सामाइयस्स अट्ठे। *–भगवतीसूत्र*

२. सुहं वसामो जीवामो, जे सिं मो नत्थि किंचणं।
मिहिलाए डज्झमाणीए, न मे डज्झइ किंचणं॥ *–उत्तराध्ययन, अ. ९, गा. १४*

(आत्मा) में आवास करना (स्थित होना) चाहता है, तो आत्म-स्व-भाव में स्थिरता की भावना कर। उसी से ही जीव का समत्व (या आत्मा का सामान्य) गुण सम्पूर्ण होता है।" आशय यह है कि विषयों और काषायिक विकारों से मुक्त, आत्मा का जो शुद्ध स्वरूप है, उसी में लीन रहना, उसी की प्रति क्षण जागृतिपूर्वक स्मृति रखना, उसी शुद्ध आत्मा का अहर्निश अध्यात्म में रत रहना अथवा उसी शुद्ध स्वरूप को पा लेना ही सामायिक का अर्थ = प्रयोजन या फल है। आचार्य अमितगति ने आत्मा का अपने शुद्ध स्वरूप में लीन रहने को सच्ची सामायिक साधना बताते हुए कहा-"जिस आत्मा से राग-द्वेष, कषाय और इन्द्रिय-मन के विषयों के प्रति आसक्ति आदि परास्त (निरस्त) हो गए हैं, उसी निर्मल (शुद्ध) आत्मा को सुबुद्धिमानों ने सामायिक माना है।" इसी तथ्य को 'विशेषावश्यकभाष्य' में इसी तथ्य को प्रकारान्तर से प्रगट किया गया है-"समताभाव (सामायिक) में उपयोगयुक्त (उपयुक्त) जीव (आत्मा) स्वयं सामायिक है।" अर्थात् समताभाव में इतना तन्मय हो जाए कि उसे चारों ओर आत्मा ही आत्मा का दिव्यनेत्रों (अन्तरनयनों) से दर्शन हो। उसे दूसरा कोई भी विकल्प न आए, ऐसा आत्म-ध्यान ही सामायिक साधना का प्राण है, वही संवर, निर्जरा और अन्त में मोक्ष प्राप्त हो।" जैसे कि 'भगवद्गीता' में कहा गया है-"जिसकी आत्मा में रति (रमणता) हो, जो मानव आत्मा में ही तृप्त हो और आत्मा में ही सन्तुष्ट हो, उसके लिए फिर दूसरा कोई कार्य या विकल्प नहीं रहता, वह कृतकृत्य हो जाता है।"

इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि समतायोग (सामायिक) और आत्म-भावरमणता दोनों का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। इसलिए एक आचार्य ने समतायोग की इसी प्रकार की व्युत्पत्ति की है-"**समय एव = आत्मन्येव सामायिकम्।**"-समय अर्थात् आत्मा में होना ही सामायिक है।" 'आवश्यकनिर्युक्ति' में आचार्य भद्रबाहु स्वामी इसी तथ्य का समर्थन करते हैं-सामायिक क्या है? आत्मा की स्वाभाविक परिणति = स्व-भाव = समताभाव में परिणति की दृष्टि से भावतः जीव (आत्मा) ही सामायिक है। आत्म-भाव में रमण करने वाले साधक के लिए शुद्ध आत्मा ही साध्य है, इसलिए एक आचार्य ने कहा-"**समयः आत्मा स एव साध्यो यस्मिन् तत् सामायिकम्।**" -समय यानी आत्मा ही जिसमें साध्य है, वह सामायिक (समतायोग) है।[1]

---

१. (क) समयसार टीका

(ख) अमितगति श्रावकाचार

(ग) आवासं जइ इच्छसि, अप्पसहावं कुणदु थिर भावं।
तेणदु सामण्णगुणं, संपुण्णं होदि जीवस्स॥ *-नियमसार १४७*

(घ) दुःखे-सुखे वैरिणि बन्धुवर्गे, योगे वियोगे भवने वने वा।
निराकृता शेष ममत्वबुद्धेः, समं मनो मेऽस्तु सदाऽपि नाथ ! *-सामायिक पाठ ३*

(ङ) सामाइओवउत्तो जीवो सामाइयं सयं चेव। *-विशेषावश्यक, गा. १५२९*

समतायोग का द्वितीय रूप : दृष्टिपरक समभाव

दृष्टिपरक समभाव : स्वरूप, फलितार्थ

समतायोग का द्वितीय रूप है-दृष्टिपरक समभाव। इसमें समत्व की दृष्टि ही प्रधान रहती है। दृष्टि का अर्थ है-समतायोग के प्रति श्रद्धा, उसकी तत्त्वज्ञानप्रतीति, उसके प्रति रुचि, समतायोग के प्रति निष्ठा, भक्ति और समता-प्राप्ति के प्रति निःशंकता, निष्कांक्षता और निर्विचिकित्सा; अमूढ़दृष्टि (देव-गुरु-धर्ममूढ़ताओं से तथा लोकमूढ़ता एवं अन्ध श्रद्धा से रहित निष्पक्षदृष्टि) में जानना-मानना और विश्वास करना मुख्य होता है।

समतामयी-सम्यग्दृष्टि-साधक की दृष्टि कैसी होती है ?

'सूत्रकृतांगसूत्र' में कहा गया है-

"सव्वं जगं तु समयाणुपेही पियमप्पियं कस्सवि नो करेज्जा।"[1]

-जो समग्र जगत् को समभाव से देखता है, वह न किसी का प्रिय करता है और न किसी का अप्रिय। अर्थात् समदर्शी अपने-पराये के भेदभाव से रहित होता है। वह किसी का बुरा तो करता ही नहीं, न बुरा करने की उसकी वृत्ति-प्रवृत्ति रहती है, परन्तु किसी का भला करने में निमित्त बन सकता है, करने का दावा या कर्तृत्व का अहंकार नहीं करता। अगर सामने वाले व्यक्ति का उपादान ठीक हुआ तो उसका स्वतः भला हो जाएगा। परन्तु समभावी साधक की दृष्टि, वृत्ति या सोच यह नहीं रहती कि किसी के प्रति आसक्तिवश या भयवश प्रिय बोले या प्रिय (रागवर्द्धक) करे। जैसे कि गोस्वामी तुलसीदास जी ने कहा-

"सचिव वैद गुरु तीन जो प्रिय बोलहिं भय-आश।
राज, धर्म, तन तीन का होहिंहि वेग विनाश॥"

-यदि मंत्री, वैद्य या गुरु ये तीन भयवश, लिहाजवश या दूसरा नाराज हो जाएगा, इस दृष्टि से प्रिय बोलते हैं तो तीन चीजों का नाश कर सकते हैं। मंत्री अगर डर के मारे शासक के समक्ष ठकुरसुहाती बात कहता है तो राज्य की हानि

पिछले पृष्ठ का शेष-

(च) यतो निरस्ताक्ष-कषाय-विद्विषः सुधीभिरात्मैव सुनिर्मलोमतः। *-सामायिक पाठ २३*

(छ) यतस्ततोऽध्यात्मरतो भवानिशं, विमुच्य सर्वामपि बाह्य-वासनाम्। *-वही, श्लो. २३*

(ज) यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते॥ *-गीता*

(झ) सामाइय-भाव-परिणइ, भावओ जीव एव सामायिकम्। *-आवश्यकनिर्युक्ति*

1. *सव्वं जगं तु समयाणुपेही, पियमप्पियं कस्सवि नो करेज्जा। -सूत्रकृतांग, श्रु. १*

कर बैठेगा। वैद्य अगर रोगी की हाँ में हाँ मिलाएगा, तो रोगी के शरीर को नष्ट कर देगा और गुरु (धर्म-गुरु या बुजुर्ग-गुरु जन) अपने अनुयायी को भयवश सम्यग्दृष्टि या सैद्धान्तिक दृष्टि न रखकर सच्ची बात नहीं कहेगा तो धर्म (संवर-निर्जरारूप धर्म) को शीघ्र नष्ट कर देगा। अतः समतायोगी के मन, बुद्धि, चित्त और हृदय में समत्व की दृष्टि स्पष्ट होनी चाहिए।

एकान्त एकांगी दृष्टिकोण समतामय नहीं होता

यही कारण है कि भगवान महावीर ने सर्वकर्ममुक्ति (मोक्ष) के लिए एकान्त एक दृष्टिकोण न रखकर १५ प्रकार की दृष्टि से मोक्ष-प्राप्ति बताई है।[१] 'नंदीसूत्र' में भी कहा है–"जिसकी समतामयी सम्यग्दृष्टि होगी, उसके द्वारा मिथ्याश्रुत कहे जाने वाले प्रत्येक शास्त्र भी सम्यक्रूप से परिगृहीत होने के कारण सम्यक्श्रुत बन जाएँगे और मिथ्यादृष्टि के द्वारा मिथ्यारूप से ग्रहण किये जाने के कारण सम्यक्श्रुत कहे जाने वाले शास्त्र भी मिथ्याश्रुत बन जाएँगे।"[२] यह समतामयी और विषमतामयी दृष्टि का ही अन्तर है। इसीलिए कहा गया है–"अनेकान्तदृष्टि से समभाव से भावित आस्था (बुद्धि) होने पर चाहे श्वेताम्बर हो, दिगम्बर हो, बौद्ध हो, वैदिक हो या और कोई हो, सर्वकर्ममुक्तिरूप मोक्ष प्राप्त कर सकता है।" इसलिए दृष्टिपरक समभाव हो तो जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में समतामयी अनेकान्त दृष्टि रखकर पारस्परिक विरोध, कलह, वाद-विवाद, झगड़े, द्वन्द्व, संघर्ष सुलझाये जा सकते हैं। समभाव से परिपूत दृष्टि होने पर प्रत्येक प्रवृत्ति में जीव के चरण यत्नाचारपूर्वक पड़ेंगे, जिससे पापकर्म का बन्ध तो होगा ही नहीं, पुण्यकर्म से भी आगे बढ़कर शुद्धि धर्माचरणपूर्वक संवर-निर्जरा का लाभ प्राप्त कर सकता है। समभाव के प्रति निष्ठा, सम्यग्दृष्टि, श्रद्धाभक्ति, रुचि, तन्यमता न होने से तप, जप, त्याग, व्रत, नियम, प्रत्याख्यान आदि के साथ भी मद, मत्सर, ईर्ष्या, माया, दम्भ, अहंकार, विज्ञापन, फलासक्ति, दिखावा आदि का विष उन साधनाओं को निष्फल और चौपट कर सकता है। उसके साथ इहलौकिक-पारलौकिक भोगाकांक्षा, निदान, फलाकांक्षा, विचिकित्सा और शंका तथा मूढ़दृष्टि का दोष घुस जाने से साधना को विकृत कर सकता है। समभाव की दृष्टि न होने से व्रती, महाव्रती एवं त्यागी, तपस्वी, क्रियाकाण्डी आदि साधकों में प्रतिष्ठा, प्रतिस्पर्धा, प्रसिद्धि, प्रशंसा, कीर्ति आदि की घुड़दौड़ या होड़ भी हो सकती है, जो कर्मबन्ध की कारण हैं।[३]

---

१. (क) देखें–उत्तराध्यनसूत्र, अ. ३६, गा. ५०
(ख) देखें–नंदीसुत्तं में १५ प्रकार के सिद्धों का उल्लेख, सू. २१

२. एयाइं चेव मिच्छदिट्ठिस्स मिच्छत्तपरिग्गहियाइं मिच्छासुयं।
एआइं चेव सम्मदिट्ठिस्स सम्मत्त परिग्गहियाइं सम्मसुयं॥ *–नंदीसूत्र, सू. ४२*

३. (क) सेयंबदो य आसंबरो य, बुद्धो वा तहेव अन्नो वा।
समभावभावियप्पा लहइ मुक्खं न संदेहो॥ *–आचार्य हरिभद्र*

समतायोग का तृतीय रूप : साधनात्मक समभाव

अनगार-सामायिक और आगार-सामायिक : स्वरूप और प्रयोग

इसमें समतायोग का साधनात्मकरूप है। भगवान महावीर ने सामायिक साधना दो प्रकार की बताई है–आगार-सामायिक (देशविरति-श्रावक की) और अनगार-सामायिक (सर्वविरित-साधुवर्ग की)। गृहस्थ श्रावक की एक सामायिक-साधना एक मुहूर्त्त (४८ मिनट) की होती है, जबकि अनगार की सामायिक यावज्जीवन की होती है। किन्तु सामायिक का सिद्धान्त, तत्त्व प्रयोग और स्वरूप तो साधु-श्रावक दोनों के लिए एक-सा है। साधुवर्ग के लिए पद-पद पर समभाव देखना अनिवार्य है, जबकि श्रावकवर्ग के लिए सामायिक-साधना में जितनी देर रहे, उतनी देर तक हिंसादि १८ पापों का त्याग करना तथा शुभ या शुद्ध भावों में प्रवृत्त रहना आवश्यक है। साधुवर्ग दीक्षा लेते समय–"करेमि भन्ते ! सामाइयं।"–भगवन् ! मैं यावज्जीव सामायिक-साधना स्वीकार करता हूँ। इसलिए उसे भी मर्यादितकाल तक पल-पल में मन-वचन-काया से विषमभाव या पापमय (सावद्य) प्रवृत्ति का त्याग करके निरवद्य समभावी प्रवृत्ति करना ही उचित है। श्रावकवर्ग को द्रव्यसामायिक-साधना तो काल-सापेक्ष है, किन्तु भाव-सामायिक कालनिरपेक्ष है, वह साधु-श्रावक दोनों के लिए आवश्यक है। भले ही श्रावकवर्ग एक या दो सामायिक उपाश्रय या जैनस्थानक में करता है, परन्तु उसकी उक्त साधना का प्रभाव जीवन के सभी क्षेत्रों के कार्यकलापों पर पड़ना चाहिए। परिवार, समाज, राष्ट्र, सम्प्रदाय, जाति आदि सभी क्षेत्रों में यथासम्भव समभाव-प्रयोग करना चाहिए। धर्मस्थान या उपाश्रय तो समता का अभ्यास करने के लिए पाठशाला है, किन्तु उसका प्रयोग व्यावहारिक धरातल पर जीवन के सभी क्षेत्रों में करने से ही श्रावकवर्ग पापकर्मबन्ध से बच सकता है।[1]

आत्म-साधना और सामायिक दोनों अन्योन्याश्रित हैं : क्यों और कैसे ?

निश्चयदृष्टि से देखा–सोचा जाए तो आत्म-साधना और समतायोग दोनों परस्पराश्रित प्रतीत होते हैं। समय आत्मा का नाम है। आत्मा में स्थित रहने की

पिछले पृष्ठ का शेष–

(ख) देखें–आवश्यकसूत्र में अविवेक जसोकित्ती आदि सामायिक साधना के १० मानसिक दोष

१. (क) देखें–स्व. उपाध्याय अमर मुनि लिखित सामायिकसूत्र सभाष्य तथा पं. वेचरदास जी लिखित 'अन्तर्दर्शन'

(ख) दुविहे सामाइए पण्णत्ते तं.–आगारसामाइए चेव अणगारसामाइए चेव।

–स्थानांगसूत्र, स्था. २, उ. ३, *सू.* २४९

साधना ही आत्म-साधना है। भगवान पार्श्वनाथ की परम्परा के कालास्यवेषी अनगार ने भगवान महावीर के अनुयायी स्थविर मुनिराजों से जब प्रश्न किया कि सामायिक क्या है? सामायिक का अर्थ (प्रयोजन या उद्देश्य) क्या है? उत्तर में उन्होंने कहा–हे आर्य ! आत्मा ही सामायिक है और आत्मा (आत्म-भाव की उपलब्धि) ही सामायिक का अर्थ है।

आत्म-साधना क्या है ? वह समतायोग-साधना को कैसे परिष्कृत करती है ?

अनघड़, विषम, असंस्कृत एवं विषय-वासनाओं तथा सुख-सुविधाओं की मिट्टी और कीचड़ से मिश्रित आत्मा का परिशोधन करना, सामान्य पाशविक जीवन से युक्त आत्मा को दैवी और मानवीय जीवन की सम्पदाओं से, समतायोग के लिए सक्षम और उपयोगी बनाना तथा सम्यक्, सघन एवं सर्वतोमुखी आत्म-विज्ञान के सहारे सुषुप्त अन्तश्चेतना को प्रखर, तेजस्वी और समृद्ध बनाना, प्रसुप्त अन्तःशक्तियों को जगाना और अपनी क्षमताओं को व्यवस्थित रूप से आत्म-विकास में नियोजित करना ही वास्तविक आत्म-साधना है। आत्म-साधना का प्रयोजन अपने अन्तर में निहित कामनाओं, वासनाओं तथा कषाय-कलुषों पर विवेकपूर्वक विजय प्राप्त करके आत्मा को परिष्कृत एवं शुद्ध करना एवं अपने अविवेक, असंयम और आवरण को हटाना ही सम्भव हो सकता है।

जैसे दूरदर्शी सृजनात्मक प्रयासों के आधार पर हिंस्र एवं खूँख्वार प्राणियों को आज्ञानुवर्ती एवं उपयोगी बना लिया जाता है, कँटीली झाड़ियों के स्थान पर सुगन्धित एवं शान्त-सुवासित पवन वाले उद्यान खड़े कर दिये जाते हैं, ऊसर भूमि को उपजाऊ और लहलहाती हुई फसल वाला बना दिया जाता है, इसी प्रकार आत्म-साधना के साधक द्वारा किये गए अपने दूरदर्शी एवं विवेकपूर्ण प्रयासों एवं पराक्रमों से आत्मा को प्रखर, तेजस्वी, गुण-समृद्ध एवं समतायोग के शिखर पर आरूढ़ होने अर्थात् पूर्ण वीतरागता प्राप्त करने में सक्षम और उपयोगी बनाया जाता है। इससे जीवन सम्पदाओं का सुव्यवस्थित और सांगोपांग उपयोग एवं प्रयोग हो जाता है। यहीं जाकर समतायोग (सामायिक) और आत्म-साधना अन्योन्याश्रित अथवा कार्य-कारणभाव से युक्त हो जाते हैं।

व्यवहारदृष्टि से सामायिक-साधना का लक्षण एवं फलितार्थ

व्यवहारदृष्टि से साधनात्मक सामायिक का अर्थ एक आचार्य ने यों किया है–सम का अर्थ है–"सावद्ययोग-परिहार (पापयुक्त मन-वचन-काय की प्रवृत्ति का त्याग) और निरवद्य (पापरहित) योगानुष्ठानरूप जीव का परिणाम। उसकी आय यानी लाभ (उपलब्धि) समाय है, वही सामायिक है।" एक आचार्य ने सामायिक

का लक्षण इस प्रकार किया है–"समस्त प्राणियों के प्रति समभाव, संयम, मैत्री आदि शुभ भावना और आर्त्त-रौद्रध्यान का परित्याग करना, यही है सामायिक व्रत।" 'अनुयोगद्वारसूत्र' में सामायिक-साधना का लक्षण इस प्रकार है–"जिसकी आत्मा संयम में, नियम में और तप में सुस्थिर रहे, उसी के सच्ची सामायिक होती है, ऐसा केवली भगवान ने कहा है।"

कई श्रावकों की समभाव की साधना इतनी सुदृढ़ होती है कि वे मरणान्त कष्ट आ पड़ने पर भी समभाव से विचलित नहीं होते, उनका धैर्य ध्वस्त नहीं होता। इसलिए 'आचारांगसूत्र' में कहा गया है–"वह न तो जीने की आकांक्षा करे और न ही शीघ्र मर जाने की आकांक्षा करे। समतायोगी साधक जीवन और मरण दोनों में ही किसी प्रकार की आसक्ति रखे, दोनों में सम रहे।"[1]

समतायोग का पूर्ण आदर्श : वीतरागता : क्या, क्यों, कैसे ?

जिस व्यक्ति में समत्व का विकास हो जाता है, उसमें सन्तुलन; तटस्थता और संयम, ये तीनों समत्व की अवस्थाएँ प्रकट होती हैं। कषायें उपशान्त या क्षीण करने पर समत्वचेतना जागती है। समतायोग का पूर्ण आदर्श वीतरागता है। सभी स्थितियों में राग-द्वेषरहित होकर समभाव रखना वीतरागता का संक्षिप्त अर्थ है। वस्तुतः वीतरागभाव या समभाव स्व-भाव का ही दूसरा रूप है। स्वयं को स्व-भाव में, स्व में या समभाव में रखना वीतरागता की साधना है। इस प्रकार की वीतरागतारूप उत्कृष्ट समतायोग (सामायिक) की साधना होती है। सिद्धान्त के अनुसार–जब दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय का क्षय, क्षयोपशम या उपशम होता है, तब समता की प्राप्ति होती है। समत्वभाव से आत्मा की स्वरूप में स्थिरता का विकास होता है तथा वीर्यान्तरायकर्म के क्षय या क्षयोपशम वीर्योल्लास की वृद्धि होती है। समत्वभाव में स्थिरीभाव को प्राप्त आत्मा क्षपक श्रेणी पर आरूढ़ होकर मुक्ति प्राप्त कर लेती है। ऐसी समता की प्रज्ञा जब जागती है तो साधक इसी प्रक्रिया से वीतरागभाव को प्राप्त करके सर्वकर्ममुक्तिरूप मोक्ष को प्राप्त करता है। इसीलिये समत्व के शिखर पर पहुँचे हुए साधक के लिए कहा गया है–**"समत्वदर्शी कोई भी पाप नहीं करता।"**

---

१. (क) समः सावद्ययोग परिहारः निरवद्य-योगानुष्टानरूप जीव-परिणामः।
तस्यायः लाभः समायः, समाय एव सामायिकम्॥

(ख) समता सर्वभूतेषु संयमः शुभभावनाः।
आर्त्त-रौद्र परित्यागस्तद्धि सामायिकं व्रतम्॥

(ग) जस्स सामाणिओ अप्पा, संजमे नियमे तवे।
तस्स सामाइयं होइ, इइ केवलिभासियं॥ —*अनुयोगद्वार १२७*

समत्वयोग की प्रज्ञा का जागरण

वीतरागता समत्वयोग का चरमबिन्दु है। इसे वही प्राप्त कर सकता है, जिसके सोलह कषाय और नौ नोकषाय पूर्णतया हो गए हों। पूर्ण समत्वभाव से ही वीतरागता की उपलब्धि होती है। वीतरागता प्राप्त होने पर ही सर्वकर्ममुक्ति तथा अक्षय-अव्यावाध सुख प्राप्त होते हैं। भगवान महावीर पर अपनी इस सामायिक साधना के दौरान अनेक कष्ट, संकट एवं घोर उपसर्ग आए, किन्तु उन्होंने समत्व की प्रज्ञा से सहिष्णु, अप्रमत्त और अन्तर्जागरूक वनकर वीतरागता प्राप्त की। इसी प्रकार समत्वयोग के महान् आराधक राजर्षि दमदन्त ने पत्थर खाकर, स्वयं को दीवार में चुना दिये जाने पर भी मुँह से आह तक नहीं निकाली। वीतरागतापूर्ण समत्व के आराधक गजसुकुमार मुनि ने माथे पर धधकते अंगारे रख दिये जाने पर भी समभावपूर्ण सहन किया और आचार्य स्कन्दक के पाँच सौ शिष्यों ने जीते जी तेल की घाणी में पिले जाने पर भी उफ तक नहीं किया। इन सब महान् आत्माओं ने समत्वचेतना का पूर्ण विकास कर लिया था।[1]

जिसमें क्षमता हो, उसमें ही समत्वचेतना का पूर्ण जागरण

सभी साधकों की भूमिका समत्व के पूर्ण शिखर (वीतरागता) पर पहुँचने की नहीं होती। पूर्वोक्त प्रकार की विशिष्ट समता का जागरण या विकास उसी साधक में संभव होता है, जिसमें क्षमता हो। जिसमें क्षमता नहीं होती, आत्म-विश्वास एवं अभय की वृत्ति नहीं होती, उसमें समता का विकास नहीं हो सकता और ऐसी क्षमता तभी प्राप्त होती है, जव मनुष्य के मन में आत्मा की ज्ञानादि शक्तियों पर दृढ़ श्रद्धा हो, आत्म-विश्वास हो, सत्य प्रकट करने और उस पर चलने में किसी प्रकार का भय, प्रलोभन या दवाव न हो। 'सूत्रकृतांगसूत्र' में स्पष्ट कहा है- "सामायिक (समतायोग) उसी को सिद्ध या उपलब्ध होता है, जो स्वयं को हर किसी भी भय से मुक्त रख पाता है।" जिसके मन में पद, प्रतिष्ठा, सत्ता, धन-सम्पत्ति, यशःकीर्ति, लौकिक स्वार्थ आदि के न रहने पर भी किसी प्रकार का हर्ष-विषाद न हो।

समता की इस प्रकार की क्षमता उसी साधक को प्राप्त हो सकती है, जिसमें प्रखर आत्म-विश्वास हो, समता के प्रति दृढ़ आस्था, श्रद्धा-भक्ति और दीर्घतर अभ्यास हो। जिस व्यक्ति में दीनता-हीनता की भावना होगी, आत्म-विश्वास की

---

१. (क) 'जैनसाधना : एक विश्लेषण' (डॉ. साध्वी मुक्तिप्रभा जी) से भाव ग्रहण, पृ. ४८

(ख) समत्तदंसी न करेइ पावं। *–आचारांग १/३/४*

(ग) 'महाजीवन की खोज' (महोपाध्याय मुनि चन्द्रप्रभ जी) से भाव ग्रहण, पृ. ८६

(घ) 'जैनयोग' से भाव ग्रहण, पृ. १०८

कमी होगी, समतायोग के प्रति श्रद्धा-भक्ति, आस्था नहीं होगी और समता का दीर्घकालिक अभ्यास नहीं होगा, वहाँ क्षमता नहीं होगी और क्षमता के बिना समता की उत्कृष्ट-साधना का विकास नहीं हो सकेगा।

चम्पानगरी के सुदर्शन सेठ को मिथ्या दोषारोपण के कारण शूली पर चढ़ा दिया गया था, किन्तु उसके चेहरे पर किसी प्रकार की चिन्ता-व्यथा या विषाद की रेखा नहीं थी। कुछ ही क्षणों बाद जब शूली सिंहासन के रूप में परिवर्तित हो गई, तब भी उसके चेहरे पर अहंकार या गर्व का भाव नहीं था, सहज प्रसन्नता थी। यह था—क्षमता के विकास के कारण समता की चेतना का पूर्ण जागरण का निदर्शन।

समतायोग का चतुर्थ रूप : क्रियात्मक व्यावहारिक समभाव

यह समतायोग का अन्तिम प्रकार है। परिवार, जाति, प्रान्त, धर्म-सम्प्रदाय, राष्ट्र, समाज और संघ आदि में जो समभाव का निष्पक्ष और उदार तथा भेदभावरहित व्यवहार किया जाता है, उसे क्रियात्मक व्यावहारिक समभाव कहा जाता है। सम्प्रदाय, परिवार, जाति, समाज, राष्ट्र, प्रान्त आदि क्षेत्रों में जब कभी स्नेह-सम्मेलन, प्रेम-मिलन या एक-दूसरे के उत्सवों, त्यौहारों, पर्वों या समारोहों आदि में सम्मिलित होने के रूप में दृष्टिगोचर होता है। परन्तु आजकल प्रायः ऐसे सक्रिय व्यावहारिक समभाव में औपचारिकता आ जाती है, प्रायः रीति पूरी की जाती है, अन्तर से समभाव की ऊष्मा प्रायः नहीं होती। उनके पीछे समभाव के साथ जो आत्मौपम्य एवं मैत्री आदि की आध्यात्मिक पृष्ठभूमि होनी चाहिए, वह नहीं होती। फिर भी यह सक्रिय व्यावहारिक समभाव कषायों एवं आर्त्त-रौद्रध्यान को मन्द करने में काफी सफल होता है।

सर्वांगीण समभाव ही समतायोग के पौधे को पुष्पित-फलित करने में सफल

पूर्वोक्त सभी प्रकार के समभावों को दीर्घकाल तक श्रद्धा-भक्तिपूर्वक जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में आचरित करने पर ही बीजारोपण से लेकर पुष्पित-फलित होने तक समतायोग सच्चे माने में पूर्ण हो सकता। ऐसे सर्वांगीण समभाव का साधक-आराधक ही समतायोगरूपी वृक्ष के मोक्षरूपी फल को प्राप्त करने में सफल होता है। जो समतायोगी साधक माली की तरह जाग्रत-अप्रमत्त और उत्साहित होकर समतायोगरूपी पौधे की प्रतिक्षण सुरक्षा, विकास, निगरानी एवं भावनाओं का ध्यान रखता है, वही एक दिन निःसन्देह मोक्षरूपी फल को प्राप्त कर सकता है।

● ●

४

मोक्ष से जोड़ने वाले : पंचविध योग

भवरोगनाशक मोक्षप्रापक योग का माहात्म्य

भारतीय धर्मों की जैन, बौद्ध और वैदिक तीनों धाराओं में 'योग' का अत्यधिक महत्त्व रहा है। मानव-जीवन के अन्तिम साध्य को प्राप्त करने के लिए योग को सभी आस्तिक दर्शनों ने उपादेय माना है। आध्यात्मिक विकास की परिपूर्णता, आत्म-स्वरूप में स्थिति, आत्मा के साथ लगे हुए कर्मबन्धनों से मुक्ति और मोक्ष, निर्वाण और अनन्त अव्याबाध सुख की प्राप्ति के जितने उपाय विविध धर्मों और दर्शनों ने बताये हैं, उनमें से अन्यतम विशिष्ट उपाय 'योग' है। योग प्राचीन आर्य जाति की अनुपम अध्यात्मविभूति है। इसके द्वारा अतीत में आर्य जाति ने आध्यात्मिक उत्कर्ष प्राप्त किया था। आध्यात्मिक विकास के शिखर पर आरूढ़ होने के लिए भारतीय ऋषि-मुनियों ने योग को ही सर्वश्रेष्ठ उपाय बताया था। सर्वकर्ममुक्ति की साधना के लिए, आत्मा पर आए हुए अज्ञान, अदर्शन, मोह, मिथ्यात्व और मूढ़ता तथा कुण्ठा के आवरणों को दूर करने के लिए तीर्थंकरों ने, ऋषि-मुनियों ने योग-साधना का ही आश्रय लिया था। इस पर से यह समझा जा सकता है कि कर्मविज्ञान की दृष्टि में, आत्मा के साथ लगे हुए कर्मों से आत्मा को मुक्त करने और आत्मा को परमात्मा से, मोक्ष से या केवलज्ञानादि से जोड़ने में 'योग' का कितना महत्त्व है? समभावी आचार्य हरिभद्रसूरि ने 'योग' का स्वरूप बताते हुए कहा है-"जिससे आत्मा की विशुद्धि होती है, कर्ममल नष्ट होता है और मोक्ष के साथ संयोग होता है, वह योग है।" उपाध्याय यशोविजय जी ने कहा-"मोक्ष के साथ संयोजना करने के कारण इसे योग कहा गया है।" 'ध्यानशतक' की वृत्ति में कहा गया है-"जिससे आत्मा केवलज्ञान आदि से, मोक्ष से जोड़ा जाता है, उसे योग कहते हैं।"

'भगवद्गीता' में योग का ही दूसरा नाम अध्यात्मविद्या या अध्यात्ममार्ग बताकर इसी अध्यात्मविद्या को सर्वविद्याओं में श्रेष्ठ बताया है। मोक्ष-प्राप्ति का निकटतम उपाय होने से समस्त मुमुक्षु आत्माओं के लिए 'योग' नितान्त उपादेय है। आचार्य हरिभद्रसूरि ने 'योगबिन्दु' में 'योग' का माहात्म्य बताते हुए कहा है-'योग के जो दो अक्षर हैं, उन्हें भलीभाँति श्रवण-मनन करके अगर विधि-विधानपूर्वक

आचरित किया जाय, जीवन जीया जाय, तो इससे पापकर्मों का क्षय होता है, ऐसा योग सिद्ध महात्माओं ने उच्च स्वर से गाया है। योग श्रेष्ठ कल्पवृक्ष है, वही परम चिन्तामणि रत्न है, सभी धर्मों में योग प्रधान धर्म है–आत्मा का परम धर्म है, सिद्धिरूप (सर्वकर्ममुक्तिरूप) मोक्ष का सुदृढ़ सोपान है। वास्तव में योग ही भयंकर भवभ्रमण के रोग के समूलनाश की रामबाण औषध है।[1]

मोक्ष से जोड़ने वाला योग ही यहाँ विवक्षित है

प्रस्तुत निबन्ध में कर्मों के आस्रव और बन्ध के कारणभूत त्रिविध योग का विवेचन करना अभीष्ट नहीं है। यहाँ समाधि अर्थ में तथा आत्मा की परम समाहित अवस्था–मोक्षावस्था तक पहुँचाने अथवा मोक्ष में संयोजन कराने–जोड़ने के अर्थ में योग का विवेचन करना अभीष्ट है। इस अपेक्षा से योग का फलितार्थ होता है–मोक्ष-प्राप्ति के जितने भी मुख्य और गौण, अन्तरंग अथवा बहिरंग, ज्ञानदृष्टि और आचारदृष्टि से अध्यात्मशास्त्रनिर्दिष्ट साधन हैं, जो साक्षात् या परम्परा से सर्वकर्मक्षयरूप मोक्ष से जोड़ने के उपाय हैं, उनका यथाविधि सम्यक् अनुष्ठान और उससे प्राप्त होने वाली आध्यात्मिक विकास की परिपूर्णता का नाम 'योग' है।

आचार्य हरिभद्रसूरि ने आगमों का मन्थन करके उनमें प्राप्त योगविषयक प्राचीन वर्णन शैली को अध्यात्मपिपासु एवं मुमुक्षु जनता के लाभार्थ परिस्थिति के अनुसार अपनी उदात्त एवं समन्वयात्मक शैली द्वारा योग का सुन्दर स्वरूप प्रस्तुत किया है।

योगबिन्दु में मोक्ष-प्राप्ति के अंतरंग-साधक पंचविध योग का महत्त्व

उनके द्वारा रचित योगविषयक प्रसिद्ध ग्रन्थ 'योगबिन्दु' में उन्होंने मोक्ष-प्राप्ति के अंतरंग-साधक धर्म-व्यापार को योग बताकर उसे पाँच रूपों में विभक्त किया है। वे पाँच रूप ये हैं–"(१) अध्यात्मयोग, (२) भावनायोग, (३) ध्यानयोग, (४) समतायोग, और (५) वृत्तिसंक्षययोग। उन्होंने मोक्ष के साथ संयोजन कराने,

---

१. (क) 'जैनागमों में अष्टांगयोग' से भावांश ग्रहण, पृ. १

(ख) मोक्खेण जोयणाओ जोगो। —*हरिभद्रसूरि*

(ग) युज्यते वाऽनेन केवलज्ञानादिना आत्मेति योगः। —*ध्यानशतक वृत्ति*

(घ) अध्यात्मविद्या विद्यानाम्। —*गीता १०/३२*

(ङ) अक्षरद्वयमप्येतच्छ्रूयमाणं विधानतः।
गीतं पापक्षयायोच्चैर्योगसिद्धैर्महात्मभिः॥४०॥
योगः कल्पतरुः श्रेष्ठो, योगश्चिन्तामणिः परः।
योगः प्रधानं धर्माणां, योगः सिद्धेः स्वयं ग्रहः॥३७॥ —*योगबिन्दु ४०, ३७*

जोड़ने के कारण इसे क्रमशः उत्तरोत्तर श्रेष्ठ योग कहा है।"[1] 'पातंजल योगदर्शन' में उक्त संप्रज्ञात और असंप्रज्ञात योग (समाधि) को उन्होंने इन पंचविध योगों में समाविष्ट कर दिया है।[2]

(१) अध्यात्मयोग

अध्यात्म शब्द का अर्थ और फलितार्थ

अध्यात्म शब्द का व्याकरणशास्त्र की दृष्टि से अर्थ होता है—"जो भी प्रवृत्ति या क्रिया अथवा अनुष्ठान हो, वह आत्मा को लक्ष्य में रखकर (अधिकृत करके) किया जाए, उसे अध्यात्म कहते हैं।"[3] 'अध्यात्मसार' में अध्यात्म का स्वरूप बताते हुए उपाध्याय यशोविजय जी कहते हैं—"जिसके मोह (मिथ्यात्व) का सामर्थ्य नष्ट हो चुका है, उनके द्वारा आत्मा को लक्ष्य करके जो भी शुद्ध क्रिया की जाती है, उसे जिनेश्वरों ने अध्यात्म कहा है।" इसका फलितार्थ यह है कि मोहनीय कर्म की प्रबलता से प्राप्त मिथ्यात्व की शक्ति जिसकी नष्ट हो चुकी है, जिन्हें सम्यक्त्व की प्राप्ति हो चुकी है। उसी सम्यक्त्व के प्रकाश में (सम्यक्त्व से लेकर १४वें गुणस्थान तक) जिसकी भोगाकांक्षा, स्पृहा, कषाय-नोकषाय, आसक्ति, स्पृहा आदि मोहजनित निरंकुश प्रवृत्ति शान्त, मन्द या क्षीण हो चुकी है, ऐसे व्यक्तियों द्वारा आत्मा के सहज स्वरूप एवं आत्म-शुद्धि (संवर-निर्जरा) को लक्ष्य में रखकर मैत्री आदि भावनापूर्वक जो भी व्रत, नियमादि, तप, जप, ध्यान, दान, शील आदि किया जाता है, उस सम्यग्ज्ञान-सत्क्रियारूप शुद्ध परिणाम को अध्यात्म कहा है।[4]

चतुर्थ गुणस्थान से चतुर्दशम् गुणस्थान तक उत्तरोत्तर शुद्ध अध्यात्म माना गया है

'अध्यात्मसार' के अनुसार—"निश्चयदृष्टि से तो अध्यात्म पंचम गुणस्थान से ही माना जाता है, क्योंकि पंचम गुणस्थान से ही मुमुक्षु शुद्ध ज्ञान तथा शुद्ध क्रिया (प्रत्याख्यान, त्याग, व्रत, नियमादि) से युक्त होता है, किन्तु व्यवहारनय की दृष्टि से (देव-गुरु की सेवा, धर्मश्रवणेच्छा, दान, विनय, वैयावृत्यादि क्रिया होती हैं, इस

---

१. अध्यात्मं भावना ध्यानं समता वृत्ति-संक्षयः।
मोक्षेण योजनाद्योगः, एष श्रेष्ठो यथोत्तरम्॥ *—योगबिन्दु, श्लो. ३१*

२. (मोक्षप्रापक) समिति-गुप्तिसाधारण धर्मव्यापारत्वमेव योगत्वम्।
—पातंजल योगदर्शन, सू. १/२ की वृत्ति, उपाध्याय यशोविजय जी

३. आत्मानमधिकृत्य यद् वर्तते तदध्यात्मकम्।

४ (क) गतमोहाधिकाराणामात्मानमधिकृत्य या।
प्रवर्तते क्रिया शुद्धा तदाध्यात्मं जगुर्जिनाः॥ *—अध्यात्मसार, प्र. १, अ. २/२*

(ख) 'अध्यात्मसार विवेचन' (संपादक—पं. मुनि श्री नेमिचन्द जी) से भाव ग्रहण

कारण) इससे पूर्व (चतुर्थ) गुणस्थान में भी उपचार से अध्यात्म माना जाता है।" "सम्यग्दर्शन-ज्ञानयुक्त क्रिया अपुनर्बन्धक नामक चतुर्थ गुणस्थान से प्रारम्भ होती है। अतः चौथे गुणस्थान से लेकर चौदहवें गुणस्थान तक क्रमशः उत्तरोत्तर जो विशुद्ध क्रियाएँ होती हैं, वे अध्यात्ममयी मानी गई हैं।" "जो साधक ऐसी अध्यात्ममयी क्रिया शान्त, दान्त, सदा गुप्तेन्द्रिय, विश्ववत्सल एवं दम्भरहित होकर करता है, वह उसके अध्यात्म-गुणों की वृद्धि के लिए होती है।"[1]

सम्यग्ज्ञानपूर्वक शुद्ध क्रियाएँ अध्यात्मरूप हैं

जिस गुणस्थान से जीव तीव्र (अनन्तानुबन्धी कषाय तथा मिथ्यात्व के) परिणामपूर्वक पुनः पापकर्मों का बन्धन नहीं करता, उसे अपुनर्बन्धक गुणस्थान कहते हैं। यह चतुर्थ अविरति सम्यग्दृष्टि नामक गुणस्थान है, जहाँ अनन्तानुबन्धी कषाय का उदय न होने से तीव्र पापकर्म का परिणाम नहीं होता। इस गुणस्थान से लेकर अयोगीकेवली नामक चौदहवें गुणस्थान तक उत्तरोत्तर क्रमशः शुद्धियुक्त क्रिया होती है, यानी चौथे से लेकर दसवें गुणस्थान तक उत्तरोत्तर कषायों का ह्रास होते संज्वलन लोभकषाय का भी क्षय हो जाता है तथा ग्यारहवें-बारहवें गुणस्थान में शुद्ध परिणामों से मोह क्रमशः शान्त और क्षीण हो जाता है। तेरहवें गुणस्थान की समाप्ति तक योगों की शुद्ध क्रिया रहती है। तात्पर्य यह है कि जैसे-जैसे कषायों का ह्रास और मोह का उपशम और क्षय होता जाता है, वैसे-वैसे परिणाम शुभ से शुभतर, शुभतम और अन्त में शुद्ध परिणामों से ज्ञान की निर्मलता और क्रिया (प्रवृत्ति) की बहुमानता से उत्तरोत्तर शुद्ध ज्ञानपूर्वक क्रिया होती है। उक्त सारी क्रियाओं को जिनेश्वरों ने अध्यात्ममयी—अध्यात्मरूप ही मानी है।[2] सम्यक्त्व नामक प्रथम गुणश्रेणी से लेकर अयोगीकेवली नामक ग्यारहवीं गुणश्रेणी तक उत्तरोत्तर असंख्यातगुणी निर्जरा होती है।

---

१. अपुनर्बन्धकाद्यावद् गुणस्थानं चतुर्दशम्।
क्रमशुद्धिमती तावत् क्रियाऽऽध्यात्ममयीमता॥४॥
तत्पंचमगुणस्थानादारभ्यैवेतदिच्छति।
निश्चयो व्यवहारस्तु पूर्वमप्युपचारतः॥१३॥
शान्तो दान्तः सदा गुप्तो मोक्षार्थी विश्ववत्सलः।
निर्दम्भां यां क्रियां कुर्यात् साऽध्यात्मगुणवृद्धये॥७॥

—अध्यात्मसार, प्र. १, अ. २, श्लो. ४, १३, ७

२. (क) 'अध्यात्मसार' (महामहोपाध्याय श्री यशोविजय जी) से भाव ग्रहण, प्र. १, अ. २, श्लो. ४, ८-१० की व्याख्या

(ख) सम्यग्दृष्टि-श्रावक-विरतानन्त-वियोजक-दर्शनमोह-क्षपकोपशमकोपशान्तमोह-क्षपक क्षीणमोह-जिनाः क्रमशोऽसंख्येयगुणनिर्जराः। *—तत्त्वार्थसूत्र, अ. ९, सू. ४७*

अध्यात्मयोग की क्रियान्विति कैसे हो ?

अध्यात्म की कोरी बातों से जीवन में अध्यात्म नहीं आ जाता, इसके लिए जीवन में पद-पद पर प्रत्येक क्रिया, प्रवृत्ति या चर्या में अध्यात्म की अनुभूति होनी चाहिए। अध्यात्म की अनुभूति आध्यात्मिक जीवन जीने से ही हो सकती है, उसके अभ्यास के लिए सम्यग्दृष्टि शम या सम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा और आस्था, इन पाँच तत्त्वों को जीवन में ताने-बाने की तरह बुनना आवश्यक है। अध्यात्म की वास्तविक अनुभूति के लिए तात्त्विक चिन्तन आवश्यक है। जैनदर्शन ने जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, बंध, निर्जरा और मोक्ष, ये नौ तत्त्व बताये हैं। इनमें जीव (आत्मा) तत्त्व मुख्य है, संवरतत्त्व द्वारा जीव कर्मों को आने से रोकता है, निर्जरा तत्त्व से पूर्वबद्ध या पूर्वसंचित कर्मों का क्षय, क्षयोपशम या उपशम अंशतः करता है और मोक्षतत्त्व से आत्मा कर्मों का सर्वथा क्षय करता है।

इसीलिए आचार्य हरिभद्र ने अध्यात्मयोग (अध्यात्म) का परिष्कृत लक्षण बताते हुए कहा है–"औचित्यपूर्वक = सम्यक्बोधिपूर्वक, व्रत-नियम-त्याग-प्रत्याख्यानादि से युक्त साधक के द्वारा आगमवचनों (या भगवद्वचनों) के अनुसार तत्त्वचिन्तन करने तथा मैत्री आदि भावनाओं से युक्त होने को अध्यात्मविदों ने अध्यात्म (अध्यात्मयोग) कहा है।"[1]

अध्यात्मयोग की इस परिभाषा के अनुसार यह स्पष्ट है कि औचित्य क्या है? अनौचित्य क्या है? इसका निर्णय तत्त्वों के चिन्तन से होता है। 'योगबिन्दु' में स्पष्ट कहा है–"औचित्यादि से युक्त तत्त्वचिन्तन अध्यात्म है।"[2]

जिस साधक में अध्यात्मयोग का अभ्यास परिपुष्ट हो जाता है, वह जीव और अजीव, चेतन और अचेतन (जड़), अपौद्गलिक और पौद्गलिक तथा शरीर और आत्मा नामक दो-दो तत्त्वों के चिन्तन पर से, तार्किक बुद्धि से, सम्यक् युक्ति, आगमिक सूक्ति और निजानुभूति से, सैद्धान्तिक चर्चाओं, समीक्षाओं, दर्शनशास्त्र के मार्मिक निर्णयों के आधार पर स्वयमेव औचित्य-अनौचित्य का ज्ञान, भान कर लेता है। इस अध्यात्मयोग के बल से इस प्रकार के तत्त्वचिन्तन के फलस्वरूप साधक को आत्मा और शरीर का अथवा चेतन और अचेतन (जड़) का गहन भेदज्ञान प्राप्त हो जाता है। अध्यात्मयोग का संक्षिप्त परिष्कृत अर्थ है–शुद्ध आत्मा के साथ सब ओर से सर्वतोमुखी संयोग। इसे ही अन्य दार्शनिक आत्म-साक्षात्कार

---

१. (क) जीवऽजीवा य बंधो य पुण्णं पावासवो तहा।
संवरो निज्जरा मोक्खो, संतेए तहिया नव॥ –उत्तरा. २८/१४

(ख) औचित्याद् व्रतयुक्तस्य वचनात्तत्त्वचिन्तनम्।
मैत्र्यादिभाव-संयुक्तमध्यात्मं तद्विदो विदुः॥ ***–योगबिन्दु ३५७***

२. तत्त्वचिन्तनमध्यात्ममौचित्यादियुतस्य च। ***–वही, गा. ३८० पूर्वार्द्ध***

कहते हैं। 'सूत्रकृतांगसूत्र' में अध्यात्मयोगी भिक्षु की अर्हता का स्पष्ट निर्देश करते हुए कहा गया है–"अज्झप्प-जोग-सुद्धादाणे उवट्ठिए ठियप्पा संखाए ...।" अर्थात् जिस साधक का चारित्र अध्यात्मयोग से शुद्ध है, जो स्वरूपरमणरूप चारित्र में सदा उद्यत रहता है और जो स्थितात्मा है, यानी अपने आत्म-भावों में स्थित है या स्थितप्रज्ञ है अथवा मोक्षमार्ग में जिसका चित्त स्थिर है तथा (सदैव सभी प्रवृत्तियों में आत्मा का ही भान (ध्यान) रखे अथवा शरीर और आत्मा दोनों के गुण, धर्म और स्वभाव का चिन्तन करे (वही सच्चे माने में अध्यात्मयोगी है)। 'प्रश्नव्याकरणसूत्र' में भी मुमुक्षु आत्मा को अध्यात्म-ध्यान से युक्त होने का स्पष्ट निर्देश किया गया है। इसी हेतु से आचार्य हरिभद्रसूरि ने सर्वप्रथम अध्यात्मयोग द्वारा मोक्ष के द्वार पर दस्तक देने की आवश्यकता बताई है। 'भगवद्‌गीता' में अध्यात्मयोगी का सक्रिय आचार-निर्देश किया गया है–"जिस मनुष्य की आत्मा में ही रति (प्रीति) है, जो आत्मा में ही तृप्त है तथा आत्मा में ही सन्तुष्ट है, उस (अध्यात्मयोगी) के लिए अन्य कोई भी कर्त्तव्य नहीं है।" 'प्रश्नव्याकरण' में जो अध्यात्म-ध्यानयुक्त होने का निर्देश अध्यात्मयोगी साधक के लिए किया गया है, उसकी व्याख्या भी यही की गई है कि प्रत्येक प्रवृत्ति में आत्मा को सामने रखकर आत्मावलम्बनरूप ध्यान से युक्त रहे, अर्थात् चित्त को आत्म-बाह्य परभावों-विभावों से जाने से रोके। मुमुक्षु साधक अध्यात्मयोग यानी आत्मा के साथ हरदम जुड़े रहने का ध्यान रखे, इसी दृष्टि से अभयदेवसूरि ने अध्यात्म-ध्यान से युक्त रहना ही अध्यात्मयोग का रहस्यार्थ बताया है।[१]

अमूर्त्त आत्मा से प्रत्येक प्रवृत्ति को कैसे जोड़ा जाए ?

अध्यात्मयोग का जब यह अर्थ स्वीकार किया जाता है, तब सहसा यह प्रश्न उपस्थित होता है कि आत्मा तो अमूर्त्त है, अरूपी है, निराकार है, वह तो इन इन्द्रियों से ग्राह्य नहीं है, तब फिर प्रत्येक प्रवृत्ति, चर्या या क्रिया में आत्मा के साथ योग कैसे किया जाए? उसका आलम्बन कैसे लिया जाए? क्योंकि हमारे जीवन का समग्र बाह्य वातावरण, सारा बाह्य रूप एवं सारा ही परिवेश जो मूर्त्त और दृश्यमान है, वह पौद्‌गलिक है, पर-भावों से सम्पृक्त है या विभावों से लिपटा हुआ है, हमारी आँखें, नाक, कान, अंगोपांग, शरीर, वाणी, मन, बुद्धि, चित्त आदि सब

१. (क) सूत्रकृतांगसूत्र, श्रु. १, अ. १६, सू. ४

(ख) सूत्रकृतांग अमरसुखबोधिनी व्याख्या, पृ. ९९१-९९२

(ग) अज्झप्पज्झाणजुत्ते (अध्यात्मध्यानयुक्तः)–अध्यात्मनि आत्मानमधिकृत्य आत्मावलम्बनं ध्यानं चित्तनिरोधस्तेनयुक्तः, इति व्याख्या। —*प्रश्नव्याकरण व्याख्या, ३ संवरद्वार*

(घ) यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते॥ —*भगवद्‌गीता, अ. ३, श्लो. १७*

पौद्गलिक हैं, हमारे समक्ष दृश्यमान समस्त रूपी पदार्थ पौद्गलिक हैं, फिर मुमुक्षु के पास ऐसा कौन-सा आधार या प्रमाण है कि जिसको लेकर वह कह सके, अनुभव या चिन्तन कर सके कि मैं प्रत्येक प्रवृत्ति या क्रिया करते समय आत्मा से ही उसे जोड़ता हूँ, उसी का आलम्बन लेता हूँ?

समाधान : आत्मा के शुद्ध निर्मल ज्ञान के प्रकाश में ज्ञाता-द्रष्टा बनकर रहूँ

इसका समाधान यह है कि आत्मा का मूल गुण ज्ञान है। वह आत्मा के साथ अभिन्नतापूर्वक प्रतिसमय रहता है, उस पर ज्ञानावरणीय कर्म का आवरण तथा दर्शनमोह-चारित्रमोह का आवरण चाहे जितना प्रगाढ़ हो, जब आत्मा मिथ्यात्व एवं अज्ञानान्धकार का आवरण छिन्न-भिन्न कर चतुर्थ गुणस्थान में आता है और वहाँ से ज्यों-ज्यों आगे बढ़ता है, त्यों-त्यों अज्ञान और मोह की गाँठें खुलती जाती हैं, सम्यग्ज्ञान का प्रकाश उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है, चारित्रमोह की गाँठ शिथिल होने से सम्यक्चारित्र की भी शक्ति उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है, तब अध्यात्मयोग के साधक की अन्तर्दृष्टि खुल जाती है। वह इस तथ्य को हृदयंगम कर लेता है कि मेरी जितनी भी प्रवृत्ति, चर्या या साधना है, वह सब आत्मा के विकास के लिए, आत्मा को आवरणों से, कर्मबन्ध से, मोहावरण से मुक्त करने के लिए है। शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, चित्त, अंगोपांग या आत्मा से भिन्न जितने भी पदार्थ हैं, वे सब आत्मा के विकास में, आध्यात्मिक जागरण में सहयोग या आत्म-हित में सदुपयोग के लिए हैं।

कषायादि या रागादि विभाव आत्मा के स्वभाव नहीं हैं, आत्मा का स्वभाव निष्कषाय, निर्मोह एवं वीतरागता है, तब फिर मैं शरीरादि पौद्गलिक पदार्थों का उपयोग करूँ उस समय केवल ज्ञाता-द्रष्टा बनकर रहूँ, इनमें मैं और मेरापन तथा इन पर, इन्द्रियों के विषयों पर मन के पर-भावों या विभावों से जुड़ने के अवसर पर आसक्ति, राग, मोह न रखूँ। व्यक्तियों, परिस्थितियों, विषयों या पदार्थों के प्रति अच्छे-बुरे, मनोज्ञ-अमनोज्ञ, प्रिय-अप्रिय, अनुकूल-प्रतिकूल आदि की छाप न लगाऊँ, मन को उन पदार्थों से न जोड़ूँ। मन आदि को आत्मा (शुद्ध आत्मा) के साथ जोड़ूँ।" साथ ही यह तत्त्वचिन्तन भी करूँ–मैं न शरीर हूँ, न मन हूँ, न इन्द्रिय हूँ; शरीरादि मूर्त्त हैं, नाशवान् हैं, अचेतन (अजीव) हैं, जबकि आत्मा अमूर्त्त है, सचेतन है, नित्य है, ज्ञानवान् है। पर-पदार्थ जितने भी हैं, वे भी नाशवान् हैं, मूर्त्त हैं, अचेतन हैं, दूसरे व्यक्ति भी, परिस्थिति भी क्षणभंगुर हैं, मेरी नहीं है, यदि ये पदार्थ, परिस्थिति या व्यक्ति मेरे होते तो मेरे साथ सदैव रहते, इनका नाश या परिवर्तन न होता। परन्तु ऐसा नहीं होता, शरीरादि या पदार्थ, व्यक्ति, सभी यहीं रह जाते हैं, आत्मा इन्हें छोड़कर चली जाती है। इस प्रकार अध्यात्मयोगी का

तात्त्विक चिन्तन भेदविज्ञान और सक्रिय पुरुषार्थ तथा आत्मा और अनात्मा, पौद्गलिक-अपौद्गलिक के विषय में शास्त्रों से, वीतराग पुरुषों के वचनों से, शास्त्रज्ञ महान् आत्माओं के उपदेश से या स्वाध्याय से भी इनके यथातथ्य का ज्ञान-भान हो जाता है। स्वानुभव भी साक्षीभूत होता है। इन सब कारणों से अध्यात्मयोगी सदैव ज्ञाता-द्रष्टा बनकर, राग-द्वेष से मुक्त होकर रहने का सतत अभ्यासी होता है। वह वर्तमान में जीता है, वीतरागभाव की ओर उसकी गति-प्रगति होती है। उसे अपने और पदार्थ के, व्यक्ति और परिस्थिति के अपनी आत्मा से भिन्न होने का स्पष्ट भान रहता है। पदार्थों, व्यक्तियों या परिस्थितियों के संयोग-वियोग में वह मध्यस्थ रहता है। वह न इष्ट-संयोग–अनिष्ट-वियोग में खुश होता है और न ही इष्ट-वियोग–अनिष्ट-संयोग में नाखुश होता है। अहंत्व-ममत्व से दूर रहता है।

अध्यात्मयोगी इसके अभ्यास का प्रारम्भ कहाँ से करे ?

आचार्य हरिभद्र ने अध्यात्मयोगी के लिए प्रारम्भिक भूमिका में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र एवं बाह्याभ्यन्तर तप में पुरुषार्थ करने का संकेत है। साथ ही मैत्री आदि चार भावनाओं द्वारा विभावों से होने वाले कर्मों के आस्रवों का निरोध करने का अभ्यास बताया है। आशय यह है कि प्रत्येक प्राणी को आत्मवत् भावना से देखने वाला अध्यात्मयोगी साधक मैत्रीभावना से सुखी जीवों के प्रति होने वाली ईर्ष्या का त्याग करता है, करुणा से दीन-दुःखी जीवों के प्रति उपेक्षा नहीं करता, मुदिताभावना से पुण्यशाली या गुणी जीवों के प्रति उसका द्वेषभाव मिट जाता है, उपेक्षा (माध्यस्थ्य) भावना से वह पापी, विपरीत वृत्ति-प्रवृत्ति वाले जीवों के प्रति राग और द्वेष दोनों को हटा लेता है। मतलब यह है कि इन चारों भावनाओं से अध्यात्मयोगी में ईर्ष्या का नाश, दया का संचार और राग-द्वेष से निवृत्ति सम्पन्न होती है। अध्यात्म के साथ योग का उपाय उपाध्याय यशोविजय जी ने ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचार; इन पाँचों में निहित होना बताया है।[१]

अध्यात्मयोग का ज्ञान क्यों आवश्यक है ?

संसार में जड़ और चेतन ये दो तत्त्व प्रमुख हैं। इन दोनों तत्त्वों को, इनके स्वरूप को भलीभाँति जाने बिना अध्यात्म तत्त्वज्ञान अधूरा रह जाता है। उनका

---

१. (क) 'जैनागमों में अष्टांगयोग' से भाव ग्रहण, पृ. १५

(ख) सुखीर्ष्यां दुःखितोपेक्षां पुण्य द्वेषमधर्मिषु।
रागद्वेषौ त्यजेन्नेतां लब्ध्वाऽध्यात्मं समाचेरत्॥ —*योगबिन्दु ७*

(ग) 'अध्यात्म उपनिषद्, अ. १, श्लो. २

यथायोग्य निरूपण तथा अनेकान्तदृष्टि से हेय-उपादेय का ज्ञान अध्यात्मयोग से ही हो सकता है।

कर्मविज्ञान की दृष्टि से जब हम इस तत्त्व पर चिन्तन करते हैं, हमारे समक्ष आत्मा के साथ संयोग-वियोगजन्य निम्नोक्त छह प्रश्न उपस्थित होते हैं, जिनका समाधान कर्मविज्ञान इस प्रकार करता है-(१) आत्मा है, (२) आत्मा सुख-दुःख (कर्मों) का कर्त्ता है, (३) वही सुख-दुःखद कर्मों का भोक्ता है, (४) आत्मा परिणामिनित्य होने से नित्य भी है, कर्मों के जड़-बन्धनों से युक्त होने से विभिन्न गतियों में गमन करने के कारण अनित्य भी है, (५) जड़ कर्मों के बन्धनों से मुक्त होने का उपाय भी है, और (६) कर्मबन्धों से सर्वथा मुक्त भी है, वह मोक्ष भी प्राप्त करता है।

इन छह तथ्यों के परिप्रेक्ष्य में यह चिन्तन भी होता है-कर्मों का संयोग आत्मा को किन कारणों से होता है? यह संयोग अनादि है या सादि? यदि अनादि है तो उसका विच्छेद कैसे हो सकता है? कर्म का स्वरूप कैसा है? कर्मबन्ध के कितने और कैसे-कैसे प्रकार हैं? उनके भेद-प्रभेद कौन-कौन-से हैं? किन कारणों से कौन-से कर्म का बन्ध होता है? क्या कर्म बँधने के बाद तुरंत फल मिल जाता है या बाद में? क्या बद्धकर्मों के फल में परिवर्तन या संक्रमण भी किया जा सकता है? किस-किस गुणस्थान में कर्मों की कितनी प्रकृतियों का बन्ध, उदय और सत्त्व (सत्ता) है? कर्मों का बन्धादि नियमबद्ध है या अनियमित? वर्तमान में आत्मा किस स्थिति में है? वह अपनी मूल स्वरूप स्थिति को पा सकती है या नहीं? पा सकती है तो किन-किन उपायों से? इत्यादि प्रश्नों का समाधान पाने के लिए अध्यात्मयोग का ज्ञान और अनुभव नितान्त आवश्यक है।

अध्यात्मयोग की फलश्रुति

'योग, प्रयोग और अयोग' में अध्यात्मयोग की फलश्रुति बताते हुए कहा गया है-"जिस साधक ने अध्यात्मयोग साध्य कर लिया है, वही आत्मा ज्ञाता-द्रष्टा है। उसी आत्मा को आत्म-ज्ञान उपलब्ध हो जाता है। उस भूमिका पर पहुँचने पर उसे यह स्पष्ट अनुभव या भेदविज्ञान हो जाता है कि मैं शरीर नहीं हूँ, मैं पुद्गलरूपी या मूर्त्त नहीं हूँ। यह अध्यात्मयोग की ही भूमिका हो सकती है।" चिन्तन की जो पहले विक्षिप्त अवस्था थी, (इस भूमिका पर आरूढ़ होने पर) उसमें परिवर्तन आ जाता है। उसकी समस्त भ्रान्तियाँ नष्ट हो जाती हैं और वह स्पष्ट अनुभव करने लगता है-मैं शरीर नहीं हूँ। आज तक जो भ्रम था कि मैं और शरीर एक हैं। जहाँ मैं हूँ, वहाँ शरीर है; जहाँ शरीर है, वहाँ मैं हूँ; किन्तु अध्यात्मयोग के अभ्यास से

वह भ्रम मिट गया, वह ज्ञान प्रगट हो गया तथा स्पष्ट प्रतीत हो गया कि "शरीर अन्य है, मैं अन्य हूँ।"

मनुष्य का सर्वाधिक मोह शरीर पर होता है। शरीर साधन है, पर इसे ही साध्य या सब कुछ मानकर कार्य किया जाता है। जब तक यह ममत्व बुद्धि छाई रहती है, अहंकार-ममकार समाप्त नहीं होता, वासना का तूफान शान्त नहीं होता, भोगलालसाएँ भभकती रहती हैं, कामनाएँ नानारूप धारण करके चित्त में उमड़-घुमड़कर आती हैं, इन पर इतना तीव्र प्रहार होना चाहिए कि मोह शान्त या छिन्न-भिन्न हो जाए। ऐसी स्थिति में अध्यात्मयोग की तत्त्वज्ञानपूर्वक साधना से यह सारी मूर्च्छा जब विलीन हो जाती है, शरीर और आत्मा के भेद की सारी दीवारें ढह जाती हैं, तब यह स्पष्ट बोध हो जाता है कि 'मैं शरीर नहीं हूँ।' इस बोध के साथ-साथ सारी परिस्थितियाँ भी बदल जाती हैं। मूर्च्छा का घना कोहरा छँट जाता है, अन्धकार के बादल बिखर जाते हैं। वह अनासक्त बनकर समत्व में प्रतिष्ठित हो जाता है। उसका मार्ग प्रशस्त हो जाता है। मोह की गाँठ छिन्न-भिन्न होते ही शरीर और आत्मा की भिन्नता स्पष्ट प्रतीत हो जाती है। चैतन्य के शुद्ध स्वरूप का बोध हो जाता है, तब वह यह स्पष्ट जान लेता है कि मैं कौन हूँ? मेरी ऐसी स्थिति क्यों और कैसे हुई? मुझे अब कहाँ जाना है? क्या करना है? इत्यादि। जब शरीर के प्रति ममत्व नहीं रहेगा, तब उसे पदार्थों के प्रति भी उसका राग-द्वेष उपशान्त या क्षीण होने लगेगा। ऐसे साधक ही अध्यात्मयोग की साधना में स्थिर होकर मोक्ष के निकट पहुँच जाते हैं।

स्व. आचार्य श्री आत्माराम जी महाराज के अनुसार–अध्यात्मयोग के स्वरूप को समझकर उसे आत्मसात् करने पर व्यक्ति जो भी प्रवृत्ति, चर्या या साधना करता है, तब उसके पूर्वबद्ध कर्मों का क्षय शीघ्रता से होने लगता है, नये कर्म बँधने से रुक जाते हैं, पापकर्मों का नाश भी सम्यग्दर्शनादि चारों मोक्षोपायों की साधना करने से हो जाता है। उसकी आत्म-शक्तियाँ प्रगट होने लगती हैं। 'योगभेद द्वात्रिंशिका' में कहा गया है कि "अध्यात्मयोग के स्वरूप को समझकर उसे हृदयंगम कर लेने पर साधक के पापों का क्षय, वीर्य (शक्ति) का उल्लास, चित्त में प्रसन्नता, वस्तुतत्त्व का सम्यक् बोध और अनुभवों में वृद्धि होने लगती है।" यही मोक्ष से जोड़ने की अध्यात्मयोग की फलश्रुति है।[1]

---

१. (क) 'योग-प्रयोग-अयोग' से साभार भाव ग्रहण, पृ. १९०

(ख) 'जैनागमों में अष्टांगयोग' (स्व. आचार्य श्री आत्माराम जी) से भाव ग्रहण, पृ. १५

(ग) अतः पापक्षयः सत्त्वं शीलं ज्ञानं च शाश्वतम्।
तथानुभव-संसिद्धममृतं ह्यद एव नु॥

–योगभेद द्वात्रिंशिका (उपाध्याय यशोविजय जी) ३०/८

(२) भावनायोग

भावनायोग क्या है ?

कर्मपुद्गलों के जड़-बन्धनों से मुक्त होने के परम उपायभूत अध्यात्मयोग का वर्णन करने के अनन्तर भावनायोग का निरूपण इसलिए किया गया है कि अध्यात्मयोग मोक्ष-प्राप्ति का बीजारोपण है तो भावनायोग उस बीज को बार-बार सिंचन करके अंकुरित करना है। भावनायोग का संक्षिप्त निर्वचन 'योगभेद द्वात्रिंशिका' में इस प्रकार किया गया है–"**अभ्यासोऽस्य बुद्धिमतो, भावना बुद्धिसंगतः।**" (अध्यात्मयोग से प्राप्त हुए) अध्यात्म-तत्त्व का बुद्धिसंगत = विचारपूर्वक (तदनुचिन्तनात्मक) बार-बार अभ्यास करने का नाम भावनायोग है।[1]

अध्यात्म-तत्त्व को चित्त में स्थिर करने के लिए भावनायोग आवश्यक

जिस प्रकार सतत अभ्यास और निरन्तर चिन्तन-स्मरण से ही समझा हुआ पदार्थ चित्त में स्थिर रह सकता है, उसी प्रकार अध्यात्म-तत्त्व को हृदय-मन्दिर में स्थिर करने के लिए भावना द्वारा उसका दीर्घकाल तक निरन्तर सत्कारपूर्वक चिन्तन करना परम आवश्यक है। इस प्रकार के सतत चिन्तन में अवलम्बनरूप हैं ये विविध भावनाएँ। इसलिए अध्यात्मयोग को चित्तभूमि में दीर्घकाल तक स्थिर करना भावनायोग पर निर्भर है। 'पातंजल योगदर्शन' में इसी तथ्य को अनावृत करने के लिए एक सूत्र है–"**स तु दीर्घकाल-नैरन्तर्य-सत्कारासेवितो दृढ़भूमिः।**" अर्थात् वह (अध्यात्म) योग दीर्घकाल तक निरन्तर नियमित रूप से अत्यन्त आदर एवं श्रद्धाभक्तिपूर्वक सेवन करने = अभ्यास करने से चित्त में दृढ़तापूर्वक स्थिर हो जाता है। बुद्धिसंगत चिन्तनरूप भावना के स्वरूप में भी चिन्तन के साथ ये तीन विशेषण इसी उद्देश्य से दिये गए हैं कि यह आत्मा अनादिकाल से कषाय-नोकषाय, राग-द्वेष-मोहादि वैभाविक संस्कारों = कर्मजन्य उपाधियों से ओतप्रोत हो रही है। इन वैभाविक संस्कारों का क्षय, उपशम या क्षयोपशम हुए बिना आत्मा आध्यात्मिक विकास की ओर या अपने शुद्ध स्वरूप में स्थिति (मुक्ति) की ओर गति-प्रगति कर नहीं सकती और इन वैभाविक संस्कारों का क्षय, उपशम या क्षयोपशम भी आत्मा के स्वाभाविक ज्ञानादि गुणों के प्रकट होने से ही हो सकता है। आत्मा के निजी गुणों (ज्ञान, दर्शन, शक्ति और आनन्द) का प्रकटीकरण या विकास अध्यात्मयोग की अपेक्षा रखता है। किन्तु उन आत्मिक-गुणों का विकास या प्रकटीकरण अध्यात्मयोग से होने पर, दूसरे शब्दों में–अध्यात्मयोग के प्रभाव से उन वैभाविक संस्कारों विलय, क्षयोपशम या उपशम हो जाने पर पुनः-पुनः उक्त वैभाविक संस्कारों का

---

१. (क) 'जैनागमों में अष्टांगयोग' से भाव ग्रहण, पृ. १६

(ख) 'योगभेद द्वात्रिंशिका' (उपाध्याय यशोविजय जी) से भाव ग्रहण, श्लो. ९

प्रादुर्भाव न होने पाए, इस अपेक्षा से उसका दीर्घकाल तक निरन्तर और सत्कार के साथ बार-बार चिन्तन करना परम आवश्यक है और यह भी निःसन्देह कहा जा सकता है कि श्रद्धापूर्वक लगन से उत्साहपूर्वक आदर-सत्कार और विनय बहुमान के साथ किया जाने वाला कार्य अवश्य ही सफल होता है। यही कारण है कि यही बात महर्षि पतंजलि ने समाधि-प्राप्ति हेतु साधनरूप अभ्यास के सन्दर्भ में कही है।[१]

भावनायोग के दो छोर : अध्यात्मयोग और ध्यानयोग

यह सत्य है कि जिस विषय का बार-बार अनुचिन्तन, अनुप्रेक्षण, अनुशीलन किया जाता है, जिस प्रवृत्ति का बार-बार अभ्यास किया जाता है, मन में उसके दृढ़ संस्कार जम जाते हैं। अतएव उस दृढ़ संस्कार को अथवा चिन्तन की दृढ़ मनोभूमि को भावनायोग कहा जाता है।

इस दृष्टि से यह कहें तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी कि भावनायोग अध्यात्मयोग से प्राप्त अध्यात्म-संस्कारों को उत्तरोत्तर परिपक्व और सुदृढ़ करने वाला है और दूसरी ओर ध्यानयोग की पूर्व भूमिका तैयार करता है। आचार्य हेमचन्द्र ने मैत्री आदि चार भावनाओं का वर्णन ध्यान के स्वरूप के दौरान करते हुए "भावनाओं (भावनायोग) को टूटे हुए ध्यान को पुनः ध्यानान्तर के साथ जोड़ने वाली अथवा ध्यान को पुष्ट करने वाली रसायन कहा है।"[२] अतः भावनायोग का एक छोर है–अध्यात्मयोग और दूसरा छोर है–ध्यानयोग। अध्यात्मयोग के द्वारा अध्यात्म-तत्त्व की साधना के साथ जब भावनायोग जुड़ जाता है तो अध्यात्मयोगी निरन्तर विकास करता हुआ अध्यात्मभूमि को परिपक्व एवं सुदृढ़ कर लेता है, वह भेदविज्ञान को शीघ्र ही हृदयंगम कर पाता है, विवेकचेतना को सतत जाग्रत रखने में समर्थ हो जाता है और अप्रमत्तयोगी बन सकता है। यह तो भावनायोग के विकास की प्राथमिक भूमिका है।

भावनायोग का दूसरा छोर है–ध्यानयोग। जैसा कि भावना का लक्षण आचार्य हेमचन्द्र ने किया है–ध्यान की समाप्ति होने के पश्चात् मन की मूर्च्छा को तोड़ने वाले विषयों का अनुचिन्तन बार-बार करना भावना है। अतः भावनायोग को ध्यानयोग का सहायक या पूरक कहा जा सकता है।

भावनायोग का मुमुक्षुजीवन में सर्वाधिक महत्त्व

योग का अर्थ होता है–जोड़ना। अतः भावनायोग का अर्थ हुआ आत्म-विकासलक्षी भावनाओं द्वारा आत्मा को आत्मा से जोड़ना, आत्मा के द्वारा

---

१. (क) पातंजल योगदर्शन, भोजवृत्ति, १/१४ सू.

(ख) 'जैनागमों में अष्टांगयोग' से भाव ग्रहण, पृ. १७

२. 'योगशास्त्र' (आचार्य हेमचन्द्र) से भाव ग्रहण, प्र. ४, श्लो. ११

आत्मा में रमण करना। यही भावनायोग का विषय है। भावनाओं के आलम्बन से भावनायोग द्वारा आत्मा और परमात्मा का संयोग हो जाता है।

भावनायोग : संसार-समुद्र का अन्त कराने वाला

'सूत्रकृतांगसूत्र' में भावनायोग का महत्त्व बताते हुए कहा गया है–भावनायोग से जिसकी आत्मा शुद्ध हो गई है, वह साधक जल में नौका के समान है। जिस प्रकार किनारे लगने पर नौका का विश्राय मिलता है, उसी प्रकार भावनायोग के साधक को भी संसार-समुद्र के किनारे लगते ही (सर्वकर्मों से मुक्त होते ही या जन्म-मरणरूप संसार से मुक्त होते ही) समस्त दुःखों से छुटकारा मिलकर परम शान्ति का लाभ होता है। इसीलिए कहा गया है–"**भावना भवनाशिनी।**"[1] वस्तुतः भावना संसार-समुद्र का अन्त कराने वाली है।

'उत्तराध्ययनसूत्र' में कहा गया है–"शरीर नौका है, जीव (आत्मा) नाविक है और संसार (जन्म-मरणरूप चतुर्गतिक संसार) समुद्र कहा गया है, जिसे महर्षिगण पार कर जाते हैं।"[2]

'उत्तराध्ययनसूत्र' की पूर्वोक्त गाथा में शरीर को नौका कहा गया है, जबकि 'सूत्रकृतांगसूत्र' में भावनायोग को जल में नौका की उपमा दी गई है। इन दोनों पाठों की संगति इस प्रकार बिठानी चाहिए। मन, बुद्धि, चित्त और हृदय आदि अन्तःकरण भी तो शरीर के ही अन्तर्गत हैं, उसी के अभिन्न अंग हैं। शरीर के रहते ये रहते हैं, शरीर के नष्ट होते ही ये भी नष्ट हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में जिस महर्षि (जीवरूपी) नाविक के पास जल में (संसार-समुद्र में) शरीररूपी नौका के साथ अन्तःकरण में भावनायोगरूपी आन्तरिक निश्छिद्र नौका होगी, वही महर्षि संसार-समुद्र को पार करके सर्वकर्ममुक्तिरूप मोक्ष के तट पर पहुँच पाएगा और सर्वदुःखों (कर्मबन्धनों) से मुक्त हो जाएगा। यह है भावनायोग का माहात्म्य !

भावना का स्वरूप, महत्त्व और विविध अंग

उत्तराध्ययन, भगवतीसूत्र, सूत्रकृतांग, आचारांग आदि शास्त्रों में भावनाओं का बहुत बड़ा महत्त्व बताया गया है। जैनागमों में जहाँ-जहाँ किसी श्रमण निर्ग्रन्थ के दीक्षित होने के पश्चात् उसकी जीवनचर्या का वर्णन आता है, वहाँ प्रायः यह

---

१. (क) भावणाजोग-सुद्धप्पा, जले णावा व आहिया।
णावा व तीर-संपन्ना सव्व-दुक्खा तिउट्टइ॥ *–सूत्रकृतांग, श्रु. १, अ. १५, गा. ५*
(ख) 'जैनागमों में अष्टांगयोग' से भावांश ग्रहण, पृ. १६

२. सरीरमाहु नावत्ति, जीवो वुच्चइ नाविओ।
संसारो अण्णवो वुत्तो, जं तरंति महेसिणो॥ *–उत्तराध्ययन २३/७३*

पाठ मिलता है–"संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरइ।"–संयम और तप से अपनी आत्मा को भावित (वासित) करता हुआ विचरण करता है। कोई भी अध्यात्म-जीवन विकासक शब्द अन्तःकरण द्वारा बार-बार विचारों में आप्लावित किया जाता है, अर्थात् चिन्तनचक्र पर चढ़ाया जाता है, तब वही विचार भावना का रूप ले लेता है। इसीलिए 'आवश्यकसूत्र' की हारिभद्रीय टीका में भावना का परिमार्जित अर्थ बताया गया है–जिसके द्वारा मन (अन्तःकरण) को भावित किया जाए, उसे भावना कहते हैं। इसी भावित करने का अर्थ भी वासित करना कहा गया है। भावना को आचार्य मलयगिरि ने 'परिक्रम' भी कहा है, जिसका अर्थ भी वही होता है–विचारों का बार-बार परिक्रमण करना, अर्थात् निर्धारित विचारों के चारों ओर चक्कर लगाना, भावना से बराबर भावित करना।[१] आगमों में कहीं-कहीं तथा तत्त्वार्थसूत्र में अनित्य, अशरण आदि बारह भावनाओं को अनुप्रेक्षा भी कहा गया है। शुभ ध्यान के प्रकरण में स्थानांगसूत्र आदि में चार-चार अनुप्रेक्षाएँ बताई गई हैं। बारह अनुप्रेक्षाओं, मैत्री आदि चार भावनाओं के स्वरूप, प्रकार, कार्य, पद्धति, प्रयोग और परिणामों तथा उपलब्धियों के विषय में विस्तृत रूप से छह निबन्धों में वर्णन कर चुके हैं, इसलिए यहाँ पिष्टपेषण करना उचित नहीं होगा।[२] भगवतीसूत्र आदि आगमों में भावनायोग के सम्बन्ध में विस्तृत एवं गम्भीर चिन्तन मिलता है। 'भगवतीसूत्र' में भावितात्मा की आध्यात्मिक शक्तियों, भौतिक सामर्थ्यों और उपलब्धियों का व्यवस्थित एवं युक्तिसंगत चिन्तन मिलता है।[३]

भावनाओं की ऊर्जा शक्ति का माप

वर्तमान मनोविज्ञानशास्त्रियों ने भावनाओं की ऊर्जा शक्ति का माप भी निकाला है। सामान्य रूप से भावों का कम्पन प्रति सेकंड पाँच हजार धारा की आवृत्तियों को प्रेषित कर लेता है। उसका अत्यन्त उत्कृष्टतापूर्वक प्रेषण २,५०० चक्र प्रति सेकंड की आवृत्ति का है। भावना की गति तो इससे भी तीव्र है। जो भी हो, भावना के सातत्य की लहरें बनकर आकाश-मण्डल में फैलती हैं और वहाँ से अपनी सजातीय भावनाओं को लेकर लौटती हैं। दूर विचार प्रेषण उपलब्धि तीव्र भावना का ही प्रयोग है।[४]

---

१. (क) आवश्यकसूत्र हारि. वृत्ति ४
   (ख) अभिधान राजेन्द्र कोष, भा. ५, पृ. १५०५

२. देखें–भावना के विशेष महत्त्व, स्वरूप, प्रकार, परिणाम आदि के विस्तृत वर्णन के लिए कर्मविज्ञान, भा. ६, निबन्ध ११-१७

३. देखें–भावितात्मा अनगार के समुद्घात, वैक्रिय शक्ति, भौतिक, आध्यात्मिक क्षमता आदि के लिए भगवतीसूत्र, श. ३, उ. ४-६

४. 'योग-प्रयोग-अयोग' से भावांश ग्रहण, पृ. १९६

भावनायोग के मुख्य विषय और उनका सुपरिणाम

अध्यात्मयोगी के लिए ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, संयम और वैराग्य ये छह मुख्य विषय भावना के हैं। इनकी भावना निरन्तर करने से वैभाविक संस्कारों का विलय, क्षयोपशम या उपशम, अध्यात्म-तत्त्व की अन्तःकरण में स्थिरता और आत्म-गुणों का प्रकटीकरण एवं विकास होता है।[1]

भावनायोग की उपलब्धि के मुख्य तीन पहलू

भावनायोग की उपलब्धि के मुख्य तीन पहलू हैं—सम, संवेग और निर्वेद। संयोग-वियोग, भवन-वन, दुःख-सुख, शत्रु-मित्र, जीवन-मरण, निन्दा-प्रशंसा आदि द्वन्द्वोंसम है, उसकी उपलब्धि, मैत्री आदि चार भावनाओं के अनुशीलन से, मनन-चिन्तन से सम्यग्दृष्टि प्राप्त होती है। संवेग से सर्वकर्ममुक्तिरूप मोक्ष की तीव्र अभिलाषा जाग्रत होती है, तदनुसार उससे सम्बन्धित सम्यग्ज्ञान प्राप्त होता है, इसके चिन्तन का आधार बनती हैं, अनित्य आदि १२ अनुप्रेक्षाएँ = भावनाएँ और निर्वेद (पर-पदार्थों से विरक्ति) से प्राप्त होता है—सम्यक्चारित्र, जिसके चिन्तन का विषय है—पाँच महाव्रतों की २५ भावनाएँ। दूसरे शब्दों में कहें तो भावना का जन्म समभाव से, विकास संवेग से और स्थायित्व निर्वेद से होता है। निश्चयदृष्टि से भावनायोग से पहले वस्तु के प्रति समभाव, फिर स्वरूपबोध और अन्त में स्वरूपोपलब्धि होती है।

भावनायोग की सिद्धि के लिए तीन भावनाएँ आवश्यक : क्यों और कैसे ?

(१) **समभावना**—पहली भावना को **समभावना** संज्ञा देकर मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ्य भावनाओं की साधना चलती है। इन चार भावनाओं का विशिष्ट सम्बन्ध प्राणिमात्र में शुद्ध आत्म-दर्शन को पुष्ट करना माना जाए तो मैत्री आदि भावनाएँ दर्शन-विशुद्धि की भावनाएँ हैं, जो समभावना की प्रतीक हैं। साधना की दृष्टि से इसी समभावना के दो भेद किये गये हैं—योगभावना और जिनकल्पभावना। योगभावना में मैत्री आदि चार भावनाएँ हैं तथा जिनकल्पभावना में 'बृहत्कल्पभाष्य' के अनुसार तप, सत्त्व, सूत्र, एकत्व तथा बल इत्यादि भावनाएँ हैं, जिनसे जिनकल्पी साधक को भावित होना अनिवार्य है। सीमातीत धैर्य, बल, दुःख आने पर ध्रुवता का आचरण करना जिनकल्पी योगियों के लिए आवश्यक है। 'विशेषावश्यकभाष्य' में जिनकल्पी का लक्षण दिया है—जो वज्रऋषभनाराच, संहनन वाला, नवपूर्वज्ञाता, परीषह-उपसर्ग-सहिष्णु हो।[2] अतः पूर्वोक्त तथ्य के अनुसार जिनकल्पीयोगी प्रत्येक कष्ट को सहन करने में सक्षम होते हैं।

---

१. **'जैनागमों में अष्टांगयोग' से भाव ग्रहण, पृ. १७**

२. **विशेषावश्यकभाष्य भाषान्तर, भा. १, पृ. १२**

(२) **संवेगभावना**–मोक्ष के प्रति रुचि जगाने में, उत्साह और साहस में वृद्धि करने और अध्यात्म का सम्यग्ज्ञान देने में संवेगभावना उपयोगी है। इनके अन्तर्गत अनित्य, अशरण आदि १२ भावनाएँ (अनुप्रेक्षाएँ) हैं। संवेगभावना के अन्तर्गत जो १२ भावनाएँ हैं, उनमें से किसी भी एक भावना के प्रयोग से आत्मा योग से अयोग रूप परम तत्त्व को प्राप्त कर लेता है।[१]

(३) **निर्वेदभावना**–निर्वेद का अर्थ होता है–संसार के प्रति विरक्ति = अरुचि। चारित्रधर्म को स्वीकार करने वाला ही निर्वेदभावना का अधिकारी होता है। इसमें सावद्ययोग का त्याग करना, ईर्या आदि पाँच समिति तथा मनो-वाक्-कायगुप्ति का पालन करना, परीषह-उपसर्ग आदि को समभाव से सहना इत्यादि भावों के दृढ़ और हृदयंगम होने से इसे निर्वेदभावना कहा जाता है। अहिंसा आदि पाँच महाव्रतों में से प्रत्येक महाव्रत की पाँच-पाँच भावनाएँ होने से निर्वेदभावना कुल २५ भावनाओं से युक्त होती है। इन पाँच महाव्रतों की पच्चीस भावनाओं का भावपूर्ण, हृदयस्पर्शी तथा युक्तियुक्त एवं विस्तृत वर्णन आचारांगसूत्र और प्रश्नव्याकरणसूत्र में तथा केवल नामोल्लेख समवायांगसूत्र में मिलता है। इन भावनाओं के मनन और निदिध्यासन से व्रतों में स्थिरता और निर्दोष पालन करने की जागृति आती है।

अतः सम, संवेग और निर्वेद, इन तीनों भावों से भावित होने से आत्मा में ज्ञान, दर्शन और चारित्र तथा तप की भावना मुखरित होती हैं और वे मोक्ष के निकट ले जाने वाले भावनायोग को चरितार्थ करती हैं। अतः यह सिद्ध हुआ कि भावनायोग से संसार के प्रति अरुचि और उदासीनता तथा मोक्ष के प्रति रुचि, तत्परता और साधना में तीव्रता होती है।[२]

भावना, अनुप्रेक्षा और चिन्ता, ये तीनों ध्यानावस्था की प्राप्ति में सहायिका

(१) **भावना**–चित्त को स्थिर करने की प्रथम साधना है। भावना ध्यानाभ्यास की पूर्व भूमिका है। ध्यान का अभ्यास प्रारम्भ करने के काल में चंचल चित्त को स्थिर करने के लिए भावना की अपेक्षा होती है। अन्तर्मुहूर्त्त के पश्चात् एकाग्रता की स्थिति को लाने में भावना सहायिका होती है।

---

१. (क) 'योग-प्रयोग-अयोग' से भाव ग्रहण, पृ. १९७-१९८, २०२-२०३
(ख) तवेण सत्तेण सुत्तेण एगत्तेण बलेण य।
तुलणा पंचहा वुत्ता जिणकप्पं पडिवज्जओ॥ –*बृहत्कल्पभाष्य (आचार्य संघदासगणी)*
(ग) धिइ-बल-पुरिसस्सओ, हवंति सव्वावि भावणा एता।
तं तु न विज्जइ सज्जं, जं धिइमंतो न साहेइ॥ –*वही, गा. १३५*

२. (क) योगशास्त्र, प्र. १, श्लो. १८
(ख) आदिपुराण, स. २१, श्लो. ९८
(ग) प्रश्नव्याकरणसूत्र, संवरद्वार
(घ) देखें–भावना के सम्बन्ध में अधिक विवेचन 'भावनायोग' ग्रन्थ में

कारण यह है कि अभ्यासकाल में ध्याता को सुख-दुःख का संवेदन या अनुभव होता है, वह सुख और दुःख को भोगता है, परन्तु शुभ भावना के कारण फिर वह ज्ञाता-द्रष्टा बनकर घटना को जानता-देखता है, भोगता नहीं, संवेदन नहीं करता। केवल जानना और देखना ही जब चित्त में होता है, तब भावना शुद्ध हो जाती है और ध्याता का ध्यान सधता जाता है।

(२) अनुप्रेक्षा–चित्त को स्थिर करने की द्वितीय साधना है। जो भी तत्त्वज्ञान प्राप्त किया गया है, उसका स्मरण, मनन, चिन्तन धारावाहिक चलते रहना अनुप्रेक्षा है। ध्याता[1] अन्तर्मुहूर्त के पश्चात् चलित हो जाता है। बल्कि नौसिखिया ध्यानसाधक अन्तर्मुहूर्त तक भी स्थिर नहीं रह पाता। ऐसी स्थिति में निर्धारित तत्त्व के चिन्तन में स्थिरता व एकाग्रता लाने में अनुप्रेक्षाएँ सहायक होती हैं, जोकि १२ प्रकार की हैं। अनुप्रेक्षा के स्वरूप, प्रकार और विभिन्न अनुप्रेक्षाओं के प्रयोग के विषय में हम पूर्व निबन्धों में विस्तृत रूप से प्रकाश डाल चुके हैं।

(३) चिन्ता या चिन्तन–चित्त की एकाग्रता और स्थिरता में चिन्ता या चिन्तन बाधक भी है, साधक भी। क्योंकि भावना और अनुप्रेक्षा के अतिरिक्त मन व्यग्र अवस्था में चंचल रहता है। चित्त की चंचलता चिन्ता से पैदा होती है और चिन्ता बाहरी वातावरण तथा वृत्ति-प्रवृत्तियों से प्रभावित होती है। मनुष्य की वृत्तियाँ और प्रवृत्तियाँ स्थायी नहीं होतीं। एक ही वृत्ति या प्रवृत्ति के समाप्त होने पर उसकी स्मृति और कल्पना अमुक समय तक चलती रहती है। ये ही चिन्ता की प्रबल हेतु हैं। पर ये भी अस्थायी हैं क्योंकि ये भी प्रतिक्षण लहरों की भाँति नये-नये रूप में उभरती रहती हैं। जब ध्याता बहिर्मुखी से अन्तर्मुखी बनकर उन विभिन्न चिन्ताओं का निरोध करके एक ही निर्धारित तत्त्व-चिन्ता में एकाग्र हो जाता है तभी ध्यान-साधना है। वस्तुतः ध्यान की पूर्वावस्था में भावना की और ध्यान टूटने के पश्चात् की अवस्था में अनुप्रेक्षा की जरूरत होती है, इन दोनों से ध्यान में स्थिरता आने लगती है, किन्तु पुरानी स्मृतियाँ और कल्पनाएँ चिन्ता के रूप में फिर चित्त को चंचल और व्यग्र बनाने लगती हैं, तब व्यग्र चिन्ता के बदले तत्त्व में एकाग्र चिन्ता चित्त को स्थिर और एकाग्र बनाने में सहायक होती है। इस प्रकार इन तीनों के अभ्यासक्रम से ध्याता को ध्यानावस्था की प्राप्ति होती है।[2]

---

१. अंतोमुहुत्तमेत्तं चिंतावत्थाणमेगवत्थुम्मि।
छउमत्थाणं झाणं जोगनिरोहो जिणाणं तु॥ *–ध्यानशतक (जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण)*

२. (क) देखें–अनुप्रेक्षाओं के सम्बन्ध में विस्तृत विवेचन के लिए कर्मविज्ञान, भा. ६, निबन्ध ११-१४

(ख) 'योग-प्रयोग-अयोग' से भाव ग्रहण, पृ. २०८-२०९

(ग) 'ध्यान विचार' (नमस्कार-स्वाध्याय, प्राकृत विभाग) से भाव ग्रहण, पृ. २३६

(३) ध्यानयोग

ध्यान का अर्थ, लक्षण और स्वरूप

ध्यान शब्द 'ध्यै चिन्तायाम्' इस धातु से निष्पन्न होता है, इसलिए ध्यान का व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ तो चिन्ता या चिन्तन करना होता है, किन्तु इसका प्रवृत्ति-लभ्य अर्थ और फलितार्थ तो दूसरा ही होता है, वह है-चित्तनिरोध द्वारा आत्म-निरीक्षण या आत्म-साक्षात्कार। इस दृष्टि से मन का निरीक्षण मानसिक, वचन का निरीक्षण वाचिक एवं काया का निरीक्षण एवं स्थिरीकरण कायिक ध्यान होता है।

वैसे ध्यान चित्तनिरोध के बिना हो नहीं सकता। चित्तनिरोध के साथ चिन्तननिरोध का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। चित्त की चंचलता और चिन्तन की व्यग्रता का प्रवाह जब अनेक विषयों में से किसी एक विषय का अवलम्बन लेकर उसमें स्थिर तथा एकाग्र हो जाता है, उसे ही ज्ञानी महापुरुषों ने 'ध्यान' कहा है। इसका परिष्कृत लक्षण 'प्रश्नव्याकरण' के पंचम संवरद्वार में मिलता है-"स्थिर दीपशिखा के समान निष्प्रकम्प एवं निश्चल तथा मन में अन्य विषय के संचार से रहित केवल एक ही विषय का प्रशस्त सूक्ष्म बोध जिसमें हो, वह ध्यान कहलाता है।" 'तत्त्वार्थसूत्र' के अनुसार-"अन्तर्मुहूर्त्त-पर्यन्त एक ही विषय पर चित्त की सर्वथा एकाग्रता, यानी ध्येय-विषय में एकाकारवृत्ति के प्रवाहित होने का नाम ध्यान है।"

ध्यान में चित्त और चिन्तन की स्थिरता के लिए तीन बातें अपेक्षित

ध्यान के उक्त लक्षणों के अनुसार चित्त की एकाग्रता और स्थिरता ही ध्यान में मुख्य होती है। चित्तस्थैर्य या चित्तैकाग्रता के लिए तीन बातें ध्यान-साधना में सहायक के रूप में अपेक्षित होती हैं-भावना, अनुप्रेक्षा और एकाग्र चिन्ता।[1]

ध्यान की परिभाषाएँ

'आवश्यकनिर्युक्ति' में ध्यान की परिभाषा की गई है-"**चित्तस्स एगग्गया हवइ झाणं।**"-चित्त की एकाग्रता ही ध्यान है। किन्तु छद्मस्थ अवस्था में चित्त की एकाग्रता कब तक और कैसे रह सकती है? इसी अपेक्षा से ध्यान का परिष्कृत लक्षण किया गया है-अन्तर्मुहूर्त्त-पर्यन्त एक ही विषय में चित्त की सर्वथा एकाग्रता ध्यान है, अर्थात् ध्येयविषय में एकाकारवृत्ति का प्रवाहित होना ध्यान है। इस प्रकार शुभ एकाग्रध्यान में संवर और निर्जरा की उभयशक्ति निहित है।

---

१. (क) 'योग-प्रयोग-अयोग' से भाव ग्रहण, पृ. २०७-२०८

(ख) निवाय-सरणप्पदीपज्झाणमिवनिप्पकंपे। *-प्रश्नव्याकरणसूत्र, पंचम संवरद्वार*

(ग) उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिन्ता-निरोधोध्यानम्। *-तत्त्वार्थसूत्र, अ. ९, सू. २७*

(घ) **ध्यायते चिन्त्यतेऽनेन तत्त्वमितिध्यानम्।** ***-अभिधान राजेन्द्र कोष, भा. ४, पृ. १६६२***

ध्यानयोग की साधना क्यों करें ?

चूँकि मन चंचल है, उसकी चंचलता और व्यग्रता को कैसे समाप्त करें? वह तो अनेक विषय-विकारों में बहता रहता है, उसका नियंत्रण आसानी से नहीं होता। मानसिक स्पन्दनों की तरंगें विविधरूपों में तरंगित होकर अध्यवसाय तक पहुँचती हैं, फिर वे सघन बनकर संस्कार के रूप में परिणत हो जाती हैं। संस्कार का सघनरूप क्रिया या प्रवृत्ति है, जो मानसिक चंचलता को समाप्त नहीं होने देती। ऐसी स्थिति में शुद्ध भाव, शुद्ध लेश्या, शुद्ध अध्यवसाय, शुद्ध योग कैसे हो सकते हैं और वे भी स्थिर कैसे रह सकते हैं? इसी समस्या को ध्यान में रखकर आचार्यों ने ध्यानयोग की साधना का निर्देश किया है और प्राथमिक एवं छद्मस्थ-साधकों के लिए अन्तर्मुहूर्त्त तक निर्धारित विषय या ध्येय में चित्त की एकाग्रता और स्थिरता के लिए भावना, अनुप्रेक्षा और चिन्ता, इन तीनों का अभ्यास बताया है।[१]

ध्यानयोग की साधना में मोक्ष-प्राप्ति तक डटा रहे

'सूत्रकृतांगसूत्र' में ध्यानयोग की साधना को सर्वकर्ममुक्तिरूप मोक्ष प्राप्त होने तक के लिए प्रेरणा देते हुए कहा गया है-"मुमुक्षु साधक ध्यानयोग को सम्यक् प्रकार से ग्रहण करके (अपनाकर) समस्त बुरी प्रवृत्तियों से अपने तन-मन-वचन को रोक दे, पूर्ण रूप से काया के प्रति ममत्व का व्युत्सर्ग (त्याग) करे। परीषहों और उपसर्गों से जनित कष्टों को समभावपूर्वक सहन करने (तितिक्षा) को उत्तम (परम) समझकर समस्त कर्मक्षयरूप मोक्ष के प्राप्त होने पर संयम-पालन में जुटा रहे।"

ध्यानयोग द्वारा आत्म-भक्ति में प्रवृत्ति करने का तात्पर्य

इस गाथा का तात्पर्य यह है कि मुमुक्षु साधक के जीवन में आत्मा मुख्य होती है, देह गौण। अतः देह-भक्ति को छोड़कर मुमुक्षु आत्म-भक्ति अधिकाधिक कर सके, इसके लिए देह-भक्ति को केवल वचन और तन से ही नहीं; मन, बुद्धि, चित्त और हृदय से भी सर्वथा छोड़कर यों विचार करे कि मेरा शरीर है ही नहीं। इस प्रकार देह के प्रति जो सूक्ष्म ममत्व हो, उसका भी त्याग करने हेतु काय-व्युत्सर्ग या कायोत्सर्ग करे। शरीर को किसी भी हालत में अकुशल = अनिष्ट विचार, वचन या चेष्टा में न लगा दे। कदाचित् पूर्व संस्कारवश मन, वचन या काय अनिष्ट प्रवृत्ति (योग) की ओर जाते हों तो उन्हें बलपूर्वक रोक दे। प्रश्न होता है-देह-भक्ति छोड़कर देह के अंगभूत मन-तन-वचन को किसमें लगाए? इसके लिए शास्त्रकार कहते हैं-ध्यानयोग को सम्यक् अपनाए। अर्थात् अपनी आत्मा में या आत्म-स्वभाव

---

१. (क) आवश्यकनिर्युक्ति, गा. १४५६ (आचार्य भद्रबाहु स्वामी)
(ख) 'जैनागमों में अष्टांगयोग' से भाव ग्रहण, पृ. १५

या आत्म-स्वरूप में स्थित होने के लिए देह-भक्ति सर्वथा छोड़कर सर्वकर्ममुक्तिरूप मोक्ष न मिले, तब तक धर्म-शुक्लध्यान में संलग्न रहे। धर्म-शुक्लध्यानों द्वारा आत्मा को मोक्ष से जोड़ने का पुरुषार्थ करता रहे![1]

शीलांकाचार्य ने ध्यानयोग का लक्षण किया है–"चित्तनिरोध लक्षण, धर्मध्यानादि में मन-वचन-काय का योग (व्यापार) ध्यानयोग है।"[2]

ध्यानयोग का अभ्यासी सिद्धियों और लब्धियों के चक्कर में नहीं पड़े

वस्तुतः ध्यान जिस विषय में केन्द्रित होता है, उस विषय में आत्म-शक्ति तीव्र हो जाती है। नानाविध अनुभूतियाँ प्रतिभासित होती हैं। अनेक लब्धियाँ और सिद्धियाँ उपलब्ध होती हैं। मनःस्थिति में परिवर्तन प्रतीत होता है। ऐसे समय ध्यानयोग के अभ्यासी साधक को बहुत ही सावधानी से प्रगति करनी चाहिए। सिद्धियों और लब्धियों के चक्कर में नहीं पड़ना चाहिए तथा उपलब्धियों के अहंकार से दूर रहना चाहिए।

छद्मस्थ और केवली के ध्यान का कालमान

छद्मस्थ साधक के मन की एकाग्रता यानी विकल्परहित अवस्था अधिक से अधिक अन्तर्मुहूर्त्त तक बनी रहती है, यह काल-मर्यादा छद्मस्थ की अपेक्षा से विवक्षित है, सर्वज्ञ की अपेक्षा से नहीं। सर्वज्ञ में ध्यान का कालमान अधिक भी हो सकता है। 'गुणस्थान क्रमारोह' में बताया गया है कि "मन की स्थिरता छद्मस्थ का और काया की स्थिरता केवली का ध्यान होता है।"[3]

ध्यानयोग की साधना का सुफल

वस्तुतः ध्यानयोग की साधना से ध्येय में एकाग्रता इतनी अधिक बढ़ जाती है कि साधक के मन में ध्येय के अतिरिक्त अन्य विषय का आंशिक विचार भी उद्भूत नहीं होता। 'दशवैकालिकसूत्र' में कहा गया है–जो षट्काय का त्राता अथवा आत्म-त्राता अपापभाव (सावद्यभाव से रहित) में स्थित है और बाह्याभ्यन्तर तप में रत है, उस स्वाध्याय और सुध्यानरत साधक की आत्मा में ध्यानाग्नि प्रज्वलित हो

---

१. झाणजोगं समाहट्टु, कायं विउसेज्ज सव्वसो।
तितिक्खं परमं णच्चा आमोक्खाए परिवएज्जासि॥ —*सूत्रकृतांग १/८/२६*
देखें–इसकी व्याख्या के लिए सूत्रकृतांग अमरसुखबोधिनी व्याख्या सहित, श्रु. १, अ. ८, गा. २६, पृ. ७४४-७४५

२. ध्यानं चित्तनिरोधलक्षणं धर्मध्यानादिकं तत्र योगो विशिष्ट मनो-वाक्-काय-व्यापारस्तं ध्यानयोगम्। —*वही ८/२६*

३. 'गुणस्थान क्रमारोह' (रत्नशेखरसूरि) से भावांश ग्रहण

ज़ाने से जो भी पूर्वकृत कर्मरूपी मल (आत्मा में चिरकाल से श्लिष्ट कर्ममल) होता है, वह उसी तरह भस्म (विशुद्ध) हो जाता है, जिस प्रकार अग्नि द्वारा तपाये हुए सोने (या चाँदी) की मलिनता दूर हो जाती है। उक्त धर्म-शुक्लादि ध्यान के प्रकाश से रागादि अन्धकार दूर हो जाता है। चित्त सर्वथा निर्मल हो जाता है और मोक्षमन्दिर का द्वार सम्मुख दिखाई देने लगता है। अधिक क्या कहें, ध्यानयोग आत्मा को उसके वास्तविक शुद्ध स्वरूप में प्रतिष्ठित करने का प्रबलतम साधन है।

आत्म-स्वातंत्र्य, परिणामों की निश्चलता और जन्मान्तर के आरम्भिक कर्मों का विच्छेद, ये तीन ध्यानयोग के मुख्य सुचारु फल हैं।[1]

योगी की शक्ति का उपयोग शुभ ध्यान में

शुभ ध्यान आनन्द का प्रमुख हेतु है और अशुभ ध्यान आर्त्त-रौद्रत्व का; प्रत्येक व्यक्ति स्वयं सच्चिदानन्द है, उसमें सच्चिदानन्द को जाग्रत करने की शक्ति है। परन्तु भोगी और योगी मानव की अपेक्षा से शक्ति के प्रकटीकरण में अन्तर है। भोगी मानव इस सच्चिदानन्द शक्ति का उपभोग करता है, जबकि योगी मानव उपयोग रखता है, विवेकपूर्वक उपयोग करता है–सर्वकर्ममुक्ति की दिशा में। अतः भोगी मानव इस चैतन्य-शक्ति को आर्त्त-रौद्रध्यान में लगाकर उसका उपभोग (दुरुपयोग) कर पाता है, जबकि योगी = ध्यानयोगी शक्ति और चेतना का सम्यक् उपयोग करके आनन्द की अनुभूति करता है। भोगी के लिए शक्ति आनन्द में बाधक है, योगी के लिए साधक।

इसी दृष्टि से ध्यान के दो प्रकार बताये गये हैं–शुभ ध्यान और अशुभ ध्यान। भोगी की शक्ति का उपभोग अशुभ ध्यान में होता है, जबकि योगी की शक्ति का उपयोग होता है–शुभ ध्यान में। अशुभ ध्यान के दो भेद हैं–आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान। इसी प्रकार शुभ ध्यान के भी दो भेद हैं–धर्मध्यान और शुक्लध्यान।

हम विस्तार से 'स्वाध्याय और ध्यान से कर्ममुक्ति' नामक निबन्ध में तथा 'मोक्ष के साधन योग : बत्तीस योग-संग्रह/ध्यान प्रकार' शीर्षक निबन्ध में प्रकाश डाल चुके हैं।[2]

धर्मध्यान के अधिकारी एवं उसके ध्याता के प्रकार

धर्मध्यान के अधिकारी श्वेताम्बर मान्यता के अनुसार सातवें से बारहवें

---

१. (क) सज्झाय-सुज्झाणरयस्स ताइणो, अपाव-भावस्स तवे रयस्स।
विसुज्झइ जं सि मलं पुरेकडं, समीरियं रुप्पमलं व जोइणा॥

–दशवैकालिक, अ. ८, गा. ६३

(ख) 'जैनागमों में अष्टांगयोग' से भाव ग्रहण, पृ. १८

२. देखें–ध्यान के भेद-प्रभेद, स्वरूप, लक्षण, अनुप्रेक्षा, आलम्बन आदि की विस्तृत जानकारी के लिए कर्मविज्ञान, भा. ७ में 'स्वाध्याय और ध्यान से कर्ममुक्ति' शीर्षक निबन्ध तथा 'मोक्ष के साधन योग : बत्तीस योग-संग्रह/ध्यान प्रकार' शीर्षक निबन्ध

गुणस्थान तक के साधक हो सकते हैं। यद्यपि चौथे-पाँचवें-छठे गुणस्थान में भी कदाचित् शुभ अध्यवसाय से धर्मध्यान हो सकता है। इस दृष्टि से धर्मध्यान के ध्याता जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट के भेद से तीन प्रकार के हैं। उत्तम प्रकार का ध्याता प्रमत्त संयत से अप्रमत्त संयत गुणस्थान में पहुँच जाता है तथा मध्यम ध्याता इन्द्रिय और मन का निग्रह कर पाता है। 'अनुयोगद्वारसूत्र' में (धर्मध्यान) ध्याता के ९ प्रकार बताये हैं-(१) तच्चित्त (सामान्योपयोगरूप चित्त वाला), (२) तन्मय (विशेषोपयोगरूप चित्त वाला), (३) तल्लेश्य (शुभ परिणामरूप लेश्या वाला), (४) तदध्यवसित (क्रिया को सम्पादित करने में दृढ़ निश्चयी तथा प्रवर्धमान उत्साही), (५) तत्तीव्राध्यवसान (प्रारम्भ से ही तीव्र अध्यवसायशील), (६) तदर्थोपयुक्त (अत्यन्त प्रशस्त संवेग से विशुद्ध और अर्थोपयोग से युक्त, (७) तदर्पीकरण (मन-वचन-कायारूप करणों से समर्पित), (८) तद्‌भावना-भावित (उसी की भावना से भावित), और (९) अन्य स्थानरहित स्वस्थितमना (प्रस्तुत ध्यानादि क्रिया से भिन्न अन्यत्र कहीं भी मन न हो))।

धर्मध्यान ध्याता की लेश्या

इसके अतिरिक्त धर्मध्यान के तीव्रतम परिणाम वाले उत्तम कोटि के ध्याता के शुक्ललेश्या, मध्यम कोटि के तीव्रतर परिणाम वाले ध्याता के पद्मलेश्या और मंद कोटि के तीव्र परिणाम वाले ध्याता के तेजोलेश्या अपनी-अपनी योग्यतानुसार तीव्र, मध्यम और मन्दरूप में होती है।

धर्मध्यान का फल

धर्मध्यान से संवर, निर्जरा एवं शुभ योग की परम्परा की प्राप्ति होती है। शील और संयम से युक्त योगी धर्मध्यान में स्थित होने से पुण्यानुबन्धी पुण्य का उपार्जन करता है। उसे बोधिलाभ तथा असंक्लिष्ट भोगों की प्राप्ति होती है। फलतः वह अनासक्तभाव, प्रव्रज्या और परम्परागत केवलज्ञान की प्राप्ति तथा मोक्ष का शाश्वत सुख प्राप्त करता है।

धर्मध्यान सालम्बन भी, निरालम्बन भी

धर्मध्यान में पिण्डस्थ, पदस्थ और रूपस्थ, ये तीन ध्यान सालम्बन हैं और रूपातीत ध्यान निरालम्बन है, जिसमें कुछ न करके केवल ज्ञाता-द्रष्टाभाव रहता है।[1]

---

१. (क) अनुयोगद्वारसूत्र २७
(ख) ध्यानशतक
(ग) हरिभद्रीय आवश्यकनिर्युक्ति

शुक्लध्यान की प्रक्रिया, लक्षण आदि का संक्षिप्त परिचय

ध्यान-साधना में लीन योगी जब ध्यानाभ्यास में पारंगत हो जाता है, तब उसकी राग-द्वेष आदि विभावों की वृत्तियाँ समाप्त हो जाती हैं। उसे निर्विकल्प समाधि प्राप्त हो जाती है। इस अवस्था-विशेष को जैनागमों में शुक्लध्यान कहा है। इसकी भी उत्तरोत्तर वृद्धिंगत चार श्रेणियाँ हैं, जिनका वर्णन हम 'मोक्ष के साधन योग : बत्तीस योग-संग्रह/ध्यान प्रकार' में कर आए हैं।[1]

शुक्लध्यान का स्वरूप और लक्षण

'प्रवचनसार' के अनुसार–"जिस तरह मैल दूर हो जाने से वस्त्र शुचि (निर्मल) होकर शुक्ल (श्वेत) कहलाता है, तथैव निर्मल गुणयुक्त आत्म-परिणति को शुक्लध्यान कहा है।" 'द्रव्यसंग्रह' के अनुसार–"निज शुद्ध आत्मा में निर्विकल्प समाधि शुक्लध्यान है।" इसी की टीका में कहा है–"आत्मा की विशुद्ध परिणति से रागादि विकल्प जब छूट जाते हैं और स्व-संवेदनात्मक ज्ञान प्राप्त हो जाता है, इसी ज्ञान को शुक्लध्यान कहते हैं।" 'नियमसार' में कहा है–"ध्याता, ध्येय और ध्यान में एकात्मता होती है, तब शुक्लध्यान होता है, जिसका फल है–विकल्पों से मुक्त, अन्तर्मुखी एवं परम तत्त्व में अविचल स्थिति।" 'तत्त्वानुशासन' के अनुसार–"यह ध्यान सुनिर्मल, निष्प्रकम्प होता है। इसमें कषाय के क्षय या उपशम से आत्मा में निर्मल परिणाम होते हैं। यही शुक्लध्यान की पहचान है। इस ध्यान में अष्टविध कर्ममलों का शोधन होता है। इस ध्यान में साधक ध्येय में अन्तर्मुख रहता है।"[2]

प्राथमिक दो शुक्लध्यान श्रुतावलम्बी

चार प्रकार के शुक्लध्यानों में पहले के दो ध्यान पूर्वगत श्रुत में प्रतिपादित अर्थ का अनुसरण करने के कारण श्रुतावलम्बी हैं। वे प्रायः पूर्वों के ज्ञाता छद्मस्थ योगियों को होते हैं तथा कभी-कभी विशिष्ट पूर्वधरों को भी होते हैं।

गुणस्थान और योग की अपेक्षा शुक्लध्यान के अधिकारी

गुणस्थान की अपेक्षा से शुक्लध्यान के प्रथम दो भेदों के अधिकारी ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थान के पूर्वधर साधक होते हैं। जो पूर्वधर नहीं हैं, किन्तु ग्यारह आदि अंगशास्त्रों के धारक हैं, उन ग्यारहवें-बारहवें गुणस्थानधारकों में शुक्लध्यान

---

१. (क) 'योग-प्रयोग-अयोग' से भाव ग्रहण, पृ. २०
   (ख) देखें–कर्मविज्ञान, भा. ७

२. (क) प्रवचनसार वृ. ८/१२
   (ख) द्रव्यसंग्रह टीका, गा. ४८
   (ग) नियमसार, गा. १२३
   (घ) तत्त्वानुशासन, गा. २२२

न होकर धर्मध्यान ही होता है। इसमें एक अपवाद भी है–माषतुष, मरुदेवी आदि के पूर्वधर न होने पर भी उन्हें मोह क्षय के कारण शुक्लध्यान हुआ है।

योग तीन हैं–मन, वचन और काय। शुक्लध्यान के चार प्रकारों में से प्रथम शुक्लध्यान एक योग या तीनों योग वाले मुनियों को, द्वितीय शुक्लध्यान तीनों में से एक योग वाले साधकों को, तृतीय शुक्लध्यान सिर्फ काययोग वाले सयोगीकेवली मुनियों को एवं चतुर्थ शुक्लध्यान अयोगीकेवली को होता है। अयोगीकेवली में उपयोगरूप भावमन होता है, अतः उनमें भी चौथा शुक्लध्यान मानने में कोई आपत्ति नहीं है।[1]

(४) समतायोग

समतायोग की महत्ता और उपयोगिता

मोक्ष की ओर ले जाने वाला तथा जिसके बिना किसी भी क्रियाकाण्ड, साधना आदि से मोक्ष नहीं हो सकता, तप, जप, ध्यान, धारणा, मौन आदि में भी जिसके बिना सफलता नहीं मिलती, वह है समतायोग। समतायोग ध्यान में अत्यन्त उपयोगी है, आध्यात्मिक विकास में समतायोग साथ-साथ सहचर की तरह चलता है।

समतायोग से आत्मा में परमात्म-स्वरूप प्रकट हो जाता है

प्रत्येक आत्मा में परमात्म-स्वरूप स्वाभाविक रूप से निहित है। परन्तु समतायोगी पुरुष ही उस परमात्म-स्वरूप को आत्मा में जानते और देखते हैं। केवलज्ञानी भगवन्त तो शुद्ध आत्म-स्वरूप के निरोधक रागादि अन्धकार का नाश सामायिकरूपी सूर्य के द्वारा करते हैं। अतः सामायिक (समतायोग) रूपी सूर्य का प्रकाश होते ही रागादि अन्धकार का नाश हो जाता है और आत्मा में परमात्म-स्वरूप प्रकट हो जाता है।

समतायोग की साधना के बिना मोक्ष-प्राप्ति असम्भव

सामायिक (समतायोग) का महत्त्व बताते हुए कहा गया है–जो भी साधक अतीत में मोक्ष में पधारे हैं, वर्तमान में मोक्ष प्राप्त कर रहे हैं और भविष्य में मोक्ष प्राप्त करेंगे, वह सारा प्रभाव सामायिक (समतायोग) का है। कोई कितना ही तीव्र तप, जप या मुनिवेश धारण कर स्थूल बाह्य क्रियाकाण्ड कर ले, व्यवहारचारित्र का कितना ही पालन कर ले, समभावरूप सामायिक के बिना मोक्ष-प्राप्ति असम्भव है। सामायिक समभाव का महोदधि है, क्षीरसागर है, उसमें जो भी साधक पूणिया श्रावक की तरह स्नान करता है, वह सामान्य श्रावक होने पर भी साधु से भी

---

१. (क) शुक्ले चाद्ये पूर्वविदः, परे केवलिनः। —*तत्त्वार्थसूत्र, अ. ९, सू. ३९-४०*
(ख) ध्यानशतक, श्लो. ८३; योगशास्त्र, प्र. ११, श्लो. १०

समता में आगे बढ़ जाता है। अर्थात् वह भी आध्यात्मिकता के शिखर पर समतायोग के सोपानों से होकर पहुँच सकता है। इसीलिए 'आवश्यकनिर्युक्ति' में कहा गया है–"सामायिक व्रत का पालन-आराधन करने से श्रावक भी साधु (श्रमण) की तरह हो जाता है। इसलिए श्रावक का भी कर्त्तव्य है कि वह अधिकाधिक सामायिक करे और समतारस का आस्वादन करे।"

सामायिक का लाभ और महत्त्व

चंचल मन पर नियंत्रण करने के लिए घर में और बाहर भी तथा परिवार, समाज और राष्ट्र में कषायों को उपशान्त करने के लिए समत्वयोग की साधना करने से अशुभ कर्मों का क्षय होता है। आचार्यों ने समतायोगरूपी सामायिक का महत्त्व इतना बताया है कि देव भी सामायिक व्रत स्वीकार करने की तथा समभावरूप सामायिक के आचरण की तीव्र अभिलाषा रखते हैं कि अगर सामायिक का आचरण हो सके तो हमारा देव-जन्म सफल हो जाए। परन्तु सामायिक (समतायोग) की वास्तविक साधना का अधिकार सम्यग्दर्शनपूर्वक व्रतधारी देशविरत श्रावक को अथवा सर्वविरत साधुवर्ग को है।[1]

समतायोग की साधना से पूर्व उसका सम्यग्ज्ञान एवं उसके प्रति श्रद्धा आवश्यक

समतायोग की आराधना–साधना के लिए समता का अर्थ, लक्षण तथा स्वरूप समझना आवश्यक है, क्योंकि समता का सम्यग्ज्ञान और उस पर पूर्ण श्रद्धा होने पर ही समतायोग का आचरण हो सकता है। यद्यपि हमने समतायोग पर विविध पहलुओं से '**समतायोग का मार्ग : मोक्ष की मंजिल**' तथा '**समतायोग का पौधा : मोक्षरूपी फल**' शीर्षक निबन्धों में प्रकाश डाला है; फिर भी समतायोग के सन्दर्भ में कतिपय पहलुओं पर प्रकाश डालना अपेक्षित है।

समता का लक्षण और समता के एकार्थक शब्द

'प्रवचनसार' में कहा गया है–चारित्र ही धर्म है और धर्म (कर्मक्षयकर्त्ता) ही साम्य है। वह साम्य मोह और क्षोभ से रहित है। अर्थात् राग-द्वेष-कषाय से एवं

---

१. (क) जे केवि गया मोक्खं, जे वि य गच्छंति, जे गमिस्संति।
ते सव्वे सामाइयप्पभावेण मुणेयव्वं॥
किं तवेण तिव्वेण, किं च जपेण, किं चरित्तेण।
समयाइविण मुक्खो, न हुओ, कहा वि न हु होइ॥

(ख) सामाइयम्मि उ कए, समणो इव सावओ हवइ जम्हा।
एएण कारणेण बहुसो सामाइयं कुज्जा॥ *–आवश्यकनिर्युक्ति*

अशुभ योगों (मन-वचन-काया) की प्रवृत्तियों से रहित है। यों समता शब्द का सामान्य अर्थ होता है—माध्यस्थ, तटस्थता, उदासीनता, परभाव-विभाव निरपेक्षता, राग-द्वेषरहितता इत्यादि। इसी दृष्टि से 'तत्त्वानुशासन' में समता शब्द के माध्यस्थ्य, समभाव, उपेक्षा, वैराग्य, साम्य, निःस्पृहता, परम शान्ति इत्यादि पर्यायवाची शब्द बताये गये हैं। 'पद्मनन्दि पंचविंशतिका' में भी साम्य, स्वास्थ्य, समाधि, योग, चित्तनिरोध और शुद्धोपयोग इत्यादि शब्दों को समता के समानार्थक बताये गए हैं। 'नयचक्र' में समता के शुद्ध भाव, वीतरागता, (निश्चय) चारित्र, धर्म और स्वभाव की आराधना इत्यादि शब्दों का समता के पर्यायवाचक शब्दों के रूप में उल्लेख है। 'द्रव्यसंग्रह टीका' में समता को मोक्षमार्ग का अपर नाम कहकर उसकी विशेषता प्रगट की गई है।[1]

समतायोग की साधना और फलश्रुति

शुद्ध साम्य वहीं होता है, जहाँ (समता से सम्बन्धित) कोई आकार या अक्षर अथवा कृष्णनीलादि वर्ण और विकल्प परिलक्षित न होकर एकमात्र चैतन्यस्वरूप ही प्रतिभासित होता है। आत्मा को जब अपने द्रव्य और पर्यायों से अभिन्न स्वरूप निश्चित (प्रतीत) होने लगता है, तभी साम्यभाव उत्पन्न होता है। उस स्थिति में साधक लाभ-अलाभ, सुख-दुःख, जन्म-मरण, निन्दा-प्रशंसा, सम्मान-अपमान इत्यादि द्वन्द्वों में राग-द्वेष न करके मध्यस्थ रहता है, ज्ञाता-द्रष्टाभाव में रहता है, उसी की वह साधना समत्व-साधना है। उस साधना में टिके रहना ही समत्वयोग है। साम्यभाव में स्थित साधक को इष्ट-अनिष्ट पदार्थों के प्रति राग-द्वेष, आसक्ति-घृणा, लालसा-अरुचि आदि उत्पन्न नहीं होते। ऐसे समतायोगी साधक के प्रतिक्षण, प्रति प्रवृत्ति में समभाव की भावना होती है, उसकी समस्त आशाएँ, स्पृहाएँ, फल की आकांक्षाएँ समाप्तप्रायः हो जाती हैं, अविद्या भी क्षणभर में क्षीण हो जाती है, वासनाएँ भी समभाव से वासित हो जाती हैं। ध्यान-साधना में समतायोग अतीव उपयोगी है।

समतायोग की महत्ता और आवश्यकता

जब साधक प्रतिद्वन्द्वात्मक अनुकूल-प्रतिकूल पदार्थों या अवस्थाओं में समभाव की मस्ती में रहकर राग-द्वेष-मोह से दूर रहकर उपशम श्रेणी या क्षपक श्रेणी पर

---

१. (क) प्रवचनसार, गा. ७
   (ख) पाइअ-सद्द-महण्णवो, पृ. ८६४
   (ग) तत्त्वानुशासन, श्लो. ४-५
   (घ) पद्मनन्दि पंचविंशतिका, श्लो. ६४
   (ङ) नयचक्र बृहत्, श्लो. ३५६
   (च) द्रव्यसंग्रह टीका, गा. ५६

आरूढ़ होता है, तब उसे वीतरागता-प्राप्ति में सहयोग देने वाला समतायोग ही है। ऐसी स्थिति में विभिन्न अवस्थाओं में, अनूकूल-प्रतिकूल परिस्थितियों में, यहाँ तक कि मन के विचारों में, वचन की तरंगों में, काया की चेष्टाओं में, प्रत्येक स्थान में, प्रतिक्षण, सुषुप्त अवस्था में हो या जाग्रत अवस्था में, रात्रि हो या दिवस, मन-वचन-काया की प्रत्येक प्रवृत्ति में समतायोगी के अन्तःकरण मन्दिर में समत्वदीपक की लौ अखण्डरूप से जलती रहती है। उसकी आत्मा समतारस से ओतप्रोत रहती है। जब आत्मा अपने स्व-भाव में स्थिर, लीन और तन्मय रहती है, अपने मूल गुणों को केन्द्र में रखकर स्वरूप में स्थित होती है, उसी आत्म-स्थिरता को पूर्ण समतायोग कहा गया है। इस प्रकार समता एक दृष्टि है–रसायन-परिवर्तन की, विषमता में स्थिरता की, विवशता में स्वाधीनता की, भयभीत अवस्था में धीरता की, प्रतिकूल परिस्थिति में मनःस्थिति को सम रखने की, सन्तुलन न खोने की, विभिन्न आत्म-शक्तियों को प्रगट करने की। यह सम्यग्दृष्टि जिसे मिल जाती है, वह अजर, अमर, अविनाशी, अभय और निरामय हो जाता है।

समतायोग क्या करता है ?

अनादिकाल से अविद्या या मोह के वशीभूत होकर जीव अमुक वस्तु, व्यक्ति या परिस्थिति को इष्ट और अमुक को अनिष्ट मानकर इष्ट वस्तु में राग, आसक्ति या मोह और अनिष्ट वस्तु में द्वेष, घृणा, अरुचि या द्रोह करने लगता है। सौभाग्यवश जब उसमें विवेक–ज्ञान उदित होता है तो वह इष्ट-अनिष्ट के मर्म को समझ पाता है। विवेक-नेत्र के खुलते ही वह देखता है कि कल जिस वस्तु को अनिष्ट–अप्रिय जानकर तिरस्कृत किया था, आज उसी को इष्ट–प्रिय समझकर अपना रहा है। इसलिए कोई भी वस्तु, व्यक्ति या परिस्थिति अपने आप में इष्ट या अनिष्टरूप नहीं होती। वस्तु में इष्टत्व-अनिष्टत्व की कल्पना अविद्या-कल्पित है, अविद्या की उपज है। इस अविद्या के सम्पर्क से ही आत्मा में अमुक पदार्थों, व्यक्तियों या परिस्थितियों के प्रति इष्टानिष्टत्व की कल्पना से ही हर्ष-शोकादिरूप वैभाविक संस्कारों का उदय होता है, जिससे वह जीवात्मा स्वयं को सुखी या दुःखी मान लेती है। वास्तव में ये अविद्याजनित संस्कार न तो आत्मा के निजी गुण हैं और न इनका उससे कोई वास्तविक सम्बन्ध है। आत्मा का वास्तविक स्वरूप तो सत्-चित्-आनन्दरूप है, जैनदृष्टि से सम्यग्ज्ञान-दर्शन-शक्ति आनन्दरूप है। इसीलिए समतायोग की परिभाषा 'योगबिन्दु' में इस प्रकार की है–"अविद्याकल्पित इष्ट-अनिष्ट पदार्थों में विवेकपूर्वक तत्त्व निर्णय-बुद्धि से राग-द्वेषरहित होना, अर्थात् पदार्थों में की जाने वाली इष्टानिष्टत्व-कल्पना को केवल अविद्याजनित मानकर उनमें उपेक्षाभाव धारण करना समता कहलाती है।"[1] उसमें प्रशस्त

१. अविद्याकल्पितेषूच्चैरिष्टानिष्टेषु वस्तुषु।
संज्ञानात्तद्-व्युदासेन समतासमतोच्यते॥ —*योगबिन्दु, श्लो. ३६३*

(विशिष्ट) मन, वचन, काया के व्यापार का नाम **समतायोग** है। समत्वयुक्त विवेकज्ञान के प्रादुर्भूत होने से आत्मा में विचारवैषम्य का लय और समभाव का परिणमन होने लगता है। इसी सत्-परिणाम द्वारा किये जाने वाले तत्त्व-चिन्तन को ही समतायोग कहते हैं।[1]

समता के बिना ध्यान परिपूर्ण नहीं होता

समता आत्मा का निजी गुण है, इसमें सम्यग्ज्ञान-दर्शन-चारित्र तीनों का समावेश हो जाता है। इसके विकास से आत्मा वहुत उच्च भूमिका पर आरूढ़ हो जाती है। यह भी समझ लेना चाहिए कि ध्यान और समता, दोनों सापेक्ष हैं, अन्योन्याश्रित हैं। ध्यान के बिना समता की और समता के बिना ध्यान की परिपूर्णता नहीं होती। क्योंकि ध्यानयोग से प्राप्त चित्त की एकाग्रता, मन की स्वस्थता और बुद्धि की स्थिरता समतायोग की साधना पर ही अधिक निर्भर है। आगमों में समतायोगी की वहुत ही प्रशंसा की गई है। 'दशवैकालिकसूत्र' में कहा गया है—"आत्मा को (आत्मा के शुद्ध स्वरूप को) आत्मा से विशेष रूप से जानकर, जो राग और द्वेष के प्रसंगों में सम रहता है, वह जगत्-पूंज्य है।" क्योंकि वह राग-द्वेष की विषम-भूमि को लाँघकर वीतरागता की सम-भूमि पर आरूढ़ होने का सौभाग्य प्राप्त कर लेता है।[2]

समतायोग से अवलम्बन से अर्द्ध-क्षण में पूर्ववद्ध कर्मों का नाश

समतायोग का माहात्म्य वताते हुए 'योगशास्त्र' में कहा गया है—"साम्यभाव (समत्वयोग) का अवलम्बन करके अन्तर्मुहूर्त्त में मनुष्य जिन (पूर्ववद्धं कठोर) कर्मों को अर्द्ध-क्षण (अन्तर्मुहूर्त्त) में नष्ट (क्षय) कर डालता है, वे ही कर्म तीव्र तपस्या (बाह्यतप) से करोड़ों जन्मों में भी नष्ट नहीं हो सकते।" "सामायिक (समतायोग) रूपी सूर्य के द्वारा राग-द्वेष-मोह आदिरूप अन्धकार नष्ट कर देने पर समतायोगी अपनी आत्मा में परमात्मा का स्वरूप देखने लगते हैं।"[3]

---

१. 'जैनागमों में अष्टांगयोग' से भाव ग्रहण, पृ. २०

२. (क) विदाणिआ अप्पगमप्पएणं, जो रागदोसेहिं समो स पुज्जो।

—दशवैकालिक, अ. ९, गा. ११

(ख) 'जैनागमों में अष्टांगयोग' से भाव ग्रहण, पृ. २०

३. प्रणिहन्ति क्षणार्धेन साम्यमालम्ब्य कर्म यत्।
यन्न हन्यान्नरस्तीव्रतपसा जन्मकोटिभिः॥५१॥
रागादि-ध्वान्त-विध्वंसे कृते सामायिकांशुना।
स्वस्मिन् स्वरूपं पश्यन्ति योगिनः परमात्मनः॥५३॥ *—योगशास्त्र प्र. ४, श्लो. ५१, ५३*

समतायोग ही मुक्ति का अन्यतम उपाय

'अध्यात्मसार' में कहा है–"समता ही मुक्ति का एकमात्र उपाय है, अन्य क्रियाएँ भारभूत हैं।" "एक समता को छोड़कर जो भी कष्टकारी क्रिया की जाती है, वह ऊसर भूमि में बोये हुए बीज के समान अभीष्ट फल देने वाली नहीं होती।" 'ज्ञानसार' में कहा गया है–"जो समताकुण्ड में स्नान कर पापमल को धोकर साफ कर लेता है, वह पुनः मलिन नहीं होता, वही आत्मा यथार्थ में पवित्र होता है।"[१]

समतायोगी को प्राप्त तीन महत्त्वपूर्ण उपलब्धियाँ

समतायोग में निष्णात साधक को अनेक प्रकार की लब्धियाँ और सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं। परन्तु समता का साधक योगी इन लब्धियों और सिद्धियों के प्रलोभन में नहीं फँसता। किन्तु वह इनकी वास्तविकता को समझकर तथा इन्हें वीतरागता और केवलज्ञान की प्राप्ति में विघ्नरूप मानकर इनका उपयोग नहीं करता। 'योगबिन्दु' के अनुसार–"समता में दृढ़ निष्ठा हो जाने पर समत्वयोगी की वृत्ति में एक ऐसा वैशिष्ट्य आ जाता है कि वह प्राप्त ऋद्धियों (लब्धियों–सिद्धियों) का प्रयोग नहीं करता। फलतः उसके सूक्ष्म कर्मों यानी यथाख्यात चारित्र और केवलज्ञानोपयोग को आवृत करने वाले ज्ञानावरण, दर्शनावरण और मोहनीय कर्मों का क्षय तथा अपेक्षातन्तु का विच्छेद हो जाता है।" अपेक्षातन्तु के विच्छेद का तात्पर्य है–उसे संसार के सुख या किसी पदार्थ को प्राप्त करने की स्पृहा, आकांक्षा या लालसा नहीं रहती। इस प्रकार समतायोग के तीन विशिष्ट फल हैं– (१) लब्धियों में अप्रवृत्ति, (२) ज्ञान, दर्शन और चारित्र के प्रतिबन्धक ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और मोहनीय कर्मों का क्षय, एवं (३) अपेक्षातन्तु का विच्छेद। इन तीनों के आस्वादन उसे मोक्षरूप अमृतफल की प्राप्ति होती है। समतायोगी के लिए मोक्ष की सिद्धि दूर नहीं।

उस समतामूर्ति के समभाव के प्रभाव से क्रूर प्राणी भी अपने जन्मजात वैर को भूल जाते हैं। उनके समवसरण में स्थित सिंह भी वैर को विस्मृत कर समतायोगी के प्रभाववश वीतराग वाणी का पान करते हैं। हरिणी सिंह-शिशु को अपने पुत्र की बुद्धि से स्पर्श और प्यार करती है। गाय व्याघ्र के बच्चों से स्नेह

---

१. (क) उपायः समतैवेका मुक्तेरन्यः क्रियाभरः॥२७॥
संत्यज्य समतामेकां स्याद्यत्कष्टमनुष्ठितम्।
तदीप्सितकरं नैव बीजमुप्तमिवोषरे॥२८॥ –*अध्यात्मसार ९/२७, २८*

(ख) यः स्नात्वा समताकुण्डे हित्वा कश्मलजं मलम्।
पुनर्न याति मालिन्यं सोऽन्तरात्मा परं शुचिः॥ –*ज्ञानसार १४/५*

करती है। बिल्ली हंस-शिशु को स्नेहदृष्टि से देखती है। मोरनी सर्प के बच्चे से प्यार करती है तथा प्राणी भी परस्पर वैरभाव को भूल जाते हैं।[१]

साधकों को समतायोग में प्रवृत्ति और प्रचार की प्रेरणा

'सूत्रकृतांगसूत्र' में साधकों के लिए निर्देश है—"वह जगत् के समस्त जीवों को समत्वदृष्टि से देखे, राग-द्वेष के वश होकर किसी का प्रिय या अप्रिय न करे।" इसी शास्त्र में कहा गया—"सम्यक् प्रकार से प्रज्ञा-प्राप्त साधु कषायों पर विजयी बने और समताधर्म का उपदेश दे।" इन सूत्रों पर से समताधर्म के आचरण का महत्त्व समझा जा सकता है।[२]

(५) वृत्तिसंक्षययोग

आध्यात्मिक उत्क्रान्ति की पराकाष्ठा वृत्तिसंक्षययोग में

पूर्वोक्त अध्यात्म, भावना, ध्यान और समता, इन चार योगों की साधना द्वारा उत्तरोत्तर आध्यात्मिक क्रान्ति अधिकाधिक होती जाती है, परन्तु उसकी पराकाष्ठा तो इस वृत्तिसंक्षय नामक पंचम योग में ही उपलब्ध होती है। क्योंकि आचार्य हरिभद्रसूरि ने मोक्ष-प्रापक (मोक्ष प्राप्त कराने वाले) या मोक्ष-संयोजक (मोक्ष से सम्यक् जोड़ने वाले) धर्म (संवर-निर्जरारूप कर्मक्षयकारक) व्यापार को योग का लक्षण मानकर उसके पूर्वोक्त पाँच भेद बताए हैं और अध्यात्मयोगादि चारों की पूर्वसेवा से उसका प्रारम्भ करके 'वृत्तिसंक्षय' में उसका पर्यवसान किया है। निष्कर्ष यह है कि पूर्वसेवा से अध्यात्म, अध्यात्म से भावना, भावना से ध्यान, ध्यान से समता एवं समता से वृत्तिसंक्षय और वृत्तिसंक्षय से मोक्ष की प्राप्ति बताई है। अतएव वृत्तिसंक्षय ही मुख्य योग है और पूर्वसेवा से समता-पर्यन्त के सभी धर्म-व्यापार साक्षात् अथवा परम्परा से योग के उपायभूत होने से योग कहलाते हैं।[३]

---

१. (क) 'जैनागमों में अष्टांगयोग' से भाव ग्रहण, पृ. २०

(ख) ऋद्ध्यप्रवर्तनं चैव सूक्ष्मकर्मक्षयं तथा।
अपेक्षातन्तुविच्छेदः फलमस्याः प्रचक्षते॥ *—योगबिन्दु, श्लो. ३६५*

२. (क) सव्वं जगं तु समयाणुपेही, पियमपियं कस्सइ णो करेज्जा।
—सूत्रकृतांग, श्रु. १, अ. १०, गा. ७

(ख) पण्णसंपत्ते सया जए, समयाधम्ममुदाहरे मुणी। *—वही, श्रु. १, अ. २, उ. २, गा. ६*

३. (क) मुक्खेण जोयणाओ जोगो, सव्वो वि धम्म-वावारो। *—हरिभद्रसूरि*

(ख) 'जैनागमों में अष्टांगयोग' से साभार भाव ग्रहण, पृ. २२

वृत्तिसंक्षय अथवा असम्प्रज्ञात ही मोक्ष के प्रति साक्षात् कारण : क्यों और कैसे ?

'पातंजल योगदर्शन' में योग का लक्षण है—"चित्तवृत्ति-निरोधं।" इस लक्षण की अनेकान्त (समन्वय) दृष्टि से जब वृत्तिसंक्षययोग के साथ तुलना करते हैं तो फलितार्थ यह होता है कि चित्तवृत्ति निरोधरूप योग लक्षण से लक्षित होने वाला वास्तविक योग वृत्तिसंक्षय या असम्प्रज्ञात ही है, क्योंकि वृत्तिसंक्षय अथवा असम्प्रज्ञात ही मोक्ष के प्रति साक्षात् अव्यवहित कारण प्रमाणित होता है। इसी वृत्तिसंक्षययोग द्वारा ही आध्यात्मिक विकास की पराकाष्ठा प्राप्त होती है। परन्तु इस अवस्था तक पहुँचने के लिए साधक को पहले क्रमशः अन्य कई प्रकार के साधनों का अनुष्ठान करना पड़ता है। अतः पूर्वोक्त चतुर्विध योगरूप साधन भी मुख्य (वृत्तिसंक्षयरूप) योग के साधक होने से इन्हें भी योग नाम से प्ररूपित किया है।[1]

अध्यात्म आदि चतुर्विध योग का सम्प्रज्ञात में और वृत्तिसंक्षय का असम्प्रज्ञात में समावेश

दूसरी बात यह है कि महर्षि पतंजलि के द्वारा प्ररूपित सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञातयोग (समाधि) को आचार्य हरिभद्रसूरि ने पूर्वोक्त अध्यात्म आदि पंचविध योगों में अन्तर्भूत कर दिया है। अध्यात्म, भावना, ध्यान और समता; इन चार योगों को सम्प्रज्ञात नामक योग में और वृत्तिसंक्षय को असम्प्रज्ञातयोग में समाविष्ट कर दिया है। क्योंकि 'योगावतार द्वात्रिंशिका' के अनुसार—सम्प्रज्ञातयोग ध्यान और समतारूप है तथा असम्प्रज्ञातयोग वृत्तिसंक्षयरूप है।[2]

सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात समाधि में अन्तर

सम्प्रज्ञात समाधि में राजस और तामस वृत्तियों का तो सर्वथा निरोध हो जाता है, किन्तु सत्त्वप्रधान प्रज्ञाप्रकर्षरूप वृत्ति का उदय रहता है, जबकि असम्प्रज्ञात समाधि में समग्रवृत्तियों का क्षय होकर शुद्ध समाधि के आत्म-स्वरूप का अनुभव होता है।

जैनदृष्टि से दो प्रकार की असम्प्रज्ञात समाधि

'योगविंशिका व्याख्या' में जैन-सिद्धान्त की दृष्टि से असम्प्रज्ञात समाधि दो प्रकार की बताई है—सयोगकेवली कालभावी और अयोगकेवली कालभावी। इन

---

१. (क) 'जैनागमों में अष्टांगयोग' से भाव ग्रहण, पृ. २२-२३

(ख) योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः। —*पा. यो. १/१*

२. (क) 'जैनागमों में अष्टांगयोग' से भाव ग्रहण, पृ. २३

(ख) सम्प्रज्ञातोऽवतरति ध्यानभेदोऽन्न तत्त्वतः। —*योगावतार द्वात्रिंशिका, श्लो. १५*

(ग) असम्प्रज्ञातनामा तु सम्मतो वृत्तिसंक्षयः। —*वही, श्लो. २१*

दोनों में से पहली तो विकल्प और ज्ञानरूप मनोवृत्तियों और उनके कारणभूत ज्ञानावरणीय आदि (घाति) कर्मों के निरोध-क्षय से उत्पन्न होती है, जबकि दूसरी सम्पूर्ण औदारिकादि समस्त शारीरिक चेष्टारूप वृत्तियों और उनके कारणभूत औदारिकादि समस्त शरीरों के क्षय से निष्पन्न होती है। पहली में केवलज्ञान और दूसरी में निर्वाणपद की प्राप्ति होती है।

इस प्रकार महर्षि पतंजलि के सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात का पूर्वोक्त अध्यात्मादि पंचविधयोग में अन्तर्भाव हो जाता है।[1]

वृत्तिसंक्षययोग में ही सम्प्रज्ञात-असम्प्रज्ञात दोनों का अन्तर्भाव : क्यों और कैसे ?

उपाध्याय यशोविजय जी ने तो वृत्तिसंक्षययोग में ही सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात दोनों ही योगों (समाधियों) का समावेश कर दिया है। उनके विचारानुसार आत्मा की जो स्थूल-सूक्ष्म चेष्टाएँ हैं, वे ही वृत्तियाँ हैं और उनका कारण है—कर्मसंयोग की योग्यता। अतः उन स्थूल-सूक्ष्म चेष्टाओं के कारणभूत कर्मसंयोग की योग्यता के क्रमशः ह्रास = नष्ट होने को वृत्तिसंक्षय कहते हैं। यह वृत्तिसंक्षय ग्रन्थि-भेद से प्रारम्भ होकर अयोगकेवली नामक १४वें गुणस्थान में पूर्ण होता है। इसमें आठवें से बारहवें (क्षीणमोह) गुणस्थान तक में प्राप्त होने वाले शुक्लध्यान के प्रथम दो भेदों—पृथक्त्व-वितर्क-सविचार तथा एकत्व-वितर्क-अविचार में सम्प्रज्ञातयोग का अन्तर्भाव हो जाता है, क्योंकि सम्प्रज्ञातयोग तो निर्वितर्क-विचारानन्दास्मिता-निर्भासरूप ही है। अतः वह पर्यायरहित शुद्ध द्रव्यविषयक शुक्लध्यान में = एकत्ववितर्काविचार में समाविष्ट हो जाता है तथा असम्प्रज्ञातयोग केवलज्ञान की प्राप्ति से लेकर निर्वाण-प्राप्ति तक में आ जाता है, यानी तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान में असम्प्रज्ञातयोग का अन्तर्भाव हो जाता है। इन दोनों गुणस्थानों में ज्ञानावरणादि चारों घातिकर्मों का सर्वथा क्षय हो जाने से उत्पन्न केवलज्ञान की दशा में शेष चार अघातिकर्मों के संयोग की योग्यता रहती है। किन्तु केवलज्ञान हो जाने से कर्मसंयोग से उत्पन्न योग्य चेष्टारूप वृत्तियों का तो समूल नाश हो जाता है। यही सर्व (चेष्टा) वृत्तिनिरोधरूप असम्प्रज्ञातयोग है। उसको जो 'संस्कार शेष' कहा जाता है, उसका तात्पर्य यह है कि तेरहवें गुणस्थान में चार भवोपग्राही अघातिकर्मों के सम्बन्धमात्र शेष रह जाता है, यानी नये सिरे से नाम,

---

१. (क) 'जैनागमों में अष्टांगयोग' से साभार भाव ग्रहण, पृ. २३

(ख) इह च द्विधाऽसम्प्रज्ञातसमाधिः—सयोगकेवलिकालभावीअयोगकेवलिकालभावी च। तत्राद्यो मनोवृत्तीनां विकल्पज्ञानरूपाणां तद्बीजस्य ज्ञानावरणाद्युदयरूपस्य निरोधादुत्पद्यते। द्वितीयस्तु सकलाशेषकायादिवृत्तीनां तद्बीजानामौदारिकादि-शरीररूपोणामत्यन्तोच्छेदात् सम्पद्यते। *—योगविंशिका व्याख्या, श्लो. ४३१*

गोत्र और आयुकर्म का तो वन्ध नहीं होता, वेदनीय का भी वन्ध नाममात्र का है, केवल भवोच्छेद होने तक इनका उदयभाव शेष रहता है। इसे ही संस्कार शेष कहा जाता है। इस अवस्था में मति-श्रुतज्ञान के भेदरूप संस्कार का समूल नाश हो जाता है, अर्थात् वृत्तिरूप भावमन नहीं रहता, यों कहो कि केवलज्ञान या असम्प्रज्ञात समाधि की उपलब्धि के वाद वृत्तिरूप भावमन की आवश्यकता ही नहीं रहती, क्योंकि अवधि-मनःपर्यव-केवलज्ञान तो मन की सहायता के विना ही आत्मा को स्वयमेव वस्तुतत्त्व के यथार्थस्वरूप का ज्ञान होने लगता है।[1]

असंप्रज्ञात समाधि और वृत्तिसंक्षययोग में नाम का अन्तर है

चौदहवें अयोगकेवली गुणस्थान में तो मन-वचन-काया के स्थूल-सूक्ष्म समस्त योगों–व्यापारों के निरुद्ध हो जाने से शैलेशीभाव से निर्वाणपद की प्राप्ति होती है। यही (द्वितीय) सर्ववृत्ति निरोधरूप असम्प्रज्ञात समाधि की प्राप्ति के अनन्तर पतंजलि-प्रोक्त स्वरूप-प्रतिष्ठारूप कैवल्य–मोक्ष है। इस प्रकार वृत्तिसंक्षययोग की इस व्यापक व्याख्या में योग के समस्त प्रकारों को समन्वित किया गया है।

पंचविधयोग का आगमसम्मत पंचविध संवरयोग में अन्तर्भाव

उक्त पंचविधयोग का आगमसम्मत संवर-पंचक में अन्तर्भाव हो जाता है। 'समवायांगसूत्र' में उल्लिखित सम्यक्त्व, विरति, अप्रमाद, अकषायत्व और अयोगित्व, इन पाँच संवर द्वारों का अध्यात्म से लेकर वृत्तिसंक्षय-पर्यन्त पंचविध योगों में ही अन्तर्भाव हो जाता है। यथा–सम्यक्त्व और विरति में अध्यात्म और भावना का, अप्रमत्तता और अकषायत्व में ध्यान और समता का तथा अयोगित्व में वृत्तिसंक्षय का समावेश हो जाता है। इसलिए मोक्षप्रापक पूर्वोक्त पंचविधयोग आगमसम्मत पंचविध संवर का ही विशिष्ट रूप है।[2]

---

१. (क) द्विविधोऽयमध्यात्मभावना-ध्यान-समता-वृत्तिक्षयभेदेन पंचधोक्तस्य योगस्य पंचम भेदेऽवतरति। ...... शुद्धद्रव्यध्यानाभिप्रायेण व्याख्येयः। ...... क्षपकश्रेणि-परिसमाप्तौ केवलज्ञानलाभस्त्वसंप्रज्ञातः। ...... भावमनसासंज्ञाभावात् द्रव्यमनसां च तत्सद्भावात् केवली नोसंज्ञीत्युच्यते। ...... संस्कारशेषत्वं चात्र भवोपग्राहि कर्मांशरूप-संस्कारापेक्षया व्याख्येयम्। *–पातंजल योगसूत्र १/१८ पर उपाध्याय यशोविजय जी की वृत्ति*

(ख) सर्ववृत्ति प्रत्यस्त-समये संस्कारशेषो निरोधश्चित्तस्य समाधिरसम्प्रज्ञातः।

–पा. यो. सू. व्यासभाष्य

(ग) 'जैनागमों में अष्टांगयोग' से साभार भाव ग्रहण, पृ. २४-२५

२. (क) वही, पृ. २५-२६

(ख) पंच संवरदारा पण्णत्ता तं.–सम्मत्तं, विरई, अप्पमाया, अकसाया अजोगया।

–समवायांग, समवाय ५, सू. १०

पंचविधयोग का अन्तर्भाव मनःसमिति और मनोगुप्ति में भी

उक्त पंचविधयोग का अन्तर्भाव मनःसमिति और मनोगुप्ति में भी हो जाता है। मनःसमिति में मन की शुभ प्रवृत्ति प्रधान है और मनोगुप्ति में मन की एकाग्रता और निरोध ही मुख्य है। इस प्रकार मन के विषय में समितिगुप्ति द्वारा सत्प्रवृत्ति, एकाग्रता और निरोध, ये तीन विभाग प्राप्त होते हैं। अध्यात्म और भावना, इन प्रथम के दो योगों में सत्प्रवृत्तिरूप मनःसमिति की प्रधानता रहती है तथा ध्यान और समता, इन दोनों में एकाग्रतारूप मनोगुप्ति की मुख्यता है एवं वृत्तिसंक्षय नामक पंचम योग में सम्यक् निरोधरूप मनोगुप्ति प्राप्त होती है। इस प्रकार योगारम्भ में सत्प्रवृत्तिरूप मनःसमिति और सम्प्रज्ञात में एकाग्रतारूप और असम्प्रज्ञात में निरोधरूप मनोगुप्ति प्राप्त होती है। निरोधरूप गुप्ति की अवस्था में तीन भाव प्राप्त होते हैं—कल्पनाजाल से विमुक्त, समभाव में सुप्रतिष्ठित और स्वरूपरमण में प्रतिबद्ध होना। मनोगुप्ति के ये तीनों ही भाव तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान में प्रतिफलित होते हैं। निरोधरूप संस्कार शेष (प्रथम) असम्प्रज्ञात में कल्पनाजाल से निवृत्ति और समभाव में प्रतिष्ठा प्राप्त होती है तथा (द्वितीय) असम्प्रज्ञात में स्वरूप प्रतिष्ठारूप कैवल्य-मोक्षदशा में मनोगुप्ति के निरोध लक्षण परिणाम का स्वरूप प्रतिबद्धता का लाभ होता है।[१]

चतुर्विधयोगों के बावजूद भी पंचम योग की आवश्यकता क्यों ?

पूर्वोक्त चार योगों की साधना के बावजूद भी वृत्तिसंक्षययोग की आवश्यकता इसलिए है कि यह आत्मा स्वभाव से तो निस्तरंग महासमुद्र के समान निश्चल है। किन्तु जैसे वायु के सम्पर्क से समुद्र में तरंगें उठने लगती हैं, इसी प्रकार मन और शरीर के संयोगरूप वायु से आत्मा में संकल्प-विकल्प और परिस्पन्दन-चेष्टारूप नाना प्रकार की वृत्तिरूप तरंगें उठने लगती हैं। इनमें विकल्परूप वृत्तियों का उदय मनोद्रव्य-संयोग से होता है और चेष्टारूप वृत्तियाँ शरीर-सम्बन्ध से उत्पन्न होती हैं। अतः विकल्परूपा और चेष्टारूपा इन द्विविध वृत्तियों का समूल नाश ही वृत्तिसंक्षय है, वृत्तिसंक्षय का प्रयोजन है। यह वृत्तिसंक्षय नामक योग केवलज्ञान की प्राप्ति के समय तथा निर्वाण-प्राप्ति के समय साधक को उपलब्ध होता है। यद्यपि वृत्ति-निरोध अन्य ध्यानादि योगों में भी होता है, किन्तु समस्त वृत्तियों का सर्वथा निरोध इसी योग में सम्भव है।[२]

---

१. (क) 'जैनागमों के अष्टांगयोग' से भाव ग्रहण, पृ. २६-२७

(ख) विमुक्तकल्पनाजालं, समत्वे सुप्रतिष्ठितम्।
आत्मारामं मनश्चेति मनोगुप्तिस्त्रिधोदिताः। —*योगभेद द्वात्रिंशिका, श्लो. ३०*

२. (क) इह स्वभावत एव निस्तरंग-महोदधिकल्पस्यात्मनो विकल्परूपाः परिस्पन्दनरूपाश्च वृत्तयः सर्वा अन्य संयोगनिमित्ता एव। तत्र विकल्परूपास्तथाविध-मनोद्रव्य-संयोगात्,

वृत्तिसंक्षययोग का विशद स्वरूप और उसका प्रतिफल

अतएव वृत्तिसंक्षययोग का फलितार्थ इस प्रकार है–आत्मा में अन्य संयोग (मन और शरीर के संयोग) से उत्पन्न होने वाली विकल्परूप तथा चेष्टारूप वृत्तियों का अपुनर्भावरूप से जो निरोध = आत्यन्तिक क्षय–समूल नाश होने का नाम वृत्तिसंक्षययोग है। इसमें इतना विवेक जरूर है कि तेरहवें सयोगकेवली गुणस्थान की अवस्था में विकल्परूप वृत्तियों का समूल नाश हो जाता है तथा चौदहवें अयोगकेवली गुणस्थान दशा में अवशेष रही चेष्टारूप वृत्तियाँ भी समूल नष्ट हो जाती हैं। अतः विकल्परूप वृत्तियों के सर्वथा निरोध = क्षय से प्राप्त होने वाला वृत्तिसंक्षययोग, आत्मा को कैवल्य-प्राप्ति के फलस्वरूप सर्वज्ञत्व, सर्वदर्शित्व और जीवन्मुक्त दशा का बोधक है तथा अवशिष्ट चेष्टारूप वृत्तियों के समूलघात से उत्पन्न होने वाला वृत्तिसंक्षय, आत्मा की निर्वाण-प्राप्तिरूप है। जिसे अन्य दर्शनीय भाषा में विदेहमुक्ति कहते हैं। इस प्रकार वृत्तिसंक्षययोग के तीन मुख्य फल हैं–केवलज्ञान-प्राप्ति, शैलेशीकरण और सर्वकर्ममुक्तिरूप मोक्ष (निर्वाण) लाभ। जिनसे मानव-जीवन के आध्यात्मिक विकास की परिपूर्णता पूर्णतया निष्पन्न होती है।[1]

योगदर्शनोक्त द्विविध वृत्तियों का निरोध भी वृत्तिसंक्षययोग से

'पातंजल योगदर्शन' में क्लिष्ट और अक्लिष्ट दोनों प्रकार की वृत्तियों के पाँच-पाँच प्रकार बताए हैं। क्लिष्ट वृत्तियाँ हैं–अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश। इसी प्रकार अक्लिष्ट वृत्तियाँ भी पाँच प्रकार की हैं–प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति। इन दोनों प्रकार की वृत्तियों का समावेश पूर्वोक्त विकल्परूपा और चेष्टारूपा में हो जाता है।[2]

पिछले पृष्ठ का शेष–

परिस्पन्दनरूपाश्च शरीरादिति। ततोऽन्यसंयोगे या वृत्तयः (त्रिविधयोग व्यापाराः) वासां यो निरोधस्तथा तथा–केवलज्ञानलाभकालेऽयोगिकेवलिकाले च। अपुनर्भावरूपेण-पुनर्भवन-परिहाररूपेण। स तु पुनः तत्संक्षयो-वृत्तिसंक्षयो मत इति।

–योगबिन्दु ३६६ टीका, पृ. ६३

(ख) 'जैनागमों में अष्टांगयोग' से भाव ग्रहण

१. (क) अन्यसंयोगवृत्तीनां यो निरोधस्तथा तथा।
अपुनर्भावरूपेण स तु तत्संक्षयो मतः॥ ***–योगबिन्दु ३६६***

(ख) विकल्प-स्पन्दरूपाणां वृत्तीनामत्यजन्मनाम्।
अपुनर्भावतो रोधः, प्रोच्यते वृत्तिसंक्षयः॥ ***–योगभेद द्वात्रिंशिका २५***

(ग) 'जैनागमों में अष्टांगयोग' से भाव ग्रहण, पृ. २२

२. वृत्तयः पंचतय्यः क्लिष्टाऽक्लिष्टाश्च। अविद्याऽस्मिता रागद्वेषाभिनिवेशाः, पंचक्लेशाः। प्रमाणविपर्यय-विकल्प निद्रा-स्मृतय। ***–योगदर्शन १/५, ६, २/३***

वृत्तिसंक्षय : मनोविज्ञान की दृष्टि से

मनोविज्ञानशास्त्र भी वृत्तियों के अनिष्ट प्रभावों का अनेकविध वृत्तियों का मानसिक, शारीरिक एवं आध्यात्मिक आधि-व्याधि-उपाधियों के रूप में निर्देश करता है। प्रत्येक सांसारिक प्राणी में स्थूल, सूक्ष्म और अतिसूक्ष्म इन तीनों प्रकार के शरीरों द्वारा मानसिक आवेगों के रूप में तथा शारीरिक चेष्टाओं के रूप में वृत्तियों का उभार होता रहता है। आत्मा के साथ सूक्ष्म और सूक्ष्मतम शरीर के संयोग की अनुभूति आवेगों के माध्यम से स्थूल शरीर और मन के माध्यम से विविध शुभ-अशुभ वृत्तियों के रूप में होती रहती है। क्रोधादि कषायों तथा हास्य, भय, शोक, रति-अरति, राग, द्वेष, मोह, कामवासना, घृणा, आसक्ति आदि के आवेगों के रूप में वृत्तियों का प्रवाह चलता रहता है। अध्यात्म, भावना, ध्यान और समता, इन चार योगों के माध्यम से वृत्तियों का उपशमन, क्षमोपशमन, अंशतः क्षय तथा रूपान्तर किया जा सकता है, पूर्णतया क्षय नहीं। इसके लिए ग्रन्थि-भेद जप, तप, स्वाध्याय, कायोत्सर्ग, व्युत्सर्ग, प्रायश्चित्त, विनय, क्षमापना, वैयावृत्य आदि की साधना से किया जाना आवश्यक है। वृत्तिसंक्षय वृत्तियों को निर्मूल करने के लिए अमोघयोग है। आगमों में यत्र-तत्र कई प्रक्रियाएँ बताई हैं, उनको अपनाकर समस्त वृत्तियों का सर्वथा क्षय करके ही सर्वकर्ममुक्तिरूप मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है।

●●

५

बत्तीस योग-संग्रह : मोक्ष के प्रति योग, उपयोग और ध्यान के रूप में

साधन ठीक न हों तो साध्य-प्राप्ति नहीं हो सकती

मशीन चाहे जितनी बड़ी हो, नामी कम्पनी की बनी हुई हो, परन्तु यदि उसके कलपुर्जे ठीक न हों, बिगड़ गये हों, उन्हें जंग खा गया हो अथवा वे चलते-चलते ठप्प हो जाते हों, तो उस मशीन से उत्पादन का लक्ष्य पूर्ण नहीं होता, बल्कि कभी-कभी उत्पादन की क्वालिटी खराब हो जाती हो अथवा उत्पादन बिलकुल ठप्प हो जाता है। इसी प्रकार साधकात्मा के पास अध्यात्म या शुद्ध सद्धर्म (आत्म-धर्म) साधनारूपी यंत्र चाहे जितना उच्च हो, प्रसिद्ध हो, वीतराग जिनेन्द्र भगवान द्वारा प्ररूपित हो, किन्तु उसके पालन-आचरण-संचालन के लिए प्राप्त मन, वचन, काया, इन्द्रिय आदि साधनरूप कलपुर्जे ठीक न हों, अप्रशस्त हों (खराब हों), अध्यात्म-साधना या सम्यग्दर्शनादि या श्रुत-चारित्ररूप सद्धर्म की साधना के सम्मुख चलने के बजाय, विपरीत दिशा में, विषय-वासनाओं या कषायों अथवा राग-द्वेष-मोह की ओर चलते हों तो उससे मोक्ष (सर्वकर्ममुक्ति) रूपी साध्य या संवर-निर्जरा उपार्जन (उत्पादन) का लक्ष्य पूर्ण नहीं हो सकता। अध्यात्म-साधना या सद्धर्म-साधना द्वारा मोक्षरूपी साध्य-प्राप्ति या संवर-निर्जरा के उपार्जन का लक्ष्य तभी पूर्ण हो सकता है, जब अध्यात्म-साधना या सद्धर्म-साधना के लिए जीव (आत्मा) को मिले हुए मन-वचन-काययोग रूप पुर्जे व्यवस्थित, साफ, शुभ या शुद्ध हों, साधना के अभिमुख हों, बाहर के विषयों को या परभावों-विभावों को छोड़कर अन्तरमुखी या स्वभाव-सम्मुख हों, अध्यात्म-साधना की दिशा में कार्य करते हों।

जैनदर्शन में योग का प्रचलित अर्थ और उसके दो रूप

कर्मविज्ञान में योग का अधिकतर प्रचलित अर्थ है—मन-वचन-काया का व्यापार, मानसिक-वाचिक-कायिक प्रवृत्ति या मन-वचन-काया द्वारा होने वाली क्रिया। यह त्रिविधयोग मुख्यतया दो प्रकार का है—शुभ योग और अशुभ योग, दूसरे शब्दों में कहें तो प्रशस्त योग और अप्रशस्त योग। एक तीसरा प्रकार है, जो आत्म-भावों से सीधा सम्बन्धित है, उसे कहते हैं—शुद्धोपयोग। इस दृष्टि से उपयोग के तीन प्रकार किये हैं—शुभोपयोग, अशुभोपयोग एवं शुद्धोपयोग।

यहाँ मोक्ष (सर्वकर्ममुक्तिरूपी मोक्ष या संवर-निर्जरारूप आंशिक मोक्ष) रूप साध्य की प्राप्ति के साधनरूप में हम जिस योग का विवेचन या विश्लेषण करने जा रहे हैं, वह योग है–प्रशस्त योग या शुभ योग अथवा शुभोपयोग और शुद्धोपयोग। यद्यपि सैद्धान्तिक दृष्टि से काय, वचन और मन से होने वाले कर्म (व्यापार) को योग कहकर उसे आस्रव कहा गया है। उसी के दो प्रकार बताये गये हैं–शुभ योग (शुभ्रास्रव) को पुण्यबन्धरूप और अशुभास्रव को पापबन्धरूप कहा गया है;[1] तथापि आचार्यों ने अशुभ योग से निवृत्ति को शुभ योगसंवर (अर्थात् अशुभ कर्मों के निरोधरूप) माना है, शुभ योग में प्रवृत्ति को संयम में परिगणित किया है अथवा शुद्धोपयोगरूप साधन का ग्रहण किया है। शुभ योगों या प्रशस्त योगों अथवा शुद्धोपयोग में संचरणरूप योग ही मोक्षरूप साध्य की या संवर-निर्जरारूप लक्ष्य की प्राप्ति के लिए उपादेय है।[2] आचार्य अभयदेव ने 'समवायांगसूत्र वृत्ति' में योग-संग्रह के सन्दर्भ में ऐसा ही अर्थ किया है–जो साधन (मन-वचन-कायरूप) मोक्षरूप साध्य से जोड़े जाते हैं वे योग हैं–मन-वचन-काया के व्यापार हैं। वे योग यहाँ प्रशस्त (शुभ) या शुद्ध ही विवक्षित हैं। ये त्रिविध प्रशस्त या शुद्ध योगरूप साधन मोक्षरूप साध्य को प्राप्त करने के लिए योग्य हैं, उचित हैं।[3]

स्वकीय शुभ पुरुषार्थ के बिना अनायास कुछ भी प्राप्त नहीं होता

जैनधर्म या जैनदर्शन तथा इसके समकक्ष कुछ अन्य दर्शन एवं धर्म भी यह मानते हैं कि संसार में न तो कुछ अनायास ही, बिना पुरुषार्थ किये प्राप्त होता है और न ही भगवान, देव-देवी, अवतार या परमात्मा से याचना करने से प्राप्त होता है और न दैव, भाग्य आदि भरोसे बैठे रहने से या अप्रत्याशित रूप में भी कुछ मिलता है। मोक्षरूप साध्य भी देव-देवी, भगवान, अवतार, परमात्मा या दैव, भाग्य आदि से याचना करने या इनके भरोसे बैठे रहने से प्राप्त होता है और बिना पुरुषार्थ किये अनायास ही, अप्रत्याशित भी प्राप्त होता है। साधकात्मा (जीव) को प्राप्त हुए त्रिविध योगरूप साधनों द्वारा शुभ या शुद्धरूप में अध्यात्म-साधना में स्वयं पुरुषार्थ करने से ही मोक्षरूप साध्य या संवर-निर्जरारूप धर्म के उपार्जन से कर्मक्षयरूप आंशिक मोक्ष या सर्वांशतः मोक्ष की प्राप्ति होती है। जो लोग दैव या भाग्य आदि के कारण अनायास ही साध्य-सिद्धि प्राप्त होने की बात करते हैं, वे यह भूल जाते हैं कि दैव या भाग्य भी स्व-कृत पूर्व पुरुषार्थ या पूर्वकृत साधना के ही फल हैं। साधना से ही साध्य-सिद्धि की बात ही अन्ततोगत्वा सभी को माननी

---

१. काय-वाङ्-मनःकर्म योगः, स आस्रवः।
शुभः पुण्यस्य, अशुभः पापस्य॥ *–तत्त्वार्थसूत्र, अ. ६, सू. १-३*

२. 'श्रमणसूत्र' (उपाध्याय अमर मुनि) से भाव ग्रहण, पृ. २९९-३००

३. युज्यन्ते इति योगाः = मनोवाक्काय-व्यापारास्ते चेह प्रशस्ता एव विवक्षिताः। *–समवायांग वृत्ति*

पड़ती है। अन्यथा, अहिंसा आदि व्रतों, नियमों, दानादि धर्म या सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रयरूप धर्म के आचारण या पालन में पुरुषार्थ की आवश्यकता क्या है? सभी कुछ बिना सम्यक् पुरुषार्थ किये ही भगवान, देवता या भाग्य से प्राप्त हो जायेंगे।[1]

प्राप्त साधनों के दुरुपयोग या अनुपयोग से साध्य-प्राप्ति संभव नहीं

किन्तु मोक्षरूपी साध्य को प्राप्त करने के लिए साधक को जो त्रिविध मुख्य साधन मिले हैं, वह उनका दुरुपयोग करे या उपयोग ही न करे, तो उससे साध्य की प्राप्ति कोसों दूर हो जाती है।

तीन कोटि के मानव : पतित, यांत्रिक और समुन्नत

संसार में मुख्यतया तीन कोटि के मनुष्य पाये जाते हैं। कुछ व्यक्ति बुरी तरह पिछड़े हुए, अन्ध-विश्वासों में डूबे हुए, अभावग्रस्त, असन्तुष्ट जीवन से निराश-हताश या आत्म-विश्वासहीन, संक्षोभों में जकड़े हुए, विपन्न एवं दुःखित अवस्था में जी रहे हैं। कुछ ऐसे हैं, जो न दुःखी हैं, न सुखी; न पतित हैं, न समुन्नत; किन्तु किसी प्रकार यंत्रवत् जी रहे हैं, वे अपने त्रिविध साधनों का उपयोग न करके तमोगुणाच्छन्न होकर आलस्य और पुरुषार्थहीन जीवन बिता रहे हैं। तीसरी कोटि के कुछ मनुष्य ऐसे हैं, जो विचारक, तत्त्वज्ञ हैं, अपने जीवन का, अपनी आत्मा की उन्नति-अवनति का, हिताहित का विचार करते हैं, वे ऊँची बातें सोचते हैं, दूरदर्शी हैं, अग्रशोची हैं तथा उत्कृष्ट व्यवहार और आचरण करते हैं। वे प्रतिक्षण जागरूक रहकर अपनी आत्मा को यथासंभव विषय-वासनाओं, राग-द्वेषों या कषायों-नोकषायों के विकारों से, कर्मबन्ध के कारणों से दूर रखने और भूल होने, दोष होने या अपराध हो जाने पर यथाशीघ्र अपनी शुद्धि करने का ध्यान रखते हैं।

साध्य-प्राप्ति के लिए आत्म-साधना का अधिकारी कौन और क्यों ?

इन तीनों कोटि के सभी मनुष्यों को पूर्वोक्त त्रिविधयोगरूप साधन जन्म के समय अविकसित रूप में मिलते हैं। इन तीनों कोटि के मानवों की काया की रचना में, इन्द्रियों की उपलब्धि में तथा अंगोपांगों की प्राप्ति में कोई विशेष अन्तर नहीं होता। दशविध प्राणों तथा मनःसंस्थान की प्राप्ति में भी कोई खास फर्क नहीं होता। अन्य साधना या परिस्थितियों का थोड़ा-बहुत अन्तर भी नगण्य होता है। किन्तु पतित, यांत्रिक और समुन्नत, इन तीनों कोटि के मनुष्यों में अन्तर है तो चेतना के विकास में है। अर्थात् तीसरी कोटि वाले की चेतना का ऊर्ध्वारोहण तीव्रता से हो

---

१. 'समतायोग' (रतन मुनि) से भाव ग्रहण, पृ. ४११-४१२

सकता है; प्रथम कोटि के व्यक्तियों की चेतना का अधोरोहण होता रहता है, जबकि बीच के यांत्रिक कोटि के व्यक्ति की चेतना का विकास यथास्थितिरूप होता है।

अतः आत्म-साधना द्वारा साध्य-प्राप्ति के लिए योग्य अधिकारी वही हो सकता है, जो प्राप्त त्रिविध साधनों का शुभ रूप में या शुद्ध रूप में उपयोग करता है।[1]

प्राप्त साधनों का सदुपयोग या शुद्धोपयोग ही साध्य-प्राप्ति कराता है

प्राप्त साधनों का सदुपयोग या शुद्ध उपयोग करने पर ही व्यक्ति साध्य की प्राप्ति कर लेता है या साध्य के निकट पहुँच जाता है। एक अनघड़ या अप्रशिक्षित व्यक्ति के हाथ में बढ़िया कार सौंप दी जाये, जो उसे चलाना नहीं जानता अथवा चलाना जानते हुए भी शराब या नशीली वस्तुएँ खा-पीकर चलाता है, तो दोनों ही प्रकार के व्यक्ति कार को तो नष्ट-भ्रष्ट करेंगे ही, स्वयं भी अपना हाथ-पैर तुड़वा बैठेंगे या एक्सीडेण्ट करके स्वयं को या सवारों को भी घायल कर बैठेंगे या मृत्यु के मुँह में पहुँचा देंगे। परन्तु जो व्यक्ति कार चलाने में कुशल है, अनुभवी है, मद्यपान आदि का त्यागी है, बाहोश है, विवेकी है, वह कुशलतापूर्वक कार चलाकर अपने गन्तव्य स्थान पर स्वयं भी सही-सलामत पहुँच जाता है और कार में सवार व्यक्तियों को भी सुरक्षित रूप से गन्तव्य स्थान पर पहुँचा देता है। इसी प्रकार अनघड़, असंस्कृत या अकुशल या प्रमादी व्यक्ति अपनी आध्यात्मिक-साधनारूपी गाड़ी को त्रिविधयोगों का दुरुपयोग करके पतन के गर्त्त में डाल देगा अथवा अधबीच में ही जिन्दगी को बेकार एवं नष्ट-भ्रष्ट कर डालेगा। परन्तु जो अध्यात्म-साधनारूपी गाड़ी को चलाने में कुशल, प्रशिक्षित और सुसंस्कृत है, अप्रमादी है, वह अपनी साधनारूपी गाड़ी को त्रिविधयोगों के द्वारा सम्यक् संचालन करके सुरक्षित रूप से मोक्षरूपी साध्य की प्राप्ति कर लेगा, अन्य अनेक भव्य आत्माओं को साध्य की प्राप्ति कराने में निमित्त बनेगा अथवा साध्य के निकट पहुँचाने या पहुँचने में सफल होगा।

पत्थर के टुकड़े का मूल्य नगण्य है, परन्तु मूर्तिकार छैनी-हथौड़े से उसे काट-छीलकर तथा यथायोग्य घिसकर मूर्ति का रूप दे देता है, तब वही पत्थर का टुकड़ा बहुमूल्य बन जाता है। अनघड़ स्वर्णखण्ड कुशल स्वर्णकार के हाथों में दिया जाता है, तो वह उसे अपने उपकरणों से तथा स्वर्णखण्ड काट-पीटकर तपा-छीलकर नयनाभिराम आभूषण का रूप दे देता है। इसी प्रकार किसी भी वस्तु को अनघड़ से सुघड़, असंस्कृत से सुसंस्कृत बनाने का कार्य कोई देवी-देव या देवाधिदेव, भगवान या ईश्वर नहीं करते, उसे कुशल, बाहोश, पुरुषार्थी मनुष्य ही अपने त्रिविध साधनों से करता है। जिस प्रकार भौतिक साधनाओं में प्रशिक्षित

---

१. 'समतायोग' से भाव ग्रहण, पृ. ४१२

कुशल मनुष्य अपने उपकरणों = साधनों के सत्पुरुषार्थ से भौतिक पदार्थ को विकसित, परिष्कृत और सुसंस्कृत कर देता है, वैसे ही आध्यात्मिक-साधना में कुशल, अभ्यस्त, प्रशिक्षित मनुष्य अपने त्रिविध साधनों के सत्पुरुषार्थ से आत्मा को विकसित, सुसंस्कृत और परिष्कृत कर मोक्षरूप साध्य की प्राप्ति के योग्य बना देता है। है इसमें प्राप्त साधनों का ही चमत्कार, जिनके सदुपयोग या शुद्धोपयोग से साध्य-प्राप्ति सुगम हो जाती है।[1]

इन्होंने त्रिविधयोगरूप साधनों के सही उपयोग से साध्य-प्राप्ति की

वाल्मीकि ने चेतना को जाग्रत एवं विकसित करने के लिए विपरीत दिशा में बहिर्मुखी बने हुए मन-वचन-काययोगरूप साधनों को अन्तर्मुखी बनाने का पुरुषार्थ किया तो वे पतितात्मा से महात्मा बन सके। अर्जुन मालाकार ने विपरीत दिशा में हिंसारत बने हुए त्रिविध साधनों को विषय-कषायों एवं राग-द्वेषादि कल्मषों से दूर रख परिशुद्ध और निर्मल बनाने का स्वयं प्रयत्न किया तो वे महामुनि बने, उन्होंने उन्हीं साधनों से मोक्षरूप साध्य प्राप्त किया। जिन-जिन लोगों ने भौतिक-साधना वाले प्रेममार्ग पर अपने त्रिविधयोगों को दौड़ाया, उन्होंने जिस दिन अपने उन्हीं त्रिविधयोगों का—साधनों का सही मूल्य समझकर उन्हें अध्यात्म-साधना के श्रेयमार्ग पर लगाया, वे एक दिन मोक्षरूप साध्य को प्राप्त कर सके। हरिकेशबल मुनि इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं।

योग का आध्यात्मिक समाधि के अर्थ में प्रयोग

आध्यात्मिक समाधि के अर्थ में भी योगियों ने योग शब्द का प्रयोग किया है। यह योग का विशिष्ट अर्थ है। महर्षि पतंजलि ने योग का अर्थ चित्तवृत्ति का निरोध किया है। परन्तु जैनाचार्य हरिभद्रसूरि जैसे समभावी आचार्यों ने मोक्ष के साथ जोड़ने वाले विशुद्ध धर्म-व्यापार को योग कहा है, अर्थात् योग मोक्ष की प्राप्ति कराने वाला है। इस अपेक्षा से योग सर्वकर्ममुक्ति की अवस्था तक पहुँचाने वाला है। परन्तु इस अवस्था तक पहुँचने के लिए अध्यात्म-साधनाशील साधक को कई प्रकार के साधनों का अनुष्ठान करना पड़ता है। ये साधन भी प्रमुख योग के साधक होने से इन्हें भी योग कहा जाता है।[2] 'ध्यानशतक' में कहा गया है—"जिसके द्वारा आत्मा को केवलज्ञानादि के साथ संयुक्त किया (जोड़ा) जाता है, उसे योग कहा जाता है।"[3]

---

१. 'समतायोग' से भाव ग्रहण, पृ. ४९२

२. (क) योगः समाधिः, स च सार्वभौमश्चित्तस्य धर्मः। *स्थानांगसूत्र, स्था. ३ वृत्ति*

(ख) योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः। *—योगदर्शन १/१*

(ग) मोक्खेण जोयणाओ जोगो, सव्वोवि धम्मवावारो। *—हरिभद्रसूरि कृत योगदृष्टि समुच्चय*

३. युज्यते वाऽनेन केवलज्ञानादिना आत्मेति योगः। *—ध्यानशतक वृत्ति (हरिभद्रसूरि)*

'समवायांगसूत्र' के ३२वें समवाय में तथा 'आवश्यकसूत्र' के श्रमणसूत्र-अधिकार में ३२ प्रकार के योग-संग्रह का उल्लेख है। योग-संग्रह के इस अपेक्षा से दो अर्थ निष्पन्न होते हैं-(१) प्रथम अर्थ के अनुसार-मन-वचन-काया के त्रिविधयोगों का अध्यात्म-साधना द्वारा साध्य प्राप्त करने हेतु सम्यक्रूप से ग्रहण करना, नियमबद्ध होना, अभिग्रह ग्रहण करना, धारण एवं प्रयोग करना अथवा ग्रहण ज्ञान को भी कहते हैं, इस अपेक्षा से अर्थ होता है-इनके (योगों के) प्रयोग का सम्यग्ज्ञान प्राप्त करना योग-संग्रह है। (२) दूसरे अर्थ के अनुसार-मोक्षरूप साध्य से जोड़ने वाले इन साधनों (योगों) का सम्यक्ग्रहण, प्रयोग, धारण या ज्ञान प्राप्त करना।[1]

अतः मोक्ष के साधन योग्य वे बत्तीस योग-संग्रह इस प्रकार हैं-

मोक्ष के साधन योग्य : बत्तीस योग-संग्रह

(१) गुरुजनों के अपने दोषों की आलोचना (निन्दना, गर्हणा, प्रायश्चित्त) करना (और आत्म-शुद्धि करना), (२) किसी के दोषों की आलोचना सुनकर किसी और के पास न कहना, (३) संकट (विपत्ति) आ पड़ने पर भी धर्म में दृढ़ रहना, (४) किसी की सहायता की अपेक्षा न करते हुए आसक्तिरहित (सकामनिर्जरा की अपेक्षा से) तप करना, (५) (सूत्रार्थग्रहणरूप) ग्रहणशिक्षा (विचारशिक्षा) और आसेवना (आचार) शिक्षा का अभ्यास करना, (६) शरीर की निष्प्रतिकर्मता (शोभा-शृंगार साज-सज्जा से रहितता) रखना, (७) पूजा-प्रतिष्ठा आदि की आशा (मोह) से रहित होकर अज्ञात (गुप्त) तप करना, (८) लोभ का परित्याग करना, (९) तितिक्षा (सहिष्णुता) बढ़ाना, (१०) ऋजुता = सरलता रखना, (११) शुचि = (सत्य एवं संयम की पवित्रता) रखना, (१२) सम्यक्त्व-शुद्धि = सम्यक्दृष्टि, (१३) समाधिस्थ = प्रसन्नचित्तता, (१४) आचार-पालन में माया न करना, (१५) विनयशील होना, (१६) धृतिपूर्वक (धैर्य के सहित) मतिमान् होना, (१७) संवेगयुक्त होना (मोक्षाभिलाषी होना अथवा सांसारिक भोगों से भीरु होना), (१८) प्रणिधि = माया-कपट न करना, (१९) सुविधिपूर्वक सदनुष्ठान करना, (२०) संवरयुक्त (आस्रवों के निरोधयुक्त) होना, (२१) अपने दोषों की शुद्धि (निरोध) करना, (२२) समस्त कामभोगों से विरक्त रहना, (२३) मूलगुणों का शुद्ध (निरतिचार) पालन (शुद्ध प्रत्याख्यान) करना, (२४) उत्तरगुणों का शुद्ध पालन करना, (२५) व्युत्सर्ग (तप) की साधना करना, (२६) प्रमाद न करना, (२७) प्रतिक्षण संयमयात्रा में सावधानी रखना (समाचारी-पालन में दत्तचित्त रहना, (२८) शुभ ध्यान एवं संवरयोग करना, (२९) मारणान्तिक कष्ट आने पर भी

---

१. (क) समवायांगसूत्र, समवाय ३२

(ख) 'श्रमणसूत्र' (उपाध्याय अमर मुनि) से भाव ग्रहण

(ग) 'जैनागमों में अष्टांगयोग' (आचार्य श्री आत्माराम जी म.) से भाव ग्रहण, पृ. २३

अपने ध्येय से विचलित (अधीर) न होना, (३०) संग (आसक्ति) का परित्याग करना, (३१) प्रायश्चित्त ग्रहण करना (आत्म-शुद्धि करना), (३२) अन्तिम समय में संलेखना करके (समाधिमरण करके) आराधक बनना।[1] ये बत्तीस अशुभ योग से निवृत्तिरूप संवर अथवा प्रशस्त योग की साधना के निमित्त कारण हैं, साथ ही मोक्ष से जोड़ने वाली निर्जरा के भी साधन हैं। इन्हें आचार्य श्री आत्माराम जी महाराज ने मोक्ष के साधन योग्य बत्तीस योग-संग्रह कहा है।

ये बत्तीस योग-संग्रह : संवर-निर्जरा-मोक्ष-प्रापक

इन बत्तीस योग-संग्रहों का सूक्ष्म रूप से अवलोकन-मनन-अनुप्रेक्षण करने पर यह स्पष्ट प्रतीत हो जाता है कि इनमें से कई योग तो आस्रवनिरोधरूप अथवा अशुभ योग-निरोधरूप संवर से सम्बन्धित हैं, कई आंशिक रूप से (एकदेश से) कर्मों के क्षय के कारणभूत होने से निर्जरा (सकामनिर्जरा) से सम्बन्धित हैं, जैसे–आलोचना (प्रायश्चित्त तप का प्राथमिक अंग), आपत्ति आने पर समभावपूर्वक धर्म में दृढ़ता रखना, तितिक्षा, विनय, व्युत्सर्गतप, प्रायश्चित्तकरण, संलेखना की आराधना आदि सकामनिर्जरा और उत्कृष्ट रसायन आये तो सर्वकर्मक्षयरूप मोक्ष के हेतु हैं। संवर और निर्जरा ये दोनों कर्मों के आगमन का निरोध और अंशतः कर्मक्षयरूप होने से साधक मोक्ष को मोक्ष के निकट पहुँचाने वाले अथवा आंशिक मोक्ष (कर्ममुक्ति) के कारण हैं।

'योग' शब्द समाधि और संयोग दोनों अर्थों में

श्रमणसंघीय प्रथम पट्टधर आचार्य श्री आत्माराम जी महाराज ने 'योग' शब्द के पूर्वोक्त दोनों अर्थों का निर्देश करते हुए कहा है–"शब्दशास्त्रानुसार युज् धातु से घञ् प्रत्यय लगकर 'योग' शब्द निष्पन्न होता है। युज् नाम के दो धातु हैं, एक समाध्यर्थक है, दूसरा संयोगार्थक। अतएव योग शब्द से (यहाँ) समाधि और संयोग ये दोनों अर्थ फलित होते हैं। (जैनशास्त्रों एवं ग्रन्थों में) इन दोनों अर्थों में योग

१. (क) बत्तीसं जोगसंगहा प. तं.–(१) आलोयण, (२) निरवलावे, (३) आवई-सुदढ-धम्मया, (४) अणिस्सियोवहाणे य, (५) सिक्खा, (६) निप्पडिकम्मया, (७) अण्णायया, (८) अलोभे य, (९) तितिक्खा, (१०) अज्जवे, (११) सुई, (१२) सम्मदिट्ठी, (१३) समाही य, (१४) आयारे, (१५) विणओवए, (१६) धिईमई य, (१७) संवेगे, (१८) पणिही, (१९) सुविही, (२०) संवरे, (२१) अत्तदोसोवसंहारे, (२२) सव्वकाय-विरत्तया, (२३) पच्चक्खाणे, (२४) उत्तरगुण विसय, (२५) विउसग्गे, (२६) अप्पमादे, (२७) लवालवे, (२८) ज्झाण-संवर-जोगे य, (२९) उदएमारणंतिए, (३०) संगाणं च परिण्णाया, (३१) पायच्छित्त-करणेऽवि य, (३२) आराणाय मरणंते; (एए) बत्तीसं जोगसंगहा। –*समवायांगसूत्र, समवाय ३२*

(ख) 'बत्तीसाए जोगसंगहेहिं'–श्रमणसूत्र (उपाध्याय अमर मुनि) से भाव ग्रहण, पृ. २९९

(ग) 'जैनागमों में अष्टांगयोग' (स्व. आचार्य श्री आत्माराम जी.म.) से भाव ग्रहण, पृ. ११

शब्द प्रयुक्त हुआ प्रतीत होता है। समाधि अर्थ में वह साध्यरूप से निर्दिष्ट है और संयोग अर्थ में उसका साधनरूप से परिचय मिलता है।''

परम साध्य की प्राप्ति की दृष्टि से समाधि और संयोग, ये दोनों अर्थ साध्य-साधनरूप हैं

इन दोनों प्रकार के योगों में से जो संयोगार्थक योग शब्द है, जिसकी हमने पूर्व पृष्ठों में मोक्ष-प्राप्ति के साधन के रूप में चर्चा की है, उसमें बत्तीस प्रकार के योग-संग्रह में सहजयोग के वे समस्त साधन निर्दिष्ट हैं, जिनकी साधक को अपने अन्दर ध्यान अथवा समाधि की योग्यता या क्षमता प्राप्त करने के लिए आवश्यकता होती है। आध्यात्मिक शास्त्र की योग-प्रणाली में ये सब साधनयोग या क्रियायोग कहलाते हैं। इस प्रक्रियात्मक योग-संग्रह के अनुसार योग के समाधि और संयोग, ये दो अर्थ साध्य-साधनरूप में फलित होते हैं। संयोगरूप योग साधन है और समाधिरूप योग साध्य है। इतना ध्यान रहे कि समाधिरूप योग में जो साध्यत्व का निर्देश है, वह समाधि के उपायभूत यम-नियमादि की अपेक्षा से है, इसलिए वह अपेक्षाजन्य (सापेक्ष) साध्य है। दोनों प्रकार के योगों का परम साध्य तो मोक्ष है। उस अपेक्षा से तो समाधिरूप योग भी मोक्ष का अन्तरंग साधन होने से वह साधनकोटि में ही परिगणित है।

आगमों और योगग्रन्थों में दोनों अर्थों के प्रमाण

इस दोनों अर्थों के बीज आगमों तथा योगग्रन्थों में मिलतें हैं। 'ध्यानशतक' की टीका में योग का लक्षण संयोगरूप बताया गया है। योग वह है जो आत्मा को उसके केवलज्ञानादि निजी गुणों से संयुक्त कर देता है तथा 'उत्तराध्ययन' की बृहद्वृत्ति में योगवान् उसे कहा गया है जिसके जीवन में योग यानी समाधि हो। अतः पूर्वोक्त दोनों अर्थों में प्रतिबिम्बित होने वाले योग शब्द का निम्नोक्त फलितार्थ निष्पन्न होता है, जिसके द्वारा आत्मा अपने वास्तविक स्वरूप को उपलब्ध हो सके, आत्म-गुणों की पूर्णता तक पहुँच सके, जो आत्मा को उसके परम साध्य सर्वकर्मक्षयरूप मोक्ष के साथ संयुक्त कर दे—जोड़ दे, उसका नाम योग है। योग के इन दोनों अध्यात्मपरक मौलिक अर्थों में स्वाभाविक रूप से मोक्ष साधक धर्मानुष्ठान का ही निर्देश प्राप्त होता है।[1]

---

१. (क) 'जैनागमों में अष्टांगयोग' से भाव ग्रहण, पृ. ३-५

(ख) युज् समाधौ, युजिर् आयोगे। —*सिद्धांतकौमुदी धातुपाठ*

(ग) योगः समाधिः, सोऽस्यास्तीति योगवान्।

—*उत्तराध्ययन, अ. ११, गा. १४ की बृहद्वृत्ति*

(घ) युज्यते वाऽनेन केवलज्ञानादिना आत्मेति योगः।

—*ध्यानशतक वृत्ति (आचार्य हरिभद्रसूरि)*

समाधि और संयोग : ये दोनों योगरूप एक ही पदार्थ के दो रूप

योग के व्युत्पत्तिलभ्य इन दोनों (समाधि और संयोग) अर्थों पर सूक्ष्मदृष्टि से विचार किया जाये तो इन दोनों में भेद-अभेदरूप का आभास होता है। परन्तु गहराई से विचार करने पर दोनों में सामंजस्य ही प्रतीत होगा। वस्तुतः समाधि और संयोग, ये दोनों योगरूप एक ही पदार्थ के विभिन्न दो रूप हैं, एक ही सिक्के के ये दोनों मुखभाग और पृष्ठभाग के समान चित और पटवत् हैं। एक में समाधान प्रधान है तो दूसरे में संयोजन मुख्य है। समाधान (समाधि) आत्मा की समाहित अवस्था, समता की परिणति है, स्वरूप में स्थिति है, जबकि संयोग साधक को अपने परम साध्य से मिलाने बाला है। समाधान यानी समता में अभेददृष्टि की प्रमुखता है, जबकि संयोग में भेदप्रधान विचारों की प्रधानता है। दोनों की प्रतीत होने वाली विभिन्नता चिरकालस्थायी नहीं, अपितु अपने मूल स्रोत–उद्गम स्थान के–परम साध्य के समीप आते ही, दोनों प्रकार के योग अपने व्यापक स्वरूप में लीन हो जाते हैं। अतः दोनों का समन्वयात्मक फलितार्थ यों घटित होता है–मोक्ष-प्राप्ति के मुख्य और गौण, अन्तरंग या बहिरंग, ज्ञानदृष्टि और आचारदृष्टि से जितने भी अध्यात्मशास्त्र-निर्दिष्ट साधन हैं, जो साक्षात् या परम्परा से मोक्ष के उपाय हैं, उनका यथाविधि सम्यक् अनुष्ठान और उससे प्राप्त होने वाली आध्यात्मिक विकास की परिपूर्णता का नाम योग है।[1]

वैदिक विद्वानों द्वारा भी योग शब्द समाधि और संयोग अर्थ में प्रयुक्त

योग शब्द के संयोग और समाधि, इन दोनों मौलिक अर्थों को ही सम्मुख रखकर कतिपय वैदिक विद्वानों ने जो सारगर्भित व्याख्या की है, उससे भी हमारे पूर्वोक्त कथन का समर्थन होता है–

महर्षिगण समाधि को ही योग कहते हैं, जैसे कि योगी याज्ञवल्क्य ने कहा–"समाधि जीवात्मा और परमात्मा की समतावस्था है, जबकि जीवात्मा और परमात्मा के संयोग को योग कहा है।"

अतः स्कन्ध आदि पर स्वामी बालाराम कृत 'योगभाष्य-भूमिका' में कहा गया है–यहाँ जीवात्मा और परमात्मा, इन दोनों का जो सर्व-संकल्पों से रहित समत्व है, उसे ही समाधि कहा जाता है। इसी प्रकार हे परन्तप ! आत्मा और परमात्मा को जो अविभक्त संयोग है, वही संक्षेप में परम योग है, जिसे मैंने तुम्हें कहा है।" प्रस्तुत बत्तीस प्रकार के योग-संग्रह में योग के इन्हीं दो रूपों का मोक्ष-प्राप्ति के साधन के रूप में उल्लेख किया गया है। चित्तवृत्ति-निरोधरूप योगलक्षण में समाधिरूप योग परिलक्षित होता है। चित्त के विषय में इस लक्षण में तीन बातें

१. 'जैनागमों में अष्टांगयोग' से भाव ग्रहण, पृ. ४-६

प्रतिफलित होती हैं-(१) चित्त की सम्यक्प्रवृत्ति, (२) एकाग्रता, और (३) अन्त में, निरोध। जैन प्रक्रिया के अनुसार यह लक्षण मनःसमिति और मनोगुप्ति (मन की एकाग्रता और मनोनिरोध) में गतार्थ हो जाता है।[1]

यों तो बत्तीस प्रकार के योग-संग्रह में, समाधि और संयोग, योग के इन दोनों रूपों का सामंजस्य हो जाता है। परन्तु आचार्य अभयदेवसूरि ने समवायांगसूत्र की वृत्ति में इन बत्तीस ही योगों को मोक्ष से जोड़ने-संयोग करने वाले बताये हैं।

योग-संग्रह के बत्तीस भेद : धर्म-शुक्लध्यान के रूप में

किन्तु आचार्य जिनदास महत्तर योग के समाधिरूप अर्थ को ध्यान में रखकर धर्मध्यान के १६ भेद एवं शुक्लध्यान के १६ भेद, यों बत्तीस ध्यान-भेदों को योग-संग्रह के रूप में प्रस्तुत करते हैं। फलितार्थ यह है कि योग-संग्रह में परिगणित ३२ प्रकार के साधनों को लेकर साधना करने से धर्मध्यान और शुक्लध्यान की उपलब्धि हो जाती है, जो मोक्ष-प्राप्ति के अन्तरंग कारण हैं।[2] तात्पर्य यह है कि बत्तीस योग-संग्रह में योग के वे समस्त साधन निर्दिष्ट हैं, जिनको साधक अपने में ध्यान या समाधि की योग्यता प्राप्त करने के लिए आवश्यकता होती है।

वस्तुतः समाधि ध्यान की परिपक्व अवस्था है अथवा ध्यान से प्राप्त होने वाला चित्तवृत्ति का अस्पन्दन मात्र है। जैसा कि स्कन्धाचार्य ने भी कहा है-वह ध्यान ही है, जिसका अभ्यास करते-करते कालक्रम से परिपक्व दशा को प्राप्त हो जाने को 'समाधि' कहा जाता है अथवा ध्यान से बुद्धि के अस्पन्दन को समाधि कहा जाता है। जैनदृष्टि से समाधि शुक्लध्यान के चारों पादों में तिरोहित हो जाती है। अतः समाधि ध्यान की अवस्था-विशेष ही है।[3]

---

१. (क) समाधिमेव च महर्षयो योगं व्यपदिशन्ति। यदाहुः योगि-याज्ञवल्क्याः-समाधिः समतावस्था जीवात्म-परमात्मनोः। संयोगो यो इत्युक्तः जीवात्म-परमात्मनोः इति। अतएव स्कन्धादिषु-यत्समत्वं द्वयोरत्रजीवात्म-परमात्मनोः। सन्नष्ट-सर्वसंकल्पः समाधिरभिधीयते।

(ख) परमात्मात्मनोर्योऽयमविभागः परंतप ! स एव तु परोयोगः समासात् कथितस्तव। इत्यादिषु वाक्येषु योगसमाध्योः समानलक्षणत्वेन निर्देशः संगच्छते। *-योगभाष्य-भूमिका*

२. (क) 'श्रमणसूत्र' (उपाध्याय अमर मुनि) से भाव ग्रहण, पृ. २९९

(ख) धम्मोसोलसविधं एवं सुक्कं पि। *-आचार्य जिनदास महत्तर*

३. (क) 'जैनागमों में अष्टांगयोग' से भाव ग्रहण, पृ. ५

(ख) समाधिर्ध्यानमेव हि। *-योगशास्त्र*

(ग) तदेतद्ध्यानमेव चाभ्यस्यमानं कालक्रमेण परिपाकदशापन्नं समाधिरित्यभिधीयते। -'ध्यानादस्पन्दनं बुद्धेः समाधिरित्यभिधीयते।' इति स्कन्धाचार्योक्तिः।

योग के अष्टांगों में ध्यान का महत्त्व

वस्तुतः ध्यान योग के अन्य अंगों की अपेक्षा सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अंग है। भगवान महावीर ने ध्यान को आभ्यन्तरतप बताकर विस्तृत चर्चा की है। 'स्थानांगसूत्र' में शुभध्यान के धर्मध्यान और शुक्लध्यान ये दो प्रकार उपादेय बताये हैं।

प्रबलता से कर्मक्षय करने में ध्यान ही सक्षम

आचार्य जिनदास ने ध्यानद्वय को इसलिए योग-संग्रह के ३२ प्रकारों में परिगणित किया है कि ध्यान से कर्मों का क्षय अत्यन्त प्रबलता से होता है। उसके प्रकाश से रागादि अन्धकार का नाश अत्यन्त तीव्रता से होता है। पापराशि को भस्म करने के लिए ध्यान जाज्वल्यमान अग्नि के सदृश है। उत्तरोत्तर असंख्यात-असंख्यातगुणी सकामनिर्जरा करने के लिए ध्यान बहुत बड़ा मोक्ष साधन है। ध्यान से निष्पन्न होने वाली एकाग्रता से आध्यात्मिक विकास में अपूर्व प्रगति होती है। आत्म-स्वरूप में रमण करने के लिए, परमात्मपद की प्राप्ति के लिए, आत्म-गुणों को अनावृत करने के लिए ध्यान–शुक्लध्यान प्रबल साधन है।[1]

जैनागमों में ध्यान का विस्तृत वर्णन करने के साथ-साथ उसकी आत्म-कैवल्य = आत्म-निर्वाण के साथ अतिनिकटता प्रगट की गई है।

धर्मध्यान और शुक्लध्यान का संक्षिप्त परिचय

धर्म और शुक्लध्यान के विषय में हम अन्य निबन्धों में काफी प्रकाश डाल चुके हैं। ये दोनों ध्यान मोक्ष के साधक होने से सुध्यान कहलाते हैं। ये दोनों सर्वथा उपादेय हैं। फिर भी संक्षेप में यहाँ उनके स्वरूप और प्रकार के विषय में प्रसंगवश परिचय देना उचित रहेगा।

धर्मध्यान का स्वरूप और चार प्रकार

जिस चिन्तन में केवल कर्मक्षयकारक धर्म को प्रधान स्थान प्राप्त हो उसे धर्मध्यान कहा गया है। धर्मतत्त्व के स्वरूप का चिन्तन मुख्यतया आज्ञा, अपाय, विपाक और संस्थान (लोकरचना) पर आधारित होने से धर्मध्यान का फलितार्थ होता है–आज्ञा, अपाय, विपाक और संस्थान आदि के सतत एकाग्रतापूर्वक चिन्तन करना। इन चारों पर धर्मध्यान निर्भर होने से धर्मध्यान के चार प्रकार होते हैं।[2]

---

१. 'जैनागमों में अष्टांगयोग' से भावांश ग्रहण, पृ. २०

२. धर्मध्यान के चार आलम्बन, चार अनुप्रेक्षाएँ, चार लक्षण

आज्ञाविचय का स्वरूप और चिन्तन की पद्धति

आज्ञाविचय का अर्थ है–वीतराग, परम आप्त, सर्वज्ञ-सर्वदर्शी प्रभु की आज्ञा = आदेश के अनुरूप विचय यानी विचार करना। अर्थात् प्रभु आज्ञा के अनुरूप वस्तुतत्त्व-चिन्तन मनोयोगपूर्वक करना; वह भी योग्य स्थान और योग्य आसन से बैठकर।

तीर्थंकर भगवान सर्वज्ञ और सर्वदर्शी थे, संसार के किसी भी स्थूल और सूक्ष्म पदार्थ का स्वरूप उनके ज्ञान से ओझल नहीं तथा वे वीतराग थे, इसलिए असत्य भाषण नहीं कर सकते, क्योंकि असत्य भाषण के हेतु होते हैं–राग, द्वेष, मोह, जो उनमें जरा भी नहीं थे। उनके परस्पर अविरोधी वचनों से यह भलीभाँति प्रमाणित होता है कि वे आप्त थे तथा उनकी सर्वज्ञता और वीतरागता का जीता-जागता नमूना है–उनका आदर्श चरित्र। अतः उनके द्वारा बताये गए प्रमाण, नय, निक्षेप आदि के द्वारा वस्तुतत्त्व का निर्णय करना, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य द्वारा सुनिश्चित होने वाले परिणामिनित्यत्व के सिद्धान्त की स्थापना के माध्यम द्रव्य-भावश्रुत द्वारा तीर्थंकर देव द्वारा प्रज्ञप्त श्रुत-चारित्र सम्बन्धी समस्त आज्ञाओं पर चिन्तन-मनन करना,[1] प्रथम भेद है।

अपायविचय का स्वरूप और उसकी चिन्तन-पद्धति

अपायविचय–अपाय का अर्थ है–दुःख। उसके मुख्य कारण हैं–राग, द्वेष, मोह और विषय-कषाय। इन सबके चिन्तन की भूमि है–अपायविचय धर्मध्यान। अपायविचय के लिए चिन्तन इस प्रकार करना चाहिए–"इस संसार में आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक तीनों प्रकार के दुःखों से सांसारिक प्राणी त्रस्त हैं। वे शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक, व्याधि, आधि और उपाधि से जकड़े हुए हैं, दुःखों का अन्त नहीं कर पा रहे हैं। सौभाग्य से मैं संसार-सागर को पार करने हेतु सम्यग्दर्शनादि चार मोक्ष साधनों की सहायता से दुसार संसार-सागर के किनारे आ पहुँचा हूँ। यहाँ से फिसल पड़ने का भय अभी बाकी है। इसलिए मुझे बहुत ही सावधान और अप्रमत्त रहने की जरूरत है। यहाँ तक पहुँचने पर मेरे विवेकचक्षु का आवरण कम हो गया है। मैं अपने स्वरूप को यत्किंचित् समझने लगा हूँ। मैं समझता हूँ कि मैं (मेरी शुद्ध आत्मा) अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त अव्याबाध सुख (आनन्द) और अनन्त आत्म-शक्तियों से पूर्ण (शुद्ध) सिद्ध परमात्मा हूँ, परन्तु वर्तमान में अष्टविध कर्मपंक से सम्पर्क से मेरे में जो मलिनता, कुण्ठा, आवरण एवं मूढ़ता (सुषुप्ति) आई हुई है, उसे मैं प्रबल ध्यानाग्नि ज्वाला से भस्म करके शुद्ध स्वर्णवत् अपने शुद्ध स्वरूप को प्रकट करने के लिए मुझे

१. 'जैनागमों में अष्टांगयोग' से भाव ग्रहण, पृ. २७-२८

अपने वीर्य (आत्म-शक्ति) का पूरा-पूरा उपयोग कर लेना चाहिए। ऐसा अवसर मनुष्य-जन्म के सिवाय और कहीं नहीं मिलेगा। कर्ममल के नाशक और मोक्षसुख के आधायक जिन-जिन उपायों में जिन-जिन साधनों की आवश्यकता उन सबका निर्देश सर्वज्ञ वीतराग परमात्मा ने प्रथम ही कर दिया है। अतएव अब मुझे तदनुसार अपने जीवन को सुदृढ़ रूप से संघटित करके राग-द्वेष-कषाय-मूलक वैभाविक संस्कारों का त्याग और स्वभाव में रमण करके अपने शुद्ध आत्म-स्वरूप को प्रकट करना चाहिए। पर-भावों का त्याग और स्वभाव में रमण (स्वरूप स्थिति) ही आत्मानुभूति, मोक्ष-प्राप्ति, परमात्मपद की उपलब्धि की एकमात्र कुँजी है।"[1] धर्मध्यान-साधक की इस प्रकार की विचारधारा का मूल स्रोत यह दूसरा भेद है।

विपाकविचय का स्वरूप और उसकी चिन्तन-पद्धति

विपाकविचय–धर्मध्यान का यह तीसरा भेद है। विपाक कहते हैं–कर्मजन्य फल को। ज्ञानावरणीय आदि अष्टविध कर्मों के विपाकोदय (कर्मों के उदय के पश्चात् मिलने वाले फल) को जीव किस-किस प्रकार से भोगता है? इन कर्मविपाकों से छूटने, इन कर्मों के बन्ध को रोकने तथा कर्मों को (स्पष्ट, बद्ध निधत्त आदि रूप में बँधे हुए कर्मों को) कैसे शुभ-अशुभ में बदला जा सकता है? कैसे सजातीय कर्म का एक-दूसरे में संक्रमण किया जा सकता है? इत्यादि विचार तथा गुणस्थानों के आरोह क्रम से इन कर्मों से सम्बन्ध-विच्छेद किस प्रकार से किया जा सकता है? इन और ऐसे समस्त विषयों को चिन्तन की मनोभूमि विपाकविचय है।

संस्थानविचय का स्वरूप और उसकी चिन्तन-पद्धति

संस्थानविचय–यह धर्मध्यान का चतुर्थभेद है। संस्थान कहते हैं–लोक-रचना को। लोक कितने हैं? उनमें कहाँ-कहाँ, कौन-कौन से जीव रहते हैं? जाते हैं, वहाँ से दूसरे किस-किस लोक में जाते हैं? लोक को किसने बनाया है? यह लोक प्रकृति गत स्वतः सिद्ध है। जड़ और चेतनरूप से उपलब्ध होने वाले पदार्थों का समुदायमात्र है–लोक। यह अपने नियमानुसार उत्पत्ति, स्थिति और विनाश को प्राप्त हो रहा है। लोक का यह परिवर्तन अकृत्रिम अर्थात् स्वतःसिद्ध है। इसमें जड़ और चेतन की स्व-स्वगत शक्ति के सिवाय किसी दूसरे का हस्तक्षेप नहीं है और न ही संभव है। अतः इस जड़-चेतनात्मक लोक का उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य अनादि-अनन्त है। यह लोक द्रव्यदृष्टि (द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा) से सदा शाश्वत, नित्य है और पर्यायदृष्टि (पर्यायार्थिकता की अपेक्षा) से अशाश्वत, अनित्य है। संक्षेप में, यह लोक नित्यानित्य–उभयस्वरूप या परिणामि-नित्य है तथा यह लोक देव, नारक,

---

१. 'जैनागमों में अष्टांगयोग' से भाव ग्रहण, पृ. २८-२९

मनुष्य और तिर्यञ्च आदि की विभिन्न योनियों के जीवों का आधार होने से ऊर्ध्वलोक, मध्यलोक एवं अधोलोक; इन तीन भागों में विभक्त है।" इन और ऐसे ही लोक-सम्बन्धी विचारों का स्रोत धर्मध्यान का यह चतुर्थभेद-संस्थानविचय है।[1]

भगवान महावीर द्वारा किया गया संस्थानविचय ध्यान का प्रयोग

संस्थानविचय धर्मध्यान भगवान महावीर के ध्यान का भी विषय रहा है। 'आचारांगसूत्र' में उनकी साधना के संक्षिप्त विवरण प्राप्त होते हैं। भगवान महावीर की ध्यानचर्या से धर्मध्यान के संस्थानविचय नामक ध्यान का विषय अधिक स्पष्ट हो जाता है-"वे भगवान महावीर के ध्यान के योग्य आसन से निश्चल रूप से बैठकर ऊर्ध्वलोक, अधोलोक एवं तिर्यग्लोकगत जीव-अजीव आदि पदार्थों का द्रव्य और पर्यायरूप से चिन्तन करते हुए समाधि को प्राप्त हो जाते थे तथा आत्म-शुद्धिरूप समाधि का प्रेक्षण करते थे।" इसके अतिरिक्त 'आचारांगसूत्र' में भगवान् महावीर के स्वयं कथन का उल्लेख है कि "जिस प्रकार मैंने यहाँ (मनुष्यलोक में) कर्मों की सन्धि (बन्ध) को क्षीण किया है, उस प्रकार से अन्यत्र (मनुष्यलोक के सिवाय) कर्मसन्धि का क्षीण होना दुष्कर है, कठिन है।" यह भी कहा है-(इस लोकविचय धर्मध्यान के द्वारा) "यहाँ साधक गति-आगति को जानकर जन्म-मरण के मार्ग को पार करके शीघ्र मोक्ष को पा लेता है।"[2] भगवान महावीर के लिए कहा गया है-"वे लोकविपश्यना करते थे।"

धर्मध्यान के चारों भेदों को क्रियान्वित करने के लिए सहायक बारह प्रकार

इस प्रकार धर्मध्यान के इन चारों भेदों को जानने तथा क्रियान्वित करने के लिए 'स्थानांगसूत्र' में इसके चार लक्षण बताए हैं-आज्ञारुचि, निसर्गरुचि, उपदेशरुचि एवं सूत्ररुचि। धर्मध्यान सालम्बन होने से इसके चार आलम्बन बताए हैं-वाचना, पृच्छना, परिवर्तना और धर्मकथा। धर्मध्यान के विषय में गहराई से चिन्तन के लिए ४ अनुप्रेक्षाएँ बताई हैं-अनित्यानुप्रेक्षा, अशरणानुप्रेक्षा, एकत्वानुप्रेक्षा तथा संसारानुप्रेक्षा। इस प्रकार योग-संग्रह में धर्मध्यान के ४ प्रकार, ४ लक्षण, ४ आलम्बन और ४ अनुप्रेक्षाएँ मिलकर धर्मध्यान के कुल १६ भेद परिगणित हैं, जो मोक्ष-साधना के लिए योग्य हैं।

---

१. 'जैनागमों में अष्टांगयोग' से भाव ग्रहण, पृ. ३०

२. (क) अविज्झाइ से महावीरे आसणत्थे अकुक्कुए झाणं।
उड्ढं अहे तिरियं च पेहमाणे समाहिमपडिवन्ने॥ *-आचारांग, अ. ९, उ. ४, सू. १०८*

(ख) जहित्थ मए संधी झोसिए, एवमन्नत्थ संधी दुज्झोसए भवइ, तम्हा बेमि नो निहणिज्ज वीरियं। *-वही, श्रु. १, अ. ५, उ. ३*

(ग) आयतचक्खू लोगविपस्सी। *-आचारांग*

धर्मध्यान का महत्त्व, लाभ, शुक्लध्यानयोग्य बनने से पूर्व उपादेय

इस प्रकार धर्मध्यान के उपर्युक्त चार विचयों (चिन्तनक्रमों) का संक्षिप्त स्वरूप लक्षण, आलम्वन और अनुप्रेक्षण के सहित भलीभाँति जान लेने पर धर्मध्यान के वार-वार अभ्यास से लेश्याओं की विशुद्धि परिणामों की उत्तरोत्तर आरोहण धारा में वृद्धि, वैराग्य की प्राप्ति और शुक्लध्यान की योग्यता, ये चारों वातें योग-संग्रह के साधक को सहज ही प्राप्त हो जाती हैं। क्योंकि धर्मध्यान की साधना पहले किये विना, अर्थात् धर्मध्यान में निष्णात हुए विना शुक्लध्यान की योग्यता प्राप्त नहीं होती। धर्मध्यान सालम्वन और शुक्लध्यान निरालम्वन ध्यान है अर्थात् साधक पहले सालम्वन ध्यान में प्रवृत्त हुए विना निरालम्वन ध्यान की योग्यता प्राप्त नहीं कर सकता। इसी दृष्टि से शास्त्रकारों ने पहले धर्मध्यान और उसके चार भेदों एवं १२ अन्य सहायकों का विधान किया है, योग-संग्रह के साधकों के लिए। सालम्बन ध्यान के द्वारा जव चित्त में स्थिरता और एकाग्रता, प्रज्ञा में स्थिति उत्पन्न होती है, तब योगसाधक की आत्मा निरालम्वन ध्यान के योग्य बनती है। इसीलिए योगसाधक मुमुक्षुओं को विशुद्ध आत्म-तत्त्व-चिन्तन की योग्यता प्राप्त करने के लिए पहले धर्मध्यानगत वस्तुतत्त्व–वस्तुधर्म का चिन्तन करके मानसिक–बौद्धिक स्थिरता प्राप्त करनी चाहिए। ऐसा करने पर ही वह स्थूल से सूक्ष्म, सालम्बन से निरालम्बन और लक्ष्य से अलक्ष्य तथा भेद से ध्यान-ध्याता-ध्येय की अभेदता में प्रवेश कर सकता है। इसलिए स्थितप्रज्ञ बनने, मानसिक शान्ति, एकाग्रता, स्थिरता एवं योगों की निस्पन्दता प्राप्त करने हेतु पहले धर्मध्यान को अतीव उपयोगी और उपादेय बताया गया है।[1]

धर्मध्यान के पश्चात् शुक्लध्यान का अभ्यास : क्यों ?

धर्मध्यान के पश्चात् शुक्लध्यान का अभ्यास योगसाधक के लिए अतीव आवश्यक है, अन्यथा वह विशुद्ध आत्म-चिन्तन की क्षमता और अर्हता से सम्पन्न नहीं हो सकता। शुक्लध्यान सब ध्यानों में विशिष्ट ध्यान है।

शुक्लध्यान का अधिकारी साधक कौन ?

शुक्लध्यान के लिए पर्याप्त मानसिक बल और अत्यन्त शारीरिक बल भी अपेक्षित है। उत्तम संहनन वाला साधक ही शुक्लध्यान का अधिकारी हो सकता है, क्योंकि इस ध्यान में जितना मानसिक बल, मानसिक स्थिरता अपेक्षित है, उतना ही शारीरिक बल भी अपेक्षित है। पर्याप्त मानसिक स्थिरता, धैर्य, साहस और शक्ति के बिना शुक्लध्यान की अर्हता नहीं आती। और पर्याप्त मानसिक बल, धैर्य, गाम्भीर्य, स्थैर्य और साहस का संचय तब तक शक्य नहीं है, जब तक साधक के शरीर का

---

१. 'जैनागमों में अष्टांगयोग' से भाव ग्रहण, पृ. २६, ३१

संघटन वज्रऋषभनाराच या ऋषभनाराच जैसा नहीं होता। अत्यन्त भयंकर अनेकानेक कष्टों-परीषहों तथा उपसर्गों के उपस्थित होने पर जिस साधक की चित्तवृत्ति में रंचमात्र भी विकार उत्पन्न न हो, वही शुक्लध्यान का अधिकारी है।[1]

शुक्लध्यान के प्रारम्भिक अभ्यासी साधक की अर्हता

यद्यपि शुक्लध्यान का अभ्यासी साधक प्रारम्भिक भूमिका में इतना धैर्यशील, इतना सहिष्णु न हो, तो भी शुक्लध्यानी के मानसिक एवं शारीरिक बल के साथ-साथ उसका हृदय पूर्णतया वैराग्यवासित होना चाहिए। उसका मानसिक निरोध भी उच्च कक्षा का होना आवश्यक है। उसकी आत्मा में प्रशम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा और आस्था परम उच्च कोटि की होनी चाहिए। धर्मध्यान से शुक्लध्यान को बढ़कर इसलिए माना गया है कि धर्मध्यान कम योग्यता वाला सम्यग्दृष्टि तथा श्रावकव्रती भी कर सकता है, जबकि शुक्लध्यान तो वही कर सकता है, जिसका शारीरिक संहनन सुदृढ़ एवं वज्रऋषभनाराच, ऋषभनाराच और नाराच, इन तीनों उत्तम कोटि के संहननों में से किसी एक कोटि का हो। ध्यान का लक्षण 'तत्त्वार्थसूत्र' के अनुसार है-उत्तम संहनन वाला साधक ही शुक्लध्यान में प्रवेश पा सकता है। साधक में जब तक इतनी योग्यता न हो, तब तक उस साधक को आत्मोत्कर्ष के लिए धर्मध्यान में ही धैर्यपूर्वक प्रगति करते रहना चाहिए।

धर्मध्यान और शुक्लध्यान का फल

धर्मध्यान के अनुष्ठान को विधिपूर्वक सम्यक् प्रकार से करने से देवलोक की प्राप्ति होती है। अतः धर्मध्यान साधक देवलोक के उत्तमोत्तम स्वर्गीय सुखों को भोगकर पुनः मनुष्यगति में आकर विवेक-प्राप्ति द्वारा कर्मों का क्षय करके शुक्लध्यान के अनुष्ठान से अव्ययपद-मोक्ष सर्वकर्ममुक्ति को प्राप्त कर लेता है। निष्कर्ष यह है कि शुक्लध्यान का फल परम कल्याणरूप मोक्ष और धर्मध्यान का फल स्वर्ग है।[2]

शुक्लध्यान का स्वरूप, अर्थ और लक्षण

शुक्लध्यान आत्मा की सर्वोत्कृष्ट स्थिति है, आत्मा का अपने स्वरूप में पूर्ण रूप से स्थित होना, एकमात्र स्वरूप में रमण करना है, आत्मा को अपने अनन्त चतुष्टयरूप निज गुणों को प्राप्त कर लेना है। इस कारण शुक्लध्यान में चित्रवृत्ति की

---

१. (क) उत्तम संहननस्यैकाग्रचित्तानिरोधो ध्यानम्। *-तत्त्वार्थसूत्र* ९/२७

(ख) 'जैनागमों में अष्टांगयोग' से भाव ग्रहण, पृ. ३१-३२

(ग) वज्रऋषभनाराच, ऋषभनाराच और नाराच, ये तीन संहनन शारीरिक संघटन उत्तम माने गए हैं। *-सं.*

२. 'जैनागमों में अष्टांगयोग' से भाव ग्रहण, पृ. ३३

पूर्ण एकाग्रता और निरोध सम्पन्न हो जाता है। इसलिए केवल आत्मोन्मुख निष्कषाय (उपशान्त) और क्षय (घातिकर्मक्षय) भाव से युक्त चित्त शुक्ल कहलाता है। शुक्लध्यान का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ 'ध्यानशतक टीका' में हरिभद्रसूरि ने इस प्रकार किया है-"शुचं क्लमयस्तीति शुक्लं = शोकं ग्लपयतीत्यर्थः। ध्यायते चिन्त्यतेऽनेन तत्त्वमिति ध्यानमेकाग्रचित्तनिरोध इत्यर्थः। शुक्लं च तद्ध्यानं शुक्लध्यानम्।" अर्थात् जो शोक (आत्मा-सम्बन्धी समस्त शोच) को क्षय, नष्ट कर देता है, वह शुक्ल है। यानी जिससे आत्मगत शोक की सर्वथा निवृत्ति हो जाए, ऐसा समस्त शोक निवर्तक एकाग्रचित्त निरोधरूप ध्यान शुक्लध्यान है।[1]

शुक्लध्यान के चार प्रकार और उनका स्वरूप

शुक्लध्यान के भी 'स्थानांगसूत्र' में चार भेद बताए हैं-(१) पृथक्त्व-वितर्क-सविचार, (२) एकत्व-वितर्क-अविचार, (३) सूक्ष्मक्रिया-अप्रतिपाती, और (४) व्युपरतक्रिया निवृत्ति अथवा समुच्छिन्न-क्रियानिवृत्ति।[2]

(१) **पृथक्त्व-वितर्क-सविचार**-जब कोई साधक श्रुतज्ञान के आधार पर जीव-अजीव आदि पदार्थों का द्रव्य, पर्याय आदि विविध दृष्टियों से पृथक्-पृथक् विश्लेषण करके भेद-प्रधान चिन्तन करता है और उसके इस प्रकार के चिन्तन में एक अर्थ-पदार्थ से दूसरे अर्थ-पदार्थ पर, एक शब्द से दूसरे शब्द पर और एक योग से दूसरे योग पर संचार (चंक्रमण) होता रहता है, तब इस श्रुतज्ञानावलम्बी भेद-प्रधान सविचार (चिन्तन) को पृथक्त्व-वितर्क (श्रुतज्ञान) सविचार शुक्लध्यान कहा जाता है।

धर्मध्यान के और इस ध्यान के अवलम्बन में अन्तर यह है कि धर्मध्यान में तो बाह्य वस्तुओं का अवलम्बन लिया जाता है, जबकि इस प्रथम शुक्लध्यान में मात्र श्रुतज्ञान का ही अवलम्बन लिया जाता है।

(२) **एकत्व-वितर्क-अविचार**-इसमें प्रथम शुक्लध्यान से विपरीत चिन्तन है। दूसरे शुक्लध्यान का साधक श्रुतज्ञान के आधार पर पदार्थों के विविध स्वरूपों का केवल अभेद-प्रधानदृष्टि से चिन्तन करता है। उसके इस चिन्तन में प्रथम शुक्लध्यान की तरह एक अर्थ से दूसरे अर्थ पर, एक शब्द से दूसरे शब्द पर या एक योग से दूसरे योग पर संचरण नहीं होता, किन्तु इस द्वितीय ध्यान का ध्याता

---

१. (क) 'जैनागमों में अष्टांगयोग' से भाव ग्रहण, पृ. ३४

(ख) ध्यानशतक टीका

२. (क) सुक्कझाणे चउव्विहे प. तं.-पुहुत्तवियक्के सवियारी, एगत्तवियक्के अवियारी, सुहुमकिरिए अप्पडिवाइ, समुच्छिन्नकिरिए अणियट्टी।

(ख) पृथक्त्वैकत्ववितर्क-सूक्ष्मक्रियाऽप्रतिपाति-व्युपरतक्रियाऽनिवृत्तीनि। *-तत्त्वार्थसूत्र* ९/४१

किसी एक ही पर्यायरूप अर्थ को लेकर मन, वचन और काया के किसी एक ही योग पर स्थिर रहकर एकत्व = अभेद-प्रधान चिन्तन करता है। इसीलिए इस ध्यान का नाम एकत्व-वितर्क-अविचार शुक्लध्यान है। इसमें उत्कृष्ट श्रुतज्ञान का आलम्बन समान होने पर भी एकत्व और अविचार की विशेषता स्पष्ट है।[1]

शुक्लध्यान के आदि के दो भेद सालम्बन और अन्तिम दो भेद निरालम्बन हैं

निष्कर्ष यह है कि शुक्लध्यान के आदि के दो भेदों में किसी वस्तु के आलम्बन की आवश्यकता नहीं रहती, श्रुतज्ञान और योग का आलम्बन रहता है और अन्तिम दो भेदों में तो किसी प्रकार के आलम्बन की आवश्यकता नहीं रहती। इसलिए शुक्लध्यान के प्रथम के दो भेदों को सालम्बन शुक्लध्यान कहा जाता है और अन्तिम दो भेदों को वैकल्य-दशा भावी होने से निरालम्बन शुक्लध्यान में परिगणित किया जाता है।[2]

किस शुक्लध्यान में कितने योग ?

यद्यपि तीसरे भेद में योग तो होता है, यानी सयोगीकेवली नामक तेरहवें गुणस्थान में मन-वचन-काया का व्यापार रहता है, किन्तु वह केवल द्रव्यरूप से अवस्थित है, भावरूप से नहीं। 'तत्त्वार्थसूत्र' के अनुसार—प्रथम शुक्लध्यान तीन योग वाले को, द्वितीय शुक्लध्यान तीन में से किसी एक योग वाले को, तृतीय शुक्लध्यान केवल काययोग वाले को और चतुर्थ शुक्लध्यान सर्वयोगरहित अयोगी को होता है। प्रथम के दो भेदों में उत्कृष्ट श्रुतज्ञान होता है और पिछले दोनों भेदों में परम विशुद्ध केवलज्ञान। प्रथम के दोनों शुक्लध्यानों का आश्रय एक है, इन दोनों के अधिकारी होते हैं—पूर्ववेत्ता श्रुतकेवली। प्रथम के दोनों सवितर्क यानी श्रुतज्ञानसहित हैं। पहला शुक्लध्यान सविचार अर्थात् अर्थ, व्यञ्जन और योग के संक्रमण = परिवर्तन का नाम विचार है, उसके सहित है, जबकि दूसरे शुक्लध्यान में वैसा नहीं होता। यह अन्तर इन दोनों के नाम से ही स्पष्ट है।[3]

प्रथम ध्यान दूसरे ध्यान का पूरक और साधक तथा विशेष सामान्यगामी दृष्टि

एक बात और ध्यान में रखनी है कि इन दोनों आदि के शुक्लध्यानों में से पहला ध्यान दूसरे ध्यान का पूरक है, साधन है। पहले ध्यान में निष्णात होने पर

---

१. 'जैनागमों में अष्टांगयोग' से भाव ग्रहण, पृ. ३५

२. वही, पृ. ३४

३. (क) वही, पृ. ३४-३५

(ख) तत् त्र्येककाय-योगाऽयोगानाम्। एकाश्रये सवितर्के पूर्वे। अविचारं द्वितीयम्। शुक्ले चाद्ये पूर्वविदः। परे केवलिनः। —*तत्त्वार्थसूत्र, अ. ९, सू. ४२-४४, ३९-४०*

(ग) वितर्कः श्रुतम्। विचारोऽर्थ व्यंजन-योग-संक्रान्तिः। —*वही, अ. ९, सू. ४५-४६*

ही दूसरे ध्यान की योग्यता प्राप्त होती है। इस द्वितीय शुक्लध्यान में प्रवेश करते ही साधक की भेद-प्रधानदृष्टि लुप्त हो जाती है, उसका विभिन्न विषयगामिनी चिन्तन एक ही विषय (पर्याय) में केन्द्रित हो जाता है। वह द्रव्यगत पर्यायों की विभिन्नता में भी एकता के दर्शन करता है। अतएव उसकी दृष्टि विशेषगामिनी न होकर सामान्यगामिनी होती है अर्थात् पदार्थ में दृश्यमान उत्पाद और विनाश से पहले और पीछे पदार्थरूप से सदा स्थिर रहने वाली अभेदगामिनी अविनाशी सत्ता ही उसके चिन्तन का एकमात्र विषय होता है।[1]

द्वितीय शुक्लध्यान की उपलब्धियाँ

इस प्रकार अभेद-प्रधान चिन्तन के फलस्वरूप इस ध्यान का साधक मन को पूर्णतया स्थिर कर लेता है। उसकी चंचलता सर्वथा नष्ट हो जाती है। वह एकाग्र और (चिन्तन) निरोधरूप परिणाम को प्राप्त होकर सर्वथा निष्प्रकम्प हो जाता है। इसे ही पातंजल योगदर्शन का चित्तवृत्ति का सर्वथा निरोधरूप योग है।

इस ध्यान के फलस्वरूप साधक को एक विशेष प्रकार के अनुभव की उपलब्धि होती है। जिसे अन्य दार्शनिक भाषा में–'अपरोक्षानुभूति' कहा जाता है, उसी की उपलब्धि इस ध्यानसाधक को हो जाती है। जिसके प्रभाव से आत्मा की सर्व-पदार्थ-बोधक ज्ञान, दर्शन एवं वीर्य आदि शक्तियों के आवरक, कुण्ठितकर्त्ता, आत्म-गुणघातक एवं प्रतिबन्धक ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय, इन चारों घातिकर्मों का समूल नाश हो जाता है। साधक की आत्मा मध्याह्न के सूर्य के सदृश अपनी अनन्त-चतुष्टयरूप सम्पूर्ण शक्तियों के पूर्ण विकास से प्रतिभासित होने लगती है और तभी उसे सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, वीतराग, सर्वशक्ति-सम्पन्न (सदेह) परमात्मा और जीवन्मुक्त आदि नामों से सम्बोधित किया जाता है। यह दूसरे शुक्लध्यान का महत्त्व और लाभ है।

पातंजल योगदर्शन में उक्त सम्प्रज्ञातयोग के वितर्कानुगत, विचारानुगत, आनन्दानुगत और अस्मितानुगत, इन चारों भेदों का इन दोनों प्राथमिक शुक्लध्यानों में अन्तर्भाव (समावेश) हो जाता है।[2]

(३) **सूक्ष्मक्रिया-अप्रतिपाती**–शुक्लध्यान का यह तीसरा भेद सयोगीकेवली नामक तेरहवें गुणस्थान में प्राप्त होता है। जब केवलज्ञानी भगवान आयुष्य के अन्तिम समय में योगनिरोध के क्रम का आरम्भ करते समय सूक्ष्मकाययोग का अवलम्बन लेकर बाकी के योगों का निरोध करते हैं, तब उनमें एकमात्र श्वास-प्रश्वास-जैसी सूक्ष्मक्रिया ही बाकी रह जाती है, जिसमें से पतन की

---

१. 'जैनागमों में अष्टांगयोग' से भाव ग्रहण, पृ. ३५-३६

२. वही, पृ. ३६

सम्भावना को कोई अवकाश नहीं होता। इसलिए इसे सूक्ष्मक्रिया-अप्रतिपाती शुक्लध्यान कहते हैं।[1]

(४) **समुच्छिन्न-क्रियानिवृत्ति**–जिस समय श्वास-प्रश्वास इत्यादि सूक्ष्मक्रियाओं का निरोध हो जाता है और आत्म-प्रदेशों में सब प्रकार के कम्पन–व्यापार बंद हो जाते हैं, उस समय समुच्छिन्न-क्रियानिवृत्ति नामक शुक्लध्यान होता है। इस अवस्था में साधक की आत्मा सब प्रकार के स्थूल-सूक्ष्म तथा मानसिक, वाचिक और कायिक व्यापारों से सर्वथा पृथक् हो जाती है। यह ध्यान चौदहवें अयोगीकेवली नामक गुणस्थान में प्राप्त होता है। इस ध्यान में साधक के नामकर्म, गोत्रकर्म, आयुष्यकर्म और वेदनीयकर्म, ये शेष चारों अघातिकर्म भी नष्ट हो जाते हैं और वह आत्मा पूर्ण शुद्ध, सिद्ध, बुद्ध, मुक्त और सर्वदुःखों से रहित हो जाती है। वह सर्वकर्मों से मुक्त जीव सर्वथा अक्रिय, निर्विकल्प, निष्कलंक, निरामय, शान्त, निर्वृत, अजर, अमर, निरंजन-निराकार हो जाता है और पूर्ण अव्याबाधसुखरूप मोक्षपद–परमात्मपद को प्राप्त हो जाता है। यह मोक्षपद सादि-अनन्त है। उससे फिर कभी इस आत्मा की पुनरावृत्ति (पुनः संसार में आगमन) नहीं होती। शुक्लध्यान के इन अन्तिम दोनों भेदों में किसी प्रकार के भी श्रुतज्ञान का आलम्बन नहीं रहता, इसलिए ये दोनों निरालम्बन ध्यान हैं।[2]

चारों शुक्लध्यानों में योगनिरोध का क्रम

शुक्लध्यान के इन चारों भेदों में योगनिरोध का क्रम इस प्रकार है–सर्वप्रथम बादर (स्थूल) काययोग को आश्रित करके मन और वचन के स्थूलयोग को सूक्ष्म बनाते हैं, तदनन्तर सूक्ष्म मन-वचनयोग के आश्रय से काया के स्थूलयोग का भी निरोध करते हैं, फिर सूक्ष्मकाययोग में स्थिति करके मन और वचन के सूक्ष्मयोग का भी निरोध कर देते हैं। यहाँ तक तीसरा शुक्लध्यान पूर्ण हो जाता है। तत्पश्चात् तेरहवें सयोगीकेवली गुणस्थान की समाप्ति पर जब चौदहवाँ गुणस्थान प्राप्त होता है, यानी जब तेरहवें गुणस्थान के समाप्त होने में अ, इ, उ, ऋ, लृ, इन पाँच लघु अक्षरों के उच्चारण जितना समय बाकी रह जाता है, तब अयोगीकेवली नामक १४वाँ गुणस्थान प्राप्त होता है। उसके प्राप्त होते ही केवली भगवान सूक्ष्म काययोग का भी निरोध कर देते हैं। वे अयोगी, सर्वयोगों से रहित, शैलेशी अवस्था-प्राप्त और निष्प्रकम्प हो जाते हैं।[3]

---

१. 'जैनागमों में अष्टांगयोग' से भाव ग्रहण, पृ. ३७

२. वही, पृ. ३७

३. वही, पृ. ३८

अयोगी होने से लेकर निर्वाणपद तक

'दशवैकालिकसूत्र' में भी इसी तथ्य को उजागर किया है कि जब समस्त योगों का निरोध करके आत्मा शैलेशी अवस्था को प्राप्त कर लेती है, तब सर्वकर्मों का समूल क्षय करके कर्मरजरहित होकर सिद्धि को प्राप्त हो जाती है। ऐसी विशुद्ध मूल स्वरूप की स्थिति प्राप्त होते ही, यानी देह का सदा के लिए त्याग करते ही वह ऊर्ध्वगमन करती है। जिस प्रकार धनुष से निकला हुआ बाण अपने लक्ष्य स्थान पर जाकर ठहरता है, उसी प्रकार यह आत्मा भी यहाँ से चलकर सीधा लोक के मस्तक (अग्रभाग = अन्तभाग) में जाकर स्थित हो जाती है, वह सिद्ध, बुद्ध और शाश्वत हो जाती है। वह अपने सच्चिदानन्द स्वरूप में रमण करती हुई सदा के लिए सिद्धगति[1] (सिद्धालय) में स्थित हो जाती है। इसे ही सिद्धपद, निर्वाणपद या मोक्षपद कहते हैं।

धर्म-शुक्लध्यान के मिलकर ३२ प्रकार के योग मोक्ष-प्राप्ति में साधक होते हैं

'स्थानांगसूत्र' में शुक्लध्यान के ४ लक्षण बताए हैं–विवेक, व्युत्सर्ग, अव्यथ और असम्मोह। ४ आलम्बन हैं–शान्ति (क्षमा), मुक्ति (निर्लोभता), आर्जव और मार्दव एवं ४ अनुप्रेक्षाएँ हैं–अपायानुप्रेक्षा, अशुभानुप्रेक्षा, अनन्तवर्तितानुप्रेक्षा और विपरिणामानुप्रेक्षा। इस प्रकार शुक्लध्यान के पूर्वोक्त ४ भेदों को क्रियान्वित करने के लिए ये १२ प्रकार सहयोगी बनते हैं।[2]

यों १६ धर्मध्यान के और १६ शुक्लध्यान के ये ३२ प्रकार के योग शीघ्र मोक्ष-प्राप्ति के साधन बनते हैं।[3]

● ●

---

१. जया जोगे निरुंभित्ता, सेलेसिं पडिवज्जइ।
तया कम्मं खवित्ताणं, सिद्धिं गच्छइ नीरओ॥२४॥
जया कम्मं खवित्ताणं, सिद्धिं गच्छइ नीरओ।
तया लोगमत्थयत्थो, सिद्धो हवइ सासओ॥२५॥ —*दशवैकालिक, अ. ४, सू. २४-२५*

२. स्थानांगसूत्र, स्था. ४, उ. १, सू. ६९-७२

३. धम्मोसोलसविधं एवं सुक्कंपि। —*आचार्य जिनदास महत्तर*

६

जैनदृष्टि से–

मोक्ष : क्यों, क्या, कैसे, कब और कहाँ ?

मोक्ष बन्धन-सापेक्ष

भारत के समस्त आस्तिक दर्शनों और धर्मों ने मोक्ष की चर्चा की है, उन्होंने मानव-जीवन का अन्तिम लक्ष्य मोक्ष को ही माना है। परन्तु मोक्ष क्या है? कैसे हो सकता है? इस सम्बन्ध में सभी एकमत नहीं हैं।

मोक्ष शब्द मुच् धातु से निष्पन्न हुआ है। उसका शब्दशास्त्र की दृष्टि से अर्थ होता है–छूटना। छूटना किसी बन्धन से ही होता है। जो बँधा ही नहीं अथवा जो बाहर से किसी बन्धन में बँधा नहीं दिखाई देता, उसका क्या छूटना? एक गाय रस्से से बँधी है, रस्सा खुलने पर वह उस बन्धन से मुक्त हो जाती है। एक सिंह पिंजरे में बंद है, उसमें से निकाल देने पर वह पिंजरे से मुक्त हुआ कहा जाता है। कारागार में पड़े हुए बंदी को मुक्त कर दिया जाता है, तो वह बन्धन-मुक्त हो जाता है। अतः मोक्ष बन्धन-सापेक्ष है। जहाँ बन्धन नहीं, वहाँ मोक्ष नहीं और जहँ बन्धन है, वहाँ मोक्ष भी सम्भव है।

ये भाव-बन्धन हैं; इसीलिए मोक्ष का विचार अत्यांवश्यक है

हमें यहाँ अन्य सजीव-निर्जीव पदार्थों के बाह्य बन्धन और बाह्य मोक्ष से कोई प्रयोजन नहीं। हमें यहाँ अन्य संसारी जीवों के बन्धन और मोक्ष का विचार नहीं, मोक्ष-प्राप्ति के योग्य मानव के बन्धन और मोक्ष का विचार करना है स्थूलदृष्टि वाले मानव को बाहर में खोजने पर तो कोई बन्धन दिखाई नहीं देता। इसलिए वह प्रायः ऐसे कहता है कि मुझे परिवार, समाज, जाति आदि ने भी पकड़कर बाँध नहीं रखा है, स्वयं मैंने अपनी कल्पनाओं से इनके प्रति मेरेपन तथा अहंकार का बंधन डाल रखा है। इस कल्पित बन्धन से छूट जाऊँ तो मेरा मोक्ष है। यों तो हर व्यक्ति बाह्य बन्धन को तोड़ने का दावा कर सकता है; परन्तु बाह्य पदार्थों, व्यक्तियों, परभावों-विभावों, इष्ट संयोग-वियोगों या अनिष्ट वियोग-संयोगों अथवा अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियों के साथ जो राग-द्वेष, मोह, आसक्ति-घृणा, अहंकार-मकार, ममता आदि का बंधन है, क्या वह उसे बिना सत्पुरुषार्थ किये, बिना सोचे-समझे तोड़ पाता है? उक्त बन्धनों को इसलिए नहीं तोड़ पाता कि उसके

अन्दर द्वेष, मोह और कषायों के कारण कर्मों की गाठें हैं, वे ही बन्धन हैं। ये आन्तरिक बन्धन चर्मचक्षुओं से नहीं दिखाई देते, परन्तु प्रत्येक सर्वकर्मबद्ध प्राणी में ये भावबन्धन निहित हैं। पूर्वोक्त वैकारिक कल्पनाप्रसूत बंधन ही वास्तविक कर्मबन्ध हैं, जो प्राणी को अनन्त-अनन्त जन्मों तक जन्म-मरणादि को चक्र में भटकाते हैं। अतः इन वैकारिक एवं कल्पनाओं से प्रसूत कर्मबन्धनों से सर्वथा छूटने का नाम ही **मोक्ष** है। दूसरे शब्दों में–अन्तरतम में पुष्ट वे कर्मसंस्कार, जिनसे प्रेरित होकर ये वैभाविक राग-द्वेष-कषायादि विकारयुक्त विकल्प कर रहा हूँ, जिससे विविध कर्मबन्ध होते हैं। उसके विनष्ट होने का नाम ही मोक्ष या मुक्ति ये विविध कर्मबन्धन हैं, इसलिए इनसे छूटने–मुक्त होने (मोक्ष) का उपाय सोचना आवश्यक है। संक्षेप में कहें तो कर्मसंस्कारों से रहित अपनी (आत्मा की) स्वाभाविक स्वरूप में अवस्थिति, पूर्ण स्वतंत्रता और शान्त (निर्वृत) दशा का नाम मोक्ष या मुक्ति है।[1] पूर्वोक्त भावबन्धन से मुक्ति पाने के लिए प्रयत्न करना अत्यावश्यक है।

संसार भी एक प्रकार का बन्धन : उससे छूटना मोक्ष है

'तत्त्वार्थवार्तिक' में कहा गया है–"जिस प्रकार बन्धन में पड़ा हुआ प्राणी जंजीर आदि से छूटकर, स्वतंत्र होकर इच्छानुसार गमन करता हुआ सुखी होता है, इसी प्रकार संसार के मूल रूप समस्त कर्मों के बन्धन से मुक्त हुआ आत्मा स्वाधीन होकर पूर्ण ज्ञान-दर्शनरूप अनुपम सुख का अनुभव करता है।"[2] इस दृष्टि से सोचें तो संसार भी एक प्रकार का बंधन है और उससे छूटना मोक्ष है।

संसार क्या है? स्थूलदृष्टि वाले लोग संसार का अर्थ करते हैं–आकाश, पाताल, ऊर्ध्वलोक, अधोलोक, मध्यलोक, सूर्य, चन्द्र, भूमि, वायु, जल, अग्नि, अमुक क्षेत्र आदि। क्या आध्यात्मिक दृष्टि से संसार का यही अर्थ है? क्या अध्यात्मशास्त्र इन सबसे छोड़ने की बात कहता है? भौतिक जीवन में रहते हुए तो इन भौतिक तत्त्वों को छोड़ना अशक्य है। किन्तु पूर्ण आध्यात्मिक जीवन में भी, मोक्ष में भी आत्मा रहेगा तो लोक में ही, अमुक क्षेत्र, भूमि आदि में ही, लोकाकाश में ही। लोकाकाश के बाहर वह कहाँ जाएगा? जब कोई संसार से विरक्त या मुमुक्षु व्यक्ति, वैराग्य की भाषा में संसार छोड़ने की बात कहता है, तब वह क्या छोड़ता है? कदाचित् अशन, वसन, भोजन आदि में से कोई वस्तु छोड़ दे, किन्तु भूमि, आकाश, जल, वायु तथा अपने तन-मन-वाणी, इन्द्रियों आदि को वह कैसे छोड़ सकेगा? फिर संसार-विरक्त, मुमुक्षु व्यक्ति ने क्या एकदम मोक्ष में छलाँग लगा

१. 'शान्ति-पथ-दर्शन' (श्री जिनेन्द्रवर्णी) से भावांश ग्रहण

२. (क) 'तत्त्वार्थवार्तिक' (अकलंक भट्ट) १/४/२७

(ख) 'अध्यात्म प्रवचन' (उपाध्याय अमर मुनि) से भाव ग्रहण, पृ. २८-२९

दी? ऐसा तो वह नहीं कर सकता। फिर वह संसार-परित्याग करके कहाँ चला गया? वही शरीर, वही वस्त्र रहा, भले ही वस्त्र की बनावट और वेशभूषा में कुछ परिवर्तन आ गया हो। परन्तु शरीर-पोषण के लिए जल, वायु तथा भोजन भी वही रहा, फिर उसके संसार छोड़ने का क्या अर्थ हुआ? स्पष्ट है कि आध्यात्मिक भाषा में ये सब अपने आप में संसार नहीं हैं। आध्यात्मिक भाषा में कहा जाता है- "**कामानां हृदये वासः संसारः परिकीर्तितः।**" अर्थात् (शरीर, अशन, वसन आदि के प्रति) कामनाओं, वासनाओं, इच्छाओं, आसक्तियों और वैषयिक आकांक्षाओं का अन्तःकरण में निवास करना (अनन्त काल तक), मँडराते रहना ही संसार है। वस्तुतः ऐसा भावसंसार ही बन्धन है, काम और कामनाओं की दासतारूप संसारबन्धन से मुक्त होना ही मोक्ष है।

आत्मा की अशुद्ध स्थिति संसार है, विशुद्ध स्थिति मोक्ष है

मोक्ष क्या है? इस सम्बन्ध में आत्मवादी दर्शनों के समक्ष दो वस्तुएँ केन्द्र में रहीं-आत्मा और उसका मोक्ष। जो आत्मा अभी संसारावस्था में बन्धनयुक्त है, उसी आत्मा का उस संसारबन्धन से मुक्त होकर अपनी विशुद्ध स्थिति में पहुँच जाना मोक्ष है। अर्थात् मोक्ष आत्मा की उस विशुद्ध स्थिति का नाम है, जहाँ आत्मा (समस्त विभावों, विकारों या कर्ममलों से रहित होकर) सर्वथा अमल एवं धवल हो जाता है। मोक्ष को जब आत्मा की विशुद्ध स्थिति का स्वीकार कर लिया जाता है, तब मोक्ष के विपरीत आत्मा की अशुद्ध स्थिति को ही संसार कहा जाता है। इससे स्पष्ट है कि मोक्ष में आत्मा (जीवन) का विसर्जन न होकर उसके प्रति मानव-बुद्धि में जो एक प्रकार का मिथ्या दृष्टिकोण है, मिथ्याज्ञान है एवं मिथ्याचारित्र (आचरण) है, उनका विसर्जन होकर उनके स्थान पर क्रमशः सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र का पूर्णतया सर्वतोभावेन विकास हो जाना ही मोक्ष है। पूर्वोक्त संसारबन्धन से मुक्त होने पर मुक्तात्मा के जीवन में अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त आत्मिक-शक्ति और अनन्त निराकुलतापूर्ण निराबाध आनन्दयुक्त स्थायी शान्ति प्राप्त हो जाती है।

भावसंसार के विनाश से इस संसार में रहते हुए भी मोक्ष हो सकता है

इसीलिए 'तत्त्वानुशासन' में मोक्ष का स्वरूप बताया गया है-"इष्ट और अनिष्ट पदार्थों के प्रति मोह आदि के उच्छेद (विनाश) से चित्त के स्थिर हो जाने से रत्नत्रय का आत्मा में ध्यान करने से मोक्ष होता है, फिर वहाँ एकान्त अव्याबाध सुखानुभव होता है।

'आचारांग निर्युक्ति' में कहा गया है-"संसार का मूल कर्म और कर्म का मूल कषाय (या राग-द्वेष) है।" अतः मूल में तो कषाय या राग-द्वेष ही संसार है, वही

बन्धकारक है। उसी से सर्वथा मुक्त होना, मुक्ति पाना मोक्ष है। पूर्वोक्त भावसंसार पर विजय पाना ही मोक्ष पाना है। वह द्रव्यसंसार (दृश्यमान जगत्) में रहते हुए राग और द्वेष के अवसर पर मन साम्यभाव में स्थित रखना भावसंसार पर विजय पाना है। इसी तथ्य को 'भगवद्‌गीता' में अभिव्यक्त किया है-"इहैव तैर्जितः सर्गो, येषां साम्ये स्थितं मनः।" अर्थात् जिनका मन समभाव में स्थित है, उन्होंने यहीं (द्रव्यसंसार में रहते हुए भी) सर्ग (भावसंसार) को जीत लिया, समझो।

कुछ लोगों ने इसको लेकर यह कहना शुरू किया कि मरने के बाद ही मोक्ष मिलता है, किन्तु यह सत्य नहीं है। जो (भावबन्धनों से मोक्ष) वर्तमान क्षण में नहीं मिलता, वह मरने के बाद कैसे मिलेगा ? यदि वर्तमान क्षण में मोक्ष की अनुभूति नहीं हुई तो मरने के बाद भी मोक्ष कैसे मिल सकेगा ? मोक्ष तो इस जीवन में और इसी क्षण में भी हो सकता है, बशर्ते कि वह पूर्वोक्त भावसंसार के कारणों से मुक्त हो जाए। आचार्य उमास्वाति ने 'प्रशमरति' में बताया है-"जो व्यक्ति जाति, कुल, बल, रूप, ऐश्वर्य, तप, श्रुत (ज्ञान) और लाभ के मद को निरस्त कर देता है, कामवासना पर विजय पा लेते हैं, कायिक, वाचिक और मानसिक विकारों से रहित हो जाते हैं, पर-पदार्थों की आशा और आकांक्षा से विनिवृत्त हो जाते हैं, उन सुविहित व्यक्तियों को यहीं (इसी संसार या जन्म) में मोक्ष प्राप्त हो जाता है।"[१]

अतः मुमुक्षु मानव को संसाररूप बन्धन से मुक्त होने (मोक्ष पाने) का पुरुषार्थ करना चाहिए।

सदैव कर्मबद्ध रहना आत्मा का स्वभाव नहीं

कुछ दार्शनिकों का कहना है-आत्मा नित्य (कर्मों से) बद्ध ही रहती है, उसकी मुक्ति कभी नहीं हो सकती। इसके विपरीत जैनदर्शन का कथन है-बन्धन से मुक्ति क्यों नहीं होगी ? वह तो आत्मा का स्वभाव ही है। एक भी क्षण ऐसा नहीं है, जिसमें आत्मा अपने पूर्वकृत कर्मों का क्षय न करता हो। आत्मा में जहाँ नवीन कर्मों को बाँधने की शक्ति है, वहाँ उसमें पुराने कर्मों को क्षय करने की भी शक्ति है। भले ही वह कर्मक्षय सविपाक निर्जरा (भोग-भोगकर कर्मक्षय करने) से हो रहा हो अथवा अविपाक निर्जरा (बिना भोगे ही कर्मक्षय करने) से हो रहा हो। दोनों ही स्थिति में कर्मक्षय की प्रक्रिया चालू रहती है, जब आंशिक रूप से कर्मक्षय की अर्थात् कर्ममुक्ति की प्रक्रिया चालू है तो एक दिन पूर्ण रूप से कर्मक्षय हो सकता

---

१. (क) इष्टानिष्टार्थमोहादिछेदात् चेतः स्थिरं ततः।
ध्यानं रत्नत्रयं तस्मात् मोक्षस्ततः सुखम्॥ *-तत्त्वानुशासन ७४*

(ख) संसारस्स मूलं कम्मं, तस्स वि हुंति य कसाया। *-आचारांग निर्युक्ति १८९*

(ग) निर्जितमेद-मदनाचं वाक्काय-मनोविकाररहितानाम्।
विनिवृत्तपराशानामिहैव मोक्षः सुविहितानाम्। *-प्रशमरति प्रकरण २३८*

है। अतएव आत्मा सदैव बन्धनबद्ध ही नहीं रहती, वह पुरुषार्थ करे तो पूर्ण रूप से कर्मबन्ध और उसके कारणों का क्षय (तीव्र निर्जरा) करके सर्वथा बन्धनमुक्त भी हो सकती है, पूर्ण मोक्ष भी प्राप्त कर सकती है।

आत्मा स्वयं ही बँधा है, इसलिए मुक्त भी स्वयं ही हो सकता है

जैन-कर्मविज्ञान का स्पष्ट आघोष है—आत्मा ही अपने कर्म का कर्त्ता है और वह स्वयं उस कर्म का विकर्त्ता (क्षयकर्त्ता) है अथवा फलभोक्ता है। बंधनबद्ध रहना आत्मा का स्वभाव नहीं है, बन्धन से विमुक्त रहना या होना ही आत्मा का निजस्वरूप है। कर्म का बन्धन अवश्य है, किन्तु व्यक्ति यह दृढ़ विश्वास और संकल्प के साथ चले कि मैं स्वयं ही कर्म से बँधा हूँ और स्वयं ही कर्मों को काटकर इनसे मुक्त हो सकता हूँ। मेरे अतिरिक्त ऐसी कई शक्ति नहीं है, जो मुझे अपनी इच्छा के विरुद्ध बन्धन में डाल दे और कोई दूसरी शक्ति भी ऐसी नहीं है, जो मेरे कर्मबन्ध को काट सके, मुझे मुक्त कर सके, मोक्ष प्राप्त करा दे। मैं स्वयं बंधन में बँधा हूँ और स्वयं ही इन बन्धनों से मुक्त होऊँगा। इसलिए जो आत्मा कर्मबद्ध है, वह संवर और निर्जरा से उन कर्मों का क्षय करके एक दिन बंध से मोक्ष (मुक्ति) प्राप्त कर सकेगा।[१]

एक बात और है—केवल कर्म कर्मबन्ध का कारण नहीं होता। कर्म के साथ चेतना हो (यानी कर्मचेतना हो), तभी कर्मबन्ध होता है। अतः चेतना में ही बन्ध होता है और चेतना में ही मोक्ष होता है।

बुद्धिजीवी एवं अज्ञानी लोगों की मोक्ष के प्रति ऊटपटांग कल्पना

जिन लोगों को भावमोक्ष का पता नहीं है, जिन लोगों ने सुना या पढ़ा है कि मोक्ष एक क्षेत्र है, लोकाकाश का एक विशेष टुकड़ा है, मोक्ष में जाने वाला व्यक्ति वहीं लोक के अग्र भाग पर (लोकान्त में) जाकर स्थित हो जाता है। वहाँ न किसी से बोलना है, न चलना है, न ही किसी से बातचीत करना है। वहाँ कोई चहल-पहल नहीं, कोई कार्य नहीं। किसी से कोई सम्बन्ध नहीं। केवल मौन, निःस्पन्द, शान्ति से एक जगह बैठे रहना है। वहाँ न कोई धर्म है, न धर्म का प्रचार और उपदेश है, न कोई कर्म है। वहाँ मनोरंजन का कोई साधन नहीं, कोई खेल नहीं, खाने-पीने के लिए स्वादिष्ट व्यंजन या खाद्य और पेय भी वहाँ नहीं है। सेवा करने वाले कोई नौकर-चाकर भी वहाँ नहीं हैं। वहाँ जाने पर भूख-प्यास भी नहीं लगती। वहाँ न कोई सभा-सोसाइटी है, न कोई धर्मसंस्था है। सत्संग-मंडल भी नहीं है कि हम वहाँ जाकर सत्संग कर सकें, प्रवचन सुन सकें, चर्चा-वार्त्ता कर सकें। न ही वहाँ रहने के लिए

---

१. अप्पा कत्ता विकत्ता य दुहाण य सुहाण य।
अप्पा मित्तममित्तं च दुप्पट्ठिय-सुप्पट्ठिओ॥ —उत्तरा. २०/३७

सुन्दर-सुसज्जित महल हैं, न ही सैर करने के लिए बाग-बगीचे हैं, न ही दूर-सुदूर जाने या घूमने के लिए कार, बस, ट्रेन, विमान आदि हैं। वहाँ बातचीत करने तथा अपनी बात दूसरे से कहने के लिए कोई भाई-बन्धु नहीं हैं। न ही सुन्दर स्त्रियाँ हैं काम-सुख प्राप्त करने के लिए। कुछ भी तो नहीं है वहाँ पर, सूनसान है। मुख बंद किये बैठे रहना है, गुमसुम, मानो पत्थर का बुत बनाकर बिठा दिया गया हो। कहते हैं–उनके पास अनन्त ज्ञान है। पर किस काम का वह ज्ञान, जो दूसरों की भलाई के काम में न आ सके? आज के प्रगतिशील युग में विज्ञान के नित नये चमत्कार दिखाई दे रहे हैं, जबकि उन मोक्षवासियों का ज्ञान केवल अपने में ही सीमित रहता है, कोई चमत्कार नहीं दिखाता। शून्य स्थान में अकेले पड़े रहना है। अपना सुख-दुःख सुनाने के लिए भी तो कोई नहीं है? निकम्मे होकर खाली बैठे रहना है वहाँ। अतः हमारी कल्पना में मोक्ष एक प्रकार की नजरबंद कैद है लम्बे काल तक। क्या सुख है वहाँ मनुष्य को?

ऐसा मोक्ष नहीं चाहिए मुझे !

"मुझे तो कोई बड़ा राजपाट भी दक्षिणा में दे और कहे कि मोक्ष ले लो, तो मुझे यह सौदा अत्यन्त घाटे का लगता है।"

वर्तमान में भी क्या कमी है, मेरे पास? सभी तरह के सुखभोग के साधन हैं। बड़े-बड़े प्रासाद, बहुमूल्य वस्त्राभूषण, बैठने को सोफासेट, सोने को बढ़िया गद्देगार पलँग, खाने-पीने के लिए स्वादिष्ट से स्वादिष्ट व्यंजन और पेय, देवांगना सरीखी स्त्री, देव सरीखे सुन्दर-सलौने बालक। सैर-सपाटे के लिये कार, मोटर व जहाज ! क्या नहीं है यहाँ जो मैं इस सुखमय स्थान को छोड़कर एक शून्य स्थान में जाऊँ और चमगादड़ की तरह लटककर बैठ जाऊँ? इन सुख-साधनों में से एक भी साधन नहीं है वहाँ पर !

मोक्ष के विषय में असंगत कल्पनाएँ

आज का बुद्धिजीवी इस परोक्ष काल्पनिक मोक्ष के विषय में ऐसा सोच सकता है क्योंकि मोक्ष में जाने वाला व्यक्ति इस शरीर से, संसार के सभी रिश्ते-नातों से, सांसारिक बातों से सदा के लिये सम्बन्ध तोड़कर अशरीरी बनकर जाता है। मोक्ष-प्राप्त व्यक्ति फिर लौटकर इस दृश्यमान संसार में कभी नहीं आता, न ही इस भावसंसार से कोई वास्ता रखता है। अतः मोक्ष में जाने का स्पष्ट अर्थ है–न इस दुनियाँ में आना, न सगे-सम्बन्धियों से मिलना-जुलना, वहाँ बैठे-बैठे ऊब जाए तो मन बहलाव की कोई चीज नहीं, न संगीत, न नृत्य, न वाद्य और न ही कोई कहानी। बात करने और सलाह देने वाला भी कोई नहीं। वहाँ न तो अपने सुख-दुःख की बात किसी से कही जाती है, न सुनी जाती है।

क्या इतनी दीर्घकालिक तपःसाधना के बाद रूखा-सूखा मोक्ष मिलेगा ?

अतः कुछ बुद्धिजीवी और कुछ सुख-सुविधावादी शरीरमोही जीव यह भी कह बैठते हैं–जिस मोक्ष के लोग दिन-रात गीत गाते हैं। आध्यात्मिक पुरुष जिस मोक्ष की इतनी प्रशंसा करते हैं, इतने सुखों का सब्जबाग दिखाते हैं और जिस मोक्ष को प्राप्त करने के लिये इतना ज्ञान, श्रद्धा-भक्ति, कठोर चारित्र-पालन एवं कठोर दीर्घतप करते हैं, इतनी दीर्घकालीन साधना के बाद क्या ऐसा ही रूखा-सूखा मोक्ष मिलेगा? जहाँ पत्थर की शिला पर निकम्मा जीवन जीने या जड़वत् पड़े रहना होता है, वहाँ भला क्या सुख प्राप्त होता होगा?

ये और इस प्रकार की अनेकों मनगढ़ंत कल्पनाएँ मोक्ष के विषय में कुछ लोग करते हैं। मोक्ष के विषय में अनेकों संशय पाल रखे हैं ऐसे लोगों ने। वे कहते हैं–ऐसे मोक्ष को अनन्त सुख का स्थान मानना जान-बूझकर अँधेरे कुएँ में कूदना है। मोक्ष जैसी इतनी तुच्छ वस्तु के लिए अपने अनेक सुखों का बलिदान करना भला कौन सुशिक्षित बुद्धिमान् चाहेगा?[१]

चार्वाक तो आत्मा और मोक्ष दोनों को नहीं मानता

इसी दृष्टि से 'चार्वाक' ने कह दिया–"मोक्ष किसके लिए चाहिए? आत्मा के लिए ही न! हम आत्मा को ही नहीं मानते। यह पंच भौतिक शरीर ही सब कुछ है। यह नष्ट हो जाता है तब इसे जला दिया जाता है, भस्मीभूत होने पर इस शरीर का कहीं आना-जाना नहीं है। जब तक जीओ तब तक इस शरीर से जितना सुखभोग कर सकते हो, कर लो।"[२]

मोक्ष की अशरीरी अवस्था : शरीर की भोगावस्था से बिलकुल भिन्न

मोक्ष के विषय में जो कुछ कल्पना पूर्व पृष्ठों में की गई है, वह शरीरवाद से सम्बन्धित है, यानी पूर्व पृष्ठों में जितनी भी मोक्ष-विषयक कल्पना की गई है, वह शरीर और शरीर से सम्बद्ध सजीव-निर्जीव परपदार्थ-सापेक्ष है। स्पष्ट शब्दों में कहें तो खाना-पीना, ऐश-आराम करना, मित्रों या परिजनों के साथ बातचीत करना, मनोरंजन, विविध क्रीड़ा-कौतुक, सत्ता, सम्पत्ति और शरीर-शक्ति के द्वारा इन्द्रिय-विषयों में आसक्त होकर कामभोगों का मनचाहा उपभोग करना ये और इस प्रकार के सब व्यवहार शरीर और मन के साथ जुड़े हुए हैं। यदि शरीर न हो,

---

१. (क) 'शान्ति-पथ-दर्शन' से भाव ग्रहण, पृ. १७२-१७३

(ख) 'जैनधर्म : अर्हत् और अर्हताएँ' (आचार्य महाप्रज्ञ) से भावांश ग्रहण, पृ. १८७

२. देखें–चार्वाकदर्शन का सूत्र–

यावज्जीवेत् सुखं जीवेत्, ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः॥

अथवा शरीर अस्वस्थ हो, मन बेचैन और उद्विग्न हो, इन्द्रियाँ अस्वस्थ, विकल और रोगग्रस्त हों तो ये सब साधन या सजीव-निर्जीव पर-पदार्थ निरर्थक समझे जाते हैं। शरीर के अभाव में इनमें से एक की भी जरूरत नहीं रहती। शरीर रहता है तो ये सब विकल्प उठते हैं, इसीलिए 'न्यायदर्शन' में शरीर की परिभाषा की गई–"भोगस्य साधनं शरीरम्।"–जो भोग का साधन है, वह शरीर है। सांसारिक या पदार्थ-सापेक्ष सुख-भोग की कल्पना भी शरीर से जुड़ी हुई है। मोक्ष में न तो शरीर है और न शरीर से सम्बद्ध सांसारिक सजीव-निर्जीव पर-पदार्थ हैं और न शरीर से भोग्य-उपभोग पदार्थों और इन्द्रिय-विषयों से सुखभोग की कल्पना। मोक्ष शरीरादि से बिलकुल मुक्त अवस्था है।[1]

मोक्ष अशरीरी अवस्था है, शरीरादि से बिलकुल मुक्त

वस्तुतः मोक्ष अशरीरी अवस्था है। किसी द्रव्य या क्षेत्र-विशेष का नाम मोक्ष नहीं है। 'सर्वार्थसिद्धि' में कहा गया है–"जब आत्मा कर्ममल-कलंकरूपी शरीर को अपने से सर्वथा अलग कर देती है, तब उसके जो अचिन्त्य स्वाभाविक ज्ञानादि गुणरूप और अव्याबाध सुखरूप सर्वथा विलक्षण अवस्था उत्पन्न होती है, उसे मोक्ष कहते हैं।" अतः मोक्ष में शरीर से सम्बन्धित किसी भी सजीव-निर्जीव पर-पदार्थ से या इन्द्रिय-विषय-सुखों से अथवा भोग-सुखों से कोई वास्ता नहीं रहता, वहाँ एकमात्र आत्मा ही रहती है। आत्मा का ही ज्ञान, आत्मा का ही दर्शन और आत्मा या आत्म-भावों में रमण, आत्म-स्वरूप में ही लीन रहना ही मोक्ष का स्वरूप है। आत्मा को ही जानना, आत्मा को ही देखना और आत्मा में ही रहना इन तीनों का समन्वित रूपा ही मोक्ष है। इसीलिए 'सिद्धिविनिश्चय' में कहा गया है–"जीव के अन्तर्मल राग-द्वेष, मोह, भय, काम आदि तथा इनके कारण बँधने वाले कर्म, शरीरादि मल) के क्षय से आत्म-लाभ (आत्म-स्वरूप की उपलब्धि) होना मोक्ष है। वह न तो अभावरूप है, न ही अचेतनारूप है और न ही अनर्थक चैतन्यरूप है।"[2] 'षड्दर्शन समुच्चय' के अनुसार–"समस्त कर्मों के क्षय से जीव की स्व-स्वरूप में अवस्थिति मोक्ष है।"[3]

---

१. 'जैनधर्म : अर्हत् और अर्हताएँ' (आ. महाप्रज्ञ) से भाव ग्रहण, पृ. १८६

२. (क) निरवशेष-निराकृत-कर्ममलकलंकस्य शरीरस्यात्मनोऽचिन्त्य-स्वाभाविक-ज्ञानादिगुणमव्याबाध-सुखमात्यन्तिकमवस्थान्तरं मोक्ष इति। *–सर्वार्थसिद्धि १/१ (उत्थानिका)*

(ख) आत्यन्तिको वियोगस्तु देहादेर्मोक्ष उच्यते। *–षड्दर्शन समुच्चय ५२*

(ग) कर्मनिर्मोक्षो मोक्षोऽनन्तसुखात्मकः।
सम्यग्विशेषण-ज्ञान-दृष्टि-चारित्रसाधनः॥ *–महापुराण २४/१६*

(घ) आत्मलाभं विदुर्मोक्षं जीवस्यान्तर्मल क्षयात्।
नाऽभावो, नाप्यचैतन्यं, न चैतन्यमनर्थकम्॥ *–सिद्धिविनिश्चय ७/१९*

३. कर्मक्षयेण जीवस्य स्वस्वरूप स्थितिः शिवम्। *–षड्दर्शन समुच्चय १६ (राज.)*

भोगवादी बाँटों से मोक्ष को तथा मोक्ष के स्वरूप को न तोलें

ऐसे बुद्धिजीवी लोग शरीर के नियमों को आत्मा की अशरीरावस्थारूप या शुद्ध स्वरूपावस्थानरूप मोक्ष के नियमों के साथ तोलना चाहते हैं अपने ही भोगवादी बाँटों से। परन्तु जैसी कि वे कल्पना करते हैं, वैसा मोक्ष का स्वरूप नहीं है। वे एक सांसारिक शरीरधारी निगोद जीव की कल्पना से मोक्ष की तुलना करते हैं, परन्तु निगोद में अनन्त काल तक जन्म-मरण के चक्र में मूर्च्छित चेतना का जीवन है, जबकि मोक्ष में अपने अव्याबाध अनन्त ज्ञान-दर्शन-सुख-शक्ति में रमण करते हुए जाग्रत चेतना का जीवन है। सोचिये जरा, जैन-तत्त्वज्ञान की दृष्टि से जो व्यक्ति एकेन्द्रिय निगोद स्थावर जीवन में चला गया, वह पत्थर की भाँति अनन्त काल जड़वत् जीवन जीता है। वह न बोलता है, न चलता है, न ही क्रीड़ा करता है, किन्तु जन्म-मरण के चक्र में वह बार-बार परिभ्रमण करता है। गाढ़ कर्मबन्ध के कारण वह अनन्त काल तक मूर्च्छित-सा जीवन जीता है। निगोद के शरीर में रहकर अत्यन्त दुःखमय सशरीर जीवन जीना अच्छा है या अशरीरी बनने के लिए मोक्ष-प्राप्ति योग्य पुरुषार्थ करना और एकान्त सुखरूप मोक्ष का जीवन जीना अच्छा है?

जन्म-मरणादि रहित मोक्ष कितना अधिक सुखमय ?

परन्तु ऐसे संसार के जन्म-मरणादि के चक्र में नाना दुःखों से ग्रस्त रहते हुए भी जीव को मोहवश कोई कठिनाई महसूस नहीं होती, जबकि अशरीरी होकर मोक्ष जाने में कठिनाई मालूम होती है। जरा तुलना करके देखने पर संसार और मोक्ष का अन्तर स्पष्टतः समझ में आ जाएगा। क्या निगोद में अनन्त बार जन्म-मरण करने और मूर्च्छित अवस्था में पड़े रहने की अपेक्षा जन्म-मरणादि से रहित होकर जाग्रत अनन्त ज्ञानादि से अव्याबाध सुख में मग्न होकर रहना अच्छा नहीं है? नरक, तिर्यञ्च और मनुष्य आदि विविध गतियों और योनियों में भटकते रहने और नाना दुःखों से पीड़ित और व्याकुल रहने की अपेक्षा गति, शरीर आदि से रहित होकर परम सुख में मग्न होने हेतु मोक्ष में जाना सभी दृष्टियों से श्रेष्ठ है।[१]

ऐसे संसारचक्र में प्राणी कदाचित् पुण्ययोग से एकेन्द्रिय से द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और तिर्यञ्च-पंचेन्द्रिय तक में जन्म ले ले, तो भी उसे मनुष्यों और देवों के जितना भी सुख कहाँ नसीब होता है? प्रबल पुण्ययोग से कदाचित् वह देव भी बन जाए, तो भी उसे देव-भव से मोक्ष प्राप्त करना शक्य नहीं है। अतिशय पुण्ययोग से मनुष्य-भव प्राप्त करने पर ही मोक्ष-प्राप्ति शक्य है। इसीलिये कहा गया–"दुल्लहे खलु माणुसे भवे।"–मनुष्य-जन्म मिलना बहुत ही दुर्लभ है। देव-दुर्लभ मनुष्य-जन्म

---

१. 'जैनधर्म : अर्हत् और अर्हताएँ' से भाव ग्रहण, पृ. १०९-११०

पाकर भी जो मनुष्य शरीर और शरीर से सम्बद्ध सजीव प्राणियों और निर्जीव पर-पदार्थों के प्रति राग-द्वेष, आसक्ति, घृणा, प्रियता-अप्रियता आदि द्वन्द्वों में ही उलझा रहता है, तीव्र-क्रोधादि कषायों के भँवरजाल में ही फँसा रहता है, मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग; इन शुभ-अशुभ कर्मबन्ध के कारणों से किंचित् भी छूटने का पुरुषार्थ नहीं करता, तत्पश्चात् उससे होने वाले शुभाशुभ कर्मबन्ध, कर्मोदय तथा कर्मफलभोग आदि की लम्बी संसार-परम्परा में जीता है और उस दौरान नाना जन्मों में प्राप्त होने वाले कष्ट, संकट, यातनाएँ, पीड़ाएँ, चिन्ताएँ, उद्विग्नता, आकुलता, शोक, भय आदि नाना दुःखों से संकुल जीवन बरबस जीने में सुखानुभव करता है। जबकि वे वैषयिक सुख या सांसारिक सुख भी क्षणिक हैं, सुखाभास हैं, दुःख-बीज हैं। वह सांसारिक सुखों की मृगमरीचिका के पीछे दौड़ता है, फिर भी उसके काल्पनिक सुख की प्यास नहीं मिटती। और वे सांसारिक सुख भी सभी मनुष्यों को कहाँ नसीब होते हैं ? शरीरादि को लेकर मनुष्य-जीवन में भी कहाँ सबको निराकुल सुख है ? कहाँ सर्वत्र आनन्द है, मनोरंजन है ? प्रत्यक्ष अनुभव होने पर भी शरीरादि से रहित होने, देहाध्यास छोड़ने, कायोत्सर्ग करके मोक्ष में जाने और जीने का वह शरीरासक्त मानव दुःखजनक समझता है। मनुष्य का शरीर से इतना लगाव हो गया है कि पद-पद पर वह शरीरासक्त होकर जीता है। मृत्यु का नाम सुनते ही डरता है, काँपता है, रोता-चिल्लाता है। शरीर के प्रति इतना मोह-ममत्व है कि मरते दम तक वह इसे छोड़ना नहीं चाहता। मोक्ष में अशरीरी होकर रहने की कल्पना भी उसे नहीं सुहाती।

अतः मोक्ष को बाहर मत देखो। शारीरिक सुख-सुविधाओं से मोक्ष के अनन्त अव्याबाध सुखों की तुलना मत करो। मोक्ष आत्मा की ही शुद्ध अवस्था-विशेष है। 'औपपातिकसूत्र' के अनुसार–"सिद्ध-मुक्तात्मा समस्त दुःखों को पार कर चुके हैं। (शरीर से रहित होने से) जन्म, बुढ़ापा और मृत्यु के बन्धनों से वे विमुक्त हैं और निर्बाध, शाश्वत सुख का अनुभव करते हैं।" मोक्ष में न संकल्प-विकल्प हैं, न राग-द्वेष, काम-क्रोधादि विभाव या विकार हैं, न ही इच्छाएँ, चिन्ताएँ, उद्विग्नताएँ हैं, बाह्य (पर) पदार्थों का न तो ग्रहण है, न त्याग है। न ही उनमें इष्टानिष्टता का भाव है। मोक्ष में एकमात्र ज्ञायकभाव है, जिसमें सर्वप्राणी केवल प्राणिमात्र हैं। वहाँ न कोई पुत्र है, न कोई पिता, न चाकर है, न कोई ठाकुर है। बहन-भाई, पति-पत्नी, माता-पिता, पुत्र-पुत्री, शत्रु-मित्र आदि के रिश्ते-नाते भी वहाँ कतई नहीं हैं। वहाँ न कोई छोटा है, न बड़ा, न कोई उच्च है, न कोई नीच। न कोई ब्राह्मण, क्षत्रिय, शूद्र, वैश्य आदि भेद हैं और न देव, मनुष्य, तिर्यंच आदि पर्यायमूलक विकल्प हैं। मोक्ष में एकमात्र आत्मा ही रहती है, वहाँ आत्मा का ही ज्ञान, आत्मा का ही दर्शन, आत्मा या आत्म-भावों में रमण अथवा आत्म-स्वरूप में लीन रहना है। वहाँ आत्मा के निजी गुण अवश्य हैं–समता, वीतरागता, शान्ति,

निर्विकल्पता आदि। विषमतामूलक कर्मसंस्कारों का तो मोक्षगमन से पहले ही सर्वथा उच्छेद कर दिया जाता है।

मोक्ष में जब शरीरादि पर-भाव ही नहीं है तो मुक्तात्मा में किसी प्रकार का विकल्प ही नहीं उठता, फिर क्यों वे शरीर का निर्माण करें? क्यों भिन्न-भिन्न रूप धारण करें, क्यों किसी के साथ पुत्रकलत्र-शत्रु-मित्रादि का सम्बन्ध जोड़ें? किसके लिये यह सब जंजाल मोल लें? क्यों वे अशन, वसन, धन, धाम आदि बनायें, लें और बसायें? किसके लिए भिक्षा माँगें? क्यों वे आहार, विहार, निहार करें? आत्मा तो अविनाशी और अभेद्य है, फिर किसकी रक्षा के लिए प्रयत्न करें। जब बाह्य इन्द्रियाँ ही नहीं हैं, तब पाँचों इन्द्रियों के विषयों की उन्हें आवश्यकता या इच्छा ही रहती। जहाँ शरीर ही नहीं, वहाँ सुन्दर महल, पलँग, सोफासेट या शरीर की साज-सज्जा, नौकर-चाकर, बाग-बगीचे या सुन्दर ललना आदि की आवश्यकता ही क्या? आवश्यकता के बिना उसकी पूर्ति के लिए व्यर्थ ही प्रयत्न क्यों? वे लक्ष्यहीन दिशा में व्यर्थ पुरुषार्थ करके क्यों व्यग्र होते? व्यग्रता और व्याकुलता के अभाव में किसी प्रकार का दुःख ही कहाँ रहा? इसलिए सिद्ध-परमात्मा समस्त दुःखों का अन्त करके निर्वाण प्राप्त करते हैं।[१]

मुक्त आत्माओं का परम सुख वास्तविक

मुक्तात्माओं के जन्म, जरा, व्याधि, मरण, इष्ट-वियोग (अनिष्ट-संयोग), अरति, शोक, क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्ण, काम, क्रोध, मद, शाठ्य, तृष्णा, राग, द्वेष, चिन्ता, उत्सुकता आदि सभी दुःख नष्ट हो जाते हैं, इसलिए उन्हें परम सुख (आत्मानन्द) प्राप्त होता है। किसी तरह की बाधा (या अड़चन या इच्छा) न होने से तथा सर्वज्ञ होने से सिद्धात्मा परम सुखी होते हैं। किसी प्रकार की व्याबाधा न होना ही तथा आवरणों का अभाव होना ही परम सुख है।

ग्यारहवें गणधर प्रभास स्वामी ने प्रश्न किया—सुख का कारण पुण्य है और दुःख का कारण है—पाप। अतः मुक्त आत्माओं को जैसे पाप नष्ट हो जाने से दुःख नहीं होता, उसी प्रकार पुण्य नष्ट हो जाने से सुख भी नहीं होना चाहिए। फिर मोक्ष में अव्याबाध सुख का कथन कैसे सत्य हो सकता है? भगवान ने कहा— "पुण्य से होने वाला सुख वास्तव में सुख नहीं है, क्योंकि वह कर्मों के उदय से होता है, उन कर्मों के हट जाने पर नहीं होता। इसी कारण बड़े-बड़े चक्रवर्ती या

---

१. (क) 'शान्ति-पथ-दर्शन' से भावांश ग्रहण, पृ. १७३-१७४

(ख) णित्थिण्ण-सव्व-दुक्खा, जाइ-जरा-मरण-बंधण-विप्पमुक्का।
अव्वाबाहं सुक्खं अणुहोंति सासयं सिद्धा॥२१॥
अतुल-सुखसागरगया, अव्वाबाहं अणोवमं पत्ता।
सव्वमणागयद्धं चिट्ठंति सुही सुहं पत्ता॥२२॥ —औपपातिकसूत्र, सू. १८८-१८९

क्षेत्र कोई भी संसारी जीव वास्तव में सुखी नहीं है।" इस पर फिर शंका की-"यदि सांसारिक सुख कर्मोदय से होने से वास्तविक नहीं है, तो दुःख भी कर्मों के कारण होने से वास्तविक नहीं मानना चाहिए। इसलिए स्वयं आत्मा द्वारा अनुभव किये जाने वाले सुख-दुःख को वास्तविक कहना भी ठीक नहीं है।" इसके उत्तर में भगवान ने कहा उसका सारांश यह है कि वास्तविक सुख तभी होता है, जब पुराना रोग बिलकुल मिट जाए, नया रोग पैदा होने के कारण न रहे, ऐसी निरामय स्वस्थ अवस्था मोक्ष ही है। वहाँ इच्छा, राग-द्वेष आदि सभी दुःख के कारण नष्ट हो जाते हैं और कर्म न होने से नवीन दुःख उत्पन्न नहीं होते। इसलिए मोक्ष में ही दुःख का सर्वथा नाश और सुख का आत्यन्तिक लाभ होता है। संसारी जीवों का कामना-वासना-तृष्णादि जनित सुख वास्तविक नहीं है, उससे क्षणिक तृप्ति हो जाती है, बाद में अथवा परिणाम में वह दुःखी होता है। इच्छाओं की तृप्ति में वास्तविक सुख नहीं है, सुखाभास है।[1]

शरीरवादी लोगों का मोक्ष में ऊब और युक्तिपूर्वक खण्डन

मोक्ष-सुख के विषय में कुछ लोगों का तर्क है कि जो लोग रात-दिन ऐश-आराम में रहने वाले हैं, सुख-सुविधाओं में जीने वाले हैं, ऐसे व्यक्ति अहर्निश धन कमाने, सुख-साधन जुटाने, कामभोगों में आनन्द मानने में व्यस्त रहते हैं। वे सोचते हैं-समाज में प्रतिष्ठा के साथ जीना है तो ऐसी उठापटक करनी ही पड़ेगी। ऐसे व्यक्तियों को राग-द्वेषवर्द्धक कार्यों या साहसिक कार्यों को करने में आनन्द आता है। राग-द्वेष और संघर्ष न हो तो उनका मन बेचैन रहता है, निकम्मे बैठे-बैठे उनका जी ऊब जाता है। ऐसे लोगों के सामने निर्वाण की, मोक्ष की, ध्यान की या वीतरागता की बातें कहें तो उन्हें बिलकुल नीरस लगती हैं, सुनते-सुनते ऐसे लोग ऊब जाते हैं। कहीं लड़ाई-झगड़े हों, संघर्ष हो, टी. वी. पर फिल्म देखना हो, व्यवसाय के लिए रातभर जागना हो तो उन्हें ऊब नहीं आती, किन्तु मोक्ष आदि की बात सुनने में दस-पन्द्रह मिनट भी उन्हें भारी लगते हैं। वे अपनी इस विषमतापूर्ण दृष्टि से मोक्ष में स्थायी रूप से रहने में ऊब जाना मानते हैं। परन्तु जिनका ध्यान में या कायोत्सर्ग में दीर्घकाल तक खड़े रहने या बैठने का, जप में, समाधि में कई घंटों तक शान्ति एवं स्वस्थतापूर्वक रहने का अनुभव है। उनका कहना है कि समाधि में बैठा हुआ आदमी ऊबता नहीं है, उसके भीतर सुख का ठाठें मारता हुआ सागर लहराने लगता है। भगवान बाहुबली एक वर्ष तक कायोत्सर्ग मुद्रा में अडोल खड़े रहे। उनके शरीर पर बेलें छा गई थीं। पक्षियों ने उनके शरीर पर घोंसले बना दिये थे। एक महा-मनीषिका मन्तव्य है कि साठ

---

१. विशेषावश्यक भाष्य में गणधरवाद, गा. १५४९ (जैनसिद्धान्त बोल संग्रह), भा. ४, पृ. ६३-६५

हजार वर्ष तक खड़े-खड़े कायोत्सर्ग में स्थित रहा जा सकता है। इसका फलितार्थ है, साठ हजार वर्ष तक शरीर में रहते हुए भी अशरीरीवत् रहा जा सकता है। कायोत्सर्ग की इस उत्कृष्ट स्थिति में इस कालचक्र के लगभग दो काल यानी प्रायः पाँचवें-छठे आरे तक यानी इतनी कालावधि तक व्यक्ति बिना ऊबे रह सकता है। अनुभवी साधकों का कहना है कि समाधिस्थ व्यक्ति को ६० हजार वर्ष ६० हजार मिनट जितने भी नहीं मालूम होते। उसके अन्तर में सुख का स्रोत फूट पड़ता है।[1]

संसार-सुख और मोक्ष-सुख में महान् अन्तर

यह तो हुई कुछ विशिष्ट ध्यानयोगी साधकों के ध्यान, कायोत्सर्ग या समाधि में न ऊबने तथा आत्मिक आनन्द पाने की बात। मोक्ष का सुख तो उस सुख से अनन्त गुना बढ़कर है। आगम वचन है कि समग्र संसार के सुखों को मिलाकर एक स्थान पर पिण्डीभूत कर दें और उसे तराजू के एक पलड़े में रखें और उसी तराजू के दूसरे पलड़े में मोक्ष के सुख को रखें। ऐसी स्थिति में मोक्ष के सुख का पलड़ा बहुत भारी होगा। संसार के सारे सुखों से अनन्त गुना अधिक है–मोक्ष-सुख। जिस मुक्तात्मा को इतना अधिक सुख मिल गया है या मिल रहा है, वह आत्म-समाधि में लीन महापुरुष क्यों ऊबेगा? 'औपपातिकसूत्र' की गाथाएँ भी इस तथ्य की साक्षी हैं–"सिद्धों (मोक्ष-प्राप्त आत्माओं) को जो विघ्न-बाधारहित शाश्वत सुख प्राप्त है, वह न मनुष्यों को प्राप्त है और न समस्त देवताओं को। तीनों कालों से गुणित देवों का सुख यदि अनन्त बार वर्ग-वर्गित (वर्ग को वर्ग से गुणित) किया जाए तो भी वह मोक्ष-सुख के समान नहीं हो सकता। एक मोक्ष प्राप्त आत्मा के सुख को तीनों कालों से गुणित करके पिण्डित किये जाने पर जो सुखराशि निष्पन्न हो, उसे यदि अनन्त वर्ग से विभाजित की जाए, तो जो सुखराशि भागफल के रूप में प्राप्त हो, वह भी इतनी अधिक होती है कि समग्र आकाश में नहीं समा सकती। मोक्ष-प्राप्त आत्माओं का सुख अनुपम है। वे सदैव परम तृप्तियुक्त अनुपम शान्तियुक्त, शाश्वत, नित्य, अव्याबाध परम सुख में निमग्न रहते हैं। वे अनुपम सुखसागर में लीन रहते हैं।"

जो परम आत्मा निरन्तर आत्मानुभूति और अनन्त सुख में लीन रहता है जहाँ व्यक्ति आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक समग्र दुःखों से मुक्त है, उसे मोक्ष में थकान या ऊब का तो प्रश्न ही कहाँ रहा? उसे टी. वी., सिनेमा आदि मनोरंजन के साधनों की क्यों अपेक्षा होगी? जो तनाव का, उद्विग्नता का या दुःखमय जीवन जीता है, उसे ही मनोरंजन के साधनों की अपेक्षा होती है, मोक्ष के शाश्वत अनन्त सुख में मग्न परमात्मा को नहीं।[2]

---

१. 'जैनधर्म : अर्हत् और अर्हताएँ' (आचार्य महाप्रज्ञ) से भाव ग्रहण, पृ. १८८, १९०

२. ण वि अत्थि माणुसाणं, तं सोक्खं ण वि य सव्व देवाणं।
जं सिद्धाणं सोक्खं, अव्वाबाहं उवगयाणं॥१३॥

संसार सुख-दुःख संस्पृष्ट होते हैं, मोक्ष सुख-दुःखों से सर्वथा असंस्पृष्ट

अतः संसार और मोक्ष के सुख में जमीन-आसमान का अन्तर है। संसार का कोई भी सुख ऐसा नहीं है, जो दुःख से संभिन्न = संस्पृष्ट न हो। यहाँ सुख से पहले दुःख है, सुख के बाद भी दुःख है और सुख की विद्यमानता में भी दुःख है। एक दुःख का अन्त होता नहीं है, उससे पहले दूसरा दुःख सामने आ धमकता है। एक इच्छा की पूर्ति होती नहीं है, तब तक दूसरी अनेक इच्छाएँ मन में उछलकूद मचाने लगती हैं। सांसारिक सुख इच्छाओं–कामनाओं की पूर्ति में होता है और सब की सब इच्छाएँ पूर्ण कहाँ होती हैं? दुःखों का सर्वथा अभाव तो तब हो, जब मन में कोई इच्छा ही न हो। और यह इच्छाओं का सर्वथा अभाव अर्थात् दुःखों का सर्वथा अभाव या दुःख से सर्वथा असंभिन्नत्व मोक्ष में ही हो सकता है, अन्यत्र नहीं। और वह मोक्ष सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रयरूप धर्म की साधना से ही प्राप्त हो सकता है। इसीलिए मोक्ष प्राप्त आत्माओं के लिये विशेषण है–"**सव्व दुक्खाणमंतं करेंति।**" वे समस्त दुःखों का सर्वथा अन्त कर देते हैं।

मोक्षवादी और स्वर्गवादी धाराओं में महान् अन्तर

प्रश्न होता है, जब मोक्ष में अनन्त अव्याबाध सुख और आत्मानन्द की अजस्र धारा बह रही है, तब कतिपय दार्शनिकों ने मोक्षवाद को बिलकुल न छूकर स्वर्गवाद तक की दौड़ क्यों लगाई? दार्शनिक क्षेत्र में इसी कारण दो धाराएँ रही हैं–एक मोक्षवादी या निर्वाणवादी धारा और दूसरी स्वर्गवादी धारा। मोक्षवादी या निर्वाणवादी धारा एकमात्र आत्मा से सम्बन्धित है, वहाँ शरीर या शरीर से सम्बन्ध किसी भी पर-भाव या विभाव की चर्चा नहीं है, उससे कोई वास्ता ही नहीं है। इसके विपरीत स्वर्गवादी धारा सारी की सारी इहलौकिक और पारलौकिक शरीर और शरीर से सम्बद्ध कामनामूलक है। वहाँ स्वर्ग में जाने के लिए या इहलौकिक-पारलौकिक सुख को पाने के लिए विभिन्न यज्ञों को माध्यम बताया गया है। जैसे कहा गया–'**पुत्रकामो यजेत, स्वर्गकामो यजेत**' इत्यादि। वेदों में तथा ईसाई एवं इस्लामधर्म आदि के मूल ग्रन्थों में स्वर्ग तक का ही जिक्र है, मोक्ष का वहाँ जिक्र ही नहीं है। यही कारण है कि स्वर्गवादी धारा के अनुगामियों को मोक्षसुख के सिद्धान्त

पिछले पृष्ठ का शेष–

जं देवाणं सोक्खं, सव्वद्धा पिंडियं अणंतगुणं।
ण य पावइ मुत्तिसुहं णंताहिं वग्गवग्गूहिं॥१४॥
सिद्धस्स सुहो रासी, सव्वद्धा पिंडिओ जइ हवेज्जा।
सोणंत-वग्ग-भइओ, सव्वागासे ण माएज्जा॥१५॥
इय सिद्धाणं सोक्खं अणोवमं णत्थि तस्स ओवम्मं।
किं चि विसेसेणेत्तो उवमाए तहिं असंतीए॥१७॥ *–औपपातिकसूत्र, सू. १८०-१८४*

की बातें झटपट गले नहीं उतरतीं। किन्तु वैदिकधर्म-परम्परा में उपनिषद्काल में कई ऋषियों ने मोक्ष की कल्पना की। उसके पश्चात् भगवद्गीता, महाभारत, भागवत् में तथा नैयायिक, वैशेषिक, शैव, जैमिनीय, वेदान्त आदि दर्शनों में विभिन्न रूप से मोक्ष का स्वरूप प्रतिपादित किया। परन्तु जैनदर्शनसम्मत मोक्ष के स्वरूप से इनके स्वरूप में काफी अन्तर है।

मोक्ष के अस्तित्व के विषय में शंका और समाधान

जो दर्शन या मत मोक्ष के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते, उनके कुछ तर्क हैं। प्रथम तर्क यह है कि कर्मबन्ध की परम्परा अनादि है तो उनका अन्त कैसे हो सकेगा? जब समस्त कर्मों का अन्त नहीं होगा, तो मोक्ष भी कैसे सम्भव हो सकता है? इसका समाधान यह है कि जैसे बीज और अंकुर की संतान अनादि होने पर भी अग्नि से अन्तिम बीज को जला देने पर उससे अंकुर उत्पन्न नहीं होता, उसी प्रकार मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग, इन कर्मबन्ध के हेतुओं के तथा कर्मबन्ध-संतति के अनादि होने पर भी ध्यानाग्नि (या द्वादशविध तपोऽग्नि) से कर्मबीजों को जला देने पर भवांकुर की उत्पत्ति नहीं होती, यही मोक्ष है। जैनदर्शन के मूर्धन्य ग्रन्थ 'तत्त्वार्थसूत्र' में मोक्ष का यही लक्षण दिया गया है—बन्ध के हेतुओं के अभाव एवं निर्जरा द्वारा समस्त कर्मों का क्षय हो जाना, सर्वकर्मों से मुक्त या विमुक्त हो जाना मोक्ष है।

कर्म और आत्मा के अनादि सम्बन्ध को तोड़कर मोक्ष कैसे प्राप्त हो ?

आत्मा और कर्म का सम्बन्ध अनादि मानने पर पुनः प्रश्न उठता है कि जब उनका सम्बन्ध अनादि है तो फिर उसे तोड़ा कैसे जा सकता है? क्योंकि अनादि सम्बन्ध तो कभी टूट नहीं सकता। फिर कर्मों से सम्बन्ध तोड़े बिना आत्मा का मोक्ष कैसे होगा? इसका समाधान जैनदर्शन के विविध ग्रन्थों में दिया गया है। 'षड्दर्शन समुच्चय' में कहा गया है कि यद्यपि रागादि दोष (भावकर्म के हेतु) अनादिकाल से इस आत्मा के साथ हैं।[१]

फिर भी इनकी प्रतिपक्षी विराग भावनाओं से इनका नाश होता ही है। जस किसी स्त्री में आसक्त कामी पुरुष जब स्त्री के शरीर को वास्तविक रूप में हड्डी, माँस, मल, मूत्र, रक्त आदि का एक कोथला समझ लेता है, तब उसके राग का आवेग इतना शान्त हो जाता है, वह दृढ़ वैराग्य में बदल जाता है कि वह उस स्त्री को रागभाव से क्षणभर भी देखना उचित नहीं समझता; इसी प्रकार वैराग्य

---

१. (क) राजवार्तिक १०/२/३/६४१/४ से भाव ग्रहण

(ख) बन्ध हेत्वभाव निर्जराभ्यां, कृत्स्नकर्म-क्षयो (प्रमोक्षो) मोक्षः।

—तत्त्वार्थसूत्र, अ. १०/२, १

भावनाओं, अनित्यादि अनुप्रेक्षाओं की वृद्धि होने से आत्मा के साथ पूर्व सम्बन्ध रागादि का समूल उच्छेद हो जाता है। 'कर्मग्रन्थ' में भी इस तथ्य का समर्थन किया गया है कि जैसे स्वर्ण और मिट्टी का, दूध और घी का अनादि सम्बन्ध होते हुए भी वे प्रयत्न-विशेष से पृथक्-पृथक् किये जा सकते हैं, वैसे आत्मा और कर्म का (कृत्रिम) अनादि सम्बन्ध होते हुए भी उसका अन्त हो सकता है। 'लोकप्रकाश' के अनुसार–जैसे सोने और पाषाणरूप मल का (कृत्रिम) मिलाप अनादिकालिक है, वैसे ही जीव और कर्म का सम्बन्ध (कृत्रिमरूप से) अनादिकालिक है, तथापि स्वर्ण को पाषाणरूप मल से अलग किया जाता है, उसी प्रकार आत्मा को कर्ममल से अलग किया जाता है। निर्जरा और बन्ध के उल्लेख से भी यह स्पष्ट हो जाता है कि कर्म और आत्मा का सम्बन्ध अनादि होते हुए निर्जरा के द्वारा टूट सकता है; क्योंकि कर्म और आत्मा का यह अनादि सम्बन्ध कर्म-परम्परा के रूप में (प्रवाहरूप) तथा कृत्रिम है, कर्म-विशेष के रूप में नहीं है। 'आवश्यकवृत्ति' में भी कहा गया है–कोई व्यक्ति शरीर पर तेल लगाकर धूल में लोटे तो वह धूल उसके सारे अंग में चिपक जाती है, उसी प्रकार मिथ्यात्वादि कर्मबन्ध हेतुओं से संसारी जीव के आत्म-प्रदेशों में परिस्पन्दन होता है, तब कर्मयोग्य अनन्त पुद्गल परमाणुओं का आत्म-प्रदेशों के साथ सम्बन्ध हो जाता है, किन्तु जैसे प्रयत्नपूर्वक साबुन-पानी आदि से शरीर पर लगी धूल को साफ करके उसे शुद्ध किया जा सकता है, वैसे ही आत्मा भी संवर और निर्जरा से कर्ममल को हटाकर या रोककर शुद्ध किया/रखा जा सकता है।[1] जैसे कि 'उत्तराध्ययनसूत्र' में कहा गया है–"संयम और तप से पूर्वबद्ध कर्मों का क्षय करके (यानी कर्मों का आत्मा से सर्वथा पृथक् करके) जयघोष और विजयघोष मुनि अनुत्तर सिद्धि (मुक्ति) को प्राप्त हुए।"[2]

कर्म और आत्मा का सम्बन्ध परम्परा से अनादि, किन्तु सादि-सान्त भी

कर्म और आत्मा के सम्बन्ध को अनादि कहने का आशय यह है कि कर्म का प्रवाह = कर्म और आत्मा के सम्बन्ध (संयोग) की परम्परा अनादि है, परन्तु किसी कर्म-विशेष का आत्मा के साथ सम्बन्ध अनादि नहीं है, वह सादि-सान्त है। वह किसी समय-विशेष में बँधता है और अपनी कालावधि पूर्ण होने पर आत्मा से पृथक् हो जाता है। आत्मा से कर्मों का सर्वथा पृथक् होना, सर्वथा सम्बन्ध टूट जाना ही तो मोक्ष है। अतः मोक्ष के अस्तित्व से कैसे इन्कार किया जा सकता है।[3]

---

१. आवश्यकमलय वृत्ति

२. उत्तराध्ययन, अ. २५/४५

३. (क) षड्दर्शन समुच्चय, कारिका ५२ की टीका, पृ. २७९

(ख) 'कर्मग्रन्थ' (प्रस्तावना) (व्याख्या) (मरुधर केसरी) से भाव ग्रहण, भा. १

(ग) द्वयोरप्यनादि सम्बन्धः कनकोपल सन्निभः। *–लोकप्रकाश ४२४*

(घ) 'जैन-कर्मसिद्धान्त का उद्भव और विकास' से भाव ग्रहण, पृ. १९४

'द्रव्यसंग्रह टीका' में एक शंका और प्रस्तुत करके उसका समाधान किया गया है–"संसारस्थ जीवों के निरन्तर कर्मबन्ध तथा कर्मों का उदय भी होता रहता है। इस कारण उनके शुद्धात्मभावना (शुक्लध्यान) का अवसर ही नहीं आता, फिर उनके (सर्वकर्मक्षयरूप) मोक्ष कैसे होता है? इसका उत्तर यह है कि जैसे कोई बुद्धिमान् अपने शत्रु की निर्बल अवस्था देखकर मन में विचार करता है कि वह इसे मारने का मेरे लिए सुअवसर है, यों सोचकर वह अपने शत्रु को साहस करके मार डालता है, इसी प्रकार कर्मों की भी सदा एकरूप अवस्था नहीं रहती, इस कारण स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध की न्यूनता होने पर जब कर्म हलके होते हैं, तब बुद्धिमान् भव्य आत्मा आगमिक भाषा में पाँच लब्धियों से और अध्यात्म भाषा में निज शुद्ध आत्मा के सम्मुख परिणाम नामक निर्मल भावना-विशेष रूप खड्ग से पौरुष करके कर्मशत्रुओं को नष्ट कर देता है।"[1]

निर्वाण के पर्यायवाचक शब्द

'उत्तराध्ययनसूत्र' में मोक्ष तथा उसके पर्यायवाचक शब्दों का उल्लेख करके उसका निर्वाणवादियों में प्रधान भगवान महावीर की दृष्टि से स्पष्टीकरण किया गया है–"लोक के अग्र भाग में एक ऐसा ध्रुव (अचल) स्थान है, जहाँ जरा (वृद्धावस्था), मृत्यु, व्याधियाँ और वेदनाएँ नहीं हैं। परन्तु वहाँ पहुँचना दुरारूह (कठिन) है।" "जिस स्थान को महर्षिजन (महामुनि) ही प्राप्त कर पाते हैं, वह स्थान निर्वाण, अबाध, सिद्धि, लोकाग्र, क्षेम, शिव और अनाबाध (इत्यादि नामों से प्रसिद्ध) है।" "भवप्रवाह (संसार-परम्परा) का अन्त करने वाले महामुनि जिसे प्राप्त कर शोक से मुक्त हो जाते हैं, वह स्थान लोक के अग्र भाग में हैं। वहाँ शाश्वतरूप से मुक्त जीव का वास हो जाता है, जहाँ पहुँच पाना अत्यन्त कठिन है।"[2]

'आचार्य हरिभद्र' निर्वाण का अर्थ करते हैं–सकल कर्मों के क्षय हो जाने पर आत्मा को कभी नष्ट न होने वाली आत्यन्तिक आध्यात्मिक सुख-शान्ति प्राप्त होना निर्वाण (निर्वृति) है। इसी प्रकार 'आवश्यकचूर्णि' में निर्वाण का अर्थ आचार्य जिनदास ने किया है–निर्वृति अर्थात् आत्मा की स्वस्थता। आत्मा कर्मरोग से मुक्त होकर जब अपने स्व-स्वरूप में स्थित हो जाता है, पर-परिणति से हटकर

---

१. द्रव्यसंग्रह टीका ३७/१५५/१०

२. अत्थि एगं धुवं ठाणं लोगग्गम्मि दुरारोहं।
जत्थ नत्थि जरा मच्चू ताहिणो वेयणा तहा॥८१॥
निव्वाणं ति अबाहंति सिद्धी लोगग्गमेव य।
खेयं सिवं अणाबाहं जं चरंति महेसिणो॥८३॥
तं ठाणं सासयं वासं लोयग्गम्मि दुरारुहं।
जं संपत्ता न सोयंति भवोहंतकरा मुणी॥८४॥ *–उत्तराध्ययन, अ. २३, गा. ८१, ८३-८४*

स्व-परिणति में स्थिर हो जाता है, तब वह स्वस्थ होता है। इसी आत्मिक स्वस्थता को निर्वाण कहा गया है। इसी निर्वाण पद को प्राप्त साधक सर्वदुःखों से मुक्त होकर सदा एकरस रहने वाले आत्मानन्द में लीन हो जाते हैं, परम सुखी हो जाते हैं। इस निर्वाण शब्द में सर्वकर्ममुक्तिरूप मोक्ष भी गर्भित है।[1]

बौद्धदर्शन-मान्य अभाववाचक निर्वाण और उसका निराकरण

बौद्धदर्शन के चार आर्यसत्यों में से चतुर्थ आर्यसत्य मोक्ष का प्रतिपादन करता है। रागादि वासनाओं के निरोध को वहाँ निर्वाण कहा गया है। वहाँ मोक्ष का ही अपर नाम निर्वाण है। जिसका शब्दशः अर्थ है–बुझ जाना। मतलब यह है कि बौद्धदर्शन में निर्वाण को अभाववाचक माना है। जिस प्रकार जलता-जलता दीपक बुझ जाए तो वह कहाँ जाता है? स्थूलदृष्टि वाला व्यक्ति कहेगा–वह तो बुझ गया, नष्ट हो गया; कहीं भी नहीं गया। इसी प्रकार बौद्धदर्शन भी कहता है कि निर्वाण का अर्थ है–आत्म-दीपक का बुझ जाना; नष्ट हो जाना। निर्वाण होने पर आत्मा कहीं नहीं जाती। जाती क्या, वह नामशेष हो जाता है। उसकी सत्ता ही सदा के लिए नष्ट हो गई। 'सौदरानन्द महाकाव्य' में सुप्रसिद्ध बौद्ध महाकवि अश्वघोष की निर्वाण सम्बन्धी व्याख्या इसी प्रकार की है–जैसे निर्वाण को प्राप्त हुआ (बुझता हुआ) दीपक न तो नीचे भूमि में जाता है, न ही ऊपर आकाश में जाता है; न ही किसी (पूर्वादि) दिशा को जाता है और न विदिशा को। तेल खत्म हो जाने पर वह अपने आप शान्त हो जाता (बुझ जाता) है। उसी प्रकार निर्वाण को प्राप्त हुआ जीव न तो पृथ्वी को जाता है और न ही आकाश को; न किसी दिशा को और न विदिशा को। क्लेश का क्षय हो जाने से वह अपने आप शान्त हो जाता है।

जैनदृष्टि से आत्मा के समग्र अस्तित्व को प्रकट करना निर्वाण है

अर्थात् आत्मा के बुझ जाने (शान्त हो जाने) का मतलब है–आत्मा के अस्तित्व का ही मिट जाना। जैनदर्शन का निर्वाण ऐसा नहीं है। जैनदर्शन-मान्य निर्वाण का अर्थ है–आत्मा द्वारा अपने समग्र अस्तित्व को अभिव्यक्त कर लेना, निरावरण रूप में–शुद्ध रूप में प्रकट कर लेना, आत्मा को परमात्मा बना लेना। निर्वाण किसका है? निर्वाण के लिए साधना किसकी है? आत्मा की ही। अतः निर्वाण का फलितार्थ है–आत्मा को ही समग्ररूप से जानना, आत्मा को ही समग्ररूप से देखना और आत्मा में ही सर्वतोभावेन रमण करना–रहना। बौद्ध निर्वाण के अनुसार क्या निर्वाण की ज्ञानादि की यह साधना अपने (आत्मा के) अस्तित्व को

---

१. (क) निर्वाणं–निर्वृतिः सकलकर्मक्षयज मात्यन्तिकं सुखमिति।

–आवश्यकवृत्ति (हरिभद्रसूरि)

(ख) निव्वाणं निव्वत्ती आत्मस्वास्थ्यमित्यर्थः। *–आवश्यकचूर्णि (आचार्य जिनदास)*

(ग) निव्वायंति = परमसुहिणो भवंति, इत्यर्थः। *–वही*

समाप्त करने के लिए है? क्या अपने विनाश के लिए इतने उग्र तपश्चरण किये जाते हैं? क्या अपने अस्तित्व को सदा के लिए मिटाना ही शान्ति है?[१]

भगवान महावीर द्वारा निर्वाण-विषयक समाधान

भगवान महावीर ने गणधर प्रभास स्वामी की इस शंका का युक्तिसंगत समाधान किया है–प्रदीप की तरह आत्मा का सर्वनाश मानना ठीक नहीं है। जैसे दूध की पर्याय नष्ट हो जाने पर दही के रूप में परिणत हो जाती है। मुद्‌गर आदि के द्वारा नष्ट किया हुआ घड़ा ठीकरे के रूप में बदल जाता है। इसी प्रकार दीपक के बुझ जाने पर वह अन्धकार के रूप में परिणत हो जाता है। उसकी आग, अन्धकार के रूप में दिखाई भी देती है। बहुत-सी वस्तुएँ सूक्ष्म होने से नहीं भी मालूम पड़तीं, जैसे–बिखरते हुए काले बादल। बहुत-से पुद्‌गल विकार को प्राप्त होने पर दूसरी इन्द्रिय से ग्रहण किये जाते हैं। जैसे–नमक, गुड़ आदि बहुत-से पदार्थ पहले चक्षु से जाने जाते हैं, किन्तु साग आदि में मिलने पर केवल रसनेन्द्रिय से जाने जाते हैं। इससे स्पष्ट है कि पुद्‌गलों के परिणाम बहुत ही विचित्र हैं। कुछ पुद्‌गल सूक्ष्मता को प्राप्त होने पर बिलकुल दिखाई नहीं देते, इसलिए किसी भी वस्तु का रूपान्तर हो जाने पर उसका सर्वथा नाश मानना युक्तिसंगत नहीं है। दीपक भी पहले चक्षुरिन्द्रिय से जाना जाता है, किन्तु बुझने पर घ्राणेन्द्रिय से जाना जाता है। उसका सर्वथा समुच्छेद नहीं होता, इसी प्रकार जीव भी निर्वाण होने पर सिद्ध-स्वरूप (परमात्मा) बन जाता है, उसका नाश नहीं होता। इसलिए जैनदृष्टि से मोक्ष या निर्वाण है–जीव (आत्मा) के विद्यमान रहते हुए दुःख आदि का सर्वथा नाश हो जाना।[२]

'उत्तराध्ययनसूत्र' की पहले प्रस्तुत की हुई गाथा में निर्वाण का महत्त्वपूर्ण स्वरूप बताते हुए कहा गया है–निर्वाण **अबाध** होता है। अर्थात् समस्त विघ्न-बाधाओं को मिट जाना, उन्हें पार कर जाना निर्वाण है। निर्वाण का एक अर्थ है–**अव्याबाध**। यानी सर्वकर्ममुक्त आत्मा का ज्ञान, दर्शन, शक्ति और आनन्द (सुख) अव्याबाध बन जाना निर्वाण है। इसका फलितार्थ है–निर्वाण में आत्मा के

---

१. (क) 'श्रमणसूत्र' (उपाध्याय अमर मुनि) से भाव ग्रहण, पृ. ३२५-३२६

(ख) दीपोयथा निर्वृतिमभ्युपेतो; नैवावनिं गच्छति, नान्तरिक्षम्।
दिशं न कांचित् विदिशं न कांचित; स्नेहक्षयात् केवलमेति शान्तिम्॥२८॥
जीवस्तथा निर्वृतिमभ्युपेतो, नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्।
दिशं न कांचित् विदिशं न कांचित्, क्लेश क्षयात् केवलमेति शान्तिम्॥२९॥

–सौदरानन्द महाकाव्य १६/२८-२९

२. (क) देखें–विशेषावश्यक भाष्य में गणधरवाद की भाषाएँ १५४९

(ख) 'जैनसिद्धान्त बोल संग्रह, भा. ४' से सारांश ग्रहण, पृ. ६३-६४

इन चारों गुणों (चारों सम्पदाओं) का पूर्ण रूप से, निराबाध रूप से विकसित हो जाना निर्वाण है।[1]

निर्वाण के सिद्धि-स्वरूप की व्याख्या

निर्वाण का एक स्वरूप है–सिद्धि। साधना की पूर्णाहुति हो जाना सिद्धि है। आत्मा के अनन्त गुणों का पूर्ण रूप से विकसित हो जाना सिद्धत्व या सिद्धि है; यही मोक्ष है। सिद्धि शब्द अनात्मवादी बौद्धदर्शन की मुक्ति का निराकरण करता है और जो अपूर्ण दशा में ही मोक्ष (निर्वाण) का होना स्वीकार करता है। उन दार्शनिकों की मुक्ति का भी परिहार करता है। तथाकथित ईश्वर या अन्य किसी महाशक्ति के द्वारा अपूर्ण व्यक्तियों को मोक्ष देने की कथाएँ वैदिक पुराणों में बाहुल्येन वर्णित हैं, परन्तु जैनदर्शन इन बातों पर विश्वास नहीं करता। वह अपूर्ण अवस्था (छद्मस्थ अवस्था) को संसार ही कहता है; मोक्ष नहीं। जब तक ज्ञान अनन्त न हो, दर्शन अनन्त न हो, चारित्र अनन्त न हो, वीर्य (शक्ति) अनन्त न हो, सुख अनन्त न हो, सत्य अनन्त न हो, तब तक जैनदर्शन मोक्ष होना स्वीकार नहीं करता। अनन्त आत्म-गुणों के विकास की पूर्ति अनन्तता में है, पहले नहीं। और यह पूर्णता अपनी ही साधना के द्वारा प्राप्त होती है, किसी की कृपा से नहीं।[2]

निर्वाण का पारिपार्श्विक वातावरण

जहाँ निर्वाण है, वहाँ लोक के अग्र भाग में क्षेम कुशल है, वह व्याधि, प्रदूषण आदि से रहित है। वह **शिव** है–यानी जरा, मृत्यु तथा अन्य उपद्रवों से रहित है। **अनाबाध** है–यानी शत्रुजनों का अभाव होने से स्वभावतः पीड़ारहित है तथा वह स्थान भी **दुरारूह** = दुष्प्राप्य है। जहाँ जटा, मृत्यु, व्याधि और वेदना बिलकुल नहीं है। वह स्थान **शाश्वत** है। अबाध है, यानी भयादि बाधाओं से बिलकुल रहित है।[3]

भारत के सभी आस्तिक दर्शन प्रायः इस तथ्य से सहमत हैं कि (शुद्ध) आत्म-स्वरूप के लाभ का नाम मोक्ष है।[4] किन्तु मोक्ष के स्वरूप में मतभेद है।

सांख्यदर्शन-मान्य मोक्ष का स्वरूप यथार्थ क्यों नहीं

'सांख्यदर्शन' के अनुसार–पुरुष (आत्मा) स्वरूपतः मुक्त है, शुद्ध है। बन्धन और मुक्ति दोनों अवास्तविक हैं। अर्थात् पुरुष न तो बन्धन में आता (कर्म करता)

---

१. 'जैनधर्म : अर्हत् और अर्हताएँ' से भाव ग्रहण, पृ. ६८-६९
२. 'श्रमणसूत्र' (उपाध्याय अमर मुनि) में 'सिज्झंति' पद की व्याख्या, पृ. ३२८
३. उत्तराध्ययनसूत्र अ. २३, गा. ८३-८४ की व्याख्या (आ. प्र. समिति, ब्यावर) से भाव ग्रहण
४. (क) मोक्षः स्वात्मोपलब्धिः। –*आत्ममीमांसा, वसु-वृत्ति ४०*
(ख) आत्मलाभं विदुर्मोक्षम्। –*सिद्धि विनिश्चय ७/१९*
(ग) कर्मक्षयेण जीवस्य स्वरूपस्थितिः शिवम्। –*षड्दर्शन समुच्चय, राज. १६*
(घ) स्वात्मन्यवस्थानं मोक्षः। –*तैतिरीय उपनिषद्, भा. १/११*

है और न ही मुक्त होता है। बन्धन और मुक्ति प्रकृति से सम्बन्धित है। जबकि जैनदर्शन बन्धन और मुक्ति को आत्मा से सम्बद्ध मानता है। अतः बन्धन और मोक्ष आत्मा का नहीं, प्रकृति का होता है। इसलिए 'सांख्यदर्शन' मानता है–शुद्ध चैतन्यस्वरूप में आत्मा का अवस्थान होना मोक्ष है। किन्तु यह जैनदर्शन-मान्य मोक्षस्वरूप से विरुद्ध है। जैनदृष्टि से आत्मा सदा से शुद्ध व मुक्त नहीं है। संसारस्थ आत्मा कर्ममल से लिप्त है। उन अन्तर्मलों का क्षय स्वपुरुषार्थ (सम्यग्ज्ञानादि में पुरुषार्थ) होने पर ही मोक्ष प्राप्त होगा। दूसरी बात–सिर्फ चैतन्य ही आत्मा का स्वरूप नहीं है। (शुद्ध) आत्मा अनन्त ज्ञानादि-स्वरूप है। यदि पुरुष (आत्मा) को ज्ञानादि-स्वरूप न माना जाए तो वह सर्वज्ञ-र्स्वदर्शी नहीं हो सकेगा। और सर्वज्ञ (केवली) हुए बिना मोक्ष सम्भव ही नहीं है।[1] इस दृष्टि से जैनदर्शन-सम्मत मोक्ष है–चैतन्य-विशेष में (स्वकीय पुरुषार्थ से अन्तर्मल का क्षय होने से) अनन्त ज्ञानादि का अवस्थित होना। 'न्यायकुमुदचन्द्र' के शब्दों में–(आत्मा के) अनन्त चतुष्टय-स्वरूप का लाभ-लक्षण (उपलब्धि-लक्षण) वाला मोक्ष प्रसिद्ध है।

इसके अतिरिक्त 'सांख्यदर्शन' यह भी मानता है कि मोक्ष में आत्मा (पुरुष) में सुख, दुःख और ज्ञानादि नहीं रहते, क्योंकि सुख-दुःख आदि प्रकृति के कार्य हैं, पुरुष के नहीं। चूँकि मोक्ष में प्रकृति पुरुष से अलग हो जाती है, इसलिए सुखादि का भी विनाश हो जाता है, परन्तु जैनदर्शन मोक्ष में सांसारिक वैषयिक सुख-दुःख का तो उच्छेद मानता है, किन्तु आत्मा के स्वाभाविक अव्याबाध सुख (आनन्द) का उच्छेद नहीं मानता, न ही अनन्त ज्ञानादि का उच्छेद मानता है।[2]

मोक्ष में अतीन्द्रिय आत्मिक और अव्याबाध सुख का उच्छेद नहीं

इस विषय में सभी भारतीय आस्तिक दर्शन एकमत हैं कि मोक्ष में समस्त दुःखों का अत्यन्त उच्छेद हो जाता है, किन्तु न्याय, वैशेषिक, प्रभाकर, सांख्य तथा बौद्ध दार्शनिक यह भी मानते हैं कि मोक्ष में दुःख की तरह सुख का भी अत्यन्त उच्छेद हो जाता है। परन्तु जैनदर्शन मोक्ष में आत्मिक अतीन्द्रिय अव्याबाध सुख का उच्छेद होना कथमपि नहीं मानता; क्योंकि आत्मा का वह स्वभाव है, निज गुण है, वह स्वयं सुखरूप है। जैनदर्शन का कहना है–सुख दो प्रकार का है–इन्द्रियज और आत्मज; अथवा वैभाविक (आगन्तुक) और स्वाभाविक। इन्द्रियजन्य सुख का मोक्षावस्था में विनाश (अभाव) हो जाता है; क्योंकि मोक्षावस्था में इन्द्रिय, शरीर आदि का अभाव हो जाता है। अतः मोक्षावस्था में इन्द्रियजन्य सुख नहीं होता, परन्तु मोक्ष में आत्मिक-सुख का अभाव मानना ठीक नहीं; क्योंकि आत्मा स्वयं

१. प्रमेय कमलमार्त्तण्ड, प. २, पृ. ३२७

२. (क) तस्मान्न बध्यतेऽसौ, न मुच्यते, नाऽपि संसरति कश्चित्।
संसरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृतिः॥ *–सांख्यकारिका ६२*

(ख) अनन्त-चतुष्टय-स्वरूप-लाभ-लक्षण-मोक्ष-प्रसिद्धेः। *–न्यायकुमुदचन्द्र ७६*

सुखरूप है और अपने स्वरूप में स्थित हो जाना ही तो मोक्ष है। इसीलिए 'वसुनन्दी श्रावकाचार' में कहा है-"जिनशासन में समस्त कर्मों से विमुक्त होने को मोक्ष कहा गया है और समस्त कर्मों से मुक्ति प्राप्त करने पर जीव अनन्त सुख का अनुभव करता है।" 'उत्तराध्ययनसूत्र' में भी स्पष्ट कहा है-"सर्वज्ञान के प्रकाशित होने से, अज्ञान और मोह से सर्वथा रहित होने से और राग-द्वेष के सर्वथा क्षय होने से वह जीव एकान्त सुखरूप मोक्ष प्राप्त करता है।" यदि मोक्ष में आत्मा का सुखरूप स्वभाव ही नष्ट हो जायेगा तो बचेगा क्या ? यही कारण है कि 'तत्त्वार्थसूत्र की श्रुतसागरीय टीका' में कहा गया है-जीव का समस्त कर्ममल कलंक से रहित होना, अशरीरत्व, अचिन्त्य नैसर्गिक ज्ञानादि-गुणसहित अव्याबाध सुख प्राप्त होना, इस प्रकार का आत्यन्तिक अवस्थान्तर मोक्ष कहलाता है। अतएव 'षड्दर्शन समुच्चय की टीका' में कहा गया है-"जिस अवस्था में अतीन्द्रिय और बुद्धिग्राह्य आत्यन्तिक सुख की प्राप्ति होती है, वही मोक्ष है।" इन सब प्रमाणों से सिद्ध है कि मोक्ष में आत्मा के स्वाभाविक सुख का उच्छेद नहीं होता। अतः मोक्ष में बौद्धों की भाँति आत्मा का अभाव नहीं होता, न ही वैशेषिक की भाँति आत्मा ज्ञान तथा आत्मिक-सुख से शून्य होता है न ही अचेतन होता है; क्योंकि ज्ञान, सुख और चेतनत्व आत्मा के स्वाभाविक गुण हैं तथा मोक्ष में सांख्यदर्शनवत् ज्ञान और दर्शन निरर्थक भी नहीं होते, क्योंकि वहाँ भी मुक्तात्मा त्रिजगत् को साक्षी भाव से जानता और देखता है तथा सूर्य की तरह स्व-पर-प्रकाशत्वरूप को नहीं छोड़ता। 'सिद्धिविनिश्चय' में मोक्ष की विभिन्न रूपता की झाँकी दी गई है।[1]

नैयायिक-वैशेषिकों की मोक्ष की कल्पना

जैनदर्शन का यह मानना है कि मोक्ष में आत्मा के सभी निज गुण शुद्ध एवं पूर्ण विकसित रूप में विद्यमान रहते हैं, किन्तु नैयायिक वैशेषक आदि कतिपय दर्शन सभी आत्म-गुणों का सर्वथा उच्छेद मानते हैं। जैसे कि वैशेषिक दर्शन में मोक्ष का लक्षण है-"**बुद्धि-सुख-दुःख-इच्छा-द्वेष-प्रयत्न-धर्माधर्म-संस्काराणां नवानामात्मगुणानां उच्छेदः मोक्षः।**"

अर्थात् बुद्धि (ज्ञान), सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, संस्कार, इन नौ आत्म-गुणों का उच्छेद (विनाश) हो जाना ही मोक्ष है।

---

१. (क) णिस्सेसकम्ममोक्खो मोक्खो, जिणसासणे समुद्दिट्ठो।
तम्हिं कए जीवोऽयं अणुहवइ अणंतयं सोक्खं॥ *-वसुनन्दी श्रावकाचार*

(ख) नाणस्स सव्वस्स पगासणाए, अन्नाण-मोहस्स विवज्जणाए।
रागस्स दोसस्स उ संखएण, एगंतसोक्खं समुवेई मोक्खं॥ *-उत्तरा., अ. ३२/२*

(ग) षड्दर्शन समुच्चय गुणरत्न टीका, पृ. २८८

(घ) 'जैनदर्शन में कर्मसिद्धान्त : एक अध्ययन' (डॉ. कु. मनोरमा जैन) से भाव ग्रहण, पृ. २२३

(ङ) आत्मलाभं विदुर्मोक्षं, जीवस्यान्तर्मलक्षयात्।
नाऽभावं नाप्यचैतन्यं, न चैतन्यमनर्थकम्॥ *-सिद्धिविनिश्चय, उ. ७, श्लो. १९*

यह लक्षण कथमपि युक्तिसंगत नहीं है। कर्मजन्य इच्छा, द्वेष आदि अवस्थाओं के सिवाय यदि आत्मा अपने स्वाभाविक बुद्धि-ज्ञान गुण से भी रहित हो जायेगा, तब तो वह पत्थर के समान चेतनारहित जड़वत् हो जायेगा फिर सर्वगुण विनाशी निरर्थक मोक्ष के लिए मोक्षार्थी तपश्चरण, रत्नत्रय-साधना समाधि वगैरह क्यों करेंगे? तथा ज्ञान आत्मा का अभिन्न गुण है, वह गुणी आत्मा से पृथक् हो ही नहीं सकता। इस प्रकार आत्मा के सर्वगुणों का उच्छेद होना मोक्ष माना जाये तो गुणों के नष्ट होने से आत्मा का भी उच्छेद हो जायेगा, फिर मोक्ष की प्राप्ति किसको होगी? अतः यह कहना व्यर्थ हो जायेगा कि मोक्ष में आत्मा बुद्धि (ज्ञान) आदि गुणों से शून्य हो जाती है। वैशेषिकों के इस प्रकार के मोक्ष-स्वरूप से खिन्न होकर गौतम ऋषि ने स्पष्ट कह दिया–"वृन्दावन में वास करना या वन में शृगाल के साथ रहना अच्छा है, किन्तु मैं (गौतम) वैशेषिक दर्शनोक्त मुक्ति में जाना नहीं चाहता। अतः मोक्ष में सभी गुण अपने वास्तविक स्वरूप में विद्यमान रहते हैं।[१]

योगवाशिष्ठ मत में बन्ध और मोक्ष का लक्षण कितना संगत ?

'योगवाशिष्ठ' में संसार के पदार्थों के प्रति प्रबल वासना होने को ही बन्धन कहा गया है तथा मोक्ष की परिभाषा की गई है–"सम्यग्ज्ञान से प्रबोधित शुद्ध चित्त में सभी इच्छाएँ (वासनाएँ) नष्ट हो जाने पर चित्त की जो क्षय-दशा होती है, वह मोक्ष है।" हम देखते हैं कि योगवाशिष्ठ में बन्ध के कारणों में एकमात्र वासना को ही बताया है, जबकि जैनदर्शन में राग, द्वेष और कषाय मिथ्यात्व आदि बन्ध के कारण हैं। योगवाशिष्ठ में चित्त की शुद्ध अवस्था को मोक्ष कहा है, जबकि जैनदर्शन आत्मा की परम शुद्ध अवस्था को मोक्ष कहता है।[२]

अद्वैतवेदान्त दर्शन में बन्ध और मोक्ष का स्वरूप

'अद्वैतवेदान्त' के अनुसार बन्ध का मूल कारण अविद्या (अज्ञान) है। साथ ही इस दर्शन का कहना है कि अविद्यारूप बन्धन केवल व्यावहारिक दृष्टिकोण से सत्य है, पारमार्थिक सत्य यह है कि जीव न कभी बन्धन में पड़ता है और न कभी मोक्ष को प्राप्त करता है। शंकराचार्य का कहना है कि बन्ध और मोक्ष दोनों केवल व्यावहारिक दृष्टि से ही सत्य हैं। वे कहते हैं–ज्ञान ही स्वयं मोक्ष है। ब्रह्मवेत्ता स्वयं

---

१. (क) वैशेषिकदर्शन
   (ख) वरं वृन्दावने, वासः शृगालेश्च सहोषितम्।
   न तु वैशेषिकीं मुक्तिं गौतमो गन्तु मिच्छति॥ *–षड्दर्शन समुच्चय, पृ. २८७*

२. (क) पदार्थ-वासनादाध्यं बन्ध इत्यभिधीयते।
   (ख) मोक्षो हि चेतो विमेलं सम्यग्ज्ञान-विबोधितम्।
   –योगवाशिष्ठ और उसके सिद्धान्त से ५/२/५ तथा ५/७३/३५

ब्रह्म है (परमात्मा) है।[1] इस दर्शन में अविद्या को ही बन्ध का प्रमुख कारण माना है, जबकि जैनदर्शन अविद्या (मिथ्यात्व) के साथ अविरति, प्रमाद, कषाय और योग को कर्मबन्ध के कारण मानता है। अद्वैतवेदान्त में मोक्ष-प्राप्ति में एकमात्र ज्ञान को ही कारण माना है, जबकि जैनदर्शन का कहना है कि सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्र और सम्यक्तप के बिना एकमात्र ज्ञान से शुभाशुभ कर्म क्षय नहीं हो सकते, मिथ्यात्व आदि कारण नष्ट नहीं हो सकते।[2] जैनदर्शन शंकर के इस सिद्धान्त से सहमत नहीं हैं कि जीव और ब्रह्म में तादात्म्य है। जीवों का नानात्व सत्य नहीं है, यह भी जैनदर्शन-सम्मत नहीं है।

फिर भी अद्वैतवेदान्त में माना गया है कि जीव का मोक्ष स्वयं के वास्तविक स्वरूप के ज्ञान में है। अर्थात् उसका ब्रह्म से नितान्त अभेद है, इस ज्ञान में है। मोक्ष की प्राप्ति किसी नवीन पदार्थ की उत्पत्ति या प्राप्ति नहीं है। वह अपने वास्तविक स्वरूप का ही लाभ है। मोक्ष का किसी कर्म (क्रिया) से कोई सम्बन्ध नहीं है। कर्म (क्रिया) का परिणाम किसी वस्तु में विकार की उत्पत्ति, किसी वस्तु की शुद्धि या अप्राप्य वस्तु की प्राप्ति हो सकता है; किन्तु मोक्ष का प्रयोग इनमें से किसी विकल्प के लिये नहीं किया जा सकता। जो वस्तु उत्पन्न होती है, वह नाशवान होती है, मोक्ष नाशवान नहीं है। मोक्ष विकार भी नहीं है कि उसकी शुद्धि की जा सके, वह स्वतः शुद्ध हैं। मोक्ष कोई प्राप्य भी नहीं है। बाह्य पदार्थ को प्राप्त किया जाता है। मोक्ष तो आत्मा (ब्रह्म) का अपना ही पदार्थ है। वह नित्यप्राप्त है, नित्य है, शाश्वत है। उसका ब्रह्म के साथ ऐक्य है। निश्चयनय की दृष्टि से यह कथन कथंचित् ठीक है, परन्तु व्यवहारनय की दृष्टि से यह कथन उपादेय नहीं हो सकता। व्यवहारदृष्टि से संसारी जीव प्रारम्भ से ही ब्रह्म, शुद्ध, मुक्त नहीं है; न ही वह ब्रह्म का अंश है। यदि संसारी जीव प्रारम्भ से ही ब्रह्म, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त है तो उसे सम्यग्ज्ञानादि की या उनके विविध धर्मांगों की साधना करने की क्या आवश्यकता है? अतएव 'जैनदर्शन' का कथन है– सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-तप आदि की साधना से समस्त कर्मों और कर्मों के चतुर्विध बन्धों का अभाव होना मोक्ष है, वह भी स्वकीय पुरुषार्थ से ही हो सकता है, किसी की कृपा से या दासता से नहीं। आशय यह है कि कर्मों से लिप्त मनुष्य सम्यग्दर्शनादि चतुष्टय में स्व-पुरुषार्थ से ही शुद्ध, बुद्ध, मुक्त पर-ब्रह्म (परमात्मा) हो सकता है, मोक्ष प्राप्त कर सकता है। फिर उसे मोक्ष के लिये किसी दूसरे पर-ब्रह्म आदि में लीन होने, उनकी कृपा प्राप्त करने या उनका अंश बनने की आवश्यकता नहीं रहती।[3]

---

१. ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति। —*पुण्डकोपनिषद् ३/२/९*

२. 'भारतीय दर्शन में मोक्ष-चिन्तन' से भाव ग्रहण, पृ. १५७, १७५

३. (क) वही, पृ. १५७

(ख) सम्यग्दर्शनादिहेतु-प्रयोग-प्रकर्षे सति कृत्स्नस्य कर्मणश्चतुर्विध-बन्ध-वियोगो मोक्षः।
—*तत्त्वार्थ. वार्तिक १/४/२०*

वल्लभवेदान्त मत में भी मोक्ष-प्राप्ति के लिए ईश्वर-कृपा अनिवार्य

वल्लभवेदान्त पुष्टिमार्गीय कहलाता है। पुष्टि का अर्थ है–ईश्वर-कृपा या दिव्य-कृपा। पुष्टिमार्ग की दृष्टि में जीव के प्रयत्नों द्वारा प्राप्त मोक्ष को निम्न कोटि का समझा जाता है। उसका विश्वास है कि सर्वश्रेष्ठ मोक्ष केवल ईश्वरीय-कृपा से ही प्राप्त हो सकता है। उसका कहना है–मोक्ष प्राप्त करने के लिए दिव्य-कृपा का मार्ग ही सर्वाधिक सुरक्षित है। वल्लभ मोक्ष-प्राप्ति के लिए साधनों के रूप में निष्काम कर्म, ज्ञान और योग (चित्तवृत्ति-निरोध) आवश्यक है। परन्तु ईश्वर की भक्ति (प्रेम और सेवा) और उसके प्रति प्रपत्ति (आत्म-समर्पण) ही सर्वोत्कृष्ट साधन हैं। अकेले कर्मयोग से मोक्ष प्राप्त नहीं होता, उसके साथ ज्ञानयोग और भक्तियोग भी अनिवार्य है। इस दर्शन में मोक्ष के लिये शरण और आत्म-समर्पण मुख्य हैं।

रामानुज आदि भक्तिमार्गीय आचार्यों की दृष्टि में मोक्ष

वल्लभ के पुष्टिमार्गीय, रामानुज के विशिष्टाद्वैतरूप, निम्बार्क के भेदाभेदरूप तथा मध्व के शुद्धाद्वैतरूप वेदान्त के मत में मोक्ष के स्वरूप में थोड़ा-थोड़ा अन्तर है। परन्तु इन सब भक्तिमार्गीय आचार्यों का बन्ध और मोक्ष के सम्बन्ध में आग्रहपूर्ण मत है कि अविद्या, काम, प्रकृति, कर्म इत्यादि जो बन्ध के कारण हैं, वे तो गौण रूप से हैं, मुख्य रूप से तो ईश्वर की इच्छा ही मानव-बन्ध का एकमात्र कारण है तथा मोक्ष केवल तभी प्राप्त हो सकता है, जब अपरोक्ष ज्ञान के साथ ईश्वरीय-कृपा भी प्राप्त हो और अपरोक्ष ज्ञान का मतलब है–ब्रह्म की अनन्तता एवं उसकी तुलना में स्वयं की लघुता और ब्रह्म पर निर्भरता का ज्ञान। परन्तु मोक्ष के लिये केवल अपरोक्ष ज्ञान ही पर्याप्त नहीं है। इनके मतानुसार मोक्ष केवल आत्मा और ब्रह्म के वास्तविक सम्बन्ध को जानना है। मोक्ष ब्रह्म का ज्ञान और ईश्वरीय-कृपा, इन दोनों का सामूहिक फल है। जीव केवल अपने ही पुरुषार्थ से, अर्थात् सिर्फ ज्ञान से मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता।[१]

रामानुज आदि के मतानुसार–जीव तीन भागों में विभक्त किया गया है–(१) नित्य, (२) मुक्त, और (३) बद्ध। बद्ध जीव वे हैं, जो बन्धन में हैं, बन्धन में ही रहते हैं। मुक्त जीव पहले बन्धन में थे, अब ईश्वर-कृपा से मुक्त हो गए हैं। और नित्य वे आत्माएँ हैं, जो सदैव बैकुण्ठ में रहती हैं। बैकुण्ठ के विभिन्न (गोलोक, ब्रह्मलोक आदि) नाम वैष्णवों में प्रसिद्ध हैं। वे इस पृथ्वी पर जन्म नहीं लेतीं। वे हमेशा ब्रह्मानन्द का उपभोग करती हैं। कर्म (प्रकृति) से वे मुक्त रहती हैं। जैनदर्शन का इसमें विश्वास नहीं है कि मोक्ष ईश्वर-कृपा से प्राप्त हो सकता है और न ही जैनदर्शन का दास्य-भक्ति और दासता में विश्वास है। जैनदर्शनानुसार–जीव स्वयं अपने पुरुषार्थ से मोक्ष प्राप्त करता है। उसकी आध्यात्मिक योग्यता ही उसे मोक्ष की ओर ले जाती है। यदि आध्यात्मिक गुरुओं (जिन-केवली या आचार्यादि) के अनुभवों,

---

१. भक्त्या ज्ञानं ततो भक्तिस्ततो दृष्टिस्ततश्चसा।
ततो मुक्तिस्ततो भक्तिः, सैव स्यात् सुखरूपिणी॥ –अणु-व्याख्या

उनकी मोक्ष-विषयक विभिन्न प्रेरणाओं तथा धर्मशास्त्रों से मार्गदर्शन आदि को सदेह परमात्मा (अरिहंत, केवली आदि) की कृपा मानें तो कोई आपत्ति नहीं है। वैष्णव मतानुसार-मुक्त आत्मा केवल ब्रह्म के समान बन जाती है, उससे ऐक्य नहीं प्राप्त कर सकती। दूसरे शब्दों में, वह ईश्वर का सामीप्य प्राप्त कर सकती है, स्वयं ब्रह्म या ईश्वर नहीं बन सकती; क्योंकि ईश्वर ने जगत् की उत्पत्ति, पालन और विनाश करने और जीवों को कृपा प्रदान करने का अधिकार एकमात्र अपने लिए ही सुरक्षित रखा है। जैनदर्शन जगत् के कर्त्ता-धर्त्ता-संहर्त्ता के रूप में किसी ईश्वर को नहीं मानता, वह अपने पुरुषार्थ से अनन्त ज्ञानादि ऐश्वर्य से सम्पन्न ईश्वर को मानता है।[१]

योगी अरविन्द-मान्य मोक्ष : स्वरूप और विश्लेषण

योगी अरविन्द की दृष्टि में मनुष्य का मोक्ष है-शरीर और मन (जड़, प्राण, चेतना और मनस्) को उसके वर्तमान दुःखों और बुराइयों से मुक्त करना। यह केवल तभी सम्भव है, जब मनस् का अतिमानस में रूपान्तरण हो जाय। मनस् को पूर्णतया शुद्ध करने पर ही दिव्य उस मनुष्य के मनस् में अवतरित हो सकता है। इस रूप में आधार तैयार करने पर दिव्य का अवरोहण होता है। फिर अतिमानस का किसी भी समय अवरोहण हो सकता है। मनस् को तैयार करने का उद्देश्य व्यक्तिगत मोक्ष ही नहीं, सम्पूर्ण सृष्टि का मोक्ष है। योगी अरविन्द के मत में व्यक्तिगत मोक्ष प्राप्त करना लक्ष्य नहीं, अपितु मानव का ही नहीं, समग्र सृष्टि का मोक्ष है।

अरविन्द मतानुसार-(मोक्ष के लिए) आध्यात्मिक योग के तीन सोपान हैं- (१) आत्म-समर्पण का संकल्प करना। अर्थात् अपने आप को ईश्वर के प्रति पूर्णरूपेण समर्पित कर देना; न उससे कुछ माँगना और न ही किसी वस्तु की अपेक्षा रखना। (२) अपने समस्त कर्मों में ईश्वर के ही कर्तृत्व को देखना। मैं तो केवल निमित्तमात्र हूँ। मेरे माध्यम से ईश्वर ही कार्य कर रहा है। स्वयं के शरीर द्वारा किये गए कार्यों के प्रति भी स्वयं को आसक्त न करना, तटस्थ भाव से देखते रहना। (३) तीसरा अन्तिम सोपान है-संसार में सर्वत्र ईश्वर को ही देखना। विभिन्नताओं और विचित्रताओं से भरा यह जगत् ब्रह्म से भिन्न नहीं है। साररूप में एक ही है।

अरविन्द का कथन है-विश्व पूर्ण व्यष्टि है। जब व्यक्ति विश्व का अपने में समावेश कर लेगा और उससे ऊपर उठ जाएगा, तभी उसकी व्यष्टि पूर्ण कहलाएगी। फिर समस्त जीवधारी उसके लिए आत्मवत् हो जायेंगे। तब व्यक्तिगत स्वार्थ का स्थान विश्व का स्वार्थ ले लेगा। अपनी आत्मा का विश्वात्मा के साथ, अपनी इच्छा का विश्वेच्छा के साथ, अपने कार्यों का विश्व के कार्यों के साथ तथा अपने शुभ का विश्व के शुभ के साथ ऐक्य स्थापित कर लेगा। इस प्रकार मानव से अतिमानव बनना ही अरविन्द-मान्य मोक्ष है।

---

१. (क) 'भारतीय दर्शन में मोक्ष-चिन्तन' से भाव ग्रहण, पृ. २७६-२७९, २८३

(ख) Life Divine, p. 864

परन्तु जैनदर्शन की दृष्टि में ऐसा व्यक्तिगत मोक्ष सम्भव नहीं है। अरविन्द-मान्य महामानव या अतिमानव बनने की प्रक्रिया (पापकर्मबन्ध से रहित) विपुल पुण्यराशि उपार्जित करने की प्रक्रिया है। जैनदर्शन-सम्मत मोक्ष की साधना व्यक्तिगत पुरुषार्थपरक है। प्रत्येक व्यक्ति ही अपने-अपने पुरुषार्थ द्वारा समस्त सांसारिक वासनाओं, कामनाओं, राग-द्वेष, मोह, कषाय आदि से ऊपर उठकर सम्यग्ज्ञानादि की उत्कृष्ट साधना द्वारा अष्टविध कर्म-मल-कलंक का क्षय करके मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं और शाश्वत स्थान में स्थित हो जाते हैं।[1]

आत्मा का स्वरूप में अवस्थान भावमोक्ष तथा कर्मों से पृथक्त्व द्रव्यमोक्ष

प्रायः सभी दर्शनों का मोक्ष स्वरूप है—सांसारिक सुख-दुःख से आत्मिक-सुख की ओर प्रस्थान करना, जोकि अव्याबाध हो, दुःखों से अस्पृष्ट हो। निषेधात्मक रूप में मोक्ष है—सर्वदुःखों से मुक्ति प्राप्त करना। दुःख या दुःखों के कारण क्या हैं? द्रव्य-भावकर्म, नोकर्म तथा राग-द्वेष-मोह-कषाय आदि सब दुःखों के कारण हैं। अतः आते हुए नये कर्मों को रोकना और पूर्वबद्ध कर्मों का क्षय करने से आत्मा की विशुद्धि होती है, वही सुख है, जो संवर-निर्जरा से प्राप्त होता है। इसीलिए द्रव्यसंग्रह में द्रव्य-भावमोक्ष का लक्षण बताया गया है—समस्त कर्मों के क्षय का हेतुभूत आत्म-परिणाम अथवा आत्मा का अपने स्वरूप में अवस्थान भावमोक्ष है, जबकि आत्मा का समस्त कर्मों से पृथक् होना द्रव्यमोक्ष है।[2]

मोक्ष कोई स्थान-विशेष नहीं

साधारणतया लोग यह समझते हैं कि नरक और स्वर्ग की तरह मोक्ष भी किसी स्थान-विशेष का नाम है; किन्तु मोक्ष कोई स्थान-विशेष नहीं है। 'योगवाशिष्ठ' के अनुसार—मोक्ष न तो आकाश की पीठ पर है, न ही पाताल में है, न ही इस भूमि पर है। किन्तु वह सर्वकर्ममुक्त आत्मा का विशिष्ट पर्याय है। अर्थात् सर्वकर्ममुक्त आत्मा का अपने शुद्ध स्वरूप में स्थित होना मोक्ष है। सिद्ध-मुक्तात्मा सर्वकर्ममुक्त होने पर लोक के अग्र भाग में विराजमान होते हैं। इसलिए इसे सिद्धगति नामक स्थान कहते हैं। मुक्तात्मा वहाँ सहज भाव से स्थित होते हैं। अगर उसी स्थान को मोक्ष माना जाए, तो उस स्थान में सिद्धों के सिवाय अन्य जीव भी हैं, रहते हैं, उनके लिए वह स्थान मोक्ष नहीं कहलाता। अतः मुक्तात्मा की वहाँ परम पवित्र शुद्ध अवस्था या स्थिति के कारण ही वह मोक्ष कहलाता है। ● ●

---

१. (क) 'जैनदर्शन और संस्कृति' (आचार्य महाप्रज्ञ) से भाव ग्रहण, पृ. ७

(ख) स्वात्मलाभस्ततो मोक्षः कृत्स्न-कर्मक्षयान्मतः।
निर्जरा-संवराभ्यां तु सर्व-सद्वादिनमिह॥ —*आप्तपरीक्षा ११६*

(ग) सव्वस्स कम्मणो जो खमहेदूअप्पणे हु परिणामो।
णेयो सो भावमुक्खो, दव्वविमोक्खो य कम्मपुहभावो॥ —*द्रव्यसंग्रह ३७*

२. न मोक्षोनभसः पृष्ठे, न पाताले, न भूतले। —*योगवाशिष्ठ ५/७३/३५*

७

मोक्षमार्ग का महत्त्व और यथार्थ स्वरूप

मंजिल और मार्ग का निश्चय करना आवश्यक

समझदार यात्री यात्रा प्रारम्भ करने से पहले अपनी यात्रा की मंजिल और यात्रा-पथ निश्चित करता है। मान लो, किसी यात्री ने मंजिल (अंतिम गन्तव्य स्थान) तो निश्चित कर ली, किन्तु उसे उस मंजिल तक पहुँचने के मार्ग का पता नहीं है। ऐसी स्थिति में वह यात्री ऊबड़-खाबड़ या उजड़ मार्ग पर चढ़कर भटक सकता है या वह विपरीत मार्ग पर चढ़कर अपनी परेशानी बढ़ा सकता है, लक्ष्य-भ्रष्ट एवं गुमराह होकर अपना अहित कर सकता है। इसी प्रकार आध्यात्मिक यात्री को अपनी साधना-यात्रा करने से पूर्व अपने लक्ष्य, उद्देश्य, मंजिल और मार्ग का सर्वप्रथम निश्चय करना आवश्यक है। लक्ष्य और मंजिल का निश्चय हो जाने पर भी यदि उस लक्ष्य या मंजिल तक पहुँचने का मार्ग निश्चित न हो तो वह आध्यात्मिक महायात्री भी भटक सकता है, उत्पथ पर चढ़ सकता है, लक्ष्य-भ्रष्ट एवं गुमराह हो सकता है।

यात्रा और भटकने में क्या अन्तर है ?

यात्रा और भटकने में बहुत बड़ा अन्तर है। यात्रा में एक लक्ष्य, एक मंजिल या एक उद्देश्य स्थिर और निर्धारित होता है, जबकि भटकने में न कोई लक्ष्य होता है न ही गन्तव्य, मंजिल या उद्देश्य होता है। निरन्तर अपने लक्ष्य (मोक्ष) के पथ पर ही कदम बढ़ाते जाना यात्रा है–अध्यात्मयात्रा है। इसके विपरीत कभी इधर चले गए, कभी उधर चले गए और फिर कभी पथ पर आ गए, फिर किसी के बहकाने, फुसलाने या भय अथवा प्रलोभन बताने से इधर-उधर चले गए, इसे यात्रा या विवक्षित अध्यात्मयात्रा नहीं कहकर भटकना ही कहा जा सकता है।

विवेक से रहित और सहित की यात्रा में बहुत अन्तर

एक व्यक्ति बहुत भोला है, उसकी विवेक-बुद्धि मन्द है, वह काश्मीर की यात्रा करने जा रहा है, किन्तु उसे न तो काश्मीर के स्वरूप का पता है, न उसे पता है कि काश्मीर किस दिशा में है, कहाँ है, किस मार्ग से वहाँ जाया जाता है? ऐसी स्थिति में वह यदि घर से चल पड़ता है तो मार्गज्ञान और लक्ष्यस्वरूपज्ञान से रहित

वह भोला यात्री या तो भटकेगा या फिर किसी के बहकावे में आकर विपरीत मार्ग पर चढ़ जाएगा अथवा उजड़ रास्ते से चलने पर कहीं चोर-लुटेरों के चक्कर में फँस जाएगा तथा वह मार्ग-भ्रष्ट होकर हैरान भी हो सकता है। एक दूसरा व्यक्ति बाहोश है, विवेक-बुद्धियुक्त है, वह भी काश्मीर की यात्रा करने के लिये चल पड़ता है, काश्मीर के स्वरूप, मार्ग, साधन आदि सब की जानकारी करके काश्मीर की दिशा में ही चलता है, तो वह न तो इधर-उधर भटकता है और न ही बहकता है। वह ठीक लक्ष्य या मंजिल पर पहुँच जाता है। ये दोनों चित्र हमारे समक्ष हैं। इन दोनों में गमन और गति समान है। किन्तु एक के गमन और गति में न लक्ष्य का ठीक पता है, न ही उद्देश्य का और न ही मार्ग का ठीक ठिकाना है, जबकि दूसरे का गमन और उसकी गति लक्ष्य और उद्देश्य के ज्ञान के सहित है। उसे लक्ष्य और उसके स्वरूप का भी पता है और वहाँ पहुँचने के मार्ग का भी यथार्थ ज्ञान है। ऐसी स्थिति में पहले व्यक्ति की स्थिति सच्चे और बाहोश यात्री की नहीं है, जबकि दूसरा व्यक्ति सच्चे माने में बाहोश और विवेकशील यात्री है। इसी प्रकार मोक्ष यात्री को भी सच्चे और बाहोश यात्री बनने के लिए अपनी यात्रा का उद्देश्य, लक्ष्य, मार्ग और मंजिल का यथार्थ ज्ञान होना अत्यावश्यक है।

कौन-सी और कैसी है यह यात्रा है ?

कोई पूछ सकता है कि क्या गृहस्थवर्ग, क्या साधुवर्ग, जब भी किसी स्थान की यात्रा करना चाहता है तो मार्ग भी पूछता है और मंजिल भी तय करता है, तब फिर यहाँ फिर कौन-सी यात्रा है, जिसके लिए इतना विचार करना पड़े? जैन-संस्कृति में यह यात्रा भौतिक या बाह्य स्थूल कल्पना पर आधारित होकर आध्यात्मिक और अन्तरंग यात्रा से सम्बन्धित महायात्रा है। इसी प्रश्न के सम्बन्ध में 'भगवतीसूत्र' में श्रमण भगवान महावीर द्वारा प्ररूपित यात्रा विषयक समाधान प्रस्तुत है—सोमिल ब्राह्मण भगवान महावीर से पूछता है—"भगवन् ! क्या आप यात्रा भी करते हैं?" भगवान ने उत्तर दिया—"हाँ, सोमिल ! मैं यात्रा भी करता हूँ।" सोमिल ने तुरंत पूछा—"आपकी कौन-सी या कैसी यात्रा है?" सोमिल बाह्य जगत् की स्थूल यात्रा में विचरण कर रहा था, जबकि भगवान अन्तर्जगत् की सूक्ष्म आत्म-यात्रा में विचरण कर रहे थे। अतः भगवान ने उत्तर दिया—"सोमिल ! मेरी अपने तपश्चरण, नियम, संयम, स्वाध्याय, ध्यान, सामायिक आदि षड् आवश्यक आदि योगों की साधना में जो यतना है (सम्यक्समिति-गुप्तियुक्त **प्रवृत्ति-निवृत्ति है**), वही मेरी यात्रा है।" श्रमणसूत्रगत गुरुवन्दन पाठ में भी '**जत्ता भे?**' इत्यादि **पाठ में** भी गुरुदेव से उनसे उनकी यात्रा सम्बन्धी कुशलक्षेम पृच्छा की गई है, उसका फलितार्थ भी 'आवश्यकवृत्ति' में आचार्य हरिभद्र करते हैं—"**आपकी** तप, संयम-नियमादि लक्षणा अथवा क्षायिक क्षायोपशमिक या औपशमिक भाव **लक्षणा**

अध्यात्मयात्रा (संयमयात्रा) निराबाध है? कितनी भव्य और सत्यं शिवं सुन्दरं यह अध्यात्मयात्रा है ! जैनधर्म की इस अध्यात्मयात्रा का पथ जीवन के अंदर से है, बाहर में नहीं। अनन्त-अनन्त साधक इसी यात्रा के द्वारा मोक्ष में पहुँचे हैं और पहुँचेंगे, किन्तु मोक्ष की मंजिल पहुँचने से पहले उन्होंने मोक्ष के मार्ग को जाना-पहचाना है, उस पर श्रद्धा, प्रतीति, रुचि, स्पर्शना, पालना और अनुपालना भी की है, तभी उसकी यात्रा निराबाध हुई है।[1]

अध्यात्मयात्री को मोक्ष का यथार्थ मार्ग पाना अत्यावश्यक है

जब यह निश्चित हो जाता है कि यह अध्यात्मयात्रा मोक्ष की मंजिल तक पहुँचाने वाली है, समस्त कर्मक्षयरूप पूर्ण मोक्ष के शिखर को प्राप्त कराने वाली है, तब उसे मोक्ष का मार्ग जानना अत्यावश्यक है। केवल मोक्ष के शिखर को जानते-देखते रहने से काम नहीं बन पाता, उस शिखर तक पहुँचने के लिए जो भी वास्तविक मार्ग है, उसका जानना, पाना तथा उस पर चलना आवश्यक होता है। केवल मंजिल स्वप्नवत् होती है, छद्मस्थ साधक के लिए, जब तक उस मोक्ष शिखर तक पहुँचने का मार्ग न दिखाई दे, उपाय या साधन भी मालूम न हो। सही रास्ते के न पाने से मंजिल भी खो जाती है।[2] मोक्षयात्री को सही मार्ग मिल जाने पर वह उस पर सरपट यात्रा कर सकता है, मार्ग में आने वाली विघ्न-बाधाओं से बच सकता है; मोक्ष के मार्ग में आने वाले साधक-बाधक तत्त्वों से वह अध्यात्मयात्री सजग रह सकता है।

सूत्रकृतांग-प्रतिपादित प्रशस्तभाव (मोक्ष) मार्ग का विश्लेषण

मोक्षमार्ग का कितना महत्त्व है? और साधक-जीवन की प्रशस्त मोक्षयात्रा में यथार्थ मार्ग को जानने और उस पर चलने की कितनी उपयोगिता और अनिवार्यता है? इसे प्रतिपादित करने के लिए 'सूत्रकृतांगसूत्र' में 'मार्ग' नाम से ग्यारहवाँ अध्ययन स्वतंत्र रूप से निरूपित किया गया है। इस अध्ययन के प्रारम्भ में निर्युक्तिकार ने मार्ग का द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावरूप से निक्षेप करके भावमार्ग की ही प्रस्तुत अध्ययन में प्ररूपणा और विवक्षा की है। यथार्थ भावमार्ग वह है जिससे आत्मा को समाधि या शान्ति प्राप्त हो। परन्तु वह भावमार्ग भी दो प्रकार का है–प्रशस्त भावमार्ग और अप्रशस्त भावमार्ग। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-तप

---

१. (क) सोमिला ! जं मे तव-नियम-संजम-सज्झाय-ज्झाणावग्गमादिसु जोएसु जयणा, से तं जत्ता। *–भगवतीसूत्र, श. १८, उ. १०*

(ख) देखें–'श्रमणसूत्र' (उपाध्याय अमर मुनि) में 'जत्ता भे' पर विवेचन, पृ. ३६३

(ग) यात्रा तपोनियमादि-लक्षणा क्षायिक-मिश्रौपशमिकभाव-लक्षणा वा। *–आवश्यकवृत्ति (आचार्य हरिभद्र)*

२. 'अरिहन्त' (डॉ. साध्वी श्री दिव्यप्रभा जी) से भावांश ग्रहण, पृ. ५३

इन चारों के समायोग से युक्त मोक्षमार्ग प्रशस्त भावमार्ग है। इसके विपरीत मिथ्याज्ञान-मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय आदि से युक्त की जाने वाली त्रिविध योग-प्रवृत्ति अप्रशस्त भावमार्ग है। प्रशस्त भावमार्ग को ही तीर्थंकर गणधरादि द्वारा प्रतिपादित तथा यथार्थ वस्तुस्वरूप-निरूपक एवं समस्त कर्मक्षय में या स्वरूपावस्थान में सहायक होने से सम्यक्मार्ग या सत्यमार्ग कहा गया है। तथैव यह प्रशस्त भावमार्ग तप, त्याग, संयम, समाधि, ध्यान, भावना आदि प्रमुख साधनाओं से युक्त होने से समस्त प्राणिवर्ग के, विशेषतः मनुष्यवर्ग के लिए हितकर, सुखकर, श्रेयस्कर, सर्वप्राणिरक्षक, नवतत्त्व-स्वरूप प्रतिपादक एवं नौ तत्त्वों में हेय, ज्ञेय, उपादेय तत्त्वों को जानकर उपादेय तत्त्वों पर सम्यक् श्रद्धापूर्वक दृढ़ता का प्रतिपादक एवं अष्टादशसहस्र शीलगुणपालक साधुत्व के आचार-विचार से ओतप्रोत है। इसके विपरीत अन्य तीर्थिकों या कुमार्गग्रस्त पार्श्वस्थ, स्वच्छन्द, कुशील आदि स्वयूथिकों द्वारा स्वच्छन्दमतिकल्पित तथा सेवित मार्ग अप्रशस्त भावमार्ग है, वह एक प्रकार से संसारमार्ग है, सर्वकर्मक्षयकारक मोक्षमार्ग नहीं है।[1]

प्रशस्त भावमार्ग (मोक्षमार्ग) की पहचान के लिए १३ पर्यायवाची शब्द

निर्युक्तिकार ने इसी प्रशस्त भावमार्ग (मोक्षमार्ग या सत्यमार्ग) की पहचान के लिए इसके १३ पर्यायवाचक शब्दों का निरूपण किया है—(१) पंथ (मोक्ष की ओर ले जाने वाला पथ), (२) मार्ग (आत्म-परिमार्जक), (३) न्याय (विशिष्ट स्थान प्रापक), (४) विधि (सम्यग्दर्शन एवं ज्ञान का युगपत्प्राप्तिकारक), (५) धृति (सम्यग्दर्शनादि से युक्त सम्यक्चारित्र में स्थिर रखने वाला), (६) सुगति (सुगति या उत्तम गतिदायक), (७) हित (आत्मा की पूर्ण शुद्धि के लिए हितकर), (८) सुख (आत्मिक अव्याबाध सुख का कारण), (९) पथ्य (मोक्ष के लिए अनुकूल मार्ग), (१०) श्रेय (११वें गुणस्थान के चरम समय में मोहादि उपशान्त होने से श्रेयस्कर), (११) निवृत्ति (जन्म-मरणादिरूप संसार से निवृत्ति का कारण), (१२) निर्वाण (चार घाति और चार अघातिरूप अष्टविध कर्मों का सर्वथा क्षय तथा केवलज्ञान-वीतरागतादि प्राप्त होने से परम शान्तिकारक), और (१४) शिव (शैलेशी-निष्कम्प) अवस्था प्राप्त होने से १४वें गुणस्थान के अन्त में मोक्षपदप्रापक)।[2]

---

१. (क) सूत्रकृतांग निर्युक्ति, श्रु. १, अ. ११, गा. १०७-११०
(ख) वही, शीलांक वृत्ति, पत्रांक १९६
(ग) वही, श्रु. १, अ. ११, विवेचन (आ. प्र. स., ब्यावर) के प्राथमिक से भाव ग्रहण, पृ. ३८५

२. (क) वही, श्रु. १, अ. ११, गा. ११२-११५
(ख) वही, श्रु. १, अ. ११, विवेचन (आ. प्र. स., ब्यावर) के प्राथमिक से भाव ग्रहण, पृ. ३८६
(ग) वही, शीलांक वृत्ति, पत्रांक १९७

प्रस्तुत मार्ग-अध्ययन के प्रारम्भ में गणधर सुधर्मास्वामी से उनके शिष्य जम्बूस्वामी ने जिज्ञासा की है कि अहिंसा के परम उपदेष्टा (महामाहन), केवलज्ञानी, (सर्वज्ञ) सर्वदर्शी, विशुद्ध मतिमान् से प्रशस्त भाव (मोक्ष) मार्ग कौन-सा, किस स्वरूप का और किन साधकों से युक्त बताया है, जिस सरल मार्ग को पाकर दुस्तर संसार (सागर) को मनुष्य पार कर सके? सर्वदु:खों से मुक्त करने वाला, वह शुद्ध और अनुत्तर (सर्वश्रेष्ठ) मोक्षमार्ग कौन-सा है? इस जिज्ञासा का सुधर्मास्वामी द्वारा भगवत्प्रतिपादित समाधान संक्षेप में इस प्रकार किया गया– "जैसे समुद्रमार्ग से विदेश में व्यवसाय करने वाले व्यापारी समुद्र को सही-सलामत पार कर लेते हैं, वैसे ही इस (प्रशस्तभाव = मोक्ष) मार्ग का आश्रय लेकर बहुत-से जीवों ने संसार-सागर को पार किया है, वर्तमान में भी कई भव्य जीव पार करते हैं और भविष्य में भी बहुत-से जीव इसे पार करेंगे।"[१]

निर्वाणमार्ग : माहात्म्य; द्वीपसम आधारभूत, साधक के लिए उपादेय

इसी सन्दर्भ में इसी अध्ययन में मोक्षमार्ग के ऊपर नाम निर्वाणमार्ग का माहात्म्य बताते हुए कहा गया है–"जिस प्रकार सभी नक्षत्रों में सौन्दर्य, सौम्यता, परिमाण एवं प्रकाशरूप गुणों के कारण चन्द्रमा को प्रधान माना जाता है, वैसे ही निर्वाण को ही प्रधान मानने वाले तत्त्वज्ञ साधक (स्वर्ग के देव इन्द्र, चक्रवर्ती एवं धनपति इत्यादि पदों को त्याज्य और निकृष्ट समझकर निर्वाणपद (निर्वाणपथ) को ही परम (सर्वश्रेष्ठ) पद मानते हैं।" मुनि (आत्मार्थी मनस्वी साधक) सदैव दान्त एवं यत्नशील (यतनाचारी) होकर निर्वाण के साथ ही सन्धान करे, अर्थात् निर्वाण को लक्ष्यगत रखकर मानसिक-वाचिक-कायिक सभी प्रवृत्ति करे। मिथ्यात्व-कषायादि संसार-सागर के स्रोतों के तीव्र प्रवाह में बहते हुए एवं अपने पूर्वकृत कर्मों के उदय से दु:ख पाते हुए प्राणियों के लिए तीर्थंकर देव निर्वाणमार्ग को ही आश्वासनदायक, विश्रामभूत एवं आश्रयदायक श्रेष्ठ द्वीप तथा मोक्ष-प्राप्ति का आधार (प्रतिष्ठान) बताते हैं। अर्थात् (सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप) निर्वाणमार्ग ही मोक्ष का प्रतिष्ठान (संसार-परिभ्रमण से श्रान्त साधकों के लिए विश्रान्तिरूप स्थान या मोक्ष-प्राप्ति का आधार है। आत्मगुप्त (मन-वचन-काया द्वारा आत्मा की पापकर्मों से रक्षा करने वाला) सदा दान्त, छिन्नस्रोत (मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय आदि) संसार के स्रोतों (आस्रवों) का अवरोधक या छेदक एवं आस्रवरहित (संवरधर्मा) जो साधक है, वही इस परिपूर्ण एवं अद्वितीय निर्वाणमार्गरूप शुद्ध धर्म का व्याख्यान (उपदेश) करता है।[२]

---

१. (क) सूत्रकृतांगसूत्र, श्रु. १, अ. ११ (मग्गो = मार्ग), गा. १-६, विवेचन (आ. प्र. स., ब्यावर), पृ. ३८७-३८८

(ख) वही, शीलांक वृत्ति, पत्र १९८-१९९

२. वही, श्रु. १, अ. ११, गा. २२-२४ (मूल, अर्थ, विवेचन) (आ. प्र. स., ब्यावर), पृ. ३९४-३९५

मोक्षमार्ग की विशेषता एवं सर्वकर्मक्षय कराने में सफलता

श्रमणसूत्रगत पाठों में निर्ग्रन्थ-प्रवचनरूप धर्म के सन्दर्भ में मोक्षमार्ग की विशेषता और मोक्ष-प्राप्ति कराने में उसकी निश्चितता तथा सर्वकर्मक्षय कराने में उक्त मार्ग की विधिपूर्वक की गई साधना में सफलता एवं गारंटी देने वाले पर्यायवाची शब्दों का निरूपण किया गया है। उन विशेषता-प्रतिपादक शब्दों का क्रमशः प्रयोग इस प्रकार है–"**सच्चं अणुत्तरं केवलियं पडिपुण्णं नेयाउयं संसुद्धं, सल्लगत्तणं सिद्धिमग्गं मुत्तिमग्गं निज्जाणमग्गं, निव्वाणमग्गं अवितहमसंदिद्धं सव्वदुक्खपहीणमग्गं।**" यद्यपि ये विशेषणवाचक शब्द निर्ग्रन्थ प्रवचन के हैं, तथापि 'मूलाराधना की विजयोदया टीका' में निर्ग्रन्थ प्रवचन का फलितार्थ रत्नत्रय धर्मरूप मोक्षमार्ग होता है।[1]

हाँ, तो वह मोक्षमार्ग सत्य है, अर्थात् 'सद्भ्यो हितं सत्यम्' इस निर्वचन के अनुसार भव्यात्माओं के लिए हितकर तथा सद्भूत है। वह **अनुत्तर** अर्थात् सर्वोत्तम है। **कैवलिक** है, यानी केवलि-सर्वज्ञ-प्ररूपित है अथवा अद्वितीय है। वह मोक्षमार्ग (सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप) धर्म से **प्रतिपूर्ण** है अथवा मोक्ष को प्राप्त कराने वाले सद्गुणों से पूर्ण (भरा हुआ) है। वह **नैयायिक** है–नयनशील है, (मोक्ष में) ले जाने वाला है अथवा निश्चित आय = लाभ ही न्याय है, दूसरे शब्दों में–साधक के लिए मोक्ष ही सबसे बढ़कर निश्चित आय (न्याय = मोक्ष) ही जिसका प्रयोजन है, वह **न्यायिक** भी है तथा वह मोक्षमार्ग पूर्ण शुद्ध = संशुद्ध है। आंशिक रूप से शुद्ध होने पर वह जैनमान्य मोक्षमार्ग नहीं हो सकता। वह मोक्षमार्ग **शल्यकर्तन** है, अर्थात् माया, निदान और मिथ्यादर्शनरूप शल्यत्रय को काटने वाला है। त्रिविध शल्यों के द्वारा पीड़ितों के शब्दों को काटने की शक्ति एकमात्र सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रययुक्त मोक्षमार्ग में ही है। फिर यह मोक्षमार्ग **सिद्धिमार्ग** है आत्म-स्वरूप की प्राप्ति या हितार्थ-प्राप्ति का नाम सिद्धि है, उसका मार्ग यानी उपाय, सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग है। यह सिद्धिमार्ग इसलिए भी है कि कर्मों का आवरण हटाकर शुद्ध आत्म-ज्योति का प्रकाश इसी रत्नत्रयादि धर्म की साधना द्वारा सिद्धि दिलाने वाला है। यह **मुक्तिमार्ग** है, अर्थात् निःसंगता–निर्मुक्तता का मार्ग = उपाय है। मुक्तिमार्ग का एक अर्थ अहितार्थक कर्मों से मुक्ति (छुटकारा) दिलाने वाला मार्ग भी है। वह **निर्याणमार्ग** भी है, अर्थात् अनन्तकाल से संसार-चक्र में भटकते हुए

---

१. देखें–मूलाराधना विजयोदया टीका १-४३ में निर्ग्रन्थ प्रवचन का मोक्षमार्गरूप प्रवचन के रूप में फलितार्थ–

ग्रन्थन्ति रचयन्ति दीर्घी कुर्वन्ति संसारमिति ग्रन्थाः–मिथ्यादर्शनं, मिथ्याज्ञानं असंयमः, कषायाः, अशुभयोगत्रयं चेत्यमीपरिणामाः। मिथ्यादर्शनान्निष्क्रान्तं किम्? सम्यग्दर्शनं, मिथ्याज्ञानान्निष्क्रान्तं सम्यग्ज्ञानम्, असंयमात् कषायेभ्योऽशुभयोगत्रयाच्च निष्क्रान्तं सुचारित्रं। तेन तत्त्रयमिह निर्ग्रन्थ शब्देन भण्यते।

भव्य जीवों को संसार से निर्याण कराने = बाहर निकालने वाला मार्ग है, अथवा निरुपम यान = स्थान यानी मोक्षपद (स्थान) प्रापक मार्ग है। यह **निर्वाणमार्ग** भी है अर्थात् सकल कर्मक्षय होने पर आत्मा को कभी नष्ट न होने वाला आध्यात्मिक आत्यन्तिक सुख निर्वाण है, उसका मार्ग है। अथवा यह आत्मा को पर-परिणति से हटाकर या कर्मरोग से मुक्ति दिलाकर स्व-परिणति में = स्व-स्वरूप में स्थित करने वाला आत्म-स्वास्थ्यरूप निर्वाण का मार्ग है। यह **मोक्षमार्ग अवितथ** है, अर्थात् असत्य से सर्वथा दूर है, पूर्णरूपेण सत्य है। **असंदिग्ध** है = संदेह से सर्वथा रहित है-यह मोक्षमार्ग। अथवा यह **अविसन्धिरूप** है, यानी अनन्तकाल से निरन्तर अविच्छिन्नरूप है। यह आत्मा का शाश्वतधर्म या मार्ग है और अन्त में वह मोक्षमार्ग **सर्वदुःख प्रहीणरूप** मोक्ष का मार्ग = कारण है। सांसारिक सुख की इच्छा की पूर्ति में दुःख छिपा हुआ होता है। फलतः दुःखों का सर्वथा अभाव मोक्ष में ही हो सकता है, अन्यत्र नहीं। और वह सर्वदुःख मुक्तिरूप मोक्ष का साक्षात्कार करा देने वाला है। इस पर से सहज ही समझा जा सकता है निर्ग्रन्थ प्रवचन (जैनधर्म) सम्मत मोक्षमार्ग की कितनी विशेषता, महत्ता और अनिवार्यता है?[1]

---

१. (क) श्रमणसूत्र के अन्तर्गत प्रतिज्ञासूत्र का मूल पाठ

(ख) देखें-'श्रमणसूत्र' (उपाध्याय अमर मुनि) में इनकी व्याख्या, पृ. ३२२-३२७

(ग) सद्भ्यो = भव्येभ्यो हितं सच्चं, सद्भूतं वा सच्चं।

-आचार्य जिनदासकृत आवश्यकचूर्णि

(घ) केवलियं-केवलं अद्वितीयं-एतदेवैकं हितं।
नान्यद् द्वितीयं प्रवचनमस्ति, केवलिणा वा पण्णत्तं केवलियं॥ *-आवश्यकचूर्णि (आ. जिनदास)*

(ङ) पडिपुण्णं = प्रतिपूर्णं-अपवर्गप्रापकैर्गुणैर्भृतमिति। *-आवश्यक हारि. वृत्ति*

(च) नैयायिकं = नयनशीलं-मोक्षगमकमित्यर्थः। *-वही*
निश्चितआयोलाभो न्यायो मुक्तिरित्यर्थः स प्रयोजनमस्येति नैयायिकः।
-उत्तराध्ययन वृत्ति, अ. ४, गा. ५
न्यायेन चरति नैयायिकम्, न्यायाबाधितमित्यर्थः। *-आवश्यकचूर्णि*

(छ) कृन्ततीति कर्तनम् शल्यादीनि मायादीनि, तेषां कर्तनं भव-निबन्धन-मायादिशल्यच्छेदकमित्यर्थः।

(ज) सिद्धिः स्वात्मोपलब्धिः। *-मूलाराधना टीका*
सेधनं सिद्धिः हितार्थप्राप्तिः। *-आवश्यक हारि. वृत्ति*

(झ) मुक्तिः निर्मुक्तता-निःसंगता। मुक्तिः अहितार्थ-कर्म-विच्युतिः। *-आवश्यकचूर्णि*

(ञ) निरुपमं यानं निर्याणं-मोक्षपदं ईषत्प्राग्भाराख्यं स्थानमित्यर्थः। *-आवश्यक हारि. वृत्ति*
निर्याणं-संसारात् पलायनं = संसारात् निर्गमनमित्यर्थः। *-आवश्यकचूर्णि (जिनदास)*

(ट) निर्वृतिः निर्वाण-सकलकर्मक्षयजमात्यन्तिकं सुखमित्यर्थः। *-आवश्यक हारि. वृत्ति*
निव्वाणं निव्वत्ती-आत्म-स्वास्थ्यमित्यर्थः। *-आवश्यकचूर्णि*

(ठ) सव्व-दुक्ख-पहीण मग्गं = सर्व-दुःखप्रहीणमार्गः सर्वदुःख-प्रहीणो मोक्षस्तत्कारणमित्यर्थः। *-आवश्यक हारि. वृत्ति*

मोक्षमार्ग पर श्रद्धापूर्वक गति-प्रगति करना मुमुक्षु का कर्त्तव्य

इसलिए अध्यात्म-विकास के चरम शिखररूप सर्वकर्मक्षय लक्षण मोक्ष के यात्री के साँस की प्रत्येक धड़कन में मोक्ष के यथार्थ मार्ग का स्पन्दन तथा उस पर चलने का उत्साह होना चाहिए। उसके तन-मन-वचन और प्राण में प्रतिपल मोक्षमार्ग सक्रिय दिखाई देना चाहिए। जैसे कि 'समयसार कलश' में कहा गया है–

"एको मोक्षपथो स एव नियतो दृग्-ज्ञप्ति-वृत्यात्मकः।
तत्रैव स्थितिमेति यस्तमनिशं ध्यायेच्च तं चेतसि॥
तस्मिन्नेव निरन्तरं विहरति, द्रव्यान्तराण्यस्पृशन्।
सोऽवश्यं सारमचिरान्नित्योदयं बिन्दन्ति॥२४०॥

अर्थात् दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप यही एक मोक्षमार्ग निश्चित है। जो व्यक्ति उसी में स्थित रहता है, उसी का निरन्तर ध्यान करता है, उसी में निरन्तर विहरण करता है, अन्य द्रव्यों (जीव के सिवाय) का स्पर्श भी नहीं करता, वह अवश्य ही नित्य उदित रहने वाले समय (आत्मा) के सारभूत (मोक्ष) को शीघ्र ही प्राप्त कर लेता है, अर्थात् उसे शीघ्र ही मोक्ष-प्राप्ति होती है।

जैसे राजमार्ग पर लगा हुआ माइल का पत्थर यात्री को उत्साहपूर्वक अपनी मंजिल की ओर आगे बढ़ने की प्रेरणा देता है। उससे यात्री को अपनी मंजिल निकट आने की प्रतीति हो जाती है। वह उस मार्ग की–रास्ते की यथार्थता से भी परिचित और निश्चिंत होकर बेखटके आगे कूच करता जाता है। इसी प्रकार मोक्षमार्ग पर लगे अध्यात्म-विकास की गति-प्रगति के सूचक गुणस्थानरूपी पाषाण भी मोक्षयात्री को निश्चिंत होकर आगे बढ़ने की प्रेरणा देते हैं। उसे अपने मोक्ष-लक्ष्य की निकटता और मोक्षमार्ग की यथार्थता की प्रतीति होने से वह बेधड़क होकर गति-प्रगति करता जाता है। यही कारण है, मोक्षयात्री के लिए मोक्षमार्ग को जानने, मानने तथा श्रद्धापूर्वक उस पर गति-प्रगति करने का बहुत बड़ा महत्त्व है। मोक्षमार्ग को जानने, मानने और उस पर गति-प्रगति करने से मुमुक्षु साधक शुद्ध साधनों से शुद्ध साध्य (मोक्ष) को अविलम्ब या देर-सबेर प्राप्त कर ही लेता है।

मोक्षमार्गी साधकवर्ग के लिए साधना के १३ सूत्र

वैसे तो मोक्षयात्री चतुर्थ गुणस्थान से मोक्षमार्ग पर अपनी यात्रा शुरू करता है और पंचम गुणस्थान में देशविरति (विकल चारित्र) तथा छठे गुणस्थान में सर्वविरति (सकल चारित्र) का स्वीकार करता है। यद्यपि चतुर्थ और पंचम गुणस्थान वाले गृहस्थ साधक भी भाव मोक्षमार्ग स्वीकार करके मोक्ष की मंजिल पा सकते हैं, तथापि इन दोनों गुणस्थानवर्ती सभी गृहस्थ साधकवर्ग के लिए इस भाव मोक्षमार्ग को जानने-मानने पर भी उसे पूर्णतया आचरण में लाना दुर्लभ या कठिन

होता है। जैन-साधुवर्ग के लिए उसका सम्यग्दर्शन-ज्ञान के साथ सम्यक्चारित्र एवं सम्यक्तप के रूप में आचरण करना सुलभ, सुगम और आसान होता है। इसी दृष्टि से 'सूत्रकृतांग' में उक्त मार्ग नामक अध्ययन में प्रशस्त भावमार्गरूप मोक्षमार्ग की साधना करने के लिए उच्च साधकवर्ग के लिए ७ गाथाओं द्वारा कुछ साधना-सूत्र दिये गए हैं। उन ७ गाथाओं का सार यह है-(१) भगवान महावीर द्वारा प्रतिपादित साधुधर्मरूप भाव (मोक्ष) मार्ग को सम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक स्वीकार करके महाघोर संसार-सागर को पार करे। (२) आत्मा को पाप से बचाने के लिए संयम में पराक्रम करे। (३) साधुधर्म में दृढ़ रहने के लिए इन्द्रिय-विषयों से विरत हो जाए। (४) जगत् के समस्त प्राणियों को आत्म-तुल्य समझकर उनकी रक्षा करता हुआ पूर्ण संयम में प्रगति करे। (५) चारित्र-विनाशक क्रोध-मान-माया-लोभरूप कषायों को संसारवर्द्धक जानकर उनका निवारण करे। (६) एकमात्र निर्वाण के साथ अपने मन-वचन-काया व आत्मा को जोड़ दे। (७) साधुधर्मरूप मोक्षमार्ग को अथवा दशविध श्रमणधर्म को या सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप धर्म को केन्द्र में रखकर प्रवृत्ति करे। (८) बारह प्रकार की तपश्चर्या में अपनी पूरी शक्ति लगाए। (९) क्रोध और मान को न बढ़ाए अथवा इन्हें सफल न होने दे। (१०) अतीत और भविष्य में जो भी बुद्ध (सर्वज्ञ) हुए हैं या होंगे, उन सबके जीवन और उपदेश का मूलाधार शान्ति (कषाय-मुक्ति) रही है, रहेगी। (११) अनगारधर्मरूप भावमार्ग को स्वीकार करने के बाद जो भी परीषह या उपसर्ग आए, साधु महावात से महागिरि सुमेरु की तरह संयम पर अविचल रहे। (१२) वह मोक्षयात्री साधु गृहस्थवर्ग द्वारा प्रदत्त एषणीय आहार सेवन करे। (१३) शान्त रहकर अन्तिम समय में समाधि (पण्डित) मरण की प्रतीक्षा करे। इन १३ साधना-सूत्रों को साधु-जीवन के प्रारम्भ से लेकर अन्तिम समय तक आचरित करे।[1]

साधन शुद्ध होने पर ही शुद्ध साध्य प्राप्त किया जा सकता है

जैनदर्शन साध्य और साधन के विषय में बहुत ही स्पष्ट है। साध्य की सिद्धि के लिये साधन का होना अनिवार्य है। साधन के अभाव में साधक कितना ही शक्तिशाली क्यों न हो, साध्य को प्राप्त नहीं कर सकता। साध्य कितना ही ऊँचा हो, द्रव्य और भाव, व्यवहार और निश्चय सभी पहलुओं से उसका विचार कर लेने के पश्चात् साधन का भी द्रव्य और भाव, व्यवहार और निश्चय की दृष्टि से विचार करना आवश्यक हो जाता है। साध्य जितना ऊँचा और गहन होता है,

---

१. (क) देखें-सूत्रकृतांग, श्रु. १, अ. ११ (मार्ग), गा. ३२-३८ (मूल और अर्थ)
(ख) वही, श्रु. १, अ. ११ की गाथाओं का सारभूत विवेचन (आ. प्र. स., ब्यावर), पृ. ३९७

साधन भी उतना ही उच्च और गहन होना आवश्यक है। प्रारम्भिक स्थिति में जब तक साधक की साधना सिद्धत्व के रूप में परिपक्व नहीं हो जाती, तब तक उसे अवलम्बन एवं साधन की आवश्यकता होती है। साध्य के विषय में हमने मोक्ष-विषयक निबन्धों में काफी प्रकाश डाला है। फिर भी कुछ साधक ऐसे होते हैं, जो साधन के नाम पर अपने मनमाने गलत सुविधाजनक साधनों को पकड़ लेते हैं, ऐसे लोग साध्य को भी सौदा मान लेते हैं, वे साध्य को भी ठीक ढंग से नहीं पकड़ पाते हैं। दूसरे प्रकार के साधक साध्य को तो ठीक ढंग से पकड़ लेते हैं, परन्तु साधन के सम्बन्ध में, साधन-शुद्धि के विषय में कुछ भी ध्यान नहीं देते। ये दोनों प्रकार के साधक अन्ततोगत्वा भटक जाते हैं, भ्रष्ट हो जाते हैं और साध्य को नहीं प्राप्त कर पाते।

'सूत्रकृतांगसूत्र' में ऐसे साधकों के विषय में कहा गया है—जो साध्य के विषय में भी सभी पहलुओं से अज्ञ हैं, साधनों के विषय में भी वे लोगों के समक्ष बड़ी-बड़ी बातें बघारते हैं, स्वयं को प्रबुद्ध और प्राज्ञ मानते हैं, किन्तु अहंकार, क्रोध, ईर्ष्या, लोभ, प्रतिष्ठा, लोलुपता आदि दोषों से घिरे होने से वे साध्य से भी दूर हो जाते हैं, साधनों (सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-तप) से भी भ्रष्ट और पतित हो जाते हैं। संक्षेप में, उन तथाकथित साध्य-साधन-भ्रष्ट सम्यग्दर्शनादिरूप भाव-समाधि से दूर साधकों की मनोदशा इस प्रकार है—"वे भावनिर्वाणरूप समाधि (साध्य) से दूर हैं। क्योंकि निर्वाण (साध्य) मार्ग के कारण (साधन) हैं—सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र। परन्तु वे इस धर्म और मोक्ष के वास्तविक बोध से अनभिज्ञ हैं, फिर भी स्वयं तत्त्वज्ञ होने का दम भरते हैं। अगर उन्हें जीव-अजीव तत्त्व का सम्यक्बोध होता तो वे सचित्त बीज, कच्चे पानी या औद्देशिक दोषयुक्त आहार का सेवन कर हिंसादि आस्रव और कर्मबन्ध न करते। इसलिए वे जीवों की पीड़ा से अनभिज्ञ अथवा धर्म और कर्म के ज्ञान में अनिपुण और असमाधियुक्त हैं। वे दुर्बुद्धि अपने लिए अष्टविध कर्मरूप या असातावेदनीय रूप दुःख पैदा करके अनेक बार घात (जन्म-मरणादि) चाहते/ढूँढ़ते हैं। वे अपने संघ के लिए आहार बनवाने तथा उसे प्राप्त करने के लिए अहर्निश लालायित रहते हैं। वे दूसरे धर्म-संघों से ईर्ष्या-द्वेष, पर-निन्दा, क्लेश आदि करने में तत्पर रहकर आर्त्त-रौद्रध्यान में रत रहते हैं। वे ऐहिक सुख की कामना करते रहते हैं। धनधान्य आदि परिग्रह रखते हैं। मनोज्ञ आहार, शय्या-आसन आदि रागवर्द्धक वस्तुओं का उपभोग करते हैं, फिर उनके द्वारा तप-त्यागवर्द्धक संयमयुक्त शुभ ध्यान कैसे हो सकता है? अतएव ऐसे साधक धर्मध्यानयुक्त समाधिमार्ग से काफी दूर हैं। जलचर व माँसाहारी पक्षियों के दुर्ध्यान की तरह वे हिंसादि हेय बातों से दूर न होने से अनार्य हैं। वे सम्यग्दर्शनरहित होने से विषय-प्राप्ति का दुर्ध्यान करते हैं। सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रयरूप धर्म (मोक्ष) के निर्दोष मार्ग से भिन्न कुमार्ग की प्ररूपणा

करने तथा सांसारिक तीव्र रागादि से बुद्धि कलुषित एवं मोह-मूर्च्छित होने से सन्मार्ग की विराधना करके कुमार्गाचरण करने के कारण वे शुद्ध भाव (मोक्ष) मार्ग से दूर हैं। जैसे-छिद्र वाली नौका में बैठा हुआ जन्मान्ध व्यक्ति नदी पार न होकर मझधार में ही डूब जाता है, इसी प्रकार आस्रवरूपी छिद्रों से कुदर्शनादियुक्त कुधर्म नौका में बैठे होने के कारण वे अज्ञानान्ध व्यक्ति भी संसार-सागर से पार न होकर मझधार में ही डूब जाते हैं।[1]

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-तप, इन चारों का समायोग ही मोक्षमार्ग

'उत्तराध्ययनसूत्र' में कहा गया है-(सम्यक्) ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप-इन चारों के समायोग को सत्य के सम्यक् द्रष्टा जिनवरों ने मोक्ष का मार्ग बताया है। 'दर्शनपाहुड' में भी कहा है-सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यक्तप और सम्यक्चारित्र, इन चारों के समायोग से मोक्ष होता है, ऐसा जिन-शासन का दर्शन है।[2]

'तत्त्वार्थसूत्र' में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र, तीनों के समन्वित रूप को मोक्षमार्ग कहा है। सम्यक्तप सम्यक्चारित्र में ही अन्तर्भाव हो जाता है, क्योंकि वह सम्यक्चारित्र का ही अंग है। 'प्रवचनसार' के अनुसार-"तीनों की युगपद्ता (एकता) ही मोक्षमार्ग है।"

आशय यह है कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र, ये तीनों मिलकर मोक्ष का मार्ग हैं, यही बताने के लिए 'तत्त्वार्थसूत्र' में 'मोक्षमार्गः' ऐसा एकवचन का निर्देश किया गया है। अतः ये तीनों पृथक्-पृथक् रहें तो मोक्षमार्ग नहीं होता। 'राजवार्तिक' में एक उदाहरण देकर समझाया है-किसी औषध का पूर्ण फल प्राप्त करने के लिए जैसे उस पर श्रद्धा (विश्वास), ज्ञान और सेवनरूप क्रिया, तीनों आवश्यक हैं, उसी प्रकार मोक्षरूप फल की प्राप्ति के लिए उसके मार्ग के प्रति श्रद्धा, ज्ञान और आचरण (चारित्र), इन तीनों का एक साथ होना आवश्यक है।[3]

---

१. सूत्रकृतांग, श्रु. १, अ. ११ (मार्ग अध्ययन), गा. २५-३१, विवेचन (आ. प्र. स., ब्यावर), पृ. ३९५-३९७

२. (क) नाणं च दंसणं चेव, चरित्तं च तवो तहा।
एस मग्गुत्ति पण्णत्तो, जिणेहिं वरदंसिहिं॥ *-उत्तराध्ययनसूत्र २८/२*

(ख) णाणेण दंसणेण य, तवेण चरियेण संजमगुणेण।
चउहिं पि समाजोगे, मोक्खो जिणसासणे दिट्ठो॥ *-दर्शनपाहुड, मू. ३०*

३. (क) सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः। *-तत्त्वार्थसूत्र, अ. १, सू. १*

(ख) सम्यग्दर्शनादीनि मोक्षस्य सकलकर्मक्षयस्य मार्गः उपायः न तु मार्गाः। इत्येकवचन-प्रयोग-तात्पर्य-सिद्धः। *-न्यायदीपिका ३/७३/१/३*

(ग) प्रवचनसार, मू. २३७

(घ) सर्वार्थसिद्धि १/१/७/५

(ङ) राजवार्तिक १/१/४९/१४/१

दर्शन, ज्ञान और चारित्र से पूर्व सम्यक् शब्द क्यों ?

प्रश्न होता है–दर्शन, ज्ञान और चारित्र के पूर्व 'सम्यक्' शब्द क्यों जोड़ा जाता है? इसकी क्या आवश्यकता है? इन तीनों के पूर्व सम्यक् शब्द लगाने का क्या महत्त्व है? सम्यक् शब्द लगाने से क्या विशेषता आ जाती है इनमें? इसका समाधान यह है कि केवल दर्शन, ज्ञान और चारित्र को ही मोक्ष का अंग मान लिया जाए, उनसे पूर्व सम्यक् शब्द न जोड़ा जाए तो मिथ्यादर्शन (मिथ्यात्व), मिथ्याज्ञान (कुज्ञान-अज्ञान) एवं मिथ्याचारित्र (कुचारित्र या अविरति) को भी मोक्ष का मार्ग या अंग मान लिया जाएगा, क्योंकि दर्शन का दर्शनत्व, ज्ञान का ज्ञानत्व और चारित्र का चारित्रत्व वहाँ पर भी रहता ही है। परन्तु आत्म-स्वरूप की पूर्ण उपलब्धिरूप या स्व-स्वरूप में सर्वथा सर्वदा अवस्थानरूप अथवा सर्वकर्मक्षयरूप मोक्ष के अंग मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान एवं मिथ्याचारित्र नहीं बन सकते। मिथ्यादर्शन (मिथ्यात्व) आदि को मोक्ष का अंग न मानकर संसार का ही अंग माना गया है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र तीनों के समन्वय को ही मोक्षमार्ग (मोक्ष के साधन या उपाय) के रूप में माना गया है।[१]

प्रत्येक आत्मा में ज्ञान-दर्शन-चारित्र की त्रैकालिक सत्ता है

यद्यपि दर्शन, ज्ञान और चारित्र आत्मा के निज गुण हैं, संसारी जीव हो या सिद्ध-परमात्मा हो, प्रत्येक जीव (आत्मा) में ये तीनों गुण रहते ही हैं। वे कभी आत्मा को छोड़कर रह ही नहीं सकते। जैसे–ज्ञान आत्मा का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण निज गुण है। जो निज गुण होता है, वह अपने गुणी से कभी अलग नहीं हो सकता। अनन्त भूतकाल में एक भी समय ऐसा नहीं रहा, जब ज्ञान आत्मा को छोड़कर अलग रहा हो और अनन्त भविष्य में एक क्षण भी ऐसा नहीं आएगा, जब ज्ञान आत्मा को छोड़कर अलग हो जाएगा।

वर्तमान क्षण में भी आत्मा में ज्ञान है ही। इस दृष्टि से ज्ञान तीनों काल में आत्मा में रहता है। इसी प्रकार दर्शन भी आत्मा का निज गुण है। वह भी आत्मा में सदैव रहा है, रहता है और रहेगा। ज्ञान के समान दर्शन की भी आत्मा में त्रैकालिक सत्ता है। अब रहा चारित्र। वह भी आत्मा का निज गुण है। चारित्र भी आत्मा में अनन्त काल तक रहता है और रहेगा। आत्मा की सत्ता अनन्त काल से है, और अनन्त काल तक रहेगी। इस दृष्टि से ज्ञान, दर्शन और चारित्र भी आत्मा के निजी विशिष्ट गुण होने के नाते गुणी आत्मा से कभी पृथक् नहीं हो सकते। अतः जब आत्मा की त्रैकालिक सत्ता है, तो इन तीनों की भी त्रैकालिक सत्ता है।

---

१. (क) 'अध्यात्म प्रवचन' से भाव ग्रहण, पृ. ७७-७९

(ख) सर्वार्थसिद्धि १/१/५/३६

ज्ञानादि गुण और गुणी आत्मा का अविनाभावी सम्बन्ध है

न्यायशास्त्र की दृष्टि से गुण और गुणी में अविनाभावी सम्बन्ध होता है। जैसे अग्नि गुणी है, उसका गुण है–उष्णता। उष्णता अग्नि को छोड़कर रह नहीं सकती, वैसे ही अग्नि भी उष्णताहीन कदापि नहीं हो सकती, क्योंकि दोनों में अविनाभावी सम्बन्ध है। इसी प्रकार ज्ञान, दर्शन और चारित्र गुण गुणी आत्मा को छोड़कर रह नहीं सकते, क्योंकि गुण और गुणी दोनों का सम्बन्ध अविनाभावी होता है। जैनदर्शन अनेकान्त दृष्टि की अपेक्षा निश्चयनय से गुण और गुणी में कथंचित् अभेद तथा व्यवहारनय से कथंचित् भेद मानता है।

ज्ञान से पूर्व सम्यक् शब्द जोड़ने का कारण

अतएव ज्ञान आत्मा का निज गुण है। संसार का एक भी प्राणी ऐसा नहीं है, जिसमें ज्ञान न हो। यह बात दूसरी है कि किसी प्राणी में कम होता है, किसी में अधिक तथा किसी में ज्ञान मिथ्या होता है, किसी में सम्यक्। ज्ञानरूप उपयोग आत्मा का एक बोधरूप व्यापार है। संसारी आत्माओं (जीवों) में सबसे निकृष्ट स्थिति निगोद जीवों की मानी जाती है। निगोद जीवों की चेतना-शक्ति (ज्ञान-शक्ति) इतनी क्षीण, अविकसित और अल्प होती है कि वहाँ एक ही शरीर में अनन्त-अनन्त जीवों (आत्माओं) को निवास करना पड़ता है, प्रत्येक आत्मा (जीव) के पास अपने पृथक्-पृथक् शरीर भी नहीं रहते। अनन्त आत्माओं की साझेदारी का यह तन भी बहुत सूक्ष्म व चर्मचक्षु से अदृष्टिगोचर होता है। अतीन्द्रिय विशिष्ट ज्ञानी ही उसे जान-देख सकते हैं। चेतना (ज्ञान) की इस क्षीण-हीन अवस्था में भी उन निगोदिया जीवों के पास ज्ञानगुण रहा है, रहेगा भी। किन्तु उनकी ज्ञानरूप उपयोग की धारा आत्माभिमुखी न होकर शरीराभिमुखी रहती है; जिन जीवों के ज्ञानरूप उपयोग की धारा शरीर से सम्बद्ध भौतिक भोग-साधनों में प्रवाहित होती है, उनका वह ज्ञान सम्यक् न होकर मिथ्याज्ञान ही रहता है। मिथ्याज्ञान वाले प्राणी में ज्ञान की धारा तो रहती है, परन्तु वह सम्यक् न होकर मिथ्या होती है। अतः वह मोक्ष का या मोक्षमार्ग का अंग या साधन नहीं हो सकता और ज्ञान भी सम्यक् तब होता है, जब उससे पहले दर्शन सम्यक् हो। दर्शन, दृष्टि या विश्वास (श्रद्धान) पहले परिष्कृत, शुद्ध, आत्म-लक्षी हो तो ज्ञान सम्यक् होता है और एकेन्द्रिय और तीन विकलेन्द्रिय जीवों का ज्ञान मिथ्या ही होता है, सम्यक् नहीं।

तिर्यंच पंचेन्द्रिय जीव मनुष्य, देव, नारक आदि में अधिकांश जीव मिथ्यादर्शनयुक्त होने से उनका ज्ञान भी मिथ्या होता है। मिथ्याज्ञान मोक्ष-प्राप्ति में बाधक है। इसलिए ज्ञान आत्मा का निज गुण तथा निज स्वरूप होते हुए भी जिन जीवों का ज्ञान मिथ्या होता है, वह मोक्षमार्ग की साधना में उपादेय नहीं है। अतः ज्ञान के पूर्व सम्यक् शब्द न जोड़ा जाए तो मिथ्याज्ञान भी मोक्ष का अंग माना जाएगा, जो अभीष्ट नहीं है।

दर्शन से पूर्व सम्यक् शब्द जोड़ने का कारण

चेतना के अत्यन्त क्षीण एवं निकृष्ट अवस्था में भी ज्ञान की तरह दर्शनगुण भी संसार के प्रत्येक प्राणी में रहता है। अत्यन्त क्षीण अविकसित दशा में भी जीव में दर्शनगुण रहता है, परन्तु विश्वास, रुचि, श्रद्धा, रूप में उसका दर्शन आत्माभिमुखी न रहकर, पराभिमुख (पर-पदार्थाभिमुखी) रहा, आत्मा में न रहकर शरीरादि में रहा है। उसकी श्रद्धा, विश्वास, रुचि, दृष्टि या प्रतीति मिथ्या होने से आत्मा में न रहकर शरीरादि पर-भावों में रहती है। अतः दर्शन से पूर्व सम्यक् शब्द को जोड़ा गया है, ताकि मिथ्यादर्शन मोक्ष का अंग न वन जाए।

इसी प्रकार चारित्र भी प्रत्येक आत्मा का गुण है। चारित्र का अर्थ है-क्रिया, प्रवृत्ति या आचार। आचार, क्रिया या प्रवृत्ति के रूप में चारित्र तो प्रत्येक जीव में किसी न किसी रूप में रहता ही है। ऐसा कभी नहीं होता कि चारित्र आत्मा को छोड़कर अन्यत्र कहीं रहता हो। हिंसा-अहिंसा, सत्य-असत्य दोनों ही चारित्र हैं। एक सम्यक् है, दूसरा असम्यक्। क्रिया या प्रवृत्ति का आत्माभिमुखी होना सम्यक्चारित्र है और उसका शरीरलक्षी या सांसारिक भोगलक्षी होना मिथ्याचारित्र है। क्रिया का सीधा होना सुचारित्र और विपरीत होना कुचारित्र है। शास्त्रीय परिभाषा के अनुसार-अशुभ से निवृत्ति और शुभ में प्रवृत्ति को (व्यवहार) चारित्र कहा जाता है। चारित्र या क्रिया अथवा आचार जब कभी होगा, आत्मा (जीव) में ही होगा; अजीव (जड़) में नहीं। इसी आधार पर चारित्र को आत्मा का गुण कहा गया है। निश्चयदृष्टि से स्वरूप में या आत्म-स्वभाव में रमण सम्यक्चारित्र है और मिथ्याचारित्र या कुचारित्र है-पर-भावों में रमण। सम्यक्चारित्री आत्मा की प्रवृत्ति मोक्षाभिमुखी होती है, जबकि मिथ्याचारित्री आत्मा की प्रवृत्ति संसाराभिमुखी रहती है। इसीलिए चारित्र से पूर्व सम्यक् शब्द जोड़ा गया है, ताकि उसके धारक की प्रवृत्ति संसाराभिमुखी न हो।

आशय यह है कि कोरे (सामान्य) दर्शन, ज्ञान और चारित्र मोक्ष के अंग नहीं हैं, अपितु सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ही मोक्ष के अंग हैं। शब्दशास्त्र के अनुसार सम्यक् शब्द का अर्थ होता है-प्रशस्त, विशुद्ध, यथार्थ या संगत। इन तीनों गुणों के पूर्व सम्यक् शब्द इस अभिप्राय को सूचित करता है कि जब तक ये तीनों गुण प्रशस्त, विशुद्ध एवं संगत नहीं होंगे, तब तक ये मोक्ष के अंग नहीं बन सकेंगे।[1]

---

१. (क) 'अध्यात्म प्रवचन' से भाव ग्रहण, पृ. ८१

(ख) सम्यङ्मिथ्याविशेषाभ्यां विना श्रद्धादिमात्रकाः।
सपक्षवद्विपक्षेऽपि वृत्तित्वाद व्यभिचारिणः॥ *-पंचाध्यायी उत्तरार्द्ध ४१७*

भावानां याथात्म्य-प्रतिपत्तिविषय-श्रद्धान-संग्रहार्थं दर्शनस्य सम्यक् विशेषणम्।

-सर्वार्थसिद्धि १/१/५/३६

मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र मोक्ष के अंग का साधन नहीं हैं

निष्कर्ष यह है कि मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र को मोक्ष का अंग न मानकर जैनदर्शन ने संसार का अंग माना है। जैसे कि 'वेदान्तदर्शन' ने कहा-"**ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः!**"-ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं होती। इसी प्रकार 'न्यायदर्शन' में प्रमाण, प्रमेय आदि १६ तत्त्वों के ज्ञानमात्र को मोक्ष-प्राप्ति का कारण बताया गया है। यहाँ ज्ञान केवल आत्म-लक्षी न होकर प्रायः पर-लक्षी ही है, इसलिये वेदान्तियों के ज्ञानमात्र को तथा नैयायिकों के षोड़श तत्त्वों के ज्ञान को सम्यग्ज्ञान नहीं कहा जा सकता। सम्यग्ज्ञान न होने से उसे मोक्ष का अंग नहीं माना जा सकता। तात्पर्य यह है कि मोक्ष की साधना में कोरे ज्ञान और दर्शन का होना ही पर्याप्त नहीं है, किन्तु उनका आत्म-लक्षी होना अनिवार्य है। इसी प्रकार मोक्ष की साधना में चारित्र का होना ही पर्याप्त नहीं है, किन्तु उसका आत्म-लक्षी होना जरूरी है। मिथ्यात्वदशा में ज्ञान, दर्शन और चारित्र निज गुण होने पर भी आत्म-लक्षी न होकर पर-लक्षी बने रहते हैं। इन गुणों का आत्म-लक्षी होना ही सम्यक्त्व है और पर-लक्षी होना मिथ्यात्व है।[1]

सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान : पहले कौन, पीछे कौन ?

एक प्रश्न दार्शनिकों ने और उठाया है कि मोक्ष की साधना में सम्यग्दर्शन को पहले माना जाए अथवा सम्यग्ज्ञान को। मोक्ष की साधना का क्रम सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्र रहे या सम्यग्ज्ञान-सम्यग्दर्शन-सम्यक्चारित्र? ज्ञान और दर्शन के पूर्वापर के सम्बन्ध में यह विचारभेद पाया जाता है। अगर तात्त्विक दृष्टि से देखा जाए तो किसी प्रकार के विचारभेद या परस्पर विरोध को अवकाश नहीं है। 'उत्तराध्ययन' आदि आगमों में '**नादंसणिस्स नाणं**' कहकर ज्ञान से पूर्व दर्शन को रखा गया है। उसका कारण यह बताया गया है कि ज्ञान तो आत्मा में *अनादिकाल से था ही, किन्तु उस ज्ञान को सम्यक् बनाने की शक्ति सम्यग्दर्शन में* है। अतः ज्ञान से पूर्व उस सम्यग्दर्शन को रखा जाना या प्राप्त करना आवश्यक है, ताकि उसके कारण अज्ञान या कुज्ञान (मिथ्याज्ञान) रूप ज्ञान सम्यग्ज्ञान बन जाए। सम्यग्दर्शन नया ज्ञान उत्पन्न नहीं करता, किन्तु जो ज्ञान आत्मा में अज्ञान या मिथ्याज्ञान के रूप में पड़ा है, उसे वह सम्यग्ज्ञान बना देता है। इस दृष्टि से ज्ञान से पूर्व सम्यग्दर्शन को रखने में किसी को आपत्ति नहीं हो सकती है किन्तु उन्हीं आगमों में कहीं-कहीं दर्शन से पूर्व ज्ञान को रखा गया है-"**नाणं च दंसणं चेव चरित्तं च तवो तहा।**" उनका तर्क यह है कि दर्शन का अर्थ है-सत्य की प्रतिपत्ति, सत्य की दृष्टि। परन्तु कौन-सी दृष्टि, श्रद्धा, प्रतिपत्ति या आस्था सत्य है, कौन-सी

---

१. (क) छान्दोग्य उपनिषद्

(ख) प्रमाण-प्रमेय .... तत्त्वज्ञानान्निश्रेयसाधिगमः। —*न्यायसूत्र*

असत्य? इसका निर्णय तो सम्यग्ज्ञान से ही हो सकता है। ज्ञान आत्मा का असाधारण गुण है। किसी भी वस्तु के सत्यासत्य का निर्णय करने में आत्मा के विशुद्ध ज्ञान (सुज्ञान) को ही प्राथमिकता देनी चाहिए। अतः आस्था, श्रद्धा, विश्वास या दृष्टि से पहले सम्यग्ज्ञान होना चाहिए। वस्तुस्थिति का गहराई से विचार किया जाए तो यह विवाद ही व्यर्थ है, जैसे सूर्य के उदय के साथ ही आतप और प्रकाश दोनों साथ-साथ भूमण्डल पर आते हैं, वैसे ही सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन दोनों साथ-साथ रहते हैं। इनमें क्रमभाव या पूर्वापरता है ही नहीं। ज्यों ही सम्यग्दर्शन होता है, त्यों ही तत्काल सम्यग्ज्ञान हो जाता है। इन दोनों के प्रगट होने में क्षणमात्र का अन्तर भी नहीं रह पाता।[1]

मोक्ष-साधना की महायात्रा में सम्यग्दृष्टि, सम्यग्दर्शन, सद्दृष्टि, सुदर्शन या सम्यक्श्रद्धा का विशेष महत्त्व इस आधार पर माना गया है कि दृष्टि या दर्शन सम्यक् होने पर ही ज्ञान सम्यग्ज्ञान बनता है और चारित्र या तप सम्यक्चारित्र और सम्यक्तप बनता है। सम्यग्दर्शन मिथ्याज्ञान को सम्यक् बना देता है। विशुद्ध (सम्यक्) दृष्टि के अभाव में कितने ही शास्त्रों का अथवा चाहे भगवती, प्रज्ञापना आदि आगमों का गहन ज्ञान कर ले, उसका वह ज्ञान सम्यग्ज्ञान नहीं होगा, क्योंकि वह आत्म-लक्षी सम्यग्दृष्टियुक्त ज्ञान नहीं है। सम्यग्दृष्टि-सम्पन्न आत्म-लक्षी आत्मा के समक्ष भौतिकशास्त्र भी सम्यक्शास्त्र बन जाते हैं। उसके लिए उक्त मिथ्याज्ञान-प्रेरक शास्त्र भी सम्यग्ज्ञान-प्रेरक बन जाता है। 'नन्दीसूत्र' इस तथ्य का साक्षी है। विशुद्ध दृष्टि के अभाव में चाहे जितने कठोर क्रियाकाण्ड कर ले, चाहे जितने शास्त्रों को कण्ठस्थ कर ले, चाहे जितने साधु के वेश और उपकरण धारण कर ले, चाहे जितने लम्बे-लम्बे कठोर तप, घोर तप या आतापना आदि काय-क्लेश तप कर ले, सभी संसारवृद्धिकारक बनते हैं, मोक्ष-प्राप्तिदायक नहीं। क्योंकि आत्म-लक्षी सम्यग्दृष्टि के अभाव में वे सब क्रियाकाण्ड तप, जप, वेश, आचार या शास्त्र-स्वाध्याय या तो प्रदर्शन या आडम्बर करके प्रसिद्धि, प्रशंसा या प्रतिष्ठा पाने या इहलौकिक या पारलौकिक किसी कामना, वासना आदि के लिये किये जाते हैं या दूसरों को या दूसरे सम्प्रदाय पंथ आदि को नीचा दिखाने और स्वयं को उच्चचारित्री, क्रियापात्र और आत्मार्थी कहलाने के लिये किये जाते हैं या फिर दूसरों की निन्दा और उन पर आक्षेप करने के लिए किये जाते हैं। जिसकी आत्म-लक्षी सम्यग्दृष्टि होती है, वह इन पर-भावों—विभावों से निरपेक्ष होकर एकमात्र आत्म-लक्षी दृष्टि से स्वाध्याय, ध्यान, जप, तप, धर्माचरण आदि करता

---

१. (क) नाणं च दंसणं चेव, चरित्तं च तवो तहा।
एस मग्गुत्ति पण्णत्तो, जिणेहिं वरदंसिहिं॥ —*उत्तरा. २८/२*

(ख) नादंसणिस्स नाणं, नाणेण विणा न हुंति चरणगुणा। —*वही, २८*

है। उस सम्यग्दृष्टि आत्मा द्वारा सम्यक् रूप से किये गए अल्प तप-जप भी महान् फलदायक होते हैं।[1]

मोक्ष के तीनों साधनों की परिपूर्णता कब और कैसे ?

आध्यात्मिक विकास के क्षेत्र में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र तीनों का अपने-अपने स्थान पर मूल्य, महत्त्व एवं उपयोग है। तीनों ही मुक्ति के उपाय हैं किन्तु पृथक् रूप से नहीं, समन्वित रूप से ही। जैन-सिद्धान्त की दृष्टि से सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान चतुर्थ गुणस्थान में प्रकट हो जाते हैं। किन्तु सम्यक्चारित्र की उपलब्धि पंचम गुणस्थान से प्रारम्भ होती है। वैसे तो अनन्तानुबन्धी कषाय के क्षयोपशम आदि की दृष्टि से मोह-क्षोभहीनता एवं स्वरूप-रमणतारूप चारित्र अंशतः तो सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के साथ ही प्रारम्भ हो जाता है। दर्शन की परिपूर्णता अधिकतम सप्तम गुणस्थान तक हो जाती है, ज्ञान की परिपूर्णता तेरहवें गुणस्थान में होती है और चारित्र की परिपूर्णता तेरहवें गुणस्थान के अन्त में एवं सैलेशी अवस्थारूप चौदहवें गुणस्थान में होती है। जैन-सिद्धान्तानुसार इन तीनों साधमों की परिपूर्णता का नाम ही मोक्ष या मुक्ति है। मुमुक्षु आत्मा की अध्यात्मयात्रा की यही अंतिम मंजिल है।

निष्कर्ष यह है कि केवल किसी भी प्रकार की क्रिया (चारित्र) या एकान्त अक्रिया भी मोक्ष का मार्ग (उपाय या साधन) नहीं हो सकते। गशुपत आदि कुछ दार्शनिक मात्र स्वशास्त्रकल्पित आचरण (कर्मकाण्ड) को मोक्ष का कारण मानते हैं, इसी प्रकार कुछ दार्शनिक आचार, चारित्र या अमुक क्रिया को ही मोक्ष का कारण मानते हैं, यह सिद्धान्त भी ठीक नहीं है। "**ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्षः।**" इसके प्रतिपादनपूर्वक हम आगे सिद्ध करेंगे कि क्रियारहित ज्ञान की तरह, अज्ञानी की क्रियाएँ भी व्यर्थ हैं। 'तत्त्वार्थ वार्तिक' में कहा है--ज्ञानरहित क्रिया निरर्थक होती है, उसी प्रकार श्रद्धारहित ज्ञान एवं क्रियाएँ भी निरर्थक होती हैं। 'सर्वार्थसिद्धि की उत्थानिका' में एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया गया है कि किसी रोगी का रोग केवल दवा में विश्वास करने मात्र से दूर नहीं होता, जब तक उसे दवा का ज्ञान न हो और चिकित्सक के निर्देशानुसार आचरण न करे। इसी प्रकार दवा की जानकारी मात्र से तब तक रोग दूर नहीं हो सकता, जब तक रोगी दवा के प्रति रुचि न रखे और विधिवत् उसका सेवन न करे। इसी प्रकार दवा में रुचि और ज्ञान के बिना मात्र उसके सेवन से भी रोग नहीं मिट सकता। रोग तभी दूर हो सकता है, जब दवा पर श्रद्धा और रुचि हो, उसकी जानकारी और प्रतीति हो

---

१. (क) 'अध्यात्म प्रवचन' से भाव ग्रहण, पृ. ८२

(ख) एयाइं चेव मिच्छादिट्ठिस्स मिच्छत्तपरिग्गहत्तेण मिच्छासुयं।
एयाइं चेव सम्मदिट्ठिस्स सम्मत्त परिग्गहत्तेण सम्मसुयं॥ —नंदीसूत्र

तथा चिकित्सक के निर्देश के अनुसार उसका सेवन किया जाए। इसी प्रकार सर्वकर्मबन्ध और तत्फलस्वरूप जन्म-मरणादि भव-भ्रमणरूप रोग तभी समूल नष्ट हो सकता है, जब सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान सहित सम्यक्चारित्र तथा सम्यक्तप की साधना-आराधना की जाय। यानी सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-तप ये चारों समष्टिरूप से मोक्ष के साधक हैं, व्यष्टिरूप से पृथक्-पृथक् नहीं।[1]

मोक्षमार्ग के विषय में अन्य दर्शनों और जैनदर्शन का दृष्टिकोण

भारतीय दर्शन में मोक्ष के स्वरूप की तरह मोक्ष के उपाय (मार्ग) के विषय में विभिन्न मत हैं। नैयायिक, वैशेषिक, सांख्य, वेदान्त और बौद्ध आदि दार्शनिक ज्ञानमात्र (विद्या) को मोक्ष का कारण मानते हैं। कुमारिल भट्ट एवं प्रभाकर तथाकथित कर्म (आचरण) और ज्ञान को मोक्ष-प्राप्ति का साधन मानते हैं, जबकि रामानुज, माध्व, वल्लभ आदि वैष्णवाचार्य एकमात्र भक्ति को। जैनदृष्टि से सामान्य ज्ञान (मिथ्याज्ञान या अज्ञान), सामान्य दर्शन (मिथ्यादर्शन, मिथ्यात्व या देव-गुरु-धर्म के प्रति अश्रद्धा, आत्मा के प्रति सम्यग्दृष्टि का अभाव आदि) तथा सामान्यचारित्र (मिथ्याचारित्र, ज्ञान-दर्शनविहीन क्रियाकाण्ड, स्वमतमान्य क्रियाएँ आदि) मोक्ष-प्राप्ति के उपाय नहीं हैं। सम्यक् ज्ञानयोग, सम्यक् कर्मयोग और सम्यक् भक्तियोग, ये तीनों मिलकर व्यवहार मोक्षमार्ग के साधक हो सकते हैं। इसी दृष्टि से 'तत्त्वार्थसूत्र' में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की समष्टि को मोक्ष का मार्ग (उपाय या साधन) बताया है। इनमें से एक के अभाव में भी मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती।[2]

केवल श्रद्धा व ज्ञान से भी मोक्ष की प्राप्ति सम्भव नहीं

मोक्ष के विषय में केवल श्रद्धा रखने से मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती; क्योंकि श्रद्धा तो मात्र रुचि की परिचायिका है। यदि श्रद्धामात्र से मोक्ष की प्राप्ति मानी जाए तो भूख लगने पर उसके प्रति श्रद्धामात्र से भोजन पक जाना चाहिए। दूसरी बात यह है कि श्रद्धामात्र से मोक्ष मानने से सम्यक्चारित्र का ग्रहण करना व्यर्थ हो जायेगा। इसके अतिरिक्त चारित्रग्रहण (साधु) की दीक्षा धारण करने की श्रद्धामात्र से सांसारिक दोष नष्ट नहीं हो जाते, दीक्षा धारण करने से पहले और

---

१. (क) तत्त्वार्थ वार्तिक १/१/४९, पृ. १४
   (ख) सर्वार्थसिद्धि उत्थानिका, पृ. ३ (पूज्यपाद)
   (ग) 'जैनदर्शन में आत्म-विचार' (डॉ. लालचन्द्र जैन) से भाव ग्रहण, पृ. २८५

२. (क) तत्त्वार्थाधिगमसूत्र भाष्य १/१
   (ख) सर्वार्थसिद्धि १/१
   (ग) उपासकाध्ययन १/१७-१९, पृ. ५
   (घ) सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः। —*तत्त्वार्थसूत्र* १/१

बाद में भी कर्मजनित दुःख मौजूद रहते हैं। अतः केवल श्रद्धा से मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती।

इसी प्रकार अकेले सम्यग्ज्ञान से भी मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती। यदि सम्यग्ज्ञान-मात्र से ही मोक्ष की प्राप्ति मानी जायेगी, सम्यग्ज्ञान प्राप्त होते ही वह मुक्त हो जायेगा, फिर सम्यक्चारित्र की साधना व्यर्थ हो जायेगी। सम्यग्ज्ञान होने पर भी स्वाध्यायपंचक के अन्तर्गत 'धर्मकथा' रूप क्रिया या उपदेश आदि का कार्य आकाशवत् नहीं कर सकेगा। कुछ कर्म-संस्कारों के रहने के कारण पूर्ण ज्ञान (केवलज्ञान) की प्राप्ति होने पर भी कर्मसंस्कार नष्ट नहीं होंगे तब तक मोक्ष-प्राप्ति नहीं हो सकेगी। उन कर्मसंस्कारों का समूल क्षय सम्यक्चारित्र से ही हो सकेगा, ज्ञान से नहीं। अन्यथा ज्ञान-प्राप्ति के साथ ही समस्त घाति-अघाति कर्मसंस्कारों का क्षय भी हो जायेगा, धर्मकथा न होने की समस्या भी पूर्ववत् बनी रहेगी। अतः सिर्फ ज्ञान से मोक्ष नहीं होता। अकेले ज्ञान को मोक्ष का मार्ग मानना ठीक नहीं है। 'उपासकाध्ययन' में अकेले ज्ञान को मोक्ष का हेतु मानने वालों की समीक्षा करते हुए कहा गया है—"ज्ञान तो सिर्फ पदार्थों की जानकारी करा देता है। यदि पदार्थों के जानने भर से मोक्ष की प्राप्ति होने लगे, तब तो पानी को जानने-देखने मात्र से प्यास बुझ जानी चाहिए। पर यह प्रत्यक्ष विरुद्ध है। अतः ज्ञानमात्र से मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती।"[१]

तीनों का समन्वय एवं सम्यक्ता आवश्यक

भारतीय तत्त्वचिन्तक अपने-अपने युग में मोक्ष और उसके साधनों के विषय में अपने-अपने मन्तव्य को प्रस्तुत करते रहे हैं। वैष्णवाचार्यों ने कहा—भक्ति से ही मुक्ति मिल सकती है। वेदान्त आदि दर्शनों के आचार्यों ने कहा—ज्ञान से ही मुक्ति मिल सकती है। किन्हीं आचार्यों ने एकान्त क्रिया (कर्म) से ही मुक्ति की प्ररूपणा की। यह ठीक है कि सभी अध्यात्मवादी दर्शनों का लक्ष्य एवं साध्य मुक्ति या मोक्ष है। परन्तु मोक्ष के स्वरूप और उसको प्राप्त करने के साधनों और उपायों (मार्ग) के विषय में मतभेद है। किसी ने मुक्ति का साधन एकमात्र ज्ञान को, किसी ने एकमात्र भक्ति को और किसी ने एकमात्र कर्म को बताया। अर्थात् किसी मुक्ति-प्राप्ति के साधन के रूप में ज्ञान पर बल दिया, किसी ने भक्ति पर और किसी ने कर्म पर। तीनों योग अपने आप में बुरे नहीं हैं; किन्तु उन सब में जो एकान्तवाद एवं असम्यक्त्व है, वह बुरा है। तीनों में समन्वय एवं यथार्थता होनी जरूरी है। जैनदर्शन की दृष्टि में भक्तियोग का फलितार्थ है—व्यवहारदृष्टि से सम्यग्दृष्टि एवं श्रद्धा।

---

१. (क) उपासकाध्ययन १६-२१

(ख) तत्त्वार्थ वार्तिक १/१/४९-५३

'ज्ञानयोग' का अर्थ है–सम्यग्ज्ञान एवं विवेक तथा 'कर्मयोग' का मतलब है–सम्यक्चारित्र या आचार। शब्दों में कुछ अन्तर जरूर है। परन्तु व्यवहारनय की दृष्टि से तीनों के उद्देश्य में कोई खास अन्तर नहीं है। किन्तु मोक्षमार्ग के लक्षण में जैनदृष्टि से तीन तथ्यों को परखना जरूरी है–(१) भक्ति, ज्ञान और कर्म (दर्शन, ज्ञान, चारित्र) तीनों सम्यक् हों, मिथ्या नहीं; (२) तीनों में परस्पर समन्वय हो और वे एक-दूसरे के पूरक हों; (३) उक्त तीनों आत्मलक्षी-स्वलक्षी हों, पर-पदार्थलक्षी या परलक्षी न हों। अन्यथा, कोरी भक्ति, जो सम्यग्ज्ञानविहीन-सम्यक्आचारविहीन या आत्म-शुद्धि-साधनाहीन, अनासक्तियुक्त कर्मविहीन हो, अंधी, बहरी और परमुखापेक्षी = पराश्रित (तथाकथित भगवान, ईश्वर या किसी देवी-देव के आश्रित) हो सकती है। देव, गुरु, धर्म और शास्त्र के प्रति श्रद्धा (भक्ति) के नाम पर जहाँ देवमूढ़ता, गुरुमूढ़ता, धर्ममूढ़ता और शास्त्रमूढ़ता हो, वहाँ वह श्रद्धा-भक्ति सम्यक् नहीं, मिथ्या है। ऐसी स्थिति में श्रद्धा भी आत्म-लक्षी न होकर केवल देवादि-आश्रित होने से परमुखापेक्षी या पराश्रित है। ऐसी श्रद्धा या भक्ति प्रायः गतानुगतिक, अन्ध-श्रद्धा अथवा ज्ञान या विवेक से हीन, कुल-परम्परागत या सम्प्रदाय-परम्परागत होती है। ऐसी अन्ध-श्रद्धा या मिथ्याश्रद्धा आत्म-शुद्धिकारिणी (संवर-निर्जरारूप धर्माचरणी) न होकर कभी-कभी साम्प्रदायिक लोगों में परस्पर सिरफुटौव्वल का कारण बन जाती है। आध्यात्मिक जीवन के विकास के बदले ऐसी पंथवादी–सम्प्रदायवादी श्रद्धा कभी-कभी ईर्ष्या, पर-निन्दा, द्वेष, इंखिणी, द्रव्य-भावहिंसा, रोष, आवेश आदि पाप-स्थानकों (पापकर्मबन्ध) की कारण भी बन जाती है। दर्शन का एक अर्थ विश्वास भी है। संसार में अनन्त पदार्थ हैं, किस पर विश्वास किया जाए? अध्यात्मशास्त्र का कथन है–अपने आप (आत्मा) पर विश्वास करो। परन्तु आज अधिकांश लोग चेतन से, आत्म-गुणों से भिन्न जड़-पुद्गलों पर विश्वास करते हैं। उन्हीं के विषय में अधिकाधिक जानकारी या विचार करते हैं तथा अहिंसादि गुणों की वृद्धि करने के पुरुषार्थ के बदले हिंसा, झूठ, ठगी, भ्रष्टाचार आदि से भौतिक कामभोगादि साधनों, जमीन-जायदाद, सम्पत्ति आदि की वृद्धि करने में पुरुषार्थ करते हैं। इस आशा से कि हमें अधिकाधिक सुख, शान्ति और सन्तोष मिलेगा। परन्तु इस अज्ञान, अन्ध-विश्वास और अनाचरण से अशान्ति ही बढ़ी। कुछ धर्मान्ध लोगों ने आत्म-लक्षिता तथा आत्मार्थिता छोड़कर अपने तथाकथित सम्प्रदाय, पंथ, वेशभूषा, क्रियाकाण्ड, सम्प्रदायगुरु और साम्प्रदायिक परम्पराओं पर ही एकमात्र विश्वास किया और उनसे भिन्न सम्प्रदायादि के प्रति द्वेष, ईर्ष्या, वैर-विरोध, निन्दा, घृणा की। कट्टरता और जड़तावश अर्थहीन, युगबाह्य, राग-द्वेष-ईर्ष्या-निन्दावर्द्धक जड़ क्रियाकाण्डों से ही हमें मुक्ति मिलेगी, ऐसा अन्ध-विश्वास किया, उन सम्प्रदायादि के प्रति विश्वास के साथ-साथ अपने आत्म-कल्याण का, आत्म-निष्ठा या वीतरागता-वृद्धि का या

कषाय-उपशान्ति का कोई भी विचार न रहा। आत्म-हितैषिता छोड़कर राग-द्वेष-कषायवर्द्धक एकान्त साम्प्रदायिक मान्यताओं से चिपके रहने में ही सम्यक्त्व समझा। फलतः अहंता-ममता के बन्धनों में जकड़कर सम्यग्दर्शन के बदले मिथ्यादर्शन का, आत्म-धर्म के बदले रूढ़िधर्म—साम्प्रदायिकधर्म का, मोक्षमार्ग के बदले संसारमार्ग का आश्रय लिया और अतत्त्व का श्रद्धान और तत्त्व का अश्रद्धान, इन दोनों प्रकार के मिथ्यात्व का प्रायः पोषण = सेवन किया। ऐसा तथाकथित बाह्य दर्शनादि त्रय कर्मबन्धकारक होने से मोक्षमार्ग कैसे बन सकते हैं?

सम्यग्दर्शन क्या है, क्या नहीं ?

सम्यग्दर्शन आत्मा की सत्य प्रतीति से, आत्म-धर्म से तथा पर-धर्म एवं जड़-तत्त्वों की पृथकृता के बोध से सम्बन्धित है। परन्तु जब इसे भुलाकर या इसकी उपेक्षा करके साम्प्रदायिकतारूपी धर्म पर विश्वास किया जाता है, तब गृहीत मिथ्यात्व से ग्रस्त कट्टर सम्प्रदायवादी व्यक्ति अपने सम्प्रदाय एवं पंथ के अतिरिक्त जो कुछ भी सत्य या उदात्त भाव है, उसे स्वीकार नहीं करता।

वस्तुतः सम्यग्दर्शन का दुनियादारी के ज्ञान से कोई वास्ता नहीं होता। परन्तु सम्प्रदायवादी व्यक्ति का सम्यग्दर्शन के नाम पर कथन होता है—मेरुपर्वत, स्वर्णमय सुमेरुगिरि, उसकी ऊँचाई-लम्बाई-चौड़ाई तथा नन्दनवन आदि जड़-वस्तुओं पर विश्वास करना सम्यग्दर्शन है। क्या किसी पर्वत, नदी आदि का ज्ञान न हो तो सम्यग्दर्शन नहीं रह सकता है? परन्तु पंथवादी व्यक्ति भगवान की नाम की मुहर-छाप तथा कथित बाह्य जड़-वस्तुओं पर लगाकर उन पर विश्वास करने में सम्यग्दर्शन की सुरक्षा मानता है। पन्द्रह प्रकार से मुक्ति मानने वाला जैनदर्शन रत्नत्रयरूप धर्म या मोक्षमार्ग अथवा सम्यग्दर्शन किसी सम्प्रदाय-पंथ-विशेष, किसी वेश-विशेष, अमुक चिह्न-विशेष अथवा अमुक क्रियाकाण्ड-विशेष में ही सीमित नहीं करता। इस पर किसी सम्प्रदाय-विशेष की ठेकेदारी नहीं है।

सम्यग्दृष्टि की दृष्टि में धर्म आत्म-दृष्टिपरक धर्म है

सम्यग्दृष्टि आत्मा धर्म उसे मानता है, जिससे आत्म-शुद्धि हो, आत्म-ज्ञान हो, आत्मा पर या आत्म-विकास पर निष्ठा हो। वह रूढ़ियों और अन्ध-परम्पराओं में धर्म नहीं मानता, प्रत्युत आत्मा के निजी गुणों के रूप में सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय को धर्म मानता है, जिससे संवर-निर्जरा और अन्त में सर्वकर्मक्षयरूप मोक्ष हो सके। वह इस धर्म की पहचान वेश, क्रिया या भाषण से नहीं, अपितु प्रज्ञा से, आत्म-हितैषिता से, वीतरागता से, राग-द्वेष-कषाय आदि विभावों की मंदता या उपशान्ति अथवा इनसे मुक्ति से करता है। सम्यग्दृष्टि के भावों में सरलता, गुणग्राहकता, आत्माभिमुखता, आत्म-हितैषिता, नम्रता, मृदुता या आत्म-धर्म पर

दृढ़ता होती है; कुटिलता, कट्टरता, पूर्वाग्रहग्रस्तता, साम्प्रदायिकता, गुणग्रहण-विहीनता आदि नहीं।

अतः व्यवहारदृष्टि से भले ही सुदेव, सुगुरु एवं सुधर्म एवं सत्शास्त्र पर श्रद्धा हो या तत्त्वभूत पदार्थों पर श्रद्धा-विश्वास हो, किन्तु उन्हें साधन या अवलम्बन मानकर निश्चयदृष्टि से साध्यरूप आत्म-विश्वास, आत्म-ज्ञान या आत्म-विचार तथा आत्म-स्वरूपानुकूल आचरण दोनों को दृष्टिगत रखने पर मोक्षमार्ग समझना चाहिए।

एकान्त ज्ञानवाद मोक्ष-प्राप्ति का साधन नहीं : क्यों और कैसे ?

कई एकान्त ज्ञानवादी कहते हैं कि हमें व्रत, नियम, त्याग, प्रत्याख्यान करने की अर्थात् हमें क्रिया (व्यवहारचारित्र-पालन) करने की कुछ भी आवश्यकता नहीं है; हम ज्ञान-मात्र से ही मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं। ज्ञान से हम बन्ध-मोक्ष आदि सब तत्त्वों का स्वरूप जानते हैं। मोक्ष कैसे प्राप्त होता है? वह तो हमारी आत्मा की जानी–सुनी बात है। अतः क्रिया (चारित्र-पालन) की कोई जरूरत ही नहीं है। और फिर क्रिया तो अन्धी होती है। ज्ञानरहित क्रिया मोक्षफल प्राप्त नहीं करा सकती। अतः ज्ञान से ही मोक्ष प्राप्त होता है, यही बात यथार्थ है। इसी प्रकार के तथाकथित ज्ञानवादियों की मनोवृत्ति का उल्लेख 'उत्तराध्ययनसूत्र' में किया गया है--इस संसार (दार्शनिक जगत्) में कई (ज्ञानवादी) ऐसा मानते हैं कि पापकर्मों का त्याग किये बिना भी हमारे मत द्वारा प्ररूपित आचार को जानने और पालने से (अथवा हमारे आचार्य के कथनानुसार प्रवृत्ति करने से ही सर्वदुःखों से मुक्त सर्वकर्ममुक्त) हुआ जा सकता है।

यही कारण है कि कई सम्प्रदाय-व्यामोही लोगों ने अपने माने हुए सम्यग्दर्शन-सम्यक्चारित्ररहित कोरे ज्ञान को सम्यग्ज्ञान मानकर उसे बाह्यरूप दे दिया। और यह एकान्त प्ररूपण करना शुरू कर दिया कि हमारे सम्प्रदाय या सम्प्रदायाचार्य के अनुसार जानना, सोचना, उसी पर श्रद्धा करना और उसी के अनुसार आचरण करना सम्यक्त्व है, धर्म है या रत्नत्रय है। इसी मिथ्यात्व के आधार पर प्राचीनता-नवीनता का, क्रियाकाण्डों का, वेश-भूषा का, उपकरणों का, चिह्नों का तथा पूर्वाग्रहग्रस्त एकान्त स्व-मान्यता का मिथ्याग्रह और संघर्ष करना, जिससे कतिपय बड़े-बड़े साधक, जो चले थे–वीतरागता तथा सर्वकर्ममुक्ति प्राप्त करने, किन्तु इस प्रकार वे कषाय-नोकषायों तथा राग-द्वेष-मोहादि मिथ्याग्रहों के भँवरजाल में पड़ गए। ऐसे तथाकथित ज्ञानवादी राग-द्वेष-कषाय आदि पापकर्मों का त्याग किये बिना केवलज्ञान बघारने वालों के लिए शास्त्र में कहा है–(ज्ञान का गर्व करने वाले यह नहीं जानते कि) केवल विभिन्न भाषाओं का ज्ञान आत्मा को कर्मबन्ध और उसके कटुफल से नहीं बचा सकता। फिर विविध विद्याओं (न्याय, व्याकरण, छन्द, कोश, दर्शन, मंत्र-तंत्रादि विद्याओं, अवधानादि की शिक्षाओं) का

केवल पठन-पाठन जीव को पाप से कैसे बचा सकेगा? पापकर्मों में रचे-पचे रहने वाले स्वयं को पण्डित मानने वाले अज्ञ (मूर्ख) मानव (बाह्य ज्ञान के भरोसे निःशंक होकर) पाप में गहरे-गहरे डूबते जाते हैं। ऐसे सुख-सुविधावादी ज्ञानगर्वित मनुष्य किस प्रकार दुःख-मुक्त होने के बदले दुःखी होते हैं? इसके लिए कहा है–जो व्यक्ति मन, वचन, काया से शरीर, वर्ण और रूप में आसक्त रहते हैं, वे सब अपने लिए दुःख उत्पन्न करते हैं। अर्थात् ऐसे शुष्क ज्ञानवादी (बुद्धिवादी) प्रायः इन्द्रिय-विषयों में, धनादि परिग्रह में तथा शरीर-सुखादि में आसक्त होने के कारण अपने लिए दुःखों को ही आमंत्रित करते हैं। ऐसे बुद्धि (ज्ञान) वादी लोग मानते हैं कि ज्ञान से ही मुक्ति होती है, आचरण (चारित्र-क्रिया) की कोई आवश्यकता नहीं है। ऐसे लोग बन्ध और मोक्ष की लम्बी-चौड़ी व्याख्या करते हैं, उनके कारणों को जानते हैं, किन्तु बन्ध (कर्मबन्ध के कारणों का) तथा मोक्ष (समग्र साधनों) के अनुसार आचरण (क्रिया) नहीं करते। अतः ऐसे वाणीशूर व्यक्ति वचन के आडम्बर से अपनी आत्मा को आश्वासन देते रहते हैं।[1]

एकान्त ज्ञान और तप दोनों ही मोक्ष-प्राप्तिकारक नहीं

कई मतवादी कहते हैं कि हम ज्ञान से ही मुक्ति प्राप्त कर लेंगे, हमें तप की कोई आवश्यकता नहीं है। इसी प्रकार एकान्त तपश्चरणवादी कहते हैं कि तपश्चरण करने वालों को ज्ञान की क्या आवश्यकता है? तपस्या से ही कर्मक्षय हो जाता है। जैसे–एकान्त ज्ञानवादी तप का निषेध करते हुए कहते हैं–ऐसे (बाह्य) तप तो जीव ने अनन्त बार किये, परन्तु उससे आत्मा का कोई हित नहीं हुआ। इतना ही नहीं, ऐसे तपस्या करने वाले लोग अपने तपस्या का मद (अहंकार) करके ज्ञान को तुच्छ मानकर तपस्या से ही मुक्ति प्राप्त कर लेने के आग्रही बन जाते हैं। इससे भी आगे बढ़कर कई लोग तो तपोमद से गर्वित होकर अपने समान दूसरों को कुछ भी न गिनकर तृण समान अत्यन्त तुच्छ मानते हैं। ऐसे अहंकारी व्यक्ति की ज्ञान-प्राप्ति में बिलकुल रुचि न होने से वे ज्ञान और ज्ञानीजनों का अवर्णवाद करते हैं; यहाँ तक कि कोई-कोई तपोमद से गर्विष्ठ व्यक्ति ज्ञानाभ्यासी तथा ज्ञान के उपदेशक को भाट

---

१. इहमेगेउ मन्नंति अपच्चक्खाय पावगं।
आयरियं विदित्ता णं सव्वदुक्खा विमुच्चइ॥९॥
न चित्ता तायए भासा कुओ विज्जाणुसासणं।
विसन्ना पावकम्मेहिं बाला पंडियमाणिणो॥१०॥
जे केइ सरीरे सत्ता वण्णे रूवे य सव्वसो।
मणसा कायवक्केणं, सव्वे ते दुक्खसंभवा॥११॥
आवन्ना दीहमद्धाणं संसारम्मि अणंतए। .... ॥
भणंता अ करंता य बंध-मोक्ख-पइण्णिणो।
वाया-वीरियमेत्तेण, समासासेंति अप्पणं॥१२॥ –उत्तराध्ययन ६/९-१२

एवं चारण की उपमा देकर अपने ही तप को विशिष्ट मानते हैं। विवेकपूर्वक विचार करें तो दोनों का एकान्तवाद मिथ्या है, दोनों का अपना-अपना गर्व, अभिमान और स्व-प्रशंसा गुण को अवगुण बना देते हैं। 'उत्तराध्ययन' आदि आगमों में अकेले ज्ञान को मोक्षमार्ग नहीं कहा है, बल्कि ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप इन चारों को समन्वित रूप से मोक्षमार्ग बताया है। 'भगवतीसूत्र' में कहा है- जीव, अजीव, त्रस, स्थावर; इन चारों को भलीभाँति जाने बिना कोई प्रत्याख्यान करता है, उसका वह प्रत्याख्यान दुष्प्रत्याख्यान है। इन चारों का ज्ञानपूर्वक प्रत्याख्यान करना सुप्रत्याख्यान है। प्रत्याख्यान भी एक प्रकार का तप है। अतः तप करने वाले को सम्यग्ज्ञान होना ही चाहिए। 'मोक्षपाहुड' में कहा गया है—जो ज्ञान तपरहित है तथा जो तप ज्ञानरहित है, ये दोनों ही अनर्थकारी हैं। अतः ज्ञान और तप दोनों के संयुक्त होने से ही निर्वाण प्राप्त होता है। चारित्र से आते हुए कर्मों का निरोध करे, तभी तप से कर्मों का क्षय किया जा सकता है। इन सब का मूल हेतु ज्ञान है। ज्ञान (सम्यक्) हो तभी तप और चारित्र की सफलता है। ज्ञानरहित बाह्य-आभ्यन्तर तप से केवल शरीर को सुखाना है। इसीलिए कहा गया है—"**ज्ञानमेव बुधाः प्राहः कर्मणां-तपनात्तपः।**"—तत्त्वज्ञों ने कहा कि कर्मों को तपाने वाला होने से ज्ञान ही तप है।

ज्ञान और क्रिया दोनों संयुक्त होने पर मोक्ष के साधन हैं

कहीं-कहीं "**ज्ञान-क्रियाभ्यां मोक्षः।**"—ज्ञान और क्रिया दोनों से मोक्ष होता है।—यह कहकर दर्शन को ज्ञान में और चारित्र तथा तप को क्रिया में अन्तर्भूत कर लिया गया है। इस दृष्टि से ज्ञान और क्रिया दोनों के साथ-साथ रहने पर ही मोक्ष की प्राप्ति होती है। इसके समर्थन में कहा गया है—क्रियाहीन (आचरणहीन) कोरा ज्ञान निष्फल है और अज्ञानियों की (ज्ञानहीन) क्रिया निष्फल है। एक-एक चक्र से रथ नहीं चलता, दो चक्रों से ही चलता है। अतः ज्ञान और क्रिया दोनों का संयोग ही कार्यकारी है। दावानल से व्याप्त जंगल में अन्धा और लँगड़ा दोनों अलग-अलग हों तो अन्धा व्यक्ति भागता तो है, लेकिन देख न सकने के कारण जल जाता है और लँगड़ा देखता हुआ भी चल नहीं पाता, इसलिए जल जाता है। यदि अन्धा और लँगड़ा दोनों मिल जाएँ और अन्धा अपने कंधे पर लँगड़े को बिठा ले, तो दोनों ही वन से सुरक्षित निकलकर अपने अभीष्ट गन्तव्य स्थान तक पहुँच सकते हैं। इसी प्रकार की स्थिति होने पर ज्ञाननेत्रविहीन अन्धे के कन्धे पर बैठा हुआ क्रियाचरणविहीन लँगड़ा रास्ता बताता हुआ ज्ञान का कार्य कर सकता है और ज्ञाननेत्रविहीन अन्धा चलता हुआ चारित्र का कार्य कर सकता है। इस प्रकार दोनों (ज्ञान-क्रिया) मिलकर मोक्षरूपी गन्तव्य स्थान (साध्य) तक पहुँच सकते हैं।[1]

---

१. (क) प्रश्नोत्तर मोहनमाला, भा. २, पृ. ८५-८६

(ख) नाणं च दंसणं चेव चरित्तं च तवो तहा।
एस मग्गुत्ति पण्णत्तो जिणेहिं वरदंसिहिं॥ —उत्तरा. २८/२

अकेला सम्यक्चारित्र या समत्व भी मोक्ष का मार्ग है : क्यों और कैसे ?

'उत्तराध्ययनसूत्र' के मोक्षमार्गगति नामक अध्ययन में कहा गया है-"सम्यग्दर्शन न हो तो ज्ञान सम्यक् नहीं होता और सम्यग्ज्ञान न हो तो चारित्रगुण भी सम्यक् नहीं होता। सम्यक्चारित्रगुण के बिना मोक्ष कतई सम्भव नहीं है और मोक्ष के बिना निर्वाण प्राप्त नहीं हो सकता। इसी दृष्टि को लेकर 'प्रवचनसार' में कहा गया है-"चारित्र (सम्यक्चारित्र) ही धर्म (रत्नत्रयरूप धर्म या रत्नत्रययुक्त मोक्षमार्ग) है। और जो यह धर्म है, वह समरूप (समता या शमता के रूप) में निर्दिष्ट है। आत्मा का मोह और क्षोभ (कषाय) से विहीन परिणाम ही वास्तव में सम या शम है।" इस दृष्टि से सम्यक्चारित्र ही मोक्ष का प्रधान मार्ग है। क्योंकि सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान होगा, वहीं चारित्र सम्यक् होगा। सम्यक्चारित्र (महाव्रतादियुक्त) को ही मोक्ष का मार्ग (प्रधानतपः) बताया है, वह इस अपेक्षा से है कि जहाँ सम्यक्चारित्र आएगा, वहाँ सम्यक्ज्ञान अवश्यम्भावी है। और ज्ञान भी सम्यक् तभी होता है, जब दर्शन सम्यक् हो। अतः सम्यक्चारित्र या सामायिकचारित्र (समता) में सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान का समावेश हो जाता है। इसी दृष्टि से 'राजवार्तिक' में कहा गया-"**अनन्ताः सामायिकसिद्धाः।**"-सामायिक (चारित्र) से अनन्त जीव सिद्ध हो गये। यह वचन भी तीनों के एकत्वरूप समताभावरूप चारित्र का समर्थन करता है; क्योंकि समताभावरूप चारित्र ज्ञानरूप आत्मा के तत्त्वश्रद्धानपूर्वक ही हो सकता है।[1]

पिछले पृष्ठ का शेष-

(ग) देखें-भगवतीसूत्र में सुप्रत्याख्यान-दुष्प्रत्याख्यान-अधिकार

(घ) तवरहियं जं पहाणं, णाणविजुत्तो तवो वि अकयत्थो।
तम्हा णाणतवेण संजुत्तो लहइणिव्वाणं॥ *--मोक्षपाहुड ५९*

(ङ) हयं नाणं किरियाहीणं, हतं चान्नाणओ क्रिया।
पासंतो पंगुलो दिट्ठो, धावमाणो य अंधलो॥
संजोगसिद्धिए सफलं वयंति, न हु एकचक्केण रहो पयाइ।
अंधो य पंगो य समिच्च लोए, ते संपहुत्ता नगरं पविट्ठा॥ *-महानिशीथसूत्र*

१. (क) नत्थि चरित्तं सम्मत्तविहूणं, दंसणे उ भइयव्वं।
सम्मत्त चरित्ताइं जुगवं पुव्वं च सम्मत्तं॥२९॥
नादंसणिस्स नाणं, नाणेण विणा न हुंति चरणगुणा।
अगुणिस्स नत्थि मोक्खो, नत्थि अमोक्खस्स निव्वाणं॥३०॥ *-उत्तरा., अ. २८, गा. २९-३०*

(ख) चारित्तं खलु धम्मो, धम्मो सो समोत्ति णिद्दिट्ठो।
मोहक्खोहविहीणो, परिणामो अप्पणो हु समो॥ *-प्रवचनसार १/७*

(ग) हतं ज्ञानं क्रियाहीनं, हता चाज्ञानिनः क्रिया।
धावन् किलान्धको दग्धः पश्यन्नपि च पंगुलः॥
संयोगमेवेह वदन्ति तज्ज्ञाः, नह्येक चक्रेण रथः प्रयाति।
अन्धश्च पंगुश्च वने प्रविष्टौ, तौ सम्प्रयुक्तौ नगरं प्रविष्टौ॥ *-राजवार्तिक १/१/४९/१४/१*

मोक्ष-साधक चारित्र गुणों के विषय में त्रैकालिक तीर्थंकरों का एकमन

यही कारण है कि 'सूत्रकृतांगसूत्र' के द्वितीय अध्ययन के तृतीय उद्देशक में मुख्य रूप से सम्यक्चारित्र को मोक्षमार्ग का प्रधान अंग मानकर दो गाथाओं द्वारा मोक्ष-साधक गुणों में सभी सर्वज्ञ तीर्थंकरों की एकवाक्यता वताते हुए कहा है-"भिक्षुओ ! पूर्वकाल में जो भी सर्वज्ञ हो चुके हैं, भविष्य में जो भी होंगे, उन सुव्रत पुरुषों ने इन्हीं गुणों का (मोक्ष-साधन) कहा है। काश्यपगोत्रीय भगवान महावीर और भगवान ऋषभदेव के धर्मानुगामी साधकों ने भी यही कहा है। निष्कर्ष यह है कि सम्यग्दर्शन ज्ञानयुक्त चारित्र गुणों से अतीत में अनन्त जीव सिद्ध हुए हैं, भविष्य में भी होंगे और (चूर्णिकार के अनुसार) वर्तमान में भी संख्यात जीव सिद्ध होते हैं। यहाँ सर्वचारित्र सम्बन्धी मुख्य गुणों का उल्लेख किया गया है- (१) त्रिविधयोग से अहिंसा का पालन करे, (२) आत्म-हित में तत्पर रहे, (३) (स्वर्गादि सुखभोग-प्राप्ति की वाञ्छारूप) निदान से मुक्त रहे, (४) संवृत (पाँच संवर से युक्त या त्रिविधगुप्ति से मुक्त) रहे।

'सूत्रकृतांग' के मार्ग नामक अध्ययन में सम्यक्चारित्र को मोक्ष (भाव) मार्ग का प्रधान अंग मानकर १३ साधना-सूत्रों का निर्देश किया गया है, जिसे हम पिछले पृष्ठों में अंकित कर चुके हैं।[1]

सम्यक्चारित्र के व्यवहारदृष्टि से लक्षण

'रत्नकरण्डक श्रावकाचार' में सम्यक्चारित्र के दो लक्षण मिलते हैं- (१) हिंसादि निवृत्तिरूप आचरण चारित्र है, (२) हिंसा, असत्य, चौर्य, अब्रह्मचर्य एवं परिग्रह, इन पाप-प्रणालियों से विरति साधक का चारित्र है। इसी प्रकार 'भगवती आराधना टीका' के अनुसार-मन-वचन-काया से कर्त्तव्य का और संवर के कारणों का उपादान तथा गुप्ति, समिति, दशविध धर्म, अनुप्रेक्षा और परीषह-विजय का उपादान चारित्र है। 'पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय' में चारित्र का लक्षण दिया गया है-चूँकि चारित्र समस्त सावद्य योगों के परिहार से होता है, इसलिए समस्त कषायों से निवृत्ति और विशद उदासीन आत्म-रूप चारित्र है।[2]

---

१. (क) अभविंसु पुरा वि भिक्खुवो, आएसा वि भविंसु सुव्वता।
एताइं गुणाइं आहु ते, कासवस्स अणुधम्मचारिणो॥२०॥
तिविहेण वि पाणि मा हणे, आयहिते अणियाण संवुडे।
एवं सिद्धा अणंतगा, संपति जे य अणागया अवरे॥२१॥
-सूत्रकृतांग, श्रु. १, अ. २, उ. ३, गा. २०-२१

(ख) वही, अ. ११, मार्ग, गा. ३२-३८

२. (क) चरणं हिंसादिनिवृत्तिश्चारित्रम्। *-रत्नक. टीका ३/१*

(ख) हिंसाऽनृत-चौर्यभ्यो मैथुन-सेवा-परिग्रहाभ्यां च।
पाप-प्रणालिकाभ्यो विरतिः संज्ञस्य चारित्रम्॥ *-वही ४९*

सम्यक्चारित्र के इन लक्षणों के परिप्रेक्ष्य में 'सूत्रकृतांग' के 'मार्ग' नामक अध्ययन में भाव (मोक्ष) मार्ग के सन्दर्भ में मोक्षमार्ग के प्रथम महत्त्वपूर्ण सोपान अहिंसा और समता तथा शमता के सम्बन्ध में छह गाथाओं द्वारा साधना-विधि का निर्देश दिया गया है, जिसका भावार्थ इस प्रकार है—(१) त्रस और स्थावर रूप षट्काय में संसारी जीवों का अस्तित्व है, जिसे षड्जीवनिकाय कहते हैं। (२) बुद्धिमान् मुमुक्षु साधक इन जीवों में जीवत्व सिद्ध करके सम्यक् रूप से जाने-देखे कि सभी संसारी जीव अपने पूर्वकृत कर्मों के कारण दुःखों से आक्रान्त हैं अथवा सभी जीवों को दुःख अप्रिय (अकान्त) हैं। (३) अतः किसी भी जीव की हिंसा न करे, क्योंकि हिंसा से जीव को दुःख होता है। (४) ज्ञानी पुरुष के ज्ञान का सार अहिंसा (द्रव्य और भाव से हिंसा न करना) है। अहिंसा का विधेयात्मक रूप समता (प्राणिमात्र के प्रति आत्मौपम्यभाव) है। (५) अहिंसा सिद्धान्त का इतना ही सार-सर्वस्व है कि लोक में जो भी त्रस या स्थावर जीव हैं, उनकी हिंसा से सदा सर्वत्र विरत हो जाए। (६) द्रव्य-भावरूप अहिंसा ही शान्तिमय निर्वाण की कुंजी है। (७) मोक्षमार्ग के आचरण में समर्थ साधक को अहिंसा के सन्दर्भ में मिथ्यात्व, अविरति (पंचास्रवों से विरत न होना), प्रमाद, कषाय एवं योगरूप दोषों (कर्मबन्ध हेतुओं) से दूर रहकर किसी भी प्राणी के साथ मन-वचन-काया से जीवनभर वैर-विरोध नहीं करना चाहिए।[1]

सम्यक्चारित्ररूप मोक्षमार्ग के सन्दर्भ में एषणासमिति विवेक-निर्देश

इसी अहिंसादि व्रताचरणरूप सम्यक्चारित्र के सन्दर्भ में इसी अध्ययन में तीन गाथाओं द्वारा एषणासमिति पालन-विवेक बताया गया है, जिसका सारांश यह है—

साधुवर्ग की आवश्यकताएँ बहुत ही सीमित होती हैं—थोड़ा-सा आहार-पानी और कुछ वस्त्र-पात्रादि उपकरण। इस थोड़ी-सी आवश्यकता की पूर्ति भिक्षाजीवी साधुवर्ग सम्यक्चारित्र के परिप्रेक्ष्य में अपने अहिंसादि महाव्रतों को सुरक्षित रखते हुए एषणासमिति का पालन करते हुए निर्दोष भिक्षावृत्ति से करे। यदि एषणासमिति की उपेक्षा करके त्रिविधएषणा दोषों से युक्त अकल्पनीय-अनैषणीय आहारादि साधुवर्ग ग्रहण करेगा तो उसका अहिंसा महाव्रत दूषित होगा। आरम्भजनित दोष

पिछले पृष्ठ का शेष—

(ग) मनसा-वाचा-कायेन कर्तव्यस्य च संवरहेतोरुपादानं।
गुप्तिसमिति-धर्मानुप्रेक्षापरिषहजयानामुपादानं चारित्रम्॥

—भगवती आराधना विजयोदया ९

(घ) समस्त-सावद्ययोग-परिहरणात् चारित्रं भवति यतः।
सकलकषायविमुक्तं विशदमुदासीनमात्मरूपं तत्॥ *—पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय ३९*

१. (क) सूत्रकृतांग, श्रु. १, अ. ११, गा. ७-११, मू. विवेचन, पृ. ३८८-३८९

(ख) वही, शीलांक वृत्ति, पत्रांक २०० का सारांश

भी लगेगा। यदि छल-प्रपंच करके आहारादि पदार्थ प्राप्त करेगा तो सत्य महाव्रत दूषित होगा। यदि किसी से जबरन छीनकर या बिना दिये ही कोई आहारादि पदार्थ ले लिया तो अचौर्य महाव्रत भंग हो जायेगा। स्वाद-लोलुपतावश या आसक्तिवश आहार-वस्त्र-पात्रादि अतिमात्रा में संग्रह कर लिया या जिह्वा-लोलुपतावश सरस स्वादिष्ट आहार अत्यधिक सेवन कर लिया तो क्रमशः अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य महाव्रत को क्षति पहुँचेगी। इसलिए अहिंसादि महाव्रताचरणरूप सम्यक्चारित्र के सन्दर्भ में एषणासमिति के शुद्ध पालन पर जोर दिया गया है; ताकि साधुवर्ग को सर्वकर्मक्षयरूप मोक्ष की प्राप्ति के लिए मोक्षमार्ग पर चलने में आसानी रहे, विघ्न न आए।

मोक्षमार्ग के सन्दर्भ में भाषासमिति विवेक-निर्देश

इसी सन्दर्भ में आगे छह गाथाओं द्वारा भाषासमिति का विवेक बताया गया है। साधुवर्ग को अहिंसा और सत्य महाव्रत के पालन करके कर्मक्षय करने के बदले भाषा के अविवेक से कर्मबन्ध न हो और वह निर्विघ्नतापूर्वक मोक्षमार्ग पर आगे बढ़ता रहे, इसके लिए भाषासमिति का पालन करना अत्यावश्यक है।[1]

चारित्रशुद्धि के लिए दस विवेकसूत्र

'सूत्रकृतांग' के प्रथम अध्ययन के चतुर्थ उद्देशक में निश्चय चारित्रपूर्वक व्यवहारचारित्र की शुद्धि के लिए तीन गाथाओं द्वारा मोक्षरूप साध्य की प्राप्ति का निर्देश दिया गया है। उसका सार इस प्रकार है–वास्तव में सर्वकर्मक्षयरूप मोक्ष की दृष्टि से ज्ञान, दर्शन, चारित्ररूप रत्नत्रय मिलकर मोक्ष का मार्ग है, जो कर्मबन्धनों से छुटकारे का एकमात्र साधन है। मोक्षरूप शुद्ध साध्य की प्राप्ति के लिए साधनों (रत्नत्रय) की शुद्धि पर ध्यान देना आवश्यक है। इसी दृष्टि से पिछली अनेक गाथाओं द्वारा ज्ञान और दर्शन की शुद्धि के हेतु सुचारु रूप से निर्देश दिया गया है। बाकी रही चारित्रशुद्धि। अतः पिछली दो अहिंसा धर्म निरूपक गाथाओं के अतिरिक्त, यहाँ तीन गाथाओं द्वारा भी चारित्रशुद्धि पर जोर दिया गया है। चारित्रशुद्धि से ही आत्मा शुद्ध होती है और आत्मा के शुद्ध स्वरूप में अवस्थान ही मोक्ष है। हिंसादि पाँच आस्रवों से अविरति, प्रमाद, कषाय और त्रिविध योग का दुरुपयोग, ये सब चारित्र दोष के तथा कर्मबन्ध के मुख्य कारण हैं। 'तत्त्वार्थसूत्र' में चारित्रशुद्धि द्वारा आत्म-शुद्धि (निर्जरा) के परिप्रेक्ष्य में गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय और पंचविध चारित्र-पालन तथा तप की साधना बताई है। यहाँ भी चारित्रशुद्धि के परिप्रेक्ष्य में तीन गाथाओं द्वारा दस विवेकसूत्र बताए हैं। उसका निष्कर्ष इस प्रकार है–

---

१. देखें–सूत्रकृतांग, श्रु. १, अ. ११ में एषणासमिति मार्ग-विवेक से सम्बन्धित तीन गाथाएँ व विवेचन (आ. प्र. स., ब्यावर) से भाव ग्रहण, पृ. ३८९-३९०

(१) दस प्रकार की समाचारी में स्थित रहे, (२) आहार आदि में गृद्धि-आसक्ति न रखे, (३) अप्रमत्त होकर अपनी आत्मा का या रत्नत्रय का संरक्षण करे, (४) गमनागमन, आसन, शयन, खानपान (भाषण एवं परिष्ठापन) में विवेक (यतना) रखे, (५) पूर्वोक्त तीन स्थानों (समितियों) अथवा इनके मन-वचन-काय-गुप्तिरूप तीन स्थानों में मुनि सतत संयत रहे, (६) क्रोध, मान, माया और लोभ; इन चार कषायों का परित्याग करे, (७) सदा पंचसमिति से युक्त अथवा समभाव में प्रवृत्त होकर रहे, (८) प्राणातिपातादि विरमणरूप पंचमहाव्रतरूप संवरों से युक्त रहे, (९) भिक्षाजीवी साधु गार्हस्थ्य बंधनों से आसक्तिपूर्वक बँधा हुआ न रहे, (१०) मोक्ष प्राप्त होने तक संयमानुष्ठान में डटा रहे तथा प्रगति करे। इन दस विवेक-सूत्रों पर चिन्तन-मनन करके चारित्रशुद्धि के लिए पुरुषार्थ करता रहे।

मोक्षमार्ग से भ्रष्ट या विचलित करने वाले मतवादी

कतिपय साधक ऐसे भी होते हैं, जिन्हें न तो कर्मबन्ध से मुक्त होने का ज्ञान है और न आते हुए नये कर्मों को रोकने का ही बोध है और न यह बोध है कि सर्वकर्मक्षयरूप मोक्ष किन-किन वास्तविक कारणों, साधनों या उपायों से होता है? ऐसी स्थिति में सर्वकर्मक्षयरूप्र या आत्मा के शुद्ध स्वरूप में अवस्थानरूप मोक्ष के यथार्थ मार्ग (साधन, कारण या उपाय) से अनभिज्ञ वे मतवादी अपने मत, पंथ या संघ में भोली जनता को आकृष्ट करने के लिये मोक्षमार्ग के नाम पर सस्ता, सुगम, सुलभ तथा प्रलोभनकारी संसार का (कर्मबन्धन का) मार्ग पकड़ा देते हैं। अथवा मोक्षमार्ग के नाम पर अन्ध-विश्वास और चमत्कार के मार्ग पर चढ़ा देते हैं, बहका देते हैं। अथवा मोक्ष के बदले स्वर्ग को ही मोक्ष का मार्ग बताकर व्यक्ति को मिथ्यात्वग्रस्त कर देते हैं। अथवा जिन पूर्वज, ऋषि-मुनियों ने प्रतिबुद्ध, विरक्त या संन्यस्त होने से पूर्व जीवनयापन के लिये अज्ञानावस्था में जिन चीजों का उपयोग किया था, अब उन प्रसिद्ध ऋषि-मुनियों की दुहाई देकर मन्द बुद्धि लोगों को गुमराह या मोक्ष के वास्तविक पथ से विचलित कर देते हैं कि अमुक-अमुक ऋषि-मुनि ने अमुक वनस्पति, सचित्त जल या कन्दमूल-फल आदि खाकर सिद्धि (मुक्ति) प्राप्त की थी, इत्यादि।

जैसे कि 'सूत्रकृतांग' के तृतीय अध्ययन के चतुर्थ उद्देशक में कहा गया है– "कई (परमार्थ से अनभिज्ञ) अज्ञजन कहते हैं–"प्राचीनकाल में (वल्कलचीरी तारायण = तारागण आदि) तपे-तपाए तपोधनी महापुरुषों ने शीतल (सचित्त) जल का सेवन करके तथा कन्दमूल-फल आदि का उपभोग करके और पंचाग्नि तप करके सिद्धि (मुक्ति) प्राप्त की थी। वैदेही नमिराज ने एकमात्र आहार के त्याग से और रामगुप्त ने आहार का सेवन करके तथा वाहुक और तारायण (नारायण) ऋषि

ने शीतल जल आदि का सेवन करके मोक्ष प्राप्त किया था। असित, देवल, द्वैपायन और पाराशर महर्षि ने शीत (सचित्त) जल और हरी वनस्पति का उपभोग करके सिद्धि (मुक्ति) प्राप्त की थी; ऐसा मैंने (कुतीर्थिक या स्वयूथिक ने) परम्परा से (महाभारत आदि पुराणों से) सुना है। पूर्वकाल में (त्रेता, द्वापर आदि युगों में) ये महापुरुष सर्वत्र विख्यात रहे हैं और इनमें से कोई-कोई ऋषि आर्हत् प्रवचन (इसिभासियाई आदि) में सम्मत (मान्य) किये गये हैं।'' इस प्रकार के भ्रान्तिजनक (बुद्धिभ्रष्ट, आचारभ्रष्ट या साध्यभ्रष्ट करने वाले) कुशिक्षारूपी उपसर्ग के होने पर अपरिपक्वबुद्धि या मन्दबुद्धि साधक (मोक्ष के वास्तविक मार्ग को छोड़कर, इनके बहकावे में आकर) संसार की सुख-सुविधाजनक अनाचाररूप प्रवृत्ति को आचाररूप समझकर उसमें प्रवृत्त हो जाता है। पूर्वोक्त प्रकार से पूर्वकालिक ऋषियों की (उनके पूर्व जीवन की) दुहाई देकर मन्दबुद्धि साधकों को मार्गभ्रष्ट, आचारभ्रष्ट या बुद्धिभ्रष्ट कर दिया जाता है, उन्हें अनाचार में फँसाया जाता है। इस प्रकार की सस्ती, सुगम मुक्ति (सिद्धि) की बातें सुनकर सुविधावादी मंदबुद्धि साधक भारवहन से पीड़ित गधों की तरह (वास्तविक मोक्षमार्ग पर चलने में) दुःखानुभव करते हैं। जैसे लकड़ी के टुकड़ों को पकड़कर घिसटते हुए चलने वाला लँगड़ा मनुष्य अग्नि आदि का उपद्रव होने पर भागने वाले लोगों के पीछे-पीछे सरकता हुआ चलता है, इसी तरह मंदमति साधक भी मोक्षयात्रियों के पीछे रेंगता हुआ चलता है। इस प्रकार वह साधक गलत साधनों को अपनाकर साध्य से भ्रष्ट व विचलित हो जाता है।[1]

---

१. (क) आहंसु महापुरिसा पुव्विं तत्त-तवोधणा।
उदएण सिद्धिमावन्ना, तत्थ मंदे विसीयती॥१॥
अभुंजियागमी वेदेही, रायगुत्ते य भुंजिया।
वाहुए उदगं भोच्चा तहा तारागणे रिसी॥२॥
आसिले देविले चेव, दीवायण महारिसी।
पारासरे दगं भोच्चा, बीयाणि-हरियाणि य॥३॥
एते पुव्वं महापुरिसा आहिता इह संमता।
भोच्चा बीओदगं सिद्धा इति मे तमणुस्सुतं॥४॥
तत्थमंदा विसीयंति, वाहछिन्ना व गद्दभा।
पिट्ठतो परिसप्पंति, पीढसप्पी व संभमे॥५॥

(ख) सूत्रकृतांग, श्रु. १, अ. ३, उ. ४, गा. १-५, मूल पाठ व विवेचन (आ. प्र. स., ब्यावर) से भाव ग्रहण, पृ. २२४-२२८

(ग) देखें–नमि वैदेही के विषय में–(i) भागवत् ९/१३/१-१३; (ii) सुत्तपिटक के चरियापिटक (पाली) में नमिराज-चरिया; (iii) उत्तराध्ययन, अ. ९ में नमिपवज्जा (इन्द्र-नमिराजर्षि संवाद)

(घ) देखें–'इसिभासियाई' में–अ. १३ रामपुत्तिय अध्ययन, १४वाँ वाहुकज्झयणं, ३६वाँ तारायणिज्जज्झयणं।

भ्रान्ति-उत्पादक एवं बुद्धिवंचक अन्यतीर्थिक या कतिपय स्वयूथिक मोक्ष के वास्तविक मार्ग (कारणों या साधनों) से अनभिज्ञ होते हैं, इसलिए वे प्रसिद्ध ऋषि-महर्षियों के नाम के साथ कच्चे पानी, हरी वनस्पति, पंचाग्नि तप आदि के उपभोग को जोड़कर उसी को मोक्ष का कारण (साधन या मार्ग) बताते हैं। **वृत्तिकार** का कहना है—वे परमार्थ से अज्ञ यह नहीं जानते कि वल्कलचीरी आदि जिन ऋषियों या तापसों को सिद्धि (मुक्ति) प्राप्त हुई थी; उन्हें किसी निमित्त से जाति-स्मरण आदि ज्ञान प्राप्त हुआ था, जिससे उन्हें सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-तपरूप यथार्थ मोक्षमार्ग का बोध प्राप्त हो गया था, जिससे उनमें भावसाधुता (सर्वविरति-परिणामरूपा) आ गई थी। तब उन्होंने यह भलीभाँति समझ लिया था कि सर्वविरति-परिणामरूप भावलिंग के बिना जीवोपमर्दक शीत-जल-बीज-वनस्पति-अग्निसमारम्भ आदि के उपयोग से सर्वकर्मक्षयरूप मोक्ष कथमपि प्राप्त नहीं हो सकता। इसलिए ऐसा प्रतिबोध हो जाने पर उन्होंने अपने पूर्व जीवन में अपनाए हुए इन सचित्त जल-बीज-वनस्पति-अग्नि आदि आरम्भों का त्याग कर दिया हो, यह बहुत सम्भव है। **चूर्णिकार** भी यही कहते हैं—"अज्ञ लोगों का यह कथन मिथ्या है कि इन प्रत्येक बुद्ध ऋषियों के वनवास में रहते हुए बीज (धान्यकण), हरी वनस्पति आदि के उपभोग से केवलज्ञान प्राप्त हो गया था, जैसे कि भरत चक्रवर्ती को शीशमहल में केवलज्ञान उत्पन्न हुआ था। वे कुतीर्थी यह नहीं जानते कि किस अध्यवसाय (भाव या परिणाम) में प्रवर्तमान व्यक्ति को केवलज्ञान होता है तथा किन कारणों से सर्वकर्मक्षयरूप या स्व-स्वरूपतावस्थानरूप मोक्ष होता है? यानी किस प्रकार के रत्नत्रय से मोक्ष या सिद्धत्व प्राप्त होता है? इस सैद्धान्तिक तत्त्व को नहीं जानते हुए वे विपरीत प्ररूपणा कर देते हैं।"[१] ऐसे अज्ञानियों द्वारा महापुरुषों के नाम से फैलाई हुई गलत बातों को सुनकर अपरिपक्वबुद्धि साधक चक्कर में आ जाते हैं और उन बातों को सत्य मान लेते हैं।

सस्ते सुगम आकर्षक मोक्ष-प्राप्ति के ये मार्ग !

मोक्ष का यात्री साधक कैसे मोक्षमार्ग के बदले संसारमार्ग में भटक या बहक जाता है? इसकी थोड़ी-सी झाँकी 'सूत्रकृतांगसूत्र' में दी गई है। उसका भावार्थ इस प्रकार है—

पिछले पृष्ठ का शेष—

(ङ) देखें—औपपातिकसूत्र में—असिएण दविलेणं अरहता इसिणा वुइतं—
कण्हे य करकंडे य अंबडे य परासरे।
कण्हे दीवायणे चेव देवगुत्ते य नारए॥

१. (क) सूत्रकृतांग, वृत्ति शीलांक, पत्रांक ९६

(ख) सूयगडंगचूर्णि, पृ. ९६

(ग) 'जैनसाहित्य का बृहत् इतिहास, भा. १' से भाव ग्रहण

इस जगत् में अथवा मोक्ष-प्राप्ति (मार्ग, उपाय या साधन) के विषय में कई स्थूलदृष्टि मतवादी इस प्रकार प्रतिपादन करते हैं कि रस पर विजय पाने से सब पर विजय प्राप्त की जा सकती है। इस दृष्टि से सर्वरसों के राजा लवणपंजक (सैंधव, सौवर्चल, विड्, रोम और सामुद्र इन पाँच लवण रसों) का त्याग करने से रसमात्र का त्याग हो जाता है। अतः नमक का परित्याग करने से अवश्य ही मोक्ष-प्राप्ति होती है।

कई मतवादी शीतल (कच्चे) जल का सेवन करने से तथा कतिपय मतवादी (अग्नि में घृतादि द्रव्यों का) हवन करने से मोक्ष-प्राप्ति बतलाते हैं। कतिपय धर्म-परम्परा के लोग प्रातःकाल एवं सायंकाल जल-स्पर्श करते हुए सचित्त जल-स्नान आदि से मोक्ष-प्राप्ति बतलाते हैं।

सचित्त जल-स्नान एवं जल-प्रयोग से मोक्ष नहीं होता : क्यों, किसलिए ?

मोक्ष-प्राप्ति के मार्ग (उपाय) के सन्दर्भ में वे अपनी-अपनी ओर से तर्क प्रस्तुत करते हैं। वारिभद्रक आदि भागवतधर्मी जलशौचवादियों का कथन है कि जैसे–"जल में वस्त्र, शरीर एवं अंगोपांग आदि बाह्यमल-शुद्धि करने की शक्ति है, वैसे ही उसमें आन्तरिक मल को भी दूर करने की शक्ति है। इसलिए शीतल जल का स्पर्श (स्नानादि) मोक्ष का कारण (मार्ग का उपाय) है।"

इस मिथ्यावाद का निराकरण करते हुए कहा गया है–यदि सचित्त जल के बार-बार स्पर्श से तथा स्नानादि से सिद्धि = मुक्ति हो जाती, तब तो जल में रहने वाले मत्स्य, कच्छप, घड़ियाल, मगर, सरीसृप (जलचारी सर्प), उष्ट्र नामक जलचर एवं जलराक्षस आदि जल-जन्तु सबसे पहले मोक्ष पा लेते, परन्तु ऐसा नहीं होता। अतः मोक्षतत्त्व-पारंगत ज्ञानीजन जल-स्पर्श–जल-प्रयोग से (सर्वकर्मक्षयरूप) मोक्ष-प्राप्ति को मिथ्या कहते हैं।[१]

केवल सचित्त जल-स्पर्श सर्वकर्मक्षयरूप मोक्ष का कारण नहीं है। बल्कि सचित्त जल-सेवन से जलकायिक तथा जलाश्रित त्रस जीवों का उपमर्दन (नाश) होता है। अतः जीवहिंसा से कदापि मोक्ष सम्भव नहीं है। फिर सचित्त जल में बाह्यमल को पूर्णतया क्षय करने की भी शक्ति नहीं है; तब आन्तरिक कर्ममल को साफ करने की शक्ति तो उसमें हो ही कैसे सकती है? भावों की शुद्धि के बिना चाहे जितना

---

१. इहेगे मूढा पवदंति मोक्खं, आहार-संपज्जण-वज्जणेणं।
एगे य सीतोदग-सेवणेणं, हुतेण एगे पवदंति मोक्खं॥१२॥
पओ-सिणाणा दिसु णत्थि मोक्खो।.........॥
उदगेण जे सिद्धिमुदाहरंति, सायं च पातं उदगं फुसंता।
उदगस्स फासेण सिया य सिद्धी, सिज्झिंसु पाणा बहवे दगंसि॥१४॥

–सूत्रकृतांग, अ. ७, गा. १२-१४

शीतल जल-स्नान कर ले, उससे उसके आन्तरिक पापमल का नाश नहीं हो सकता। यदि शीतल जल ही पाप को धो डालता है, तब तो जल के प्राणियों का सदैव घात करने वाले तथा जल में ही अवगाहन करके रहने वाले पापी मछुओं तथा पापकर्म करने वाले अन्य प्राणियों के जल-स्नान करने से उन्हें शीघ्र मोक्ष प्राप्त हो जायेगा। उनके सभी पापकर्म धुल जायेंगे। फिर तो नरक आदि लोक में कोई भी पापी नहीं रहेगा। मगर ऐसा होना असम्भव है। यदि जल-स्नान से ही मोक्ष मिल जाता, तब तो जल में ही अहर्निश करने वाले सभी जलचर प्राणियों को, मनुष्यों से पहले ही मोक्ष प्राप्त हो जाना चाहिए। इसलिए यह मान्यता मिथ्या है, मनगढ़ंत है; अयुक्तिक है। उनके मतानुसार जल पापकर्म (अशुभ कर्म) मल का हरण करता है, वैसे पुण्य (शुभ कर्म) का हरण कर डालेगा। ऐसी स्थिति में जल से पाप की तरह पुण्य भी धुलकर साफ हो जायेगा और एक दिन मोक्ष के लिए किये जाने वाले अनुष्ठानों को भी वह धोकर साफ कर देगा। ऐसी स्थिति में सचित्त जल-स्पर्श मोक्ष-साधक होने के बदले मोक्ष-बाधक के विपरीत सिद्ध होगा। अतः जितना अधिक जल-स्पर्श होगा, उतना ही अधिक जलकायिक और तदाश्रित अनेक त्रस-प्राणियों का हनन (घात) हो जायेगा। अतः सम्यग्ज्ञान-दर्शन-चारित्र की साधना ही मोक्ष का मार्ग है, सचित्त जल-प्रयोग नहीं।[1]

अग्निहोत्र क्रिया से भी मोक्ष-प्राप्ति नहीं होती

अग्निहोत्री मीमांसक आदि का कथन है–अग्नि जैसे बाह्य द्रव्यों को जला देती है, वैसे ही उसमें घी होमने से वह आन्तरिक पापकर्मों को भी जला देती है। जैसा कि श्रुति (वेद) वचन है–"स्वर्ग की कामना करने वाला अग्निहोत्र करे।" इस प्रकार अग्नि-हवन से स्वर्ग-प्राप्ति के अतिरिक्त निष्कामभाव से किये जाने वाले अग्निहोत्र (पंचाग्नि तप) आदि कर्म को मोक्ष का भी प्रयोजक मानते हैं। इस युक्ति-विरुद्ध मन्तव्य का खण्डन करते हुए 'सूत्रकृतांगसूत्र' में कहा गया है–"एवं सिया सिद्धि .... कुकम्मिणं पि।" इसका आशय यह है कि यदि अग्नि में द्रव्यों के डालने से या अग्नि-स्पर्श से मोक्ष मिलता हो, तब तो आग जलाकर कोयला बनाने वाले या कुम्भकार, लुहार, सुनार, हलवाई आदि समस्त अग्निकाय का समारम्भ

१. मच्छा य कुम्मा य सिरीसिवा य, मग्गू य उट्टा दगरक्खसाय।
अट्ठाणमेयं कुसला वदंति, उदगेण जे सिद्धि मुदाहरंति॥१५॥
उदगं जती कम्ममलं हरेज्जा, एवं सुहं इच्छामेत्तता वा।
अंधव्व णेयारमणुस्सरित्ता, पाणाणि चेवं विणिहंति मंदा॥१६॥
पावाणि कम्माणि पकुव्वतो हि, सीयोदगं तु जइ तं हरेज्जा।
सिज्झिंसु एगे दगसत्तघाती, मुसं वयंते जलसिद्धिमाहु॥१७॥

–सूत्रकृतांग, अ. ७, सू. १५-१७, विवेचन (आ. प्र. स., ब्यावर), पृ. ३३५-३३८

करने वालों को मोक्ष प्राप्त हो जायेगा। अतः न तो इन और ऐसे सभी अग्निकायारम्भ-जीवियों को मोक्ष मिल सकता है और न अग्नि-स्पर्शवादियों को; क्योंकि ये दोनों ही अग्निकायिक जीवों का तथा तदाश्रित अनेक त्रस जीवों का घात करते हैं। जीवहिंसा करने वालों का संसार में ही वास या भ्रमण हो सकता है, मोक्ष में नहीं। कर्मों को जलाने की शक्ति अग्नि में नहीं है, सम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक किये गए सम्यकृतपरूप भावाग्नि में है। उसी सम्यग्दर्शनादि चतुष्टय की साधना से मोक्ष-प्राप्ति हो सकती है। अतः मोक्ष का मार्ग अग्निकायारम्भ नहीं है, सम्यग्दर्शनादि चतुष्टय है।[1]

जल-स्नान और अग्निहोत्र आदि संसार के मार्ग हैं, मोक्ष-प्राप्ति मार्ग नहीं

अतः जल-स्नान और अग्निहोत्र आदि क्रियाओं से सिद्धि मानने वाले लोगों ने परीक्षा किये बिना ही (युक्तिरहित) इस सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया है। इस प्रकार सिद्धि (सर्वकर्ममुक्ति) नहीं मिलती। बल्कि वस्तुतत्त्व के बोध से रहित वे लोग अपना ही घात् (संसार-परिभ्रमणरूप विनाश) प्राप्त करते हैं। अतः आत्म-विद्यावान् (सम्यग्ज्ञानी-सम्यग्दृष्टि) वस्तु-स्वरूप का यथार्थरूप से ग्रहण करके यह विचार करे कि त्रस-स्थावर-प्राणियों की हिंसा (घात) से उन्हें (मोक्ष) सुख कैसे प्राप्त हो सकता है ? यह भलीभाँति समझ लेना चाहिए।[2]

कतिपय तथाकथित सुगम मोक्षवादी कहते हैं–लवण सर्वरसों का राजा है। वह पाँच प्रकार का है। अतः लवण–पंचक को छोड़ देने से रसमात्र का त्याग हो जाता है। "जितं सर्वं रसे जिते।"–रस पर विजय पा ली तो सब पर विजय पा ली। इस न्याय से लवणरस के त्याग से मोक्ष मिल जाता है। इस प्रकार सुगम मोक्षवादियों के कथन का खण्डन करते हुए 'सूत्रकृतांगसूत्र' में कहा गया है–केवल नमक न खाने से ही मोक्ष-प्राप्ति नहीं हो जाती। ऐसा सम्भव होता तो जिस देश में लवण नहीं होता, वहाँ के निवासियों को मोक्ष मिल जाना चाहिए; क्योंकि वे द्रव्यतः लवण-त्यागी हैं। परन्तु ऐसा नहीं होता। भावतः लवण-त्याग कर देने मात्र से भी मोक्ष नहीं होता; क्योंकि लवण-त्याग के पीछे रस-परित्याग (अस्वादव्रत) का आशय हो, तब तो 'आयम्बिल तप' के अनुसार दूध, दही, घी, तेल, शक्कर (या मिष्टान्न, गुड़, चीनी आदि) वगैरह वस्तुएँ भी रसोत्पादक हैं, उनका भी भाव से त्याग होना चाहिए। किन्तु बहुत-से लवण-त्यागी स्वाद-लोलुपतावश मद्य, माँस, लहसुन आदि

---

१. हुतेण जे सिद्धिमुदाहरंति, सायं च पातं अगणिं फुसंता।
एवं सियासिद्धि हवेज्ज तम्हा, अगणिं फुसंताण कुकम्मिणं पि॥
–सूत्रकृतांग, अ. ७, गा. १८, विवेचन, पृ. ३३८-३३९

२. अपरिक्ख दिट्ठं ण हु एव सिद्धी, एहिंति ते घातमबुज्झमाणा।
भूतेहिं जाण पडिलेह सातं, विज्जं गहाय तस-थावरेहिं॥ *–वही, श्रु. १, अ. ७, गा. १९*

तामसिक पदार्थों का निःसंकोच सेवन करते हैं, तब उन्हें मोक्ष कैसे हो सकता है? बल्कि मद्य, माँस आदि त्रसजीववधजन्य पदार्थों के सेवन से संसार में ही परिभ्रमण या निवास करना होगा। वास्तव में देखा जाए तो मोक्ष तो ज्ञान-दर्शन-चारित्र-तप की भावपूर्वक आराधना-साधना से ही हो सकता है।[1]

केवल स्व-मत-स्वीकार से सर्वदुःख-मुक्ति का आश्वासन कितना झूठा ?

प्राचीनकाल में भारतवर्ष में विभिन्न मतवादी दार्शनिक मोक्ष का अर्थ लोगों को यही समझाते थे कि सर्वदुःखों से मुक्त हो जाना अथवा सर्वदुःखों का अन्त कर देना मोक्ष है। इस परिभाषा का अनुसरण मुख्यतया सांख्य, योग तथा बौद्धदर्शन करते थे। मोक्ष की इसी परिभाषा को बताकर वे लोगों को अपने मत, पंथ या वाद की ओर आकर्षित करने के लिए इस प्रकार कहते थे–तुम चाहे गृहस्थ (गृहवासी) हो, चाहे आरण्यक (वनवासी) अथवा पर्वतीय तापस हो, योगी हो, चाहे किसी भी वेष में प्रव्रजित हो, हमारे द्वारा प्रवर्तित (प्रचलित) या हमारे माने हुए दर्शन या वाद को स्वीकार कर लोगे तो शारीरिक, मानसिक या आधिभौतिक, आधिदैविक एवं आध्यात्मिक सभी दुःखों से सर्वथा मुक्त हो जाओगे। अथवा जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधि, गर्भावास आदि दुःखों से छुटकारा पा जाओगे। हमारा मत या दर्शन स्वीकार करने पर संयम और तप-त्याग की कठोर चर्या अपनाना, शिरोमुण्डन, केशलुंचन, पैदल विचरण, नग्न रहना या मर्यादित वस्त्र रखकर सर्दी-गर्मी का परीषह सहना, जटा, मृगचर्म, दण्ड, कषायवस्त्र आदि धारण करना इत्यादि सब शारीरिक क्लेश जो दुःखरूप हैं, इन सबसे छुटकारा मिल जायेगा। क्या इस प्रकार मोक्ष-प्राप्ति के सस्ते मार्ग से मोक्ष प्राप्त हो सकता है? कभी नहीं।[2]

गार्हस्थ्य प्रपंचों में रचे-पचे रहते हुए हिंसा, झूठ, चोरी आदि दोषों से सर्वथा मुक्त न हो सकने वाले व्यक्ति को भी ये सभी दार्शनिक कर्मबन्धन से मुक्त होने (मोक्ष पाने) के लिए हिंसादि आस्रवों, मिथ्यात्व, प्रमाद, कषाय आदि कर्मबन्ध हेतुओं के त्याग किये बिना तथा यथाशक्ति तप, नियम, संयम, व्रत, प्रत्याख्यान या त्याग करने के बदले सिर्फ अपने मत या दर्शन को स्वीकार करने को मोक्ष का सीधा, सस्ता और सरल मार्ग बतला देते थे।

---

१. ...... खारस्स लोणस्स अणासएण।
ते मज्ज-मंसं लसुणं च भोच्चा, अन्नत्थवासे परिकप्पयंति॥
–सूत्रकृतांग, श्रु. १, अ. ७, गा. १३, विवेचन, (आ. प्र. स., ब्यावर), पृ. ३३७-३३८

२. (क) अगारमावसंता वि आरण्णा वा वि पव्वया।
इमं दरिसणमावन्ना सव्वदुक्खा विमुच्चती॥ *–वही, श्रु. १, अ. १, उ. १, गा. १९*

(ख) देखें–इसी गाथा का विवेचन (आ. प्र. स., ब्यावर) से प्रकाशित सूत्रकृतांग में, पृ. ४०

मुक्ति का सस्ता नुस्खा : स्व-पर-वंचनामात्र है

'सूत्रकृतांगसूत्र की शीलांक वृत्ति' के अनुसार—ये वनवासी तापस, पर्वत-निवासी योगी या परिव्राजक परिवार, समाज और राष्ट्र से दायित्वों से हटकर एकान्त-साधना करते थे। वे परिवार, समाज और राष्ट्र को नैतिक, धार्मिक एवं आध्यात्मिक मार्गदर्शन देने से भी दूर रहते थे, परन्तु (अपने जीवन-निर्वाह के लिए उनसे सहयोग एवं सेवा लेने हेतु) वे दार्शनिक (अपने सम्पर्क में आने वाले लोगों को) यही कहते थे कि हमारे दर्शन या मत को स्वीकार कर लो, तुम्हारी झटपट मुक्ति हो जायेगी। इसमें तुम्हें कुछ भी त्याग, तप, संयम आदि करने की जरूरत नहीं। इस प्रकार दूसरों को आकर्षित करके अपने अनुयायी बनाने हेतु वे भोलेभाले लोगों को कहते थे—

"तपांसि यातनाश्चित्राः, संयमो भोगवंचनम्।
अग्निहोत्रादिकं कर्म, बालक्रीड़ेव लक्ष्यते॥"

—विविध प्रकार के तप करना, शरीर को व्यर्थ यातना देना है, संयम धारण करना अपने आप को भोगों से वंचित करना है और अग्निहोत्रादि कर्म तो बच्चों के खेल के समान मालूम होते हैं।[1]

केवल तत्त्वज्ञान से मुक्ति कैसे सम्भव ?

मोक्ष-प्राप्ति के सम्बन्ध में इसी से मिलता-जुलता मन्तव्य सांख्यदर्शन का है, जो केवल २५ तत्त्वों के ज्ञान-मात्र से मुक्ति मानते हैं, वहाँ न तो सम्यग्दृष्टि की आवश्यकता है, न ही सम्यक्चारित्र और सम्यक्तप की। जैसा कि सांख्यकारिका की पाठर वृत्ति में कहा गया है—

"पंचविंशति-तत्त्वज्ञो, यत्रकुत्राश्रमे रतः।
जटी मुण्डी शिखो वाऽपि मुच्यते नाऽत्र संशयः॥"

—सांख्य-मान्य २५ तत्त्वों का ज्ञाता (ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और संन्यास, इन चारों आश्रमों में से) चाहे जिस आश्रम में रत हो, वह जटाधारी हो, मुण्डित हो, शिखाधारी हो अथवा किसी भी वेश वाला हो, सर्वदुःखों से निःसंदेह मुक्त हो जाता है।

इन और ऐसे दार्शनिकों द्वारा सर्वदुःखमुक्तिरूप मोक्ष की प्राप्ति के झूठे आश्वासनों का 'सूत्रकृतांगसूत्र' में सात गाथाओं द्वारा खण्डन किया गया है, जिनका भावार्थ इस प्रकार है—"वे तथाकथित दार्शनिक दुःखों के मूल स्रोत राग-द्वेष-कषायादि तथा उनसे होने वाले कर्मबन्ध एवं उसके फलस्वरूप प्राप्त जन्म, जरा, मृत्यु, व्याधि एवं चातुर्गतिक रूप संसार-चक्र में परिभ्रमण, गर्भ में पुनः-पुनः आगमन और अन्य अज्ञान-

१. (क) सूत्रकृतांगसूत्र, शीलांक वृत्ति, पत्र २८
(ख) वही, अमरसुखबोधिनी व्याख्या, पृ. १२६-१२७
(ग) वही, विवेचन, श्रु. १, अ. १ (आ. प्र. स., ब्यावर), पृ. ४०
(घ) वही, श्रु. १, अ. १, गा. २०-२७ (आ. प्र. स., ब्यावर), पृ. ४१

मिथ्यात्व-मोहादिजनित दुःखों को स्वयं मिटा नहीं पाते; अर्थात् वे स्वयं दुःखों से मुक्त नहीं हो पाते, संसार-सागर से पार होने का स्वयं कोई उपाय नहीं कर पाते, तब वे दूसरों को दुःखों से कैसे मुक्त कर देंगे या उन्हें संसार-सागर से कैसे पार कर देंगे?"

वे दार्शनिक स्वयं दुःखों से मुक्त नहीं हो पाते, इसके मूल कारण दो हैं– (१) संधि को जाने बिना ही वे क्रिया में प्रवृत्त हो जाते हैं। (२) वे धर्मवेत्ता, धर्मज्ञ, धर्म-ज्ञाता, धर्म-तत्त्वज्ञ, धर्म-रहस्यज्ञ तथा धर्म-मर्मज्ञ नहीं हैं।

वे अन्यतीर्थिक, अन्य मतवादी मिथ्यासिद्धान्तों के प्ररूपक होने से न तो जन्म-मरण की परम्परा का उच्छेद कर पाते हैं, न वे चातुर्गतिक संसार-समुद्र को पार कर पाते हैं; न वे गर्भ में पुनः-पुनः आवागमन को मिटा पाते हैं; न वे जन्म परम्परा को पार कर सकते हैं, न ही दुःख-सागर या मृत्यु के पारगामी हो सकते हैं। वे मिथ्यात्वग्रस्त होकर जन्म, जरा, मृत्यु, व्याधि से परिपूर्ण इस संसार-चक्र में पुनः-पुनः नाना प्रकार के दुःखों का अनुभव करते–दुःखों को भोगते हैं। अतएव जो मतवादी आत्मा को ही नहीं मानते हैं। आत्मा को मानकर भी कतिपय मतवादी संसारमार्ग का ही परिपोषण करते हैं, जिनकी दृष्टि आत्म-लक्ष्यी नहीं है, वे बातों के बल पर कैसे मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं?

कर्मबन्ध के कारणों को दूर किये बिना सर्वदुःखमुक्ति कैसे होगी?

शास्त्रकार का आशय यह है कि जब तक जीवन में मिथ्यात्व, हिंसादि से अविरति, प्रमाद, कषाय और योग रहेगा, तब तक चाहे वह पर्वत पर चला जाए, घोर वन में जाकर ध्यान लगा ले; अनेक प्रकार के कठोर तपश्चरण कर ले अथवा विविध कठोर क्रियाएँ भी कर ले, फिर भी वह जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधि, गर्भावास इत्यादिरूप संसार-चक्र-परिभ्रमण के घोर दुःखों को सर्वथा समाप्त नहीं कर सकता।[1]

प्रथम प्रबल कारण : संधि की अनभिज्ञता

संधि की अनभिज्ञता के कारण वह **मोक्ष-प्राप्ति** के द्वार स्वयं बंद कर देता है, संधि के '**पाइअ-सद्द-महण्णवो**' में छह अर्थ बताये हैं–(१) अवसर, (२) संयोग, (३) जोड़ या मेल, (४) मत या अभिप्राय, (५) विवर = छिद्र, तथा (६) उत्तरोत्तर पदार्थ-परिज्ञान। इन अर्थों के प्रकाश में वे कैसे संधि से अनभिज्ञ हैं? इसका निरूपण करते हैं–(१) आत्मा के साथ कर्म का कहाँ-कहाँ, कैसे-कैसे संयोग, जोड़ या मेल है? (२) आत्मा के साथ कर्मबन्ध की संधि कहाँ-कहाँ, कैसे-कैसे, किन-किन कारणों से हो जाती है? (३) आत्मा कैसे, किस प्रकार कर्मबन्ध से रहित हो सकता है? इस सिद्धान्त, रहस्य, मत या अभिप्राय को वे (४) उत्तरोत्तर अधिकाधिक पदार्थों (तत्त्वभूत पदार्थों) को नहीं जान पाते, (५) ज्ञानावरणीय आदि अष्टविध कर्मों का विवर (रहस्य) नहीं जान पाते, (६) आत्मा को कर्मबन्ध से मुक्ति का अवसर कैसे

---

१. (क) सूत्रकृतांगसूत्र, शीलांक वृत्ति, श्रु. १, अ. १, उ. १, गा. २०-२७, विवेचन, पत्रांक २८

(ख) वही, श्रु. १, अ. १, उ. १, विवेचन (आ. प्र. स., ब्यावर), पृ. ४१

मिल सकता है? इस तथ्य को भी वे नहीं जानते। इस प्रकार संधि को भलीभाँति जाने बिना वे संसार-परिभ्रमणादि दुःखों से सर्वथा मुक्त नहीं हो सकते।[१]

द्वितीय प्रबल कारण : धर्म-विषयक अज्ञान

'सूत्रकृतांगसूत्र' के अनुसार–पंचमहाभूतवादी[२] (लोकायतिक), एकात्मवादी,[३] तज्जीव-तच्छरीरवादी[४] (चार्वाक), अकारकवादी[५] (सांख्य), आत्म-षष्ठवादी[६] (वैशेषिक और सांख्य), पंचस्कन्धरूप[७] एवं चतुर्धातुकरूप[८] क्षणिकवादी बौद्ध तथा सांख्यादि दार्शनिक मिथ्यात्व से ग्रस्त होने के कारण तथा आत्मा के धर्म (स्वभाव) विषयक अज्ञान के कारण संसार-परिभ्रमणादि दुःखों से मुक्त नहीं हो सकते। क्योंकि जब वे आत्मा को ही नहीं मानते या मानते हैं तो उसे पंचभौतिकरूप, शरीररूप या कूटस्थ नित्य, निष्क्रिय या चतुर्धातुरूप अथवा क्षणजीवी पंचस्कन्धरूप मानते हैं, तब वे आत्मा के धर्म (स्वभाव) को तथा उसके ज्ञान-दर्शन-चारित्र, सुख और वीर्य (शक्ति) आदि निजी गुणों को या आत्मा के परिणामी नित्य स्वभाव को वे नहीं जान पाते, न ही मानते हैं। अतः इनका ज्ञान, दर्शन या चारित्र शुद्ध आत्म-लक्षी न होने से मोक्ष-प्राप्ति से काफी दूर है। बल्कि इनके मत या वाद संसारमार्ग के परिपोषक हैं।[९]

●●

१. (क) देखें–'पाइअ-सद्द-महण्णवो' में संधि शब्द के ६ अर्थ, पृ. ८४२,
(ख) सूत्रकृतांग, श्रु. १, अ. १, उ. १, गा. २०-२६, विवेचन (आ. प्र. स., ब्यावर), पृ. ४२

२. संतिपंच महब्भूया इह मेगे सिं आहिया।
पुढवी आउ तेऊ वाऊ आगास पंचमा॥७॥
एवे पंच महब्भूया तेब्भो एगोत्ति आहिया।
अह एसिं विणासे उ विणासो होइ देहिणो॥८॥ —*सूत्रकृतांग १/१/१/७-८*

३. जहा हि पुढवी थूभे एगे नाणा हि दीसइ।
एवं भो कसिणे लोए विण्णू नाणा हि दीसए॥९॥ —*वही १/१/१/९*

४. पत्तेयं कसिणे आया, जे बाला जे य पंडिता।
संति पेच्चा ण ते संति, णत्थि सत्तो ववाइया॥११॥
णत्थि पुण्णे व पावे वा, णत्थि लोए इतो परे।
सरीरस्स विणासेणं, विणासो होइ देहिणो॥१२॥ —*वही १/१/१/११-१२*

५. कुव्वं च कारवं चेव, सव्वं कुव्वं ण विज्जति।
एवं अकारओ अप्पा, एवं ते उ पगब्भिया॥१३॥ —*वही १/१/१/१३*

६. संति पंच महब्भूता, इहमेगेसिं आहिता।
आयछट्ठा पुणेगाऽहु, आया लोगे य सासते॥१५॥ —*वही १/१/१/१५*

७. पंचखंधे वयंतेगे बाला उ खणजोइणो।
अन्नो अणन्नो णेवाऽऽहु, हेउयं च अहेउयं॥१७॥ —*वही १/१/१/१७*

८. पुढवी आऊ तेऊ य तहा, वाउय एगओ।
चत्तारि धाउणो रूवं एवमाहंसु जाणगा॥१८॥ —*वही १/१/१/१८*

९. देखें–सूत्रकृतांगसूत्र, श्रु. १, अ. १, उ. १, गा. ७-१८, विवेचन (आ. प्र. स., ब्यावर), पृ. २०-३५

८

निश्चयदृष्टि से मोक्षमार्ग : क्या, क्यों और कैसे ?

निश्चय मोक्षमार्ग है–आत्मा का दर्शन, ज्ञान और आचार में परिणमन

जैनदर्शन ने निश्चय और व्यवहार, दोनों दृष्टियों से मोक्षमार्ग की प्ररूपणा की है। 'तत्त्वार्थसार' में मोक्षमार्ग के दो रूप बताये गये हैं। व्यवहारदृष्टि से मोक्षमार्ग का निरूपण हम पिछले निबन्ध में कर आये हैं। मुमुक्षु साधक केवल व्यवहारदृष्टि में ही अटककर न रह जाये, व्यवहार के साथ वह मौलिक निंश्चयदृष्टि को साध्य मानकर चलेगा, तभी मोक्षपथ पर यथार्थरूप से चलकर पूर्वोक्त मोक्ष प्राप्त कर सकेगा। व्यवहारदृष्टि के साथ निश्चयदृष्टि क्यों आवश्यक है? इसे हम आगे बतायेंगे। व्यवहारदृष्टि से मोक्षमार्ग है–जीवादि तत्त्वों का श्रद्धान, उन पदार्थों का सम्यग्ज्ञान और उनमें से हेय तत्त्वों को छोड़कर, उपादेय तत्त्वों का आचरण करना या अहिंसादि व्रतों का पालन करना। सीधे-सादे शब्दों में, संक्षेप में कहें तो इन तीनों का समन्वय ही व्यवहार मोक्षमार्ग है। अर्थात् इन तीनों को हम क्रमशः विश्वास (श्रद्धा-प्रतीति या रुचि, ज्ञान (विचार, समझ) और आचरण (आचार या अमल) कह सकते हैं।

मोक्षमार्ग के इस लक्षण पर सहसा प्रश्न उठता है कि वस्तुतः विश्वास या श्रद्धान मूल में किस पर तथा ज्ञान या विचार किसका और आचरण या आचार किसका होना चाहिए? अध्यात्मशास्त्र इसका यथार्थ समाधान इस प्रकार करता है–आत्मा ही सब तत्त्वों में प्रधान है, उसी को मोक्ष प्राप्त करना है, इसलिए अपनी आत्मा पर ही विश्वास करो, अपनी आत्मा को ही जानो-समझो, उसी का विचार करो और आत्मा के स्व-रूप, स्व-भाव--स्व-गुण में ही आचरण-रमण करो, आत्म-स्वरूप में ही अवस्थान करो। उसी को शुद्ध–निर्मल बनाने का पुरुषार्थ करो। दूसरे शब्दों में कहें तो–आत्मा का ही श्रद्धान, आत्मा का ही ज्ञान, आत्मा का ही आत्म-स्वरूपानुकूल आचरण मोक्षमार्ग है।

विभिन्न धर्मग्रन्थों में आत्म-प्रधान निश्चयदृष्टि से मोक्षमार्ग के लक्षण

'पंचास्तिकाय' में निश्चयदृष्टि से मोक्षमार्ग का लक्षण इस प्रकार किया गया है–"जो आत्मा इन तीनों (सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्र) द्वारा समाहित

होता हुआ (अर्थात् निजात्मा में एकाग्र होता हुआ) अन्य कुछ भी नहीं करता, न ही छोड़ता है (अर्थात् करने, छोड़ने के विकल्पों से अतीत हो जाता है); वह आत्मा ही निश्चयनय से मोक्षमार्ग कहा गया है।"

'परमात्म-प्रकाश' के अनुसार–"जो आत्मा अपने से, अपने आप को देखता है, जानता है व आचरण करता है, वही दर्शन-ज्ञान-चारित्र-परिणत विवेकी जीव मोक्ष का कारण है।" 'नयचक्र वृत्ति' में भी कहा है–"निश्चय से मोक्ष का हेतु स्व-भाव ही है।" 'द्रव्यसंग्रह' में कहा गया है–"आत्मा को छोड़कर अन्य द्रव्य में रत्नत्रय नहीं रहता। अतः रत्नत्रयरूप आत्मा ही मोक्ष का कारण है।" इसी कारण 'समयसार' में कहा गया है–"साधु नित्य सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की आराधना करे, किन्तु निश्चयनय की दृष्टि से उन तीनों को ही आत्मा जाने।" "निश्चय से मेरा आत्मा ही ज्ञान है, आत्मा ही दर्शन है, आत्मा ही चारित्र है, आत्मा ही प्रत्याख्यान, संवर और योग है।" 'पंचास्तिकाय' में कहा गया है–"अतः यह बात सिद्ध होती है कि विशुद्ध ज्ञान-दर्शन लक्षण वाले जीव-स्वभाव में निश्चल अवस्थान करना ही (निश्चय से) मोक्षमार्ग है।" इसलिए निश्चय से आत्मा के श्रद्धान, ज्ञान और आत्मा में अवस्थिति को निश्चय सम्यग्दर्शन, निश्चय सम्यग्ज्ञान और निश्चय सम्यक्चारित्र कहा है। फलितार्थ यह है कि आत्म-श्रद्धा, आत्म-ज्ञान और स्व-स्वरूप में रमणता ही निश्चयदृष्टि से मोक्ष का मार्ग है।[1]

---

१. (क) निश्चय-व्यवहाराभ्यां, मोक्षमार्गो द्विधा स्थितः। *–तत्त्वार्थसार ९/२*

(ख) जीवादि सद्दहणं सम्मत्तं, णाणमंग-पुव्वगदं।
चेट्ठा तवं हि चरिया, ववहारो मोक्खमग्गो त्ति॥ *–पंचास्तिकाय १६०*

(ग) 'अध्यात्म प्रवचन' (उपाध्याय अमर मुनि) से भाव ग्रहण, पृ. १०९

(घ) णिच्छय-णएण भणियो, तिहिं समाहिदो हु जो अप्पा।
ण कुणदि किंचि वि, ण मुणदि सो मोक्खमग्गो त्ति॥ *–पंचास्तिकाय १६१*

(ङ) पेच्छइ जाणइ अणुचरइ अप्पिं अप्पउ जो जि।
दंसणु णाणु चरित्तु जिउ मोक्खहं कारणु सो जि॥ *–प. प्र. २/१३*

(च) रयणत्तयं न वट्टइ अप्पाणं भूयित्तु अण्णदवियम्हि।
तम्हा तत्तिय-मइओ होदि मोक्खस्स कारणं आदा॥ *–द्रव्यसंग्रह ४०*

(छ) दंसण-णाण-चरित्ताणि, सेवि दव्वाणि साहुणा णिच्चं।
ताणि पुण जाण तिण्णि वि अप्पाणं चेव णिच्छयदो॥१६॥
आदा खु मज्झ णाणं, आदा मे दंसणं चरित्तं च।
आदा पच्चक्खाणं आदा मे संवरो जोगो॥२७७॥ *–समयसार १६, २७७*

(ज) ततः स्थितं विशुद्धज्ञान-दर्शनलक्षणे जीवस्वभावे निश्चलावस्थानं मोक्षमार्ग इति।
–पंचास्तिकाय

आत्मा को सर्वथा विस्मृत करके केवल दूसरों को मानने, जानने और सुधारने का प्रयत्न मोक्षमार्ग नहीं

कल्पना कीजिए–कोई मुमुक्ष अपने (आत्मा) पर तो विश्वास नहीं करता, दूसरे पर विश्वास करता है, वह अपने (आत्मा) को तो नहीं जानता-समझता, किन्तु पर-पदार्थों को या दूसरों को जानने-समझने के लिए अहर्निश उपदेश देता फिरता है, माथापच्ची करता रहता है तथा वह अपने (आत्मा) को स्वरूप में अवस्थित करने का, उसे सुधारने का, स्वरूप-रमण का पुरुषार्थ नहीं करता, किन्तु दूसरों को सुधारने, चारित्र-पालन का, क्रियाकाण्ड का, व्यवहारचारित्र की साधना का उपदेश देता रहता है। भला, इस प्रकार का प्रयत्न मोक्ष का मार्ग कैसे हो सकता है ?[1]

निश्चयदृष्टि से मोक्षमार्ग : स्वरूप, उद्देश्य और भेदविज्ञानरूप

यद्यपि व्यवहारदृष्टि से मोक्षमार्ग का विश्लेषण करते समय हमने बताया था कि 'उत्तराध्ययन' के अनुसार सम्यग्दर्शन में तत्त्वभूत पदार्थों में विश्वास (श्रद्धा) का बल है, सम्यग्ज्ञान में तत्त्वभूत पदार्थों को जानने-समझने की, देखने की शक्ति है और सम्यक्चारित्र में उन पदार्थों में से हेय को छोड़कर उपादेय पर चलने की, विषय-कषायों का निग्रह करने की एवं सम्यक्आचरण करने की शक्ति है तथा सम्यक्तप में आत्मा को परिशुद्ध करने की शक्ति है। परन्तु ये चारों मिलकर समन्वित रूप से ही मोक्ष के अंग या साधन होते हैं, मोक्षमार्ग बनते हैं पृथक्-पृथक् नहीं।[2]

मोक्ष किसके लिए है ? यह प्रश्न उठने पर उत्तर मिलेगा कि मोक्ष आत्मा के लिए, जीव के लिए है। उसी (आत्मा या जीव) को पर-पदार्थों या पर-भावों और विभावों से पृथक् जानना और उसका वास्तविक रूप समझना है, उसी पर विश्वास करना है और उसी आत्मा के शुद्ध स्वरूप में रमण करना है, पर-भावों में नहीं। अतः व्यवहारदृष्टि से जीवादि तत्त्वों का श्रद्धान करने, उनका (आगमों द्वारा) ज्ञान करने और रागादि का परिहार करने को क्रमशः सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग कहा है। किन्तु जो अपने आत्म-तत्त्व पर विश्वास करता है, उसके स्वरूप का भी ज्ञान नहीं करता और न ही उसके स्वरूप में अवस्थान करता है; वह मुमुक्षु साधक कैसे मोक्षरूप साध्य को प्राप्त कर सकेगा ? क्योंकि निश्चयदृष्टि से आत्मा को छोड़कर अन्य द्रव्यों में रत्नत्रय नहीं रहता। इस कारण वह रत्नत्रय आत्मा ही निश्चयदृष्टि से मोक्ष का कारण (मार्ग) है। 'परमानन्द पंचविंशति' के अनुसार–"आत्म-स्वरूप के निश्चय (रुचि या प्रतीति) को सम्यग्दर्शन, उसके ज्ञान को सम्यग्ज्ञान और उसी आत्मा में स्थिर होने को सम्यक्चारित्र कहा जाता है। इन तीनों का संयोग मोक्ष का कारण होता

---

१. 'अध्यात्म प्रवचन' से भाव ग्रहण, पृ. ११०

२. नाणेण जाणइ भावे, दंसणेण च सद्दहे।
चरित्तेण निगिण्हाइ, तवेण परिसुज्झइ॥ —*उत्तराध्ययन, अ. २८, गा. ३५*

है। परन्तु शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा से ये तीनों चैतन्यस्वरूप ही हैं, क्योंकि उस एक अखण्ड वस्तु में भेदों के लिए अवकाश ही कहाँ है?"[1]

मोक्षमार्ग के दो रूप : स्वरूप, समन्वय, साध्य-साधनरूप और एकान्तवाद से हानि

आशय यह है कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र; तीनों मिलकर मोक्ष का मार्ग हैं। मोक्ष प्राप्त होता है–आत्मा को और आत्मा से ये तीनों भिन्न नहीं हैं, तीनों ही आत्म-रूप हैं। इसलिए निश्चय से तो साध्य भी आत्मा है और साधन भी आत्मा है। परन्तु साध्य है–शुद्ध आत्मा (कर्ममलयुक्त) ही और तदनुरूप साधन भी शुद्ध रत्नत्रयात्मक आत्मा है। जब तक साध्य और साधन में ऐक्य स्थापित नहीं होता, तब तक मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकता।

परन्तु ऐसा होना एकदम तो सम्भव नहीं है। अतः प्रारम्भ में साध्य-साधन के भेद द्वारा ही अभ्यास करना होता है। इसलिए 'तत्त्वार्थसार' में कहा गया–निश्चय और व्यवहार की अपेक्षा मोक्षमार्ग दो प्रकार का है। उनमें से पहला निश्चय मोक्षमार्ग साध्यरूप है और व्यवहार मोक्षमार्ग साधनरूप है। अपनी शुद्ध आत्मा के श्रद्धान, ज्ञान और आत्म (स्व-रूप) में स्थिति को क्रमशः निश्चय सम्यग्दर्शन, निश्चय सम्यग्ज्ञान और निश्चय सम्यक्चारित्र कहा है। इसी प्रकार आत्मा के श्रद्धान आदि में सहायक सुदेव (आप्त), सुगुरु (अथवा सत्शास्त्ररूप आगम) तथा पर-पदार्थों (निश्चय स्वरूप के साधक सात या नौ तत्त्वों = पदार्थों) का श्रद्धान, ज्ञान और उनके प्रति उपेक्षा रूप सुचारित्र को व्यवहार रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग कहा है। संक्षेप में, आत्माश्रित कथन को निश्चय सम्यग्दर्शनादि और पराश्रित कथन को व्यवहार सम्यग्दर्शनादि कहते हैं। इसी प्रकार **पर्यायार्थिकनय** की अपेक्षा मोक्षमार्ग सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप है और **द्रव्यार्थिकनय** की अपेक्षा सदैव एक अद्वितीय ज्ञानवान् आत्मा ही मोक्षमार्ग है। स्पष्ट शब्दों में कहें तो निश्चय मोक्षमार्ग अभेद रत्नत्रय स्वरूप है, जबकि व्यवहार मोक्षमार्ग भेद रत्नत्रयस्वरूप है। पहला साध्य है, दूसरा साधन है।[2] वास्तव में साधन और साध्य दो नहीं हैं, बल्कि एक ही आत्मा

---

१. दर्शनं निश्चयः पुंसि, बोधस्तद्बोध इस्यते।
स्थितिरत्रैव चारित्रमिति योगः शिवाश्रयः॥१४॥
एकमेव हि चैतन्यं शुद्धनिश्चयतोऽयवा।
कोऽवकाशो विकल्पानां, तत्राखण्डैकवस्तुनि॥१५॥ —*प. पंचविंशतिका* २/१४-१५

२. (क) 'जैनसिद्धान्त' (सिद्धान्ताचार्य पं. कैलाशचन्द्र जी शास्त्री) से भाव ग्रहण, पृ. १७८

(ख) निश्चयव्यवहाराभ्यां मोक्षमार्गो द्विधा स्थितः।
तत्राद्यः साध्यरूपः स्यात्, द्वितीयस्तस्य साधनम्॥ —*तत्त्वार्थसार* ९/२

(ग) निश्चयमोक्षमार्गस्य परम्परया कारणभूतं व्यवहारमोक्षमार्गम्।
—*पंचास्तिकाय ता. वृ.* १०५/१६७

साधन और साध्य में भेद से दो रूप हो रहा है। आत्मा से रत्नत्रय में भेद करके प्रारम्भ में उनकी (व्यवहार रत्नत्रय की) उपासना-साधना की जाती है। इस प्रकार साधन-साध्यरूप से परस्पर सापेक्ष निश्चय-व्यवहार मोक्षमार्ग से ही मुक्ति की सिद्धि होती है। अर्थात् साध्य और साधन में ऐक्य स्थापित नहीं होता, तब तक मोक्ष-प्राप्ति सम्भव नहीं है। व्यवहार और निश्चय मोक्षमार्ग के अविरोधपूर्वक ही इष्ट-सिद्धि हो सकती है अन्यथा नहीं। यदि मुमुक्षु साधक शुद्धात्मानुभूतिस्वरूप निश्चय मोक्षमार्ग को मानते हैं, परन्तु अभी निश्चय मोक्षमार्ग के अनुष्ठान की शक्ति न होने से निश्चय के साधक व्यवहार मोक्षमार्गानुकूल शुभ अनुष्ठान करते हैं तो सराग सम्यग्दृष्टि होकर परम्परा से मोक्ष को प्राप्त करते हैं। यदि वे शुद्धात्मा के अनुष्ठानरूप निश्चय मोक्षमार्ग को और उसके साधक व्यवहार मोक्षमार्ग को मानते हैं, किन्तु चारित्रमोह के उदय के कारण शक्ति का अभाव होने से शुभ-अशुभ-अनुष्ठान से रहित होने पर भी यद्यपि शुद्धात्माभावना सापेक्ष शुभानुष्ठान में संलग्न विरत या विरताविरत व्यक्तियों के समान तो नहीं होते, फिर भी अविरत सराग-सम्यक्त्व से युक्त होने से (व्यवहार) सम्यग्दृष्टि होते हैं तथा परम्परा से मोक्ष भी प्राप्त करते हैं। परन्तु जों विशुद्ध ज्ञान-दर्शन-स्वभाव शुद्ध आत्म-तत्त्व के सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान और अनुष्ठानरूप निश्चय मोक्षमार्ग से निरपेक्ष केवल शुभानुष्ठानरूप व्यवहार मोक्षमार्ग को मानते हैं, यानी केवल व्यवहार का ही अवलम्बन लेते हैं, वे निरन्तर साध्य और साधन को भिन्न ही देखते हैं। उनका चित्त बाह्य धर्मादि के श्रद्धान में, द्रव्यरूप श्रुतज्ञान में, समस्त बाह्य साध्वाचाररूप क्रियाकाण्ड में ही लगा रहता है। उनकी प्रवृत्ति कर्मचेतना-प्रधान होने से अशुभ कर्म से हटकर शुभ कर्म मूलक हो जाती है। (निश्चय) सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एक ही (शुद्ध) परिणति रूप जो ज्ञानचेतना है, उनमें किंचित् भी उत्पन्न नहीं होती। उनकी चित्तवृत्ति पुण्यबन्ध के भार से दब जाती है। फलतः देवलोक में उत्पन्न होकर जन्म-मरणादि रूप संसार में भ्रमण करते हैं। इसके विपरीत जो केवल निश्चयनयावलम्बी होकर शुद्धात्म-स्वरूप निश्चय मोक्षमार्ग को मानते हैं। परन्तु निश्चय मोक्षमार्ग के अमुष्ठान की शक्ति न होने से रागादि विकल्परहित शुद्ध आत्मा को प्राप्त न करके समस्त क्रियाकांण्डों से तो विरक्त हो जाते हैं, व्यवहार मोक्षमार्ग के अनुष्ठान को बुरा (हेय) बतलाते हैं, भिन्न साध्य-साधन भाव का तो तिरस्कार करते हैं और अभिन्न साध्य-साधन भाव को प्राप्त करने में असमर्थ होते हैं। फलतः वे पुण्यबन्ध होने के भय से मन्द-कषायरूप शुभ भाव से भी दूर रहते हैं।

वे पुण्यबन्ध के भय से मुनीन्द्र सम्बन्धी कर्मचेतना का भी अवलम्बन नहीं लेते और नैष्कर्म्यरूप ज्ञानचेतना में रहते नहीं हैं। अतः कर्मफलचेतना-प्रधान प्रवृत्ति होने से वे प्रायः वनस्पतिकाय की तरह, पापबन्ध के कारणभूत अशुभ भावों का सेवन करके वे एकान्त निश्चयावलम्बी पापबन्ध ही करते हैं। अतः न तो एकान्तरूप से

निश्चय मोक्षमार्ग को पकड़ना है, न ही एकान्तरूप से व्यवहार मोक्षमार्ग को पकड़ना है। दोनों में आत्मा को ही मुख्य रूप से लक्ष्य में रखकर, आत्मा पर विश्वास एवं निष्ठा-श्रद्धा रखकर, उसी का विचार करके, उसी के अनुकूल जितना शक्य हो सके, आचरण करना। व्यवहार मोक्षमार्ग का अवलम्बन प्रारम्भिक अवस्था में ही लेना है। उच्च भूमिका पर अवरुद्ध होने के बाद उसे भी छोड़ देना है अथवा वह आलम्बन स्वतः छूट जाता है। परन्तु यह ध्यान रहे कि किसी भी *अवलम्बन को लेते समय उससे कर्मक्षय होता है या नहीं ? या आत्मा से कर्म पृथक्* होते हैं या नहीं ? यह अवश्य ध्यान में लेना है।[1]

मोक्षमार्ग में आत्मा (जीव) की ही प्रमुखता और प्राथमिकता क्यों ?

प्रश्न होता है—व्यवहार मोक्षमार्ग के लक्षण में सात या नौ तत्त्वों तथा षड्द्रव्यों पर विश्वास (श्रद्धान), उनका सम्यग्ज्ञान एवं उपादेयानुकूल आचरण को मोक्षमार्ग कहा है, फिर निश्चयदृष्टि से एकमात्र आत्मा (जीवतत्त्व) का ही विश्वास (श्रद्धान), उसी का ज्ञान (विचार) और उसी के अनुकूल आचरण पर ही जोर क्यों दिया गया है ?

अध्यात्मतत्त्वज्ञानियों ने इसका समाधान यह किया है कि[2] सात या नौ तत्त्वों में मुख्य तत्त्व जीव ही है। षड्द्रव्यों में[3] भी मुख्य द्रव्य जीवास्तिकाय है और पदार्थों में प्रधान पदार्थ आत्मा (जीव) ही है। इसीलिए नव तत्त्वों में या सप्त पदार्थों में इसे सबसे पहला स्थान दिया गया है। जीव, चेतना, आत्मा या प्राणी ये सब एकार्थक शब्द हैं। इस अनन्त विश्व में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण यदि कोई तत्त्व है तो वह आत्मा (जीव) ही है। समग्र अध्यात्म-साधना का सर्वोपरि चरम लक्ष्य है तो यही है कि आत्मा पर विश्वास, उसी का अनुभवात्मक ज्ञान और उसी के स्वरूप = स्वभाव की उपलब्धि या उसमें रमणता। संसार में जो कुछ भी ज्ञात या अज्ञात तत्त्व या पदार्थ हैं, उन सबका अधिष्ठाता, सबका चक्रवर्ती या आत्मिक ऐश्वर्य से सम्पन्न ईश्वर स्वयं अपने जगत् का स्रष्टा, द्रष्टा, विधाता, ब्रह्मा, विष्णु या महेश अगर कोई है तो

---

१. 'जैनसिद्धान्त' (सिद्धान्ताचार्य पं. कैलाशचन्द्र जी शास्त्री) से भाव ग्रहण, पृ. १७७-१७९

एष ज्ञानधनो नित्यमात्मा सिद्धिमभीप्सुभिः।
साध्य-साधन-भेदेन द्विधैकः समुपास्यताम्॥ —*समयसार कलश*

समत्तं सद्दहणं भावाणं तेसिमधिगमो णाणं।
चारित्तं समभावो विसयेसु विरुद्धमग्गाणं॥ —*पंचास्तिकाय १७७*

२. जीवाजीवास्रव बन्ध-संवर-निर्जरा-मोक्षास्तत्वम्। —*तत्त्वार्थसूत्र १/४*

जीवाजीवा य बंधो य पुण्णं पावासवो तहा।
संवरो निज्जरा मोक्खो संतेए तहिया नव। —*उत्तराध्ययन २८/१४*

३. अजीवकाया धर्माधर्माकाशपुद्गलाः, द्रव्याणि जीवाश्च। —*तत्त्वार्थ, अ. ५, सू. १-२*

आत्मा ही है। शुद्ध आत्मा में ही ये सब तत्त्व निहित हैं। इसे त्रिलोकीनाथ बनाने वाला दूसरा कोई नहीं है, यह स्वयं ही अपनी शक्ति से त्रिलोकीनाथ या त्रिलोकपूज्य बनता है। आत्मा के अतिरिक्त जगत् में अन्य सभी द्रव्य, तत्त्व या पदार्थ, उसके दास या सेवक हैं। जैसे राजा या इन्द्र के सेवक उसकी आज्ञा के पालन में तत्पर रहते हैं, वैसे ही (आत्मा) जीवरूपी राजा या इन्द्र के आदेश का पालन करने के लिए अन्य द्रव्य, अन्य तत्त्व तथा अन्य (पर) पदार्थ (पुद्गल आदि) सदा तत्पर रहते हैं। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय और काल; ये पाँचों द्रव्य जीव (आत्मा) के सेवक और दास हैं। इनकी कोई शक्ति या क्षमता नहीं है कि वे जीवरूपी राजा की आज्ञा या इच्छा में किसी प्रकार की बाधा खड़ी कर सकें। जीवरूपी राजा को धर्मास्तिकाय यह आदेश देकर बाध्य नहीं कर सकता कि चलो, जल्दी-जल्दी गमन करो। अधर्मास्तिकाय भी जीवरूपी राजा को बाध्य नहीं कर सकता कि यहाँ ठहर जाओ, गति स्थगित कर दो। न ही आकाशास्तिकाय यह कह सकता है कि यहीं तुम्हारे लिए अवकाश है, आगे नहीं। पुद्गलास्तिकाय भी जीव के द्वारा स्वयं के उपभोग या उपयोग के लिए सन्नद्ध रहता है। काल भी उसकी पर्याय के परिवर्तन के लिए तैयार रहता है। इनकी कोई ताकत नहीं है कि वे जीव (आत्मा) को उसकी इच्छा के विरुद्ध चला सकें, ठहरा सकें अथवा अन्य किसी कार्य को जबरन करा सकें।[1]

जब भी जीव (आत्मा) की इच्छा होती है, वह चलता है, ठहरता है या आकाश में अवकाश पाता है या किसी पुद्गल का उपभोग या उपयोग करता है, कर्मपुद्गलों को वह अपनी ही स्वैच्छिक हरकतों से आकर्षित करता है, अपने ही पराक्रम से, स्वकृत उदीरणा से क्षय कर डालता है। जब भी जीव की इच्छा होती है, वह कोई भी कार्य करता है। कुछ भी करने, न करने में वह स्वतन्त्र है। उस पर कोई भी रोकटोक नहीं कर सकता। अन्य पदार्थ या तत्त्व उसके कार्य में या क्रियाकलाप में निमित्तमात्र हो सकते हैं, वे भी तटस्थ या उदासीन निमित्त, प्रेरक निमित्त नहीं। यह जड़ शरीर, इसमें रहने वाली इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि; चित्त आदि भी इस जीव (आत्मा) की इच्छा से ही अच्छे-बुरे कार्य करते हैं। परन्तु ये सब तभी तक कार्य करते हैं, जब तक जीव (आत्मा) रूपी राजा इस शरीररूपी महल में रहता है। उसकी सत्ता (अस्तित्व) पर ही संसार के सारे खेल चलते हैं। इस जड़ात्मक जगत् का सर्वोपरि अधिष्ठाता और चक्रवर्ती जब तक इस शरीर में रहता है, तभी तक वह सारी चेष्टाएँ करता है, इन्द्रियाँ भी अपने-अपने विषयों में प्रवृत्त होती हैं, मन भी अपना कार्य करता रहता है। किन्तु जब इस तन में से चेतन निकल जाता है, तब तन, मन, वचन, इन्द्रिय-समूह आदि सब बेकार हो

---

१. 'अध्यात्म प्रवचन' से भाव ग्रहण, पृ. ३०९-३१०

जाते हैं, अपना कार्य बंद कर देते हैं। हमने अलंकारिक भाषा में जीव को चक्रवर्ती की उपमा दी है, परन्तु यह चक्रवर्ती से भी बढ़कर महान् है। चक्रवर्ती अपने सीमित क्षेत्र का अधिपति होता है, उसके बाहर एक अणुमात्र पर भी उसका शासन या अधिकार नहीं होता, जबकि परम आध्यात्मिक ऐश्वर्य का सम्राट् और चक्रवर्ती से भी बढ़कर है यह आत्मा। जो साम्राज्य आत्मा से परमात्मा स्वयं बनने की क्षमता रखता है। जब स्वयं आत्मा अपने विकल्पों, विकारों और कर्मों को सर्वथा नष्ट करके अपने शुद्ध स्वरूप में अवस्थित होकर आत्मा से परमात्मा बन सकता है। चाहिए आत्मा को सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक्तप का निश्चयदृष्टि से स्व-स्वरूप में अवस्थान। मोक्ष का अर्थ ही है--आत्मा की वह विशुद्ध अवस्था, जिसमें आत्मा का किसी भी विजातीय तत्त्व के साथ संयोग नहीं रहता और समग्र विकल्प एवं विकारों का अभाव होकर आत्मा का स्वरूप में स्थिर हो जाना ही मोक्ष है।

अन्य सभी तत्त्वों का मूलाधार जीव ही है

इसी आधार पर निश्चय मोक्षमार्ग में आत्मा (शुद्ध आत्मा) को ही देखना-उस पर ही विश्वास करना, उसे ही अनुभवपूर्वक जानना-समझना और उसी के अनुकूल अहिंसादि का आचरण करना अनिवार्य बताया है, क्योंकि तत्त्वों में वही मुख्य तत्त्व, द्रव्यों में वही प्रधान द्रव्य और पदार्थों में प्रमुख पदार्थ है। इस संसार में जितने भी तत्त्व, पदार्थ या द्रव्य हैं, वे सब किसी न किसी प्रकार से जीव (आत्मा) से सम्बन्धित हैं। जीव की सत्ता के कारण ही आस्रव और बन्ध की तथा संवर और निर्जरा की सत्ता रहती है। मोक्ष भी तो जीव से ही सम्बन्धित है, वह भी जीव की सर्वथा शुद्ध अवस्था-विशेष है। फलितार्थ यह है कि समग्र अध्यात्म-विद्या का मूलाधार यह जीव (आत्मा) है, इसी की धुरी पर जीव के आस्रव और बन्ध का, संवर और निर्जरा तथा मोक्ष का दारोमदार है। अजीव भी जीव का विपरीत भाव है। अजीव शब्द का उच्चारण करते ही उसमें से मुख्यतया जीव की ध्वनि कानों में पड़ती है, मन-मस्तिष्क में उभरती है।

जीव के ज्ञान के साथ अजीव का बोध आसान

इसीलिए जीव (आत्मा) का दर्शन या विश्वास, उसका अनुभवात्मक ज्ञान तथा शुद्ध आत्मानुकूल आचरण को सर्वप्रथम अनिवार्य बताया है–मोक्ष-प्राप्ति के लिए जब जीव (चेतन या आत्मा) का वास्तविक बोध हो जाता है, तब जीव से भिन्न अजीव को–जड़ को पहचानना-जानना आसान हो जाता है। जीव का प्रतिपक्षी अजीव है। इसलिए अजीव के ज्ञान के लिए जीव को ही आधार बनाना पड़ता है। जीव के ज्ञान के साथ अजीव का ज्ञान भी स्वतः हो जाता है, क्योंकि जीव का लक्षण ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, वीर्य (आत्म-शक्ति) और उपभोग, ये ६ बातें

(लक्षण) जीव को पहचानने के लिए 'उत्तराध्ययनसूत्र' में बताई गई हैं। 'तत्त्वार्थसूत्र' में जीव का लक्षण उपयोग बताया है-जिसमें उपयोग न हो अथवा पूर्वोक्त ६ बातें न हों, वह अजीव है। इसीलिए अजीव से पहले जीव को प्रमुख और अग्रगण्य स्थान है।[1]

जीव से पहले अजीव को स्थान क्यों नहीं ? : एक शंका-समाधान

कतिपय लोगों का तर्क है कि सबसे पहले हमारी अनुभूति और प्रत्यक्ष का विषय अजीव-जड़ पदार्थ ही बनता है। शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, चित्त ये सब जड़ ही तो हैं। जीव की प्रत्येक क्रिया इन जड़ पदार्थों एवं पुद्गलों के आधार पर होती दिखाई देती है। इसलिए जीव से पहले अजीव को स्थान क्यों नहीं दिया गया ?

इसका समाधान यह है कि शरीर में से शरीरी (आत्मा = जीव) को निकाल देने पर इनकी (तन-मन आदि की) सत्ता ही नष्ट हो जाती है, जबकि जीव तो मोक्ष होने के बाद भी शाश्वत (नित्य) रहता है। इसलिए नौ तत्त्वों में अजीव से पहले जीव को रखा गया है। पुण्य, पाप, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष, ये सब जीव की अशुद्ध-विशुद्ध पर्यायें हैं-अवस्था-विशेष हैं। ये सब तत्त्व स्वतंत्र कहाँ हैं ? मोक्ष के हेतु संवर और निर्जरा तथा संसार के हेतु आस्रव और बन्ध, जीव की ही अवस्थाएँ हैं। जीव के अभाव में बन्ध और मोक्ष किसको होंगे ? इसीलिए 'आचारांगसूत्र' में कहा गया-"बन्ध और मोक्ष बाहर कहीं नहीं हैं, तुम्हारे (आत्मा में) अन्दर में ही हैं।

सभी शुभाशुभ क्रियाओं का आधार जीव है

आत्मा जब तक शरीर में विद्यमान रहता है, तब तक वह या उसके अन्तर्गत तन-मन-वचन और इन्द्रियाँ तथा चित्त आदि अपना-अपना कार्य करते रहते हैं। शुभ या अशुभ क्रियाओं का आधार भी जीव ही है। जीव के अभाव में न तो शुभ क्रिया हो सकती है और न अशुभ। मन-वचन-काया की तमाम प्रवृत्तियों का आधार जीव है।

जीव के निकलते ही तन, मन, वचन आदि सब अपना काम एक साथ, एकदम बन्द कर देते हैं। अतः विश्व की व्यवस्था का मूलाधार जीव ही है। यदि जीव (आत्म) तत्त्व न हो तो विश्व की सारी व्यवस्थाएँ ठप्प हो जायेंगी। जीव की सत्ता के कारण ही आस्रव और बंध की तथा संवर और निर्जरा की सत्ता रहती है।

इस अनन्त सृष्टि का अधिनायकत्व जो जीव को मिला है, उसका मुख्य कारण उसका ज्ञान गुण है। ज्ञान होने के कारण वह ज्ञाता-द्रष्टा है, शेष संसार ज्ञेय है,

---

१. (क) नाणं च दंसणं चेव चरित्तं च तवो तहा।
वीरियं उवओगो य एयं जीवस्स लक्खणं॥ *-उत्तरा., अ. २८, गा. ११*

(ख) उपयोगो लक्षणम्। ***-तत्त्वार्थसूत्र २/८***

वह उपभोक्ता है, शेष संसार उपभोग्य है। तभी ज्ञेय की या उपभोग्य की सार्थकता और सफलता है। उसी आत्मा के ज्ञान, दर्शन और चारित्र का भलीभाँति परिज्ञान करके ही आत्मा सभी बन्धों को काटकर शीघ्र मोक्ष प्राप्त कर सकता है।[1]

आत्मा अच्छा-बुरा, पुण्य-पाप करने में स्वतंत्र

इस अनन्त विश्व में जीव शुभाशुभ कर्म करने, न करने में स्वतंत्र है। वह पुण्य भी कर सकता है और पाप भी। पुण्य करके वह देवलोक में जा सकता है और पाप करके नरक-तिर्यंचगति में भी जा सकता है। वह संवर और निर्जरा करके मोक्ष में भी जा सकता है। इतना स्वतंत्र जीव (आत्मा) के सिवाय कोई तत्त्व या पदार्थ संसार में नहीं है।

निष्कर्ष यह है कि मोक्षमार्ग में सबसे पहले जीव के स्वरूप को जानने-समझने और उस पर विश्वास करने की आवश्यकता है। जीव (आत्मा) के स्वरूप का परिज्ञान और निश्चय हो जाने पर कि मैं पुद्गलों (पर-भावों = अजीवों) से भिन्न चेतन तत्त्व हूँ, जड़ नहीं। शुद्ध, बुद्ध, आनन्दघन, शक्तिपुँज चैतन्य हूँ। मैं केवल आत्मा हूँ, और कुछ नहीं। मैं सदा शाश्वत हूँ, क्षणभंगुर नहीं। जन्म-मरण मेरे नहीं, ये सब शरीर के खेल हैं।

इस प्रकार अपने स्वरूप को समझने और उस पर प्रतीति रूप दृढ़ विश्वास हो जाने के बाद अज्ञान और मिथ्यात्व का अन्धकार नहीं रह सकता। फिर वह जीव बड़े-से-बड़े बंधन को तोड़ने में सक्षम हो सकता है। जब तक 'स्व' में 'पर-बुद्धि' या 'पर' में 'स्व-बुद्धि' रहती है, तभी तक बन्धन है। जब स्व-स्वरूप (आत्मा के वास्तविक स्वरूप) को साधक समझ लेता है, तब इन दोनों विपरीत बुद्धियों से हटकर आत्मा में स्व-बुद्धि हो जाती है, इतना होते ही आस्रव और बन्ध टूटने लगते हैं, संवर और निर्जरा का दौर चल पड़ता है। मोक्ष और क्या है-स्व-स्वरूप की उपलब्धि ही मोक्ष है। जिस प्रकार संसार के दो कारण हैं--आस्रव और बन्ध, उसी प्रकार मोक्ष के भी दो सहायक कारण हैं-संवर और निर्जरा। आत्मा जब स्व-स्वरूप पर दृढ़ विश्वास के साथ जाग्रत हो जाता है, तब प्रतिक्षण कषाय या राग-द्वेष-मोह आदि के कारण अथवा शुभाशुभ योग के कारण आने वाले नवीन कर्मदलिकों को रोक सकता है-संवर कर सकता है तथा पाप-पुण्यकर्मों के उदय के कारण आने वाले दुःख और सुख के भोग के समय भी वह समभाव में रहकर उनका क्षय कर सकता है। स्व-स्वरूप की प्रतीति हो जाने से वह विचारता है कि जो ये कर्मपुद्गलजनित सुख-दुःख हैं, ये मेरे ही द्वारा किये गये पूर्वकृत कर्मों के फल हैं, इन्हें समभाव से भोगने पर ही शीघ्र छुटकारा हो सकता है। इस प्रकार 'सर्वार्थसिद्धि' के अनुसार-मोक्ष के प्रधान हेतु संवर और निर्जरा के किसी भी

१. 'अध्यात्म प्रवचन' से भाव ग्रहण, पृ. १११, ११८, ३११

अवसर को न चूके तो वह स्व-पर-भेदविज्ञानयुक्त मुमुक्षु साधक हजारों-लाखों वर्षों के पुराने कर्मों के जत्थों को क्षय कर सकता है तथा मोहनीय कर्म को क्षय करने के साथ ही शेष तीन घातिकर्मों को भी वह शीघ्र क्षय कर सकता है।[1] निश्चयदृष्टि से मोक्षमार्ग का स्वरूप हृदयंगम कर लेने पर आत्मा को अनुभव दृष्टि से जान-समझ लेने तथा अनुभवयुक्त दृढ़ श्रद्धा-प्रतीति कर लेने से आत्मा में सर्वकर्मक्षय करने और आत्म-स्वरूप में अवस्थित रहने की शक्ति आ जाती है; शुद्ध आत्म-स्वरूप की उपलब्धि हो जाती है।

आत्म-स्वरूप की उपलब्धि का रहस्य

आत्म-स्वरूप की उपलब्धि का अर्थ यह नहीं होता कि वह स्वरूप पहले अन्दर में नहीं था और साधना के द्वारा कहीं बाहर से वह अन्दर आ गया। बाहर से आने वाली चीज कभी स्थायी नहीं हो पाती। मुमुक्षु साधक को जो कुछ पाना है, अपने अन्दर से ही पाना है। पाने का अर्थ इतना ही है कि आत्मा का जो शुद्ध निर्मल स्वरूप कर्ममल से आवृत, सुषुप्त और मूर्च्छित था, उसे प्रकट–प्रादुर्भूत (या आविर्भूत) कर देना है।

इसका मतलब है–'स्व' से भिन्न 'पर' पर उनका विश्वास है। 'पर' को जानने-समझने में अधिक पराक्रम है। दूसरे शब्दों में कहें तो आत्मा के प्रति श्रद्धा, विश्वास और प्रीति नहीं की। जब तक आत्मा के प्रति प्रीतिरूप निष्ठा, अनन्य श्रद्धा-भक्तिरूप सम्यग्दर्शन नहीं होगा, तब तक आत्म-ज्ञान या आत्मा का सम्यक्बोध भी नहीं हो सकेगा। सम्यक् आत्म-बोध नहीं होगा वहाँ आत्मानुकूल सम्यक्आचार या सुचारित्र भी नहीं हो सकेगा। ऐसी स्थिति में सर्वकर्मक्षयरूप मुक्ति कैसे प्राप्त हो सकेगी?

कर्मबन्ध से छुटकारा दिलाने हेतु निश्चय मोक्षमार्ग पर दृष्टि जरूरी

भगवान महावीर ने स्पष्ट कहा–हे आत्मन् ! बन्ध और मोक्ष बाहर में कहीं नहीं है, वह तेरे अन्तर में है, आन्तरिक भावों–अध्यवसायों में है। यह बन्धन किसका है? आत्मा का है, तो मोक्ष भी आत्मा का ही होगा। प्रश्न होता है–बन्ध क्यों होता है, आत्मा क्यों बन्धन में स्वयं पड़ता है?

जब आत्मा स्व-स्वभाव, स्व-स्वरूप, स्व-गुण को छोड़कर उसका चिन्तन-मनन-निदिध्यासन और उसको जानने-पहचानने और उसमें रमण करने, स्वरूप में स्थित होने, स्व को उपलब्ध करने के पुरुषार्थ को त्यागकर या उसकी परवाह किये बिना 'पर' भावों में, विभावों में आत्म-बाह्य पदार्थों, तत्त्वों या द्रव्यों में रुचि, श्रद्धा, जानकारी या रमणता व स्थिरता करता है; तब वह आत्मा बन्धन

१. मोक्षस्य प्रधानहेतुः संवरो निर्जरा च। –*सर्वार्थसिद्धि* १/४/१५/६

(कर्मबन्ध) से युक्त होती है। परन्तु आत्मा अपने आप में निर्मल है–स्वच्छ है, 'पर' के आवरण से वह मलिन होती है। आवश्यकता है–'पर' के आवरण, मोह-ममत्व और विश्वास को हटाकर निज शुद्ध स्वरूप को पहचानने की। जिसने अपनी आत्मा को सर्वांगरूप से, सम्यक्रूप से जान लिया, पहचान लिया, उसने सब कुछ प्राप्त कर लिया, बन्धन से मुक्त होने का रहस्य ज्ञात कर लिया।

यह विचित्र बात है कि मनुष्य आत्मा से भिन्न पर-भावों, विभावों और बाह्य पदार्थों को, भौतिकविज्ञान को जानने-पहचानने में तो बहुत ही भाग-दौड़ कर रहा है, अन्ध-विश्वास, मूढ़ता और अविवेक के कारण वह भौतिक तत्त्वों, पर-पदार्थों और विभावों पर जितनी रुचि और श्रद्धा रखता है, उतनी ही नहीं, अंशमात्र भी रुचि, श्रद्धा, ज्ञान, पहचान एवं आत्म-शुद्धि करने में पुरुषार्थ नहीं करता। फिर कैसे प्रकट हो, आत्मा में निहित परमात्मा-शक्ति ?

आज का मनुष्य अन्य सब कुछ जान-समझ लेने पर भी अपने आप को नहीं जान-समझ पाता। वस्त्र जब मैला हो जाता है तो साबुन से उसे स्वच्छ किया जाता है। वस्त्र की स्वच्छता कहीं बाहर से नहीं आई, वह तो उसके अन्दर ही थी। इसी प्रकार आत्मा अपने आप में निर्मल, स्वच्छ और शुद्ध है, परन्तु उस पर राग-द्वेष की, कषायों की, कर्मों की कलुषता–मलिनता लगी हुई थी, तब तक वह अस्वच्छ, मलिन, अपवित्र प्रतीत होती थी, परन्तु उक्त मल और कालुष्य के दूर हटते ही, उसकी स्वाभाविक स्वच्छता और निर्मलता तथा पावनता प्रकट हो जाती है। राग-द्वेष, मोह, कषायों या पदार्थों के प्रति आसक्ति तथा तज्जनित कर्मबन्ध आदि के क्षय होते, दूर होते ही आत्मा को मोक्ष, मुक्ति या अपवर्ग की शाश्वत स्थिति प्राप्त हो जाती है। आज त्याग, वैराग्य, कर्मकाण्ड और भक्ति तथा बाह्य ज्ञान की चर्चाएँ बहुत होती हैं, घण्टों उन पर भाषण होता है, परन्तु वे त्याग, वैराग्य जीवन की धरती पर क्यों नहीं उतर पाते ? इसका एकमात्र कारण यही प्रतीत होता है कि अभी तक अधिकांश साधकों के अन्तस्तल में आत्म-निष्ठा, आत्म-आस्था और आत्म-श्रद्धा सही माने में प्रादुर्भूत नहीं हुई है। उच्च कोटि के साधकों तक में भी 'स्व' पर निष्ठा प्रतीति या विश्वास नहीं जगता है। वे प्रायः प्रतिष्ठा, प्रशंसा, प्रसिद्धि, पर-पदार्थासक्ति, पर-पदार्थाधीनता, परभाव-दासता आदि में रचे-पचे रहते हैं।

जहाँ आत्मा है, वहीं उसका मार्ग और मोक्ष रहना चाहिए

दूसरी बात यह है–निश्चयदृष्टि के सिद्धान्तानुसार कारण और कार्य को एक स्थान पर रहना चाहिए। मोक्ष कार्य है और उसका मार्ग कारण है। क्योंकि यहाँ मार्ग का अर्थ है–साधन, उपाय, कारण और हेतु। अतः जहाँ आत्मा है, वहीं उसका मोक्ष है, इसलिए जहाँ आत्मा है, वहीं उसका मार्ग होना चाहिए। निश्चय की भाषा में कहें तो जहाँ मोक्ष है, वहीं उसका मार्ग, साधन या कारण रहेगा। मोक्ष

रहता है—आत्मा में, अतः उसका मार्ग भी आत्मा में ही रहेगा। इसी दृष्टि से प्राचीन आचार्यों ने भेददृष्टि से मोक्षमार्ग को सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्र रूप बताया, किन्तु अभेद (निश्चय) दृष्टि से इन तीनों को आत्मा के निजस्वरूपमय बताये। फिर ये तीनों आत्मा से अलग कैसे रह सकते हैं ? अतः मोक्ष और मोक्ष का मार्ग दोनों सदा आत्मा में ही रहते हैं, आत्मा से कहीं बाहर नहीं रहते।

स्थूल भौतिक क्षेत्र में जब कारण और कार्य में देश, काल का व्यवधान नहीं होता है, तब आत्मा के आध्यात्मिक क्षेत्र में इस सिद्धान्त से विपरीत कार्य और कारण में देश, काल का व्यवधान कैसे हो सकता है ? मोक्ष आत्मा का कार्य है, और सम्यग्दर्शनादि धर्म मोक्ष का कारण है। मोक्ष और मोक्ष का साधन रत्नत्रयरूप धर्म दोनों ही आत्म-स्वरूप हैं। अतः सम्यग्दर्शनादि धर्म आत्म-स्वरूप है, तो उनका कार्य मोक्ष भी आत्म-स्वरूप ही होना चाहिए।

अतः मोक्ष और मोक्ष का साधन रत्नत्रयरूप धर्म आत्मा में ही रहते हैं, कहीं बाहर नहीं। जहाँ कहीं आगमों या ग्रन्थों में लोकाग्र भाग में मोक्ष का स्थानरूप से उल्लेख है, वह व्यावहारिक दृष्टि से औपचारिक कथन है। निष्कर्ष यह है कि जब आत्म-स्वरूप भूत मोक्ष का स्थान (निवास) आत्मा में ही है, तब उसका साधन (कारण या मार्ग) भी आत्मा में ही होगा। ऐसा कदापि नहीं हो सकता कि आत्मा कहीं रहे, उसका मोक्ष कहीं रहे और उसका मार्ग या उपाय कहीं अन्यत्र रहे।

जैसे जड़ की क्रियाओं का आधार जड़तत्त्व होता है, वैसे चेतन की क्रियाओं का आधार चेतनतत्त्व ही हो सकता है। शरीर की तथा शरीराश्रित चेष्टाओं और क्रियाओं को जैनदर्शन आस्रव की कोटि में मानता है, क्योंकि वे जड़ की क्रियाएँ हैं, आत्मा के निजस्वरूप की क्रियाएँ नहीं हैं। जो आत्मा के निजस्वरूप की क्रियाएँ होती हैं, वे ही मोक्षमार्ग बनती हैं, वे हैं आत्मा के सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक्तप की क्रियाएँ। आशय यह है सम्यग्दर्शनादि की साधना के मूल में शुद्धोपयोग एवं शुद्ध ज्ञानचेतना की क्रियाशीलता ही आत्मा के निजस्वरूप की क्रियाएँ हैं, वे ही मोक्ष की साधिका हो सकती हैं। आत्मा से भिन्न जो शरीरादि की जड़ क्रियाएँ मोक्ष प्रदान नहीं कर सकतीं। अध्यात्मवादी जैनदर्शन का कथन है कि जब शरीर भी (औदारिक तैजस् कार्मण) मोक्ष में साथ नहीं जाते, शरीराश्रित मन, वचन, इन्द्रियाँ, बुद्धि आदि तथा कर्मपुद्गल या अन्य कोई भी वेश, पात्र, उपकरणादि, जो शरीर से सम्बद्ध हैं यहीं रह जाते हैं, तब ये आत्म-बाह्य जड़तत्त्व मोक्ष के कारण कैसे हो सकते हैं ?[1]

---

१. 'अध्यात्म प्रवचन' से भाव ग्रहण, पृ. ३१७

बाह्य क्रियाएँ या बाह्य तप आदि साक्षात् मोक्ष के अंग नहीं हो सकते

यही कारण है कि आध्यात्मिक क्षेत्र में आत्मा को ही मुख्य रखकर सारी साधनाएँ बताई गई हैं। यहाँ तक कि बाह्य शारीरिक, मानसिक क्रियाएँ तथा बाह्य तप आदि क्रियाकाण्ड भी शरीराश्रित होने से साक्षात् मोक्ष के अंग नहीं बन सकते। हाँ, यदि व्यवहारनय की दृष्टि से ये परम्पर या मोक्ष के अंग माने जायें तो किसी को किसी प्रकार की आपत्ति नहीं हो सकती, किन्तु निश्चयनय की दृष्टि से तो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये साक्षात् मोक्ष के अंग हैं, कारण हैं। आत्मा का मोक्ष कब होगा? जब अशुभ उपयोग से हटकर शुभ उपयोग में और अन्ततः शुभोपयोग से हटकर शुद्धोपयोग में स्थिर हो जायेगा, तभी वस्तुतः उसका मोक्ष हो सकेगा।

शुद्धोपयोग से ही मोक्ष-प्राप्ति, शुभ-अशुभ उपयोग से नहीं

शुद्धोपयोग के लिए शुभ और अशुभ दोनों आस्रवद्वारों को बन्द करना पड़ेगा। यदि पाप से मोक्ष की उपलब्धि नहीं हो सकती तो पुण्य से भी मोक्ष की उपलब्धि नहीं हो सकती। भले ही पुण्य कुछ काल के लिए मुमुक्षु साधक का विश्राम-स्थल बन जाये, परन्तु वह उसका ध्येय नहीं बन सकता। शुभोपयोग केवल अशुभोपयोग की निवृत्ति के लिए होता है, शुद्धत्व की प्राप्ति के लिए नहीं।

अध्यात्मशास्त्र का एकमात्र ध्येय है–वीतराग भाव या स्व-स्वरूप में अवस्थिति या शुद्ध आत्म-स्वरूप की उपलब्धि। अपने स्वरूप में अवस्थिति या स्व-स्वरूप की उपलब्धि को ही जैनदर्शन सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्र कहता है।

निश्चयदृष्टि से सम्यग्दर्शन : आत्म-स्वरूप पर श्रद्धान या विश्वास

निश्चयदृष्टि से सम्यग्दर्शन क्या है? आत्म-स्वरूप का विश्वास, आत्म-स्वरूप की प्रतीति, आत्म-स्वरूप या आत्म-सत्ता पर दृढ़ आस्था होना ही सम्यग्दर्शन है। वस्तुतः सम्यग्दर्शन आत्मा के शुद्ध स्वरूप का एक दृढ़ निश्चय है कि मैं कौन हूँ? मैं क्या हूँ? मैं कैसा हूँ? मेरा शुद्ध स्वरूप क्या है? तात्पर्य यह है कि मैं हूँ पर पूर्ण प्रतीति के साथ दृढ़ विश्वास करना ही तथा पूर्वोक्त आत्म-विषयक प्रश्नों का अन्तिम निर्णय–निश्चय करना ही सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन का उद्देश्य है–जड़ और चेतन का, स्व और पर का, आत्मा और शरीरादि आत्म-बाह्य पदार्थों का भेदविज्ञान करना। जब तक भेदविज्ञान अन्तर्हृदय से नहीं होगा, तब तक यह नहीं कहा जा सकता कि साधक को स्व-स्वरूप की उपलब्धि हो गई है।

स्व-स्वरूपोपलब्धि की पहचान : भेदविज्ञान से ही

स्व-स्वरूप की उपलब्धि की पहचान यह है कि उससे आत्म-बोध और चेतना-बोध भलीभाँति हो जाता है। वह आत्मा निश्चय कर लेता है कि 'मैं शरीर,

मन, बुद्धि, चित्त, इन्द्रियाँ या वेश, वस्त्र, पात्रादि उपकरण, उपाश्रय आदि नहीं हूँ', क्योंकि ये सब भौतिक हैं, पुद्गलमय हैं, मैं औदारिक, तैजस् और कार्मण शरीर भी नहीं हूँ, कर्मपुद्गल भी मेरे से भिन्न हैं, पुण्य-पाप, आस्रव-बन्ध और अजीव पुद्गल भी मेरे नहीं हैं। मैं इन सब शरीर और शरीर से सम्बद्ध जड़ एवं चेतन पदार्थों से भिन्न हूँ। इन सबके विपरीत मैं चेतन हूँ, अभौतिक हूँ, पुद्गलों से सर्वथा भिन्न हूँ, यहाँ तक कि संसार की अन्य आत्माओं से भी भिन्न हूँ। मैं ज्ञानस्वरूप हूँ, पुद्गल ज्ञानस्वरूप नहीं है। आत्मा और पुद्गल में मूलतः और स्वरूपतः विभेद है। इस प्रकार का भेदविज्ञान ही सम्यग्दर्शन की नींव है, मूलाधार है।[1]

जैनदृष्टि से सम्यग्दर्शन का सामान्य अर्थ–सम्यक्श्रद्धा या विश्वास

अतः सर्वप्रथम मोक्ष के बीजरूप सम्यग्दर्शन को इसी कसौटी पर कसते हैं। अध्यात्मशास्त्र में सम्यग्दर्शन को मोक्ष का और मुमुक्षु जीवन का प्राणभूत सिद्धान्त माना गया है। सम्यग्दर्शन का जैनदृष्टि से अर्थ किया गया है–सम्यक्‌रूप से श्रद्धा, श्रद्धान या विश्वास करना, प्रतीति करना अथवा दृढ़ निश्चय करना या अपनी दृष्टि शुद्ध व स्पष्ट करना। सम्यग्दर्शन के लिए आप जनता में विश्वास या श्रद्धा अथवा भक्ति शब्द अधिक प्रचलित है। प्रश्न होता है–श्रद्धा या विश्वास किस पर किया जाये ?[2]

किस तत्त्वभूत पदार्थ पर श्रद्धा से शुद्ध सम्यग्दर्शन सम्भव

दार्शनिक क्षेत्र में कहा जाता है–तत्त्वभूत पदार्थों पर श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। उक्त परिभाषा के अनुसार सबसे बड़ी बाधा यह है कि संसार में अनन्त पदार्थ हैं। किसे तत्त्वभूत पदार्थ माना जाये, किसे अतत्त्वभूत ? किसे तत्त्वभूत मानकर उस पर श्रद्धा की जाये या विश्वास किया जाये ? विभिन्न दर्शनों ने अपने-अपने दर्शन के आदि आचार्यों के द्वारा पृथक्-पृथक् तत्त्व बताये हैं। सांख्यदर्शन ने २५ तत्त्व बताये हैं। योगदर्शन ने इन २५ तत्त्वों के अतिरिक्त २६वाँ ईश्वरतत्त्व माना है। वैशेषिकों ने द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय ये ६ तत्त्व माने हैं। 'तर्कसंग्रह' में अभाव को लेकर ७ तत्त्व बताये गये हैं। नैयायिकों ने प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति और निग्रह-स्थान, ये १६ तत्त्व माने हैं, इन १६ तत्त्वों का ज्ञान निःश्रेयस (मोक्ष) प्राप्ति में कारण बताया है। 'वेदान्त दर्शन' में शुद्धाद्वैतवादी जड़-चेतनमय ब्रह्म को ही एकमात्र तत्त्व मानते हैं। द्वैतवादी वेदान्ती ब्रह्म और माया, ये दो तत्त्व मानते हैं। 'मीमांसक' वेदविहित कर्म को ही एकमात्र तत्त्व मानते

---

१. 'अध्यात्म प्रवचन' से भाव ग्रहण, पृ. २१४

२. तत्त्वार्थ श्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्। –*तत्त्वार्थसूत्र १*

हैं। जबकि 'जैनदर्शन' ने जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष, ये नौ तत्त्व या कहीं-कहीं पुण्य-पाप को आस्रव और बन्ध के अन्तर्गत मानकर ७ तत्त्व माने हैं। इन सब दार्शनिकों के विभिन्न प्रकार से तत्त्व मान गये हैं, इन तत्त्वों में अधिकतर तत्त्वों की पूर्वोक्त लक्षणयुक्त सम्यग्दर्शन से और मोक्ष से कोई संगति तथा प्रायः जड़-प्रधान होने से चैतन्यमूलक मोक्ष के साथ कोई कार्य-कारण सम्बन्ध नहीं बैठता। इसी विवाद को लक्ष्य में रखकर 'समयसार की तात्पर्य वृत्ति' में निश्चयनय की दृष्टि से आत्मा (जीव) के सिवाय तथा संवर-निर्जरारूप साधन और मोक्षरूप साध्य के सिवाय आस्रवादि को भिन्न करके एकमात्र विशुद्ध ज्ञान-दर्शन स्वभावरूप निज परम (शुद्ध) आत्मा (जीवतत्त्व) में रुचि, प्रतीति या श्रद्धा करना (निश्चय) सम्यग्दर्शन है। अथवा शुद्ध आत्मा (जीवतत्त्व या जीवास्तिकाय) ही उपादेय है, ऐसा श्रद्धान, रुचि या निश्चय करना निश्चयदृष्टि से सम्यग्दर्शन है। 'मोक्षमार्ग-प्रकाश' ने इसी का समर्थन किया है– "व्यवहार सम्यग्दर्शन के लक्षण में सात तत्त्वों पर श्रद्धान करने को सम्यग्दर्शन कहा है, सात तत्त्वों पर श्रद्धान का नियम व्यवहार सम्यग्दर्शन के लक्षण में कथंचित् उपादेय हो सकता है; किन्तु निश्चयदृष्टि से 'पर' से भिन्न निज शुद्ध आत्म-तत्त्व (जीवतत्त्व) का श्रद्धान ही शुद्ध सम्यग्दर्शन है। रागादि विकल्पोपाधिरहित चित्-चमत्कार भावना से उत्पन्न मधुर रस के आस्वादरूप सुखधारक मैं हूँ।" ऐसा निश्चय सम्यग्दर्शन है।[1]

तत्त्वश्रद्धान या तत्त्वरुचि रूप दर्शन केवल वाद-विवाद के लिए, तर्क-वितर्क के लिए हो, दूसरों को शास्त्रार्थ में पराजित करने के लिए हो अथवा तत्त्वज्ञान प्राप्त करके दूसरों को अध्यापन कराने, सिखाने मात्र के लिए, ऐसे तत्त्वज्ञान से या तत्त्वरुचि से मोक्ष-प्राप्ति नहीं हो सकती। क्योंकि एक तो उक्त प्रकार के तत्त्वज्ञान का तत्त्वरुचि के पीछे आत्मा (जीवतत्त्व) के प्रति जो आध्यात्मिक विकास का रुझान होना चाहिए, वह नहीं होता। ऐसी तत्त्वरुचि या तत्त्वज्ञान की उपलब्धि तो वर्तमान युग के कई दर्शनशास्त्र के प्रोफेसरों, लेक्चरारों में भी होती है, परन्तु आत्मा के प्रति उनका विश्वास, श्रद्धान, रुचि, आत्मवत् सर्वभूतेषु का सक्रिय

---

१. (क) पंचविंशति तत्त्वज्ञो यत्रकुत्राश्रमे रतः।
जटी मुण्डी शिखीवाऽपि, मुच्यते नात्र संशयः॥

(ख) वैशेषिकाणां द्रव्य-गुण-कर्म-सामान्य-विशेष-समवायाख्याः षट्पदार्था-स्तत्वतपाऽभिप्रेताः। *–स्याद्वाद मंजरी में उद्धृत, पृ. ४८*

(ग) द्रव्य-गुण-कर्म-सामान्य-विशेष-समवायाऽभावाः सप्तपदार्थाः। *–तर्कसंग्रह*

(घ) प्रमाण-प्रमेय-संशय-प्रयोजन-दृष्टान्त-सिद्धान्तावयव-तर्क-निर्णय-वाद-जल्प-वितण्डा-हेत्वाभास-छल-जाति-निग्रह-स्थानानां तत्त्वज्ञानान्निश्रेयसाधिगमः।

–गौतमसूत्र १/१/१

यत्किंचित् आचरण, आत्मौपम्यभाव या प्राणिमात्र पर समभाव, सद्भाव आदि उनमें प्रायः नहीं होता। ऐसी स्थिति में उनका तत्त्वज्ञान, तत्त्वरुचि या तत्त्वविश्वास आत्म-समभावरूप चारित्र के अभाव में मोक्षमार्ग का साधक नहीं हो सकता। जैनजगत् के मूर्धन्य विद्वान् एवं अध्यात्म-तत्त्वचिंतक उपाध्याय गुरुदेव पुष्कर मुनि जी महाराज के पास एक बार जैनदर्शन और जैनतत्त्वज्ञान का फ्रांसीसी विद्वान् तत्त्वज्ञान की चर्चा करने आया। जैन आगमों के कई पाठ उसे कण्ठस्थ थे। तत्त्वरुचि भी गहरी थी। तत्त्वचर्चा जब पूर्ण हुई तो गुरुदेवश्री ने उससे पूछा–"आप जैन आगमों के इतने गहन विद्वान् हैं, माँसाहार तो नहीं करते होंगे?" उसने नम्रतापूर्वक स्वीकार किया कि "मैंने माँसाहार छोड़ा नहीं है। मैंने तो जैनतत्त्वज्ञान का अध्ययन केवल दर्शनशास्त्र पढ़ाने की दृष्टि से किया है।" यह देखकर आप अनुमान लगा सकते हैं, व्यवहार सम्यग्दर्शन के साथ निश्चय सम्यग्दर्शन का आधार अवश्य होना चाहिए ताकि सम्यग्दर्शन का वास्तविक उद्देश्य पूर्ण हो।

व्यवहार सम्यग्दर्शन के अन्तर्गत दशविध रुचि

प्रश्न होता है–व्यवहार सम्यग्दर्शन के लक्षण में जीवतत्त्व के सिवाय अन्य तत्त्वों पर श्रद्धा न करने का बताया है, उसका रहस्य क्या है? इसका समाधान यह है कि जो व्यक्ति मोक्षमार्ग में प्रथम ही प्रवेश करते हैं, उनकी बुद्धि अनादिकाल से भेदवासना वासित होती है। अतः वे व्यवहारनय से साध्य-साधन के भेद का अवलम्बन लेकर सुखपूर्वक धर्म की आराधना करते हैं। नौ तत्त्वों तथा षट्द्रव्यों में हेय, ज्ञेय और उपादेय का साध्य-साधना की भिन्नता का ज्ञान (ज्ञपरिज्ञा से) करते हैं। प्रत्याख्यान परिज्ञा से हेय का त्याग करते हैं। "**भिन्नरुचिर्हि लोकः।**" इस लोकोक्ति के अनुसार व्यवहार सम्यग्दर्शनी भी भिन्न-भिन्न रुचि वाले होते हैं। यही कारण है कि 'उत्तराध्ययनसूत्र' में भिन्न-भिन्न प्रकार के तत्त्वरुचि वाले १० भेद व्यवहार सम्यग्दर्शन के बताये हैं। वे इस प्रकार हैं–(१) निसर्गरुचि, (२) उपदेशरुचि, (३) आज्ञारुचि, (४) सूत्ररुचि, (५) बीजरुचि, (६) अभिगमरुचि, (७) विस्ताररुचि, (८) क्रियारुचि, (९) संक्षेपरुचि, और (१०) धर्मरुचि। वे साध्यरूप निश्चय मोक्षमार्ग और साधनरूप व्यवहार मोक्षमार्ग का भिन्न साध्य-साधन जानकर आत्म-लक्षी होकर प्रवृत्ति करते हैं। तत्त्व, आप्त (देव), गुरु, धर्म और शास्त्र के विषय में वे भेदविज्ञानपूर्वक प्रवृत्त होते हैं। जैसे–यह श्रद्धान करने योग्य है, यह श्रद्धान करने योग्य नहीं है, यह श्रद्धान करने वाला (आत्मा) है। यह जानने योग्य है, यह जानने योग्य (ज्ञेय) नहीं है। यह ज्ञान है, यह ज्ञाता है। यह आचरण करने योग्य है, यह आचरण करने योग्य नहीं है, यह आचरण है और यह आचरण करने वाला है। इसी प्रकार कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य, कर्त्ता और कर्म को भिन्न-भिन्न जानने से उनका उत्साह बढ़ जाता है और वे धीरे-धीरे मोह को उखाड़ते जाते हैं। कदाचित्

प्रमाद या अज्ञानवश दोष लगता है तो प्रायश्चित्त द्वारा उसकी शुद्धि करते हैं, स्व-पर के भेदविज्ञान से वह ज्ञाता-द्रष्टा बनने का अभ्यास करता है। इस प्रकार भिन्न विषय वाले श्रद्धान-ज्ञान-चारित्र के द्वारा यानी भेदरत्नत्रय के द्वारा अपनी आत्मा में कुछ-कुछ विशुद्धि प्राप्त करके निश्चयनय के विषयभूत अभेद रत्नत्रयात्मक निज आत्मा में क्रमशः स्थिर होता हुआ परम वीतराग भाव को प्राप्त करके साक्षात् मोक्ष का अनुभव कर पाता है।

वास्तव में जो महाभाग मुमुक्षु पुनः-पुनः जन्म-मरण को नष्ट कर देने के लिए सतत अध्यात्म-विकास के लिए उद्यत रहते हुए निश्चय और व्यवहार दोनों में से किसी एक का भी अवलम्बन न लेकर मध्यस्थ रहते हैं, शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्म-तत्त्व में स्थिरता के लिए अहर्निश सावधान रहते हुए प्रमादभाव की प्रवृत्ति को रोकने के लिए शास्त्रानुसार व्यवहारधर्म का आचरण करते हुए भी उसे महत्त्व नहीं देते; यथाशक्ति आत्मा के द्वारा आत्मा में आत्मा का संचेतन करते हैं, वे देर-सबेर संसार-समुद्र को पार करके मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं। वे शुद्धोपयोग रूप ज्ञानचेतना में स्थित रहने का प्रयत्न करते हैं। ज्ञान के सिवाय अन्य भावों में ऐसा अनुभव करना कि मैं कर्त्ता हूँ, कर्मचेतना हूँ और ज्ञान के सिवाय अन्य भावों में यह अनुभव करना कि मैं भोक्ता हूँ इसका कर्मफलचेतना है। ज्ञानचेतना का सहभाव शुद्धोपयोग के साथ है, किन्तु कर्मचेतना और कर्मफलचेतना का सहभाव शुभ-अशुभ उपयोग के साथ है। शुद्धोपयोग युक्त आत्मा ही मोक्षमार्ग की अधिकारी है।[१]

ये मिथ्यात्वग्रस्त व्यक्ति आत्म-धर्म से, ज्ञान-आचरण से दूर हैं

परन्तु जो आत्म-लक्षी रत्नत्रय की साधना नहीं करते तथा शुद्धोपयोगी होकर ज्ञानचेतना में रत रहने का पराक्रम नहीं करते, वे मोक्षमार्ग से काफी दूर हैं। वे मिथ्यात्वग्रस्त व्यक्ति हैं।

'सन्मति तर्क' में मिथ्यात्व के ६ स्थान इस प्रकार प्रतिपादित हैं-(१) आत्मा नहीं है, (२) आत्मा नित्य नहीं है, (३) आत्मा कर्त्ता नहीं है, (४) आत्मा किसी भी कर्म का भोक्ता नहीं है, (५) मोक्ष नहीं है, एवं (६) मोक्ष का उपाय (मार्ग) नहीं है। मिथ्यात्व के इन ६ स्थानों में से वे किसी या किन्हीं स्थानों से ग्रस्त हैं।[२]

---

१. (क) 'जैनसिद्धान्त' से भाव ग्रहण, पृ. १८०
(ख) 'अध्यात्म प्रवचन' से भाव ग्रहण, पृ. ११२

२. (क) णत्थि, ण णिच्चो, ण कुणइ, कथं ण वेएइ, णत्थि णिव्वाणं।
णत्थि य मोक्खोवाओ, छय मिच्छत्तस्स ठाणाइं॥ *–सन्मति तर्क*

(ख) नाणं च दंसणं चेव चरित्तं च तवो तहा।
वीरियं उवओगो य एयं जीवस्स लक्खणं॥ *–उत्तराध्ययन, अ. २८, गा. ११*

इस कारण भी वे आत्मा के धर्म, स्वभाव और गुणों को नहीं जान पाते, न ही उन्हें मानते हैं। वे तो प्रायः हिंसादि पापकर्मों को ही आत्मा का स्वाभाविक धर्म समझे बैठे हैं। इस प्रकार वे या तो आत्मा को ही नहीं मानते अथवा मानते हैं तो पूर्वोक्त विपरीत रूप से मानते हैं, तब वे आत्मा के धर्म, स्वभाव या निजी गुणों को कैसे जान सकते हैं? अथवा आत्मा को जान-मानकर भी वे उसके साथ संलग्न होने वाले कर्मबन्ध को तोड़कर आत्मा के निजी धर्म में रमण नहीं कर पाते। कदाचित् वे शुभ कर्मजनित पुण्यबन्धवश स्वर्ग पा सकते हैं, किन्तु जन्म-मरणादि दुःखों से सर्वथा मुक्ति नहीं पा सकते हैं, जोकि सर्वकर्मक्षय से ही प्राप्त हो सकती है और न ही मोक्ष (साध्य) के मार्ग (उपाय अथवा साधन) के लिए तीर्थंकरों द्वारा आचरित, प्ररूपित एवं अनुभूत सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-तपरूप धर्म[1] की आराधना-साधना कर पाते हैं। अतएव वे आत्मा के सर्वकर्मक्षयरूप या स्वात्म-स्वरूप में अवस्थानरूप मोक्ष को प्राप्त नहीं कर पाते, क्योंकि आत्म-धर्म के ज्ञान और आचरण से कोसों दूर हैं। वे पूर्वोक्त रूप से मिथ्यात्व के गाढ़तम अन्धकार में ही लिपटे रहते हैं, स्वयं पूर्वोक्त मिथ्यावादों के कदाग्रहरूप मिथ्यात्व से ग्रस्त हैं, वे जीव धर्म, मार्ग, साधु और मुक्त के विषय में विपरीत मान्यतारूप दशविध मिथ्या-श्रद्धा से युक्त हैं।[2] उनमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र एवं सम्यक्तप को जानने, मानने, आचरण करने की जिज्ञासा, बोध-प्राप्ति की इच्छा ही नहीं है, फिर वे हजारों-लाखों जनसमूह के समक्ष सस्ती, सुलभ, स्व-पर स्वीकाररूप मुक्ति को दुःखमुक्ति के रूप में प्ररूपित कर, मुक्ति का झूठा आश्वासन व प्रलोभन देकर उन्हें भी मिथ्यात्व-विष का पान कराते हैं। तब भला वे चतुर्गतिकरूप जन्म-मरण-परम्परा के दुःखों को भोगे बिना कैसे छूट सकेंगे? इसीलिए 'सूत्रकृतांगसूत्र' में कहा गया–"ऐसे मिथ्यावाद प्ररूपक उच्च-नीच गतियों में परिभ्रमण करेंगे, पुनः-पुनः गर्भ में आएँगे।"[3]

---

१. नाणं च दसणं चेव चरित्तं च तवो तहा।
एस मग्गो त्ति पण्णत्तो जिणेहिं वरदंसिहिं॥ *–उत्तराध्ययन, अ. २८, गा. २*

२. दसविहे मिच्छत्ते पण्णत्ते तं.–अधम्मे धम्मसण्णा, धम्मे अधम्मसण्णा, मग्गे उम्मग्गसण्णा, उम्मग्गे मग्गसण्णा, अजीवेसु जीवसण्णा, जीवेसु अजीवसण्णा, असाहुसु साहुसण्णा, साहुसु असाहुसण्णा, अमुत्तेसु मुत्तसण्णा, मुत्तेसु अमुत्तसण्णा। *–स्थानांग, स्था. १०, पृ. ३०४*

३. (क) णाणाविहाइं दुक्खाइं अणुभवंति पुणो पुणो।
संसारचक्कवालम्मि वाहि-मच्चू जराकुले॥२६॥
उच्चावयाणि गच्छंता, गब्भमेस्संतऽणंतसो।
नायपुत्ते महावीरे, एवमाह जिणोत्तमे॥२७॥ *–सूत्रकृतांग १/१/१/२६-२७*

(ख) सूत्रकृतांगसूत्र, श्रु. १, अ. १, उ. १, गा. २६-२७, विवेचन (आ. प्र. स., ब्यावर), पृ. ४२

एकान्त नियतिवाद की प्ररूपणा

इसी प्रकार आजीवक मत का एकान्त नियतिवाद भी नियति को सर्वदुःख-कर्मक्षयरूप मोक्ष-प्राप्ति का कारण मानता है। बौद्धग्रन्थ दीघनिकाय के सामञ्जफलसुत्त में गोशालक के नियतिवाद का उल्लेख इस प्रकार है–

एकान्त नियतिवादी : मोक्षमार्ग के मिथ्याप्ररूपक

एकान्त नियतिवाद भी सर्वदुःखान्तरूप मोक्ष का कारण (मार्ग) नहीं हो सकता, क्योंकि आजीवक मत प्ररूपित नियतिवाद का सिद्धान्त 'सूत्रपिटक के दीघनिकाय' में इस प्रकार है–"......सत्वों के क्लेश (दुःख) का हेतु और प्रत्यय नहीं है। बिना हेतु और प्रत्यय के ही सत्व (प्राणी) क्लेश पाते हैं तथा बिना हेतु और प्रत्यय के सत्व शुद्ध होते हैं। न वे स्वयं कुछ कर सकते हैं, न पराये कुछ कर सकते हैं। (कोई) पुरुषार्थ (पुरुषकार) नहीं है, बल नहीं है, वीर्य नहीं है, पुरुष का साहस (स्थाम) नहीं है और न पुरुष का कोई पराक्रम है। समस्त सत्व, समस्त प्राणी, समस्त भूत और समस्त जीव अवश (लाचार) हैं, निर्बल हैं, निर्वीर्य हैं। नियति के संयोग से छह जातियों में (उत्पन्न होकर) सुख-दुःख भोगते हैं।.... **जिन्हें मूर्ख और पण्डित जानकर और अनुगमन कर दुःखों का अन्त कर सकते हैं।** वहाँ यह नहीं है कि इस शील, व्रत, तप अथवा ब्रह्मचर्य से मैं अपरिपक्व कर्म को परिपक्व कर लूँगा, परिपक्व कर्म को भोगकर अन्त करूँगा। सुख और दुःख तो द्रोण (माप) से नपे-तुले (नियत) हैं। संसार में न्यूनाधिक या उत्कर्ष-अपकर्ष नहीं है। जैसे सूत की गोली फेंकने पर उछलती हुई गिरती है, वैसे ही बाल (अज्ञानी) और पण्डित दौड़कर आवागमन में पड़कर दुःख का अन्त (मोक्ष प्राप्त) करेंगे।[१]

एकान्त नियति सर्वदुःखान्तरूप मोक्ष का कारण नहीं : क्यों और कैसे ?

'सूत्रकृतांगसूत्र' में नियतिवाद को सांगतिक कहा गया है, अर्थात् सम्यक् (अपने) परिणाम से जो गति है, वह संगति है। जिस जीव की जिस समय, जहाँ, जिस सुख-दुःख का अनुभव करना होता है, वह संगति कहलाती है; वही नियति है। उस संगति = नियति से जो सुख-दुःख उत्पन्न होता है, वह सांगतिक कहलाता है। एकान्त नियतिवाद काल, स्वभाव, स्वकृत कर्म या ईश्वरकृत कर्म (पुरुषार्थ) आदि सभी को अमान्य करके एकान्त नियतिवाद की प्ररूपणा करता है और उसी के ज्ञान और अनुगमन को सर्वदुःखों से मुक्तिरूप मोक्ष का मार्ग (कारण या

---

१. मक्खलिगोसालो मं एतदवोच–नत्थि महाराज ! हेतु, नत्थि पच्चमो सत्तानं संकिलेसाय। अहेतु अपच्चया सत्ता संकिलिस्संति, नत्थि हेतु नत्थि पच्चया सत्तानं विसुद्धिया। अहेतु अपच्चया सत्ता विसुज्झंति। नत्थि अत्तकारे, नत्थि पुरिक्कारे, नत्थि बलं, नत्थि वीरियं ...... एवमेव बाले च पंडिते च संधावित्वा संसरित्वा दुक्खस्संतं करिस्संतीति।

–सुत्तपिटके दीघनिकाये (पाली, भा. १) सामञ्ञफलसुत्त, पृ. ४१-५३

साधन) मानता है, यह मुक्ति-विरुद्ध है। एकान्त नियतिवादी पण्डितमानी एवं हठाग्रही एकान्त नियतिवाद को पकड़े हुए हैं। संसार में सुख-दुःख आदि सभी नियतिकृत नहीं होते। कुछ सुख-दुःख नियतिकृत होते हैं, क्योंकि उन-उन सुख-दुःखों के कारणरूप कर्म का अबाधाकाल समाप्त होने पर उसका अवश्यमेव उदय होता है, जैसे निकाचित कर्म का। परन्तु कई सुख-दुःख अनियत (नियतिकृत नहीं = सैद्धिक) होते हैं। वे पुरुष के उद्योग (पुरुषार्थ) काल, स्वभाव और कर्म द्वारा किये होते हैं। निष्कर्ष यह है कि काल, स्वभाव, नियति, अदृष्ट (कर्म) और पुरुषकृत पुरुषार्थ; ये पाँचों कारण संसारी जीवों के प्रत्येक कार्य या सुखादि में परस्पर सापेक्ष सिद्ध होते हैं। इस सत्य-तथ्य को न मानकर एकान्त नियति को सर्वदुःखान्तरूप मोक्ष का कारण (मार्ग) मानना दोषयुक्त है, मिथ्या है।[१]

अज्ञानवाद : संसारपरिभ्रमण का कारण है

अज्ञानवादी भी अज्ञान को मोक्ष का मार्ग कहते हैं। परन्तु दीर्घदृष्टि से विचार करने पर अज्ञान–मिथ्याज्ञान या मिथ्यात्व कथमपि मोक्ष का कारण या सर्वदुःखमुक्ति का हेतु नहीं हो सकता। 'सूत्रकृतांगसूत्र' में उक्त अज्ञानवाद के दो रूप बताये हैं–**एक तो अज्ञानवादी** वे हैं, जो थोड़ा-सा मिथ्याज्ञान पाकर उसके मद या गर्व (श्रुतमद) से उन्मत्त होकर कहते हैं–दुनियाँभर का सारा ज्ञान हमारे पास है। परन्तु उनका ज्ञान केवल ऊपरी सतह का पल्लवग्राही होता है। वे अन्तर की गहराई में उतरकर आत्मानुभूतियुक्त ज्ञान नहीं पा सके। उन्होंने केवल शास्त्रवाक्य तोते की तरह रट लिये हैं, जिन्हें वे भोलेभाले लोगों के सामने बघारा करते हैं। वे तथाकथित शास्त्रज्ञानी वीतराग सर्वज्ञों की अनेकान्तमयी सापेक्षवादयुक्त वाणी का आशय न समझकर उसका अनुवादभर कर देते हैं और उसे संशयवाद कहकर ठुकरा देते हैं। इसीलिए 'सूत्रकृतांग' में कहा गया है–"**णिच्छयत्थं ण जाणंति।**"–वे निश्चित अर्थ को नहीं जानते। **दूसरे अज्ञानवादी** वे हैं, जो कहते हैं–"अज्ञान ही श्रेयस्कर है। कुछ भी जानने की आवश्यकता नहीं है। ज्ञान न होने पर वाद-विवाद, कषाय, अहंकार, संघर्ष, श्रुतमद, वाक्कलह आदि से बचे रहेंगे। जान-बूझकर अपराध करने से भयंकर दण्ड मिलता है, जबकि अज्ञानवश अपराध होने पर बहुत ही कम दण्ड मिलता है, कभी नहीं भी मिलता। मन में राग-द्वेषादि उत्पन्न होने देने का यह सबसे आसान उपाय है–ज्ञानपूर्वक प्रवृत्ति करना छोड़कर अज्ञान में ही लीन रहना। इसलिए मुमुक्षु के लिए अज्ञान ही श्रेयस्कर है।"

---

१. (क) न तं सयंकडं दुक्खं, कओ अन्नकडं च णं?
सुहं वा जइ वा दुक्खं, सेहियं वा असेहियं॥ –*सूत्रकृतांग १/१/२/२*

(ख) सूत्रकृतांग, श्रु. १, अ. १, उ. २, गा. २-५, विवेचन (आ. प्र. स., ब्यावर), पृ. ४३-४७

फिर संसार में भिन्न-भिन्न मत, पंथ, धर्म और दर्शन हैं, नाना शास्त्र हैं, बहुत-से धर्मप्रवर्त्तक हैं, किसका ज्ञान सत्य है, किसका असत्य? इसका निर्णय और विवेक करना बहुत ही कठिन है। किसी शास्त्र का उपदेश देते हुए किसी सर्वज्ञ को नहीं देखा। ये शास्त्रोक्त वचन सर्वज्ञ के हैं या सर्वज्ञ-प्ररूपित अथवा सर्वज्ञकथन-सम्मत हैं या नहीं? शास्त्रोक्त अमुक कथन का यही अर्थ या अन्य कोई? इस प्रकार का निश्चय करना भी टेढ़ी खीर है। अतः इन सब झमेलों से दूर करने के लिए अज्ञान का सहारा लेना ही हितावह है।[1]

तृतीय प्रकार का अज्ञानवाद : स्वरूप एवं प्रकार

'सूत्रकृतांगसूत्र' के १२वें समवसरण नामक अध्ययन में भी अज्ञानवाद की समीक्षा की गई है। एकान्त अज्ञानवादी ज्ञान के अस्तित्व (वस्तुस्वरूप) का अपलाप करके अत्यन्त विपरीत भाषण करते हैं, स्वयं संशय में पड़ते हैं, दूसरों को संशय में डालते हैं। वे सम्यग्ज्ञानरहित होने से मिथ्यादृष्टि हैं। इस प्रकार के अज्ञानवादियों के ६७ भेद बताएँ गये हैं। जीवादि नौ तत्त्वों पर निम्नोक्त ७ भंग (विकल्प) रखे जाते हैं। जैसे-(१) जीव आदि सत् हैं, यह कौन जानता है?, (२) असत् हैं, (३) सत् भी हैं, असत् भी हैं, (४) अवक्तव्य हैं, (५) सत् अवक्तव्य हैं, (६) असत् अवक्तव्य हैं, और (७) सत्-असत् अवक्तव्य हैं। इस प्रकार ९ तत्त्वों पर प्रत्येक पर ७-७ भंग होने से ९ × ७ = ६३ भंग हुए। इनके अतिरिक्त ४ भंग ये हैं-सत् (विद्यमान) पदार्थ की उत्पत्ति होती है, यह कौन जानता है? और इसे जानने से भी क्या लाभ? इसी प्रकार असत्, सत्-असत् (कुछ विद्यमान और कुछ अविद्यमान) तथा अवक्तव्यभाव के साथ भी पूर्वोक्त प्रकार का वाक्य जोड़ने से ४ विकल्प हुए। यों ६३ + ४ = ६७ भंग (विकल्प = भेद) अज्ञानवादियों के होते हैं।[2]

'संजयवेलट्ठिपुत्त' का अज्ञानवाद भी सर्वदुःखनाशक मोक्ष का कारण नहीं

अज्ञान श्रेयोवादी की तुलना भगवान महावीर के समकालीन मत-प्रवर्त्तक 'संजयवेलट्ठिपुत्त' से की जा सकती है। उसका हर पदार्थ के विषय में उत्तर होता- "यदि आप पूछें कि क्या परलोक है? और यदि मैं समझूँ कि 'परलोक है', तो आपको बताऊँ कि परलोक है। मैं ऐसा भी नहीं कहता, वैसा भी नहीं कहता, मैं दूसरी तरह से भी नहीं कहता। मैं यह भी नहीं कहता कि यह नहीं है, मैं यह भी नहीं कहता कि यह नहीं नहीं है। परलोक नहीं है, परलोक है भी और नहीं भी, परलोक न है और न नहीं है।" इस प्रकार 'संजयवेलट्ठिपुत्त' ने कोई निश्चित बात नहीं कही। उसकी तत्त्वविषयक अज्ञेयता और अनिश्चितता ही

---

१. सूत्रकृतांगसूत्र, श्रु. १, अ. १, उ. २, सू. ४०-४४, शीलांक वृत्ति, पत्र ३२-३४ (आ. प्र. स., ब्यावर), विवेचन, पृ. ५२

२. वही, श्रु. १, अ. १२, विवेचन (आ. प्र. स., ब्यावर), पृ. ४०२

अज्ञानवाद की आधारशिला है। अतः इस प्रकार का अज्ञान (वाद) मोक्ष का कारण हो ही नहीं सकता।[1]

तथागत बुद्ध का अस्थिर उत्तर भी अज्ञानवाद का अंग है

दीघनिकाय में ब्रह्मजालसुत्त में अमराविक्खेववाद में तथागत बुद्ध द्वारा प्रतिपादित वर्णन भी 'सूत्रकृतांग' के १२वें अध्ययन में उक्त अज्ञानवाद से मिलता-जुलता है। संक्षेप में वह इस प्रकार है—"भिक्षुओ ! कोई श्रमण या ब्राह्मण ठीक से नहीं जानता कि यह अच्छा है और यह बुरा। उसके मन में ऐसा होता है कि मैं ठीक से नहीं जानता कि 'यह अच्छा है, यह बुरा है', तब मैं ठीक से जाने विना यह कह दूँ कि यह अच्छा है और यह बुरा है, तो असत्य ही होगा। ऐसा मेरा असत्य भाषण मेरे लिए घातक (नाश का कारण) होगा, जो घातक होगा, वह (मोक्षमार्ग में) अन्तराय (बाधक) होगा। अतः वह असत्य भाषण के भय से और घृणा से न यह कहता है कि यह अच्छा है और न यह कि यह बुरा है। प्रश्नों के पूछे जाने पर कोई स्थिर (निश्चित) बात नहीं करता। .... यह भी नहीं, वह भी नहीं, ऐसा भी नहीं, वैसा भी नहीं ...... ।" इसी प्रकार किसी पदार्थ के विषय में पूछे जाने पर उत्तर में अच्छा-बुरा कहने से राग, द्वेष, लोभ, घृणा आदि की आशंका या तर्क-वितर्क का उत्तर देने में असमर्थता विघात (दुर्भाव) और बाधक समझकर किसी प्रकार का स्थिर उत्तर न देकर अपना अज्ञान प्रगट करना भी इसी अज्ञानवाद का अंग है।[2]

ये तीसरे प्रकार के अज्ञानवादी स्वयं सम्यग्ज्ञानशून्य हैं, तब वे मोक्षमार्ग को कैसे जान सकेंगे और प्राप्त कर सकेंगे ?

अज्ञानवादी कहाँ हैं सुखी, सन्तुष्ट, कुशलक्षेमयुक्त ?

तृतीय प्रकार के अज्ञानवादी अपने आप को कुशल (चतुर) मानते हैं, वे कहते हैं—"हम सब तरह से कुशलमंगल हैं। हम न किसी से व्यर्थ ही बोलते हैं, न ज्ञान बघारते हैं। चुपचाप अपने काम में मस्त रहते हैं। ज्ञानवादी तो अपने अहंकार में डूबे हैं, परस्पर लड़ते हैं, दूसरों पर आक्षेप करते हैं। वे वाक्कलह से परस्पर असन्तुष्ट और अकुशल रहते हैं।" परन्तु अज्ञानवादियों का यह आक्षेप निराधार है। जो सम्यग्ज्ञानी-सम्यग्दर्शी होगा, वह न तो लड़ता है, न अहंकारग्रस्त होता है। अज्ञानवादी स्वयं को कुशलमंगलरूप मानते हैं, किन्तु अज्ञान के कारण कोई भी जीव कुशल मंगलमय नहीं होता। अज्ञान के कारण ही तो जीव नाना दुःखों से

---

१. 'संजयवेलट्ठिपुत्त' के अज्ञानवाद के विषय में देखें—सुत्तपिटके दीघनिकाये सामञ्जफलसुत्तं, पृ. ४१-५३

२. देखें—तथागत बुद्ध के अनिश्चयवादरूप अज्ञानवाद के विषय में दीघनिकाय ब्रह्मजालसुत्त में तथागत बुद्ध द्वारा कथित अमराविक्खेववाद (हिन्दी अनुवाद), पृ. १-१०

पीड़ित है, बुरे कर्म करके वह दुर्गति और नीच योनि में जाता है। नरक में तो प्रायः अज्ञानी ही हैं। फिर वे कहाँ कुशलमंगल हैं, वे परस्पर लड़ते-झगड़ते क्यों हैं? क्यों इतना दुःख पाते हैं? तिर्यंचयोनि के जीव भी तो अज्ञानी हैं, अज्ञानवश ही तो वे पराधीन हैं। परवशता और अज्ञानता के कारण ही तो उन्हें भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी आदि के दुःख उठाने पड़ते हैं। अज्ञान में डूबे हैं, तभी तो वे किसी क्षेत्र में प्रगति नहीं कर पाते। अज्ञानी मानव बहुत ही पिछड़े, अन्ध-विश्वासी तथा सामाजिक, धार्मिक एवं आध्यात्मिक क्षेत्र में प्रगतिशील नहीं होते। नाना प्रकार के दुःख उठाते हैं। इसलिए अज्ञानवादियों के जीवन में कुशलक्षेम नहीं है।[1]

अज्ञानश्रेयोवादी अपने सिद्धान्त का निरूपण ज्ञान द्वारा क्यों करते हैं?

दूसरी बात—अज्ञानवादी अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन ज्ञान से करते हैं। लेकिन (सम्यक्) ज्ञान को कोसते हैं। अज्ञानश्रेयोवादी अज्ञान को सर्वश्रेष्ठ सिद्ध करने का प्रयास करते हैं। वे सब विचारचर्चा ज्ञान (अनुमान आदि प्रमाणों तथा तर्क, हेतु, युक्ति) द्वारा करते हैं, यह तो 'वदतो व्याघात' जैसी बात है। वे अपने अज्ञानवाद को श्रेष्ठ सिद्ध करने के लिए ज्ञान का सहारा क्यों लेते हैं? ज्ञान का आश्रय लेकर वे अपने ही अज्ञानवाद का खण्डन करते हैं। उन्हें तो अपनी बुद्धि पर ताला लगाकर चुपचाप बैठना चाहिए। अज्ञानवाद सिद्धान्त के अनुशासन में चलकर तो उन्हें अज्ञानवाद के प्रशिक्षणार्थियों को अज्ञानवाद का उपदेश ज्ञान के द्वारा कतई न देना चाहिए।

अज्ञानवादियों का ज्ञानवादियों पर आक्षेप और समाधान

परन्तु वे ज्ञान का आश्रय लेकर सम्यग्ज्ञानवाद का खण्डन करते हुए कहते हैं—"समस्त ज्ञानवादी पदार्थ का स्वरूप परस्पर विरुद्ध बताते हैं, इसलिए वे यथार्थवादी नहीं हैं। आत्मा को कोई नित्य, कोई अनित्य, कोई मूर्त्त, कोई अमूर्त्त, कोई सर्वव्यापी, कोई असर्वव्यापी, कोई हृदयस्थ, कोई अँगूठे के पर्व के आकार का मानता है। परस्पर एकमत नहीं हैं, ये सब ! किसका कथन प्रमाणभूत माना जाए, किसका नहीं? जगत् में कोई अतिशयज्ञानी (सर्वज्ञ) भी नहीं कि उसका कथन प्रमाण माना जाए? कोई सर्वज्ञ हो तो भी उसे अल्पज्ञ जान नहीं पाता। इस कारण ज्ञानवादियों को वस्तु के यथार्थस्वरूप का ज्ञान न होने से वे पदार्थों का स्वरूप परस्पर विरुद्ध बताते हैं।"

---

१. (क) सूत्रकृतांग, श्रु. १, अ. १२, गा. २, विवेचन (आ. प्र. स., ब्यावर), पृ. ४०२

(ख) वृत्तिकार ने अज्ञानवादियों में एकान्त नियतिवादियों, अज्ञानश्रेयोवादियों, कूटस्थ नित्यवादियों तथा एकान्त क्षणिकवादियों में परिगणित किये हैं।

—सूत्रकृतांग, शीलांक वृत्ति, पत्र ३२-३४

परन्तु अज्ञानवादियों का यह आक्षेप निराधार है। अज्ञानवादी स्वयं मिथ्यादृष्टि हैं। सम्यग्ज्ञान से रहित, संशय और भ्रम से ग्रस्त हैं। वस्तुतः परस्पर या पूर्वापर विरुद्ध अर्थ या पदार्थस्वरूप बताने वाले असर्वज्ञ-प्रणीत आगमों को मानते हैं, किन्तु इससे समस्त सिद्धान्तों को आँच नहीं आती। सर्वज्ञप्रणीत आगमों को मानने वाले वादियों के वचनों में पूर्वापर विरोध नहीं आता। क्योंकि सर्वज्ञता के लिये ज्ञान पर आया हुआ आवरण तथा उसके कारणभूत राग-द्वेष-मोह आदि विकारों का सर्वथा नष्ट हो जाना अनिवार्य है। सर्वज्ञ में इन दोषों का सर्वथा अभाव होने से उसके वचन सत्य हैं, परस्पर या पूर्वापर विरुद्ध नहीं हैं। अतः सर्वज्ञप्रणीत आगमज्ञानवादी परस्पर विरुद्धभाषी नहीं। वे आत्मा को एकमत से सर्वशरीरव्यापी तथा चेतनाशील मानते हैं।

अज्ञानवादग्रस्त जब स्वयं सन्मार्ग (मोक्षमार्ग) से अनभिज्ञ हैं, तब उनके नेतृत्व में बेचारा दिशामूढ़ अनुगामी मार्ग से अनभिज्ञ होकर अत्यन्त दुःखी होगा। फिर तो वही कहावत चरितार्थ होगी–अन्धे मार्गदर्शक के नेतृत्व में चलने वाला दूसरा अन्धा भी मार्गभ्रष्ट हो जाता है। वैसे ही सम्यक् मोक्षमार्ग से अनभिज्ञ अज्ञानवादी के पीछे चलने वाले नासमझ पथिक का भी वही हाल होता है।

निष्कर्ष यह है कि सम्यग्ज्ञान के बिना पदार्थों का यथार्थ स्वरूप कैसे समझा जा सकता है? अतः अज्ञानवादी संशय, विपर्यय एवं अनध्यवसाय एवं महाभ्रान्तिरूप अज्ञान के शिकार होकर परस्पर असम्बद्ध भाषण करते हैं।

अज्ञानवादी साधक मोक्षमार्ग से दूर, संसारमार्ग के पोषक

इतना होने पर भी कई (प्रथम प्रकार के) अज्ञानवादी साधुवेष धारण करके मोक्षार्थी बनकर कहते हैं–"हम ही सच्चे धर्म के आराधक हैं।" किन्तु संवर-निर्जरारूप या सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप धर्म की आराधना का क, ख, ग भी वे नहीं जानते।" वे अज्ञानान्धकारग्रस्त होकर षट्काय के उपमर्दनरूप आरम्भ-समारम्भ में स्वयं प्रवृत्त होते हैं, दूसरों को कर्मक्षयरूप धर्म के नाम पर भ्रमवश अधर्म (पुण्य या पाप) का उपदेश देते हैं। उक्त हिंसादि पापारम्भ से, रत्नत्रयरूप धर्माराधना या मोक्षमार्ग की साधना तो दूर रही, उलटे वे संसारमार्ग या अधर्ममार्ग का उपदेश देकर लोगों को गुमराह करते हैं। वे स्वयं संयम एवं सद्धर्म के मार्ग को ठुकरा देते हैं, न ही सद्धर्मप्ररूपकों की सेवा में बैठकर उनसे सद्धर्मतत्त्व, मोक्षमार्ग का तत्त्व समझते हैं। धर्माधर्म के तत्त्व से अनभिज्ञ वे लोग कुतर्कों का सहारा लेकर अपनी मान्यता सिद्ध करने का प्रयास करते हैं। जैसे पिंजरे में बंद पक्षी उसे तोड़कर बाहर निकल नहीं सकता, वैसे ही अज्ञानवादी अपने मतवादरूपी या संसाररूपी पिंजरे को तोड़कर बाहर नहीं निकल सकते। वे केवल अपने ही मत की

प्रशंसा में रत रहते हैं। फलतः वे अज्ञानवादरूपी मिथ्यात्व के कारण मोक्षमार्ग पर चलना तो दूर रहा, संसार के बंधन में दृढ़ता से जकड़ते जाते हैं।[1]

एकान्त विनयवाद से भी मोक्ष प्राप्त नहीं होता

अज्ञानवाद की तरह एकान्त विनयवाद भी मोक्ष का कारण (मार्ग या साधन) नहीं है। 'सूत्रकृतांगसूत्र' में एकान्त विनयवाद को सत्यासत्य विवेकरहित बताया है। वहाँ कहा गया है—जो सत्य है, उसे असत्य मानते हुए; जो असाधु है, उसे साधु मानते हुए बहुत-से विनयवादी पूछने पर या न पूछने पर, अपने भाव के अनुसार विनय से ही स्वर्ग—मोक्ष-प्राप्ति बताते हैं। वस्तु के यथार्थ स्वरूप का परिज्ञान न होने से व्यामूढ़मति वे विनयवादी कहते हैं—विनय से ही स्वर्ग और मोक्ष की प्राप्ति होती है। वे गधे से लेकर गाय तक, चाण्डाल से लेकर ब्राह्मण तक तथा जलचर, खेचर, उरपरिसर्प एवं भुजपरिसर्प आदि सभी प्राणियों को विनयपूर्वक नमस्कार करते हैं।

'सूत्रकृतांग नियुक्ति' में (एकान्त) विनयवाद के ३२ भेद बताए हैं—(१) देवता, (२) राजा, (३) यति (साधु), (४) ज्ञाति, (५) वृद्ध, (६) अधम (तिर्यंच आदि), (७) माता, और (८) पिता; इन आठों का मन से, वचन से, काया से और दान से विनय करना चाहिए। इस प्रकार ८ × ४ = ३२ भेद विनयवाद के हुए।

एकान्त विनयवादी : सत्यासत्य विवेक से रहित

एकान्त विनयवादी सत्य-असत्य विवेकरहित हैं। इसके मुख्य तीन कारण हैं—(१) मोक्ष या संयम जो प्राणियों के लिये हितकर है—सत्य है, उसे विनयवादी असत्य बताते हैं; (२) सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप रत्नत्रय, जो मोक्ष का वास्तविक मार्ग है, उसे विनयवादी असत्य कहते हैं; तथा (३) केवल (उपचार) विनय से मोक्ष नहीं होता, तथापि विनयवादी केवल विनय से ही मोक्ष मानकर असत्य को सत्य मानते हैं।

विनयवादियों में सत्-असत् विवेकशून्यता

विनयवादियों में सत्-असत् विवेक नहीं होता। वे अपनी सत्-असत् विवेकशालिनी बुद्धि का प्रयोग न करके विनय करने की धुन में अच्छे-बुरे,

---

१. (क) सूत्रकृतांग, श्रु. १, अ. १, उ. २, गा. ६-२३ (आ. प्र. स., ब्यावर), पृ. ५२-५३

(ख) वही, शीलांक वृत्ति, पत्रांक ३५-३६

(ग) अण्णाणिया ता कुसला वि संता, असंथुया णो वितिगिंछ-तिण्णा।
अकोविया आहु अकोवियाए, अणाणुवीथीति मुसं वदंति॥

—सूत्रकृतांग, श्रु. १, अ. १२, गा. २

(घ) इसी गाथा पर विवेचन (आ. प्र. स., ब्यावर), पृ. ४०२-४०४

सज्जन-दुर्जन, धर्मात्मा-पापी, सुबुद्धि-दुर्बुद्धि, सुज्ञानी-अज्ञानी आदि सभी को एक सरीखा मानकर वन्दन-नमन, मान-सम्मान, दान आदि देते हैं। वास्तव में देखा जाए तो यह विनय नहीं है, विवेकहीन प्रवृत्ति है। जो साधक विशिष्ट (उच्च) धर्माचरण अर्थात् साधुत्व की साधना या क्रिया नहीं करता, उस असाधु को विनयवादी केवल वन्दन-नमन आदि औपचारिक विनय क्रिया करने मात्र से साधु मान लेते हैं। वे विशुद्ध धर्म (कर्मक्षयरूप) या संवर-निर्जरारूप अथवा सम्यग्ज्ञानादि रत्नत्रयरूप धर्म के परीक्षक नहीं हैं, सिर्फ औपचारिक विनयमात्र से धर्मोत्पत्ति मान लेते हैं। वे प्रज्ञा से वास्तविक धर्म की जिज्ञासा, समीक्षा या परीक्षाबुद्धि नहीं करते।

विनयवाद के गुण-दोष की समीक्षा

यद्यपि विनय चारित्र का अंग है, परन्तु सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के बिना विवेकविकल केवल उपचार विनय सम्यक्चारित्ररूप मोक्षमार्ग का अंगभूत विनय नहीं है। अगर विनयवादी सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप विनय की विवेकपूर्वक आराधना-साधना करें, साथ ही आध्यात्मिक मार्ग में आगे बढ़े हुए जो अरिहन्त, सिद्ध परमात्मा हैं, पंचमहाव्रती निर्ग्रन्थ रत्नत्रयाराधक चारित्रात्मा हैं, उनकी विनय भक्ति करें, तो उक्त मोक्षमार्ग के अंगभूत विनय से उन्हें स्वर्ग या मोक्ष प्राप्त हो सकता है। परन्तु इसे ठुकराकर अध्यात्मविहीन, अविवेकयुक्त, मताग्रहगृहीत, मतव्यामोह प्रेरित एकान्त औपचारिक विनय से सभी प्रयोजनं की सिद्धि या स्वर्ग-मोक्ष-प्राप्ति बतलाना उनका एकान्त दुराग्रह है, मिथ्यावाद है। उक्त प्रकार के विनय से सर्वकर्मक्षयरूप धर्म या पुण्य भी होना दुष्कर है।[1]

बौद्धों द्वारा अक्रियावाद की प्ररूपणा करने पर भी प्रकारान्तर

बौद्धमत के सर्वशून्यतारूप अक्रियावाद के अनुसार कोई भी परलोकगामी तथा कोई क्रिया या गतियाँ और कर्मबन्ध भी सम्भव नहीं है, फिर भी बौद्धशासन में ६ गतियाँ मानी गई हैं। जब गमन करने वाला कोई आत्मा ही नहीं है, तब गमनक्रिया से फलित गतियाँ कैसी? क्रिया न होने से अनेक गतियों का होना सम्भव नहीं। बौद्ध त्रिपिटकों में सभी कर्मों को अबन्धन माना गया है। यदि कर्म बन्धकारक नहीं

---

१. (क) सच्चं असच्चं इति चिंतयंता, असाहु साहुत्ति उदाहरंता।
जे मे जणा वेणइया अणेगे, पुट्ठा वि भावं विणइंसु नाम॥३॥
अणोवसंखा इति ते उदाहु, अट्ठे स आभासति अम्ह एवं।..... ॥४॥

—सूत्रकृतांग, श्रु. १, अ. १२, गा. ३-४

(ख) सूत्रकृतांग, शीलांक वृत्ति पत्रांक २११-२४१

(ग) वही, पत्रांक २०८

(घ) सूत्रकृतांग निर्युक्ति, गा. ११९

(ङ) वही, श्रु. १, अ. १२, गा. ३-४, विवेचन (आ. प्र. स., ब्यावर), पृ. ४०४-४०५

हैं, तो तथागत बुद्ध का ५०० वार जन्म ग्रहण करना वताया गया है, विना कर्मवन्धन के जन्म ग्रहण करना कैसे संगत हो सकता है? बौद्ध ग्रन्थ के एक श्लोक में वताया गया है-"माता-पिता को मारकर बुद्ध के शरीर से रक्त निकालकर, अर्हद्‌वध करने से तथा धर्मस्तूप को नष्ट करने से मनुष्य अर्वाचिनरक में जाता है।" ये सव क्रियाएँ कर्मवन्ध के विना कैसे हो सकती हैं? यदि सर्व शून्य है तो शास्त्र रचना भी कैसे हो सकती है? यदि कर्म वन्धनकारक नहीं है, तो जीवों का अस्तित्व, उनका जन्म-मरण, रोग-शोक, उत्तम-मध्यम-अधम आदि विभिन्नताएँ किस कारण से दिखाई देती हैं? इन सव पर से जीव का अस्तित्व, उसका कर्तृत्व, भोक्तृत्व तथा कर्मवन्ध होना और कर्मफल पाना सिद्ध होता है। स्पष्ट है, बौद्धों द्वारा मिश्रपक्ष का स्वीकार करने पर भी वे सर्वशून्यतावाद का मताग्रह रखते हैं। अतः सर्वकर्ममुक्तिरूप मोक्ष का मार्ग अक्रियावाद नहीं हो सकता है।

सांख्य अक्रियावादी हैं, वे आत्मा को सर्वव्यापी मानकर भी प्रकृति से वियुक्त होने को मोक्ष कहते हैं। यदि मोक्ष मानते हैं तो बन्ध अवश्य मानना पड़ेगा। जब बन्ध मोक्ष आत्मा का होता है तो आत्मा का क्रियावान् होना भी स्वीकृत हो जाता है क्योंकि क्रिया के बिना बन्ध और मोक्ष कदापि संभव नहीं होते। अतः मिश्रपक्षाश्रयी सांख्य आत्मा को निष्क्रिय करते हुए अपने ही वचन से उसे क्रियावान् कह बैठते हैं।

अक्रियावादियों द्वारा सूर्य के उदय-अस्त, चन्द्र के वृद्धि-ह्रास का, जल एवं वायु की गति का किया जाने वाला निषेध प्रत्यक्ष-प्रमाण-विरुद्ध है। ज्योतिष आदि विद्याओं को पढ़े बिना ही लोक-अलोक के पदार्थों का ज्ञान लेने को दावा करना मिथ्या एवं पूर्वापर-विरुद्ध है। प्रत्यक्ष दृश्यमान वस्तुओं को भी स्वप्न, इन्द्रजाल या मृगमरीचिका-सम बताकर, उनका अत्यन्ताभाव घोषित करना भी युक्ति-प्रमाण-विरुद्ध है।

एकान्त क्रियावादी वे हैं, जो एकान्तरूप से जीव आदि का अस्तित्व मानते हैं तथा ज्ञानरहित केवल दीक्षा आदि की क्रिया से ही मोक्ष-प्राप्ति मानते हैं। वे कहते हैं-माता-पिता आदि सब हैं, पुण्य-पाप आदि भी हैं, उनका शुभाशुभ कर्मफल भी मिलता है, पर मिलता है केवल क्रिया से ही। जीव में दुःख आदि जो कुछ भी होता है, वह सब अपना किया हुआ होता हैं; काल, ईश्वर आदि दूसरों का किया हुआ नहीं।

एकान्त क्रियावाद के १८० भेद

निर्युक्तिकार ने एकान्त क्रियावाद के १८० भेद बताएँ हैं। जीव-अजीव आदि ९ तत्त्वों पर स्वतः-परतः, ये दो भेद, फिर उनके नीचे नित्य-अनित्य, ये दो-दो भेदों की स्थापना करने से ९ × २ = १८ × २ = ३६ भेद हुए। उनके नीचे फिर काल,

स्वभाव, नियति, ईश्वर और आत्मा, इन ५ भेदों की स्थापना करने से ३६ × ५ = १८० भेद हुए।

एकान्त क्रियावाद के गुण-दोष की समीक्षा

एकान्त क्रिया (सत्क्रिया = सम्यक्चारित्र) से मोक्ष नहीं होता, उसके साथ सम्यग्ज्ञान होना चाहिए। कहा भी है–"**पढमं नाणं, तओ दया।**" ज्ञानरहित क्रिया से बद्धकर्म का क्षय नहीं होता, न ही आते हुए कर्मों का निरोधरूप संवर हो सकता है। ज्ञाननिरपेक्ष क्रिया से या क्रियानिरपेक्ष कोरे ज्ञान से सर्वकर्मक्षयरूप मोक्ष नहीं होता। इसीलिए विद्या (ज्ञान) और चरण (चारित्र = क्रिया) दोनों से मोक्ष कहा। क्रिया से ही मोक्ष होता है, यह एकान्तिक कथन है तथा सुख-दुःखादि का अस्तित्व है, यह कथन भी ठीक है, परन्तु सभी कुछ क्रिया से ही होता है, यह एकान्त प्ररूपणा मिथ्या है। यदि एकान्तरूप से सभी पदार्थों का अस्तित्व माना जाएगा तो वह कथंचित् (परद्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से) नहीं है। यह सत्य कथन घटित नहीं हो सकेगा। एकान्त अस्तित्व मानने से जगत् के समस्त व्यवहारों का उच्छेद हो जाएगा। प्रत्येक वस्तु-स्वरूप से है, पर-स्वरूप से नहीं है, ऐसा सत्य कथन सम्यक् क्रियावाद का है।[1]

एकान्त अक्रियावाद भी मोक्ष का कारण नहीं

एकान्तरूप से जीव आदि पदार्थों का जिस वाद में निषेध किया जाता है तथा उसकी क्रिया, आत्मा, कर्मबन्ध, कर्मफल आदि जिस वाद में बिलकुल नहीं माने जाते, उसे अक्रियावाद कहते हैं।

अक्रियावाद के कुल ८४ भेद

अक्रियावाद के कुल ८४ भेद होते हैं। वे इस प्रकार हैं–जीव आदि ७ पदार्थों को क्रमशः लिखकर, उसके नीचे **स्वतः** और **परतः** ये दो प्रकार स्थापित करने चाहिए। इस प्रकार ७ × २ = १४ ही पदों के नीचे (१) काल, (२) यदृच्छा, (३) नियति, (४) स्वभाव, (५) ईश्वर, और (६) आत्मा, इन ६ पदों को रखना चाहिए। जैसे–जीव स्वतः काल से नहीं है, जीव परतः काल से नहीं है तथा जीव स्वतः यदृच्छा से नहीं है, जीव परतः यदृच्छा से नहीं है, इसी प्रकार नियति, स्वभाव, ईश्वर और आत्मा के साथ भी प्रत्येक के स्वतः-परतः ये दो-दो भेद होते हैं। यों जीवादि सातों पदार्थों के ७ स्वतः-परतः के भेद से ७ × २ = १४ भेद हुए, फिर काल, यदृच्छा आदि ६ भेद प्रत्येक के साथ मिलाने से ७ × २ = १४ × ६ = ८४ भेद अक्रियावाद के हुए।

---

१. (क) सूत्रकृतांग, शीलांक वृत्ति, पत्रांक २१८-२२०

(ख) वही, श्रु. १, अ. १२, गा. ११-१७, विवेचन (आ. प्र. स., ब्यावर), पृ. ४०९-४१२

एकान्त अक्रियावादी मुख्यतः तीन और उनकी प्ररूपणा

एकान्त अक्रियावादी मुख्यतः तीन होते हैं–लोकायतिक, बौद्ध और सांख्य। **अक्रियावादी लोकायतिक** के मत में आत्मा ही नहीं है, तो उसकी क्रिया कैसे होगी? और उस क्रिया से उत्पन्न कर्मबन्ध भी कैसे होगा? कर्मबन्ध भी कहाँ से होगा? फिर भी लोक-व्यवहार में जैसे मुट्ठी का बंद करना और खोलना उपचारमात्र से माना जाता है, वैसे ही लोकायतिक मत में उपचारमात्र से आत्मा में बद्ध और मुक्त का व्यवहार माना जाता है।

दूसरे अक्रियावादी बौद्ध हैं। ये सभी पदार्थों को क्षणिक (क्षणविध्वंसी) मानते हैं और क्षणिक पदार्थों में क्रिया का होना सम्भव नहीं। बौद्धदर्शन का मन्तव्य यह है कि जब सभी पदार्थ क्षणभर में नष्ट हो जाते हैं, तब अवयवी और अवयव को कोई पता नहीं लगता, न ही भूत और भविष्य के साथ वर्तमान क्षण का कोई सम्बन्ध होता है। सम्बन्ध न होने से क्रिया नहीं होती। क्रिया न होने से क्रियाजनित कर्मबन्ध नहीं होता। इस प्रकार बौद्ध अक्रियावादी हैं। तात्पर्य यह है कि बौद्ध कर्मबन्ध की आशंका से आत्मा आदि पदार्थों का तथा उनकी क्रिया का सर्वथा निषेध करते हैं।

तीसरे अक्रियावादी सांख्य हैं, जो आत्मा को कूटस्थ नित्य तथा सर्वव्यापक मानने के कारण अक्रिय मानते हैं। इस कारण वे भी वास्तव में अक्रियावादी हैं।

तीनों क्रिया करते हैं, फिर भी अक्रियावादी कैसे ?

लोकायतिक पदार्थ का निषेध करते हुए ये पदार्थ के अस्तित्व का प्रतिपादन कर बैठते हैं, पदार्थों का अस्तित्व बतलाने वाले शास्त्रों का, उन शास्त्रों के उपदेशक आत्माओं का, उपदेश के साधनरूप शास्त्र का, जिसे उपदेश दिया जाता है, उस शिष्य का उन्हें अवश्य स्वीकार करना पड़ता है, परन्तु सर्वशून्यता वादयुक्त अक्रियावाद में ये तीनों (क्रियाएँ या पदार्थों का अस्तित्व) नहीं आते। अतः लोकायतिक पदार्थ नहीं है, यह भी कहते हैं। दूसरी ओर प्रकारान्तर से पदार्थों का अस्तित्व भी स्वीकारते हैं, अतः वे परस्पर विरुद्ध मिश्रपक्ष का आश्रय लेते हैं। वे आत्मा को ही नहीं मानते, तब बन्ध और उससे मोक्ष को मानने का सवाल ही कहाँ रहा? अतः लोकायतिक का अक्रियावाद मोक्ष का कारण (मार्ग) कथमपि सिद्ध नहीं होता।[1]

---

१. (क) सूत्रकृतांगसूत्र, श्रु. १, अ. १२, गा. ४-१०, विवेचन (आ. प्र. सा., ब्यावर), पृ. ४०५-४०७

(ख) वही, शीलांक वृत्ति, पत्रांक २०८

(ग) सूत्रकृतांग निर्युक्ति, गा. ११९

बौद्धों के कर्मोपचय निषेधरूप क्रियावाद से मोक्ष-प्राप्ति नहीं हो सकती

'सूत्रकृतांगसूत्र' में मोक्षमार्ग के सम्बन्ध में बौद्धों के कर्मोपचय निषेधवादरूप क्रियावाद का निरूपण किया गया है। वृत्तिकार के अनुसार उसका रहस्य यह है कि जो कर्म (क्रिया) केवल चित्त विशुद्धिपूर्वक किया जाता है, उसे बौद्धमत में प्रधान रूप से मोक्ष का अंग माना जाता है।

वृत्तिकार ने इसका खण्डन करते हुए कहा है कि ये एकान्त क्रियावादी बौद्ध ज्ञानावरणीय आदि कर्म (बन्ध) की चिन्ता से रहित (दूर) हैं, अर्थात् ज्ञानावरणीय आदि अष्टविध कर्म किन-किन कारणों से, किस-किस तीव्र-मन्द आदि रूप में बँध जाते हैं? वे सुख-दुःख आदि के जनक हैं या नहीं? उनसे छूटने के क्या-क्या उपाय हैं? इत्यादि कर्म-सम्बन्धी चिन्ता = चिन्तन से वे एकान्त क्रियावादी दूर हैं।

कर्मबन्ध कब होता है, कब नहीं ? : बौद्धमत विचार

बौद्ध दार्शनिक चार प्रकार के कर्मोपचय को कर्मबन्ध का कारण नहीं मानते– (१) **परिज्ञोपचित कर्म**–क्रोधादि कारणवश जानता हुआ केवल मन से किया गया हिंसादि कर्म जो शरीर के छेदन-भेदनादि द्वारा नहीं किया जाता। (२) **अविज्ञोपचित कर्म**–अनजान में शरीर से किया गया हिंसादि कर्म। (३) **ईर्यापथ कर्म**–मार्ग में जाते हुए अनभिसन्धि से होने वाला हिंसादि कर्म। (४) **स्वप्नान्तिक कर्म**–स्वप्न में होने वाला हिंसादि कर्म। इन चारों प्रकार के कर्मों से पुरुष (कर्त्ता) स्पृष्ट होता है; बुद्ध नहीं। ऐसे कर्मों के विपाक का भी वह स्पर्शमात्र वेदन (अनुभव) करता है। स्पर्श के बाद ये चतुर्विध कर्म नष्ट हो जाते हैं। यही सोचकर कर्मबन्ध से निश्चिन्त होकर वे कर्म करते हैं।

वे कहते हैं–कर्मोपचय (कर्मबन्ध) तभी होता है जब–(१) हनन किया जाने वाला प्राणी सामने हो, (२) हनन करने वाले को यह भान (ज्ञान) हो कि यह प्राणी है, और (३) हनन करने वाले की ऐसी बुद्धि हो कि मैं इसे मारता हूँ या मारूँ। इन तीन कारणों के अतिरिक्त दो कारण और हैं–(१) पूर्वोक्त तीन कारणों के रहते, यदि वह उस प्राणी को शरीर से मारने की चेष्टा करता है, (२) उस चेष्टा के अनुसार उस प्राणी को मार दिया जाता है; तभी हिंसा होती है और कर्मों का उपचय (बन्ध) होता है।

इसी प्रकार बौद्धमतानुसार–पापकर्मबन्ध के तीन कारण और हैं–(१) स्वयं किसी प्राणी को मारने के लिये उस पर आक्रमण या प्रहार करना, (२) नौकर आदि दूसरों को प्रेरित या प्रेषित करके प्राणिवध कराना, (३) मन से प्राणिवध के लिए अनुज्ञा या अनुमोदना करना। ये तीनं पापकर्मोपचय के कारण इसलिए हैं कि इन तीनों में दुष्ट अध्यवसाय = राग-द्वेषयुक्त परिणाम रहता है।

भावविशुद्ध हों, वहाँ कर्मोपचय नहीं होता, यह तथ्य युक्ति-विरुद्ध है

आगे उन्होंने कहा–"जहाँ राग-द्वेषरहित बुद्धि से कोई प्रवृत्ति होती है, ऐसी स्थिति में जहाँ केवल विशुद्ध मन से या केवल शरीर से प्राणातिपात हो जाता है, वहाँ भावविशुद्धि होने से कर्मोपचय नहीं होता, इससे जीव निर्वाण (मोक्ष) को प्राप्त होता है।" बौद्ध दार्शनिक-कथन का सारांश यह है कि "जो पुरुष किसी भी निमित्त से किसी प्राणी पर द्वेष या हिंसा में प्रवृत्त नहीं होता, वह विशुद्ध है। उस व्यक्ति को पापकर्म का बन्ध (उपचय) नहीं होता।" यह कथन जैन-कर्मविज्ञान की दृष्टि से सिद्धान्त और युक्ति से विरुद्ध है। जानकर हिंसा करने से पहले राग-द्वेषयुक्त भाव न आएँ, यह सम्भव नहीं है। भाव-हिंसा तभी होती है, जब मन में जरा भी राग-द्वेष या कषाय के भाव आएँ। वस्तुतः कर्म के उपचय (बन्ध) करने में मन ही तो प्रधान कारण है। जिसे '**धम्मपद**' में भी माना है। उन्हीं के धर्मग्रन्थ में बताया है–"राग-द्वेषादि क्लेशों से वासित चित्त ही (कर्मबन्धनरूप) संसार है और वही रागादि क्लेशों से मुक्त चित्त ही संसार का अन्त = मोक्ष कहलाता है।" बौद्धों के द्वारा दृष्टान्त देकर यह सिद्ध करना कि विपत्ति के समय पिता द्वारा पुत्र का वध करना उसे मारकर स्वयं खा जाना तथा मेधावी भिक्षु द्वारा उक्त माँस भिक्षा में प्राप्त करके खा जाना पापकर्मबन्ध का कारण नहीं है, बिलकुल असंगत है। राग-द्वेष से क्लिष्ट चित्त हुए बिना मारने का परिणाम हो ही नहीं सकता। उपर्युक्त दूषित चित्त-परिणाम को असंक्लिष्ट कौन मान सकता है? तथैव पूर्वोक्त चतुर्विध कर्म भी संयम, यतना, संवर और अप्रमाद के विचार से न हों तो वे भी कर्मोपचय के कारण होते ही हैं।[1]

●●

१. (क) देखें–इस सम्बन्ध में विशेष स्पष्टीकरण एवं बौद्धग्रन्थ-प्रमाण के लिये सूत्रकृतांग, श्रु. १, अ. १, उ. २, गा. २४-२९, विवेचन (आ. प्र. स., ब्यावर), पृ. ५५-६१

(ख) सूत्रकृतांग, शीलांक वृत्ति, पत्रांक ३१-४०

(ग) सूयगडंग चूर्णि (मू. पा. टिप्पण), पृ. ९७, ९

(घ) दशवैकालिक, अ. ४, गा. ८

(ङ) चित्तमेव हि संसारो रागादिक्लेशवासितम्।
तदैव तैर्विनिर्युक्तं भवान्त इति कथ्यते॥

९

भक्ति से सर्वकर्ममुक्ति : कैसे और कैसे नहीं ?

विस्मृत परमात्म-तत्त्व को पुनः पाने का उपाय परमात्म-भक्ति है

हमारी आत्मा अनन्त-अनन्त काल से, परमात्म-तत्त्व से, वीतरागता से तथा अपने स्वरूप से पराङ्मुख हो रही है। वह अपने वास्तविक स्वरूप को भूलकर संसार की, विषय-वासनाओं की, भौतिकता की, पर-भावों की मोहक भूलभुलैया में फँसकर दुःख, कष्ट और यातनाएँ पाती रही है। कर्मपरवश होकर अनेक पीड़ाओं और यातनाओं से त्रस्त होती रही है, नाना गतियों और योनियों में जन्म, मृत्यु, जरा और व्याधि आदि के दुःखों को भोगती रही है। संसार में उसे जो सुख और आनन्द की अनुभूति हो रही है, वह वास्तविक नहीं है, उसके साथ अनेक दुःख लगे हुए हैं, वह क्षणिक है, अस्थायी है, उस वैषयिक और पदार्थनिष्ठ सुख में दुःख के बीज छिपे हुए होते हैं। इसलिए कोई ऐसा उपाय होना चाहिए जिससे मनुष्य वास्तविक सुख और आनन्द पा सके; सर्वकर्ममुक्ति का अथवा आंशिक मुक्ति का आनन्द उपलब्ध कर सके। वह सरल, सुलभ, स्वयं करणीय उपाय है—परमात्म-भक्ति।

परमात्म-भक्ति से स्व-स्वभाव-परिवर्तन

परमात्म-भक्ति से उसे विषय-वासनाजनित कृत्रिम सुख से विरक्ति होगी। भक्ति की तीव्रता-मंदता के अनुरूप उसके अशुभ कर्मों या पूर्वबद्ध कर्मों का क्षय होने से उसे जो वर्तमान जन्म में दुःख, यातनाएँ या विपत्तियाँ भोगनी पड़तीं, वे नहीं भोगनी पड़ेंगी अथवा कदाचित् भोगनी भी पड़ें तो वह समभाव या शक्ति और धैर्य से भोगकर उन गाढ़ बन्धनों से बद्ध कर्मों का भी क्षय कर सकेगा अथवा उसे उन दुःखों को समभाव से भोगने में किसी दुःख, कष्ट या असन्तोष का अनुभव नहीं होगा। परमात्मा वीतराग ने जैसे अपने जीवन में अपने पूर्वकर्मवश उदय में आये हुए कष्टों को, दुःखों को समभावपूर्वक शान्ति से भोगा था वैसे ही भोग सकेगा। इसलिए प्रत्येक आत्मार्थी, मुमुक्षु या अध्यात्म-पिपासु को अपनी वर्तमान दुःस्थिति से ऊपर उठकर सुस्थित मनःस्थिति में परिवर्तित करने के लिए परमात्म-भक्ति की अनिवार्य आवश्यकता है।

भक्ति से परमात्म-विमुख परमात्म-सम्मुख हो सकता है : कैसे-कैसे ?

परमात्मा से अब तक विमुख रहने से जो दुःख उठाने पड़े, जो कर्मों की भारी परम्परा बढ़ाई जा रही थी, भक्ति से परमात्मा के सम्मुख हो जाने से उन दुःखों से छुटकारा मिल सकेगा, कदाचित् पूर्वबद्ध कर्मवश दुःख आ भी पड़ें तो भी वह दुःखों को परमात्म-भक्तिमय मनःस्थिति से सुखमय बना सकेगा। साथ ही कर्मों की परम्परा आगे बढ़ने से रुक जाएगी। पूर्वकृत कर्मों का फल भी परमात्म-भक्तिरस में मग्न होने से साधक समभाव से भोग सकेगा। इस प्रकार परमात्म-भक्ति के द्वारा जब आत्मा अपनी गति का मोड़ बदलेगी, संसारमार्ग से हटकर सर्वकर्ममुक्ति के मार्ग की ओर उन्मुख होगी तो उसे परम आनन्द के दर्शन होंगे।

वर्तमान युग का मानव अपने स्व-रूप को भूलकर विषय-कषायों तथा राग-द्वेष-मोह आदि विभावों के बीहड़ में भटक रहा है, इससे उसे कहीं भी शान्ति नहीं, सन्तोष नहीं, आनन्द नहीं, उसकी आत्मिक-शक्तियों पर कर्मों की शक्तियाँ हावी हो रही हैं। पर-भावों और विभावों में अत्यासक्त मानव को स्वभाव में, स्व-स्वरूप में स्थिर करने तथा उसकी प्रज्ञा की स्व-रूप में अवस्थिति के लिए यदि कोई माध्यम है या उपाय है तो परमात्म-भक्ति ही है। परमात्म-भक्ति ही एकमात्र शुद्ध उपाय है, जो आत्मार्थी साधक को उनकी भक्ति, श्रद्धा, नाम-स्मरण, गुणोत्कीर्तन आदि के निमित्त से अध्यात्म के सर्वोच्च शिखर तक पहुँचा सकती है। उसके माध्यम से परमात्म-स्वरूप (स्वात्मस्वरूप) को विस्मृत हुआ साधक परमात्म-स्वरूप (शुद्ध आत्म-स्वरूप) को प्राप्त कर सकता है, स्व-स्वरूप में अवस्थिति कर सकता है, सर्वकर्मों से मुक्त परमात्मपद को भी प्राप्त कर सकता हैं। अतः परमात्मा से विमुख आत्मा को परमात्मा के सम्मुख करने वाली अचिन्त्य शक्ति भक्ति में है।

अपने स्वरूप को भूला हुआ मानव प्रभु-भक्ति से शुद्ध आत्म-स्वरूप का भान कर लेता है

अध्यात्मशास्त्र का एक सिद्धान्त है कि मनुष्य श्रद्धामय होता है, जो जिस पर जैसी श्रद्धा रखता है, वह वैसा ही बन जाता है। मनोविज्ञान का भी यह नियम है कि मनुष्य जिस वस्तु का जैसा चिन्तन, विचार, स्मरण, रटन करता है, जैसी श्रद्धा, भावना या दृढ़ इच्छा करता है, कालान्तर में वैसा ही बन जाता है, वैसी ही मनोवृत्ति तथा आत्म-शक्ति प्राप्त कर लेता है।[१] महाराणा प्रताप का नाम-स्मरण करते ही बहुत-से लोगों के हृदय में वीरता के भावों का संचार हो जाता है, भुजाएँ फड़क उठती हैं। वहाँ महाराणा प्रताप आकर वीरता के भाव भर जाते हैं या भुजाएँ फड़काते हैं, ऐसा कुछ नहीं है। किन्तु महाराणा प्रताप का ज्वलन्त आदर्श

---

१. श्रद्धामयोऽयं पुरुषः, योन्यच्छ्रद्धः स एव सः। —*भगवद्गीता, अ. १७, श्लो. ३*

और उनके जीवन के संस्मरण मन-मस्तिष्क में चलचित्र की तरह घूमने लगते हैं, वही व्यक्ति के हृदय में वीरता की बिजली भर देता है। इसी प्रकार अरिहन्त और सिद्ध-परमात्मा की भक्ति उनका श्रद्धापूर्वक नाम-स्मरण, बहुमान, आदर एवं गुणगान, उपासना, स्तुति आदि के रूप में करने से भी व्यक्ति अर्हत्पद या सिद्धपद प्राप्त कर सकता है, बशर्ते कि वह अपनी आत्मा में वैसे ही आध्यात्मिक आदर्श की भावना भरे, उन्हीं का ध्यान, नाम-स्मरण, गुण-रटन करे, उनके जैसे ही स्व-भाव में या शुद्ध आत्म-गुणों में रमण करने का पुरुषार्थ करे।

इसी तथ्य का समर्थन करते हुए उपाध्याय श्री देवचन्द्र जी कहते हैं–

"अजकुलगत केशरी लहे रे, निजपद सिंह निहाल।
तिय प्रभु भक्ते भवी लहे रे, आतमशक्ति संभाल॥"[1]

एक सिंह-शिशु अपनी माँ से बिछुड़कर झाड़ी में दुबककर बैठा था। सन्ध्या के झुटपुटे में एक गड़रिया अपनी भेड़ों को हाँकता हुआ उधर से जा रहा था। अँधेरे में उसे ऐसा मालूम हुआ कि यहाँ भेड़ का बच्चा छिपा हुआ है। उसने हलके हाथों से लाठी के दो-चार प्रहार किये। अतः सिंह का बच्चा भयभीत होकर झाड़ी से बाहर निकला और पास ही खड़े भेड़ों के झुण्ड में शामिल हो गया। वह स्वयं को भेड़ का बच्चा समझकर भेड़ों की तरह सब चेष्टाएँ करने लगा। गड़रिये ने उसे पाल लिया और भेड़ों की तरह ही लाठी से उसे हाँकता था। एक दिन वह सब भेड़ों तथा सिंह-शिशु को लेकर नदी के किनारे आया। नदी के उस पार बब्बर शेर खड़ा था। बब्बर शेर ने जोर से गर्जना की। सिंह-शिशु ने नदी के पानी में अपना चेहरा देखा तो उसे भी अपने स्वरूप का भान हो गया कि मेरी आकृति और प्रकृति तो इस बब्बर शेर की-सी है। उस सिंह-शिशु को अपने स्वरूप का भान होते ही उसने जोर से दहाड़ मारी, उसका भेड़पन भाग गया, उसमें सिंह-सी वीरता आ गई। वह भी सिंह के समान दहाड़ता हुआ जंगल में चला गया।

उक्त सिंह-शिशु के समान जो आत्मा अनादिकाल से मोह और अज्ञान के अन्धकारवश अपने अर्हत्स्वरूप या सिद्धस्वरूप को भूली हुई है, वह इन परमात्मद्वय की भक्ति से अपने शुद्ध आत्म-स्वरूप का भान कर लेती है। ज्यों ही परमात्मा के स्वरूप को भक्ति द्वारा व्यक्ति जान लेता है, त्यों ही उसे अपने शुद्ध आत्म-स्वरूप का भान हो जाता है और तब वह अपनी आत्मा को प्रतिक्षण अर्हंत एवं सिद्ध परमात्मा के गुणों और उनकी स्तुति-भक्ति द्वारा जाग्रत एवं स्व-रूप साधना में अनवरत प्रयत्नशील रख पाता है।[2]

---

१. 'देवचन्द्र-चौबीसी अजित जिनस्तवन' से भाव ग्रहण

२. 'पानी में मीन पियासी' (आचार्य देवेन्द्र मुनि) से भाव ग्रहण, पृ. २७५

परमात्म-भक्ति से वायरलैस सैट के समान परमात्मा से सम्पर्क संभव

प्रसिद्ध प्राकृतिक चिकित्सक 'डॉ. हेनरी लिंडलहर' अपनी पुस्तक '**प्रैक्टिस ऑफ नेचुरल थेरोप्यूटिक्स**' में लिखते हैं—हम जिस प्रकार का, जिस आत्मा का ध्यान सतत करते हैं, उससे हमारा गाढ़ सम्पर्क उसी प्रकार स्थापित हो जाता है, जिस प्रकार वायरलैस के द्वारा संसार के विभिन्न रेडियो-स्टेशनों से सम्पर्क हो जाता है। प्रत्येक मनुष्य का मस्तिष्क वायरलैस सैट के समान है, जो हर समय श्रद्धा-भक्तिवश वीतराग भगवान के उत्तमोत्तम गुणों का स्मरण करके अपने जीवन में सुषुप्त शुद्ध आत्म-गुणों को जाग्रत और अनवरत गुण-स्मरण कर सकता है तथा अपनी आत्मा को परमात्मा से, मोक्ष से या परमात्मपद से जोड़ सकता है, परोक्षरूप से[१] परमात्मा से भक्तिभावों द्वारा मिलन कर सकता है।

विनाशी को छोड़कर अविनाशी के साथ प्रीति-भक्ति में भय, दुःख, क्लेश दूर हो जाता है

आज अधिकांश व्यक्ति सांसारिक पर-पदार्थों के प्रति तथा आसक्ति, मोह, राग-द्वेष, अहंकार आदि विभावों के प्रति प्रीति-सम्बन्ध जोड़ते हैं, जिससे उन्हें दुःख, पश्चात्ताप, क्लेश, असन्तोष, वैर-विरोध, कर्मबन्ध आदि का पुनः-पुनः वेदन होता रहता है, परन्तु परमात्मा के साथ एक बार भी प्रीतिपूर्वक भक्ति—निरुपाधिक भक्ति दृढ़ हो जाए तो वह पर-भावों और विभावों के प्रति प्रीति से होने वाले दुःख, क्लेश आदि को तथा अशुभ कर्मबन्धों को रोकने में सक्षम हो जाता है। क्योंकि उसने अब विनश्वर पर-पदार्थों से या व्यक्तियों से प्रीति के बदले अविनश्वर (अविनाशी) परमात्मा या शुद्ध आत्मा के साथ प्रीति = भक्ति के रूप में निरुपाधिक सम्बन्ध जोड़ लिया है। इस कारण उसे किसी खतरे या अनिष्ट की आशंका नहीं होती। 'नारदभक्तिसूत्र' में कहा गया है—"भक्ति उसके (अव्यक्त प्रभु के) प्रति परम प्रेमरूपा है। परम प्रेमरूपा का अर्थ है—कामना-वासना-अहंकार-ममकार से रहित, नामरूप से आकार से रहित विदेह परमात्मा के प्रति भक्ति ही परम प्रेमरूपा है। आगे कहा है—"वह भक्ति अमृतस्वरूपा है, जिसे प्राप्त कर मनुष्य सिद्ध हो जाता है, अमर हो जाता है और तृप्त हो जाता है।" अर्थात् जिसने परम प्रेम जाना, उसके अहंकार की मृत्यु हो गई, मैं भाव छूट गया, तब जो मिलता है, वह अमृतरूप ही होता है। परमात्मा से जुदा अपने को मैं कहने का भाव मिट गया है, इसलिए वह तृप्त हो जाता है। अर्थात् जिस भक्ति के प्राप्त होने पर मनुष्य न किसी वस्तु की इच्छा करता है, न किसी से द्वेष करता है, न आसक्त होता है और न ही विषय-भोगों में उसका उत्साह होता है। आगे कहा है—उस भक्ति के प्राप्त होने पर

---

१. 'अखण्डज्योति, जून १९८०' से भाव ग्रहण, पृ. ६

मनुष्य उन्मत्त हो जाता है, स्तब्ध हो जाता है और आत्माराम हो जाता है।[1] योगीश्वर आनन्दघन जी ने ऋषभदेव भगवान की स्तुति करते हुए कहा है–

"प्रीत सगाई रे जगमां सहु करे, प्रीत सगाई न कोय।
प्रीत सगाई रे निरुपाधिक कही, सोपाधिक धन खोय॥"[2]

परमात्म-भक्ति के अमृत के आस्वाद में मस्त आकांक्षाओं पर नियंत्रण

इन्द्रिय-विषयों के स्वाद ऐसे है, जो एक बार चख लेता है, उसे बार-बार उसी चेष्टा के लिए वे खींचते रहते हैं। इसी प्रकार पद, प्रतिष्ठा, मान-सम्मान, प्रशंसा, अधिकार, सत्ता आदि के स्वाद भी एक बार तृप्त होने से ही समाप्त नहीं होते, वे दिनानुदिन अधिकाधिक तीव्र होते चले जाते हैं। अनादिकालीन संस्कारवश उनकी भूख और माँग अनियंत्रित और तीव्र बनती जाती है। इसी प्रकार कषायों और राग-द्वेषों का रस भी तीव्रतर होता जाता है। वासना, तृष्णा, अहंता-ममता, आसक्ति आदि की पूर्ति के लिए सामान्य मानव की समस्त बौद्धिक, मानसिक, वाचिक और कायिक गतिविधियाँ सक्रिय रहती हैं। किन्तु जिसे परमात्म-भक्ति के अमृत का आस्वाद मिल जाता है, वह उससे तृप्त होकर इन्द्रिय-विषयों का उपभोग करता हुआ भी राग-द्वेष या कषायों से अलिप्त रहता है अथवा उन पर नियंत्रण कर लेता है अथवा उसे इतनी आत्मिक-तृप्ति मिल जाती है कि उसके जीवन में विषय-कषायों पर या राग-द्वेषादि पर नियंत्रण आ जाता है। परमात्म-भक्ति के रस में इतना मस्त–मग्न हो जाता है कि वह शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक, वैषयिक, आकांक्षाओं पर भी अधिकाधिक नियंत्रण कर लेता है। वस्तुतः परमात्म-प्रीति की सार्थकता, पराकाष्ठा, उदात्तता या सरसता परमात्म-भक्ति में होती है।

परमात्म-भक्ति से सार्थक आत्म-शक्ति, मनःशक्ति प्राप्त होती है

इसलिए आत्मा को परमात्मा से जोड़ने वाली यदि कोई सरल, सरस, उदात्त और सार्थक शक्ति है, तो वह भक्ति है। भक्ति में असत् से सत् की ओर, अन्धकार से प्रकाश की ओर तथा मर्त्यत्व से अमरत्व की ओर ले जाने की शक्ति है।[2] परमात्म-भक्तिमान् मनुष्य को कोई भी कष्ट, दुःख, विपत्ति, पीड़ा आदि भावरूप नहीं लगती।[3]

---

१. सा त्वस्मिन् परम-प्रेमरूपा॥२॥
अमृतस्वरूपा च॥३॥
यल्लब्ध्वापुमान् सिद्धो भवति, अमृतो भवति, तृप्तो भवति॥४॥
यत्प्राप्य न किंचिदपि वांछति, न शोचति, न द्वेष्टि, न रमते, नोत्साही भवति॥५॥
यज्ज्ञात्वा मत्तो भवति, स्तब्धो भवति, आत्मारामो भवति॥६॥ –*नारदभक्तिसूत्र*

२. देखें–वैदिक प्रार्थना–असतो मा सद्गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय, मृत्योर्मा अमृतंगमय।

३. 'ऋषभजिन स्तवन' (आनन्दघन जी कृत) से भाव ग्रहण

परमात्म-भक्ति बाह्यकरणों और अन्तःकरणों को शक्ति और आनन्द से भर देती है

तत्त्वदृष्टि से देखा जाए तो शुद्ध आत्मा के निजी गुण हैं—आनन्द (अव्याबाध आत्मिक-सुख) और आत्मिक-शक्ति (बल-वीर्य)। ये दोनों गुण आत्म-बाह्य राग-द्वेषादि विभावों और सजीव-निर्जीव पर-भावों (पर-पदार्थों) में अत्यधिक रमणता के कारण दब जाते हैं, कुण्ठित और आवृत हो जाते हैं। यदि परमात्मा के प्रति निष्काम-भक्ति, परमात्म-गुणों के प्रति प्रीति की स्फुरणा अन्तःकरण में प्रादुर्भूत हो जाती है, तो समस्त वाचिक-कायिक करणों और मन-बुद्धि आदि अन्तःकरणों को आनन्द और शक्ति से ओतप्रोत कर देती है। उसके मन-मस्तिष्क में तथा अन्तस्तल में उस उमंग की, मस्ती की हर लहर आनन्द, उल्लास और आत्म-गुणों को विकसित करने की पुरुषार्थ-प्रेरणा के रूप में समग्र व्यक्तित्व को आप्लावित कर देती है।

इस प्रकार परमात्म-भक्ति से अपने में आत्म-गुणों की अभिव्यक्ति और परभावों-विभावों पर नियंत्रण करने, उनसे किनाराकसी करने तथा उन पर संयम करने की अगाध शक्ति आ जाती है। आत्म-गुणों, आत्म-भावों तथा परमात्म-भावों की उपलब्धि के लिये व्यक्ति के भीतर से गजब की शक्ति फूट पड़ती है। जब व्यक्ति का अभीष्ट प्रयोजन परमात्मा और उनके गुणों के प्रति अगाध भक्ति हो जाता है, तब उस प्रयोजन की पूर्ति के लिए उसमें पुरुषार्थ की आश्चर्यजनक शक्ति आ जाती है। उस कार्य में निष्ठापूर्वक तल्लीन होने से उसे अकथ्य आनन्द और उल्लास मिलता है।

महोपाध्याय यशोविजय जी इसी तथ्य को स्पष्ट करते हैं—

"सारमेतन्मया लब्धं श्रुताब्धेरवगाहनात्।
भक्तिर्भागवती बीजं परमानन्द-सम्पदाम्॥"[1]

—समस्त श्रुत-सागर (शास्त्ररूपी समुद्र) का अवगाहन करने से मुझे उसमें से यह सार मिला कि भगवान की भक्ति ही परमानन्द-सम्पदाओं का बीज है।

परमात्म-भक्ति से सहिष्णुता, निर्भयता और आनन्द का उल्लास

राजगृह नगर का सुदर्शन श्रमणोपासक भगवान महावीर की भक्ति में इतना तल्लीन हो गया कि उनके दर्शन और प्रवचन-श्रवण के लिये नगर के बाहर गुणशीलक उद्यान जाने में बीच में यक्षाविष्ट अर्जुनमाली का भयंकर आतंक और मारणान्तिक उपसर्ग उपस्थित था, फिर भी तथा अनेक लोगों के मना करने पर भी

१. 'अष्टकप्रकरण' (महोपाध्याय यशोविजय जी) से भाव ग्रहण

एवं विकराल अर्जुनमाली को मुद्गर घुमाते हुए सामने देखकर भी बेधड़क होकर जा रहा था। शास्त्रकार कहते हैं-(भगवद्-भक्ति के प्रभाव से) वह जरा भी भयभीत, त्रस्त, उद्विग्न या क्षुब्ध नहीं हुआ। उसका हृदय जरा भी विचलित और भ्रान्त नहीं हुआ।'' इतनी सहन-शक्ति, इतनी मस्ती, इतनी निर्भयता और निश्चलता सुदर्शन श्रमणोपासक में कहाँ से आ गई थी? वह परमात्म-भक्ति के प्रभाव का परिणाम था।[1] अर्जुनमालाकार में अनगार बन जाने के पश्चात् जब भगवान महावीर के प्रति श्रद्धा, निष्ठा और आज्ञा-पालन के रूप में भक्ति जाग्रत हो गई, तब बेले (दो उपवास) के पारणे के दिन अपने पूर्व जीवन में राजगृही के जिन लोगों के कुटुम्बियों की यक्षाविष्ट-अवस्था में हत्या की थी, उसी नगर में उन्हीं या उनसे परिचित लोगों के घरों में भिक्षा के लिये जाने पर उन्हें उनके रोष, द्वेष, ताड़न, पीड़न, तर्जन, अपशब्द और आक्रोश का शिकार होना पड़ा तथा आहार-पानी का भी पर्याप्त योग न मिला, तो भी उनके मन, बुद्धि, वाणी और काया में रंचमात्र भी हिंसक प्रतिक्रिया कदापि प्रादुर्भूत या उदित नहीं हुई, क्रोध, रोष, द्वेष, विरोध आदि के रूप में मन जरा भी क्षुब्ध नहीं हुआ। उसके पीछे मुख्य कारण था-भगवदाज्ञा, भगवत्-प्रीति, आत्मा की नित्यता, क्षमादि आत्म-गुणों के प्रति श्रद्धा के रूप में परमात्म-भक्ति। जिसके कारण उन्हें उस कष्ट, उपसर्ग और परीषह को सहने में आत्म-शक्ति और आनन्द की अनुभूति हुई। इस प्रकार परमात्म-भक्ति के प्रभाव से उनमें इतनी सहन-शक्ति, तितिक्षा-क्षमता और समता की सानन्द आराधना आ गई कि जिस परमात्मपद-प्राप्ति अथवा सर्वकर्ममुक्ति की उपलब्धि के लिए संयम (मुनिधर्म) अंगीकार किया था, उसे सिर्फ छह महीने में सिद्ध कर लिया और सिद्ध-बुद्ध-मुक्त, अव्याबाध-सुख-सम्पन्न परमात्मा बन गए।[2]

गजसुकुमाल मुनि भी इसी प्रकार परमात्मा की आज्ञाराधनारूप भक्ति के प्रभाव से सोमल ब्राह्मण द्वारा दिये गए घोर मारणान्तिक उपसर्ग को समभाव से सहकर, सोमल के प्रति मन से भी द्वेष न करते हुए सिर्फ एक ही रात्रि में

---

१. तए णं से सुदंसणे समणोवासए मोग्गरपाणिं जक्खं एज्जमाणं पासइ, पासित्ता अभिए, अतत्थे, अणुविग्गे, अक्खुभिए, अचलिए असंभंते ···· ।

–अन्तकृद्दशासूत्र, वर्ग ६, अ. ३, सू. पा. ११

२. अप्पेगइया अक्कोसंति, अप्पेगइया हीलंति, णिंदंति, खिसंति, गरिहंति, तज्जेंति, तालेंति। ···· आओसेज्जमाणे जाव तालेज्जमाणे तेसिं मणसा वि अप्पउस्समाणे सम्मं सहइ, सम्मं खमइ, सम्मं तितिक्खइ, सम्मं अहियासेइ ····। तए णं से अज्जुणए अणगारे अदीणे, अविमणे, अकलुसे, अणाविले, अविसाइ, अपरितंतजोगी अडइ। तेणं उरालेणं तिउलेणं पयत्तेणं पग्गहिएणं महाणुभागेणं तवोकम्मेणं अप्पाणं भावेमाणे ···· जस्सट्ठाए कीरइ जाव सिद्धे।

–अन्तकृद्दशांग, वर्ग ६, अ. ३

आत्म-भावों—परमात्म-भावों में लीन होकर सर्वकर्मों से मुक्त, सिद्ध-बुद्ध परमात्मा बन गए।[1]

सर्वस्व न्योछावर करने की शक्ति तथा सहन-शक्ति मिलती है—परमात्म-भक्ति से

निष्कर्ष यह है कि जिस प्रकार राष्ट्र के प्रति भक्तिमान् मनुष्य राष्ट्र की सेवा के लिए अपना तन, मन, धन, साधन और प्राण तक न्योछावर कर देते हैं। ऐसे अगणित मानव हुए हैं, होंगे, जिन्होंने राष्ट्र और समाज के लिए सर्वस्व होम दिया या होमते हुए नहीं हिचकते, फिर भी उन्हें आज कोई जानता तक नहीं। अपने जीवन में उन्हें कोई भौतिक लाभ नहीं मिलता, फिर भी वे हँसते-हँसते सर्वस्व उत्सर्ग कर देते हैं। ऐसे समाज-सेवकों या राष्ट्रभक्तों को प्रायः उपेक्षा, तिरस्कार, अपमान और अभावों तक का सामना करना पड़ता है। सांसारिक दृष्टि से उन्हें प्रायः हानि ही उठानी पड़ती है; इसी प्रकार पूर्वोक्त प्रकार के परमात्म-भक्तों को भी या भगवदाज्ञाराधकों को भौतिक दृष्टि से प्रायः हानि ही उठानी पड़ती है। इससे स्पष्ट है कि ऐसे भक्ति-परायण साधकों को वैसी सहन-शक्ति और आनन्दोल्लास की प्राप्ति के लिए पुरुषार्थ की प्रेरणा लाभ-हानि के आकर्षण से नहीं मिलती, उन्हें प्रेरणा मिलती है—परमात्मा के प्रति निरुपाधिक-निःस्वार्थ-प्रीतिरूप, आज्ञाराधनारूप या उपासनारूप भक्ति से। अपने इष्ट के प्रति भक्ति प्रत्येक धर्म का आधारतत्त्व रहा है। जो व्यक्ति भक्तिशून्य है, वह चाहे जितना विद्वान् हो, तार्किक हो या वैज्ञानिक हो, उसकी अपनी शारीरिक, मानसिक या भावनात्मक पीड़ा के समय उसकी उपशान्ति में ज्ञान काम नहीं देता, वह कुण्ठित हो जाता है, उस समय परम-आप्त परमात्मा के प्रति भक्ति ही उसे शान्ति, सन्तुष्टि, आश्वासन एवं सांत्वना देने में *कार्यकर होती है। भक्तिरस में सराबोर होकर व्यक्ति अपनी समस्त पीड़ा, वेदना,* कष्ट एवं विपदा को विस्मृत करके आनन्द, उल्लास और प्रसन्नता का अनुभव करता है। वह उस दुःख या कष्ट को भगवान का प्रसाद, ज्ञान-प्राप्ति की खान, आत्मा की परमात्म-भक्ति की परीक्षा तथा कर्मनिर्जरा का अनायास प्राप्त अवसर मानकर परमात्म-भक्ति के प्रभाव से हँसते-हँसते उसका स्वागत करता है।[2]

---

१. तए णं से गयसुकुमाले अणगारे सोमिलस्स माहणस्स मणसा वि अप्पदुस्समाणे तं उज्जलं जाव दुरहियासं अहियासेइ। तए णं तस्स गयसुकुमालस्स अणगारस्स तं उज्जलं जाव अहियासेमाणस्स सुभेणं परिणामेणं पसत्थज्झवसाणेणं तयावरणिज्जाणं कम्माणं खएणं कम्मरयविकिरणकरं अपुव्वकरणमणुप्पविट्ठस्स अणंते अणुत्तरे जाव केवलवरनाण-दंसणे समुप्पणे, तओ पच्छा सिद्धे जावप्पहीणे। —*अन्तकृद्दशासूत्र, वर्ग ३, अ. ८*

२. (क) 'अखण्डज्योति, अप्रेल १९७९' से भाव ग्रहण, पृ. २६

(ख) 'वीतराग वन्दना विशेषांक' (जैन भारती) से भाव ग्रहण, पृ. ९६-९७

परमात्म-भक्ति में भक्त के जीवन-परिवर्तन का अपूर्व सामर्थ्य

अन्य जैन-ग्रन्थों में भी कहा गया है–"जिनेश्वरवीतरागदेवों की भक्ति से पूर्वोपार्जित संचित कार्यों का क्षय हो जाता है, क्योंकि आत्मिक-गुणों में उत्कृष्ट स्थिति को प्राप्त परमात्मा का बहुमान (भक्ति) कर्मरूपी वन को जलाने में दावानल के समान है।" निष्कर्ष यह है कि ज्ञानादि समस्त श्रेष्ठ साधनाओं का विकास भी भक्ति की भव्य-शक्ति के द्वारा ही होता है। परमात्म-भावना का अनमोल बीज भी भक्ति में है। ऐसी अटल, अनिर्वचनीय एवं प्रभावशाली भक्ति, शक्ति, युक्ति और मंगलमयी मुक्ति को प्राप्त करा देने की सामर्थ्य है। यह बाह्य-दशा से आभ्यन्तर-दशा प्राप्त कराकर परमात्म-दशा की ओर ले जाती है। कहना होगा कि भक्ति में भवभ्रमण का अन्त करने की शक्ति है, साथ ही उसमें सामर्थ्य है–स्वरूप में अवस्थिति कराने की। यह क्रमशः अशुभ से शुभ में और शुभ से शुद्धता में ले जाने वाली है। सचमुच, भक्ति के प्रबल प्रभाव से व्यक्ति के जीवन का कायापलट हो जाता है।[1]

ऐसे उदासीन या विमुख परमात्मा की भक्ति क्यों करें ?

कोई क़ह सकता है कि जैन-सिद्धान्त की दृष्टि से निरंजन, निराकार, विदेहमुक्त, सिद्ध परमात्मा या जीवन्मुक्ति अरिहन्त परमात्मा वीतराग होने के कारण कुछ भी देते-लेते नहीं हैं। वे न तो किसी को वरदान या आशीर्वाद देते हैं और न ही किसी को शाप। वे न तो किसी को सुखी या दुःखी करते हैं और न ही किसी को धनी या निर्धन, विद्वान् या मूर्ख अथवा मनुष्य, तिर्यञ्च, नारक या देव बनाते हैं। जैनदर्शन आत्मिक ऐश्वर्य-सम्पन्न वीतराग परमात्मा को जगत् का कर्त्ता-हर्त्ता-धर्त्ता नहीं मानता, न ही जैनदृष्टिमान्य ईश्वर किसी के कर्म का फल लेते-देते हैं। जैनदृष्टिमान्य परमात्मा या ईश्वर किसी के द्वारा स्तुति, गुणगान या प्रशंसा करने से न तो प्रसन्न होकर किसी को वरदान, आशीर्वाद, पापमाफी आदि देते हैं और न ही निन्दा, आलोचना या आक्षेप-अपशब्द से नाराज होकर किसी को शाप देते हैं, न ही उसका अहित या नुकसान करते हैं, न ही उस पर शास्त्र-प्रहार करते हैं, न वे क्षति, हानि पहुँचाते हैं। चोरी, ठगी, लूटपाट आदि पापकर्मों के करने वालों को वीतराग परमात्मा दण्ड नहीं देते और न ही सज्जनों, धर्मिष्ठ पुरुषों आदि को पुरस्कार, पद, प्रतिष्ठा, सत्ता या धन देते-दिलाते हैं।

परमात्म-भक्ति का वास्तविक स्वरूप और उद्देश्य न समझने वाले अधिकांश लोग कह दिया करते हैं–जब परमात्मा हमें संसार के नाना दुःखों से छुटकारा नहीं

---

१. (क) भत्तीए जिणवराणं खिज्जंति पुव्वसंचियकम्मा।
गुण-पगरिस-बहुमाणो, कम्म-वण-दवाणला जेण॥ *–आवश्यकनिर्युक्ति*

(ख) 'मिले मन भीतर भगवान' (विजयकलापूर्णसूरि जी म.) से भाव ग्रहण, पृ. ४३

दिला सकता, न ही वह धन, धान्य, स्त्री, पुत्र या रोटी-कपड़ा अथवा कोई पद, प्रतिष्ठा या सत्ता दे या दिला सकता है, न ही हमारे शत्रुओं को दण्ड और मित्रों को पुरस्कार दे या दिला सकता है अथवा हमारे लिये रोटी, रोजी, सुरक्षा और शान्ति का प्रबन्ध नहीं कर सकता, हमें विपत्तियों और कष्टों से मुक्त नहीं करा सकता; अर्थात् जब वह परमात्मा हमारे कुछ काम ही नहीं आता, तब हमें उसे मानने, उसकी स्तुति-भक्ति-प्रार्थना करने से या उसकी अर्चा-पूजा करने से क्या लाभ है? क्यों हम हमसे विमुख ऐसे परमात्मा की भक्ति करने में अपने समय, श्रम और शक्ति का व्यय करें?[1]

यह भक्ति नहीं, भक्ति का नाटक है, सौदेबाजी है

वस्तुतः ऐसे शंकाशील व्यक्ति परमात्मा के तथा उनकी भक्ति के वास्तविक स्वरूप से तथा भक्ति के उद्देश्य से अनभिज्ञ हैं अथवा वे अन्ध-श्रद्धावश लकीर के फकीर बनकर अपने जीवन में जप, तप, ध्यान, धर्माचरण आदि का कुछ भी पुरुषार्थ न करके तथाकथित सकाम-भक्ति के प्रवाह में बह जाते हैं। ऐसे लोग स्व-सम्प्रदाय-मत-परम्परा से बँधी-बँधाई विविध कामनाओं से परिपूर्ण अन्ध-भक्ति की पगडंडी पर चलते रहते हैं। परमात्म-भक्ति का उद्देश्य परमात्मा से किसी प्रकार के सांसारिक लाभ या सुख पाने की या मनःकल्पित सुख के साधन देने की माँग करना नहीं है। अगर परमात्मा उनकी लौकिक मनोकामनाओं को पूर्ण करें तो वे उनकी भक्ति करेंगे, अन्यथा नहीं, यह भक्ति नहीं, सौदेबाजी है, व्यापार है। ऐसे लोग परमात्मा को अपना सेवक, नौकर, कर्मकर या सौदेबाज से अधिक दर्जे का नहीं समझते, जबकि वीतराग परमात्मा का दर्जा संसार-मार्ग से बिलकुल पृथक् है, वह समता और वीतरागता की पराकाष्ठा पर पहुँचे हुए अनन्त ज्ञानादि स्वभाव-निष्ठ परम शुद्ध आत्मा का है। इसी प्रकार परमात्मा की छवि या प्रतिकृति के सामने केवल नाच-गाकर या केवल उनके स्तोत्र या भक्ति-गीत गाकर उन्हें फुसलाना, उन्हें खुश करना, अपने पाप माफ करना या लोगों में झूठमूठ भक्तिमान् कहलाना, यह भी भक्ति की विडम्बना है, चापलूसी है, रिश्वत देना है।

निष्काम-भक्ति और सकाम-भक्ति में दिन-रात का अन्तर

भक्ति निष्काम होनी चाहिए, सकाम नहीं। परमात्मा की भक्ति का दिखावा या ढोंग करना अथवा आडम्बर या प्रदर्शन करके समाज में प्रतिष्ठा पाने के लिए बड़े-बड़े समारोहों का आयोजन करना-कराना अथवा नामबरी के लिए अखण्ड जाप, अखण्ड कीर्तन आदि करना-कराना या परमात्म-भक्ति की ओट में अपना कोई भौतिक या लौकिक स्वार्थ सिद्ध करना भी जैनदृष्टि से परमात्म-भाव की

---

१. 'पानी में मीन पियासी' से भाव ग्रहण, पृ. २७६

भक्ति नहीं, पर-भावों या विभावों की भक्ति है। जैनधर्म में प्राचीनकाल में स्तुति या भक्ति का प्रयोजन परमात्मा से कुछ पाना नहीं रहा।[1] आचार्य समन्तभद्र ने 'देवागम स्तोत्र' में कहा है–"प्रभो ! न तो मैं आपको प्रसन्न करने के लिए आपकी भक्ति या पूजा करता हूँ, क्योंकि मैं जानता हूँ कि आप वीतराग हैं, मेरी पूजा से प्रसन्न होने वाले नहीं हैं। इसी प्रकार आप निन्दा करने से भी कुपित नहीं होंगे, क्योंकि आप विवान्त-वैर हैं। मैं तो आपकी भक्ति केवल इसलिए करता हूँ कि आपके पुण्य गुणों की स्मृति से मेरा चित्त पापमल से रहित होगा।"[2]

यद्यपि परवर्ती जैन-साहित्य में यत्र-तत्र सकाम स्तुतियों, प्रार्थनाओं एवं भक्ति-गीतों के रूप देखे जाते हैं, किन्तु सही माने में वीतरागत्व एवं मोक्ष की कर्ममुक्ति की आकांक्षी जैन-परम्परा में फलाकांक्षा से युक्त सकाम-भक्ति का कोई स्थान नहीं हो सकता, क्योंकि इह-पारलौकिक फलाकांक्षा को निदान-शल्य कहा गया है। जैन-कवि धनंजय ने परमात्म-भक्ति का जैनदृष्टि से यथार्थ आदर्श प्रस्तुत करते हुए कहा है–"प्रभो ! आपकी स्तुति करके मैं आपसे कोई वरदान नहीं माँगना चाहता, क्योंकि कुछ भी माँगना तो दीनता है। फिर आप हैं–राग-द्वेष से रहित वीतराग। बिना राग के कौन किसकी आकांक्षा पूरी करता है। पुनः छायादार वृक्ष के नीचे बैठकर छाया की याचना करना तो व्यर्थ ही है। वह तो स्वतः प्राप्त हो जाती है।"[3] अतः जैन-परम्परा में भक्ति का स्रोत निष्कामता है, सकामता तो समसामयिक परम्पराओं से आई है। वास्तव में स्तुति उपास्य के गुणों का उत्कीर्तन है। श्रद्धापूर्वक उत्कीर्तन करने का उद्देश्य अर्हंत, सिद्ध या तीर्थंकर के गुणों को अपनाना है और मुख्य प्रयोजन है–आत्मा को शुद्ध स्वभावदशा की उपलब्धि।

इस उद्देश्य के विपरीत जहाँ अपने किसी भौतिक या लौकिक स्वार्थसिद्धि या अपने पापों पर पर्दा डालने या स्वर्ग के प्रमाण-पत्र लेने की दृष्टि से बाह्य-भक्ति, शाब्दिक-भक्ति, सकाम-भक्ति या भावविहीन-भक्ति या बक-भक्ति की जाती है, वहाँ उस भक्ति से कर्मक्षय होने के बदले अशुभ कर्मों का बन्ध ही होता है। कोणिक अजातशत्रु प्रखर सत्यवादी भगवान महावीर से स्वर्ग का प्रमाण-पत्र लेने तथा अपने कृत पापों पर पर्दा डालने हेतु उनकी बाह्य-भक्ति बहुत करता था। किन्तु न तो भगवान महावीर से उसे स्वर्ग का प्रमाण-पत्र मिला और न ही अपने कृत पापों पर पर्दा पड़ा। गोस्वामी तुलसीदास जी ने ऐसे स्वार्थी भक्तों के लिए कहा है–

"वंचक भक्त कहाय राम के, किंकर कंचन कोह काम के।"

---

१. 'पानी में मीन पियासी' (आचार्य देवेन्द्र मुनि) से भाव ग्रहण, पृ. २७७-२७८

२. 'देवागम स्तोत्र' (आचार्य समन्तभद्र) से भाव ग्रहण

३. इति स्तुतिं विधाय दैन्यात्, वरं न याचे त्वमुपेक्षकोऽसि।
छाया तरुं संश्रयतः स्वतः स्यात्, कश्छायया याचितयाऽऽत्मलाभः? —*महाकवि धनंजय*

संत कबीर ने वर्तमान युग में सस्ती भक्ति से परमात्मा को रिझाने वाले लोगों को सच्ची भक्ति का सूत्र बताते हुए कहा है—

"भक्ति भगवन्त की बहुत बारीक है, शीश सौंप्या बिना भक्ति नांही।
नाचना कूदना, ताल का पीटना, रांडिया खेल का काम नांही॥
कहत 'कबीर' सूरत एकत्व है, जीवता मरे सोही भक्त भाई॥"[1]

इससे स्पष्ट है कि परमात्म-भक्ति किसी लौकिक-भौतिक लाभ या स्वार्थ की, या प्रसिद्धि, वाहवाही या कीर्ति की लालसा से या विषयों की प्राप्ति की आशा से करना कथमपि उचित नहीं, यह भक्ति नहीं, भक्ति का नाटक है।

ऐसी तामसिक अन्ध-भक्ति तो सर्वथा त्याज्य है

इसी प्रकार परमात्मा की या किसी इष्ट देवी-देव की भक्ति के नाम पर निर्दोष पशुओं का वध करना, बलि या कुर्बानी देना, मदिरा या मादक वस्तुएँ खा-पीकर नाचना, देवदासियाँ बनाकर व्यभिचार-लीला फैलाना या निर्दोष मानवों पर अत्याचार करना, रक्तपात व कत्लेआम करना, जबरन धर्म-परिवर्तन कराना अथवा स्वर्ग की हुंडी लिखकर भोलीभाली जनता से धन ऐंठना, ये सब क्रूरकाण्ड करना और बाहर से भक्ति का दिखावा या ढोंग करना, तामसिक या अन्ध-भक्ति है। ऐसी अन्ध-भक्ति से मनुष्य कर्मक्षय करने के बदले घोर कर्मबन्ध करके जन्म-मरणादिरूप संसार की भूलभुलैया में ही भटकता रहता है।[2]

जैन और वैदिकादि परम्परा की परमात्म-भक्ति में मूलभूत अन्तर

अतः भगवान या परमात्मा की भक्ति के रूप में जैन और वैदिक परम्परा में मूलभूत अन्तर यह है कि जैन-परम्परा ईश्वर या परमात्मा को अनन्त ज्ञान-दर्शन-आनन्द-शक्ति से सम्पन्न मानते हुए भी उसे जगत् का कर्त्ता-धर्त्ता-संहर्त्ता नहीं मानती, जबकि वैदिक-परम्परा ईश्वर को जगत् का कर्त्ता-धर्त्ता-संहर्त्ता मानती है।

ईश्वरकर्तृत्ववादी परम्परा की परमात्म-भक्ति : पराश्रयी और परापेक्ष

जैसे बचपन में बालक की वृत्ति-प्रवृत्ति पराधीन—परापेक्षी रहती है। प्रारम्भ में चलने, खाना खिलाने-पिलाने, नहलाने-धुलाने आदि प्रायः प्रत्येक प्रवृत्ति की पूर्ति के लिए बालक माँ या किसी भी अन्य अभिभावक के सहारे की अपेक्षा रखता है, वह पराश्रित रहता है। इसी प्रकार वैदिकादि ईश्वर कर्तृत्ववादी परम्परा का भक्त भगवान के समक्ष बालक की तरह बेसहारा होकर प्रत्येक छोटी-बड़ी प्रवृत्ति के

---

१. 'कबीर की साखी' से भाव ग्रहण
२. 'पानी में मीन पियासी' से भाव ग्रहण, पृ. २८०

लिए ईश्वर या भगवान का सहारा ढूँढ़ता है। भक्त अपने व्यक्तित्व या स्व-पुरुषार्थ का कोई महत्त्व नहीं समझता। वह भगवान से ही सब कुछ पाने की अपेक्षा रखता है, क्योंकि ऐसे व्यक्ति को अपने स्वरूप और अस्तित्व का तथा मानव-जीवन-प्राप्ति के उद्देश्य का प्रायः बोध नहीं होता। वह भगवान की शरण बात-बात में इसलिए ढूँढ़ता है कि निराशा और कुण्ठा उसके मन को दबोच न ले। परन्तु यह सर्वथा पराश्रित होने की शरण उसे भय से भागना सिखाती है, मुकाबला करना नहीं। वह कष्ट से बचना सिखाती है, उससे लड़ने की क्षमता नहीं जगाती। परन्तु ऐसी भक्ति जैन-कर्मविज्ञान के सिद्धान्त के अनुकूल नहीं है। जैन-सिद्धान्तानुसार व्यक्ति अपने ही प्रयत्नों से अपना आध्यात्मिक उत्थान, उद्धार या पतन या अवसाद कर सकता है। भगवद्गीता भी इस तथ्य की साक्षी है। जैन-मान्यतानुसार स्वयं पापों से मुक्त होने का प्रयत्न न करके केवल भगवान से पापों या कष्टों से मुक्त करने की प्रार्थना करते रहना, प्रकार करते रहना अर्थहीन है। ऐसी परापेक्षी प्रार्थनाओं ने मानव को विवेकशून्य, त्याग-तपविहीन, केवल पराश्रित बना दिया है। यद्यपि भगवद्गीता में लोकसंग्रह की दृष्टि से आर्त्त, अर्थार्थी, जिज्ञासु और ज्ञानी, इन चार प्रकार के भक्तों का उल्लेख है। इनमें से जिज्ञासु और ज्ञानी को छोड़कर शेष दो प्रकार के भक्त बालक की तरह पराश्रित, स्व-पुरुषार्थहीन और केवल भगवद्पेक्ष हैं। ऐसे आर्त्त भक्त को जब समस्याएँ आ घेरती हैं या वह किसी से पीड़ित होता है या उसका मन व्याकुल होता है तो स्वयं निरहंकार होकर किसी प्रकार का सत्पुरुषार्थ न करके भगवान को पुकारता है–"प्रभो ! मेरे कष्ट मिटा दो। मेरे संकट हर लो। मुझे पार उतार दो। मैं तुम्हारा अबोध बालक हूँ। मेरी समस्याएँ या चिन्ताएँ दूर कर दो। मैं तुम्हारी शरण में आया हूँ।" या फिर अर्थार्थी भक्त होकर रोटी, रोजी, धन, सन्तान, पद, सत्ता, प्रतिष्ठा या किसी स्वार्थसिद्धि के लिए भगवान से प्रार्थना करता है, जो प्रायः विविध सांसारिक कामनामूलक होती है।[1]

परमात्म-सत्ता का 'स्व' में अनुभव करना भक्ति है, जो आनन्दरूपा है

वस्तुतः भक्ति का मार्ग सिखाया नहीं जाता, वह स्वतः उत्पन्न होता है। भक्ति से आनन्द की प्राप्ति होती है। आनन्द से कर्मों का आवरण हटता है। भक्ति के द्वारा परमात्म-सत्ता से अभेदानुभव होने से स्व-चेतना का विकास होता है। इस दृष्टि से

१. (क) 'चिन्तन की मनोभूमि' (उपाध्याय अमर मुनि) के आधार पर, पृ. १२१-१२२

(ख) आर्त्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ !
चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ! –*भगवद्गीता, अ. ७, श्लो. १६*

(ग) वस्तुतः आर्त और अर्थार्थी न तो उपास्य या आराध्य का स्वरूप समझते हैं और न ही उनसे क्या आध्यात्मिक प्रेरणा या गुणविकास की प्रेरणा लेनी है ? इसे समझते हैं। ऐसे लोगों की भक्ति तुच्छ सांसारिक कामनामूलक अन्ध-भक्ति या तामस-भक्ति है।

भक्ति की निश्चयात्मक परिभाषा बनती है–"सहज-सरल-सरस 'स्व' का अनुभव करना अथवा परमात्म-तत्त्व का स्वयं में अनुभव करना भक्ति है।"

क्रिया और भक्ति में अन्तर : निःस्वार्थ प्रीतिरूप-भक्ति का फल

क्रिया और भक्ति में बहुत बड़ा अन्तर है। क्रिया फल से बाँध देती है, जबकि जैनदृष्टि से भक्ति परमात्म-स्वरूप = शुद्धात्म-स्वरूप से मिला देती है। अतः परमात्म-भक्ति स्व को 'स्व' के शुद्ध स्वरूप में विलीन करने वाला महामंत्र है, परमात्मपद के स्व-गुणों और भावों में स्थापित करने में सहायक महातंत्र है तथा राग-द्वेष से मुक्त करके वीतरागता से युक्त करने वाला योजनामय यंत्र है। भक्ति को हम वीतराग परमात्मा के प्रति निःस्वार्थ प्रीति का अखण्ड स्रोत कह सकते हैं। वह प्रीति भी केवल भावनात्मक ही नहीं, वैज्ञानिक और वैधानिक प्रीति ही अन्तिम लक्ष्य के प्रति सफलता की द्योतक है। ऐसी प्रीति, जो अमरता के इच्छुक भक्त आत्मा का जन्म-मरणादि मर्त्य-अवस्था से निकालकर अमरत्व-अवस्था तक अथवा अजर-अमर परमात्मा, जो अमर-स्थान को प्राप्त कर चुके हैं, उन तक पहुँचा देती है। वीतराग परमात्मा की भक्ति में भक्त को अमर बनाने की सामर्थ्य है।[१]

नमन-स्तवन गुणोत्कीर्तनरूप निष्काम-भक्ति से अलभ्य लाभ

'भक्तामर स्तोत्र' के रचयिता श्री मानतुंगाचार्य ने अनन्य-भक्ति द्वारा सर्वप्रथम वीतराग परमात्मा को सम्यक्रूप से प्रणाम किया है, तत्पश्चात् ही स्तवन करने का संकल्प किया है। **नमन आत्म-निवेदनरूप** भक्ति का एक अंग है। नमन द्वारा परमात्मा **के साथ तात्त्विक सम्बन्ध स्थापित होता है,** शाश्वत आत्म-स्वरूप का बोध या स्मरण होता है, जिस स्व-स्वरूप का अनादिकाल से विस्मरण होने से वह अनेक दुःखों का मूल बन जाता है, तथैव उसका स्मरण अनन्त सुख का बीज है। भक्तिपूर्ण भावों से निश्छल, सरल और निरहंकार होकर उत्तमांग को परमात्म-चरणों में झुकाना सर्वस्व **समर्पणरूप भक्ति** का महत्त्वपूर्ण अंग है। तत्पश्चात् स्तुति करने को प्रवृत्त होने से अनादिकाल से 'स्व' को आवृत करने वाले मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र के बन्धन यानी अज्ञानादि की बेड़ियों के बन्धन टूट जाते हैं। जन्म-जन्म में बद्ध पापकर्म छूट जाते हैं और प्रकट हुए वीर्योल्लास से व्यक्ति विषय-कषायों का, राग-द्वेष-मोह का अन्त करके या तो सर्वकर्ममुक्तिरूप मोक्ष पा लेता है अथवा इनको मन्द करके कल्पोपपन्न या कल्पातीत विमान में देव बनता है। 'उत्तराध्ययनसूत्र' के

---

१. (क) 'भक्तामर स्तोत्र : एक दिव्य दृष्टि' से भाव ग्रहण, पृ. १

(ख) उत्तराध्ययनसूत्र, अ. २९, सू. ९, १४

(ग) विधिणा कदस्स सस्सस्स, जहा णिप्पादयं हवदि वासं।
तह अरहदादिग-भत्ती णाण-दंसण-चरण-तवाणं॥ *–भगवती आराधना ७५१*

२९वें अध्ययन में चतुर्विंशतिस्तव से दर्शनविशुद्धिरूप फल बताया गया है। इसी सूत्र के २९वें अध्ययन का यह पाठ भी इस तथ्य का साक्षी है–

''थवथुइ-मंगलेणं नाण-दंसण-चरित्त-बोहिलाभं जणयइ।

नाण-दंसण-चरित्त-बोहिलाभं-संपन्ने य णं जीवे अंतकिरियं कप्पविमाणोववत्तिग आराहणं आराहेइ।''

–स्तव और स्तुतिरूप मंगल से भक्त जीव को सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप बोधिलाभ प्राप्त होता है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप बोधिलाभ से सम्पन्न जीव या तो जन्म-मरणादिरूप संसार का अन्त करके सर्वकर्ममुक्तिरूप मोक्ष पाता है या फिर वह कल्पविमानवासी देव बनकर आराधना करता है।

'भगवती आराधना' में भी परमात्म-भक्ति का अनुपम फल बताते हुए कहा गया है–''जैसे विधिपूर्वक बोये हुए बीज से वर्षा होने पर धान्योत्पत्तिरूप फल-प्राप्ति होती है, वैसे ही अरिहन्त आदि की भक्ति से ज्ञान-दर्शन-चारित्ररूप फल की प्राप्ति होती है।'' तात्पर्य यह है कि भगवान की स्तुति से या गुण-संकीर्तन से व्यक्ति के पापकर्मों का क्षय हो जाने से वह अपने ज्ञानादिमय शुद्ध स्वरूप को जान लेता है, अपनी शक्ति को पहचान लेता है, तो वह स्वतः ही ज्ञाता-द्रष्टाभाव में रहकर आत्म-स्वभाव में स्थित हो जाता है। इसलिए जैनधर्म में स्तुति से पापक्षय, आत्म-विशुद्धि और स्वरूप का बोध तो माना गया, पर उसे ऐहिक लाभ का या ईश्वर-कृपा से मनोवांछित फल-प्राप्ति का कारण नहीं माना गया। यही कारण है कि 'सूत्रकृतांग' के छठे अध्ययन में वीरस्तुति (वीरत्थुइ) तथा शक्रस्तव (नमोत्थुणं) में तीर्थंकर के गुणों का उत्कीर्तन तो है, किन्तु उनसे कहीं भी कुछ प्राप्त करने की कामना नहीं की गई है। यह निष्काम-भक्ति का ही रूप था; किन्तु बाद में चतुर्विंशतिस्तव (लोगस्स.) में आरोग्य, बोधिलाभ और उत्तम-समाधि की सिद्धप्रभु से कामना की गई है, वह आध्यात्मिक साधना में आवश्यक मानी गई है। मगर बाद में भद्रबाहु द्वितीय रचित उवसग्गहर स्तोत्र तथा विषायहार स्तोत्र आदि में विविध उपसर्गों से छुटकारा दिलाने की प्रार्थना की गई है। यह जैन-परम्परा पर अन्य परम्पराओं के प्रभाव का सूचक है। सिद्धसेन दिवाकर रचित द्वात्रिंशिका तथा समन्तभद्र आचार्य रचित देवागम स्तोत्र में जिन-स्तुति के बहाने से दार्शनिक मान्यताओं की समीक्षा की गई है।

तात्पर्य यह है कि प्रभु की स्तुति के माध्यम से जब व्यक्ति अपने शुद्ध आत्म-स्वरूप को जान लेता है, अपनी शक्ति को पहचान लेता है तो वह ज्ञाता-द्रष्टाभाव में = आत्म-स्वभाव में स्थित हो जाता है। फलतः वासनाएँ स्वतः क्षीण होने लगती हैं। इसीलिए इस प्रकार जैनदर्शन में स्तुति, नाम-स्मरण आदि से पापों का क्षय और आत्म-विशुद्धि मानी गई है। इसका मूल कारण ईश्वरीय-कृपा नहीं, आत्म-स्वभाव का बोध तथा स्वरूपरमणता है।[१]

१. 'सागर जैन विद्या भारती, भा. १' के आधार पर, पृ. २८

परमात्मा के प्रति सच्ची भक्ति की दो परख

परमात्मा के प्रति सच्ची भक्ति की दो परख हैं--(१) सघन आशावादिता, और (२) मुस्कानभरी प्रसन्नता। परमात्म-भक्ति के प्रभाव से उपलब्ध इन दोनों मनःस्थितियों के कारण जीवन इतना सरस, सरल और आत्मीयता के बोध से परिपूर्ण रहता है कि सामान्य कष्टकारक परिस्थितियों या चिन्ता, शोक की परिस्थिति में भी भक्तिमान् मानव का मुख म्लान नहीं होता। परमात्म-भक्त के समक्ष भी अभाव, हानि और इष्टवियोग-अनिष्टसंयोग की अप्रिय परिस्थितियाँ आती रहती हैं। परमात्म-भक्ति के फलस्वरूप उसके जीवन में सदा अनुकूल स्थिति या प्रचुर सुख-सुविधा ही बनी रहेगी, ऐसी बात नहीं है। परन्तु अप्रिय और प्रतिकूल परिस्थितियों में सम्यग्दृष्टि-सम्पन्न सच्चा भक्त अधिक प्रभावित नहीं होता, उन्हें वह विनोदपूर्वक देखता है, उनका हँसते-हँसते सामना करता है अथवा स्वयं को बदली हुई परिस्थिति के अनुरूप ढाल लेता है। वह ऐसे समय में रोता-खीजता नहीं, परमात्मा या भगवान को कोसता नहीं। पूर्वोक्त दो वरदानों के फलस्वरूप परमात्मा के प्रति शुद्ध आस्था तथा उसके परिष्कृत सम्यक् दृष्टिकोण के कारण उसके अन्तर में सन्तोष, आश्वासन और आह्लाद की तथा कर्मक्षय के सुअवसर की उदात्त ऊर्मियाँ उछलती रहती हैं। उद्विग्नता, तनाव, चिन्ता और विषाद उसके पास अधिक देर तक टिकने भी नहीं पाते।[1]

परमात्मा के प्रति अनन्य भक्तिमान् के लक्षण

'भगवद्गीता' में परमात्मा के प्रति अनन्य भक्तिमान् के कुछ लक्षण दिये गए हैं, उनमें भी इसी तथ्य का समर्थन है--"जो भक्त समस्त प्राणियों के प्रति द्वेषभाव से रहित है, निःस्वार्थ मैत्री और करुणा से युक्त है, ममता और अहंता से रहित है, सुख और दुःख में सम रहता है, क्षमावान् है, लाभ-हानि में सन्तुष्ट है, अध्यात्मयोगी है अथवा कर्मयोगी है, इन्द्रिय और मन पर संयम करता है, दृढ़ निश्चयी है, प्रभु के प्रति जिसने मन और बुद्धि को समर्पित कर दिया है तथा जो स्वयं लोगों से उद्विग्न नहीं होता और न ही उससे दूसरे लोग उद्विग्न होते हैं एवं हर्ष, अमर्ष (संताप या रोष), भय और उद्वेग से मुक्त है, जो किसी से कोई अपेक्षा नहीं रखता, बाहर और भीतर से पवित्र है, नियत कार्य में दक्ष है, पक्षपात से तथा व्यथा से रहित एवं उदासीन (विरक्त) है, स्वयं आरम्भ करने का तथा अहंकर्तृत्व का त्यागी है एवं जो भक्त शत्रु-मित्र, शीत-उष्ण, सुख-दुःख, प्रिय-अप्रिय, अपमान-सम्मान, निन्दा-स्तुति (प्रशंसा या प्रशस्ति) में सम, अनासक्त और यथालाभ सन्तुष्ट रहता है; जो अनिकेत (गृह के प्रति ममत्वरहित या अनगार) है, स्थिरबुद्धि

---

१. 'अखण्डज्योति, जून १९७४' से भाव ग्रहण

है, वही भक्तिमान् मानव परमात्मा का प्रिय भक्त है।[1] वही सच्चे माने में वीतराग परमात्मा का अनन्य भक्त है।

वीतराग परमात्मा के प्रति अनन्य-भक्ति कैसी होती है ?

वास्तव में परमात्मा के प्रति सच्ची भक्ति वह है, जिसमें परमात्मा के प्रति विभक्ति (मन-वचन-काया से अलगाव = पृथक्ता) न हो। आत्मा को परमात्मा से विभक्त = पृथक् करने वाले जो भी पर-पदार्थ या विभाव हैं, उनके प्रति जब मोह, ममता, आसक्ति, मूर्च्छा, लगाव आदि होते हैं, तब परमात्मा की अनन्य-भक्ति नहीं हो सकती।

अनन्य-भक्ति जल में मछली के सदृश होती है। मछली जल में ही जीवित रहती है। जल में ही वह खाती-पीती, सोती एवं अन्य क्रियाएँ करती है। जल से अलग करके उसे मखमल के बिछौने पर सुलाने लगो तो वह नहीं सोएगी, न ही उत्तमोत्तम स्वादिष्ट भोजन या पेय खाएगी-पीएगी। जल से बाहर की वस्तुएँ चाहे जितनी आकर्षक, बहुमूल्य, कोमल एवं चमक-दमक वाली हों, मछली को उनमें जरा भी आनन्द नहीं आएगा, न ही वह उन्हें अपनाएगी। उसका ध्यान तो एकमात्र जल में ही लगा रहता है। क्योंकि जल ही उसका जीवन है। यही बात परमात्मा की अनन्य-भक्ति के विषय में समझ लीजिए। परमात्मा के प्रति जिस साधु-साध्वी या गृहस्थ नर-नारी की अनन्य-भक्ति होगी, उसे मछली की तरह परमात्मा या शुद्ध आत्मा के प्रति श्रद्धा-भक्ति, तन्मयता, ध्यान आदि के बिना सुखानुभव नहीं होगा। उसका खाना-पीना, सोना-जागना आदि सारा व्यवहार परमात्मा के ध्यान के अनुरूप होगा।[2]

---

१. अद्वेष्टा सर्वभूतानां, मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहंकारः, समदुःख-सुखः क्षमी॥१३॥
सन्तुष्टः सततं योगी, यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पित-मनोबुद्धिः, मद्भक्तः स मे प्रियः॥१४॥
यस्मान्नोद् विजते लोको, लोकान्नोद् विजते च यः।
हर्षामर्ष-भयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः॥१५॥
अनपेक्षः शुचिर्दक्षः, उदासीनो गतव्यथः।
सर्वारम्भ-परित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥१६॥
यो न हृष्यति न द्वेष्टि, न शोचति न कांक्षति।
शुभाशुभ-परित्यागी भक्तिमान् यः स मे प्रियः॥१७॥
समः शत्रौ च मित्रे च, तथा मानापमानयोः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु, समः संग विवर्जितः॥१८॥
तुल्यनिन्दा-स्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येन केनचित्।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान् मे प्रियो नरः॥१९॥ —*भगवद्गीता, अ. १२, श्लो. १३-१९*

२. 'पानी में मीन पियासी' (आचार्य देवेन्द्र मुनि) से भाव ग्रहण, पृ. २८३

आगमों की दृष्टि में परमात्मा की अनन्य-भक्ति की साधना

'अनुयोगद्वारसूत्र' में अनन्य-भक्ति का साधनासूत्र दिया गया है, जिसका भावार्थ इस प्रकार है–"परमात्मा की भक्ति के लिए भक्तिकर्त्ता का चित्त उसी (परमात्मा) में हो, मन उसी में लीन हो, उसकी शुभ लेश्या भी वहीं लगी हो, उसका अध्यवसाय भी वैसा ही हो, उसी में वह तीव्रता से समर्पित हो, उसी अभीष्ट परमात्म-स्वरूप में वह उपयोगयुक्त हो, उसी के प्रति उसके करण (बाह्यकरण तथा अन्तःकरण) प्रीतियुक्त अर्पित हों, वह उसी परमात्म-भाव की भावना से भावित हो।" 'आचारांगसूत्र' में भी भगवान महावीर या किसी भी वीतराग परमात्मा (जिनेन्द्र) के प्रति अनन्य-भक्ति के लिए इसी प्रकार का पाठ मिलता है। उसका भावार्थ है–"साधक समस्त आग्रहों-पूर्वाग्रहों का त्याग कर उसी (तीर्थंकर भगवान) की आज्ञाराधनारूप भक्ति में दृष्टि रखे, उसी परमात्म-स्वरूप में मुक्त मन से समर्पित या तन्मय हो, उसी परमात्मा को आगे रखकर विचरण करे, प्रवृत्ति करे, उसी के आदेश-निर्देश के अनुसार जीए, उसी (परमात्मा) के स्वरूप को सतत अपने चित्त, मन या स्मृति में रखे, उसी में उपयुक्त रहे, सदैव उसी परमात्मा के चरणों में दत्तचित्त होकर रहे या उसी का अनुसरण करे।" "(उसकी अनाज्ञा में उद्यम और आज्ञा में अनुद्यम) यह तुम्हारे मन में भी न हो।" वास्तव में अनन्य-भक्ति में परमात्म-भक्त साधक का तन, मन, बुद्धि, चित्त, हृदय, अंगोपांग, इन्द्रियाँ आदि अपने प्रियतम परमात्मा में ही संलग्न रहें (इसके लिए तर्पणता, तन्मयता, तल्लीनता, तरलता और तत्समता के रूप में यहाँ पाँच तकारों का प्रयोग हुआ है), परमात्मा के सिवाय अन्यान्य विषयों में आसक्तिपूर्वक संलग्न न हों, वाणी से परमात्मा की ही स्तुति, स्तोत्र, स्तव, भक्ति-गीत, गुणोत्कीर्तन, प्रार्थना, भजन या नाम-स्मरण बोला जाए, मन से प्रभु के जीवन का, गुणों का, उनकी आज्ञाओं का, उनके प्रवचनों एवं आदेश-निर्देशों का चिन्तन-मनन-मन्थन किया जाए; इन्द्रिय-समूह एवं तन से उनको वन्दन, नमन, दर्शन, श्रवण, गुणोत्कीर्तन आदि प्रवृत्तियाँ की जाएँ; अथवा मन-वचन-काया से प्रभु की आज्ञा के विरुद्ध अथवा प्रभु द्वारा उपदिष्ट तत्त्वों, मर्यादाओं एवं आदेश-निर्देशों के विरुद्ध न चला जाए, न बोला या सोचा जाए, न ही सुना या स्पर्श किया जाए, न ही मनन-चिन्तन, निर्णय या विचार किया जाए, न ही ऐसा कोई कार्य किया जाए जो प्रभु-आज्ञा के विपरीत हो। चित्तवृत्तियाँ तथा प्रवृत्तियाँ भी बाहर से हटाकर अन्तर्मुखी बनाई जाएँ, एकमात्र परमात्म-भक्ति में जमाई जाएँ। इस प्रकार की सर्वतोमुखी तन्मयता की, सम्यक् श्रद्धामयी, स्वरूपज्ञानमयी एवं सम्यक् चारित्रमयी स्थिति ही अनन्य-भक्ति है।[1] इसे ही

---

१. (क) तच्चित्ते तम्मणे तल्लेसे तदज्झवसिए, तत्तिव्वज्झवसाणे तद्दिट्ठोवउत्ते, तप्पियकरणे, तब्भावणा-भाविए। –*अनुयोगद्वारसूत्र २८*

(ख) तद्दिट्ठीए, तम्मुत्तिए, तप्पुरक्कारे, तस्सण्णी तण्णिसेवणे।
–*आचारांगसूत्र, श्रु. १, अ. ५, उ. ६*

(ग) 'पानी में मीन पियासी' से भाव ग्रहण, पृ. २८३-२८४

'भगवद्गीता' में अव्यभिचारिणी भक्ति कहा गया है। इसका भावार्थ है—मेरे (वीतराग परमात्मा के) प्रति अनन्यनिष्ठ योगों (मन-वचन-काया की प्रवृत्तियों) के एकीभाव से यानी इन तीनों को अन्य भावों (विभावों तथा पर-भावों) में तथा अन्य कार्यों, विचारों आदि में न लगाने से भक्ति अव्यभिचारिणी और अनन्या होती है। इसकी साधना के लिए (अपरिपक्व अवस्था में) एकान्त पवित्र प्रदेश (स्थान) में रहना और जनता के लौकिक सांसारिक कार्यों में अरति = अरुचि या अनासक्ति[१] होनी चाहिए।

आज्ञाराधनारूपा अनन्य-भक्ति के ज्वलन्त उदाहरण

परमात्मा के प्रति अनन्य-भक्ति के विभिन्न पहलुओं से जैनागमों में कई प्रमाण मिलते हैं। आज्ञाराधनारूप अनन्य-भक्ति के विषय में गणधर गौतम स्वामी का ज्वलन्त उदाहरण प्रसिद्ध है। गणधर गौतम स्वामी इतने ज्ञानी, विशिष्ट लब्धियों और उपलब्धियों के धारक तथा श्रमणसंघ के ५० हजार साधु-साध्वियों के अधिपति-अनुशास्ता एवं भगवान महावीर के पट्ट-शिष्य होते हुए भी निरभिमानी, विनय-भक्ति से ओतप्रोत एवं भगवान महावीर की प्रत्येक आज्ञा को शिरोधार्य करते थे। 'भगवतीसूत्र' में और भी अनेक साधुओं की विनयरूप तथा आज्ञाराधनारूप भक्ति के उदाहरण मिलते हैं। मेघकुमार मुनि को संयम में स्थिर करने के पश्चात् उसने भगवान महावीर के समक्ष प्रतिज्ञा ली कि "आज से मेरी दो आँखों के सिवाय मेरा सारा ही तन-मन-बुद्धि-हृदय आदि आपकी तथा संघ की सेवा (भक्ति) में समर्पित है।" यह समर्पण-भक्ति का ज्वलन्त उदाहरण है। अनाथी मुनि के किसी भी उपाय से नेत्र-पीड़ा शान्त न होने पर भगवान महावीर के संघ में क्षान्त, दान्त, निरारम्भ निर्ग्रन्थ व संयममार्ग के लिए समर्पित होने का संकल्प किया था, जिसके कारण प्रातःकाल होने से पूर्व उनकी चक्षु-पीड़ा शान्त हो गई थी। आज्ञाराधनारूपा भक्ति के विषय में 'आचारांगसूत्र' में स्पष्ट विधान है—"**आणाए अभिसमेच्चा अकुओ भयं।**" -जो भगवदाज्ञारूप भक्ति में स्थिर है, वह अकुतोभय रहता है। उसे संसार की कोई भी घटना या व्यक्ति अथवा प्राणी भयाक्रान्त नहीं कर सकता। जहाँ भगवान का हृदय में निवास हो, वीतराग-आज्ञा में निष्ठा हो, वहाँ किसी से भी किसी बात का भय नहीं होता। जहाँ प्रभु का सन्देश रग-रग में समाया हो, वहाँ सन्देह को अवकाश कहाँ ?[२]

---

१. मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी।
विविक्तदेश सेवित्वमरतिर्जनसंसदि॥ —*भगवद्गीता १३/१०*

२. (क) देखें—औपपातिक, भगवतीसूत्र आदि में गौतम स्वामी के गुणों का उल्लेख

(ख) देखें—ज्ञाताधर्मकथासूत्र का वह पाठ—"भंते ! मम दो अच्छीणि मोत्तूण अवसेसे काए समणाणं निग्गंथाणं विसट्ठेति।"

(ग) देखें—उत्तराध्ययनसूत्र, अ. २० में अनाथी मुनि का जीवनवृत्त

(घ) आचारांग, श्रु. १, अ. १, उ. ३, सू. ३८

प्रभु की अनन्य-भक्ति से अलभ्य लाभ

ऐसी (अव्यभिचारिणी) अनन्य-भक्ति का आध्यात्मिक लाभ बताते हुए 'भगवद्गीता' में कहा गया–"हे अर्जुन ! इस प्रकार की अनन्य-भक्ति (परमात्मा के साथ एकीभाव से युक्त भक्ति) से मैं (परमात्मा) तत्त्वतः जाना-देखा जा सकता है तथा हे परन्तप ! अन्तर्ध्यान से वह (अनन्य-भक्त) मुझमें (परमात्म-तत्त्व में) प्रवेश भी कर सकता है। फलितार्थ यह है कि अनन्य-भक्ति से परमात्मा की भक्ति का वास्तविक उद्देश्य सिद्ध हो सकता है।"[१]

सुलसा श्राविका अनन्य-भक्ति की परीक्षा में उत्तीर्ण

इसका ज्वलन्त प्रमाण है–'भगवतीसूत्र' में उक्त सुलसा श्राविका की भगवान महावीर के प्रति अनन्य-भक्ति की परीक्षा में पूर्ण सफलता की घटना।

उन दिनों भगवान महावीर चम्पापुरी में पधारे हुए थे। उस दौरान उनके विशिष्ट उपासक अम्बड़ परिव्राजक ने उनके चरणों में उपस्थित होकर निवेदन किया–"भगवन् ! मैं राजगृही जा रहा हूँ। आपका कोई सन्देश हो तो फरमाइए।" भगवान ने कहा–"अम्बड़ ! राजगृही में राजा श्रेणिक के रथ-चालक सारथी की धर्मपत्नी सुलसा श्राविका अत्यन्त भावनाशील है एवं अर्हद्-भक्ति में लीन रहती है। उसे मेरा धर्म-सन्देश कहना।"

अम्बड़ प्रभु का सन्देश शिरोधार्य करके चल पड़ा। उसके मन में एक विचार स्फुरित हुआ–देवेन्द्र-नरेन्द्र-पूज्य त्रिलोकीनाथ विश्ववन्द्य वीतराग परमात्मा महावीर ने एक तुच्छ महिला को धर्म-सन्देश दिया। अतः उसमें क्या विशेषता है? मुझे उसकी प्रभु-भक्ति की परीक्षा करनी चाहिए। यह सोचकर राजगृही पहुँचते ही अम्बड़ परिव्राजक ने वैक्रियलब्धि से क्रमशः ब्रह्मा, विष्णु और महेश का रूप बनाया। राजगृही में सर्वत्र उसकी शोहरत हुई। हजारों नर-नारी झुंड के झुंड उसके दर्शनार्थ पहुँचे, लेकिन सुलसा को कई महिलाओं द्वारा चलने के लिए प्रेरित किये जाने पर भी वह कतई नहीं गई, शान्तभाव से बैठी रही। काफी प्रतीक्षा के बाद अम्बड़ ने साक्षात् महावीर का रूप बनाया। लोगों ने सुलसा से कहा–"अब तो तेरे महावीर प्रभु पधारे हैं। अब तो चल, दर्शन कर ले।" इस पर प्रभु के प्रति अनन्य-भक्ति के फलस्वरूप प्रभु को तत्त्वतः जानने-देखने तथा अन्तर्ध्यान से प्रभु के स्वरूप में तन्मय होने की उपलब्धि-प्राप्त सुलसा ने उत्तर दिया–"महावीर प्रभु राजगृही में नहीं पधारे हैं। राजगृही में ही नहीं, इससे दूर-दूर तक महावीर प्रभु पधारे होते तो मेरी अन्तरात्मा अवश्य साक्षी देती। प्रभु के प्रति अनन्य-भक्ति

---

१. भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन !
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्वेन, प्रवेष्टुं च परन्तप ! *–भगवद्गीता, अ. ११, श्लो. ५४*

के कारण मैं भी इतना तो जान-देख सकती हूँ कि यह प्रभु महावीर नहीं है, कोई और ही है।"

अम्वड़ ने काफी प्रतीक्षा की, किन्तु दर्शनार्थियों की भीड़ में सुलसा कहीं भी दिखाई नहीं दी। वह नहीं गई सो नहीं गई। अतः सुलसा श्राविका को अनन्य-भक्ति की परीक्षा में उत्तीर्ण देख अम्वड़ परिव्राजक गद्गद हो गया। उसने सुलसा के घर जाकर प्रभु महावीर का धर्म-सन्देश सुनाया। फिर कहा—"भाग्यवती सुलसा ! राजगृही नगरी में आप ही एक भाग्यशाली महिला हैं कि आपके लिए प्रभु ने धर्म-सन्देश दिया है।" सुलसा ने प्रभु का धर्म-सन्देश शिरोधार्य किया।[१]

अनन्य-भक्तिमान् व्यक्ति की परख

वस्तुतः जिसके हृदय में वीतराग परमात्मा के प्रति अटल श्रद्धा-भक्ति होती है, उसे कोई कितना ही भय या प्रलोभन देकर विचलित करना चाहे, वह विचलित नहीं होता। अनन्य-भक्तिमान् व्यक्ति को भौतिक, आर्थिक, शारीरिक या मानसिक दृष्टि से चाहे कितनी ही हानि सहनी पड़े, चाहे उस पर संकटों और कष्टों के वज्र ही टूट पड़ें, वह परमात्म-भक्ति से जरा भी विचलित नहीं होता। पूर्ण वीतराग हो, अठारह दोषों से मुक्त एवं वारह गुणों से युक्त जीवन्मुक्त परमात्मा हो या सर्वकर्ममुक्त विदेह सिद्ध परमात्मा हो, उसी के प्रति वह अनन्य-श्रद्धा-भक्ति रखता है। राग-द्वेषादि परिणामों से युक्त चाहे जैसा चमत्कारी, प्रभावशाली या वैभवशाली व्यक्ति हो, वह न तो उससे प्रभावित होता है और न ही उसे वीतराग परमात्मा मानता है।[२]

अनन्य-भक्तिमान् व्यक्ति प्रभु को अपने से दूर नहीं मानता

इस प्रकार की अनन्य-भक्ति वाला आत्मार्थी व्यक्ति परमात्मा को अपने से कभी दूर नहीं मानता। इस सम्बन्ध में संत कबीर की परमात्मा के प्रति अनन्य-भक्ति प्रसिद्ध है। कबीर से जब किसी दार्शनिक ने कहा—"यदि आपको अपने प्रियतम परमात्मा का साक्षात्कार न हुआ हो, उनका कोई भी सन्देश प्राप्त न हुआ हो तो आप उन्हें पत्र लिखिये, वे अवश्य ही मिलेंगे और अपना सन्देश देंगे।" इस पर कबीर ने बड़ी मार्मिक उक्ति एक दोहे में कही—

"प्रियतम को पतियाँ लिखूँ, जो कहुँ होत विदेश।
तन में, मन में, नैन में, ताको का सन्देश ?"

—यदि मेरे प्रियतम परदेश या विदेश में होते तो मैं उन्हें पत्र लिखता, उन्हें बुलाता या सन्देश मँगाता, परन्तु वे तो मेरे तन-मन-नयन में समाये हुए हैं, उनको

१. देखें—भगवतीसूत्र में अम्बड़ परिव्राजक का अधिकार
२. 'पानी में मीन पियासी' से भाव ग्रहण

क्या बुलाऊँ, क्या सन्देश भेजूँ या मँगाऊँ? सच्चिदानन्द प्रभु मेरे अन्तर में विराज रहे हैं, उन्हें ढूँढ़ने या उनका दर्शन करने कहीं दूर नहीं जाना पड़ता।[१] फादर हैरास (Haras) ने ठीक ही कहा है–"God lives within the heart." –ईश्वर हृदय में निवास करता है। आचार्य अमितगति ने सामायिक पाठ में यही अन्तरिच्छा छह पद्यों में प्रकट की है–"वह देवाधिदेव परमात्मा मेरे हृदय में निवास करें।"[२] संत कबीर ने भी कहा–"**मोको कहाँ तू ढूँढे, बंदे ! मैं तो तेरे पास में।**" गोस्वामी तुलसीदास जी की श्री राम के प्रति अनन्य-भक्ति ने तथा सूरदास जी की श्री कृष्ण के प्रति अप्रतिम भक्ति ने दोनों को साहित्य जगत् में तथा लोकजीवन में प्रतिष्ठित कर दिया। जैन-परम्परा में श्री आनन्दघन जी ऐसे ही भक्तयोगी हुए हैं, जिनकी वाणी में गूँजती जिनेन्द्र-भक्ति की गूँज आज भी आत्मार्थी साधकों को भावविभोर कर देती है। उन्होंने तृतीय तीर्थंकर सम्भवनाथ की स्तुति में भगवद् भक्ति[३] या परमात्म-सेवा की प्रथम भूमिका के रूप में अभय, अद्वेष और अखेद को भक्ति के जीवन में अनिवार्य माने हैं।

भक्ति का महत्त्वपूर्ण अंग : उपासना : अर्थ, स्वरूप और परिणाम

भक्ति का एक महत्त्वपूर्ण अंग है–उपासना। जैनागमों में यत्र-तत्र पर्युपासना शब्द का उल्लेख आता है। उपासना का शब्दशः अर्थ होता है–समीप बैठना, सत्संगति करना, समीपता। समर्थ वीतराग परमात्मा के समीप मन-वचन-काया से स्थिर होकर बैठना पर्युपासना है। वीतराग परमात्मा की सर्वतोमुखी उपासना अर्थात् समीपता से अलभ्य लाभ प्राप्त होता है। समीपता यानी सर्वतोमुखी सामीप्य का लाभ सर्वविदित है। चन्दन के समीप उगे हुए झाड़-झंखाड़ भी सुगन्धित हो जाते हैं। कोयले और गन्धी की दुकान पर बैठने वाले क्रमशः कालिमा और सुगन्धि का कुछ न कुछ अंश लेकर ही जाते हैं। शरीर ठण्ड से काँप रहा हो, उस समय अग्नि या धूप की समीपता से आवश्यक गर्मी प्राप्त की जाती है। दुष्टों या दुर्जनों की संगति (समीपता) से दुर्गति या दुःस्थिति और सज्जनों या साधुजनों के सान्निध्य से सद्‌गुणों की वृद्धि अथवा आध्यात्मिक प्रगति होना स्वाभाविक है। 'योगदर्शन' में कहा गया है–"**अहिंसा-प्रतिष्ठायां तत्-सन्निधौ वैरत्यागः।**"–जिस महापुरुष के जीवन में अहिंसा-समता-वीतरागता प्रतिष्ठित हो चुकी है, उसके पास बैठने वाले पशु-पक्षी या मानव जन्मजात या कुलस्वभावगत वैरभाव को छोड़ देते हैं। सत्संग-कुसंग का प्रभाव सर्वविदित है। वीतराग परमात्मा की समीपता प्राप्त करने

---

१. 'कबीर की साखी' से भाव ग्रहण

२. देखें–सामायिक पाठ में छह पद्यों के अन्त में कहा गया है–
स देवदेवो हृदये ममाऽऽस्ताम्। *–सामायिक पाठ, श्लो. १२-१७*

३. सेवन-कारण पहली भूमिका रे, अभय, अद्वेष, अखेद। *–आनन्दघन चौबीसी संभव जिनस्तवन*

के लिए की गई उपासना यदि सच्चे मन और सही उद्देश्य के लिये की गई है तो उसका प्रभाव लोहे को पारस के स्पर्श से स्वर्ण बनने जैसा सत्परिणाम सामने लाता है। उपासक को उपास्य की विशेषताओं और विभूतियों का लाभ मिलता है और वह क्रमशः अधिकाधिक समुन्नत, शान्त और सन्तुलित होता चला जाता है।

उपास्य की उपासना से उपासक का तादात्म्य : क्यों और कैसे ?

उपास्य या आराध्य की स्थिति से जितना ही अधिक अपना सामीप्य स्थापित किया जाएगा, उसके जितना ही अधिक अनुकूल—समतुल्य बना जाएगा, जितनी ही श्रद्धा-भक्ति-निष्ठापूर्वक उसके गुणों को अपने में होने (अवतरित होने) का चिन्तन-मनन किया जाएगा, उतनी ही उपासक की क्षमताएँ, शक्तियाँ, सामर्थ्य एवं तीव्रता उसी अनुपात में वृद्धिंगत होती जाएँगी, उपासक उतना ही अधिक आध्यात्मिक विकास एवं आत्मिक गुण-सम्पदाओं से स्वयं लाभान्वित होता जाएगा। वीतराग परमात्मा अनन्त ज्ञानादि चतुष्टय से परिपूर्ण हैं, उनकी उपासना करने वाला उस अनन्त ज्ञानादि ऐश्वर्य को अपनी चेतना में पूर्णतया भर लेने का प्रयास करता है। यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि परमात्मा प्रत्यक्ष सम्मुख विराजमान हों या परोक्ष, उनकी पर्युपासना करने वाला उनके बाह्य आकार-प्राकार आदि की अपेक्षा भी उनके गुणों के साथ अपने अन्तश्चक्षुओं से तादात्म्य साधने का प्रयत्न करता है, तो निश्चित है कि उसी ढाँचे में ढलता जाएगा। जो जिसे जितना अधिक चाहेगा, वह उसी के जैसा बनता चला जाएगा। परमात्मा की उपासना से एक दिन मनुष्य स्वयं परमात्मभाव को प्राप्त कर लेता है।[1]

उपासना श्रेष्ठ-चिन्तन और व्यक्तित्व निर्माण का माध्यम

अतः उपासना श्रेष्ठ-चिन्तन और उत्कृष्ट व्यक्तित्व के निर्माण का एक सशक्त माध्यम है। मानवीय चिन्तन व्यक्तियों एवं वातावरण से प्रभावित होता है, उसकी गतिविधियाँ एवं अनुभूतियाँ भी उसी स्तर की होती हैं। चिन्तन के लिए जैसा माध्यम होता है, उसी स्तर का चिन्तन एवं क्रियाकलाप होता है। वातावरण का व्यक्ति पर प्रभाव पड़ता है। दुर्जन, अनाचारी या दुराचारी के सम्पर्क में रहने वाला व्यक्ति उससे प्रभावित होता है और संत-महात्मा के सान्निध्य में रहने वाला उनके आचरण को ग्रहण करता है। यह उनके व्यक्तित्व का प्रभाव है कि समीप आने वाला या सामीप्य स्थापित करने वाला तदनुरूप बन जाता है।

पर्युपासना में कतिपय सावधानियाँ

निराकार की उपासना के लिए अथवा जो सदेह जीवन्मुक्त तीर्थंकर परमात्मा प्रत्यक्ष नहीं हैं, उनकी उपासना के लिए भक्त को उपासना के क्रियाकृत्य का ऐसा

---

१. 'अखण्डज्योति' से भाव ग्रहण

माहौल बनाना चाहिए, जिससे व्यक्ति के भावनात्मक स्तर में उत्कृष्टता की अभिवृद्धि हो। जैसे वन्दन पाठ में कहा गया है–"मैं तीन बार दाहिनी ओर से प्रदक्षिणा करता हूँ। प्रभो ! आपको वन्दना करता हूँ, नमस्कार करता हूँ, आपका सत्कार और सम्मान करता हूँ। आप कल्याणमूर्ति हैं, मंगलमय हैं, देवरूप हैं ज्ञानमय हैं, आपकी मन-वचन-काया से पर्युपासना करता हूँ। मस्तक झुकाकर वन्दन करता हूँ।" उपासनाकक्ष का वातावरण भी ऐसा हो कि वहाँ बैठते ही व्यक्ति पवित्रता की दिव्य परिस्थितियों से घिरा हुआ स्वयं को अनुभव करने लगे। उसके तन-मन-नयन में उत्कृष्टता की अनुभूति होने लगे।

फिर पर्युपासना में केवल परमात्म-सान्निध्य की कल्पना ही नहीं, वैसी अनुभूति भी होनी चाहिए कि परम पितामह वीतराग परमात्मा मेरे समक्ष साक्षात् विराजमान हैं। भावनिष्ठा जब क्रियान्वित होती है, तभी उसे देखकर वैसी मनःस्थिति बनती है। किसी जीवित व्यक्ति के उपस्थित होने पर उससे अभ्यर्थना की जाती है, वैसी ही अभ्यर्थना परमात्मा के समक्ष की जाए। उसमें आत्म-शोधन और भावपूजन दोनों ही कृत्यों में इसी प्रकार की भावनिष्ठा अपेक्षित है।

इसके अतिरिक्त उपासना के समय मनःक्षेत्र पर परमात्मीय-चिन्तन (या शुद्ध आत्मा का चिन्तन) घटाटोप की तरह छाया रहना चाहिए। अर्थात् उस समय शरीर से सम्बन्धित समस्याओं के चिन्तन तथा भौतिक आवश्यकताओं और समस्याओं अथवा पर-भावों और विभावों में उलझे रहने के कारण चित्त शान्त और सन्तुलित नहीं रह पाता, आत्म-सत्ता के साथ जुड़ी हुई समस्याओं को हल करने का समाधान नहीं सूझ पड़ता। इसलिए उस समय आध्यात्मिक जीवन के लक्ष्य और आत्मिक-स्वरूप और निजी गुणों का चिन्तन ही प्रमुख रहना चाहिए। अतः आवश्यक है कि उपासना के समय हमारे मन में सांसारिक कामनाओं, भौतिक आकांक्षाओं या सांसारिक विषय-सुखों के विचारों की उथल-पुथल न आए। उपासना के समय में एक निर्धारित विचार-पद्धति ही सामने रहे। भौतिक जीवन को उस समय पूरी तरह से भुला दिया जाए। उस समय केवल आत्मा का स्वरूप जीवन-लक्ष्य एवं परमात्मा के सान्निध्य के अतिरिक्त और कुछ भी न सूझे। यदि उतने समय तक भौतिक प्रभावों से रहित–कायोत्सर्गयुक्त ज्योतिर्मय आत्मा ही ध्यान में रहे और उसमें महाज्योतिर्मय परमात्मा के साथ समन्वित हो जाने की दीपपतंग जैसी आकांक्षा उठे तभी समझना चाहिए कि हमने पर्युपासना का सच्चा स्वरूप अपना लिया है। उस समय स्तवन, स्तोत्र या स्तुति पाठ वैसे ही ध्यानगत रहें।[1]

---

१. 'अखण्डजयोति' से आशय ग्रहण

पर्युपासना का परम्परागत फल सिद्ध (मोक्ष) गति

पर्युपासना करने से अनन्तर और परम्परागत लाभ का दिग्दर्शन कराते हुए स्थानांग, भगवती, औपपातिक आदि आगमों में स्पष्टतः कहा गया है–"भंते ! तथारूप श्रमण अथवा माहन की पर्युपासना करने का क्या फल है ? इसके उत्तर में पर्युपासना का अनन्तर फल धर्म-श्रवण बताया गया। फिर क्रमशः धर्म-श्रवण से सम्यग्ज्ञान-प्राप्ति, ज्ञान-प्राप्ति से हेयोपादेय विवेकरूप विज्ञान-प्राप्ति, विज्ञान से प्रत्याख्यान (त्याग), उसका फल संयम, संयम का फल अनाम्रव (कर्मास्रव-निरोधरूप संवर), संवर का फल तप, उसका फल व्यवदान (कर्मनिर्जरा) तथा व्यवदान का फल अक्रिया (योग-प्रवृत्तियों का पूर्ण निरोध) है और अक्रिया का फल निर्वाण और अन्त में सिद्ध (मोक्ष) गति प्राप्त कर जन्म-मरणादि रूप संसार एवं कर्मों का सर्वथा अन्त करना है।"

इस आगमिक पाठ से स्पष्टतः सिद्ध है कि पर्युपासना से संयम, संवर, तप एवं उत्कृष्ट संवर प्राप्त होकर अन्त में कर्मों के कारणभूत समस्त कषायों का क्षय और योगों का सर्वथा निरोध हो जाता है। व्यक्ति विधिवत् पर्युपासना करे तो उसका जीवन आत्मा से परमात्ममय, सर्वकर्ममुक्त, सिद्ध, बुद्ध एवं परिनिर्वृत्त हो जाता है। आत्मा से परमात्मा बनने की सरल, सरस, सर्वोत्कृष्ट साधना पर्युपासनारूप भक्ति है।

अतः उपासना या पर्युपासना मनोवैज्ञानिक दृष्टि से श्रेष्ठ चिन्तन एवं उत्कृष्ट परमात्ममय जीवन निर्माण की प्रक्रिया है। परमात्म-भक्ति का यह सर्वोत्कृष्ट मोक्षफलदायक अंग है।

भक्ति के इन सब घटकों और अंगोपांगों को समझने के लिये हमें उसका व्युत्पत्तिलक्ष्य अर्थ, फलितार्थ एवं विभिन्न भक्तिसूत्रों में दिये गये लक्षणों पर विचार करना चाहिए। तभी हम निर्णय कर सकेंगे कि कौन-सी भक्ति से सीधे (अनन्तर) सर्वकर्ममुक्तिरूप मोक्ष मिल सकता है ? कौन-सी भक्ति से आंशिक मुक्ति या परम्परा से मुक्ति मिल सकती है ? कौन-सी भक्ति करने से वर्तमान में पुण्यराशि अर्जित की जा सकती है ? जैन-कर्मविज्ञान के मर्मज्ञों ने किस भक्ति को मुक्ति-साधिका और उपादेय माना है।

भक्ति शब्द एक : अर्थ, लक्षण और परिभाषाएँ अनेक

भक्ति शब्द भज् धातु से निष्पन्न हुआ है, जिसका सामान्यतया व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ होता है–सेवा करना। किन्तु भक्ति शब्द का तात्पर्यार्थ और फलितार्थ इससे अधिक व्यापक है। भक्ति शब्द का तात्पर्यार्थ है–उपास्य या आराध्य की उपासना, सेवा, आराधना करना, उनके प्रति श्रद्धा करना, उनके गुणों के प्रति प्रशस्त

अनुराग (प्रीति, विनय, प्रेम) रखना, उनकी वन्दना, स्तुति, प्रार्थना, कीर्तन, अर्चा करना, उनकी आज्ञा की आराधना, उनके संघ, प्रवचन आदि के प्रति वात्सल्य रखना, उनके प्रति अपने आप को सर्वतोभावेन भावविशुद्धिपूर्वक समर्पण करना।

भक्ति शब्द का फलितार्थ यह है कि भक्ति के अंगोपांगों के रूप में निरूपित पूर्वोक्त क्रियाएँ तब तक सही माने में नहीं कही जा सकतीं, जब तक कि उपास्य आराध्य या पूज्य के प्रति पूज्य बुद्धि, श्रद्धा, अनुरक्ति और समर्पण भावना न हो 'भगवती आराधना' के अनुसार-"अर्हंत आदि के गुणों के प्रति अनुराग-भक्ति है।" 'सर्वार्थसिद्धि' के अनुसार-"अर्हत्, आचार्य, बहुश्रुत एवं प्रवचन के प्रति भावविशुद्धियुक्त अनुराग-भक्ति है।"[1]

यही कारण है कि नारद, शाण्डिल्य, पाराशर्य आदि भक्ति-विशेषज्ञ भक्तिमार्गी आचार्यों ने तथा जैनाचार्यों ने पृथक्-पृथक् रूप में भक्ति का लक्षण और उपाय तथा स्वरूप बताया है। 'नारदभक्तिसूत्र' में भक्ति को परम प्रेमरूपा बताकर स्पष्ट किया है कि वह कामनायुक्त न होने से निरोधस्वरूपा है। कामनाओं का निरोध वस्तुतः आस्रवों का निरोध है, अथवा परमात्मा से किसी प्रकार याचना करने का त्यागरूप निरोध संवररूप है। इसी नारदभक्तिसूत्र में भक्ति का एक लक्षण और दिया है-अपने प्रियतम प्रभु को छोड़कर अन्य आश्रयों का त्याग करना प्रियतम में अनन्यता भी भक्ति है। आशय यह है कि नारद के मतानुसार-भगवान का जरा-सा भी विस्मरण होने से वयाकुल होना भक्ति है। अर्थात् परमात्मा को जरा-सी देर के लिए भूलना भक्त को सह्य न हो, जैसे-मछली को सागर से हटने पर तड़फन हो जाती है, वही हालत परमात्मा से हटने पर भक्तिमान की हो जाना। एक आचार्य ने भक्ति की व्याख्या की है-प्रभु का नाम-स्मरण या भजन अविच्छिन्न रूप से हृदय में गूँजता रहना, मन में चलते रहना, दूसरा नाच न आना अविच्छिन्न भक्ति है गर्गाचार्य के अनुसार-भगवान की कथादि में अनुराग-भक्ति है। सामान्य लोगों के विकथाओं या विवादकथाओं में रस को निरन्तर भगवत्कथा में मोड़ देना भक्ति है जैसे कि 'भक्तामर स्तोत्र' में कहा है-"त्वत्संकथाऽपि जगतां दुरितानि हन्ति।" -आपकी जीवनगाथा (कथा) भी जगत् के जीवों के पापों का नाश करती है। शाण्डिल्य के मतानुसार-आत्मरति के अविरोधी विषय में अनुराग होना भक्ति है। इसका तात्पर्य है-पर-पदार्थों, पर-भावों या विभावों के प्रति रति = अनुरक्ति न

---

१. (क) 'भज सेवायाम्' धातु से व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ-भजति आराध्यं यथा सा भक्तिः।

(ख) 'सागर जैन विद्या भारती, भा. १' में 'जैनधर्म में भक्ति की अवधारणा' से भाव ग्रहण

(ग) अर्हदादिगुणानुरागी भक्तिः। *-भगवती आराधना*

(घ) अर्हदाचार्य-बहुश्रुत-प्रवचनेषु भावविशुद्धियुक्तोऽनुरागे भक्तिः। *-सर्वार्थसिद्धि*

होकर एकमात्र शुद्ध आत्मा = परमात्मा के प्रति रति = अनुरक्ति होना। पाराशर्य (पराशर-पुत्र व्यास) ने कहा–भगवान की पूजा आदि में अनुराग होना भक्ति है। इसका तात्पर्य है–साकार में निराकार को देखना, निराकार को निमंत्रण देना–पुकारना, अर्चा = पूजा है। नारद ने एक बात और कही है भक्ति के विषय में–समस्त कर्मों–कार्यों को भगवान के अर्पण कर देना भक्ति है। शरीर, मन, बुद्धि, कर्म (प्रवृत्ति) आदि में से कुछ भी अपना मत समझो, सब कुछ परमात्मा पर छोड़ दो, तुम कर्त्ता न रहो, साक्षी हो जाओ।[1]

जैन-सिद्धान्त की निश्चयदृष्टि से भक्ति की चरम निष्पत्ति भक्त और भगवान या उपास्य और उपासक बीच के द्वैत या दूरी को समाप्त करने में है। यह दूरी ज्यों-ज्यों कम होती जाती है, त्यों-त्यों व्यक्ति स्वयं में भगवत्ता की अनुभूति करने लगता है और एक दिन इस द्वैत को समाप्त करके भक्त स्वयं भगवान बन जाता है। जैसा कि 'भक्तामर स्तोत्र' में कहा गया है–

"नात्यद्भुतं भुवन-भूषण ! भूतनाथ ! भूतैर्गुणैर्भुविभवन्तमभिष्टुवन्तः।
तुल्या भवन्ति भवतो ननु तेन किंवा, भूत्याश्रितं य इह नात्मसमं करोति॥"[2]

–हे विश्व के शृंगार ! हे जगन्नाथ ! विद्यमान गुणों द्वारा आपकी स्तुति = प्रीति = भक्ति करने वाले पृथ्वी पर आपके समान हो जाते हैं, यह बहुत आश्चर्यजनक नहीं है अथवा उस (स्वामी) से क्या, जो इस लोक में अपनी विभूति (परमात्मरूप ऐश्वर्य) से अपने आश्रित (अधीन सेवक) को अपने समान नहीं करता/बना देता।

रागात्मक-भक्ति से सर्वकर्ममुक्तिरूप मोक्ष या संवर-निर्जरा कैसे ?

सामान्यतया भक्ति में अनुरक्ति (अनुराग), श्रद्धा एवं विशुद्ध प्रेम को आवश्यक माना है। परमात्मा के प्रति निश्छल प्रेम, अनुराग, श्रद्धा ही भक्ति का आधार है। दूसरी ओर जैनधर्म में वीतरागता-प्राप्ति को साधक का लक्ष्य बताया

---

१. (क) सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा॥२॥
(ख) सा न कामसमाना, निरोधरूपत्वात्॥७॥
(ग) अन्याश्रयाणां त्यागोऽनन्यता॥१०॥
(घ) नारदस्तु तदर्पिताऽखिलाचरिता, तद्-विस्मरणे परमव्याकुलतेति॥१९॥
–नारदभक्तिसूत्र २, ७, १०, १९
(ङ) कथादिष्विति गर्गः।
(च) आत्मरत्यविरोधेनेति शाण्डिल्यः।
(छ) पूजादिष्वनुराग इति पाराशर्यः।
(ज) 'भक्तिसूत्र' (आचार्य रजनीश) से भाव ग्रहण, पृ. १२२-१३५
२. भक्तामर स्तोत्र, श्लो. १०

गया है। इन दोनों की संगति कैसे हो सकती है? वीतरागता का साधक राग = अनुराग से कैसे जुड़ सकता है? यह सत्य है कि जैन-परम्परा में भक्तिभाव की चर्चा अवश्य हुई है। सम्यग्दर्शन के व्यावहारिक स्वरूप में देव, गुरु, धर्म के प्रति या तत्त्वार्थ या शास्त्र के प्रति श्रद्धा, भक्ति या बहुमान का स्पष्ट उल्लेख है। विनय, वैयावृत्यतप के रूप में भी भक्ति की सार्थकता बताई गई है। 'सूत्रकृतांगसूत्र' में **सत्थार भत्ति** शब्द तथा 'ज्ञातासूत्र' में **भत्तिचित्ताओ** शब्द भक्ति को परिलक्षित करते हैं। तीर्थंकर पद-प्राप्ति में सदा भूत २० कारणों में वहाँ श्रुतभक्ति (सुयभत्ति) का स्पष्ट उल्लेख है। साथ ही वहाँ अरिहंत, सिद्ध, प्रवचन, गुरु, स्थविर, तपस्वी आदि के प्रति वत्सलता या वल्लभता का उल्लेख भी भक्ति का ही एक रूप है। 'तत्त्वार्थसूत्र' में अर्हत्, आचार्य, बहुश्रुत एवं प्रवचन (शास्त्र) की भक्ति तीर्थंकर पद-प्राप्ति के १६ कारणों में मानी गई है।

प्रशस्तराग को भक्ति में स्थान देने के दो कारण

जो भी हो, पूर्वोक्त अनुरागात्मक भक्ति में राग किसी न किसी रूप में अवश्य है। 'कल्पसूत्र टीका' में स्नेह या अनुराग को मोक्षमार्ग में एक अर्गला बताया है। गणधर गौतम की भगवान महावीर के प्रति अनन्य-भक्ति भी रागात्मक होने से उन्हें रागांश रहा तब तक केवलज्ञान या सर्वकर्ममुक्तिरूप मोक्ष प्राप्त नहीं हुआ।

किन्तु जैनाचार्यों ने राग के दो प्रकार निर्धारित किये–प्रशस्तराग और अप्रशस्तराग। जैनाचार्यों ने प्रशस्तराग को भक्ति के रूप में स्थान दिया, उसके मुख्यतया दो कारण हैं–एक तो अप्रशस्तराग (अशुद्ध या अशुभ राग) की ओर बढ़ती हुई जनता को देव, गुरु, धर्म और तत्त्वों के प्रति श्रद्धा में दृढ़ रखने हेतु भक्ति में प्रशस्तराग को स्थान दिया। परन्तु उसे मोक्ष-प्राप्ति में बाधक ही माना। दूसरे–यथार्थ तत्त्वदृष्टि प्राप्त होने पर भी जब तक साधक दशा है, तब तक राग रहता है अर्थात् जब तक पूर्ण वीतराग दशा प्राप्त नहीं होती, तब तक उसमें राग रहेगा, किन्तु वह राग प्रशस्त हो तो उससे अशुभ राग के निरोधरूप शुभ योगसंवर अथवा प्रशस्तरागयुक्त भक्तिभाव के द्वारा अपना आत्मबोध, स्वरूपरमणता आदि होने से भावसंवर और सकामनिर्जरा भी हो सकती है।[1]

---

१. (क) 'सागर जैन विद्या भारती, भा. १' से भाव ग्रहण, पृ. ३०
(ख) सूत्रकृतांग, श्रु. १, अ. १४, गा. २४
(ग) ज्ञातासूत्र, अ. १६, १४
(घ) तत्त्वार्थसूत्र, अ. ६, सू. ४३
(ङ) मोक्खमग्ग-पवन्नाणं सिणेहो वज्जसिंखला। *–कल्पसूत्र विनयविजय टीका, पृ. १२०*

दूसरी बात यह है कि सम्यग्दृष्टि तत्त्वज्ञ साधक में शुभ राग के निमित्त (वीतराग परमात्मा आदि) के प्रति आदर–बहुमान रहता है, परन्तु उसकी दृष्टि में शुभ राग को आदर नहीं है सिर्फ अखण्ड निर्विकारी शुद्ध आत्म-गुणों का, शुद्ध आत्म-स्वरूप का ही आदर या बहुमान है। इस प्रकार की पूर्ण अविकारी आत्मा की रुचि ही आत्मा को परमात्मभाव की ओर बढ़ाती है। राग से पूर्णतयारहित वीतराग को = शुद्ध आत्मा को, शुद्ध आत्म-स्वरूप को पहचानने और उक्त सत् की रुचि का मन्थन-मनन करने में वह वीतराग परमात्मा आदि की भक्ति को निमित्त मानता है। **'वन्दे तद्गुणलब्धये'** उन्हीं अरिहन्तों, सिद्धों, वीतरागों के गुणों की उपलब्धि के लिए ही वह वन्दना, नाम-स्मरण, स्तुति, भक्ति आदि करता है। इसी दृष्टि से वह परमात्म-भक्ति को अपनाता है, ताकि वह इस समय वीतराग परमात्मा की भक्ति में प्रशस्तराग होते हुए भी उस निमित्त से अपनी आत्मा को वीतरागता से ओतप्रोत बना सके, वीतरागता में तन्मय हो सके तथा परमात्मभाव प्राप्त करने के लिए सतत जाग्रत रख सके। साथ ही परमात्मा आदि की भक्ति, गुणगान, स्तुति, नाम-स्मरण आदि में निमग्न रहकर अशुभ भावों तथा अशुभ राग को सतत मन से हटा सके।

परन्तु ऐसा आत्मार्थी एवं मुमुक्षु भक्तिमान् साधक इस तथ्य-सत्य को भलीभाँति समझ लेता है कि मेरे में परमात्मभाव या शुद्ध आत्म-भाव मेरी ही आत्मा स्वभाव में पुरुषार्थ से, शुद्ध रत्नत्रय साधना से ला सकती है। भगवान या अन्य कोई मुझे तार देगा, सहायता कर देगा या किसी के प्रति शुभ राग से या परमात्मा की शुभ रागयुक्त भक्ति से मैं परमात्मभाव प्राप्त कर लूँगा, ऐसी धारणा या मान्यता उसकी नहीं होती। परमात्मा की भक्ति शुभ या शुद्ध भाव में तथा वीतराग परमात्मा का स्मरण कराने में निमित्त है। ऐसा मानकर तत्त्वज्ञानी भक्त (परमात्मभाव = मोक्षरूप) पूर्ण साध्य के प्रारम्भ और बीच की स्थिति या भूमिका का सतत ध्यान रखता है।[1]

भेद-भक्ति और अभेद-भक्ति का रहस्य, महत्त्व और उपादेयत्व

सिद्ध परमात्मा या अरिहन्त परमात्मा (यानी विदेहमुक्त और सदेह जीवन्मुक्त) दोनों में से किसी को अपनी पूर्वोक्त शुभ (प्रशस्त) रुचि (राग) या निमित्त मानकर उनका पूर्वोक्त विविध रूप से आलम्बन लेकर भक्ति करना, जैनदृष्टि से **भेद-भक्ति** है, किन्तु भेद-भक्तिमान् की दृष्टि सम्यक् हो, मोक्षलक्ष्यी या परमात्मपद-प्राप्तिलक्ष्यी अथवा शुद्धात्मभावलक्ष्यी हो, तभी शुद्ध भेद-भक्ति है अन्यथा लक्ष्यविहीन, केवल

---

१. 'पानी में मीन पियासी' से भाव ग्रहण, पृ. २९२

भेद-भक्ति वाला साधक वहीं अटककर रह जाता है। वह भेद-भक्ति से यानी भेद-भक्ति के अवलम्बन को छोड़कर अभेद-भक्ति में नहीं पहुँच पाता।

और अभेद-भक्ति वह है, जिसमें अपनी ही आत्मा को परिपूर्ण शुद्ध परमात्म-स्वरूप जानकर उसकी भक्ति = श्रद्धा-प्रतीति-ज्ञान-भक्ति करके उसी में लीन होना अभेद-भक्ति है। जैसा कि एक आचार्य ने कहा है-

"मोक्ष-साधन-सामग्र्यां भक्तिरेव गरीयसी।
स्व-स्वरूपानुसन्धानं भक्तिरित्यभिधीमते॥"

-जितनी भी मोक्ष (सर्वकर्ममुक्ति) की साधन-सामग्री है, उनमें भक्ति ही सबसे बढ़कर है और आत्मा के शुद्ध स्वरूप का अनुसन्धान करना-शुद्ध स्वरूप में लीन होना 'भक्ति' कहलाती है।

यद्यपि अभेद-भक्ति ही निश्चय-भक्ति = परमार्थ-भक्ति है, वह अपनी आत्मा की निश्चय रत्नत्रय में रमणतारूप भक्ति है। वही आत्मा पर आये हुए आवरणों को डायरेक्ट, शीघ्र नष्ट करने में अनन्तर कारण है, यही मुक्ति और मोक्षसुख का साक्षात्कारण है। कषायादि विभावों, विकारों और तज्जनित कर्मावरणों का शीघ्र सर्वथा नाश करके सीधा परमात्म (सिद्धत्व) पद प्राप्त करने के लिए आत्मा की अभेद-भक्तिपूर्वक आराधना आवश्यक है, किन्तु यह भक्ति सातवें गुणस्थान की भूमिका से प्रारम्भ होकर बारहवें गुणस्थान में परिपूर्ण होती है, उससे पूर्व साधक दशा में बहुधा प्रथम भेद-भक्ति होती है। जैनदृष्टि से पूर्वोक्त भेद-भक्ति में परमात्म-स्वरूप का विचार अपनी आत्मा की वर्तमान अवस्था निर्बलता-सबलता का विवेकपूर्वक विश्लेषण, परमात्मा के प्रति उत्साहपूर्वक बहुमान के साथ भक्ति तथा मोक्षलक्ष्यी या परमात्मभावलक्ष्यी दृष्टि होती है। सम्यग्दृष्टि मुमुक्षु आत्मा भेद-भक्ति की भूमिका में रहकर भी-"मैं स्वयं अर्हत् या सिद्ध परमात्मा हूँ। मुझमें अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त शक्ति और अनन्त आत्मिक आनन्द विद्यमान है।" मैं ऐसा ही परमात्मा हूँ, आत्मा में ही परमात्मा बनने की शक्ति है। यों अपनी आत्मा की पहचान = अनुभूति होती है, ऐसे भावों से युक्त होकर उसकी वह अभेदलक्ष्यी भेद-भक्ति शुद्ध व्यवहार-भक्ति हो जाती है। वह यह भी स्पष्ट ज्ञान-भान रखता है कि भेद-भक्तिवश आत्मा में शुभ राग अवश्य होता है, मगर आत्मा का स्वरूप शुभ-अशुभ दोनों प्रकार के रागों से रहित है। ऐसी सतत प्रतीति और स्मृति आत्मा में रहे, ऐसा प्रयत्न अनिवार्य है।

नीचे की भूमिका में वीतरागदेव, निर्ग्रन्थ गुरु और शुद्ध धर्म आदि की भक्ति का शुभ भाव आता है, किन्तु ज्ञानी तत्त्वदृष्टि-परायण सम्यग्दृष्टि भक्त उसे शुभास्रव (पुण्य) का कारण समझता है। वह निश्चयदृष्टि से परम भक्ति नहीं है।

केवल शुभ रागपूर्वक भक्ति करना शुभास्रव का कारण है। किन्तु भेद-भक्तिमान् भी *सिद्ध परमात्मा के गुणों को लक्ष्य में लेकर भक्ति करता है।* ऐसे भानपूर्वक निज शुद्ध आत्मा में लीनता निश्चय-भक्ति है, वहाँ जो सिद्ध परमात्मा की भक्ति का भाव है, वह व्यवहार-भक्ति है। ऐसी भक्ति भी संवर, निर्जरा और अन्त में मोक्ष का कारण हो सकती है। निखालिस अभेद-भक्ति वह है, जिसमें यह ज्ञान-भान रहता है कि अपनी शुद्ध आत्मा ही परमात्मा है। परमात्मपद कहीं बाहर नहीं, अपनी आत्मा में, आत्म-शक्ति में भरा है। उसी की श्रद्धा, प्रतीति और ज्ञान करके उसी में लीन होना ही परम (निश्चय) = अभेद-भक्ति है। जैसे कि 'नियमसार' में कहा है–अपनी ज्ञानानन्दस्वरूपी रागरहित शुद्ध आत्मा की निर्विकल्प श्रद्धा, ज्ञान और स्वरूपरमणता ही परमार्थ-भक्ति = अभेद-भक्ति है। अतः उस परम शक्तिमान् शुद्ध आत्मा को ही अभेद-भक्ति में कारण-परमात्मा माना जाता है तथा वर्तमान केवलज्ञानादि पूर्ण पर्याय का या परम स्वभाव का पूर्णतया प्रगट होना कार्य-परमात्मा है। आत्मा की सिद्धि, मुक्ति का सीधा उपाय यही अभेद-भक्ति है, जो शुद्ध रत्नत्रय से होती है। इसी अभेद-भक्ति में ही आत्मा की आराधना, आत्मा की ही भक्ति, प्रसन्नता, कृपा और उसी का अनुग्रह एवं आत्म-स्वभाव की ही रागरहित साधना है।[1]

● ●

---

१. 'पानी में मीन पियासी' के आधार पर, पृ. २९३-२९५

१०

शीघ्र मोक्ष-प्राप्ति के पुरुषार्थ की सफलता

चार प्रकार के पुरुषार्थ : रहस्यार्थ

भारतीय संस्कृति में चार प्रकार के पुरुषार्थ बताए गए हैं-(१) धर्म, (२) अर्थ, (३) काम, और (४) मोक्ष। इन चारों में से अर्थ और कामपुरुषार्थ को धर्मपुरुषार्थ के नियंत्रण में रखकर करने का निर्देश भी उन विज्ञों ने किया है। अर्थपुरुषार्थ का मतलब केवल धन में पुरुषार्थ नहीं है, अर्थपुरुषार्थ का रहस्यार्थ है-जीवन के लिए आवश्यक पदार्थों को प्राप्त करने का पुरुषार्थ। इसी प्रकार कामपुरुषार्थ का रहस्यार्थ है-आवश्यकतानुसार इन्द्रिय और मन के विषयों में प्रवृत्त होने का पुरुषार्थ। परन्तु इन दोनों पुरुषार्थों को क्रियान्वित करते समय विवेक, यतना, लक्ष्य का ध्यान तथा संवर-निर्जरारूप धर्म, मुमुक्षुत्व एवं आत्मार्थित्व होना प्रत्येक साधक के लिए अनिवार्य है। यही कारण है कि अर्थ और कामपुरुषार्थ पर धर्मपुरुषार्थ का अंकुश रखना अनिवार्य बताते हुए वेदव्यास जी ने कहा-

"धर्मादर्थश्च कामश्च, स धर्मः किं न सेव्यते ?"

-धर्म से अर्थात् धर्म के परिप्रेक्ष्य में, संवर-निर्जरारूप धर्म की मर्यादा में अर्थ और कामपुरुषार्थ का सेवन करना हितकर है, अतः उस शुद्ध धर्म का-आत्म-धर्म का सेवन क्यों नहीं करते ?[1]

तात्पर्य यह है कि साधुवर्ग को साधुधर्म की मर्यादा में रहते हुए और गृहस्थ-श्रावकवर्ग को गृहस्थ-श्रावकधर्म की मर्यादा में अर्थ और काम का सेवन करना हितकर है। एकान्त अर्थ और कामपुरुषार्थ तो सर्वथा हेय ही है।

साधु-श्रावकवर्ग के लिए अर्थ और कामपुरुषार्थ

कोई कह सकता है कि साधुवर्ग के लिए अर्थ और कामपुरुषार्थ की क्या आवश्यकता है ? उत्तर में निवेदन है कि साधुवर्ग को भी अपने जीवन-निर्वाह के लिए, शरीर-यात्रा के लिए तथा संयम-यात्रा के लिए आहार-पानी, वस्त्र, पात्र, रजोहरण, धर्मशास्त्र, पुस्तक आदि पदार्थों को लाने, उनकी यतना और विवेकपूर्वक उपभोग

---

१. धर्मश्चार्थश्च कामश्च मोक्षश्चेति महर्षिभिः।
पुरुषार्थोऽयमुपदिष्टः चतुर्भेदः पुरातनैः॥ -ज्ञानसार ३/४

करने का पुरुषार्थ क्या अर्थपुरुषार्थ नहीं है? और पाँचों इन्द्रियों तथा मन को अपने-अपने विषयों में क्या साधुवर्ग को प्रवृत्त होना नहीं पड़ता? वह आवश्यकतानुसार देखता, सुनता, सूँघता, चखता और स्पर्श भी करता है, वाणी से बोलता भी है, हाथ-पैरों आदि का भी यथोचित यथावश्यक उपयोग करता है। मन, बुद्धि, चित्त और हृदय से मनन-चिन्तन और निर्णय भी करता है, सोचता-विचारता भी है। किन्तु इन सब का उपयोग वह यथासम्भव करता है–राग-द्वेष, कषाय, आसक्ति-मूर्च्छा, प्रियता-अप्रियता आदि विभावों–विकारों से रहित होकर यतनापूर्वक ही। वह धर्म में और धर्मानुप्राणित अर्थ और काम में पुरुषार्थ करता है। साधुवर्ग हो या गृहस्थवर्ग, दोनों अपनी-अपनी मर्यादा में रहकर अर्थ और काम का पुरुषार्थ धर्म के नियंत्रण में करते हैं। दोनों ही सदैव यह ध्यान रखते हैं कि किसी भी प्रवृत्ति का पुरुषार्थ ऐसा हो, जिससे हमारे सम्यक्त्व में आँच न आए, हमारे व्रतों में कोई दोष न लगे, हमारी धर्म-मर्यादाएँ सुरक्षित रहें। अर्थात् हमारे सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र किसी भी इहलौकिक-पारलौकिक कामना, निदान, स्वार्थ, भोगाकांक्षा या फलाकांक्षा से अथवा यशःकीर्ति-प्रतिष्ठा-प्रशंसा की लिप्सा से ग्रस्त न हो। साधुवर्ग भी यह विवेक रखता है कि समिति-गुप्तिरूप अष्टप्रवचन माता द्वारा हमारे आत्म-धर्म की–आत्मा की रक्षा हो। क्या इस प्रकार धर्ममर्यादा में रहते हुए पाँचों इन्द्रियों का तथा मनोगत विषयों का राग-द्वेष या प्रियता-अप्रियता से रहित होकर सेवन करना कामपुरुषार्थ का सेवन करना नहीं है? 'दशवैकालिकसूत्र की निर्युक्ति' में कहा गया है– "धर्म, अर्थ और कामपुरुषार्थ को भले ही अन्य कोई परस्पर विरोधी मानते हों, किन्तु जिन-वचन के अनुसार कुशल अनुष्ठान में अवतरित होने के कारण उन्हें परस्पर असपत्न यानी अविरोधी समझने चाहिए।" 'आचारांगसूत्र' में भी स्पष्ट कहा गया है कि "किसी भी साधक का पाँचों इन्द्रियों के विषयों का सर्वथा सेवन करना शक्य नहीं है, किन्तु उन सब में जो राग और द्वेष के भाव हैं, उनसे सदा दूर रहना चाहिए।"

यही कारण है कि 'दशवैकालिकसूत्र' के छठे अध्ययन में कहा गया है–

"हंदि ! धम्मत्थ-कामाणं निग्गंथाणं सुणेह मे।"

–हे शिष्य ! निर्ग्रन्थों के धर्म तथा धर्मनियंत्रित अर्थकामों (अर्थ-कामपुरुषार्थों) का निरूपण मुझसे सुनो।

इसके आगे की गाथाओं में साधुधर्म की मर्यादाओं के अनुसार संयम-यात्रा के लिए कौन-कौन-से आवश्यक पदार्थों का तथा इन्द्रिय-नोइन्द्रिय-विषयों का ग्रहण, उपयोग एवं संरक्षण किस प्रकार करना चाहिए, किस प्रकार नहीं? इसका विधि-निषेध के रूप में बहुत ही उत्तम ढंग से प्रस्तुत किया गया है।[1]

---

१. (क) धम्मो अत्थो कामो, भिन्ने ते पिंडिया पडिस वत्ता।
जिणवयण-उत्तिन्ना, असवत्ता होंति नायव्वा॥ –*दशवैकालिक निर्युक्ति* २६२

(ख) दशवैकालिकसूत्र, अ. ६, गा. ४, ७-६९

इसी प्रकार गृहस्थ-साधकवर्ग के लिए भी श्रावकधर्म की मर्यादा में पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतों का विधान किया गया है। सातवें उपभोग-परिभोग-परिमाणव्रत में श्रावकवर्ग के उपभोग्य-परिभोग्य वस्तुओं की मर्यादा तथा आजीविकार्थ व्यवसाय-मर्यादा का निर्देश है। पाँच अणुव्रत तथा तीन गुणव्रतों का विधान एवं आठवें अनर्थदण्ड में मन-वचन-काया से निरर्थक हिंसादि पर नियंत्रण का निर्देश है। छठे दिशा-परिमाणव्रत में निरर्थक भ्रमण, व्यवसाय के लिए अमर्याद गमनागमन, विविध दिशाओं में अनावश्यक गमनागमनादि से होने वाले हिंसादि आस्रवों के निरोध का निर्देश है। क्या श्रावकवर्ग के लिए विहित बारह व्रत, उसके धर्मपुरुषार्थ तथा धर्मनियंत्रित अर्थ-कामपुरुषार्थ के अनुरूप नहीं है?[1]

दोनों वर्गों का अन्तिम लक्ष्य या ध्येय मोक्ष-प्राप्ति है

परन्तु साधुवर्ग हो या श्रावकवर्ग (गृहस्थ-साधकवर्ग) दोनों के समक्ष लक्ष्य एक ही है, ध्येय समान ही है—सर्वकर्मक्षयरूप मोक्ष-प्राप्ति का अथवा शुद्ध आत्म-स्वरूप में स्थित होने का, सिद्ध-बुद्ध-मुक्त-सर्वदुःखों के अन्तकृत् होने का आत्मा से परमात्मा बनने का, परमात्मपद प्राप्त करने का।

धर्मादि पुरुषार्थ मोक्ष-प्राप्ति के लिए है

निष्कर्ष यह है, अन्ततोगत्वा सारा पुरुषार्थ मोक्ष-प्राप्ति के लिए है, मोक्षपुरुषार्थ के लिए ही तत्वज्ञ एवं मुमुक्षु-साधक धर्मपुरुषार्थ करते हैं तथा धर्मनियंत्रित अर्थ-कामपुरुषार्थ करते हैं।

धर्मपुरुषार्थ सर्वपुरुषार्थों की प्राप्ति का मूल कारण

'पुरुषार्थ दिग्दर्शन' में कहा गया है—धर्मपुरुषार्थ सब पुरुषार्थों की प्राप्ति का मूल कारण है। धर्म से पुण्य, संवर एवं निर्जरा होती है। मोक्षपुरुषार्थ को प्राप्त करने के लिए संवर-निर्जरारूप धर्मपुरुषार्थ की सदैव आराधना करनी चाहिए। परन्तु चारों पुरुषार्थों में मोक्ष ही परम पुरुषार्थ माना गया है। इसी के आराधक पुरुष उत्तम पुरुष माने जाते हैं। जो लोग मोक्ष और धर्म की उपेक्षा करके अर्थ और कामपुरुषार्थ में ही अपनी शक्ति का व्यय करते हैं, वे अधम पुरुष हैं। ऐसे लोग बीज को खा जाने वाले किसान के सदृश हैं, जो भविष्य में धर्मोपार्जित पुण्य के नष्ट हो जाने पर दुःख पाते हैं।[2]

---

१. देखें—'श्रावकधर्म-दर्शन' (प्रवक्ता—उपाध्याय पुष्कर मुनि जी म.) से भाव ग्रहण

२. (क) त्रिवर्गं तत्र सापायं जन्मजातक दूषितम्।
ज्ञात्वा तत्वविदः साक्षाद्यतन्ते मोक्षसाधने॥ —*ज्ञानसार ३/५*

(ख) 'पुरुषार्थ दिग्दर्शन' के आधार पर

वास्तव में 'स्याद्वादमंजरी' के अनुसार भावमोक्ष का लक्षण है–"आत्मा का स्व-स्वरूप में अवस्थान करना मोक्ष है।" 'पंचास्तिकाय' के अनुसार–"जीव (आत्मा) का शुद्ध (निश्चय) रत्नत्रयात्मक परिणाम भावमोक्ष है और उक्त भावमोक्ष के निमित्त से जीव और कर्मों के प्रदेशों का निरवशेष रूप से पृथक् हो जाना द्रव्यमोक्ष है।" इसे ही दूसरे शब्दों में 'नयचक्र' के अनुसार–"आत्म-स्वभाव से मूल व उत्तर कर्मप्रकृतियों के संचय का छूट जाना मोक्ष है।"[१]

मोक्षपुरुषार्थी-साधक की शीघ्र सफलता के सूत्र

तात्पर्य यह है कि मोक्ष में पुरुषार्थ करने वाले साधक को 'पंचास्तिकाय वृत्ति' के अनुसार–"विशुद्ध ज्ञान-दर्शन लक्षण वाले जीव (आत्म) का स्वभाव में अवस्थान करना ही मोक्षमार्ग में पुरुषार्थ करना है।" ऐसा मोक्षपुरुषार्थी स्वभाव और पर-भाव तथा आत्म-भावों और विभावों का सम्यक्विवेक, यथार्थ विश्लेषण एवं सम्यग्ज्ञान प्राप्त करके पर-भावों का केवल ज्ञाता-द्रष्टा होकर तथा विभावों से यथाशक्ति दूर रहने का पुरुषार्थ करता रहता है। साथ ही वह 'परमात्मप्रकाश' के अनुसार–अपने आत्मा को ही देखता है, जानता है, (आत्म-स्वभावानुरूप) आचरण करता है, वही विवेकी ज्ञान-दर्शन-चारित्ररूप में परिणत जीव मोक्ष (पुरुषार्थ) का सफल कारण बनता है। उसके मन में, बुद्धि में, हृदय में, चित्त में सोते-उठते-बैठते-जागते, खाते-पीते सदैव सर्वथा मोक्ष ही स्मृति-पथ पर रहता है। मोक्षपुरुषार्थी की आत्मा मोक्ष के भावों से सदा भावित रहती है। जैसे कि आगमों में यत्र-तत्र मुमुक्षु आत्मार्थी साधकवर्ग के लिए कहा गया है–"**संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरइ।**" (वह साधक संयम और तप से अपनी आत्मा को भावित करता हुआ विहरण करता है।) संयम और तप दूसरे शब्दों में संवर और निर्जरा, मोक्षपुरुषार्थ में शीघ्र सफलता के लिये आवश्यक हैं, क्योंकि ये शुद्ध आत्म-धर्म के अंग हैं।[२]

---

१. (क) स्वरूपावस्थानं हि मोक्षः। —*स्याद्वाद-मंजरी ८/८६/१*

(ख) कर्म-निर्मूलनसमर्थः शुद्धात्मोपलब्धिरूप जीवपरिणामो भावमोक्षः।
भावमोक्षनिमित्ते न जीवकर्म-प्रदेशानां निरवशेषां-पृथक्भावो द्रव्यमोक्षः।
—*पंचास्तिकाय ता. वृ. १०८/१७३/१०*

(ग) जं अत्तसहावादो मूलोत्तर-पयडि-संचियं मुच्चइ, तं मुक्खं अविरुद्धं।
—*नयचक्र वृ. १५९*

२. (क) ततः स्थितं विशुद्ध-ज्ञान-दर्शन-लक्षणे जीवस्वभावे निश्चलावस्थानं मोक्षमार्गः इति।
—*पंचास्तिकाय ता. वृ. १५८/२२९/१२*

(ख) पेच्छइ जाणइ अणुचरइ अप्पिं अप्पउ जो जि।
देसणु णाणु चरित्तु, जिउ मोक्खहं कारणं सो जि॥ —*परमात्मप्रकाश, मू. २/१३*

मोक्षपुरुषार्थ की सिद्धि कैसे और कब होती है ?

मोक्षपुरुषार्थ द्वारा शीघ्र मोक्ष-प्राप्ति के अभिलाषी साधक को पद-पद पर अप्रमत्त होकर, उत्कृष्ट मोक्षभावों से भावित होकर, आत्मा को पर-भावों और विभावों से यथाशक्ति बचाते हुए मोक्षपथ पर निरन्तर श्रद्धा, प्रतीति, रुचि, **स्पर्शना**, **पालना** और **अनुपालना** के साथ असंदिग्ध एवं सुदृढ़ होकर चलना है, तभी वह लक्ष्य सिद्ध कर सकेगा।[१]

मोक्षपुरुषार्थ की सिद्धि कब होती है ? 'पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय' में इसका निरूपण करते हुए कहा गया है-"जब अशुद्ध आत्मा समग्र विभावों के पार को प्राप्त करके अपने निष्कम्प चैतन्यस्वरूप को प्राप्त होता है, तब यह आत्मा कृतकृत्य होता है और सम्यक् प्रकार से (मोक्ष) पुरुषार्थ की सिद्धि को प्राप्त होता है। क्योंकि विपरीत श्रद्धान को नष्ट करके निज स्वरूप को यथावत् जानकर अपने स्वरूप से च्युत न होना ही (मोक्ष) पुरुषार्थसिद्धि का उपाय है।"[२]

मोक्षपुरुषार्थी सतत अप्रमत्त होना चाहिए

अतः मोक्ष-प्राप्ति के लिए पुरुषार्थ करने वाला साधक सतत सावधान, अप्रमत्त, जाग्रत, शुद्ध आत्म-स्वरूप को अविस्मृत होना चाहिए और प्रतिक्षण शम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा और आस्था का दीपक उसके चित्त-मन्दिर में प्रज्वलित रहना चाहिए।

निष्कर्ष यह है कि मुमुक्षु साधक को मोक्ष-प्राप्ति के लिए ईश्वर, परमात्मा या किसी देवी-देव या किसी भी शक्तिमान् प्राणी द्वारा देने पर भरोसा न रखकर या किसी के देने से मोक्ष मिल जाएगा, ऐसा विश्वास न रखकर स्वयं पुरुषार्थ से ही मोक्ष प्राप्त होगा, इस प्रकार का दृढ़ विश्वास रखना चाहिए।[३] 'आचारांगसूत्र' में कहा गया है-"बंध और मोक्ष तुम्हारे अंदर (आत्मा में) ही हैं।"[४]

मोक्ष-प्राप्ति के लिए दुर्लभ क्रमशः पन्द्रह अंग

दूसरी बात यह है-मोक्ष-प्राप्ति ही जिसका लक्ष्य है, उसे सर्वप्रथम भलीभाँति यह समझ लेना चाहिए, मोक्ष प्राप्त करने की योग्यता किसको और कब प्राप्त होती

---

१. ...... सिद्धिमग्गं मुत्तिमग्गं, निज्जाणमग्गं निव्वाणमग्गं, सव्व दुक्खं हीणमग्गं ...... सद्दहामि पत्तियामि रोएमि। फासेमि, पालेमि, अणुपालेमि।
देखें-इन शब्दों की व्याख्या 'श्रमणसूत्र' (उपाध्याय अमर मुनि) में

२. सर्व-विवर्त्तोत्तीर्णं यदा स चैतन्यमचलमाप्नोति, भवति तदा कृतकृत्यः, सम्यक्-पुरुषार्थसिद्धिमापन्नः। विपरीताभिनिवेशं निरस्य सम्यग्व्यवस्य निजतत्त्वं, यत्तस्मादविचलनं स एव पुरुषार्थ सिद्ध्युपायोऽयम्। *-पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय, श्लो. ११, १५*

३. अप्पमत्तो जए निच्चं।

४. बंध-मोक्खो अज्झत्थेव। *-आचारांग, श्रु. १, अ. ५, उ. २*

है? बिना योग्यता के और बिना सोचे-समझे, देखादेखी, अन्ध-विश्वास से प्रेरित होकर अपनी शक्ति और क्षमता के पहचाने बिना मोक्ष के लिए अव्यवस्थित ढंग से, बिना क्रम के, बिना ज्ञान के पुरुषार्थ करने से मोक्ष प्राप्त होना बहुत ही दुष्कर है। 'पंचवस्तुक' नामक ग्रन्थ में मोक्ष-प्राप्ति के लिए क्रमशः पन्द्रह बातों का होना सर्वप्रथम अनिवार्य बताया है।[१] मोक्ष के वे पन्द्रह अंग (उपाय) क्रमशः इस प्रकार हैं–

(१) **त्रसत्व (जंगमत्व)**–अनादिकाल से जीव चार गति और चौरासी लाख जीव योनियों में परिभ्रमण करता आ रहा है। उसमें निगोद आदि के जीव या अभव्य जीव मोक्ष प्राप्त करने के बिलकुल अयोग्य हैं। पृथ्वीकायिक आदि स्थावर जीव भी स्थावर अवस्था में मुक्ति पाने के योग्य नहीं हैं। वे स्थावर अवस्था को छोड़कर दुर्लभ त्रस अवस्था को प्राप्त करने पर उनमें से अमुक जीव ही मोक्ष-प्राप्ति के किंचित् योग्य बनते हैं। इसलिए मोक्ष-प्राप्ति के पन्द्रह अंगों में पहला अंग है त्रसत्व या जंगमत्व–निगोद तथा पृथ्वीकायादि को छोड़कर द्वीन्द्रियादि त्रसत्व अवस्था को प्राप्त त्रस जीव जंगम कहलाते हैं। बहुत थोड़े जीव स्थावर अवस्था से त्रस अवस्था को प्राप्त करते हैं।

(२) **पंचेन्द्रियत्व**–जंगम अवस्था प्राप्त करके बहुत-से जीव द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय होकर ही रह जाते हैं। मोक्ष के लिए पंचेन्द्रियत्व प्राप्त होना अनिवार्य है, जिसे प्राप्त करना बहुत कठिन है।

(३) **मनुष्यत्व**–पंचेन्द्रिय अवस्था प्राप्त करके भी बहुत-से जीव नरक तिर्यञ्च देव आदि गतियों में परिभ्रमण करते रहते हैं, जहाँ मोक्ष-प्राप्ति नहीं हो सकती। मोक्ष-प्राप्ति के लिए मनुष्य-भव मिलना अत्यावश्यक है। आद्य शंकराचार्य ने भी विवेक चूड़ामणि में आत्मा के मोक्ष हेतु पुरुषार्थ करने पर जोर देते हुए कहा है– जो व्यक्ति कथंचित् दुर्लभ मनुष्य-जन्म, उसमें भी पुरुषत्व और शास्त्र-श्रवण का योग पाकर भी जो मूढ़ बुद्धि वाला मनुष्य स्वात्म-मोक्ष के लिए पुरुषार्थ नहीं करता है, वह आत्म-हन्ता है और असदाग्रह से स्वयं का विनाश कर बैठता है।[२] आशय यह है कि देवदुर्लभ मनुष्य-जन्म पाकर मोक्षपुरुषार्थ करना चाहिए।

(४) **आर्यदेश**–मनुष्य-भव प्राप्त होने मात्र से मोक्ष-प्राप्ति नहीं होती। बहुत-से ऐसे जीव जो अनार्य, म्लेच्छ या धर्मविहीन क्षेत्रों में जन्म लेते हैं, वहाँ उन्हें धर्म का कुछ भी ज्ञान नहीं हो पाता, इसलिये मनुष्य-भव में भी आर्यदेश का मिलना कठिन है।

---

१. (क) पंचवस्तुक, गा. १५६-१६३
(ख) जैनसिद्धान्त बोल संग्रह, भा. ५, बोल ८५०

२. लब्ध्वा कथंचिन्नरजन्म-दुर्लभं, तत्रापि पुंस्त्वं श्रुति-पारदर्शनम्।
यः स्वात्ममुक्तौ न यतेत मूढधी, स ह्यात्महा स्वं विनिहन्त्यसद्ग्रहात्॥ *–विवेक चूड़ामणि ४*

(५) **उत्तम कुल**–आर्यदेश में उत्पन्न होकर भी बहुत-से लोग नीच कुल में उत्पन्न होते हैं, जैसे–हरिकेशवल चाण्डाल कुल में उत्पन्न हुआ, जहाँ उसे धर्म का बिलकुल बोध नहीं हुआ। नीच कुलोत्पन्न मानव को सद्धर्म के आचरण का वातावरण एवं सुसंस्कार तथा सत्संग नहीं मिलता। इसलिए आर्यदेश के पश्चात् उत्तम कुल का मिलना बहुत कठिन है।

(६) **उत्तम जाति**–उत्तम कुल के मिलने पर भी उत्तम जातियुक्त मातृपक्ष सुसंस्कारी, धर्मनिष्ठ, विशुद्ध न हो तो मोक्ष-प्राप्ति में सत्पुरुषार्थ होना कठिन होता है। इसलिए विशुद्ध एवं उत्तम जाति का मिलना आवश्यक है।

(७) **पंचेन्द्रिय समृद्धि (रूप समृद्धि)**–नाक, आँख, कान, जीभ आदि पाँचों इन्द्रियों की परिपूर्णता का नाम रूप-समृद्धि है। पूर्वोक्त सभी बातें मिल जाने पर भी यदि पाँचों इन्द्रियों की पूर्णता न हो, यानी कोई भी इन्द्रिय हीन या क्षीण हो तो सद्धर्म का यथार्थ रूप से आचरण नहीं हो सकता। श्रोत्रेन्द्रिय में किसी प्रकार की हीनता हो तो शास्त्र-श्रवण या धर्मकथा-श्रवण का लाभ नहीं लिया जा सकता। चक्षुरिन्द्रिय में हीनता हो तो जीव दिखाई न देने से उनकी दया या रक्षा नहीं हो सकती। शरीर के अन्य अवयव, जैसे–जीभ में चखने और बोलने की शक्ति में हीनता आ गई हो तो किसी चीज को चखकर निर्णय न कर सकने के कारण उस पर तथा बोलने की शक्ति नष्ट या हीन होने के कारण उस पर संयम नहीं रखा जा सकेगा। इसी प्रकार शरीर के हाथ-पैर आदि अवयव पूर्ण न होने से या पूर्ण स्वस्थ न होने से भी धर्म और मोक्षपुरुषार्थ सम्यक् रूप से नहीं हो सकेंगे। यही कारण है मोक्ष-प्राप्ति के लिये पाँचों इन्द्रियों की पूर्णता एवं स्वस्थता का होना अत्यावश्यक है।

(८) **बल (पुरुषार्थ)**–उपर्युक्त सभी साधन मिलने पर भी शरीर में बल, वीर्य, पराक्रम और सामर्थ्य न हो तो त्याग, व्रत, नियम, प्रत्याख्यान या बाह्य आभ्यन्तर तप, परीषह-उपसर्ग-सहिष्णुता, तितिक्षा आदि कुछ भी नहीं हो सकता। अतः तन-मन में सामर्थ्य एवं शक्ति का होना भी अत्यन्त आवश्यक है।

(९) **जीवित (दीर्घ आयु)**–बहुत-से प्राणी जन्म लेते ही या रोगादि के कारण अल्प आयु में ही मर जाते हैं। दीर्घ आयुष्य मिले बिना प्राणी धर्म की आराधना-साधना नहीं कर सकता। अतः जीवित (दीर्घ जीवन या लम्बी आयु) भी मोक्ष-प्राप्ति में सहायक है।[1]

(१०) **विज्ञान (नवतत्त्वज्ञान)**–लम्बा आयुष्य प्राप्त करके बहुत-से मनुष्य विवेक विकल होते हैं। उन्हें हित-अहित का, हेय-उपादेय का ज्ञान नहीं होता। इस कारण उनकी रुचि जीवादि नौ तत्त्वों के ज्ञान के प्रति नहीं होती। नौ तत्त्वों के

---

१. जैनसिद्धान्त बोल संग्रह, भा. ५, बोल ८५०

स्वरूप का तथा उनमें से ज्ञेय-हेय-उपादेय का ज्ञान करके आत्म-हित की ओर प्रवृत्ति करना सच्चा विज्ञान है, जो मोक्ष-प्राप्ति के अभ्यासी के लिए आवश्यक है।

(११) **सम्यक्त्व (सम्यग्दर्शन)**—सर्वज्ञ तीर्थंकरों द्वारा प्ररूपित पारमार्थिक जीवादि तत्त्वों पर श्रद्धान करना व्यवहार-सम्यक्त्व है। निश्चयदृष्टि से शुद्ध आत्म-तत्त्व के प्रति श्रद्धा, प्रतीति, रुचि होना सम्यग्दर्शन है, उसमें प्रेरित एवं मार्गप्रदर्शित करने वाले अरिहन्त देव, निर्ग्रन्थ गुरु एवं तत्प्रज्ञप्त शुद्ध धर्म के प्रति श्रद्धा-भक्ति-वहुमान रखना व्यवहार सम्यग्दर्शन है। यह सम्यक्त्व बहुत ही दुर्लभ है, इसकी प्राप्ति के बिना जीव को मोक्ष पद प्राप्त होना दुष्कर है।

(१२) **शील-सम्प्राप्ति (सम्यक्चारित्र-प्राप्ति)**—बहुत-से जीव सम्यक्त्व प्राप्त करके भी चारित्र प्राप्त नहीं कर पाते। चारित्र-प्राप्ति के बिना मनुष्य पूर्ण मुक्ति (सर्वकर्ममुक्ति) प्राप्त नहीं कर सकता। यही कारण है कि विज्ञान, सम्यक्त्व और चारित्र; दूसरे शब्दों में सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र, ये तीनों समन्वित होकर मोक्ष का मार्ग[१] बताया गया है। इन तीनों की प्राप्ति अत्यन्त दुर्लभ है।

(१३) **क्षायिकभाव**—उन-उन घातिकर्मों के क्षय होने पर प्रकट होने वाला परिणाम क्षायिकभाव है। बहुत-से मानव साधक चारित्र अंगीकार करके भी क्षायिकभाव प्राप्त नहीं कर पाते। क्षायिकभाव प्राप्त हुए बिना सर्वकर्ममुक्तिरूप मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकता। क्षायिकभाव के नौ प्रकार हैं—(१) केवलज्ञान, (२) केवलदर्शन, (३) दानलब्धि, (४) लाभलब्धि, (५) भोगलब्धि, (६) उपभोगलब्धि, (७) वीर्यलब्धि, (८) सम्यक्त्व, और (९) चारित्र। ये नौ क्षायिकभाव सर्वघाती चार कर्मों के सर्वथा क्षय होने पर प्रकट होते हैं। ये नौ भाव सादि-अनन्त हैं।

(१४) **केवलज्ञान**—पूर्वोक्त क्रम से विकास करता हुआ जीव जब बारहवें गुणस्थान में पहुँचकर सर्वप्रथम आत्मा के मूलगुणों के घात करने वाले घातिकर्मों से सर्वप्रथम मोहनीयकर्म का सर्वथा क्षय करता है। तदनन्तर शेष तीनों घातिकर्मों (ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तराय) का एक साथ सर्वथा क्षय हो जाता है। ज्ञानावरणीय कर्म नष्ट होने पर आत्मा के ज्ञानगुण पर आया हुआ आवरण सदा के लिये हट जाता है और वह अनन्त ज्ञान (केवलज्ञान) प्राप्त कर लेता है। दर्शनावरणीय का नाश होने पर आत्मा का अनन्त दर्शनरूप गुण प्रगट होता है। अतः वह अनन्त दर्शन (केवलदर्शन) से युक्त हो जाता है। मोहनीयकर्म के नष्ट होते ही आत्मा में अनन्त चारित्रगुण प्रगट होता है और अन्तरायकर्म नष्ट होते ही उसमें अनन्त आत्म-शक्ति प्रगट होती है। मोक्ष-प्राप्ति के लिये ये चारों अनन्त ज्ञानादि प्राप्त होने अतीव आवश्यक हैं। बारहवें गुणस्थान के प्राप्त होने पर

---

१. सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः। —*तत्त्वार्थसूत्र, अ. १, सू. १*

अन्तर्मुहूर्त्त में ही जीव तेरहवें गुणस्थान में पहुँचकर वीतराग एवं सयोगीकेवली हो जाता है। तेरहवें गुणस्थान में योगों की प्रवृत्ति होती है और चार अघातिकर्म शेष रहते हैं। कषायरहित योगों के कारण केवल प्रकृतिबन्ध व प्रदेशबन्ध होता है; स्थितिबन्ध और रसबन्ध (कर्मों की स्थिति तथा उनमें फल देने की शक्ति वाला बन्ध) नहीं होता। फलतः नाममात्र का बन्ध होता है, पहले समय में बन्ध, दूसरे समय में वेदन और तीसरे समय में बिना फल दिये स्वयमेव वे झड़ जाते हैं।

(१५) **सर्वकर्ममुक्तिरूप मोक्ष**–चौदहवें गुणस्थान में वेदनीय, नाम, गोत्र; ये तीन अघातिकर्म आयुकर्म के क्षय होने के साथ ही क्षय हो जाते हैं। मन-वचन-काया की प्रवृत्तिरूप योगों का निरोध हो जाता है। अतः सर्वकर्मों का क्षय हो जाना अर्थात् सर्वकर्मों से मुक्त हो जाना मोक्ष है। मोक्ष होते ही जीव (आत्मा) सिद्ध, बुद्ध, मुक्त, सर्वदुःखमुक्त हो जाता है। आठ ही कर्मों के नष्ट हो जाने से मोक्ष-प्राप्त जीव में ८ गुण प्रगट होते हैं–(१) अनन्त ज्ञान, (२) अनन्त दर्शन, (३) अनन्त अव्याबाध सुख, (४) अनन्त शक्ति, (५) यथाख्यात चारित्र, (६) अक्षयत्व, (७) अरूपित्व = अमूर्त्तत्व, (८) अगुरुलघुत्व। ये पन्द्रह अतिदुर्लभ मोक्ष की प्राप्ति के अंग (उपाय) हैं। इनमें से जितने-जितने अंग जिस जीव को प्राप्त हो गए हैं, उससे आगे के अंगों के लिए अप्रमत्तभाव से पुरुषार्थ करना चाहिए। विशेषतः प्रमादरहित होकर सम्यक्चारित्र की प्राप्ति तथा उससे आगे के लिए सतत प्रयत्न करना ही मोक्षपुरुषार्थ की सफलता है।[1]

शीघ्र मोक्ष-प्राप्ति के लिए किन-किन बातों में किस-किस प्रकार का पुरुषार्थ करना चाहिए? शीघ्र मोक्ष-प्राप्ति के पुरुषार्थ में सर्वप्रथम दृष्टि सम्यक् और स्पष्ट होनी चाहिए।

आज अधिकांश लोग मोक्ष के विषय में लम्बी-चौड़ी चर्चा कर देते हैं। वे मोक्ष के विषय में घंटों प्रवचन कर सकते हैं, परन्तु जहाँ मोक्ष के विषय में आचरण का–पुरुषार्थ का–पराक्रम करने का प्रश्न आता है, वहाँ उनके पैर लड़खड़ाने लगते हैं। यह ज्ञान और आचरण की दूरी, आज की नहीं, चिरकालिक है। महाभारत के खलनायक दुर्योधन के द्वारा इसी प्रकार के उद्‌गार महारभारत में अंकित हैं– "**जानामि धर्मं, न च मे प्रवृत्तिः, जानाम्यधर्मं, न च मे निवृत्तिः।**"–मैं धर्म को जानता हूँ, परन्तु उसे कर नहीं पाता; मैं अधर्म को भी जानता हूँ, किन्तु उसे छोड़ नहीं पाता। यह बहुत पुरानी बात है–आदमी मोक्ष को अच्छा जानता है, परन्तु मोक्ष के विषय में पुरुषार्थ नहीं कर पाता, दूसरी ओर, वह मोह-मूर्च्छा-ममता को बुरी मानता है, किन्तु उन्हें छोड़ नहीं पाता। निष्कर्ष यह है कि आदमी अच्छे को अच्छा

१. (क) जैनसिद्धान्त बोल संग्रह, भा. ५, बोल ८५०
(ख) वही, भा. २, पृ. २०७

जानता है और बुरे को बुरा, किन्तु न वह अच्छे को कर पाता है और न ही बुरे को छोड़ पाता है। क्या यह ज्ञान और आचरण की दूरी बनी की बनी रहेगी? क्या वह मिट नहीं पाएगी? यदि मिट नहीं सकती है, तो ज्ञान की-सम्यग्ज्ञान की सार्थकता कहाँ है?

मोक्ष के प्रति पुरुषार्थ मोक्ष के स्वरूप को जानते हुए भी क्यों नहीं होता ?

जो व्यक्ति मोह और मूर्च्छा के कारण होने वाले कर्मबन्ध को बुरा मानता है और चाहता है कि सर्वकर्ममुक्तिरूप मोक्ष की प्राप्ति हो, उसके लिए प्राचीन बद्ध कर्मों का क्षय निर्जरा के द्वारा तथा नवीन कर्मों के आगमन का निरोध संवर के द्वारा करके मोक्ष की दिशा में शीघ्र गति-प्रगति करके उसकी प्राप्ति करनी है, परन्तु वह होती नहीं, तो उसके मन में एक अनुताप-संताप तथा अपने पुरुषार्थ के प्रति अश्रद्धा एवं सस्ती सिद्धियों-प्रसिद्धियों, चमत्कारों और प्रशंसा के प्रति आसक्ति पैदा होती है और मोक्ष के ज्ञान से उसका आचरण मोक्ष-प्राप्ति से दूरातिदूर होता जाता है। लगा था-मोक्ष-प्राप्ति के पुरुषार्थ के लिए, किन्तु हो रहा है-संसार-वृद्धि का पुरुषार्थ ! क्या इस मोक्ष के ज्ञान और तदनुरूप पुरुषार्थ की दूरी को मिटाने का कोई समाधान नहीं है? अवश्य है, दुनियाँ में ऐसी कोई समस्या नहीं, जिसका समाधान न हो। हर समस्या का समाधान है, बशर्ते कि हम उसे भलीभाँति जानें और उस पर श्रद्धापूर्वक चलें।

मोक्ष के ज्ञान और तदनुरूप आचरण में पुरुषार्थ की दूरी तब तक नहीं मिट सकती, जब तक दृष्टिकोण सम्यक् न हो, सम्यग्दर्शन न हो, मोक्ष तत्त्व के प्रति श्रद्धा, भक्ति, आस्था, रुचि दृढ़ और तीव्र न हो, मोक्ष प्राप्त करने की उत्कण्ठा, तीव्र विश्वास न हो। जब मोक्ष के प्रति आस्था, श्रद्धा, रुचि और दृष्टिकोण का निर्माण हो जाता है, तो मोक्ष के ज्ञान और तदनुरूप आचरण की दूरी कम होने लगती है।[1]

शीघ्र मोक्ष-प्राप्ति के लिए चारों का समन्वित पुरुषार्थ जरूरी

यही कारण है कि मोक्ष-प्राप्ति के लिए भगवान महावीर ने सिर्फ ज्ञान का होना ही पर्याप्त नहीं माना है, ज्ञान के साथ-साथ सम्यग्दर्शन का होना अनिवार्य माना है। बिना सम्यग्दर्शन के ज्ञान सम्यक् नहीं हो सकता और ज्ञान सम्यक् हुए बिना आचरण (पुरुषार्थ = चारित्र) सम्यक् नहीं होगा। चारित्र में पुरुषार्थ के लिए तथा ज्ञान-दर्शन-चारित्र के साथ-साथ आने वाले कषाय-कालुष्य को, राग-द्वेष को धोने के लिए बाह्य-आभ्यन्तर सम्यक्तप भी आवश्यक है। इस प्रकार ज्ञान, दृष्टि,

१. 'अपने घर में' (आचार्य महाप्रज्ञ) से भाव ग्रहण, पृ. ११७-११९

चारित्र और तप, इन चारों का समन्वित एवं सम्यक् पुरुषार्थ ही मोक्ष-प्राप्ति में शीघ्र सफलता दिला सकता है।[1]

कोरे ज्ञान से आचरण में बाधा डालने वाली बातें दूर नहीं होतीं

ज्ञान का काम सिर्फ जानना है। हेय, ज्ञेय और उपादेय, यह एक त्रिपदी है। जो ज्ञान का विषय है, वह ज्ञेय है। जान लेने पर दो दृष्टियाँ बनती हैं–एक तो हेय को हेय मानती है, दूसरी उपादेय को उपादेय मानती है। पहले मोक्ष के यथार्थ स्वरूप का जान लेना, तदनन्तर छोड़ने की बात को जान लेना और ग्रहण (स्वीकार) करने की बात को भी जान लेना, ये तीन बातें ज्ञेय (ज्ञान) के दायरे में आती हैं। इससे ज्ञान पर जो आवरण (पर्दा) था वह हट गया। स्पष्ट प्रतीत होने लगा। परन्तु इतनी ही पर्याप्त नहीं है।

ज्ञान होने से केवल आवरण हटा है, परन्तु आचरण में बाधा डालने वाली बात अभी मौजूद है। जब तक मूर्च्छा नहीं मिटती, मोह का तीव्र आवेग नहीं मिटता, तब तक सम्यक् आचरण (सत्पुरुषार्थ) सम्भव नहीं है। मूर्च्छा का काम है–व्यक्ति को विमोहित–सम्मोहित कर देना, विपर्यय पैदा कर देना, उसकी दृष्टि में विपरीतता ला देना कि जिस प्रकार साँप के काटे हुए कड़वे नीम के पत्ते भी मीठे लगने लगते हैं, उसी प्रकार मनुष्य अधर्म को धर्म और धर्म को अधर्म, संसार के मार्ग को मुक्ति का मार्ग और मुक्ति के मार्ग को संसार का मार्ग समझने लगता है। जानते हुए भी वह अनजान-सा बन जाता है। विपर्यय, संशय और अनध्यवसाय के कारण व्यक्ति मोक्ष आदि का स्वरूप जानता हुआ भी कहाँ, कब, क्या करना है? कर्म मुक्ति के लिए क्या आचरणीय है, क्या अनाचरणीय? उसकी यह सारी स्मृति (मोहवश) विस्मृति बन जाती है।

ज्ञान और आचरण में दूरी का एक कारण : मूर्च्छा का चक्र

प्रायः कई साधक यह जानते हैं कि पेट खराब है, पाचन क्रिया खराब है, अधिक और गरिष्ठ भोजन नहीं करना चाहिए। परन्तु सामने कोई अच्छी चीज आती है, तो खाने का लोभ छोड़ नहीं पाता। डायबिटीज का रोगी जानता है कि मिठाई उसके लिए जहर है; फिर भी वह खाता है। यह सब विपर्याय क्यों होता है? इसलिए होता है कि मनुष्य के अन्तर में मूर्च्छा के परमाणु तीव्रता से गति कर रहे हैं। इस कारण उसका ज्ञान अज्ञान बन रहा है एवं जानने और आचरण में

---

१. (क) नाणं च दंसणं चेव चरित्तं च तवो तहा।
एयमग्गमणुप्पत्ता जीवा गच्छंति सोग्गई॥ *–उत्तरा., अ. २८/२*

(ख) सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः। *–तत्त्वार्थसूत्र, अ. १, सू. १*

दूरी बढ़ रही है।[1] ऐसी स्थिति में आवश्यक है–मोक्ष के स्वरूप को जानने के साथ-साथ उसके प्रति श्रद्धा, दृष्टि, रुचि एवं आस्था का सम्यक् निर्माण हो। दृष्टिकोण को बदलने और आस्था के सम्यक् निर्माण के लिए आवश्यक है–मूर्च्छा (मोह) को कम करना, कषाय के आवेग (अनन्तानुबंधी, अप्रत्याख्यानी, प्रत्याख्यानी कषाय के आवेग) को मन्दतम करना। अर्थात् कषाय और आवेग की तीव्रता मन्दतर, मन्दतम नहीं होगी, तब तक ज्ञान और दृष्टिकोण को विपरीत बनाने वाली अथवा ज्ञान के अनुरूप आचरण में बाधा डालने वाली मोहजनित मूर्च्छा का चक्र नहीं टूटेगा।[2]

चारों आवरणों को मिटाने के लिए

अज्ञान के आवरण का हटना एक बात है और उसके साथ संलग्न मोहजनित मूर्च्छा का हटना दूसरी बात है और उसके साथ सम्यक् आचरण की शक्ति को कुण्ठित, विकृत और कषाय के वेग को तीव्र कर देना तीसरी बात है। इसीलिए मोक्षपुरुषार्थ के प्रति आस्था, निष्ठा और दृढ़ श्रद्धा के निर्माण के लिए सम्यग्ज्ञान से ज्ञान के आवरण को दूर करने के साथ-साथ सम्यग्दर्शन से दृष्टि और श्रद्धा के निर्माण की जरूरत है, इसके साथ ही आस्था के सम्यक् निर्माण के लिए मोहजनित कषाय-नोकषायों को मन्दतर करने की आवश्यकता है, जो सम्यक्चारित्र के द्वारा होगी। किन्तु आवेगों की तीव्रता को दूर करने, मन्दतर करने हेतु सम्यक् बाह्याभ्यन्तर तप की आवश्यकता है।

मोक्ष का स्वरूप जानते हुए भी कर्मक्षय का पुरुषार्थ नहीं कर पाते

अधिकांश व्यक्ति मोक्ष या परमात्मपद को प्राप्त करना चाहते हैं, उनका स्वरूप भी जानते हैं, उपाय भी। किन्तु प्रायः आशा, आकांक्षा, इच्छा, प्रसिद्धि, प्रशंसा, लोभ, भय, काम, आवेश आदि से इतने अधिक पीड़ित या अभ्यस्त रहते हैं कि वे मोक्ष के लिए पुरुषार्थ करने हेतु आस्था, निष्ठा, श्रद्धा, दृष्टिकोण एवं तपःशक्ति का सम्यक् प्रयोग–उपयोग नहीं कर पाते। उनके अध्यवसायों में सम्यक् तीव्रता एवं क्षमता नहीं आ पाती। यही कारण है कि वे मोक्ष के विषय में सम्यक् पुरुषार्थ नहीं कर पाते। उनकी दृष्टि या श्रद्धा–आस्था केवल कामचलाऊ या लोकदिखाऊ बनी रहती है। सम्यग्दृष्टि एवं आस्था के लिए वस्तु या तथ्य की

---

१. ज्ञान केवलज्ञान (शुद्धतम अनन्त ज्ञान) कब होता है? इसके लिए 'तत्त्वार्थसूत्र' में स्पष्ट कहा है–"मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तराय क्षयाच्च केवलम्।" मोह के क्षय से, साथ ही ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तरायकर्म के क्षय से केवलज्ञान होता है और पूर्ण मोक्ष होता है–'कृत्स्न-कर्मक्षयो मोक्षः' के अनुसार समस्त कर्मों के सर्वथा क्षय से। –सं.

२. 'अपने घर में' से भावांश ग्रहण, पृ. ११९

गहराई में पहुँचना आवश्यक है। ऊपर-ऊपर से जान लेने से तथ्य का सही आकलन नहीं हो पाता। दृष्टि, श्रद्धा या आस्था एवं तपःशक्ति की दृढ़ता का निर्माण हुए बिना मुमुक्षु व्यक्ति या तो वाह्य क्रियाकाण्डों या विकल्पों में ही अटककर रह जाता है या कोरे ज्ञान का सहारा लेकर स्वयं को झूठा आश्वासन देता रहता है अथवा संसार के मार्ग वाले पुण्य कार्यों को कर्मक्षयकारी सद्धर्म का, मोक्ष का मार्ग समझकर असम्यक् दिशा में पुरुषार्थ करता रहता है।[1]

मोक्ष के लिए सम्यग्ज्ञानपूर्वक पुरुषार्थ का महत्त्व

जैनागमों में भी यत्र-तत्र सम्यग्ज्ञान के साथ पुरुषार्थ का महत्त्व बताया है- "पहले (ज्ञपरिज्ञा से) बन्धन का परिज्ञान करके तदनन्तर उसके विषय में हेयोपादेय का बोध प्राप्त करो और फिर उस (कर्म) बन्धन को तोड़ने का पराक्रम करो।"[2] कोई भी साधक अपने सम्यक् पुरुषार्थ से ही कर्मबन्धनों को तोड़ सकता है, आते हुए नवीन कर्मपुद्गलों को रोक (आस्रवनिरोध) कर सकता है। सद्पुरुषार्थ का महत्त्व बताते हुए 'उत्तराध्ययनसूत्र' में कहा गया है-"संयम और तपश्चरण से पूर्वकर्मों का क्षय करके सर्वदुःखों को नष्ट करने (सिद्ध-बुद्ध-मुक्त होने) के लिए महर्षिगण पराक्रम करते हैं।" "कर्मों के (कर्मबन्ध के) हेतुओं (कारणों) को दूर करके और क्षमा (क्षमाभाव तथा परीषहोपसर्गादि सहिष्णुता) से यश (संयम) का संचय करके वह साधक पार्थिव शरीर को छोड़कर ऊर्ध्व दिशा (देवलोक या मोक्ष) की ओर गमन करने का पराक्रम करता है।" नमिराजर्षि ने भी संसार से मुक्त होने के पुरुषार्थ की सफलता बताते हुए कहा-"तपरूपी वाणों से कर्मरूपी कवच का भेदन करके बाह्य संग्रामविरत व अन्तर्युद्ध का विजेता मुनि संसार से परिमुक्त हो जाता है।"[3]

इन आगम-प्रमाणों से स्पष्ट प्रतिध्वनित होता है कि व्यक्ति को देवलोक-प्राप्ति या मोक्ष-प्राप्ति में मुख्य कारण उसका स्वयं का सत्पुरुषार्थ है। जो व्यक्ति कर्मबन्ध और उसके कारणों को समझकर तोड़ने का तथा उसके कारणों से बचने का पुरुषार्थ करता है, वही मोक्ष प्राप्त कर सकता है। क्या आत्मा के पुरुषार्थ के बिना स्वतः कर्मपुद्गल बँध जाते हैं? ऐसा तो नहीं होता। जिस प्रकार व्यक्ति के स्वकीय

---

१. 'अपने घर में' से भाव ग्रहण, पृ. १२०

२. बुज्झिज्ज तिउट्टेज्जा, बंधणं परिजाणिया।

३. (क) खवित्ता पुव्व कम्माइं संजमेण तवेण य।
सव्वदुक्खप्पहीणट्ठा पक्कमंति महेसिणो॥ —उत्तरा., अ. २८/३६

(ख) विगिंच कम्मणो हेउं, जसं संचिणु खंतिए।
सरीरं पाढवं हिच्चा उड्ढं पक्कमइ दिसं॥ —वही ३/१३

(ग) तव-नारायजुत्तेण भित्तूण कम्मकंचुयं।
मुणी विगय-संगामो भवाओ परिमुच्चए॥

पुरुषार्थ से (भले ही वह शारीरिक हो या मानसिक), कर्म बँध जाता है, उसी प्रकार व्यक्ति के स्वकीय पुरुषार्थ से कर्मों से मुक्ति (संवर-निर्जरा द्वारा) भी हो सकती है। 'उत्तराध्ययनसूत्र' का सम्यक्त्व-पराक्रम नाम का समग्र अध्ययन सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चरित्र और सम्यक्तप से सम्बन्धित विविध सूत्रों के माध्यम से मोक्ष के लिये किये जाने वाले पुरुषार्थ की ही प्रेरणा देने वाला है। उसी आगम का ३२वाँ प्रमादस्थान नामक अध्ययन के अन्त में भी कहा गया है कि प्रमाद से जो बन्ध होता है, उसके निवारण के लिए अप्रमत्ततापूर्वक समतायोग में पुरुषार्थ करके वह साधक वीतराग, कृतकृत्य, घातिकर्म चतुष्टय निवारक, अमोही, निरन्तराय, अनास्रव, केवली और ध्यानसमाधियुक्त होकर आयुष्य के क्षय होने पर शुद्ध पूर्ण मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।[१] 'समयसार' ग्रन्थ में भी पुरुषार्थ की महत्ता प्रतिपादित करते हुए कहा गया है-"जैसे अर्थार्थी पुरुष राजा को जानकर उसके प्रति श्रद्धा करता है, फिर प्रयत्न द्वारा उसके अनुकूल आचरण करता है; उसी प्रकार मोक्षकामी पुरुष को जीव (आत्मा) रूपी राजा को पहले जानना चाहिए, तदनन्तर उस पर श्रद्धा करनी चाहिए और फिर उसी (आत्मा) के अनुकूल आचरण करना चाहिए।" भगवान महावीर ने अपने जीवन के पूर्ण आध्यात्मिक विकास रूप मोक्ष के लिए स्वयं सत्पुरुषार्थ का जगत् को सन्देश दिया है। उन्होंने पुरुषार्थ के बिना कर्मबन्ध से मुक्ति (मोक्ष) के लिए अयोग्य बताया है-"जो केवल बंध और मोक्ष की लम्बी-चौड़ी व्याख्या करते हैं, ऐसे लोग बंध से छुटकारा पाने तथा मोक्ष प्राप्त करने की बातें कहते हैं, परन्तु तदनुकूल आचरण बिलकुल नहीं करते। ऐसे वाणी शूर इतने मात्र से स्वयं को आश्वासन देते रहते हैं। इसी प्रकर मोक्षपुरुषार्थ का माहात्म्य बताते हुए 'समयसार' में कहा गया है-"जिस प्रकार चिरकाल से बन्धन में पड़ा हुआ पुरुष बन्धन काटने का पुरुषार्थ न करे तो चिरकाल तक भी उक्त बन्धन से छुटकारा नहीं पा सकता; उसी प्रकार कर्मबन्धों के प्रदेश, अनुभाग, प्रकृति और स्थितिरूप भेदों को जान लेने मात्र कर्मबन्ध से मुक्ति नहीं हो सकती; बल्कि राग-द्वेष आदि को बन्धनकारक जानकर उन्हें छोड़ने के तीव्र पुरुषार्थ से ही मोक्ष प्राप्त हो सकता है।"[२]

---

१. (क) देखें-उत्तराध्ययनसूत्र का २९वाँ 'सम्यक्त्व-पराक्रम' नामक अध्ययन

(ख) देखें-उत्तराध्ययनसूत्र का ३२वाँ 'प्रमादस्थान' नामक अध्ययन

(ग) सवीयरागो कय-सव्व किच्चो, खवेइ नाणावरणं खणेणं।
तहेव जं दंसण मावरेइ, जं चांतरायं पकरेइ कम्मं॥१०८॥
सव्वंतओ जाणइ पासए य, अमोहणे होइ निरंतराए।
अणासवे झाणसमाहिजुत्ते, आउक्खए मोक्खमुवेइ सुद्धं॥१०९॥

-उत्तराध्ययन, अ. ३२, गा. १०८-१०९

२. (क) जह णाम कोवि पुरिसो, रायाणं जाणि ऊण सद्दहदि।
तो तं अणुचरदि पुणो, अत्थत्थीओ पयत्तेणं॥१७॥

मोक्षपुरुषार्थी का ध्येय और आदर्श तथा पुरुषार्थ में सफलता के मूलमंत्र

अतः मोक्षपुरुषार्थ में मोक्ष को ध्येय और परमपद (परमात्मपद) को आदर्श मानकर जो चलता है, उसे कितना सजग, सावधान और अप्रमत्त होकर चलना चाहिए? इस विषय में 'अनुयोगद्वारसूत्र' में दिशा निर्देश किया गया है- "मोक्षपुरुषार्थी-साधक का चित्त, मन, लेश्या और अध्यवसाय मोक्ष की ओर हो; मोक्ष के प्रति उसका तीव्र अध्यवसानपूर्वक साहस (या उत्साह) हो; मोक्ष के लिये अभीष्ट साधना में उसका उपयोग रहे; मोक्ष के प्रति उसकी निष्ठा (प्रीतिकरण) हो; मोक्ष की भावना से ही वह भावित रहे।"

'आचारांगसूत्र' के अनुसार-"एकमात्र मोक्ष की ओर ही उसकी दृष्टि हो, मोक्ष की ओर ही उसका मन हो, मोक्ष का आकार ही उसके मन-मस्तिष्क में जम जाए, मोक्ष को आगे करके (केन्द्र में रखकर) वह गति-प्रवृत्ति करे तथा मोक्ष का ही वह आसेवन = आचरण करे।"[1] मोक्षपुरुषार्थी-साधक के जीवन में इस प्रकार की अनन्य निष्ठा-श्रद्धा-भक्ति मोक्ष के प्रति होनी चाहिए। तभी उसे मोक्षपुरुषार्थ में सफलता मिल सकती है।

जैनदर्शन ने ईश्वर (परमात्मा) को जगत् के कर्त्ता-हर्त्ता के रूप में स्वीकार नहीं किया है, अपितु आदर्श के रूप में उसको अवश्य स्वीकार किया है। उसने सर्वकर्मक्षयरूप मोक्ष को ध्येय मानकर मोक्ष-प्राप्त परमात्माओं को आदर्श के रूप में स्वीकार किया है। साथ ही मोक्ष के विषय में उसने स्वयं पुरुषार्थ करने का सन्देश दिया है।

पिछले पृष्ठ का शेष-

एवं हि जीवराया णादव्वो, तह य सद्दहेयव्वो।
अणु चरिदव्वो य पुणो, सो चेव दु मोक्खकामाण॥१८॥ *-समयसार, गा. १७-१८*

(ख) भणंता अकरेंता य, बंध-मोक्ख-पहण्णिणो।
वाया-विरियमेत्तेण समासासेंति अप्पयं॥ *-उत्तराध्ययन, अ. ६, गा. १०*

(ग) जहणाम कोवि पुरिसो बंधणयम्हि चिरकाल-पडिवद्धो।
तिव्वं मंदसहावं कालं च वियाणए तस्स॥२८८॥
जइ ण वि कुणदिच्छेदं ण मुच्चए, तेण बंधण-वस्सो सं।
कालेण य बहुएण वि सो णरो पावइ विमोक्खं॥२८९॥
इय कम्मबंधणाणं, पएस-ठिइ-पयडिमेवमणुभागं।
जाणंतो वि ण मुच्चइ, मुच्चए सो चेव जइ सुद्धो॥२९०॥
-समयसार, गा. २८८-२९०

१. (क) तच्चित्ते तम्मणे तल्लेसे तदज्झवसिए तत्तिव्वज्झवसाणे तदिट्ठोवउत्ते, तप्पियकरणे तब्भावणाभाविए। *-अनुयोगद्वारसूत्र २८*

(ख) तद्दिट्ठीए तम्मुत्तिए, तप्पुरक्कारे तस्सणी तन्निसेवणे। *-आचारांगसूत्र, श्रु. १, अ. ५, उ. ६*

ईश्वर या अवतार के हाथ में मोक्ष नहीं, मोक्ष स्व-पुरुषार्थ के हाथ में है

कई ईश्वरकर्तृत्ववादी अथवा ईश्वरभक्त यह कहते हैं कि मोक्ष के लिए पुरुषार्थ करने की क्या आवश्यकता है? मोक्ष तो ईश्वर के या भगवान के हाथ में है, वे जब जिसको चाहेंगे, तब उसको मोक्ष दे देंगे। हमारे द्वारा पुरुषार्थ करने से कुछ नहीं होगा। ऐसे अन्ध-विश्वास में ग्रस्त होकर कई लोग हाथ पर हाथ धरकर भगवान भरोसे बैठ जाते हैं अथवा कई अंध-विश्वासी और घोर मिथ्यात्वग्रस्त जीव हिंसा, असत्य, चोरी, डकैती, हत्या, लूटपाट, व्यभिचार आदि कुकर्म निःशंक होकर करते रहते हैं। उनके मन में कभी यह विचार ही नहीं होता कि इन कुकृत्यों का कितना दण्ड भोगना होगा। क्या ईश्वर या कोई अवतार, पैगंबर या शक्तिमान् ऐसे पापी जीव को माफ कर सकता है अथवा सामान्य नैतिक जीवनजीवी हो, तो भी उसे मोक्ष के विषय में स्वयं आध्यात्मिक विकास के लिए पुरुषार्थ किये बिना कोई मोक्ष प्रदान कर सकता है? मोक्ष तो दूर रहा, ऐसे पापी लोगों को देवगति या मनुष्यगति भी प्राप्त होनी कठिन है। धर्मलक्षी नीतिमय जीवन जीने वालों को कदाचित् पुण्य प्रबल हो तो देवगति मिल सकती है। अगर बिना सम्यक् पुरुषार्थ किये ही मोक्ष प्राप्त हो सकता हो, तो सम्यग्यदर्शनादि की या सम्यक्तप आदि की साधना-आराधना करने की क्या आवश्यकता है?

भाग्य भरोसे न रहकर मोक्ष के लिए शुद्ध पुरुषार्थ करना जरूरी

कई भाग्यवादी लोग यह कहते हैं कि भाग्य में मोक्ष पाना लिखा होगा तो मोक्ष मिल जाएगा अन्यथा लाख कोशिश करो, मोक्ष नहीं मिलने का। ऐसा कहने वाले लोग भूल जाते हैं कि भाग्य भी पुरुषार्थ से लिखता है। जैसा शुभ-अशुभ पुरुषार्थ होगा, तदनुसार ही उसके फलस्वरूप सुभाग्य या दुर्भाग्य बनता है। इसलिए मोक्ष के लिए शुभ या शुद्ध पुरुषार्थ करना आवश्यक है, भाग्य भरोसे बैठे रहना नहीं।

सर्वज्ञप्रभु के ज्ञान के भरोसे न बैठकर मोक्षानुकूल पुरुषार्थ करना चाहिए

कई लोग यह शंका भी प्रगट करते हैं कि अनन्त ज्ञानी वीतराग देवों ने ज्ञान में जो कुछ देखा-जाना है, वही होगा, उसके अतिरिक्त तो कुछ होगा नहीं, फिर मोक्ष के लिए इतने कष्ट सहकर, मन मारकर पुरुषार्थ करने की क्या आवश्यकता है? इसका समाधान यह है कि यह सही है कि वीतराग सर्वज्ञप्रभु अपने ज्ञान में सभी जीवों के भावों को यथावत् जानते हैं, परन्तु उनका ज्ञान किसी जीव की क्रियाओं पर प्रतिबन्धक नहीं होता, सभी जीव अपनी इच्छानुसार प्रवृत्ति करते हैं, उनकी प्रवृत्ति को सर्वज्ञप्रभु का ज्ञान रोक नहीं सकता। दूसरी बात-सर्वज्ञप्रभु ने हमारे विषय में क्या-क्या जाना-देखा है? यह बात अल्पज्ञ (छद्मस्थ) तो जान नहीं सकता। कदाचित् अवधिज्ञानादि विशिष्ट ज्ञान से कोई जान भी ले, तो भी उसे मोक्षविषयक

पुरुषार्थ किये बिना केवल सर्वज्ञ द्वारा किये गए ज्ञान से निस्तार नहीं हो सकता, मोक्ष नहीं मिल सकता। वीतराग सर्वज्ञ तीर्थंकरों ने मोक्ष के लिए पुरुषार्थ करने का जो ज्ञान दिया है, तदनुसार पुरुषार्थ करने पर स्वतः मोक्ष प्राप्त हो ही जाएगा।

मोक्ष-प्राप्ति के पुरुषार्थ की सफलता के लिए पंचकारण समवाय अनिवार्य

तीसरी बात–काल, स्वभाव, नियति, पूर्वकृत कर्मक्षय और पुरुषार्थ, इन पाँच कारणों के समवाय (सम्मिलन) होने पर भव्य जीव (मनुष्य) को मोक्ष-प्राप्ति हो सकती है। भव्य मानव को काल (समय) आने पर ही मोक्ष प्राप्त होता है। काल के साथ 'स्वभाव' की भी आवश्यकता है। सिर्फ काल से ही मोक्ष मिल जाए तो अभव्य जीवों को भी मोक्ष मिल जाना चाहिए, किन्तु नहीं मिलता, क्योंकि उनमें मुक्त होने का स्वभाव नहीं है। काल और स्वभाव के साथ नियति (भवितव्यता) भी मोक्ष-प्राप्ति में परम कारण है; अन्यथा सारे भव्य जीव एक साथ मुक्त हो जाने चाहिए? किन्तु नहीं होते। मुक्त वे ही होते हैं, जिन्हें काल, स्वभाव के साथ नियति का योग प्राप्त होता है। नियति का योग प्राप्त होने पर भी कृतकर्म अनुकूल होने चाहिए। कर्म अनुकूल हुए बिना मोक्ष के लिए सत्पुरुषार्थ करते रहने पर भी घोर उपसर्ग और परीषह भगवान महावीर को सहने पड़े। पूर्वकृत कर्म अनुकूल हो, मोक्ष-प्राप्ति के काल, स्वभाव और नियति का भी योग हो, किन्तु समभावपूर्वक रत्नत्रय अथवा चतुर्विध मोक्षमार्ग में पुरुषार्थ न हो तो मोक्ष प्राप्त नहीं होता। गजसुकुमाल मुनि के कर्म, काल, स्वभाव और नियति का योग था और उन्होंने समभावपूर्वक पुरुषार्थ किया तो शीघ्र सर्वकर्मक्षयरूप मोक्ष प्राप्त हो गया, किन्तु काल, स्वभाव, नियति और पुरुषार्थ, इन चारों का योग होने पर भी पूर्वकृत कर्मों का सर्वथा क्षय होने का योग न हो तो मोक्ष प्राप्त नहीं होता, जैसे–शालिभद्र मुनि के पूर्वकृत कर्म क्षय शेष रहने से उन्हें मोक्ष प्राप्त न हो सका। काल, स्वभाव और कर्म व नियति का योग होने पर भी राजा श्रेणिक मोक्ष के अनुकूल चारित्र-पालन का पुरुषार्थ न कर सके, इस कारण मुक्त न हो सके।[१]

मोक्षपुरुषार्थ में बाधक और साधक तत्त्व

निष्कर्ष यह है कि मानव-भव एवं धर्माचरण के योग्य साधना पाकर आत्मार्थी साधक को एकमात्र मोक्ष-प्राप्ति के लिए पुरुषार्थ करना चाहिए। पूर्ण मोक्ष भले ही इस जन्म में न मिले, फिर भी संवर और निर्जरा के द्वारा आंशिक मोक्ष तो प्राप्त होता ही है। प्रत्येक कार्य में अगर शुद्धोपयोग रखा जाय तो पूर्वबद्ध कर्मों का क्षय हो सकता है और नये कर्मों का आगमन (आस्रव) भी रुक सकता है। मोक्षपुरुषार्थ में बाधक मुख्यतया दो हैं–(१) मानसिक द्वन्द्व, और (२) पर-पदार्थों में आसक्ति। इन दोनों बाधक तत्त्वों के निराकरण के लिये साधक तत्त्व चार हैं–(१) दृढ़ निश्चय, (२) लक्ष्य में स्थिरता, (३) पर-पदार्थों से विरक्ति, और (४) धैर्यपूर्वक अभ्यास।

१. सन्मतितर्क प्रकरण, तृतीय काण्ड, भा. ५, गा. ५३, पृ. ७१० के आधार पर

इन चारों साधक तत्त्वों के अवलम्बन से मोक्षपुरुषार्थ में शीघ्र गति और प्रतीति के लिए ज्ञानी पुरुषों की शिक्षा के अनुसार अथवा वीतराग पुरुषों की आज्ञानुरूप विचरण करना चाहिए।[१]

धर्मपुरुषार्थ : कुछ भ्रान्तियाँ और निराकरण

धर्मपुरुषार्थ के विषय में कुछ भ्रान्तियाँ हैं। कुछ लोग आत्मा के वस्तु स्वभाव अहिंसादि या ज्ञानादि स्वभाव को धर्म न मानकर यानी जिनसे कर्मक्षय होता है-संवर-निर्जरा होती है, उस शुद्धोपयोग को धर्म न मानकर पुण्य कार्यों को धर्म मानते हैं। परन्तु मोक्षपुरुषार्थ के परिप्रेक्ष्य में संवर-निर्जरारूप या सम्यग्ज्ञानादि रत्नत्रयरूप धर्मपुरुषार्थ ही अभीष्ट है, ग्राह्य है।

धर्मपुरुषार्थ की साधारण जनता में तीन परिभाषाएँ परिलक्षित होती हैं-(१) लौकिक हित के नैतिकतापूर्ण कार्य या कर्त्तव्य, (२) पुण्य कार्य, अथवा (३) मैत्री आदि भावों से भावित चित्त के द्वारा जो लोकमंगल के कार्य करना। अर्थात् मैत्रीभाव, पारस्परिक हित-चिन्तन, कर्त्तव्यदृष्टि, पूज्यभाव आदि भावों से युक्त होकर सेवा, शिक्षण, चिकित्सा, जीवनयापन में सहायता, दानादि लोकमंगल के कार्य करना। प्रथम परिभाषा में सामूहिक हित को, दूसरी परिभाषा में कर्त्ता के शुभ भाव को और तीसरी परिभाषा में कर्त्ता के शुभ भाव और लोक-कल्याण दोनों को प्रमुखता दी गई है।

अर्थ और कामपुरुषार्थ भी धर्मलक्षी हो, मोक्षाशामूलक हो

सामान्यतया अर्थपुरुषार्थ उसे कहा जाता है-जिन साधनों या पदार्थों से सुखपूर्वक जीवन-निर्वाह हो सके, उनका नीतिपूर्वक या धर्मदृष्टि से अर्जित या प्राप्त करना अर्थपुरुषार्थ है। जबकि देह और मन की सुख-सुविधा के लिए नीतिपूर्वक या अनिवार्य आवश्यकतानुसार यथोचित मर्यादा इन्द्रियों के शब्दादि पाँच विषयों का सेवन करना कामपुरुषार्थ है। जहाँ दूसरों से छीन, लूटकर, शोषण करके या अन्याय-अनीति से अमर्यादित अर्थ अर्जित या प्राप्त किया जाता है, वहाँ अर्थपुरुषार्थ का अतिरेक है, इसी प्रकार जहाँ इन्द्रियों में ग्लानि और देह में आधि-व्याधि-उपाधि हो, अन्याय-अनीति-अमर्यादा से युक्त होकर काम का सेवन किया जाता है, वहाँ कामपुरुषार्थ का अतिरेक है।

जिन-जिन कृत्यों या साधनों से जीव कर्मरूप कालुष्य से राग-द्वेष और कषायों से अथवा भव-परम्परा से मुक्त होता है, उन कृत्यों या साधनों का सेवन करना मोक्षपुरुषार्थ है।[२] मोक्ष के दो रूप हैं-द्रव्यतः और भावतः। सकल कर्मों का क्षय द्रव्यतः मोक्ष है और समस्त विकारी वैभाविक पर-भावों का नाश होकर स्वभावों में अवस्थान होना भावतः मोक्ष है। पूर्वोक्त तीनों पुरुषार्थ मोक्षपुरुषार्थानुलक्षी हो, तभी मोक्ष के लिए किया गया पुरुषार्थ सफल होता है। ● ●

१. 'मोक्खपुरिसत्थो' से भाव ग्रहण, पृ. १५

२. वही, पृ. ३-५

११

शीघ्र मोक्ष-प्राप्ति के विशिष्ट सूत्र

शीघ्र मोक्ष-प्राप्ति के पुराने बोल : नये मोल

पूर्व निबन्ध में हम यह सिद्ध कर आये हैं कि आत्मार्थी और मुमुक्षु साधक के लिए मोक्ष-प्राप्ति का पुरुषार्थ ही उपादेय है। उक्त मोक्ष-प्राप्ति के साधक के रूप में संवर-निर्जरारूप या सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप शुद्ध धर्म के विषय में अहर्निश पुरुषार्थ करने से साधक शीघ्र मोक्ष प्राप्त कर सकता है।

ज्ञानी महापुरुषों ने आगमों का मनन-मन्थन करके 'वेगा-वेगा मोक्ष जावा का बोल' (शीघ्र मोक्ष-गमन के कतिपय बोलों) का चयन एक थोकड़े (स्तोक) के रूप में किया है। ये बोल आगमों के मन्थन से प्राप्त नवनीत के समान है। श्रमणसंघीय प्रवर्त्तक श्री उमेश मुनि जी 'अणु' ने 'मोक्खपुरिसत्थो' नाम से ५-६ भागों में शीघ्र मोक्ष-प्राप्ति के २३ बोलों का विस्तृत विवेचन सहित वर्णन किया है। आपने इन पुराने बोलों का आध्यात्मिक, मनोवैज्ञानिक एवं योगसाधनात्मक दृष्टि से नव-मूल्यांकन प्रस्तुत किया है। साधारण पढ़ा-लिखा आत्म-हितैषी मुमुक्षु भी अगर इन बोलों के अनुसार निश्चय और व्यवहार दोनों दृष्टियों से मोक्ष हेतु पुरुषार्थ करे तो वह मोक्ष के निकट पहुँचने में सफलता प्राप्त कर सकता है। और भी कतिपय पुस्तकों तथा हस्तलिखित पन्नों में शीघ्र मोक्ष जाने के कहीं १४, कहीं १५-१६ और कहीं २१ बोलों का उल्लेख है। हम इस निबन्ध में उन सब बोलों में से जो बोल पुण्य-प्राप्ति के हेतुरूप होने से शुभ कर्मबन्ध के कारण हैं, उन्हें छोड़कर बाकी के सब बोलों को मोक्ष के चार अंगों (साधनों) के रूप में चार भागों में वर्गीकृत करके प्रस्तुत कर रहे हैं।

मोक्षमार्ग के चार अंगों में इन बोलों का वर्गीकरण

भगवान महावीर ने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक्तप, इन चारों को मोक्षमार्ग के नाम से प्ररूपित किया है।[1] अतः इन बोलों को क्रमशः

---

१. (क) नाणं च दंसणं चेव चरित्तं च तवो तहा।
एसमग्गुत्ति पन्नत्तो जिणेहिं वरदंसिहिं॥ *–उत्तराध्ययन, अ. २८, गा. २*

(ख) सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः। *–तत्वार्थसूत्र १/१*

यथायोग्य इन चार भागों में विभक्त कर रहे हैं। इसलिए इन बोलों का क्रम बदल जायेगा। यदि इन बोलों की विधिपूर्वक सम्यक् साधना-आराधना की जाये तो जीव कर्मरूपी जल से परिपूर्ण संसार को पार कर सकता है।

सर्वकर्मक्षयरूप मोक्ष प्राप्त किये बिना कृतकृत्यता नहीं

कर्मों के मुख्यतया दो प्रकार हैं—घातिकर्म और अघातिकर्म। घातिकर्मों का क्षय और क्षयोपशम करना संसार-सागर में तैरना है और अघातिकर्मों का भी क्षय करना संसार-सागर से पार होना है। संसार-सागर से पार हुए बिना सिद्धि = मुक्ति प्राप्त नहीं हो सकती और सर्वकर्ममुक्तिरूप सिद्धि प्राप्त किये बिना जीव अपने शुद्ध स्वरूप में अवस्थित होकर कृतकृत्य नहीं हो सकता।[1]

१९ बोलों का मोक्ष के चार अंगों में वर्गीकरण : कैसे-कैसे ?

मोक्ष का सबसे पहला अंग है—**सम्यग्दर्शन**। इसका सिर्फ एक ही बोल है—मोक्ष की इच्छा (भावना) राखे तो जीव वेगो-वेगो मोक्ष में जाय। मोक्ष का द्वितीय अंग है—**सम्यग्ज्ञान**। इस सम्बन्ध में तीन बोल हैं—(१) गुरुमुख से सूत्र-सिद्धान्तों का वाचन-श्रवण करना, (२) (मोक्ष से सम्बद्ध) सम्यग्ज्ञान सीखना-सिखाना तथा स्वयं स्वाध्याय में लीन होना, दूसरों को पढ़ाना। (३) पिछली रात्रि में आत्म-सम्प्रेक्षणपूर्वक धर्म-जागरण करना। मोक्ष का तृतीय अंग है—**सम्यक्चारित्र**। इससे सम्बन्धित मोक्ष-प्राप्ति के ८ बोल हैं—(१) सिद्धान्त के अनुसार सम्यक् प्रवृत्ति करना, (२) गृहीत व्रतों का शुद्ध (निरतिचार) पालन करना, (३) संयम का दृढ़ता से पालन करना, (४) शुद्ध मन से शील (ब्रह्मचर्य) का पालन करना, (५) शक्ति होते हुए भी क्षमा करना। (६) कषायों पर विजय प्राप्त करना, (७) षड्जीव-निकाय की रक्षा करना, और (८) सुपात्रदान तथा अभयदान देना।

इसके पश्चात् मोक्ष का चतुर्थ अंग है—**सम्यक्तप** (बाह्य-आभ्यन्तरतप)। इससे सम्बन्धित शीघ्र मोक्ष-प्राप्ति में सहायक ७ बोल हैं—(१) (बाह्य-आभ्यन्तर) उग्रतप करना, (२) इन्द्रियों को अन्तर्मुखी करके वश में करना (प्रतिसंलीनतातप), (३) वैयावृत्य (सेवा) करना (वैयावृत्यतप), (४) उत्तम ध्यान करना (ध्यानतप), (५) लगे हुए दोषों की शीघ्र आलोचनादि करके शुद्ध होना (प्रायश्चित्ततप), (६) यथासमय सामायिक आदि आवश्यक करना (प्रतिक्रमण), (७) अन्तिम समय में संलेखना-संथारापूर्वक समाधिमरण प्राप्त करना।

---

१. (क) 'मोक्खपुरिसत्थो, भा. १' से भाव ग्रहण, पृ. १३-१५
(ख) शान्तिलाल जी भल्लगट द्वारा हस्तलिखित पन्ने से
(ग) कृत्स्न-कर्म-क्षयो मोक्षः। —*तत्त्वार्थसूत्र, अ. १०/२*

इस प्रकार मोक्ष के पूर्वोक्त चारों अंगों के कुल मिलाकर १९ बोल शीघ्र मोक्ष-प्राप्ति के सूत्र हैं।

सम्यग्दर्शन के सन्दर्भ में प्रथम महत्त्वपूर्ण बोल : मोक्ष की इच्छा

शीघ्र मोक्ष-प्राप्ति के लिए मोक्ष के प्रति श्रद्धा, निष्ठा और भावना से सम्बन्धित प्रथम बोल है–

"मोक्ष की इच्छा राखे तो जीव वेगो-वेगो मोक्ष में जाय।"

इस सन्दर्भ में मोक्ष क्या है? उसकी इच्छा क्या है? मोक्ष की इच्छा का प्रासंगिक फलितार्थ व फल क्या है? मोक्ष की इच्छा संवेग के रूप में, मोक्ष की इच्छा और अन्य इच्छाओं में अन्तर, मोक्ष की इच्छा के अन्तरंग हेतु, मोक्षपुरुषार्थ में सफलता के लिए मोक्ष की तमन्ना, अनुप्रेक्षा या भावना आवश्यक है। पूर्णतः मोक्ष कब प्राप्त होता है? इन सब बातों पर विचार करने से मोक्षपुरुषार्थ में सफलता प्राप्त हो सकती है।

मोक्ष और उसकी इच्छा : क्या, क्यों और कैसे ?

जैसा कि पहले कहा गया है–व्यवहारदृष्टि से समस्त कर्मों का सदा के लिए क्षय हो जाना **मोक्ष** है और निश्चयदृष्टि से स्व-स्वरूप में अवस्थित हो जाना **मोक्ष** है। अतः कर्मों से, कर्मबन्ध के कारणों से और कर्मों तथा कर्मबन्ध के हेतुओं से निर्मित अवस्थाओं से जो सदा-सदा के लिए विमुक्त हैं, वे मुक्त (सिद्ध) जीव हैं। इस दृष्टि से कर्म, कर्मबन्ध कारणों तथा कर्मजनित अवस्थाओं से सदा के लिए छुटकारा पाना मोक्ष का स्वरूप है और कर्म आदि से छुटकारे की चाह ही मोक्ष की इच्छा है, उसे ही दूसरे शब्दों में मुमुक्षा या संवेग आदि कहते हैं। मोक्ष की इच्छा आदि के तीन रूप होते हैं–

(१) कर्मों से सर्वथा मुक्त होने की इच्छा, (२) जन्म-मरण के चक्र (भवपरम्परा) से छुटकारा पाने की इच्छा, और (३) कर्मबन्ध के कारणों (मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग अथवा राग-द्वेष-मोह, काम आदि अन्तरंग आवेशों) से छुटकारा पाने की इच्छा। ऐसी त्रिविध मुमुक्षा मोक्ष की इच्छा का व्यावहारिक रूप है।

मोक्ष की इच्छा लोकोत्तर होने से कथंचित् उपादेय

सिद्धान्त की दृष्टि से देखा जाये तो इच्छा लोभकषाय या राग का रूप होने से त्याज्य है, क्योंकि अभिलाषा, चाह, एषणा, गृद्धि, लालसा, कामना, कांक्षा, वांछा, अभिध्या, प्रार्थना (माँग) आदि वस्तुतः इच्छा के ही रूप हैं। किन्तु यहाँ मोक्ष की इच्छा साधारण या लौकिक इच्छा नहीं है, अपितु लोकोत्तर इच्छा है। साधारण

इच्छा या कामैषणा के तीन रूप व्यावहारिक जगत् में देखे जाते हैं–पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा। ये लौकिक एषणाएँ यहाँ त्याज्य हैं। किन्तु पूर्वोक्त प्रकार की मुमुक्षा या मोक्ष-प्राप्ति की एषणा लोकोत्तर इच्छा प्रशस्तराग रूप होने से कथंचित् उपादेय है। जब तक दशम गुणस्थान तक की भूमिका प्राप्त न हो, तब तक अमुक भूमिका तक साधक के लिए यह कथंचित् उपादेय है।

निश्चयदृष्टि से मोक्ष की इच्छा हेय, किन्तु व्यवहारदृष्टि से कथंचित् उपादेय

यद्यपि उच्च भूमिका वाले साधक के लिए मोक्ष की इच्छा भी त्याज्य होती है। जैसे कि कहा गया है–"**मोक्षे भवे च सर्वत्र निःस्पृहो मुनिरुत्तमः।**"–श्रेष्ठ मुनिवर मोक्ष और भव (संसार) दोनों के प्रति सर्वत्र निःस्पृह रहता है। वह समता की उच्च भूमिका (वीतरागता) पर अवस्थित होता है, उसे (व्यावहारिक दृष्टि से) मोक्ष शीघ्र पाने की उतावली, व्यग्रता या आकुलता नहीं होती, क्योंकि वह संसार में रहता हुआ भी संसार से उदासीन, निरपेक्ष होकर निश्चयदृष्ट्या स्वरूपावस्थानरूप मोक्ष में स्थित रहता है। इसलिए संसार को शीघ्र छोड़ने के विकल्प और आकुलता या व्यग्रता से भी वह दूर रहता है।

मोक्ष की इच्छा : अन्य अप्रशस्त सांसारिक इच्छाओं के शमन के लिए

किन्तु जो साधक अभी इतनी उच्च भूमिका पर नहीं पहुँचा है, उसके लिए मोक्षपुरुषार्थ में प्रेरित होने के लिए मोक्ष की प्रशस्त इच्छा कथंचित् ग्राह्य होती है। 'न्यायशास्त्र' में कहा गया है–काँटे से काँटा निकाला जाता है, लोहे की छैनी से लोहे के बन्धन (बेड़ी आदि) कटते हैं, वैसे ही मोक्ष की प्रशस्त इच्छा से अन्य (पर) पदार्थों की इच्छा का शमन होता है। एक दृष्टि से मोक्ष की प्रशस्त इच्छा अन्य अप्रशस्त इच्छाओं के शमन या अभाव की इच्छा है।

सांसारिक इच्छाएँ बहिर्मुखी : मोक्ष की इच्छा अन्तर्मुखी

वैसे देखा जाये तो सभी सांसारिक इच्छाएँ बहिर्मुखी होती हैं, वे पौद्गलिक भावों से प्रतिबद्ध होती हैं। अतः पर-पदार्थों का संयोग तथा रागादि विभाव उसमें इष्ट होता है। संयोगों से जीव को दुःखों की परम्परा प्राप्त होती है, संयोग से आकुलता पैदा होती है और आकुलता कदापि आत्मिक सुख प्रदान नहीं कर सकती। अतः सांसारिक इच्छाएँ किंचित् भी सुखरूप न होने से त्याज्य होती हैं, जबकि मोक्ष की इच्छा या रुचि पारमार्थिक और अन्तर्मुखी होती है, आत्मा की वर्तमान स्थिति के अनुप्रेक्षण से वह आत्म-भावों की अनुगामिनी होती है। फिर मोक्ष की रुचि से पर-पदार्थों के त्याग-प्रत्याख्यान या विरति की प्रक्रिया प्रारम्भ होती है। साथ ही अव्याबाध शाश्वत सुखरूप निर्वाण के प्रारम्भिक हेतु रूप में मोक्ष की रुचि उसका बीज बन जाता है। इससे उसे सांसारिक और वैकरिक सुख से उदासीनता

या विरक्ति प्राप्त हो जाती है। उसे यह निश्चय हो जाता है कि अन्य समस्त इच्छाओं को छोड़कर एकमात्र मोक्ष की इच्छा ही करणीय है, ताकि मोक्षपुरुषार्थ में अवाधित रूप से प्रवृत्त हो सके।

मोक्ष की इच्छा से पारमार्थिक लाभ

स्व-स्वरूपावस्थानरूप मोक्ष की इच्छा से स्व-स्वरूप को प्राप्त करने की तीव्र भावना, अनुप्रेक्षा, रुचि आदि से अन्य इच्छाओं तथा स्वच्छन्दता का नाश अनायास ही हो जाता है। स्वच्छन्दता एवं सांसारिक इच्छाओं के निरोध से अप्रशस्त रागजनित या मोहजनित स्निग्धता (चिकनाहट) अत्यन्त कम हो जाती है। ऐसा होने से राग-द्वेष की मन्दता, न्यूनता, क्षीणता अथवा क्षय से दीर्घकालिक स्थिति के कर्मों का बन्ध नहीं होता। नये कर्मों का बन्ध रुक जाने से, आगामी भव के देह के योग्य कर्मों का टिकाव आत्मा में नहीं रह पाता।

मोक्ष की ऐसी रुचि (भावना) के बिना मोक्ष का लक्ष्य सिद्ध नहीं हो सकता। मोक्ष (सर्वकर्ममुक्ति) के लक्ष्य के अभाव में कैसी भी उग्र साधना या उग्र तपस्या आत्मा के सर्वांगीण या सम्पूर्ण विकास की हेतु नहीं बन सकती। समस्त कर्मों को सर्वथा क्षय करने की रुचि के अभाव में शास्त्र-पारायणता भी परम ज्योति को नहीं जगा सकती, महाव्रतों का क्रियाकाण्ड के रूप में पालन भी आत्म-रमणता प्रदान नहीं कर सकता तथा सुदीर्घ बाह्य तपश्चरण भी भवशृंखला को तोड़ नहीं सकता।

निष्कर्ष यह है कि मोक्ष की इच्छा (मुमुक्षा) के अभाव में व्यक्ति कितना ही शास्त्र-पारगामी हो, महाव्रतधारक हो या दीर्घ तपस्वी हो, उसकी वह आत्म-साधना यथेष्ट फलदात्री (कर्मक्षयकारिणी) न होकर संसार परिभ्रमणकारिणी बन जाती है। दूसरे शब्दों में कहें तो—संवेग-रस के अभाव में समस्त मोक्ष-सामग्री कर्मबन्धकारिणी या भवभ्रमणकारिणी बन जाती है।

मोक्ष की इच्छा का तात्कालिक फल

जैसे सूर्य के ताप से हल्दी का रंग शीघ्र ही लुप्त हो जाता है, वैसे ही मोक्ष की तीव्र इच्छा से पर-पदार्थों की समस्त इच्छाएँ अल्प हो जाती या मिट जाती हैं। अतः मोक्ष और मोक्षमार्ग की इच्छा के सिवाय समस्त इच्छाएँ परेच्छा हैं। मोक्ष की इच्छा का तात्कालिक फल है—अन्य सांसारिक इच्छाओं का अल्प होना या दूर होना। मोक्ष की इच्छा की तीव्रता-मन्दता के अनुसार अन्य इच्छाओं की शून्यता, तीव्रता या मन्दता का स्तर बनता है। आशय यह है कि जैसे-जैसे मोक्ष की इच्छा तीव्रतर होती जाती है, वैसे-वैसे भव-तृष्णा (सांसारिक इच्छा) मन्दतर होती जाती है और अनुत्तर (सर्वश्रेष्ठ) धर्मश्रद्धा की प्राप्ति होती है, उससे भी संवेग (मोक्षाभिलाषा) पुनः-पुनः तीव्र होता जाता है। मोक्ष की इच्छा की तीव्रता के स्तर को प्रायः

भवविरक्ति (निर्वेद दशा) हो जाती है। मुमुक्षा और निर्वेद (भवविरिक्त) तीव्र होंगे तो जिनप्रज्ञप्त तत्त्व में अनुत्तर धर्मश्रद्धा उत्पन्न होगी।

मोक्ष की इच्छा के बाह्य हेतु

जिनेन्द्रदेव के दर्शनादि से, सद्गुरुओं की चरणोपासना से और सत्शास्त्रों के सम्यक् श्रवण-मनन-चिन्तन से हृदय में मोक्ष-प्राप्ति की पारमार्थिक इच्छा उत्पन्न होती है।

मोक्ष की इच्छा के आभ्यन्तर हेतु

संसार के स्वरूप का अनुप्रेक्षण (चिन्तन) करने से, शरीर के स्वरूप का (अशुचिमय शरीर का) अनुप्रेक्षण करने से, आत्मा के एकत्व का अनुचिन्तन करने से, अपनी अशरणता = असहायता का चिन्तन करने से और आत्मा के अस्तित्व आदि से लेकर (स्व-स्वरूपावस्थानरूप) मोक्ष और मोक्षमार्ग (मोक्षोपाय) तक ६ स्थानों का चिन्तन करने से अन्तःकरण में मोक्ष की इच्छा उत्पन्न होती है।

संसारानुप्रेक्षा मुमुक्षा का कारण

संसार और मोक्ष, ये दोनों विरोधी तत्त्व हैं। संसार कर्मयुक्त है और मोक्ष कर्ममुक्त है। मुमुक्षु साधक जब यह अनुप्रेक्षा करता है—मैं अनादिकाल से एक भव से दूसरे भव में चक्कर काटता आ रहा हूँ। इतना ही नहीं, मैंने निकृष्टतम भव में नाड़ी के एक स्पन्दन में १७ से अधिक भवों को धारण किया। जन्म, जरा, व्याधि और मृत्यु आदि की अपार वेदनाएँ सहन कीं। तैंतीस सागरोपम जितना दीर्घकालिक भव दुःख, वेदना और पीड़ा में रो-रोकर व्यतीत किया। जिस किसी भी भव में मैं उत्पन्न हुआ, वहाँ सुख-दुःख, हर्ष-शोक, रति-अरति, शुभ-अशुभ आदि अनेक रुचियों वाले द्वन्द्वों-संघर्षों के रूप में मेरा चित्त आकुल-व्याकुल रहा। सुख-दुःखों का वेदन किया। संसार का सुख भी दुःख बीज है, दुःख तो दुःखरूप है ही। इस प्रकार सांसारिक दुःखजनक सुख और दुःखों से भरी नाना स्थितियाँ संसार में भोगीं। फिर बचपन, जवानी और बुढ़ापा, तीनों अवस्थाएँ भी विवेकहीन होकर बिताईं या बिताता रहा। निपट स्वार्थभाव से दूसरों के साथ व्यवहार किया, जिसका प्रतिफल भी दूसरों से तिरस्कार, उपेक्षा और अनचाहत के रूप में मिला। सम्पन्न और विपन्न दोनों ही अवस्थाओं में मूढ़ बन विषय-सुखों की चाह में पीड़ित रहा। कदाचित् अनुकूल विषय मिले तो भी अतृप्ति, आकुलता और उत्तेजना बनी रही। तन-मन-वचन में वक्रता बनी रही। मैं जैसा था, उससे विपरीत अपने आप को बताया, दिखावा और महत्त्वाकांक्षा के चक्कर में पड़ा रहा। संसाररसिक बनकर अधमता का आचरण किया, इस प्रकार संसार की विषमता में ग्रस्त होकर कर्मबन्धन अधिकाधिक किया। कर्मों के आधिक्य के कारण ही पुनः-पुनः संसार में भटकता रहा। इस संसार-दशा से दूर रहकर ही जीव अव्याबाध-सुख प्राप्त कर

सकता है। संसार-दशा से मुक्त होने का उपाय है–सर्वकर्ममुक्तिरूप मोक्ष की साधना करना। इस प्रकार संसारानुप्रेक्षा से जीव में मोक्ष की इच्छा–भावना उत्पन्न होती है।

शरीरानुप्रेक्षा भी मोक्ष में पुरुषार्थ करने की तमन्ना जगाती है

दूसरी अनुप्रेक्षा है–शरीरानुप्रेक्षा। शरीर को लेकर पहले इसकी अशुचिता, क्षणभंगुरता, बाधाजनकता, जड़बन्धनता, बीभत्सता, मायाजाल आदि का चिन्तन करे। जैसे कि मृगापुत्र ने कहा था–"यह शरीर अनित्य (क्षणभंगुर) है, अशुचिमय (अपवित्र–गंदा) है, अशुचि से उत्पन्न हुआ है और अशुचि ही उत्पन्न करता है। इस शरीर में अशश्व निवास है तथा यह दुःखों और क्लेशों का पात्र है। इस शरीर में क्षणभर भी मैं प्रसन्नता अनुभव नहीं करता।"[1] इसी प्रकार मुमुक्षु आत्मा भी इस शरीर की अपवित्रता और क्षणभंगुरता को देखकर तथा इसकी क्षणभंगुरता-दुर्बलता पल-पल में बाधक बनती है, खिलाते-पिलाते भी यह शरीर धोखा दे देता है, देखते-देखते ही इसमें विकार उत्पन्न हो जाता है। जिन तत्त्वों से यह शरीर बना है, वे भी बहुत घिनौने हैं। ऊपर से चमड़ी का आवरण है, अन्दर में खोखला एवं भयंकर है, अपने आप में यह जड़ है। मैं अब तक इस शरीर के मोह में पड़कर तथा इसकी झूठी सुन्दरता पर लुब्ध होकर इसके लिए तथा इस शरीर से सम्बन्धित सजीव-निर्जीव पर-पदार्थों के लिए घोर कर्मबन्धन करता रहा। कारागार के समान अनेक शरीर धारण किये तथा आत्मा के निवास-स्थानरूप इस शरीर से धर्माराधना करने के बदले तथा तप, त्याग, प्रत्याख्यान करके कर्मक्षय करने के बदले पापाराधना करके कर्मों का संचय किया। अतः अब इस मानव-शरीर से धर्माराधना करके मुक्ति प्राप्त करने तथा मुक्त, अशरीरी, परमात्मा बनने की साधना इस शरीर से करूँ। ऐसी शरीरानुप्रेक्षा अथवा अशुचि-अनुप्रेक्षा करने से भी मोक्ष-प्राप्ति के लिए पुरुषार्थ करने की तमन्ना जागती है।

एकत्वानुप्रेक्षा भी मुमुक्षा के अन्तरंग कारण

तृतीय अनुप्रेक्षा है–एकत्वानुप्रेक्षा। इस अनुप्रेक्षा में मुमुक्षु जीव यह चिन्तन करता है कि यह जीव अकेला ही (स्वयं ही) कर्म करता है, कर्मबन्ध करता है और अकेला (स्वयं) ही कर्म भोगता है। साथ ही कर्मबन्धों को तोड़ने (निर्जरा के) या आते हुए कर्मों को रोकने (संवर) के लिए पुरुषार्थ भी अकेला ही करता है अर्थात् कर्मों का क्षय भी स्वयं ही करता है और कर्मों से सर्वथा मुक्त, सिद्ध, बुद्ध भी अपने ही पुरुषार्थ से होता है। जीव स्वयं ही अपने स्वरूप–स्वभाव में स्थित होकर शुद्ध आत्म-परिणाम करके, शुद्ध भावों में रमण करके पूर्णता को, परमात्मपद को प्राप्त कर सकता है। दूसरा कोई

---

१. इमं सरीरं अणिच्चं असुइं-असुइं असुइसंभवं।
असासयावासमिणं दुक्खके साण भायणं॥ *–उत्तरा. १९, १२ गा.*

भी ईश्वर या शक्ति अथवा जड़-चेतन पर-पदार्थ उसे पूर्णता, सर्वकर्ममुक्ति या परमात्मपद प्रदान नहीं कर सकते। इस प्रकार जीव जब पर-भावों एवं विभावों को पल्ला छोड़कर इस प्रकार स्वयं कर्तृत्व, भोक्तृत्व, हर्तृत्व एवं पूर्णत्व के रूप में एकत्वानुप्रेक्षा करता है, तब मोक्षमार्ग में, निज शुद्ध भावों में स्थित होने की भावना जागती है।

अशरणानुप्रेक्षा मुक्ति-प्राप्ति में पुरुषार्थ करने की भावना जगाती है

चतुर्थ अनुप्रेक्षा है–अशरणानुप्रेक्षा। कोई भी मनुष्य कितना ही पुण्यशाली हो, भौतिक शक्ति-सम्पन्न हो, सत्ताधीश हो, धनाढ्य हो अथवा प्रभुत्व-सम्पन्न हो, उसे जन्म, जरा, व्याधि और मृत्यु से कोई बचा नहीं सकता, कोई भी सहायक नहीं बन सकता, कोई भी इन दुःखों में हिस्सा नहीं बँटा सकता, धन, वैभव, औषध, शरीर तथा स्वजन-परिजन आदि कोई भी शरण नहीं दे सकता, मृत्यु आदि से रक्षा नहीं कर सकता। इस लोक में एकमात्र संवर-निर्जरा-मोक्षरूप या सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रयरूप शुद्ध धर्म के सिवाय कोई भी त्राता, रक्षणकर्त्ता या शरणदाता नहीं है। इस प्रकार से जब मुमुक्षु अशरणानुप्रेक्षा करता है तो उसमें सहज ही शुद्ध धर्माचरण द्वारा मोक्ष-प्राप्ति की प्रबल भावना जागती है।

षट्स्थान चिन्तन से मोक्ष की प्रतीति और रुचि जाग्रत होती है

पंचम अनुप्रेक्षा है–षट्स्थान चिन्तन। इस अनुप्रेक्षा से आत्मा के अपने अस्तित्व, जड़ से (कर्मपुद्गलों से) पृथक्त्व की प्रतीति होने पर तथा आत्मा अभी बद्धरूप में है, वह एक दिन अपने पुरुषार्थ से मुक्त हो सकता है, मोक्ष प्राप्त होने पर आत्मा अपने पूर्ण शुद्ध स्वरूप = स्वभाव में स्थित हो सकता है, ऐसा दृढ़ विश्वास होने पर मोक्ष-प्राप्ति की प्रबल भावना उद्बुद्ध होती है। वे छह स्थान इस प्रकार हैं– (१) जीव (आत्मा) है, (२) वह अमूर्त्त है, इसलिए नित्य है, (३) वह कर्म का कर्त्ता है, (४) कर्मों का भोक्ता = क्षयकर्त्ता भी वही है, (५) सर्वकर्मक्षयरूप मोक्ष है, और (६) मोक्ष-प्राप्ति का उपाय भी है। इस प्रकार भेदविज्ञान की सत्यता हृदयंगम होने पर सर्वकर्मक्षयरूप मोक्ष प्राप्त करने की भावना प्रबल होती है।

इस प्रकार इन पंचविध अनुप्रेक्षाओं से मोक्ष के प्रति श्रद्धा, प्रतीति, रुचि, प्रबल होने पर उसके प्रति निष्ठा जागती है, तथैव मोक्ष के प्रति उत्पन्न भावनाएँ मोक्षपुरुषार्थ की हेतु बनती हैं। मोक्षपुरुषार्थ के कथन और श्रवण से मोक्ष और उसके उपाय-अपाय आदि अंग हृदयंगम होने लगते हैं। और तब मुमुक्षु साधक ज्ञपरिज्ञा से मोक्ष के बाधक तत्त्वों को जानकर प्रत्याख्यानपरिज्ञा से उनका त्याग करके उपादेयपरिज्ञा से मोक्षपुरुषार्थ के लिए उद्यत होता है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-तपरूप मोक्षमार्ग की साधना–आराधना में पुरुषार्थ करने लगता है।[१]

---

१. 'मोक्खपुरिसत्थो, भा. १' से भाव ग्रहण, पृ. ४२-४५, १६

मोक्ष के अंगभूत सम्यग्ज्ञान से सम्बन्धित तीन बोलों का विश्लेषण

पहला बोल–गुरुमुख से सूत्र-सिद्धान्तों का वाचन–श्रवण करे तो जीव वेगो-वेगो मोक्ष में जाय

मोक्ष-प्राप्ति के सम्यग्ज्ञान अपेक्षित हैं। सम्यग्ज्ञान के अभाव में मोक्ष के विषय में सम्यक् पुरुषार्थ नहीं हो सकता। ज्ञान के द्वारा मोक्ष के स्वरूप और उसकी विधि को समझा जा सकता है। श्रुत (शास्त्रों) के सम्यक् वाचन-श्रवण के बिना सर्वांगीण ज्ञान नहीं हो सकता। आत्मा क्या है, कैसी है, वह नित्य है या अनित्य ? वह चारों गतियों में किन-किन कारणों से भ्रमण करती है ? आत्मा कर्मों से मुक्त कैसे हो सकती है ? ये और इनके सदृश कई अतीन्द्रिय बातों का ज्ञान सर्वज्ञ आप्तपुरुषों द्वारा कथित आगमों द्वारा ही हो सकता है और आगमज्ञान के अधिकारी आचार्य, उपाध्याय, स्थविर या विशिष्ट शास्त्रज्ञ साधु हैं। अतः आगमों, शास्त्रों, सिद्धान्तों या ग्रन्थों का वाचना या श्रवण गुरुमुख से होने पर ही उनमें निहित रहस्यों को जाना जा सकता है। शास्त्रों में अतीतकाल के अनुभव या प्रयोगों के तथ्य, घटनाओं के सत्य, आचरित पथ्यापथ्य, स्खलनाओं से प्राप्त होने वाले दण्ड प्रायश्चित्त आदि तथा व्यवहारों का समग्र लेखा-जोखा रहता है। वर्तमानकाल की क्रियाओं तथा आगामी काल के निर्देशों का व्यवस्थित संग्रह शास्त्रों में ही मिल सकता है। इसलिए ज्ञानी संयमी गुरुदेवों की विधिवत् विनयपूर्वक चरणोपासना ही शास्त्रों का सम्यग्ज्ञान प्रदान कर सकती है। यद्यपि कतिपय मानव आगम-श्रमण-वाचन किये बिना ही भावविशुद्धि के कारण सिद्ध = मुक्त हो जाते हैं; परन्तु ऐसे स्वयं-बुद्ध पूर्व-जन्म के ज्ञान के संस्कारयुक्त होते हैं। अधिकांश मुमुक्षु साधकों को शास्त्रज्ञ अनुभवी विशेषज्ञों से ही शास्त्र की गूढ़ गुत्थियों का ज्ञान तथा रहस्यज्ञान मिल सकता है, स्वच्छन्दतापूर्वक स्वयं शास्त्र पढ़ने से कई बार व्यक्ति शास्त्र की बातों के अर्थ का अनर्थ कर बैठते हैं। स्वयं की बुद्धि से सम्यग्ज्ञान पाने वाले व्यक्ति थोड़े ही होते हैं। इसी कारण गुरुमुख से शास्त्र-वाचना लेने या शास्त्र-श्रवण करने का महत्त्व है। लौकिक व्यवहार में भी अपने-अपने विषय में अनुभवी विशेषज्ञों का महत्त्व रहता ही है। विशेषज्ञ अनुभवी गुरु के मुख से वाचन-श्रवण करने से मन्द संवेग तीव्र हो जाता है। भावों की विशुद्धि बढ़ जाती है। जैसे किसी मशीन को चलाने के विषय में अनभिज्ञ व्यक्ति उस मशीन को स्वयं चलाता है, तो खतरा या संकट पैदा होने की सम्भावना होती है, वैसे ही स्वच्छन्दता से सूत्र-सिद्धान्त के वाचन या अभ्यास से भ्रान्ति, विपरीत बुद्धि हो जाने की सम्भावना है।

दूसरा बोल–स्वयं ज्ञान सीखने और दूसरों को सिखाने से, ज्ञान में तन्मयता से जीव वेगो-वेगो मोक्ष में जाय

ज्ञान आत्मा का निजी गुण है। 'आचारांगसूत्र' में कहा गया है–"जो आत्मा है; वह विज्ञाता है, जो विज्ञाता है, वह आत्मा है।"[1] आत्मा को ज्ञान से अलग नहीं

१. जे आया से विन्नाया, जे विन्नाया से आया। –*आचारांग, श्रु. १, अ. ५, उ. ५*

किया जा सकता। ज्ञान आत्मा स्वाभाविक गुण होते हुए भी वर्तमान में मुमुक्षु साधक में आवृत है, दबा हुआ है, विकृत है, विस्मृत हो जाता है, कुण्ठित हो जाता है। यहाँ ज्ञान से 'श्रुतज्ञान' का ही ग्रहण करना चाहिए। 'भगवतीसूत्र' में बताया गया है कि "सीखा हुआ सम्यग्ज्ञान (श्रुतज्ञान) उसके जीवन में रहता है, उपयोगी बनता है, पर-भव में भी वह ज्ञान साथ में जाता है और दोनों भवों में रहता है।"[१] श्रमण निर्ग्रन्थ के तीन मनोरथों में एक मनोरथ यह भी है-"कब मैं अल्प या बहुत श्रुत (शास्त्रों) का अध्ययन करूँगा।"[२] देवों को पश्चात्ताप होने के तीन कारणों में से पहला कारण यह भी है-"अहो ! मैंने बल, वीर्य, पुरुषकार (पौरुष), पराक्रम, क्षेम, सुभिक्ष, आचार्य और उपाध्याय की उपस्थिति एवं निरोग शरीर होते हुए भी श्रुत (शास्त्रों) का अधिक अध्ययन नहीं किया।"[३]

अतः श्रुतज्ञान का अभ्यास करने-कराने, उसे पढ़ने-पढ़ाने, स्वाध्याय करने-कराने, ज्ञान सीखने और सिखाने से ज्ञानावरणीय कर्म का क्षय होकर अज्ञान, मिथ्यात्व, भ्रान्ति, विपर्यास एवं विस्मृति आदि का अन्धकार दूर हो जाता है। व्यक्ति पर-भावों और विभावों में रमण करने के बदले ज्ञाता-द्रष्टा बनकर स्वभाव में स्थित रह सकता है। शास्त्राध्ययन करते रहने से दशवैकालिक-सूत्रोक्त चार प्रकार की श्रुतसमाधि भी प्राप्त होती है तथा जिज्ञासु व्यक्तियों को भी स्वभाव में स्थित रहने की कला सिखा सकता है।[४] ज्ञान में तन्मयता से, अभीक्ष्ण या निरन्तर ज्ञानोपयोग में रहने से व्यक्ति विशुद्ध आत्म-भावों में रहकर कर्मों की महानिर्जरा करता हुआ शीघ्र ही सर्वकर्ममुक्तिरूप मोक्ष प्राप्त कर सकता है।

तीसरा बोल-पिछली रात्रि में धर्मजागरणा करे तो जीव वेगो-वेगो मोक्ष में जाय

अनुप्रेक्षा स्वाध्याय का ही एक अंग है और स्वाध्याय से आत्मा के ज्ञान पर आये हुए अज्ञान और मोह के आवरण दूर होकर ज्ञान का प्रकाश बढ़ जाता है। धर्मजागरणा में अपने आप का अध्ययन, मनन, सम्प्रेक्षण एवं चिन्तन-अवलोकन करना पड़ता है। स्वाध्याय का विशिष्ट अर्थ भी यही है-"**स्वस्य स्वस्मिन् अध्ययनं स्वाध्यायः।**"-अपने आप का, अपने जीवन का अपने में डूबकर अध्ययन-मनन-सम्प्रेक्षण करना स्वाध्याय है। 'दशवैकालिकसूत्र' में कहा गया है-"जो

---

१. इहभविए वि नाणे, परभविए वि नाणे, तदुभयभविए वि नाणे। *-भगवतीसूत्र, श. १, उ. १*

२. कया णं अहं अप्पं वा बहुयं वा सुयं अहिज्जिस्सामि। *-स्थानांग, स्था. ३, उ. ४, सू. ४९६*

३. अहो णं मए संते बले वीरिए संते पुरिसक्कार-परक्कमे खमंसि सुभिक्खंसि आयरिय-उवज्झाएहिं विज्जमाणेहिं कल्लसरीरेणं णो बहुए सुए अहीते। *-वही, स्था. ३, उ. ३, सू. ३६४*

४. चउव्विहा सुय-समाही भवइ.....। *-दशवैकालिक, अ. ९, उ. ४*

पूर्व रात्रि और अपर रात्रि के सन्धिकाल में अपनी आत्मा का अपने आप से सम्प्रेक्षण करता है कि मैंने क्या किया है? क्या करना शेष है और कौन-सा ऐसा शक्य कार्य है, जिसे मैं नहीं कर पा रहा हूँ? मुझे दूसरे हितैषी साथी किस दृष्टि से देखते हैं? मैं अपने आप को किस दृष्टि से देखता हूँ? कौन-सी ऐसी स्खलना है, जिससे मैं विरत नहीं हो रहा हूँ? इस प्रकार सम्यक् अनुप्रेक्षणा करता हुआ साधक अनागत कर्मों का बन्ध नहीं करता।" इस प्रकार अपने जीवन में अप्रमत्त होकर शुद्ध धर्मजागरणा करता हुआ साधक उत्कृष्ट भाव से आत्म-शुद्धि करके शीघ्र मोक्ष प्राप्त कर सकता है।[1]

मोक्ष के अंशभूत सम्यक्चारित्र से सम्बन्धित ८ बोलों का विश्लेषण

पहला बोल—सूत्र-सिद्धान्त सुनकर, वैसी (सम्यक्) प्रवृत्ति करे तो जीव वेगो-वेगो मोक्ष में जाय

सम्यग्ज्ञान से विरुद्ध या रहित क्रिया सम्यक् (मोक्षकार्यसाधिका) क्रिया नहीं है, इसी प्रकार सम्यग्ज्ञान के रहते हुए भी साध्य (कर्ममुक्तिरूप मोक्ष) से विपरीत क्रिया भी कार्यसाधिका नहीं होती। कोई व्यक्ति शास्त्रों और सिद्धान्तों का बहुत ही श्रवण करे या कण्ठस्थ कर ले, उनका ज्ञान तथा अर्थज्ञान कर ले, शास्त्र-वचनों पर व्याख्या, व्याख्यान या विश्लेषण कर दे, उतने मात्र से ही वह सम्यक् प्रवृत्ति करेगा, यह निश्चित्त नहीं कहा जा सकता, क्योंकि कोरा श्रवण, कण्ठस्थ ज्ञान, व्याख्यान या विश्लेषण सम्यक् क्रिया में बलात् प्रवृत्त नहीं करते, तथारूप सम्यक् प्रवृत्ति के लिए उत्पन्न आत्म-परिणाम ही बद्ध कर्मों को काटते हैं, मोक्ष के निकट पहुँचाते हैं। अतः जो आत्मार्थी साधक मुमुक्षुभाव से रुचिपूर्वक शास्त्र-सिद्धान्त सुनता है, जिसे कर्मों से मुक्त होने की तमन्ना है, वह आगमगत विधि-निषेधों को याद रखकर, लक्ष्यानुसारी शुभ प्रवृत्ति करता है अथवा शुद्धोपयोग में—आत्म-भावों में रमण करता है, वही शीघ्र मोक्ष के निकट पहुँचता है। शास्त्र-श्रवण करके भी कई लोग श्रेय-अश्रेय का निर्णय नहीं कर पाते, अनिर्णायक स्थिति में वे जो भी प्रवृत्ति करते हैं, वह मोक्षलक्षी नहीं हो पाती। उनमें हिताहित विवेकबुद्धि उत्पन्न न होने के प्रायः निम्नोक्त कारण हैं—(१) भौतिकादि विज्ञान का मोह, (२) बुद्धि का या श्रुत का मद, (३) शास्त्र-वचनों पर शंका, (४) अनाप्त के प्रति अन्ध-विश्वास, लोकप्रवाह की ओर रुझान आदि। अतः मोक्षलक्षी सम्यक् प्रवृत्ति के लिए इन सब बाधक कारणों से दूर रहकर हेयोपादेय विवेकपूर्वक प्रयत्न करना चाहिए।

---

१. जे पुव्वरत्तावरत्तकाले संपिक्खए अप्पगमप्पएणं।
किं मे कडं, किं च मे, किच्चसेसं, किं सक्कणिज्जं न समायरामि॥१२॥
किं मे परो पासइ, किं च अप्पा, किं वाऽहं खलिअं न विवज्जयामि।
इच्चेव सम्मं अणुपासमाणो, अणागयं नो पडिबंध कुज्जा॥१३॥ —*दशवै. विविध चर्या चू.* २/१२-१३

दूसरा बोल–गृहीत व्रतों का शुद्ध (निरतिचार) पालन करे तो जीव वेगो-वेगो मोक्ष में जाय

गुरुदेव के चरणों में नमस्कार करके विधिवत् ग्रहण किये हुए त्याग, नियम प्रत्याख्यान, व्रत, तप आदि विरतिभाव को व्रत कहते हैं, बशर्ते कि सम्यक्त्वपूर्वक तथा उस व्रत-प्रत्याख्यान का भलीभाँति स्वरूप समझकर तथा उनके पालन में आने वाले विघ्नों, अपायों, दोषों, अतिचारों से बचने की बात भी जानकर उसके पालन करने का संकल्प किया जाये।

यद्यपि जब तक रागभाव पूर्णतया छूटा नहीं है, तब तक व्रत-पालन करने में रागभाव आते हैं, आयेंगे भी, भले ही वह रागभाव सूक्ष्म ही क्यों न हो। व्रत अपने आप में बन्ध का कारण नहीं है। व्रतधारी व्रत ग्रहण करने पर जब कर्तृत्वभाव, भोक्तृत्वभाव, अहंभाव, ममत्वभाव लगता है। ऐसी स्थिति में व्रत संवररूप परिणाम निष्पन्न नहीं कर पाता, तब वह व्रत रागमुक्त या प्रतिस्पर्द्धा, आवेश आदि के वश पालन करने पर द्वेषयुक्त होने से मलिन हो जाता है।

इसी प्रकार जैसे निश्चयनय की दृष्टि से मैं सिद्ध-बुद्ध-मुक्त आत्मा हूँ, इस प्रकार का शुभ योग रूप विकल्प करता है, वैसे ही व्यवहारदृष्टि से दो करण तीन योग से या तीन करण तीन योग से व्रत ग्रहण करने वाला भी शुभ योग रूप विकल्प करता है। इसलिए दसवें गुणस्थान तक व्रत-पालन करते समय सूक्ष्म रागांशरूप विकल्प रहता है। इसलिए व्रत स्वयं बन्ध का कारण नहीं, वह संवर-निर्जरा का कारण है, किन्तु उसके व्रतधारी का प्रशस्त रागांश विकल्प भी शुभ बन्ध का कारण है। अतः सहजरूप से स्वरूपाचरणरूप व्रत जितना अधिक रागादि से मुक्त होगा, उतना ही शीघ्र वह मोक्ष-प्राप्ति में सफलता दिलाता है।

दूसरी बात–अहिंसादि प्रत्येक व्रत के साथ जो अतिचार (दोष) बताये हैं, उन दोषों से बचकर तथा व्रत ग्रहण के साथ अहंकार, प्रतिस्पर्धा, द्वेष, ईर्ष्या, पर-निन्दा, आवेश, रोष तथा इहलौकिक-पारलौकिक फलाकांक्षा, निदान, प्रशंसा, कीर्ति, प्रतिष्ठा आदि की लिप्सा या स्वार्थ की मात्रा होगी तो व्रत मलिन हो जायेगा। अतः इन या ऐसे दोषों से रहित होकर प्रत्येक व्रत का निष्ठा-श्रद्धा-भक्तिपूर्वक शुद्ध पालन साधक को शीघ्र मोक्ष-प्राप्ति में सहायक हो सकता है।

तीसरा बोल–संयम का दृढ़ता से पालन करे तो जीव वेगो-वेगो मोक्ष में जाय

संयम आत्म-धर्म का प्रधान अंग है। इसका निश्चयदृष्टि से अर्थ है–शुद्ध आत्म-भाव में या आत्मा के निजी गुणों में सम्यक् प्रकार से रमण करना। ऐसा तभी हो सकता है, जब आत्मा के प्रत्येक परिणाम में शुद्ध संयम का भाव हो, तप

और संयम से आत्मा प्रतिक्षण भावित हो, असंयम में जरा भी, थोड़े-से समय के लिए भी रति न हो, प्रतिक्षण अप्रमत्त रहकर संयम का सहजभाव से पालन हो। 'प्रवचनसारोद्धार' में व्यवहारदृष्टि से संयम के पालन हेतु संयम के १७ भेद बताये हैं-(१ से ५) हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्मचर्य और परिग्रहरूप; इन पाँच आस्रवों से विरति। (६ से १०) स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र; इन पाँच इन्द्रियों को उनके विषयों की ओर जाने से रोकना, अर्थात् इन्हें अपने वश में रखना, अन्तर्मुखी बनाना, बाहर भटकती हुई इन्द्रियों को आत्मा की सेवा में लगाना। (११ से १४) क्रोध, मान, माया और लोभ; इन चार कषायों को मन्दतम, मन्दतर एवं मन्द करना, इन पर विजय पाना। (१५ से १७) मन-वचन-काया की अशुभ प्रवृत्तिरूप तीन दण्डों से विरति पाना।

प्रकारान्तर से संयम के १७ भेद इस प्रकार हैं-(१ से ५) पृथ्वीकायादि पाँच स्थावरों की हिंसा न करना, पृथ्वीकायादि संयम है। (६ से ९) द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीवों की विराधना (हिंसा) न करना, त्रस चतुष्क-संयम है। (१०) **अजीवसंयम**-अजीव होने पर भी जिन वस्तुओं के ग्रहण से असंयम होता है, जैसे-सोना, चाँदी आदि धातुओं तथा रत्न आदि तथा शास्त्रास्त्र आदि को पास में न रखना। पुस्तक, शास्त्र, ग्रन्थ, पन्ने आदि तथा संयम-यात्रा के लिए कतिपय उपकरणों को प्रतिलेखन करते हुए, ममत्वभाव से रहित होकर यतनापूर्वक रखना असंयम नहीं है, फिर भी उनका व्युत्सर्ग करना, कम से कम उपकरणों से संयम निर्वाह करना अजीवसंयम है। (११) **प्रेक्षासंयम**-हरी दूब, बीज, घास, जीव-जन्तु आदि से रहित स्थान में अच्छी तरह देखभालकर सोना, बैठना, चलना आदि क्रियाएँ करना। (१२) **उपेक्षासंयम**-जो भी पापकार्य या आरम्भयुक्त कार्य हो, उसके लिए प्रोत्साहित न करना, उपेक्षाभाव रखना। (१३) प्रमार्जनासंयम, (१४) परिष्ठापनासंयम, (१५) मनःसंयम, (१६) वचनसंयम, और (१७) कायसंयम।[१]

यद्यपि संयम के दोनों प्रकार से १७-१७ भेद व्यवहारदृष्टि से हैं, किन्तु आत्म-भावों को भावित रखने के लिए व्यवहारदृष्टि से भी संयम के प्रति निष्ठा, दृढ़ता, श्रद्धा-भक्ति-रमणता आदि अनिवार्य है। इसलिए पूर्ण वीतरागता प्राप्त न हो तब तक रागांश रहेगा। संयम के भाव अपने आप में संवर-निर्जरारूप होने से शीघ्र मोक्षदायक हैं, किन्तु साथ में प्रशस्त रागभाव होने से वह सरागसंयम कर्ममुक्तिकारक न होने से शुभ कर्मबन्ध (पुण्यबन्ध) का कारण बनता है। संयम में शुद्धता भी तभी रह सकती है, जब संयम-पालन के साथ अहंकार क्रियापात्रता या उत्कृष्टता का मद, मत्सर, पर-निन्दा, आत्म-प्रशंसा, प्रसिद्धि, यशःकीर्ति,

१. (क) प्रवचनसारोद्धार
(ख) जैनसिद्धान्त बोल संग्रह

इहलौकिक-पारलौकिक कामना, निदान, फलाकांक्षा आदि दोष न हों। इस प्रकार शुद्ध संयम का सहजभाव से दृढ़तापूर्वक पालन = आचरण शीघ्र मोक्ष-प्राप्ति के पुरुषार्थ में सफलता दिलाता है।

चौथा बोला–शुद्ध मन से शील (ब्रह्मचर्य) पाले तो जीव वेगो-वेगो मोक्ष जाय

शील का स्वरूप, अर्थ और विश्लेषण

शील शब्द से यहाँ ब्रह्मचर्य के समस्त स्तरों का ग्रहण हो जाता है, किन्तु उनमें मुख्य तो पूर्ण ब्रह्मचर्य ही है, अन्य स्तर के ब्रह्मचर्यव्रतियों के लिए भी वही आदर्श है। पाँच महाव्रतों में ब्रह्मचर्य महाव्रत को अतिदुष्कर कहा गया है। 'उत्तराध्ययनसूत्र' का १६वाँ अध्ययन इस तथ्य का साक्षी है। कामाचार यानी सभी अंगों सहित मैथुन की प्रवृत्ति एवं मैथुनचेष्टाओं का मन-वचन-काया से परित्याग करना शील (ब्रह्मचर्य) का व्यावहारिकदृष्टि से अर्थ है। निश्चयदृष्टि से ब्रह्मचर्य का अर्थ है–ब्रह्म यानी आत्मा (अथवा परम = शुद्ध आत्मा) में रमण करना ही ब्रह्मचर्य है। अनात्मभाव में किंचित् भी रमण करना–द्वैतभाव की कल्पना अब्रह्मचर्य है। शुद्ध निश्चयनय से आत्मा त्रिकाल शुद्ध ब्रह्मस्वरूप है, उसमें अब्रह्मभाव है ही नहीं। किन्तु अशुद्ध निश्चयनय से जब भी आत्मा अनात्मभाव (पर-भाव या विभाव) की चाह वाला होता है, तब अब्रह्मचर्यवान् हो जाता है।

ब्रह्मचर्य-सम्बन्धित मनःशुद्धि के कतिपय उपाय

मन की शुद्धि और दृष्टि सम्यक् हुए बिना ब्रह्मचर्य मोक्षमार्ग का अंग नहीं हो सकता, न ही उससे संवर-निर्जरा हो सकती है, न ही उसका यथेष्ट फल मिल सकता है। मनःशुद्धि के निम्नोक्त उपाय हो सकते हैं–अब्रह्मचर्य के सम्बन्ध में मिथ्यादृष्टि एवं मिथ्याधारणा का त्याग, बौद्धिक मलिनता का त्याग (अब्रह्मचर्य की) इच्छा का निरोध, मैथुनभाव की पकड़ का त्याग, मैथुन-त्याग में स्वाधीनता अपनाना; ब्रह्मचर्य के पालन और धारण में हर्षानुभव, ब्रह्मचर्य-पालन सम्बन्धी फलाकांक्षा का त्याग, मैथुन-त्याग में अनुत्साहित न होना, ब्रह्मचर्य-पालन में स्वयं को धन्य मानना।

ब्रह्मचर्य के दस समाधि-स्थानों का सम्यक्पालन हो

इसके अतिरिक्त मन, वचन, काया, इन्द्रियों, बुद्धि, चित्त और हृदय से ब्रह्मचर्य-पालन के लिए 'उत्तराध्ययनसूत्र' के १६वें अध्ययन में वर्णित ब्रह्मचर्य समाधि-स्थान के सन्दर्भ में उक्त ब्रह्मचर्य-रक्षा के दशविध स्थानों का सम्यक्पालन करना चाहिए। ब्रह्मचर्य की मन-वचन-काय से सुरक्षा के लिए निम्नोक्त सूत्रों के अनुसार चलना आवश्यक है–(१) वास-विवेक, (२) वचन-विवेक, (३) स्थान-विवेक, (४) दर्शन (प्रेक्षण) विवेक, (५) स्मृति-विवेक,

(६) श्रवण-विवेक, (७) भोजन-विवेक, (८) भोजनमात्रा-विवेक, (९) विभूषा-विवेक, और (१०) विषय-विवेक के अतिरिक्त कामविजयी ब्रह्मचर्य लीन महापुरुषों का स्मरण करना और निश्चयदृष्टि से ब्रह्मचर्यभावना से भावित होकर ब्रह्म (शुद्ध आत्मा) में रमण करने वाले साधक को ब्रह्मचर्य-पालन से शीघ्र मोक्ष-प्राप्ति हो सकती है। बिना भावपूर्वक ब्रह्मचर्य-पालन के माध्यम से मोक्षपुरुषार्थ के आत्मा की गहराई तक पहुँचने पर ही मोक्ष-प्राप्ति होती है।[1]

इसके अतिरिक्त ब्रह्मचर्यभावना से आत्मा को भावित और परिपुष्ट करने हेतु–कामविजयी कामातीत अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु-साध्वी, सतीवृन्द आदि का पुनः-पुनः स्मरण करना चाहिए। उनका दर्शन, स्मरण और नमस्कार भी ब्रह्मचर्य में श्रद्धा उत्पन्न करते हैं। शक्रस्तव, लोगस्स, नमोक्कारसुत्त तथा सिद्धचक्र (नवपद) आदि को वन्दना-नमस्कार, गुणगान, स्तुति-पाठ आदि करें।

पाँचवाँ बोल–शक्ति होते हुए भी क्षमा करे तो जीव वेगो-वेगो मोक्ष में जाय

क्षमा : स्वरूप, दुष्करता शक्तिशाली के लिए

क्षमा को नीतिकारों ने धर्म की माँ कहा है। क्षमा का एक अर्थ है–सहिष्णुता–सहनशीलता। सहिष्णुता होने पर ही धर्मभाव पुष्ट होते हैं। अरहंतों को क्षमाशूर कहा है और श्रेष्ठ श्रमणों को क्षमाश्रमण। वस्तुतः क्षमा श्रमणधर्म का प्रमुख अंग है। क्षमा की परिभाषा है–"**सत्यपि सामर्थ्ये अपकार सहनं क्षमा।**"–सामर्थ्य होते हुए भी अपकार को सहना क्षमा है। परन्तु शक्ति होते हुए भी क्षमा करना बहुत ही दुष्कर है। जैसे यौवनवय में शीलपालन करना दुष्कर है, दीनजन के लिए आनन्द दुर्गम है, विद्वेषशील दुर्जन के मन में वात्सल्यभाव उत्पन्न होना दुर्लभ है, वैसे ही शक्तिशाली मानव के लिए क्षमा करना दुष्कर है।

शक्ति के दो प्रकार और स्वरूप

शक्ति बाह्य और आभ्यन्तर भेद से दो प्रकार की है–बाह्य साधनों की प्रचुरता होने से मनुष्य को जो शक्ति प्राप्त होती है, उसे बाह्य और आभ्यन्तर गुणों से जो शक्ति प्राप्त होती है, उसे आभ्यन्तर शक्ति कहते हैं।

बाह्यशक्ति : स्वरूप, प्रकार, सदुयोग-दुरुपयोग

बाह्यशक्ति मुख्यतया चार प्रकार की है–(१) शरीरशक्ति, (२) जनशक्ति, (३) धनशक्ति, और (४) आधिपत्यशक्ति।

(१) कायबल के बिना सभी बल फीके हैं। धन, जन और सत्ता की शक्ति होते हुए भी यदि काया दुर्बल हो, रोगाक्रान्त हो, अपंग हो, इन्द्रियविकल हो, वृद्धावस्था

१, उत्तराध्ययनसूत्र, अ. १६

से ग्रस्त हो तो व्यक्ति प्रायः आर्त्तध्यान में समय बिताता है। यद्यपि कायबल वीर्यान्तरायकर्म के क्षयोपशम से प्राप्त होता है, फिर भी कई लोग, व्यायाम, प्राणायाम और यौगिक क्रियाओं से प्रयत्न द्वारा, अभ्यास द्वारा, ऊर्जाशक्ति, प्राणशक्ति, मनःशक्ति और शरीरशक्ति अर्जित कर लेते हैं। कई लोग युद्ध की दृष्टि से, शारीरिकशक्ति बढ़ाते हैं। कई लोगों की भुजाओं में बड़ा बल होता है, वे अतिभारोत्तोलन कर लेते हैं। जिस किसी प्रकार से, कायबल प्राप्त हो, अधिकांश व्यक्ति गर्वस्फीत होते हैं, उनकी कायचेष्टाएँ अकड़ भरी होती हैं। वे शरीरबल पाकर अहंकारवश दूसरों से नफरत करने लगते हैं, दुर्बलों को सहायता देने, कर्मयोगी श्रीकृष्ण जी की तरह वृद्धों को सहारा देने तथा अशक्तजनों को क्षमा करने, रुग्णों की सेवा करने के बजाय उनको कष्ट देते हैं, सताते हैं, उन पर कहर बरसाते हैं। दूसरे लोगों की तो जरा-सी स्खलना, गलती या भूल होने पर वे उनको कठोर दण्ड देते हैं, गाली-गलौज करते हैं, परन्तु अपने कुटुम्बीजनों में से किसी की जरा-सी गलती होने पर उसे मारते-पीटते, धमकाते हैं, अंग-भंग कर डालते हैं। परन्तु मुमुक्षु आत्मार्थीजन जानते हैं कि शरीरशक्ति या बाहुबल वीर्यान्तरायकर्म तथा नामकर्म के क्षयोपशम से प्राप्त होती है, अतः उससे दूसरों की सेवा करते हैं। दूसरों की गलती, स्खलना या क्षति होने पर अहंकार या रोषवश उसे दबाते-सताते नहीं, अपितु उसे क्षमा करके प्रेम से सुधारते हैं। उन्मत्त अहंकारी मानव का देहबल अनर्थकारक होता है, जबकि शान्त मानव का देहबल बाहुबली मुनि की तरह संयम-साधना में लगाते हैं, दुर्बलों को सहारा देते हैं। क्षमाशील सबल आत्मा अपने बल का उपयोग दूसरों की सेवा, सुरक्षा, साधना, त्याग-तपस्या आदि में लगाता है। क्षमाशील कायबली मुमुक्षु आत्माओं के लिए आधार रूप होता है, वह मोक्षमार्ग की साधना करके मोक्षसुख को प्राप्त करता है। 'आचारांगसूत्र' के अनुसार–"वह अपने श्रोत्र, नेत्र, घ्राण, जिह्वा एवं स्पर्श इन्द्रियों के प्रज्ञान के अपरिहीन होने तक दूसरों की वैयावृत्य, विनय आदि में लगाकर आत्म-हित की दृष्टि से उनका सम्यक् उपयोग करता है।"

(२) जनशक्ति भी बहुत बड़ी शक्ति है। जनसमूह का अपने पक्ष में होना जनशक्ति है। 'आचारांगसूत्र' में इसके कई प्रकार बताये हैं, जैसे–ज्ञातिबल, मित्रबल, प्रेत्यबल, देवबल, राजबल, चोरबल, अतिथिबल, कृपणबल और श्रमणबल इत्यादि।[१] ये और इस प्रकार के विभिन्न जनबलों को व्यक्ति भय से, प्रलोभन से, स्वार्थसिद्धि से, बड़प्पन के अहंकार से अपने अधीन करके दूसरों की

१. (क) जाव सोतपण्णाणा अपरिहीणा, जाव णेत्तपण्णाणा अपरिहीणा, जाव घाणपण्णाणा अपरिहीणा, जाव जीहपण्णाणा अपरिहीणा, जाव फासपण्णाणा अपरिहीणा, इच्चेतेहिं विरूबरूवेहिं पण्णाणे हिं अपरिहोणेहिं आयट्ठं सम्मं समणुवासेज्जासि।

–आचारांग, श्रु. १, अ. २, उ. १, पृ. ६८

सेवा, सहायता, उपकार और सहन करने के बदले उन्हें डराता, धमकाता है, हिंसा करता है। 'मोक्खपुरिसत्थो' में बताया है–बाह्यशक्ति के ४ प्रकारों में जनशक्ति तीन व्यक्तियों के पास होती है–(१) धर्मगुरु, (२) परिवार का प्रमुख, और (३) नेता। धर्मगुरु के पास भक्तदल का, गृहपति के पास स्वजनदल का और नेता के पास अपने-अपने दल का बल होता है। ये तीनों अगर गुण-सम्पन्न एवं परोपकार-परायण हों तो अपनी शक्ति का सदुपयोग करते हैं और जिन्हें शक्ति का नशा चढ़ जाता है, वे उन्मार्ग पर चलकर स्व-पर का अहित करते हैं। अपने व्यक्तिगत मानापमान का बदला लेने हेतु वे जनशक्ति के मोह और अहंकार में पड़कर असहिष्णु बन जाते हैं, शाप देते हैं या डराते-धमकाते हैं। दबाते-सताते हैं। किन्तु निर्जरापेक्षी व्यक्ति मध्यस्थ होकर अपनी शक्तियों का दुरुपयोग या बाह्य प्रदर्शन नहीं करते। वे अपनी शक्तियों का गोपन करते हैं, सहिष्णु बनते हैं, प्रतिक्रिया से विरत रहते हैं। इस प्रकार वे संवर और निर्जरा अर्जित कर लेते हैं।

(३) **धनशक्ति** पाकर जो व्यक्ति गर्व और अहंकार नहीं करते, वे धन्ना सेठ के समान नम्र, पुरुषार्थी बनकर संघ, धर्म और साधर्मि जनों की सेवा में धन का सदुपयोग करते हैं। अपनी अवहेलना होने पर भी जाति, समाज, संघ की उन्नति में अग्रसर रहते हैं।

(४) जो किसी सत्ता, अधिकार, पद या नेतृत्व आदि के बल के रूप में **आधिपत्यशक्ति** पाकर सहनशील, गम्भीर और मध्यस्थ बनते हैं, वे संवर और निर्जरा का अनायास ही उपार्जन कर लेते हैं।

आभ्यन्तरशक्ति–विद्या, मंत्र, लब्धि, उपलब्धि, सिद्धि, श्रुत, तप और यश; ये आभ्यन्तरशक्तियाँ हैं, जो बड़े-बड़े साधकों को साधना से भ्रष्ट कर देती हैं। विद्यावान् स्खलना को, मंत्रवान् दोष को, लब्धिमान् किसी सेवक को, श्रुतवान् अज्ञान को और तपस्वी अपने से विपरीतता को प्रायः लेशमात्र भी सहन नहीं करते। परन्तु जो आत्मवान् एवं आत्मार्थी होते हैं, जो आत्म-भाव से सहन करते हैं, ये बहुत निर्जरा कर लेते हैं।

औदयिकभाव से सुन्दर सशक्त शरीर, यशःकीर्ति, पूज्यभाव आदि तथा अन्य बल प्राप्त होते हैं। उनका कुछ भी माहात्म्य अपने हृदय में धारण न करके स्वच्छन्दता और इच्छा का प्रबल निरोध करने से तीव्र निर्जरा करे। मेरी शक्ति पर-हित में और अध्यात्म-विकास में लगे, अपने सम्मान, यश या आमोद-प्रमोद में

पिछले पृष्ठ का शेष–

(ख) से आयबले, से णाइबले, से मित्तबले, से पेच्चबले, से देवबले, से रायबले, से चोरबले, से अतिहिबले, से किवणबले, से समणबले; इच्चेएहिं विरूवरूवेहिं कज्जेहिं दंडसमादाणं समेहाए भया कज्जति, पाव मोक्खे त्ति मण्णमाणे, अदुवा आसंसाए।

–आचारांग, श्रु. १, अ. २, उ. २, पृ. ७३

नहीं। क्षमा से और समभावपूर्वक सहन करने से ऐहिक और पारलौकिक शाश्वत सुख की प्राप्ति होती है।

छठा बोल–कषाय को पतली करके निर्मूल करे तो जीव वेगो-वेगो मोक्ष में जाय

मोक्षपथिक के लिए कषाय-त्याग जरूरी

जो मुमुक्षु है, तपस्वी भी है, शास्त्रज्ञ भी है और वैयावृत्य-परायण भी है, वह यदि क्रोधादि कषायों को त्यागने, उन्हें मन्द करने, उन पर विजय प्राप्त करने का अभ्यास नहीं करता, कषाय-त्याग की भावना भी नहीं रखता, उसकी समस्त धर्म-क्रियाएँ संवर, निर्जरा और मोक्ष की हेतु न बनकर, कर्मबन्ध और संसारवृद्धि की हेतु बनती हैं। यों तो जीवन ने असंख्य बार चारित्र की आराधना की, परन्तु कषाय-त्याग की भावना जगी ही नहीं, उसे कषाय विभावरूप लगे ही नहीं। यदि अन्तरंग की गहराई से श्रद्धापूर्वक कषाय-त्याग की भावना से चारित्र-पालन करता तो उसकी आत्मा शुद्ध, निर्विकार चैतन्यरूप हो जाती और मोक्ष के निकट पहुँच जाती। जिनेश्वर भगवान ने "कषायों को पुनर्भव के मूल को सिंचन वाले" कहा है। अतः कषाय आत्मा के निजी गुणों की घात करने वाले हैं, मोक्ष के पथिक को इनको भलीभाँति जानकर त्याग करना ही हितावह है।

कषाय का स्वरूप क्या है? इसके मुख्य कितने प्रकार हैं? इसके अवान्तर भेद कितने हैं? ये चारों कषाय किस-किस प्रकार से जीव के निजी गुणों पर आक्रमण करते हैं, प्राणी कषाय के वशीभूत होकर अपने चारित्र को कैसे-कैसे खो बैठता है और पुनः-पुनः संसार में परिभ्रमण करता है? कषायों को मन्द करने, पतले करने, वश में करने तथा उन्हें निर्मूल करने के क्या-क्या उपाय हैं? कौन-सा कषाय किस गुणस्थान तक, किस रूप में रहता है? कषायों से मुक्ति ही वास्तव में सर्वकर्ममुक्ति है। इन सब तथ्यों का विस्तार से प्रतिपादन हम **अकषायसंवर**[1] से सम्बन्धित निबन्ध में कर आये हैं।

कषायविजय एवं कषायक्षय के लिए विभिन्न द्वार निर्देश

आगमों में यत्र-तत्र यह निर्देश किया गया है कि किसी भी वस्तु का त्याग करना हो, उससे विरत या निवृत्त होना हो तो ज्ञपरिज्ञा से उसके विषय में पूर्णतया जानना चाहिए और फिर प्रत्याख्यानपरिज्ञा से उसका त्याग करना चाहिए या उससे विरत होना चाहिए। कषायों से निवृत्त या विरत होने के लिए सर्वप्रथम उनके स्वरूप का, उसके अंगोपांगों का ज्ञान आवश्यक है। 'मोक्खपुरिसत्थो' में कषाय शत्रुओं से मुक्ति पानें तथा उन्हें कृश करने के लिए आठ द्वारों का निर्देश किया गया है–(१) स्वरूप चिन्तन, (२) (अपने में उसके अस्तित्व का) निरीक्षण, (३) हानि पश्यना, (४) हेयत्व पश्यना, (५) अनुपादेयता पश्यना, (६) अनात्मता पश्यना,

१. देखें–विस्तृत विवरण के लिए 'अकषायसंवर : एक सम्प्रेरक चिन्तन' शीर्षक निबन्ध

(७) अपरिग्रह (कषायों की बौद्धिक या आन्तरिक पकड़), और (८) अरुचि। इसी प्रकार कषायों पर विजय पाने के लिए ९ द्वारों का निर्देश किया गया है– (१) दर्शनद्वार (बाह्य, आभ्यन्तर और आत्मा का दर्शन तथा त्रिविध वाह्य दर्शन = प्रसंग दर्शन, श्वास दर्शन, शरीर दर्शन) तथा आभ्यन्तर दर्शन दो प्रकार का = अन्तर्मुख होकर मनोदर्शन तथा आत्म-दर्शन, (२) प्रतिसंलीनता द्वार, (३) इच्छात्याग द्वार, (४) अदीनता द्वार (कषायों के वल से आत्म-वल बढ़कर है, अतः कषायों से हार न माने), (५) आज्ञा-स्मृति द्वार, (६) दृष्टान्त द्वार (वोधक उदाहरण), (७) विरोधी भण्डार, (८) गुरु-आज्ञा में प्रसन्नता द्वार, और (९) कर्म-विपाक-चिन्तन द्वार। इस प्रकार कषायों पर विजय प्राप्त करके साधक कर्मक्षय के मार्ग पर तीव्र गति से बढ़ता है। और प्रशम, संवेग, निर्वेद, धर्मश्रद्धा, प्रलोकना, आत्म-निन्दा और गर्हा, ये सप्तविध भाव भाव-विशुद्धि के हेतु हैं, भाव-विशुद्धि होने पर कषायक्षय शीघ्र होता है। कषायों का क्षय ही मोहक्षय है। मोहक्षय होते ही केवलज्ञान, वीतरागता और चार घातिकर्मों का क्षय, तत्पश्चात् चार अघातिकर्मों का भी क्षय करके व्यक्ति सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हो जाता है। अतः कषायविजय या कषायक्षय शीघ्र मोक्ष-प्राप्ति का असंदिग्ध कारण है।[1]

सातवाँ बोल–षड्जीवनिकाय की रक्षा करे तो जीव वेगो-वेगो मोक्ष में जाय

षट्कायिक जीवों के नाम इस प्रकार हैं–(१) पृथ्वीकाय, (२) अप्काय, (३) तेजस्काय, (४) वायुकाय, (५) वनस्पतिकाय, और (६) त्रसकाय (द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय)।

सर्वप्रथम 'जीव' के स्वरूप और अजीव से जीव की भिन्नता जानने की आवश्यकता है। कई दर्शन और धर्म एकेन्द्रिय (पंच स्थावर) जीवों को जीव ही नहीं मानते। कई लोग पंचेन्द्रिय को छोड़कर द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीव को भी नहीं मानते, कई आधे–अधूरे मन से मानते हैं, तो कई उनमें जीव मानते हुए भी उनकी उपेक्षा कर देते हैं, उनके जीवन की कोई परवाह नहीं करते।

जो जीव और अजीव को नहीं जानता वह संयमाराधक नहीं हो सकता

अतः जो व्यक्ति जीव और अजीव को नहीं जानता अथवा जानता हुआ भी आत्मौपम्य भाव न रखकर, अन्य जीवों के सुख-दुःख को अपने समान नहीं समझता, वह कैसे संवर-निर्जरा का, संयम का या मोक्षमार्ग का आराधक हो सकता है? 'दशवैकालिकसूत्र' में स्पष्ट कहा है–"जो जीव को भी नहीं जानता और अजीव को भी नहीं जानता, जीव और अजीव के स्वरूपादि से अनभिज्ञ वह व्यक्ति संयम (जीवसंयम और अजीवसंयम) को कैसे जानेगा?" वास्तव में जो

१. 'मोक्खपुरिसत्थो, भा. ३' से भाव ग्रहण, पृ. ३७, २०७, २६६-२६७

व्यक्ति जीवों के यथार्थ स्वरूप को नहीं जानते, वे एकान्तदृष्टि पकड़कर या तो यह कहते हैं कि "जीव (आत्मा) है ही नहीं," अथवा जीव (आत्मा) नित्य है, उसका नाश होता ही नहीं, वह तो अमर अविनाशी है।" जीव को न मानने या एकान्त नित्य मानने वाले ऐसे लोग हिंसा का स्वरूप भी नहीं समझते, फिर जीवों की रक्षा कैसे होती है? जीवों की हिंसा के क्या-क्या कारण हैं? जीवहिंसा से कैसे विरत हुआ जा सकता है? इन तथ्यों को नहीं जानने वाले लोग जीवरक्षा से विमुख हो जाते हैं, वे विषयों में आसक्त होकर अपने सुखोपभोग के लिए जीवों की विराधना करते रहते हैं। उनके जीवन में न तप है, न संयम है और न ज्ञान और संवेग है।[1]

व्यवहारदृष्टि से जीव को दशविध प्राणों से वियुक्त करना हिंसा है

वैसे तो निश्चयनय की दृष्टि से जीव सिद्ध-परमात्मा के समान है, किन्तु व्यवहार में कर्मों के कारण नाना गतियों और योनियों में वह नाना रूपों वाला होकर भव-भ्रमण करता है, वह प्राणों से ही शरीर में बँधा हुआ है, प्राणों का धारण है, इसलिए प्राणी कहलाता है। मूल प्राण चार हैं-(१) पंचेन्द्रिय बल, (२) त्रिविध योग बल, (३) श्वासोच्छ्वास बल, और (४) आयुष्य बल। सुख-दुःख, जीवन-मरण आदि सब प्राणों पर आधारित हैं। सभी जीवों को प्राण प्रिय है, जीवन प्रिय है, मरण अप्रिय है। सभी जीव सुख चाहते हैं, दुःख नहीं। अतः निश्चयदृष्टि से जीव नित्य होने पर भी व्यवहारनय से प्राणों का नष्ट हो जाना, उनका मरण है। अतः दस प्राणों में से किसी भी प्राण को नष्ट करना, क्षति पहुँचाना, वियुक्त करना जीवों की हिंसा (प्राणातिपात) है। जो जीव प्रमत्त है, स्वच्छन्द है, विषयभोगों में आसक्त है, यतनारहित है, असंयत है, उसका योग व्यापार (मन-वचन-काय की प्रवृत्ति) अन्य जीवों के लिए शस्त्ररूप होता है, क्योंकि वह आत्म-नियंत्रण (संवर) नहीं रख सकता।

हिंसा के पाँच कारण : अशुभ कर्मबन्ध के हेतु

(१) (जीवादि तत्त्वों के विषय में तथा हिंसा-अहिंसा के विषय में) अज्ञान, (२) अनास्तिक्य (जिनोक्त व्रतादि पर अनास्था या मिथ्या श्रद्धा-मान्यता), (३) आत्म-अनियंत्रण (स्वयं को वश में न रखना), (४) प्रमाद (असावधानी, अनादर या अजागृति), और (५) हिंसा-अहिंसा की अज्ञता; ये पाँचों हिंसा के कारण हैं और अशुभ कर्मों के बन्ध के हेतु हैं।[2]

---

१. (क) 'मोक्खपुरिसत्थो, भा. १' से भाव ग्रहण, पृ. १९२-१९३

(ख) जो जीवे वि न याणइ, अजीवे वि न याणइ।
जीवाजीवे अयाणंतो कहं सो नाहीइ संजमं? —दशवै. ४/१२

२. (क) 'मोक्खपुरिसत्थो, भा. १' से भाव ग्रहण, पृ. २०३, २०६

(ख) सव्वे जीवा सुहसाया दुहपडिकूला सव्वेसिं जीवियं पियं। *—आचारांग, श्रु. १*

हिंसा कहाँ-कहाँ, कैसे-कैसे ?

सभी जीव जीना चाहते हैं, मरना कोई नहीं चाहता, इसलिए जीवहिंसा मुमुक्षु साधक के लिए वर्जनीय है। किसी के प्राणों को नष्ट कर देना, क्षति पहुँचाना प्रमादयोग से ही हो सकता है। अतः प्रमादयोग से प्राणनाश करना हिंसा है। जिसमें किसी भी प्रकार की इच्छा होती है, वही अपनी इच्छा-पूर्ति के लिए प्रमाद में लीन होता, कर्मबन्ध करता है। जैनागमों में महती इच्छा वाले को महारम्भी और अल्प इच्छा वाले को अल्पारम्भी कहा गया है। जो इच्छा से रहित, निःस्पृह निष्कांक्ष और निरीह होता है, वह अनारम्भी होता है। इसलिए जीवहिंसा से विरत होने के लिए इच्छा का त्याग करना चाहिए। इस अतिरिक्त द्रव्यहिंसा और भावहिंसा का भी विवेक करना चाहिए। केवल द्रव्यहिंसा हो या न हो, भावहिंसा होने से ही हिंसाजन्य पापकर्मबन्ध हो जाता है, क्रोधादि विभावजन्य परिणाम आये कि भावहिंसा हो गई।

जीवरक्षा के अमोघ उपाय और भाव

जीवों की रक्षा के लिए समस्त प्राणियों के प्रति आत्मवत् भाव होना चाहिए। दूसरे प्राणी को कष्ट पहुँचाना, त्रस देना, डराना, धमकाना, बंद कर देना, गला घोंट देना, गुलाम बनाकर रखना आदि सबको भगवान महावीर ने अपने आप को कष्ट पहुँचाना, त्रस देना आदि कहा है। किसी के प्राणों को नष्ट करने से अपनी ही हानि होती है। इसके अतिरिक्त दूसरों को दुःखी देखकर उनके दुःख को अपना दुःख जानकर और दुःख दूर करने की इच्छा रखना अनुकम्पा और दया है। किसी की पीड़ा से हृदय का द्रवित होना अनुकम्पा का भाव है। निःस्वार्थभाव से किसी दुःखित प्राणी पर दया करना कर्मक्षयकारिणी हो सकती है। दया-पालन के लिए निःस्वार्थ-निष्कामभाव के साथ उपयोगयुक्त चित्त, उल्लास, हृदय में प्रसन्नता, दया स्व-पर के लिए उपकारिणी है, इस कृपाभाव से युक्त होना आवश्यक है।

आत्मा कब हिंसारूप बन जाती है, कब अहिंसारूप ?

वस्तुतः देखा जाये तो निश्चयनय से पुद्गल की—पर-द्रव्यों की चाह से, पर के या विभाव के आलम्बन से या पर-भावों या विभावों में रमण से आत्म-गुणों—भाव-प्राणों की घात होती है, अतः पर में रयमाण आत्मा ही हिंसारूप बन जाता है, स्व में रयमाण आत्मा ही अहिंसारूप है, इस भाव को लेकर समस्त जीवों के प्रति आत्म-भाव की उत्कटता होने से भावदयारूप होकर सर्वजीवरक्षा सर्वकर्ममुक्तिरूप मोक्षदायिनी बन सकती है।

जीवरक्षा के लिए उत्कृष्ट करुणाभाव से सर्वकर्ममुक्त होने वाले

कई बार जब जीवों की रक्षा के लिए अपने शरीर की चिन्ता या परवाह नहीं करते हुए महान् करुणाशील साधक स्वकीय प्राणों का त्याग कर देते हैं, वे उक्त

उत्कृष्ट भावरसायन से युक्त सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हो जाते हैं। जैसे–क्रौंच पक्षी की रक्षा के लिए परम कारुणिक मैतार्य मुनि ने अपने जीवन को होम दिया। समभाव से शरीर के प्रति ममत्व त्याग के कारण वे सर्वकर्ममुक्त सिद्ध-बुद्ध हो गये।

शत्रुदेव के कोप से नदी में लोगों द्वारा नाव से फेंके गये आचार्य अर्णिकापुत्र (देव द्वारा भाले की नोंक पर झेले जाने पर शरीर से निकलते हुए) अपने रक्त से मरते हुए अप्कायिक जीवों के प्रति अपार करुणाभाव तथा अपने आप के प्रति भी करुणाभाव व अपने देहभाव के प्रति गर्हा होने के कारण क्षपकश्रेणी पर आरोहण हुआ और वे अन्तकृद् केवली हुए।[1]

इसी प्रकार जीवरक्षा के लिए अपार करुणाभाव तथा ऐसे सुअवसर के लिए अपनी आत्मा के प्रति दयाभाव और देहभाव के प्रति आत्म-निन्दा और गर्हा का भाव होने से जीव क्षपकश्रेणी पर आरूढ़ होकर केवलज्ञान प्राप्त करता है और तदनन्तर सिद्धि = मुक्ति भी निश्चित ही प्राप्त करता है।

यह है–समस्त जीवों की रक्षा के उत्कृष्ट भावरसायन से सर्वकर्ममुक्ति का उपाय !

आठवाँ बोल–सुपात्रदान तथा अभयदान देवे तो जीव वेगो-वेगो मोक्ष में जाय

इस बोल में अभयदान और सुपात्रदान की पारस्परिक संगति का उल्लेख है। अप्रमत्त मुनिवर, जिन्होंने छहों जीवनिकायों को अपनी ओर से समस्त भयों से मुक्त कर दिया है ऐसे उत्कृष्ट अभयदाता मुनि ही उत्कृष्ट सुपात्र हैं। तथैव मुनि को दान देने वाले सभी सुपात्रदानी नहीं होते, जिन्हें मुनि के गुणों के प्रति उल्लासभाव जाग्रत हो, जो ऐसे सुपात्र को दान देने का अवसर पाकर अहोभाग्य मानता है। ऐसे सुपात्रदान की विशेषता के चार कारण 'तत्त्वार्थसूत्र' एवं 'सुखविपाकसूत्र' आदि में बताये हैं–(१) विधि, (२) द्रव्य, (३) दाता, और (४) पात्र; चारों शुद्ध होने से सुपात्रदान विशिष्ट फल वाला होता है। 'भगवतीसूत्र' में एक प्रश्न किया गया है–"भगवन् ! तथारूप (उत्तम) श्रमण और माहन को प्रासुक (अचित्त) और एषणीय (भिक्षा) में लगने वाले दोषों से रहित अशन, पान, खादिम और स्वादिम (चतुर्विध) आहार द्वारा प्रतिलाभित करते (विधिपूर्वक देते–बहराते) हुए श्रमणोपासक को क्या लाभ होता है ? उत्तर में भगवान ने कहा–"गौतम ! तथारूप श्रमण या माहन को यावत् प्रतिलाभित करता हुआ श्रमणोपासक तथारूप श्रमण या माहन को समाधि उत्पन्न करता है। उन्हें समाधि प्राप्त कराने वाला श्रमणोपासक उसी समाधि को स्वयं प्राप्त करता है।" इसके पश्चात् अगला प्रश्न है–"भगवन् ! तथारूप श्रमण या माहन को यावत् प्रतिलाभित करता हुआ श्रमणोपासक क्या

१. देखें–द्रव्यहिंसा और भावहिंसा के लिए 'अहिंसादर्शन' (नवसंस्करण) (उपाध्याय अमर मुनि)

त्याग (या संचय) करता है?" उत्तर है–"गौतम ! वह श्रमणोपासक जीवित (जीवन-निर्वाह के कारणभूत–जीवितवत् अन्नादिद्रव्य) का त्याग करता है; दुस्त्यज वस्तु का त्याग करता है, दुष्कर कार्य करता है, दुर्लभ वस्तु का लाभ लेता है, बोधि (सम्यग्दर्शन) का बोध प्राप्त (अनुभव) करता है, उसके पश्चात् वह सिद्ध-बुद्ध-मुक्त होता है, यावत् समस्त दुःखों का अन्त करता है। इस सूत्र का फलितार्थ देते हुए वृत्तिकार कहते हैं–उक्त सुपात्रदानी श्रमणोपासक को ८ प्रकार के लाभ होते हैं। वे इस प्रकार हैं–

(१) अन्न-पानी देना–जीवनदान देना है। अतः वह जीवन का दान (त्याग) करता है।

(२) जीवित की तरह दुस्त्याज्य अन्नादि द्रव्य का दुष्कर त्याग करता है।

(३) त्याग का अर्थ अपने से दूर = विरहित करना भी है। अतः वह जीवित की तरह जीवित को यानी कर्मों की दीर्घ स्थिति को दूर करता = ह्रस्व करता है।

(४) दुष्ट कर्म द्रव्यों का संचय दुश्चय है, उसका त्याग करता है।

(५) फिर अपूर्वकरण द्वारा ग्रन्थिभेदरूप दुष्कर कार्य करता है।

(६) इसके फलस्वरूप दुर्लभ = अनिवृत्तिकरणरूप दुर्लभ वस्तु को उपलब्ध करता है, अर्थात् चय = उपार्जन करता है।

(७) तत्पश्चात् बोधि का लाभ चय = उपार्जन = अनुभव करता है।

(८) तदनन्तर परम्परा से सिद्ध-बुद्ध-मुक्त होता है, यावत् समस्त कर्मों = दुःखों का अन्त कर देता है।"[1]

इसी प्रकार श्रमण या माहन को प्रासुक ऐषणीय आहार देने वाले श्रमणोपासक को एकान्त निर्जरा का लाभ भी बताया है। अन्यत्र यह भी बताया गया है कि अनुकम्पा, अकामनिर्जरा, बालतप, दान-विशेष एवं विनय से बोधिगुण-प्राप्ति का लाभ बताया है तथा कई जीव (सुपात्रदान के प्रभाव से) सर्वकर्म-विमुक्त होकर

---

१. (प्र.) समणोवासएणं भंते ! तहारूवं समणं वा माहणं वा फासुएणं एसणिज्जेणं असण-पाण-खाइम-साइमेणं पडिलाभेमाणे किं लभति?

(उ.) गोयमा ! समणोवासएणं तहारूवं समणं वा माहणं वा जाव पडिलाभेमाणे तहारूवस्स समणस्स वा माहणस्स वा समाहिं उप्पाएति, समाहिकारए णं तमेव समाहिं पडिलभति।

(प्र.) समणोवासएणं भंते ! तहारूवं समणं वा माहणं वा जाव पडिलाभेमाणे किं चयति?

(उ.) गोयमा ! जीवियं चयति, दुच्चयं चयति, दुक्करं करेति, दुल्लभं लभति, बोहिं बुज्झति ततो पच्छा सिज्झति जाव अंतं करेति।

–व्याख्याप्रज्ञप्ति विवेचन (आ. प्र. समिति, ब्यावर), श. ७, उ. १, सू. ९-१०

उसी भव में मुक्त हो जाते हैं तथा कई जीव महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेकर तीसरे भव में सिद्ध हो जाते हैं।[1]

निष्कर्ष यह है कि उत्कृष्ट अभयदानी सुपात्र को दान देने वाला सुपात्रदानी श्रमणोपासक या तो परम्परा से शीघ्र ही सिद्धत्व-मुक्तत्व प्राप्त करता है अथवा एकान्त निर्जरा करता है या फिर देवलोक प्राप्त करता है।

अभयदान का माहात्म्य, स्वरूप, प्रकार और विश्लेषण

अभयदान देने वाला उत्कृष्टपात्र निर्ग्रन्थ निःस्पृह साधुवर्ग है। अभयदान सभी दानों में उसी प्रकार श्रेष्ठ है, जैसे शरीर में मस्तक श्रेष्ठ है, आभूषणों में मुकुट प्रधान है और शुद्ध धर्म में भाव प्रधान है। अभयदान का अर्थ है–शास्त्रोक्त सातों भवों में से मरण भय का निवारण करना। मरण के चार रूप हो सकते हैं–उपस्थित (तत्काल) मरण स्वतः तथा परतः एवं सम्भावित मरण स्वतः तथा परतः। अर्थात् अपनी ओर से होने वाले तत्काल मरण को तथा दूसरों की ओर से होने वाले तत्काल मरण को रोकना, इसी प्रकार अपनी ओर से तथा अन्य की ओर से होने वाले सम्भावित मरण को रोकना चतुर्विध अभयदान है। 'सूत्रकृतांग वृत्ति' में एक दृष्टान्त द्वारा अभयदान का माहात्म्य समझाया गया है–एक श्रेष्ठिपुत्र को चोरी के अपराध में राजा ने मृत्युदण्ड की सजा सुनाई। जब चोर को वध्य-स्थान की ओर ले जाया जा रहा था तो राजा की बड़ी रानी ने करुणावश उसे एक दिन के आतिथ्य के लिए माँगा। राजा ने स्वीकार किया। अतः रानी ने उसे नहला-धुलाकर बहुमूल्य वस्त्र पहनायें और स्वयं परोसते हुए स्वादिष्ट भोजन करवाया। दूसरे दिन मझली रानी ने उस चोर के आतिथ्य की माँग की। राजा ने स्वीकृति दे दी। इस रानी ने एक सहस्र स्वर्ण-मुद्राएँ व्यय करके उसे स्नानादि के अलावा वस्त्राभूषण पहनाये, भोजन करवाया और संगीतादि मनोरंजन भी करवाया। तीसरे दिन सबसे छोटी रानी ने भी उसका एक दिन आतिथ्य करने की माँग की। उसने उस चोर की राम कहानी सुनी, उसे भोजन कराया और आश्वासन दिया कि यदि तुम भविष्य में अपराध न करने का वचन दो तो मैं तुम्हें मृत्युदण्ड से मुक्त करा सकती हूँ। चोर वचनबद्ध हो गया। रानी ने राजा से अनुनय-विनय करके उसका मृत्युदण्ड रद्द करवा दिया। चोर जब प्रसन्न होकर घर जाने लगा, उस समय तीनों रानियों में विवाद उत्पन्न हो गया कि

---

१. (क) (प्र.) समणोवासगस्स णं भंते ! तहारूवं समणं वा माहणं वा फासुएसणिज्जेणं असण-पाण-खाइम-साइमेणं पडिलाभेमाणस्स किं कज्जति?

(उ.) गोयमा ! एगंतसो से निज्जरा कज्जइ, नत्थि य से पावे कम्मे कज्जति।

–भगवतीसूत्र, श. ८, उ. ६, सू. १

(ख) 'अणुकंपऽकाम-णिज्जर-बालतवे-दाण-विणए' इत्यादि पाठ तथा कई तेणेव भवेण निव्वुया सव्व कम्मओ विप्पमुक्का। केई तइय-भवेणं सिज्झिस्संति।

–भगवती, अ. वृत्ति, पृ. २८९

"श्रेष्ठ कार्य किसने किया ?" राजा ने इसका न्याय करने के लिए श्रेष्ठिपुत्र (चोर) को बुलाकर उसे निर्भय करके पूछा–"बताओ, तुम्हारे लिए किस रानी जी ने श्रेष्ठ कार्य किया ?" उसने कहा–"यों तो तीनों रानियों ने अपनी-अपनी दृष्टि से किया है, परन्तु पहली दोनों रानियों ने जब मेरे आतिथ्य के लिए इतना व्यय किया, उस समय मेरे सिर पर मौत मँडरा रही थी, इसलिए मुझे कुछ भी अच्छा नहीं लग रहा था। मगर छोटी रानी साहिबा ने भले ही मुझे सादा भोजन करवाया, परन्तु इन्होंने जो मुझे मृत्यु के भय से मुक्त करवा दिया, इससे मुझे बड़ा आनन्द आया। अब मैं अपना जीवन निष्पाप बिताऊँगा। मेरे दोनों भव इन्होंने प्रतिज्ञाबद्ध करके सुधार दिये। इसलिए छोटी रानी जी ने मुझे अभयदान देकर सर्वोत्कृष्ट कार्य किया है।"

इसी प्रकार शाप आदि से या दुःख देने या दुःख के कारणों को उत्पन्न करने से जीव भयभीत हो जाता है। राजा संयती को एक हिरण का वध करने पर महामुनि गर्दभाली से शाप का भय पैदा हो गया। करुण पश्चात्ताप के स्वर में उसने मुनि से क्षमा की प्रार्थना की, तब मुनि ने कहा–"राजन् ! मैं तुम्हें अभय करता हूँ, तुम भी तो अभयदाता बनो। क्यों निर्दोष प्राणियों की हिंसा में रक्त होकर भयदाता बने हो ?" राजा संयती षट्जीवनिकाय की रक्षा का व्रत लेकर श्रेष्ठ अभयदाता बन गया। इसी प्रकार किसी को बुराइयों, दुर्व्यसनों, पापबन्धकारक अठारह पापस्थान का त्याग कराना तथा आर्त्त-रौद्रध्यान का निवारण कराकर धर्मध्यान और संयम के पथ पर चढ़ाना, मैत्री, प्रमोद आदि भावनाओं का व्यवहार करके दिल से भय की वृत्ति निकाल देना भी अभयदान के रूप हैं।[1]

कई आचार्य इहलोकभय, परलोकभय, आदानभय अकस्मात्भय, आजीविकाभय, अपयशभय और मरणभय; इन सातों भयों में किसी के किसी भी भय का युक्ति, सूक्ति और अनुभूति से निवारण करना भी अभयदान कहते हैं। अभयदान का पुरुषार्थ जीव को महानिर्जरा और अन्त में सर्वकर्ममुक्तिरूप मोक्ष का अर्जन करा देता है।

मोक्ष के चतुर्थ अंग सम्यक्तप के सन्दर्भ में सात बोल

पहला बोल–(मोक्षदृष्टि से) उग्रतप करे तो जीव वेगो-वेगो मोक्ष में जाय

किसी भी कार्य की सिद्धि के लिए तीव्र भावना और लक्ष्य में एकाग्रता व अनन्यता होनी चाहिए। शीघ्र मुक्ति-प्राप्ति के लिए भी तीव्र मुमुक्षा, अप्रमत्त और अविरत रहकर सर्वकर्ममुक्तिरूप मोक्ष के लक्ष्य में एकाग्रता और अनन्यतापूर्वक एकमात्र आत्म-शुद्धि की दृष्टि से तीव्र और उग्रतप अपेक्षित है।

---

१. (क) 'मोक्खपुरिसत्थो, भा. १' से भाव ग्रहण

(ख) सूत्रकृतांग, श्रु. १, वीरस्तुति के विवेचन से भाव ग्रहण

भोगजनित ताप पीड़ाकारक : उग्रतप अल्पपीड़ाकारक परिणाम में सुखदायक

मोक्षार्थी तपःसाधना की उग्रता से डरता नहीं है और न ही वह मोक्ष के समग्र कारणों से युक्त होकर अविचल अनवरत तपःसाधना करने से हिचकिचाता है। पूर्वबद्ध पापकर्मों के कारण अनन्त काल से भवपरम्परा में भटकता हुआ जीव जन्म-जरा-मरण-रोगादि नाना दुःखों, पीड़ाओं और यातनाओं को सहता आया है। इन पापों के तापों को जीव ने अनन्त बार सहा है फिर भी उनसे विरत नहीं हुआ, पाप के ताप से तो स्वेच्छा से आत्म-शुद्धि के लक्ष्य से उग्रतप का ताप अधिक नहीं है और न ही मोक्षार्थी को पीड़ाकारक महसूस होता है। पाप के कारण तो नियमतः पीड़ा होती है, होती रहेगी। भोगजनित दुःख और तपोजनित दुःख, दोनों एक सरीखे प्रतीत होते हैं, परन्तु दोनों में काफी अन्तर है। भोग में बल, वीर्य, धन आदि का नाश होने पर क्षय, दया, हृदयरोग आदि दुःसाध्य व्याधियाँ आ घेरती हैं और जिनसे संतप्त होकर व्यक्ति मरण-शरण भी हो जाता है। किन्तु तप से देह, बल आदि का ह्रास हो जाने पर किंचित् पीड़ा होती है, किन्तु कर्मरोग के नष्ट हो जाने और आत्मा के कर्ममलरहित शुद्ध हो जाने से आत्मिक-सुख बढ़ जाता है। ऐसी स्थिति में मृत्यु भी आये तो वह संतोषपूर्वक सहर्ष उसका वरण कर लेता है। भूख, प्यास, ज्वर, रोग आदि तो असातावेदनीयजनित दुःख हैं, जिनसे जीव अपना बल हार जाता है, मगर तप में तो भूख, प्यास आदि को स्वेच्छा से प्रसन्नतापूर्वक स्वीकारने से उस दुःख पर मोक्षार्थी तपोधनी अपने आत्मिक-बल से विजय पा लेता है। पूर्वकृत अशुभ कर्मोदयवश व्यक्ति को दूसरों के द्वारा दिये गये अनेक दुःखों, कष्टों और तकलीफों को बरबस सहना पड़ता है। जरा-सी भूल या भयंकर गलती होने पर उसे ताड़न-तर्जन या वध-बन्धन आदि का दण्ड भी मन-मसोसकर भोगना पड़ता है। फिर गृहस्थवास में मनुष्य अपने पुत्र-पत्नी-परिवार आदि के लिए मोहवश अनेक कठिनाइयाँ झेलता है। व्यापार-धन्धे, नौकरी आदि में तो उसे अनेक शारीरिक कष्ट उठाने पड़ते हैं। उच्च कोटि के साधक भी जिह्वा लोलुपतावश तथा अतिप्रवृत्ति करके यशःकीर्ति, प्रतिष्ठा-प्रशंसा आदि के लिए अनेक प्रकार के दुःखों को आमंत्रण देते हैं। अपने सम्प्रदाय, पंथ, मत, जाति, प्रान्त आदि के मोह में पड़कर धर्म के नाम पर दूसरों से लड़ने-झगड़ने, ईर्ष्या, द्वेष, निन्दा, द्रोह, अहंकार आदि करने में तथा नाना प्रकार की तिकड़मबाजी करने, झूठफरेब करके अपने गुट की जाहोजलाली करने में कई साधक खून-पसीना एक करते रहते हैं। इन सब उखाड़-पछाड़ों द्वारा अनेक दुःख उठाकर नये अशुभ कर्मबन्ध करने की अपेक्षा सम्यक्त्वपूर्वक समभाव से बाह्य-आभ्यन्तर उग्रतप करने में बहुत ही कम कष्ट-पीड़ा महसूस होती है। दुःख तो प्रतिकूल वेदन को कहते हैं। मुमुक्षु आत्मा तपोजनित दुःख को दुःख मानता ही नहीं, वह उस दुःख को अनुकूल वेदता है और फिर स्वेच्छा से उग्रतप करने सकामनिर्जरा, कर्मों से मुक्ति और

तज्जनित आत्म-सुख भी प्राप्त होता है। इसलिए भगवान महावीर ने मुमुक्षु साधकों से कहा–"हे साधक, तू दीर्घदृष्टि से विचार कर–"(पूर्वकृत कर्मोदयवश) दूसरे (पर-पदार्थ, कर्मपुद्गल या दूसरे जीव) वध, बन्धन आदि द्वारा मेरा दमन करें, इसकी अपेक्षा मैं स्वयं तप और संयम द्वारा (पूर्वकृत कर्मों को तप से क्षय करने तथा संयम से नये कर्मों को रोकने हेतु) आत्मा (अपने तन-मन-इन्द्रियों आदि) का स्वेच्छा से दमन कर लूँ तो कितना अच्छा हो !" आशय यह है कि इन्द्रिय-विषयों को प्राप्त करने में, पुत्रकलत्रादि के पालन में, आजीविका के लिए या धनादि उपार्जन करने में शरीरादि को नाना दुःख उठाने पड़ते हैं। उनमें जो कर्मबन्ध होते हैं, उनके फलस्वरूप फिर दुःखों का सामना करना पड़ता है। उन सबकी अपेक्षा मोक्षार्थी जीव स्वेच्छा से चारित्र के या धर्म के पालन के लिए ज्ञानपूर्वक काया को कष्ट देता है या इन्द्रिय, मन आदि को वश में करता है, उससे समभाव और तितिक्षा में वृद्धि होती है, पूर्व कर्मों का क्षय तथा नये कर्मों का निरोध भी होता है। इस प्रकार के स्वैच्छिक देहदमन से तथा इहलौकिक-पारलौकिक सभी आशंसाओं से इच्छाओं के निरोधपूर्वक कामभोगजनित सुखों एवं विभावों से दूर रहकर तप करने से निर्मल तपोधर्म की प्राप्ति होती है, आत्मिक-गुणों में वृद्धि होती है और अन्त में, परमपद की प्राप्ति होती है।[१]

आत्म-शुद्धि और गुणवृद्धि के लिए उग्रतप करना आवश्यक

अतः जिन-जिन कारणों से कर्मजनित दोष आत्मा के निजी गुणों को वेष्टित करते हैं, उन कारणों की शुद्धि की प्रवृत्ति को दुःखोत्पादक ताप नहीं, सुखोत्पादक तप कहना चाहिए। जैसे दीपावली के अवसर पर घर की सफाई करने और उसे सुशोभित करने में कष्ट होते हुए भी उसे सुखरूप माना जाता है, वैसे ही तप से भी कर्मक्षय होने से आत्मा की शुद्धि (सफाई) और गुणों के आविर्भाव से सुशोभा होती है, फिर आत्मा के केवलज्ञान का प्रकाश जगमगा उठता है। अतः शीघ्र मोक्ष-प्राप्ति के लिए सम्यक् विधि से दृढ़ भावपूर्वक बाह्य-आभ्यन्तर उग्रतप करना चाहिए।

ये भी उग्रतप में समाविष्ट हैं

पूर्वोक्त सकामतप के अतिरिक्त उग्रतप, दीप्ततप, तप्ततप, महातप और घोरतप आदि गौतमस्वामी द्वारा किये गये उत्कृष्ट तपों का तथा निराशीतप,

१. (क) 'मोक्खपुरिसत्थो, भा. १' से भाव ग्रहण, पृ. ५७, ६१-६४

(ख) वरं मे अप्पा दंतो संजमेण तवेण य।
माऽहं परेहिं दमंतो बंधणेहिं वहेहिं य॥ *–उत्तराध्ययन, अ. १, गा. १६*

(ग) 'प्रश्नोत्तर मोहनमाला, भा. ८' से भाव ग्रहण, पृ. ४४२

(घ) इहपर-लोक-सुखानां निरपेक्षः यः करोति समभावः।
विविध कायक्लेशे तपोधर्मः निर्मलस्तस्य॥

समभावीतप और लब्धितप का समावेश भी आगे कहे जाने वाले सम्यक् बाह्य-आभ्यन्तरतप में हो जाता है।[1]

बाह्य और आभ्यन्तरतप : प्रकार, परस्परपूरक, सहायक, संरक्षक

अनशन, ऊनोदरी, भिक्षाचरी (या वृत्ति = द्रव्यों की गणना), रसपरित्याग, कायक्लेश और प्रतिसंलीनता, ये ६ बाह्यतप हैं तथा प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, ध्यान और व्युत्सर्ग, ये ६ आभ्यन्तरतप हैं। शर्त यह है कि सम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक किये गये दोनों प्रकार के तप इच्छानिरोधलक्षणपूर्वक हों, आत्म-शुद्धि के लक्ष्यपूर्वक शास्त्रोक्त विधि से हों, तभी वे शीघ्र मोक्ष-प्राप्ति के कारण बनते हैं। वस्तुतः ये दोनों प्रकार के तप परस्पर एक-दूसरे के पूरक, संरक्षक और आत्म-शुद्धिकारक हैं, सहायक हैं। इन दोनों का समन्वय होने पर ही तप में परिपूर्णता आती है। जैसे कवच योद्धा की रक्षा करता है और योद्धा कवच की, वैसे ही बाह्यतप और आभ्यन्तरतप दोनों एक-दूसरे के रक्षक हैं।

बाह्य और आभ्यन्तरतप के मुख्य प्रयोजन

बाह्यतप का मुख्य प्रयोजन है—भूख, भोगतृष्णा, सुख-सुविधा की वृत्ति और रसास्वाद पर संयम, सहिष्णुता में वृद्धि तथा इन्द्रिय-विषयों और कषायादि विकारों का निरोध। तथैव आभ्यन्तरतप का प्रयोजन है—ज्ञानादि की आराधना में हुई स्खलना, प्रमाद, भूल आदि की विशुद्धि, अन्तर में गुणों की प्रतिष्ठा और अभिव्यक्ति आत्मिक-शक्ति (बलवीर्य) का विकास, ज्ञान में प्रीति, सद्भावों में उल्लास (असद्भावों के प्रति अरुचि), परिणामों की धारा को सुधारना या तीक्ष्ण करना, देहादि या कषायादि का व्युत्सर्ग करना।

उग्रतप : क्या और कैसे-कैसे ?

पूर्वोक्त बाह्य और आभ्यन्तरतप सम्यग्दृष्टि, विवेक और विधि से तीव्र भावना, शुद्धता विवेक और मोक्षदृष्टि से किये जायें तो ये उग्रतप हो सकते हैं, जो शीघ्र कर्मक्षय करने में सहायक होते हैं। पाँच विशेषताओं से युक्त तप उग्रतप माना जाता है—(१) जो दृढ़ भावनाओं (अर्थात् उल्लास, विधि में स्थिरता और तप में अखण्डवृत्तिरूप दृढ़ भावनाओं) से युक्त हो, प्राणान्त कष्ट आने पर भी खण्डित न किया जाये, छोड़ा न जाय, (२) वह लम्बा (दीर्घकालिक) हो, (३) विपुल हो, (४) निरन्तर हो, और (५) दोषनाशक हो।

उग्रतप की दूसरी परिभाषा है—(१) मन-वचन-काया में भी तप में उल्लास की अभिव्यक्ति हो, (२) अल्पसत्व वाले पुरुष कठोर लगें, परन्तु तपोधनी को वह

---

१. (क) 'मोक्खपुरिसत्थो, भा. १' से भाव ग्रहण

(ख) 'प्रश्नोत्तर मोहनमाला' से भाव ग्रहण, पृ. ४४०, ४४२

आसान तप लगे, (३) दीर्घतप हो, जो सिद्धि-पर्यन्त विरत न होने के भाव से युक्त हो, (४) तपश्चर्या में उत्कृष्ट प्रसन्नता हो, जिससे तप की कठोरता और दीर्घता प्रतीत ही न हो।

उग्रतप की तीसरी परिभाषा है-(१) तप में त्रिविध योगों की समग्र शक्ति लगे, समरसता हो। (२) मुक्ति के लक्ष्य से युक्त प्रयत्न परम्परा हो, (३) शक्ति का गोपन न करते हुए व्यक्त शक्ति का पूरा उपयोग हो, और (४) भावसहित उसमें तल्लीनता हो।

सम्यक्आचरित बाह्याभ्यन्तरतप का फल : शीघ्र भवभ्रमण से मुक्ति

'उत्तराध्ययनसूत्र' में पूर्वोक्त दोनों प्रकार के तप की सम्यक् साधना का फल बताते हुए कहा गया है-"जो मुनि या पण्डित साधक पूर्वोक्त दोनों प्रकार के तप का सम्यक्आचरण करता है, वह चतुर्गतिक भवभ्रमणरूप सर्व-संसार से शीघ्र ही मुक्त हो जाता है।"[१]

सम्यक्तप : निश्चय-व्यवहारदृष्टि से तथा द्रव्य-भावदृष्टि से

सम्यक्तप वैसे तो सम्यक्चारित्र में ही गतार्थ हो जाता है, फिर भी शीघ्र तीव्र गति से सर्वकर्ममुक्ति के लिए सम्यक्तप को पृथक् मोक्षमार्ग में गिनाया है और पूर्वोक्त बारह प्रकार के तप का लक्षण निश्चय और व्यवहार दोनों दृष्टियों से समझ लेना चाहिए। सम्यक्त्वसहित चारित्र के रस के विषय में वीर्य (आत्म-शक्ति) पूर्वक द्रव्य-आत्मा की तल्लीनता को चारित्राश्रयी **निश्चयतप** समझना चाहिए, जबकि निश्चयलक्ष्यसहित बारह प्रकार के अनशनादितप में एकान्त निर्जरा (कर्मक्षय या आत्म-शुद्धि) के लिए प्रवृत्त होना, **शुद्ध-व्यवहारतप** है। इसी तरह द्रव्यतप और भावतप को भी समझ लेना आवश्यक है। सम्यक्त्वसहित बारह प्रकार का तप करना **द्रव्यतप** है, जबकि सम्यक्त्वसहित एकान्त (एकमात्र) निर्जरा (कर्ममुक्ति) के लिए तप करना **भावतप** है।[२]

सम्यग्ज्ञानयुक्ततप और अज्ञानतप, अशुद्धतप और शुद्धतप का अन्तर

'कार्तिकेयानुप्रेक्षा' में भी सम्यग्ज्ञानयुक्ततप से एकान्तनिर्जरारूप फल बताते हुए कहा गया है-

"जो सम्यग्ज्ञानी, इन्द्रिय-विषयभोगाकांक्षा रूप निदान से रहित तथा अहंकार से रहित होता है और जिसमें संसार और शरीर के भोगों के प्रति वैराग्यभावना होती है, उस सम्यग्ज्ञानी के द्वारा पूर्वोक्त बारह प्रकार के तप से एकान्तनिर्जरा ही होती है।" अज्ञानयुक्ततप, पूजा, लाभ, प्रसिद्धि, अहंकार, ऐहिक-पारलौकिक

---

१. एवं तवं तु दुविहं, जे सम्मं आयरे मुणी।
से खिप्पं सव्वसंसारा विप्पमुच्चइ पंडिए॥ *-उत्तरा., अ. ३०, गा. ३७*

२. 'प्रश्नोत्तर मोहनमाला, भा. ८' से भाव ग्रहण, पृ. ४३४

फलाकांक्षा, भोगाकांक्षा (निदान) से युक्त तप करने से सकामनिर्जरा (मोक्षलक्षी निर्जरा) नहीं होती। संसारवृद्धि ही होती है, ऐसे अज्ञानमूलक कामनामूलक तप से। 'सूत्रकृतांग' में स्पष्ट कहा है–उन साधकों का तप भी अशुद्ध व निष्फल जानना, जो महाकुलों से निष्क्रमण करके दीक्षित हुए हैं, पूजा-सम्मान-सत्कार के लिए तप करते हैं, अतः जिस तप को करते हुए अन्य (गृहस्थादि) जाने नहीं और जिस तप को लेकर अपनी श्लाघा प्रशंसा न करे, वही तप शुद्ध–आत्म-हितकर समझना।[1]

ऐसे घोर पापकर्मबन्धक तपों से मुमुक्षु दूर रहे

अतः मुमुक्षु साधक को उग्रतप करते समय पूर्वोक्त तपोजनित दोषों और अशुद्धियों को मोक्षमार्ग में बाधक समझकर उनसे तथा सिद्धियों, लब्धियों, प्रसिद्धियों आदि से दूर ही रहना चाहिए। इसके अतिरिक्त आत्म-गुणघातक, संसार-वृद्धिकारक, अशुभ कर्मबन्धक तथा सद्‌गतिनाशक निम्नलिखित तपों से भी बचना चाहिए–(१) अज्ञान (बाल) तप, (२) आशीतप, (३) अकामतप, (४) निदानतप, (५) स्वार्थीतप, (६) कीर्तितप, (७) सरागीतप, (८) वेतालीतप, (९) श्रापीतप, (१०) क्लेशीतप, (११) मायीतप, (१२) आसुरीभावनातप। **अज्ञान (बाल) तप** के विषय में निर्जरा से सम्बन्धित निबन्धों में हम काफी प्रकाश डाल चुके हैं। किसी भी इहलौकिक धन, पुत्र, ऋद्धि, प्रसिद्धि, पद आदि की तथा पारलौकिक, देवलोक, दिव्यांगना, दिव्यसुखभोगादि की आशा से तप करना तथा लोगों को अपने प्रति आशा रखने का कहना **आशीतप** है। इहलोक, परलोक, कीर्ति आदि के लिए कृततप की फलाकांक्षा करना **निदानतप** है। आत्म-ज्ञान से रहित तथा आर्त्त-रौद्रध्यान से, द्वेष-दुर्भावना से, निराशा से, अभाव से सदा आत्मा का प्रज्वलित-पीड़ित रहना **तामसीतप** है। मंत्र, विद्या आदि के प्रयोग से किसी पर मारण, मोहन, उच्चाटन या मूठ आदि का प्रयोग करना, अपने किसी विरोधी या शत्रु पर द्वेषभाव रखकर उसका अनिष्ट करने हेतु तपोबल का प्रयोग करना अथवा किसी ग्राम, कुटुम्ब, कुल, जाति आदि का नाश करना या वैसा चिन्तन करना **वेतालीतप** है। **श्रापीतप** वह है, जिसमें तपोबल द्वारा किसी को श्राप दे देना।' कीर्ति, प्रसिद्धि के लिए माया, कपट करके लोगों को तपस्या का ढोंग बताया, स्वादिष्ट गरिष्ट भोजन, वस्त्र,

---

१. (क) द्वादशविधेन तपसा निदानरहितस्य निर्जरा भवति वैराग्यभावनातः निरहंकारस्य ज्ञानिनः। *–कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गा. १०२ (टीका)*

(ख) पूजा-लाभ-प्रसिद्ध्यर्थं तपस्तप्येत योऽल्पधीः।
शोष एव शरीरस्य न तस्य तपसः फलम्॥
विवेकेन विना यच्च तत्तपस्तनुतापकृत्।
अज्ञानकष्टमेवेदं, न भूरि फलदायकम्॥

(ग) तेसिं पि तवो असुद्धो, निक्खंता जे महाकुला।
जं नेवन्ने वियाणंति, न सिलोगं पवेज्जए॥ *–सूत्रकृतांग, श्रु. १, अ. ८, गा. २४*

सत्कार आदि के लिए तप का आडम्बर करना **मायीतप** है। 'सूत्रकृतांगसूत्र' में कहा है—"जो साधक नग्न (द्रव्य से वस्त्ररहित, भाव से निष्परिग्रही) रहता है, शरीर को कृश कर लेता है, दीक्षित होकर मास-मास-खमण तप के अन्त में पारणा करता है, किन्तु जनसमूह को इकट्ठा करने, लोगों से पैसा बटोरने और प्रसिद्धि, पद या प्रतिष्ठा पाने हेतु माया-कपट (ठगबाजी) करता है या क्रोधादि कषाय करता है, वह भविष्य में अनन्त गर्भादिक दुःख पाता है, यानी अनन्त काल तक संसार-परिभ्रमण करता है।"

जिस साधक का तप भव-परम्परा से रोष और अतिकलह से संसक्त है, जो निमित्त ज्ञान बताकर आजीविका करना है, जो दयारहित है, दूसरों को और स्वयं को अत्यन्त ताप देता है, वह **आसुरी भावना से युक्त तप** करता है।[१] जो तपस्वी नामाधारी गाँव-गाँव में, जाति-बिरादरी में, संघों में, कुटुम्बों में, गच्छ में समाज और परिवारों आदि में परस्पर फूट डालता है, क्लेश जगाता है, वैरभाव रखता है, कलह-क्लेश कराता है, वैर-वृद्धि करता है, मलिन परिणामों से दूसरों का बुरा सोचता है, रात-दिन क्लेश में ही मन ग्रस्त रहता है। इस प्रकार क्लेश से युक्त होकर तप करता है, तागा करता है, उसका वह तप **क्लेशीतप** है।[२]

इन और ऐसे सभी घोर पापकर्मबन्धक तपों से मुमुक्षु को दूरातिदूर रहना चाहिए।

दूसरा बोल—पाँचों इन्द्रियों को वश करे, अन्तर्मुखी करे तो जीव वेगो-वेगो मोक्ष में जाय

बाहर पर-भावों और विभावों, राग-द्वेष से प्रेरित होकर भटकती हुई इन्द्रियों और मन (नोन्द्रिय) को अन्तर्मुखी बनाना, उन्हें वश में करना—आत्मा की सेवा में लगाने से, आत्म-भावों में लगाने से महानिर्जरा होती है, इसे ही जैनागमों में **प्रतिसंलीनतातप** कहा है। सकामरूप महानिर्जरा होने से शीघ्र मोक्ष-प्राप्ति सम्भव है।

इन्द्रियाँ पाँच हैं—श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रस और स्पर्श। इन पाँचों इन्द्रियों को पाँच विषयों का ज्ञान होता है। यथा—स्पर्श, रस (स्वाद), गन्ध, रूप और श्रवण। इन्द्रियाँ

---

१. (क) अणुबंध-रोस-विग्गह-संसत्त-तवो णिमित्त-पडिसेवी विक्किवणिराणुतावी आसुरी भावणं कुणदि। *—भगवती आराधना, गा. ८८*

(ख) यः पुनः कीर्तिनिमित्तं माययामिष्ठभिक्षा लाभार्थं अल्पं भुंक्ते भोज्यं, तस्य तपः निष्फलं द्वितीयम्। *—कार्तिकेयानुप्रेक्षा*

(ग) जइ विय णगिणे किसे चरे, जइ विय भुंजिय मासमंतसो।
जे इह माया विगिज्जई आगंता गब्भायणंतसो॥

—सूत्रकृतांग, श्रु. १, अ. २, उ. १, गा. ९

२. 'प्रश्नोत्तर मोहनमाला, भा. ८' से भाव ग्रहण, पृ. ४४३-४४६

अपने आप में जड़ हैं, किन्तु आत्मा जब मोहवश अपने आत्म-भाव या ज्ञानादि आत्म-गुण को छोड़ या भूलकर इनके अधीन वशीभूत हो जाता है, तब ये चंचल होकर उसे विषय-सुखों में लुब्ध कर देती हैं।

ऐसी स्थिति में उत्कट बाह्यतप करने वाला, धर्मक्रिया करने वाला और स्वाध्यायादि करने वाला साधक भी इन्द्रियों के वशीभूत होकर संयम से पतित, भ्रष्ट और विराधक हो जाता है। विषयाधीन इन्द्रियाँ तप से निर्जरा होने पर भी पुनः नये कर्मों का बन्ध कर लेती हैं। यदि विषयासक्ति तीव्र हो तो निर्जरित कर्मों से भी अधिक कर्मों का बन्ध हो सकता है और फिर विषयनिरत इन्द्रियाँ संसार-परिभ्रमण की कारण बन जाती हैं। अनियंत्रित इन्द्रियाँ विषयों की ओर दौड़ती हैं, तब साधक अपनी व्रतमर्यादा को भूल जाता है, कषायों और विषयासक्ति में रमण करने लगता है।

इन्द्रिय-विषय, प्रकार, विषयाधीनता के तीन स्तर

प्रत्येक इन्द्रिय के एक-एक विषय के दो-दो प्रकार हैं—**मनोज्ञ** और **अमनोज्ञ**। विषयों में उत्सुक जीव इन पर राग और द्वेष करता रहता है। विषयों के प्रति उत्सुक आत्मा ही विषयाधीन है। विषयाधीन व्यक्ति की विषयों की अविद्यमान में भी उनकी चाह, गाढ़ रुचि होना आसक्ति है। फिर विषयों में इन्द्रियों का बह जाना—प्रवृत्त हो जाना इन्द्रिय-प्रचार है, विषयों के प्रति राग-द्वेष का होना विकार है। इस प्रकार **इन्द्रिय-अनिग्रह (विषयाधीनता)** के तीन स्तर हैं।

इन्द्रिय-निग्रह के चार प्रकार

इन्द्रिय-निग्रह या विषयाधीनता पर नियंत्रण के चार प्रकार हैं—(१) मात्र आसक्ति का त्याग, (२) विषयों से सिर्फ दूर रहना, (३) विषयों में प्रवृत्त होती हुई इन्द्रियों को रोकना या विषयों का संकोच करना, (४) विषयों में प्रवृत्त होने पर होने वाली रागादि विकृति को उदित न होने देना—उदित विकृति का निरोध करना। इन चारों की संगति होने पर ही यथार्थ रूप से इन्द्रिय-निग्रह या इन्द्रिय-विषयाधीनता पर नियंत्रण हो सकता है।

विषयासक्ति निवारणार्थ : विषयों के प्रति निर्वेद और उसके लिए पाँच अनुप्रेक्षाएँ

पाप का केन्द्र-बिन्दु विषयासक्ति है, जो दुःख का घर है। जैसे आग जल से बुझती है, वैसे ही आसक्ति निर्वेद से समाप्त होती है। विषयों के प्रति निर्वेद अर्थात् विरक्ति, अरुचि उससे लेने वाले दुःखद परिणामों एवं दोषों के चिन्तन से होती है। विषयरुचि के उत्पन्न होने का मुख्य कारण है—कांक्षामोह का उदय; जिसके क्षय में

भी विषयों के परिणामों के चिन्तन से होने वाली विरक्ति सहायक है। अतः विषयों के प्रति निर्वेद (वैराग्य) के लिए निम्नोक्त पाँच अनुप्रेक्षाएँ (भावनाएँ) करनी चाहिए—(१) दुःखरूपता भावना, (२) उच्छिष्टताभावना, (३) असारताभावना, (४) अतृप्तिभावना, और (५) पुनरावृत्तिभावना। इसके लिए अनित्यत्व आदि बारह भावनाएँ भी की जा सकती हैं। श्रद्धापूर्वक की गई अनुप्रेक्षाओं से विषयों के प्रति आकर्षण, देहाभिमान, तप से इच्छा-निरोध आदि हो सकते हैं।

विषयों का ज्ञान होने पर वेदन और विकार न आने दे

विषयों का इन्द्रियों से सम्बन्ध, उनमें इन्द्रियों की प्रवृत्ति, उनकी जानकारी, उनका रागादिपूर्वक आस्वादन और विकारोत्पत्ति; विषय-सेवन के ऐसे विभाग बनते हैं। इनके पृथक्-पृथक् कारण हैं। विषयों की जानकारी ज्ञान है। ज्ञान स्वयं विकार का जनक नहीं होता। ज्ञानबल से जब व्यक्ति मनोज्ञ के प्रति राग और अमनोज्ञ के प्रति द्वेष करता है, तब विकार और कर्मबन्ध होता है। ज्ञान, वेदन, विकार इन सब के भिन्नत्व को हृदयंगम कर लेने पर विकार की उत्पत्ति और उससे होने वाले आस्रव और बन्ध को रोका जा सकता है। अतः जीवन-निर्वाह के लिए अनिवार्यतावश किसी विषय का सेवन भी करना पड़े तो उसमें से वैषयिक वृत्ति, राग-द्वेषादि वैकारिक वृत्ति से मन को दूर रखे, ज्ञाता-द्रष्टा बना रहे, विषयों में प्रवृत्ति का संकोच करे। विषयों में खेलती हुई चंचल इन्द्रियों को उसमें से बलात् खींचकर सत्कार्यों—शुभ कार्यों में लगाये। जिनाज्ञा का चिन्तन स्मरण करके, इन्द्रियों को या आत्मा को विषयों के सेवन न करने का आदेश दे।

प्रत्येक कार्य में जिनाज्ञा तथा वीतराग आत्मा के आदेश का स्मरण करे

एकाग्र होकर प्रत्येक कार्य में "राग-द्वेष के विजेता आत्मा का क्या आदेश है ? मैं रागादि पर विजय प्राप्त करने के लिए चला हूँ, मुझे उनकी (जिनकी) आज्ञा माननी ही चाहिए। इस प्रकार बार-बार जिनाज्ञा के चिन्तन से स्वच्छन्दता मिटती है। साथ ही विषयों के सेवन न करने का पुनः-पुनः संकल्प करना चाहिए। इन्द्रियों को आदेश देना चाहिए कि तुम आत्मा के अधीन रहो।"

विषय-सुखों की दुःखरूपता आदि का भी स्मरण करो

यह भी स्मरण करना चाहिए कि—(१) विषय-सुख अनादिकाल से अभ्यस्त है, आरोपित सुख है, अतः दुःखरूप ही है, (२) विषय-सुख पराधीन है, (३) विषय-सुख में एकत्व की अनुभूति भ्रान्ति है। विषय त्रिकाल में जड़ हैं, जड़ कभी चैतन्य नहीं हो सकते। जड़-जन्य सुख चैतन्य के साथ एकरूप नहीं हो सकता। इस प्रकार बार-बार चिन्तन और अभ्यास से विषयों के साथ एकत्वानुभूति को तोड़ डालने से इन्द्रियाँ वशीभूत हो जाती हैं।

इन्द्रियों को बहिर्मुख होने से रोककर अन्तर्मुखी करो

इसी प्रकार जहाँ-जहाँ इन्द्रियाँ दौड़ती हैं, वहाँ-वहाँ उन पर दृष्टि रखें और वहाँ से उपयोग को हटाकर आत्म-भाव में लीन कर देना, मात्र बहिर्मुख उपयोग को मोड़कर अन्तर्मुख रखना। अर्थात् उपयोग को मन और इन्द्रियों से पृथक् करना। ऐसा करने से इन्द्रियाँ स्वयं थक जाती हैं और विषयों से स्वतः निवृत्त हो जाती हैं।

इन्द्रिय-निग्रह के लिए आत्म-जागृति और सावधानी आवश्यक है

वस्तुतः आत्मा प्रमाद और लक्ष्यादि की अबोधि में सोया रहे तो इन्द्रियाँ स्वच्छन्द होकर विचरण करती हैं। इसलिए इन्द्रिय-निग्रह के लिए आत्मा का जाग्रत रहना, अप्रमत्त रहना, सदा सावधान रहना परम आवश्यक है। इन्द्रियजय के लिए साधक को आत्म-साधना का भाव नष्ट नहीं होने देना चाहिए और विषयों में अपने को खो नहीं देना चाहिए। जरा-सी असावधानी (साधना की शिथिलता) से इन्द्रियाँ चंचल हो जाती हैं और साधक को पतित, भ्रष्ट एवं संयम से विचलित कर देती हैं। इन्द्रियजय के लिए बार-बार चार शरण ग्रहण करनी चाहिए, 'मिच्छामि दुक्कड़' देना चाहिए। आत्म-निन्दा-गर्हा करनी चाहिए। अपने शुद्ध स्व-भाव–इन्द्रियजयी स्वभाव का चिन्तन करना चाहिए तथा इन्द्रिय-विजेता आत्माओं के गुणों की अनुमोदना करनी चाहिए। इसी प्रकार इन्द्रियरूपी अश्वों को श्रुतरूपी लगाम से वश में करना चाहिए।

इन्द्रिय-निग्रह का शीघ्र मुक्तिरूप फल

'उत्तराध्ययनसूत्र' में बताया है कि पाँचों इन्द्रियों का निग्रह करने से जीव मनोज्ञ-अमनोज्ञ विषयों के प्रति राग-द्वेष पर नियंत्रण कर लेता है। जिससे राग-द्वेष जनित कर्मों का बन्ध नहीं होता, पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा कर लेता है।[१]

तीसरा बोल–दस प्रकार की वेयावच्च करे तो जीव वेगो-वेगो मोक्ष में जाय

वैयावृत्य उत्कृष्ट आभ्यन्तरतप है। वैयावृत्य का अवसर महान् पुण्य से प्राप्त होता है। सम्यग्दृष्टि और सम्यग्ज्ञानी एवं चारित्रसाधना में तत्पर पुरुष के हृदय में रत्नत्रयाराधक एवं धर्मपरायण साधु-साध्वी या श्रावक-श्राविका को देखकर उनकी वैयावृत्य करने का सहज ही मन होता है और वह अपनी भूमिका के अनुसार उनके प्रति यथायोग्य कर्त्तव्य-पालन में तत्पर रहता है। किसी साधक की ऐसे मोक्षमार्ग के पथिक साधु की वैयावृत्य करने में हार्दिक अरुचि है तो समझना चाहिए, वह अपनी शक्ति को छिपाता है, वह शक्ति का विकास नहीं कर पाता,

---

१ उत्तराध्ययनसूत्र, अ. २९, सू. ६२-६६

प्रत्युत आबद्ध, प्रमाद, निन्दा-विकथा आदि में अपनी शक्ति का अपव्यय करता है। वह अपनी शक्ति का, वीर्योल्लास का सदुपयोग करना नहीं चाहता। जबकि 'व्यवहारसूत्र' एवं 'स्थानांगसूत्र' में दशविध वैयावृत्य-पत्रों की अग्लानभाव से वैयावृत्य करने का श्रमण निर्ग्रन्थों को क्या फल प्राप्त होता है? इस सम्बन्ध में स्पष्ट समाधान दिया गया है कि आचार्य आदि दशविध उत्कृष्ट पात्रों की वैयावृत्य करता हुआ श्रमण निर्ग्रन्थ महानिर्जरा का भागी तथा महापर्यवसान वाला होता है। इसी तथ्य को 'स्थानांगसूत्र' में इन्हीं शब्दों में दो सूत्रों द्वारा प्रस्तुत किया गया है। महापर्यवसान का अर्थ है–संसार का तथा कर्मों का, जन्म-मरणादि दुःखों का सदा के लिए अन्त कर देना।

वैयावृत्य के योग्य दशविध उत्कृष्ट पात्र ये हैं–(१) आचार्य, (२) उपाध्याय, (३) स्थविर, (४) तपस्वी, (५) ग्लान (रुग्ण), (६) शैक्ष (नवदीक्षित), तथा (७) कुल, (८) गण, (९) संघ, और (१०) साधर्मिक।[१]

यद्यपि ऐसे उत्तम पुरुषों की वैयावृत्य के पीछे किसी प्रकार की इहलौकिक, पारलौकिक कामना, वासना, पद, प्रतिष्ठा, यशःकीर्ति आदि की लिप्सा, स्वार्थ, भय, प्रलोभन, अविवेक, विधि का अज्ञान, मिथ्यात्व आदि नहीं होना चाहिए। यदि किंचित् भी फलाकांक्षा या कांक्षामोह रखा गया तो उससे महानिर्जरा और महापर्यवसान न होकर उत्तम देवलोक, पुण्यवृद्धि से चक्रवर्तीपद या तीर्थंकरपद आदि विशिष्ट उपलब्धि प्राप्त होती है। 'उत्तराध्ययनसूत्र' में कहा है–वैयावृत्य में उत्कृष्टभाव से तीर्थंकर-नामगोत्र (तीर्थंकरत्व) प्राप्त होता है।

वैयावृत्य क्या है? वैयावृत्य और सेवा में क्या अन्तर है? सेवा के अगणित प्रकार वैयावृत्य की कोटि में क्यों नहीं आते? वैयावृत्य का अर्थ, लक्ष्य, परिभाषा, वैयावृत्य की विविध क्रियाएँ, वैयावृत्यकर्त्ता के भाव, वैयावृत्य के उत्तम पात्रों में से प्रत्येक पात्र का स्वरूप, योग्यता तथा वैयावृत्यकृत्य क्या-क्या हैं? इन सब का विस्तृत प्रतिपादन हम **'निर्जरा, मोक्ष या पुण्य प्रकर्ष के उपाय : विनय और वैयावृत्य'** शीर्षक निबन्ध में कर आये हैं। जिज्ञासु पाठक वहीं से ही देखें।[२]

चौथा बोल–उत्तम ध्यान करे तो जीव वेगो-वेगो मोक्ष में जाय

ध्यान आभ्यन्तरतप है। आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान को छोड़कर यहाँ धर्मध्यान और शुक्लध्यान नामक सुध्यान ही आभ्यन्तरतप में विवक्षित है। परन्तु यहाँ उत्तम ध्यान से शुक्लध्यान समझना चाहिए। 'भगवतीसूत्र' में देवलोक में उत्पत्ति के सम्बन्ध

१. (क) व्यवहारसूत्र, उ. १०
(ख) स्थानांगसूत्र, स्था. ५, उ. १, सू. ४४-४५

२. देखें–वैयावृत्य के सम्बन्ध में विशेष विवरण के लिए 'कर्मविज्ञान, भा. ७' में 'निर्जरा, मोक्ष या पुण्य-प्रकर्ष के उपाय : विनय और वैयावृत्य' शीर्षक निबन्ध

में तुंगियानगरी के श्रावक ने पार्श्वनाथ-संतानीय साधु से प्रश्न पूछा है, उसके उत्तर में उन्होंने कहा–"**पुव्व संजमेणं पुव्व तवेणं।**"–पूर्वसंयम और पूर्वतप इससे पूर्वभव के संयम और तप के अर्थ में नहीं, किन्तु इसी भव के पूर्ण संयम और पूर्वतप के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। उसका रहस्य खोलते हुए उन्होंने कहा–संयम दो प्रकार का है–पूर्व और उत्तर (प्रधान) अर्थात् क्रमशः सरागसंयम और वीतरागसंयम। सरागसंयम दसवें गुणस्थान तक होता है, उसकी गति देवलोक है। वीतरागसंयम के दो भेद हैं–उपशान्तमोह वीतरागसंयम और क्षीणमोह वीतरागसंयम। पहले ग्यारहवें गुणस्थान वाले की गति सत्ता में सराग होने से देवलोक की है, जबकि दूसरे बारहवें से चौदहवें गुणस्थान तक होने से उसकी गति मोक्ष की ही होती है। इसी प्रकार तप के भी दो भेद पूर्वतप और उत्तरतप। बाह्यतप को पूर्वतप कहा गया है। उससे भव कम होने तथा कर्मों की बहुत निर्जरा होने के बावजूद भी गति तो धन्ना अनगारवत् देवलोक की ही है। आभ्यन्तरतप के भी दो भेद हैं–पूर्वतप और उत्तरतप। पूर्वतप के ५ भेद हैं–प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय और कायोत्सर्ग (व्युत्सर्ग)। यद्यपि इन आभ्यन्तर पूर्वतपों से करोड़ों भवों में संचित कर्मों की निर्जरा होती है, परन्तु गति तो मेघकुमार अनगारवत् देवलोक की होती है। उत्तर आभ्यन्तरतप में एकमात्र ध्यान है। उसके भी दो भेद हैं–धर्मध्यान और शुक्लध्यान। फिर धर्मध्यान को पूर्वतप में और शुक्लध्यान को उत्तरतप में गिनाया है। धर्मध्यान से अनेक कर्मों की निर्जरा होती है, पर गति दो देवलोक की है। शुक्लध्यान के भी दो भेद हैं–उपशमश्रेणीगत शुक्लध्यान और क्षपकश्रेणीगत शुक्लध्यान। आठवें गुणस्थान में शुक्लध्यान का प्रथम पाद प्रगट होता है, जो ग्यारहवें गुणस्थान तक उपशमश्रेणी-आरोहक साधक में रहता है। अतः उसकी गति देवलोक की होती है। अतः वहाँ तक शुक्लध्यान को पूर्वतप में समझना।

जिसका पहले सात प्रकृतियों का क्षय हुआ हो तो वह अष्टम गुणस्थान वाला साधक ३ दर्शनमोहनीय की और १४ चारित्रमोहनीय की, यों १७ प्रकृतियों का क्षय करके क्षायिक भाव प्रकट करके क्षपकश्रेणी पर चढ़ने हेतु शुक्लध्यान के पहले पाये पर चढ़कर उसी क्षपकश्रेणी पर चढ़ा हुआ वह बाकी की मोहनीयकर्म की प्रकृतियों का क्षय करता-करता बारहवें गुणस्थान के पहले समय में शुक्लध्यान के द्वितीय पाये पर चढ़ते हुए मोहनीय ही २८ ही प्रकृतियों का क्षय कर डालता है। फिर अन्तर्मुहूर्त्त की स्थिति में ही शेष ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तराय इन चारों घातिकर्मों का क्षय करके शुक्लध्यान के तीसरे पाये चढ़कर १३वें गुणस्थान के पहले समय में केवलज्ञान-केवलदर्शन को प्रगट कर लेता है। तेरहवें गुणस्थान की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त की और उत्कृष्ट स्थिति देशोन क्रोड़ पूर्व की होती है, वहाँ तक अघातिकर्मों का क्षय करने हेतु शुक्लध्यान की रमणता में विचरण करता है और समय-समय में उन चार अघातिकर्मों को क्षीण (पतले)

करते-करते चौदहवें गुणस्थान में शुक्लध्यान के चतुर्थ पाये पर चढ़कर वेदनीय, आयुष्य, नाम और गोत्र, इन चार अघातिकर्मों का सर्वथा क्षय करके मोक्षगति प्राप्त कर लेता है। यही कारण है कि उत्तम ध्यान शब्द प्रयोग किया है, जिसका फलितार्थ है–क्षपकश्रेणीगत उत्तर (श्रेष्ठ) शुक्लध्यान, उससे शीघ्र ही मोक्ष-प्राप्ति होती है, इसमें कोई सन्देह नहीं है।[1]

पाँचवाँ बोल–लगे हुए पापों की तुरन्त आलोचना करे तो जीव वेगो-वेगो मोक्ष में जाय

आलोचना से शीघ्र मुक्ति कैसे-कैसे ?

आलोचना प्रायश्चित्त नामक आभ्यन्तरतप का अंग है। पापभीरु साधक जब अपने द्वारा कृत पापों की यथाशीघ्र आलोचना कर लेता है तो उसके सिर से पापों का भार उतर जाता है, वह अपने आत्म-भावों में रमण करने लगता है, उसकी चेतना शीघ्र ही ऊर्ध्वारोहण करती हुई कषायों का सर्वथा क्षय करके क्षपकश्रेणी पर आरूढ़ हो जाती है, फिर तो चार घातिकर्मों का क्षय, केवलज्ञान-केवलदर्शन और अन्त में आयुष्यकर्म के क्षय के साथ ही शेष तीन अघातिकर्मों का क्षय होकर वह सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हो जाता है।

किन्तु शीघ्र आलोचना वही कर सकता है, जिसे काँटे की तरह पाप पीड़ा देता है, जिसे पाप के अस्तित्व की आप्तवचनों से, दुःख के अनुमान से, पाप की दुःखदता की प्रतीति हो, वही पाप से भीति पैदा करती है, अर्थात् पापों से संकोच, हानि की आशंका और पतन की सम्भावना आदि पापभीरुता के फलितार्थ हैं। पापों की भीति ही उसे अप्रमत्तता, प्रतिक्षण जागृति, सावधानी और शीघ्र आलोचना करने की प्रेरणा करती है।

जिन भावों, क्रियाओं और कर्मों के द्वारा आत्मा मलिन बनती है, उसे सर्वज्ञ आप्तपुरुषों ने पाप कहा है। पापकर्मबन्ध के कारणभूत तीन अंश हैं–तीव्र कषायों से रंजित भाव (परिणाम), उनसे प्रेरित त्रिविध योग-व्यापार (क्रिया) और उस क्रिया से आकर्षित (प्रविष्ट) अशुभ कर्मास्रव। फिर वह आत्मा से जुड़ जाता है, उससे पापकर्म का बन्ध होता है, जिसके दो अंश बनते हैं–अर्जित पापकर्म और फलभोग।

पूर्वोक्त पापहेतु और बद्धपाप को हम क्रियमाणपाप और कृतपाप कह सकते हैं। पाप के तीन स्तर हैं–संरंभ, समारंभ और आरम्भ। फिर प्रत्येक को मन-वचन-काया से करना, कराना और अनुमोदन करना, पाप चारों कषायों से

१. (क) देखें–भगवतीसूत्र, श. ३, उ. ५ में पूर्वतप, उत्तरतप सम्बन्धी पाठ
(ख) 'प्रश्नोत्तर मोहनमाला, भा. ८' में प्रश्नोत्तर १-३, ५, पृ. ४३०-४३३

प्रेरित होते हैं, इसलिए ३ × ३ × ३ = २७ को ४ से गुणा करने पर २०८ भेद क्रियमाणपाप के होते हैं। क्रियमाणपाप के १८ भेद प्राणातिपात से लेकर मिथ्यादर्शनशल्य तक होते हैं। इनके भी तीन करण, तीन योग से तथा तीनों काल से गुणा करने पर १८ × ३ × ३ × ३ = ४८६ विकल्प हो जाते हैं।

पापकर्म के दो प्रकार हैं–घाति और अघाति। ज्ञानावरणीय आदि ४ घातिकर्म आत्म-गुणों के आच्छादक, विकृतिकारक और विघ्नकारक हैं। शेष चार अघाति पाप (अशुभ) कर्म हैं, जो गुणों की घात तो नहीं करते, किन्तु पहले तन-मन में प्रगट होते हैं और फिर आत्मा को प्रभावित करते हैं, असातावेदनीय, दुर्भवकारक नरक-तिर्यञ्चायुकर्म, दुराकृतिकारक अशुभ नामकर्म और अपूज्यकारक नीच गोत्रकर्म, ये चार पापरूप अघातिकर्म हैं। पाप कई प्रकार से हो जाते हैं–वे गृहीत व्रतनियम–त्याग-प्रत्याख्यान में अनभ्यास से, इच्छाएँ-अनिच्छा से, साधना में चित्त न लगने से, योगों की चंचलता से, चित्तशून्यता से, मूढ़ता से, भ्रान्ति से। अतः इन सब का उपचार है–*विषधर सर्प से भय की तरह पाप से भय, कम्पन और* निष्पक्षभाव से, सरलता से शीघ्र आलोचना और प्रायश्चित्त।

आलोचना का क्या स्वरूप है, कितने प्रकार हैं? उसकी क्या विधि है? किसके समक्ष आलोचना करनी चाहिए? इत्यादि सब बातों पर हम 'प्रायश्चित्ततप' से सम्बन्धित निबन्ध में प्रकाश डाल चुके हैं।[1]

निष्कर्ष यह है आलोचना से आत्मा शुद्ध, निष्पाप और हलकी होकर शीघ्र ऊर्ध्वारोहण कर सकती है।

छठा बोल–यथासमय आवश्यक (प्रतिक्रमणादि) करने से जीव वेगो-वेगो मोक्ष में जाय

आवश्यक भी आत्मा के मूलगुणों में हुई क्षति के निवारण, शोधन और शुद्धि के संकल्प, समभाव एवं आत्म-भावों में रमण करने की अचूक प्रक्रिया है। शास्त्र में साधुवर्ग के लिए प्रतिदिन दोनों समय आवश्यक क्रिया भावपूर्वक करने का विधान है। उसके ६ अंग हैं–सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव (उत्कीर्तन), गुरुवन्दन (गुणवत्प्रतिपत्ति) प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग और प्रत्याख्यान। इनमें मुख्यतः प्रतिक्रमण आवश्यक है। ये छहों आवश्यक आध्यात्मिक जीवन की शुद्धि, पुष्टि, वृद्धि, शान्ति एवं तुष्टि के लिए अवश्यकरणीय हैं। आध्यात्मिक विकास की दिशा में बढ़ते रहने तथा परमात्मभाव–शुद्धात्मभावों में स्थित होने के लिए ये ६ अंग आवश्यक हैं। प्रतिक्रमण से व्यक्ति अपनी आत्मसाक्षी से निष्पक्ष होकर अपना आत्म-निरीक्षण करके (दिन और रात आदि में) लगे हुए दोषों की शुद्धि करता है। सामायिक से

१. देखें–आलोचना के विशेष ज्ञान के लिए 'प्रायश्चित्त : आत्म-शुद्धि का सर्वोत्तम उपाय' शीर्षक निबन्ध

सावद्ययोगों से विरति प्राप्त होती है, चतुर्विंशतिस्तव से दर्शन-विशुद्धि, वन्दना से नीच गोत्रकर्म क्षय करता है। प्रतिक्रमण से व्रतों में हुए छिद्रों का निवारण करके साधक आस्रवों का निरोध और शुद्ध चारित्र-पालन कर पाता है, कायोत्सर्ग से अतीत और वर्तमान के पापों का उच्छेद करके शान्त, हृदय व हलका तथा प्रशस्त ध्यानरत होकर सुखपूर्वक विचरण करता है और प्रत्याख्यान से आस्रवद्वारों का विभिन्न इच्छाओं का निरोध करता है, जिसके फलस्वरूप जीव सर्वद्रव्यों के प्रति तृष्णारहित एवं शीतीभूत होकर विहरण करता है।[1] ये छह आवश्यक अन्तर्निरीक्षण-परीक्षण और आत्म-परिष्कार के लिए अत्यावश्यक हैं।

निष्कर्ष यह है कि छह आवश्यकों को तथा मिथ्यात्वादि पंचविध प्रतिक्रमणों को भावपूर्वक करने से साधक शुद्ध आत्मा के तथा वीतराग परमात्मा के अनन्त ज्ञानादि गुणों को शीघ्र ही प्राप्त करके सर्वकर्ममुक्ति की मंजिल पा लेता है।

सातवाँ बोल–अन्तिम समय में संलेखना-संथारा सहित पण्डितमरण प्राप्त करे तो जीव वेगो-वेगो मोक्ष में जाय

जीवनभर की अच्छी-बुरी समस्त प्रवृत्तियों का लेखा-जोखा करके अन्तिम समय में समस्त दुष्प्रवृत्तियों (पापस्थानों) का त्याग करना और मन, वाणी और शरीर को संयम में रखना, शरीर और शरीर से सम्बन्धित समस्त सजीव-निर्जीव पदार्थों के प्रति ममत्व को मन से हटाकर उसे शुद्ध आत्मा के चिन्तन या परमात्मा के स्मरण में लगाना, आहार तथा अन्य सब उपाधियों का त्याग करके आत्मा को निर्द्वन्द्व एवं निःस्पृह बनाना तथा न तो शीघ्र मृत्यु की और न अधिक जीने की आकांक्षा करे एवं ऐहिक पारलौकिक भोगों, कामनाओं, इच्छाओं, निदानों का त्याग करके हँसते-हँसते आनन्द से मृत्यु का स्वीकार करना पण्डितमरण है, समाधिमरण है, आदर्शमरण है, मरण की कला है।

ऐसा पण्डितमरण सैकड़ों भव-परम्पराओं का अन्त कर देता है। 'स्थानांगसूत्र' में श्रमण निर्ग्रन्थों तथा श्रमणोपासकों के तीन-तीन मनोरथों का विधान है, उनमें दोनों का अन्तिम मनोरथ है–"कब मैं अपश्चिम-मारणान्तिक संलेखना की आराधना से युक्त होकर भक्तपान का परित्याग कर पादोपगमन संथारा स्वीकार कर मृत्यु की आकांक्षा नहीं करता हुआ विचरूँगा।" इस मनोरथ को उत्तम मन-वचन-काया से करता हुआ श्रमण निर्ग्रन्थ/श्रमणोपासक महानिर्जरा और महापर्यवसान वाला होता है। "कर्मनिर्जरा जब विपुल परिमाण में असंख्यात-गुणितक्रम से होती है, तब महानिर्जरा कहलाती है। महापर्यवसान के चार अर्थ होते हैं–(१) जन्म-मरण का अन्त, (२) कर्मों का अन्त, (३) अपुनर्मरण, और (४) समाधिमरण। समाधिमरण

१. 'उत्तराध्ययनसूत्र विवेचन सहित' (आ. प्र. समिति, ब्यावर), अ. २९, सू. ८-१३ का **विवेचन**

या अपुनर्मरण के दो फलितार्थ हैं–या तो वह जन्म-मरण के चक्र से सर्वथा छूटकर सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हो जाता है, अथवा जाति के देवों में उत्पन्न होकर फिर क्रमशः मोक्ष प्राप्त करता है।" 'उत्तराध्ययनसूत्र' में भक्त-प्रत्याख्यान (आजीवन अनशन) का परिणाम बताते हुए कहा गया है–"(अनातुरतापूर्वक स्वेच्छा से दृढ़ अध्यवसायपूर्वक) भक्त-प्रत्याख्यान करने से अनेक शत भवों (सैकड़ों भवों की जन्म-मरण-परम्परा) का निरोध कर लेता है। आहार की आसक्ति छूट जाने से स्थूल और सूक्ष्म दोनों प्रकार के शरीरों का ममत्व शिथिल हो जाता है। इस प्रकार समाधिपूर्वक मृत्यु का वरण करने वाला अपनी मृत्यु को एक महोत्सव मानता है। फलतः या तो उसके जन्म-मरण का सदा के लिए अन्त हो जाता है या फिर वह उच्चतम देवलोक को प्राप्त करता है और अगले भव में मोक्ष प्राप्त कर लेता है।" 'उत्तराध्ययनसूत्र' में ही सकाम-अकाममरण का विस्तृत वर्णन है। वहाँ सकाममरण को ही सर्वश्रेष्ठ माना है। 'आचारांगसूत्र' में भक्त-प्रत्याख्यान, इंगितमरण और पादोपगममरण, ये तीन समाधिमरण के प्रकार और उनकी विधि का सुन्दर निरूपण है। इसके अतिरिक्त जैन आचार : सिद्धान्त और स्वरूप, समाधिमरण, जीवन की अन्तिम मुस्कान, श्रावकधर्म-दर्शन आदि ग्रन्थों और पुस्तकों में संलेखना-संथारा-समाधिमरण के स्वरूप और आचरण की विधि विस्तृत रूप से जानी जा सकती है।[1]

इस प्रकार मोक्ष के चारों अंगों से सम्बन्धित कुल १९ बोलों (सूत्रों) का सम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक विधिवत् आचरण करने से शीघ्र ही मोक्ष-प्राप्ति हो सकती है।

● ●

---

१. (क) देखें–पण्डितमरण की भावना के लिए 'महापच्चक्खाण पइण्णयं', गा. ४१-५०

(ख) तिहिं ठाणेहिं समणे णिग्गंथे। समणोवासए महाणिज्जरे महापज्जवसाणे भवइ। .... कयाणं अहं अपच्छिम-मारणंतिय-संलेहणा-झूसणा-झूसिते भत्तपाण-पडिआइक्खिते पाओवगते काले अणवकंखमाणे विहरिस्सामि। *–स्थानांग, स्था. ३,* उ. ४

(ग) उत्तरा., अ. २९, सू. ४१, अ. ५

(घ) आचारांग, श्रु. १, अ. ८, उ. ७-८

(ङ) देखें–'जैन आचार : सिद्धान्त और स्वरूप' (आचार्य देवेन्द्र मुनि) में समाधिमरण की कला : संलेखना

(च) 'समाधिमरण' (भोगी भाई गि. सेठ), 'जीवन की अन्तिम मुस्कान' (उ. केवल मुनि जी), 'श्रावकधर्म-दर्शन' (उ. पुष्कर मुनि जी)

१२

मोक्ष अवश्यम्भावी : किनको और कब ?

मोक्ष की अवश्यम्भाविता के अधिकारी का विचार करना आवश्यक

निश्चयनय की दृष्टि से समस्त जीवों की शुद्ध आत्माओं में परमात्म-शक्ति = मोक्षशक्ति विद्यमान है। किन्तु उसकी अभिव्यक्ति सबमें नहीं हो पाती, क्योंकि एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रिय जीवों में चेतना का विकास तथा कर्मों का अनावरण न होने से वह शक्ति अभिव्यक्त, जाग्रत एवं अनावृत नहीं हो पाती। रहे पंचेन्द्रिय जीव; उनकी चेतना अधिक विकसित होते हुए भी नारक, तिर्यंच और देव तो आत्मा पर छाये हुए कर्मों को सर्वथा अनावृत नहीं कर पाते। मनुष्य पंचेन्द्रिय जीव है, अधिक विकसित चेतना वाला और सर्वाधिक बुद्धिशील है, उनमें भी जो अभव्य (मोक्ष-प्राप्ति के सर्वथा अयोग्य) हैं, मिथ्यादृष्टि हैं, अविरत हैं, अतिप्रमत्त हैं, तीव्र कषायाविष्ट हैं, जिनके योगों की प्रवृत्ति पापकर्मों में अधिक है, जिन्हें धर्म के संस्कार बिलकुल प्राप्त नहीं हैं, जिन्हें सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का बोध बिलकुल नहीं है, मोहग्रस्त होने के कारण जिन्हें तीव्र मिथ्यात्व दशा के कारण मोक्ष = बन्धन से मुक्ति के प्रति जरा भी रुचि या उत्साह ही नहीं है अथवा जो मोक्ष का सस्ता नुस्खा खोजते फिरते हैं या किसी देवी-देव भगवान या अवतार से या परमात्मा से मोक्ष प्रदान कर देने या मोक्ष-प्राप्ति का वरदान प्राप्त करने की आशा में बैठे हैं, उन्हें मोक्ष = सर्वकर्ममुक्तिरूप या स्व-रूपावस्थान रूप पूर्ण मोक्ष प्राप्त नहीं हो पाता।

ऐसी स्थिति में प्रश्न होता है कि समस्त कर्मों से सर्वथा मुक्तिरूप मोक्ष किन-किनको, कैसे-कैसे और कितनी कालावधि के पश्चात् अवश्य प्राप्त हो जाता है, सर्वज्ञ आप्त अर्हन्त परमात्मा ने किनके लिये मोक्ष की गारंटी दी है? फिर वह पूर्ण मोक्ष उसी भव (जन्म) में हो, एक भव करने के बाद हो, तीन भव करने के बाद हो, चाहे पाँच, आठ अथवा इससे अधिक भव करने के बाद प्राप्त हो, उसकी अवश्यम्भाविता, निश्चितता किन-किनको है? किस-किस विधि-विधान से या साधना-आराधना से है? इस विषय में जैनदर्शन की दृष्टि से प्रत्येक मुमुक्षु आत्मार्थी भव्य जीव को अवश्य ही चिन्तन-मनन-विचार या मन्थन करना आवश्यक है।

विभिन्न पहलुओं और दृष्टियों से मोक्ष की अवश्यम्भाविता

भगवान महावीर ने जीवों की विभिन्न रुचि, परिस्थिति, विभिन्न द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव को लेकर विभिन्न प्रकार से अनेक कोटि के जीवों के विषय में मनुष्य-जन्म पाकर मोक्ष की अवश्यम्भाविता प्रतिपादित की है। 'महिम्न स्तोत्र' में कहा गया है—"जिस प्रकार सीधी (सरल) और टेढ़ी-मेढ़ी चाल से बहने वाली विभिन्न नदियाँ अन्त में एकमात्र समुद्र में मिल जाती हैं, उसी प्रकार विभिन्न रुचियों, परिस्थितियों एवं मनःस्थितियों की विचित्रता—विभिन्नता के कारण सरल और जटिल नाना प्रकार के पथ पर चलने वाले मनुष्यों (साधकों) के लिए अन्त में एकमात्र आप (परमात्मा) ही गम्य = प्राप्य हैं। अर्थात् सब आप में ही समा जाते हैं-लीन हो जाते हैं।"[1] यहाँ भी विभिन्न रुचि आदि को लेकर विविध सरल या जटिल मार्गों से मोक्षपथ पर गति करने वाले मुमुक्षु मानव अन्त में देर-सबेर सर्वकर्ममुक्तिरूप पूर्ण-मोक्ष को प्राप्त कर लेते हैं।

जिनको पर-भव से मुक्तिरूप फल मिलना निश्चित है

'भगवतीसूत्र' में बताया गया है कि "मुक्ति पाने के लिए योग्य सभी भवसिद्धिक (भव्य) जीव एक न एक दिन अवश्य ही सिद्ध-बुद्ध-मुक्त होंगे।" 'प्रज्ञापनासूत्र' तथा उसकी 'मलयवृत्ति' में कहा गया है—"जिसने सम्यक्त्व आदि के द्वारा अपने संसार को परीत (परिमित = सीमित) कर दिया है, वह परीत संसारी आत्मा जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त काल और उत्कृष्टतः अनन्त काल—कुछ कम अपार्ध-पुद्गल-परिवर्तन काल तक ही संसार में रहता है, तत्पश्चात् वह अवश्य ही सर्वकर्ममुक्तिरूप मोक्ष प्राप्त कर लेता है। यानी वह अवश्य मोक्षगमन करता है।" इसी प्रकार 'स्थानांग' और 'भगवतीसूत्र' के अनुसार—"श्रवण, ज्ञान, विज्ञान, प्रत्याख्यान, संयम, संवर, तप, व्यवदान (निर्जरा), अक्रिया और अन्त में निर्वाण रूप फल उत्तरोत्तर होता है। यानी श्रवण से लेकर निर्वाण तक का परम्परागत निश्चित फल बताया गया है।[2] 'भगवतीसूत्र' में जयंती श्राविका द्वारा संसार-सागर को पार करने से सम्बन्धित किये गए प्रश्न के उत्तर में भगवान महावीर ने

---

१. रत्तीनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनाना पथजुषां।
नृणामे को गम्य स्त्वमसि पयसामर्णव इव॥ *—महिम्न स्तोत्र*

२. (क) हंता जयंती ! सव्वेवि णं भवसिद्धिया जीवा सिज्झिस्संति।
—भगवती, श. १२, उ. २, सू. १६; वही, श. १, उ. ९

(ख) संसार-परित्ते णं पुच्छा ! गोयमा ! जहण्णेण अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं अणंतं काल जाव अवड्ढं पोग्गल-परियट्टं देसणं। *—प्रज्ञापना, प. १८, सू. २४७ म. वृत्ति*

(ग) भगवती, श. १२, उ. २, सू. १४

(घ) सवणे नाणे विन्नाणे पच्चक्खाणे य संजमे।
अणण्हए तवे चेव, वोदाणं अकिरिय णिव्वाणे॥ *—स्थानांग, अ. ३, उ. ४, सू. २५२*

फरमाया–अठारह पापस्थानों के सेवन से जीव गुरुत्व (कर्मों से भारीपन) को प्राप्त करते हैं और (इसके विपरीत) इन्हीं अठारह पापस्थानों से विरत (निवृत्त) होने पर जीव कर्मों से हल्के हो जाते हैं। वे संसार को परित्त = परिमित कर लेते हैं और एक दिन संसाराटवी को पार कर जाते हैं–मोक्ष गति को प्राप्त कर लेते हैं।

निश्चयदृष्टि से मोक्ष की अवश्यम्भाविता का आश्वासक सूत्र

इसी दृष्टि से 'भगवतीसूत्र' में '**चलमाणे चलिए, उदीरिज्जमाणे उदीरिए**' आदि ९ पदों द्वारा भी यह सूचित किया गया है कि जो सर्वकर्मक्षयरूप मोक्ष के लिए चल पड़ा है, वह चला; जो उदीरा जा रहा है, वह उदीर्ण हुआ इत्यादि चारों क्रियाएँ (चलन, उदीरणा, वेदना और प्रहाण) तुल्यकाल (अन्तर्मुहूर्त्त-स्थितिक) की अपेक्षा से एकार्थक हैं तथा छेदन (स्थिति-बन्धापेक्षया), भेदन (अनुभागबन्धापेक्षया), दहन (प्रदेशबन्ध की अपेक्षा से), मरण (आयुष्यकर्म की अपेक्षा से) और निर्जरण (सर्वकर्मों की अपेक्षा से) भिन्न-भिन्न अर्थ के वाचक होने से सर्वकर्मक्षयरूप मोक्ष के प्रकटीकरण में निश्चयनय की दृष्टि से सहायक हैं, मुमुक्षु के लिए मोक्षपद-प्राप्ति के लिए आश्वासक हैं।[1]

जैनागमों में संयम दो प्रकार का बताया–वीतरागसंयम और सरागसंयम। वीतरागसंयम से सम्पन्न साधक को मोक्ष उसी भव में या दो भवों में निश्चित है, परन्तु सरागसंयम में जो विराधक हैं, उन्हें बहुत ही भवभ्रमण करना पड़ता है, किन्तु जो सरागसंयमी आराधक हैं, उन्हें देव-भव के पश्चात् दूसरे भव में मुक्ति अवश्यम्भावी है, इसका उल्लेख औपपातिकसूत्र, अनुत्तरौपपातिक आदि आगमों में यत्र-तत्र मिलता है। इस प्रकरण में हम क्रमशः उन पाठों के भावार्थ संक्षेप में उद्धृत करके प्रस्तुत करते हैं।

'स्थानांगसूत्र' एवं 'तत्त्वार्थसूत्र' में चार कारणों से देव-सम्बन्धी आयुष्यकर्म का बन्ध बताया है–(१) सरागसंयम से, (२) संयमासंयम से, (३) अकामनिर्जरा से, और (४) बालतप से (अज्ञानपूर्वक तपश्चरण से)। **सरागसंयम**–संयम ग्रहण कर लेने पर जब तक राग का अंश शेष रहता है तब तक वह संयम सरागसंयम है। **संयमासंयम** का अभिप्राय है–कुछ संयम, कुछ असंयम। सामान्यतया इसके अन्तर्गत देशविरति श्रावक आते हैं। यद्यपि इन दोनों में सम्यक्त्व गर्भित है, क्योंकि सम्यक्त्व के बिना ये दोनों हो ही नहीं सकते। फिर भी दिगम्बर परम्परा में सम्यक्त्वी को अलग से देवायुबन्ध के कारणों में गिनाया है। **अकामनिर्जरा** का अर्थ है–विवशता या पराधीनता से, अनिच्छा से, बिना उद्देश्य के, कर्मक्षय के लक्ष्य के बिना ही कष्ट सहना, भूख-प्यास आदि सहना। **बालतप** का अर्थ है–अज्ञानपूर्वक तप करना। जिस

---

१. भगवती, श. ५, उ. १, सू. २

तपश्चरण में या काया कष्ट में आत्म-शुद्धि का लक्ष्य न रहकर अन्य कोई भौतिक लक्ष्य अथवा रूढ़ि-पालन, परम्परा-पालन हो, वहाँ बालतप होता है।[1]

'औपपातिकसूत्र' में सरागसंयमी श्रमणों का वर्णन है। उनके भी दो भेद हैं– आराधक और विराधक। 'औपपातिकसूत्र' में चार प्रकार के विराधक श्रमणों का वर्णन है। एक वे हैं, जो कान्दर्पिक, कौत्कचिक तथा मौखरिक आदि हैं, जो बहुत वर्षों तक श्रमण-पर्याय का पालन करके अन्तिम समय में अपने संयम में लगे हुए दोषों की आलोचना-प्रतिक्रमणादि किये बिना विराधक होकर, मरकर कान्दर्पिक देवों में उत्पन्न होते हैं। दूसरे ऐसे प्रव्रजित विराधक श्रमण हैं, जो अपना उत्कर्ष दिखाने वाले, परपरिवादक तथा भूतिकर्मिक और कौतुक (चमत्कार) का प्रदर्शन करने वाले होते हैं, वे भी इसी प्रकार अन्तिम समय में अपने दोषों की आलोचनादि किये बिना मरकर उत्कृष्टतः अच्युतकल्प देवलोक में आभियोगिक देवों में उत्पन्न होते हैं। तीसरे विराधक श्रमण हैं–निह्नव, जो बहुरतवादी, जीव प्रादेशिक अव्यक्तिक आदि ७ प्रकार के हुए हैं। वे वेश, चर्या आदि सब श्रमणों की-सी रखते हैं, किन्तु उनकी दृष्टि मिथ्या होती है, वे वीतराग वाणी या जिनोक्त सिद्धान्त का अपलाप करते हैं, सिद्धान्त विरुद्ध प्ररूपणा करते हैं। वे मरकर उत्कृष्टतः उपरिम ग्रैवेयकों में देवरूप में उत्पन्न होते हैं। चौथे विराधक श्रमण– आचार्य, उपाध्याय, कुल, गण आदि के प्रत्यनीक (विरोधी) होते हैं, वे आचार्यादि की निन्दा, अपकीर्ति तथा अपयश करने वाले होते हैं। वे मरकर उत्कृष्टतः लान्तक देवों में किल्विषी देव के रूप में उत्पन्न होते हैं।[2]

आराधक सरागसंयमी, अनुत्तरौपपातिक देवलोक के बाद अगले भव में मुक्त

दूसरे आराधक सरागसंयमी वे हैं, जिनका वर्णन अनुत्तरौपपातिकसूत्र में है, जिसके तीन वर्ग हैं। प्रथम वर्ग में जाली, मयाली, उवमाली से लेकर अभयकुमार तक १० अध्ययन हैं। इन दस ही श्रेणिक-पुत्रों ने तप, संयम का सम्यक्पालन किया। अन्तिम समय में आत्म-शुद्धि करके संलेखनापूर्वक यावज्जीव अनशन भी किया। किन्तु संयम के साथ देव, गुरु, धर्म आदि के प्रति प्रशस्त रागभाव होने से दसों ही श्रमण विजय से सर्वार्थसिद्ध नामक पाँच अनुत्तर विमानों में देवरूप में उत्पन्न हुए। वहाँ का आयुष्य पूर्ण करके ये सभी अगले भव में महाविदेह क्षेत्र में मनुष्य-जन्म पाकर उत्कृष्ट तप, संयम की आराधना करके सिद्ध-बुद्ध-मुक्त होंगे। इसी तरह दूसरे वर्ग में तेरह और तीसरे वर्ग में दस श्रमणों के नाम से अध्ययन हैं। दूसरे वर्ग में दीर्घसेन आदि तेरह श्रेणिक-पुत्रों का वर्णन है। तीसरे वर्ग में घोर तपसी काकंदी निवासी धन्ना अनगार आदि का वर्णन है। ये सभी पाँच अनुत्तर

१. सराग-संयम-संयमासंयमाकामनिर्जरा-बालतपांसि देवस्य। –*तत्त्वार्थसूत्र, अ. ६, सू. २०*

२. औपपातिकसूत्र, सू. ११, १८-१९, १५

विमानों में देवरूप में उत्पन्न हुए तथा अगले भव में महाविदेह क्षेत्र में मनुष्य-जन्म पाकर सिद्ध-बुद्ध-मुक्त होंगे।[१]

संयमासंयम में श्रमणोपासक-श्रमणोपासिका हैं तथा तिर्यंच पंचेन्द्रिय अणुव्रती श्रावक हैं। 'औपपातिकसूत्र' में इनके गुणों का विस्तृत वर्णन है। वे अल्पारम्भी, अल्पपरिग्रही, धार्मिक, धर्मिष्ठ, धर्माख्यायिक धर्मपूर्वक आजीविका चलाने वाले, वे स्थूल रूप में जीवनभर हिंसादि १८ पापों से निवृत्त होते हैं, सूक्ष्म रूप में अंशतः अनिवृत्त होते हैं। आरम्भ-समारम्भ, पचन-पाचन, कूटने-पीसने, ताड़न-तर्जन *वध-बंध परिक्लेश आदि से अंशतः विरत और अंशतः अविरत होते हैं।* श्रमणोपासक व्रतों का निष्ठापूर्वक पालन करते हैं। नवतत्त्वों में कुशल, निर्ग्रन्थ प्रवचन में दृढ़ तथा अनुरक्त रहते हैं। पौषधव्रत का सम्यक् अनुपालन करते हैं। अन्तिम समय में समाधिमरणपूर्वक आहार-शरीरादि का संलेखनापूर्वक अनशन करके आत्म-शुद्धिपूर्वक कालधर्म को प्राप्त होते हैं। ऐसे श्रमणोपासक आराधक तथा संयमासंयमी हों तो उत्कृष्ट अच्युतकल्प देवलोक में देवरूप में उत्पन्न होते हैं। वहाँ से च्यवकर महाविदेह क्षेत्र में मनुष्य-जन्म पाकर उत्कृष्ट संयमाराधना करके सिद्ध-बुद्ध-मुक्त होते हैं।[२]

संयमासंयमी श्रमणोपासक-श्रमणोपासिकाएँ

'उपासकदशांगसूत्र' में आनन्द, कामदेव आदि जिन दस आदर्श श्रमणोपासकों तथा श्रमणोपासिकाओं का वर्णन है, वे अपने व्रत नियमादि श्रावकधर्म की आराधना करके संयमासंयमी होने से सभी काल धर्म प्राप्त करके प्रथम सौधर्म देवलोक में उत्पन्न हुए हैं तथा आगामी भव में महाविदेह क्षेत्र में मनुष्य बनकर उत्तम करणी करके सिद्ध-बुद्ध-मुक्त होंगे।[३]

दान की उत्कृष्ट भावना से जीर्णसेठ बारहवें देवलोक में, वहाँ से अगले भव में मोक्ष प्राप्त करेगा

इसी प्रकार 'धर्मरत्नप्रकरण' में श्रमणोपासक जीर्णसेठ का संक्षिप्त जीवनवृत्त अंकित है, जिसने अपनी जन्मभूमि विशाला नगरी में भगवान महावीर के छद्मावस्था में चातुर्मासार्थ विराजने पर प्रतिदिन भगवान के पधारने की भावना करता और प्रतीक्षा करता रहता। वह केवल दान की उत्कट भावना के बल पर बारहवें देवलोक में गया। वहाँ से महाविदेह क्षेत्र में उत्पन्न होकर सर्वकर्मक्षयरूप मोक्ष प्राप्त करेगा।[४]

---

१. अनुत्तरौपपातिकसूत्र, वर्ग १-३

२. देखें—औपपातिकसूत्र में आराधक श्रमणोपासकों के गुण एवं स्वरूप, सू. २०११

३. देखें—उपासकदशांगसूत्र में आनन्दादि दस श्रमणोपासकों का जीवनवृत्त

४. देखें—धर्मरत्नप्रकरण तथा जैनकथा कोष में जीर्णसेठ श्रावक का वृत्तान्त

आहार शरीरादि में दृढ़ संयमी, ब्रह्मचर्यनिष्ठ जुड्डल श्रावक

इसी तरह 'आवश्यककथा' में जुड्डल श्रावक का वर्णन है जो भगवान नेमिनाथ के धर्म-शासनकाल में भद्दिलपुर निवासी धनाढ्य गृहस्थ था। भगवान के उपदेश से उसने श्रावकधर्म अंगीकार किया। उसने आहार में चावल, चने की दाल और पानी, इन सिर्फ तीन द्रव्यों के उपरान्त सभी खाद्य पेयों का त्याग कर दिया। आभूषणों में सिर्फ एक मुद्रिका रखी तथा पूर्ण ब्रह्मचर्य व्रत स्वीकार करके बेले-तेले आदि की तपश्चर्या करके अपनी साधना में लीन रहने लगा। उसकी पत्नियों ने उसकी शारीरिक दुर्बलता, भोगपराङ्मुखता तथा साधना-लीनता देखकर अपनी ओर आकर्षित करने का बहुत प्रयत्न किया, किन्तु वह जरा भी विचलित न हुआ। अवधिज्ञान से जब उसने जाना कि पौषधशाला में अग्नि के उपसर्ग में मेरी मृत्यु होगी, तब वह संलेखना-संथारा करके समाधिस्थ होकर बैठ गया। दो महीने के अनशनपूर्वक जुड्डल श्रावक अग्नि के उपसर्ग से समाधिपूर्वक मरकर ईशान देवलोक में गया। वहाँ से वह महाविदेह क्षेत्र में उत्पन्न होकर मोक्ष जाएगा।[1]

अकामनिर्जरा और बालतप से देव-भव मिल सकता है

अकामनिर्जरा और बालतप से विराधक होकर देवगति पाने के तो औपपातिकसूत्र में तथा कप्पवडंसिया, पुप्फिया और पुप्फचूलिया में अनेक तापसों, वानप्रस्थिकों, अंगच्छेदकों, द्विद्रव्यभोगियों तथा सुकुमालि का आदि विराधिका साध्वियों के अनेक उदाहरण हैं। उनकी चर्चा यहाँ अप्रासंगिक है। यहाँ तो उन साधक-साधिकाओं की चर्चा की जा रही है, जिनका भविष्य में मोक्ष अवश्यम्भावी है, निश्चित है।[2]

प्रदेशी राजा भी श्रावकव्रती बनकर समाधिमरणपूर्वक सूर्याभदेव बना

'राजप्रश्नीयसूत्र' में प्रदेशी राजा का जीवनवृत्त अंकित है। पहले तो वह नास्तिक, क्रूर और धर्मविमुख था, किन्तु केशीश्रमण मुनिवर के सत्संग से उसने श्रावकव्रत अंगीकार किया। श्रमणोपासक बनने के पश्चात् वह अपने धर्मध्यान में ही रत रहने लगा। किन्तु उसकी रानी राजा को भोगासक्त बनाने के प्रयत्न में विफल हुई, तब तुच्छ स्वार्थ एवं रोषवश राजा को विष-मिश्रित भोजन दे दिया। परन्तु प्रदेशी राजा ने न तो रानी पर द्वेष किया और न ही अपने शरीरादि पर मूर्च्छा की, समाधिपूर्वक मृत्यु प्राप्त करने से वह सौधर्म देवलोक में सूर्याभदेव बना। वहाँ से आयुष्य पूर्ण करके वह महाविदेह क्षेत्र में मनुष्य-जन्म पाकर संयम-साधना

---

१. देखें–आवश्यककथा तथा जैनकथा कोष में जुड्डल श्रावक का वृत्तान्त

२. देखें–औपपातिकसूत्र में अकामनिर्जरा और बालतप के साधकों का परिचय, सू. ४-६, ८-१०, १२

से दृढ़-प्रतिज्ञ नामक केवली होगा। केवली-पर्याय में बहुत वर्षों तक विहरण करके संलेखना-संथारापूर्वक समाधिमरण प्राप्त करके सिद्ध-बुद्ध-मुक्त होगा।[१]

अम्बड़ परिव्राजक श्रावकव्रतों का पालन कर ब्रह्मलोक में देव बना

'औपपातिकसूत्र' में अम्वड़ परिव्राजक का वर्णन है। वह भगवान महावीर का परम भक्त था। उसने भगवान महावीर से अनेक अणुव्रत-गुणव्रत-शिक्षाव्रत ग्रहण किये तथा सूर्याभिमुख होकर आतापना लेने से शुभ परिणामों और प्रशस्त लेश्याओं के कारण तदावरणीय कर्मों के क्षयोपशम से वीर्यलब्धि, वैक्रियलब्धि और अवधिज्ञानलब्धि प्राप्त हुई। परिव्राजक होते हुए वह संयम-नियमपूर्वक विचरण करता था। उसने अन्तिम समय में २९ दिनों का संलेखना-संथारापूर्वक समाधिमरण प्राप्त किया। पाँचवें ब्रह्मलोक नामक देवलोक में उत्पन्न हुआ। वहाँ से च्यवकर वह महाविदेह क्षेत्र में उत्तम कुल में दृढ़-प्रतिज्ञ नामक कुलपुत्र होगा। किसी स्थविर से दीक्षा लेकर सर्वविरति चारित्र का पालन करेगा, फिर साधना के फलस्वरूप चारों घातिकर्मों का क्षय करके केवलज्ञान प्राप्त करेगा। बहुत वर्षों तक केवली-पर्याय में रहकर अन्त में वह सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हो जाएगा। अम्वड़ परिव्राजक के ७०० शिष्य भी अन्तिम समय में समाधिमरणपूर्वक काल करके ब्रह्मलोक में देव बने। वहाँ से वे अगले भव में महाविदेह क्षेत्र में मनुष्य-जन्म पाकर उत्तम साधना करके सिद्ध-बुद्ध-मुक्त होंगे।[२]

संज्ञी तिर्यंच पंचेन्द्रिय-पर्याप्तक के द्वारा द्वितीय भव में मोक्ष-प्राप्ति

तिर्यंच संज्ञी पंचेन्द्रिय-पर्याप्तक जीवों में कई जलचर, स्थलचर और खेचर ऐसे होते हैं, जिनको अपने शुभ परिणामों से प्रशस्त अध्यवसायों से विशुध्यमान लेश्याओं से तदावरणीय कर्मों के क्षयोपशम से ईहा, अपोह, मार्गण और गवेषण करने से पूर्व-जन्म का स्मरण (जाति-स्मरणज्ञान) उत्पन्न हो जाता है। पूर्व-जन्म का ज्ञान होने से वे स्वयं पाँच अणुव्रतों को ग्रहण करते हैं तथा शीलव्रतों, गुणव्रतों, त्याग-प्रत्याख्यान-पौषधोपवास से अपनी आत्मा को भावित करते हुए अपनी आयु के अन्तिम समय में भक्त-प्रत्याख्यान के रूप में संलेखना-संथारा (यावज्जीव-अनशन) स्वीकार करते हैं, अपनी आलोचना-प्रतिक्रमण द्वारा अपनी आत्म-शुद्धि करके समाधिपूर्वक कालधर्म प्राप्त करते हैं। ऐसे परलोक के आराधक तिर्यंच पंचेन्द्रिय जीव मरकर उत्कृष्ट सहस्रारकल्प में देव बनते हैं। वहाँ से च्यवकर महाविदेह क्षेत्र में मनुष्य-भव पाकर साधना करके सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हो जाते हैं। नंदन मणियार के जीव ने अट्टम पौषध के दौरान बावड़ी बनाने का विचार करके दोष

---

१. देखें—राजप्रश्नीयसूत्र में प्रदशी राजा का अधिकार

२. देखें—औपपातिकसूत्र, सू. १३-१४ में अम्वड़ के शिष्यों तथा अम्वड़ परिव्राजक का जीवनवृत्त

किया, फिर तदनुसार बावड़ी आदि बनवाई। जनता के मुख से अपनी प्रशंसा सुनकर वह आसक्त हो गया। मरकर एक बार दुर्भाग्य से उसके शरीर में १६ महारोग उत्पन्न हुए। रोगों से पीड़ित होकर वह मरणशरण हुआ। मरकर उसी बावड़ी में वह मेंढक बना। आगन्तुक लोगों के मुँह से अपने नाम की प्रशंसा सुनते-सुनते पूर्व परिचित नाम पर ऊहापोह करते-करते जाति-स्मरण ज्ञान हुआ, उसने अपने पूर्व-जन्म में भगवान महावीर द्वारा प्रदत्त बोध और स्वीकृत व्रत आए। सम्यक्त्व भंग होने का पश्चात्ताप हुआ। उसने अभिग्रह (संकल्प) कर लिया कि मैं दो-दो दिन के व्रत (उपवास) करूँगा, पारणे के दिन लोगों के स्नानादि के द्वारा अचित्त बना हुआ जल ही ग्रहण करूँगा। इसी बीच एक दिन राजगृह नगर में भगवान महावीर का पदार्पण सुनकर उनके दर्शनार्थ वह चल पड़ा। वह फुदकता हुआ जा रहा था कि श्रेणिक राजा की सेना के एक घोड़े के पैर से वह दब गया। मरणासन्न मेंढक ने एक ओर जाकर अरिहंत, सिद्ध और धर्माचार्य का स्मरण करके यावज्जीव अनशन स्वीकार कर लिया। समाधिपूर्वक मरकर वह प्रथम देवलोक में दर्दुर नामक देव बना। वहाँ से वह च्यवकर महाविदेह क्षेत्र में मनुष्यरूप में उत्पन्न होकर मोक्ष प्राप्त करेगा।

'भगवतीसूत्र' में उदायी और भूतानन्द गजराज के भविष्य का कथन है। वे दोनों श्रेणिक-पुत्र कोणिक के प्रधान हाथी थे। वे असुरकुमार देवों में से च्यवकर सीधे कोणिक के पट्टहस्ती बने। यहाँ से काल करके ये दोनों प्रथम नरक में उत्पन्न होंगे। वहाँ से अन्तररहित निकलकर दोनों महाविदेह क्षेत्र में मनुष्यरूप में उत्पन्न होकर सिद्ध-बुद्ध-मुक्त होंगे।[1]

केवलज्ञान-प्राप्ति के विषय में एक शंका और उठती है कि श्री बाहुबली मुनि ने इतनी कठोर तपस्या की, शरीरादि पर से भी उनकी ममता-मूर्च्छा का व्युत्सर्ग हो चुका था, फिर भी उन्हें शीघ्र केवलज्ञान क्यों नहीं हुआ, जबकि कूरगडूक, केसरी मुनि, माषतुषु मुनि आदि पूर्वोक्त सामान्य साधुओं को अल्पकाल में ही केवलज्ञान प्राप्त हो गया था, ऐसा क्यों ? इसका समाधान यह है कि जब तक कषायों तथा राग-द्वेष आदि का क्षय नहीं होता, तब तक जीव क्षपकश्रेणी पर आरूढ़ नहीं हो सकता, बाहुबलि मुनि की यद्यपि कठोरचर्या थी, किन्तु मानकषाय से, अहंजनित राग से वे मुक्त नहीं हुए थे, इस कारण उनका केवलज्ञान रुका हुआ था, ज्यों ही ब्राह्मी-सुन्दरी साध्वियों की प्रेरणा मिली, त्यों ही उन्हें भान हुआ, उन्होंने सूक्ष्म मानकषायों को भी छोड़कर अपने से लघु भ्राता किन्तु पूर्व दीक्षित मुनियों को वन्दन करने के लिये कदम उठाया, त्यों ही उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हो गया।

---

१. (क) औपपातिकसूत्र, सू. १६

(ख) ज्ञातासूत्र १३

(ग) भगवतीसूत्र, श. १७, उ. १, सू. ३-७

केवलज्ञान के बाद सर्वकर्मक्षयरूप मोक्ष होना निश्चित था।[1] आशय यह है कि संज्वलन-कषायी, उपशान्तमोही या उपशमश्रेणी के साधक को केवलज्ञान नहीं होता। केवलज्ञान क्षीणमोही को तथा क्षपकश्रेणी आरूढ़ को ही होता है। यही कारण है कि अनुत्तर विमानवासी देवों को 'भगवतीसूत्र' में क्षीणमोही या उदीर्णमोही न कहकर उपशान्तमोही कहा है। यदि वे क्षीणमोही होते तो उन्हें केवलज्ञान हो जाता।[2]

अब एक शंका और होती है—केवलज्ञान प्राप्त होते ही कई महान् आत्माओं को तो शीघ्र मुक्ति हो जाती है और कई महापुरुषों को यहाँ तक कि भगवान महावीर जैसे तीर्थंकरों तक को भी शीघ्र मुक्ति प्राप्त नहीं होती, इसका क्या कारण है?

इसका समाधान यद्यपि पहले दिया जा चुका है। फिर भी संक्षेप में यह है कि मुक्ति के लिए चार घाति के अलावा चार अघाति इन आठों ही कर्मों का क्षय होना अनिवार्य है। एक आयुष्य कर्म भी भोगना बाकी हो तो मुक्ति रुक जाती है, फिर जिन केवलियों ने पूर्व-भवों के शुभ या अशुभ (पुण्यरूप या पापरूप) जो भी कर्म बाँधे हैं, यदि वे निकाचित रूप से बन्ध न हों, फिर भी स्पृष्ट, बद्ध और निधत्त रूप से बद्ध हों और उन्हें संक्रमण या उत्क्रमण द्वारा परिवर्तित किया गया है, संक्रमण या उत्क्रमण द्वारा परिवर्तित न किया गया है, संक्रमण द्वारा उनका स्थितिघात, रसघात न किया गया हो अथवा उदीरणा द्वारा या बाह्याभ्यन्तर तप, संयम, परीषह-सहन, उपसर्ग-विजय, महाव्रत, गुप्ति-समिति, चारित्र आदि द्वारा भोगकर क्षय न किया गया हो अथवा निकाचित बँधे हुए कर्मों को भी उदय में आने पर समभाव से भोगा न गया हो, तो केवलि-भगवन्तों को भी उस भव की स्थिति पर्यन्त उन भवोपग्राही चार पूर्वबद्ध अघातिकर्मों का भी फल भोगकर क्षय करना पड़ता है, वे जब तक पूर्णतया क्षय न हों अथवा आयुकर्म अल्पावधिक हो तो केवली समुद्घात द्वारा दूसरे कर्मों का समीकरण करके भोगना पड़ता है, इस कारण मुक्ति में विलम्ब होता है।

सप्त लव कम आयु वाले मानव को भी सर्वार्थसिद्ध देवलोक में जाना पड़ा

इतना ही नहीं, धन्ना अनगार को मोक्ष प्राप्त हो जाता है और उनके गृहस्थ पक्ष के साले शालिभद्र मुनि को उत्कृष्ट करणी करने पर भी न तो केवलज्ञान होता है और न ही मोक्ष; शास्त्रकारों का कहना है कि लवसप्त आयु कम होने से उन्हें सर्वार्थसिद्ध

---

१. देखें—बाहुबली चरित्र त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र, पर्व १

२. अणुत्तरोववाइया णं भंते ! किं उदिण्णमोहा, उवसंतमोहा, खीणमोहा?
गोयमा ! नो उदिण्णमोहा, उवसंतमोहा, णो खीणमोहा। —*भगवतीसूत्र, श. ५, उ. ४, सू. ३३*

अनुत्तर विमान देवलोक में जाना पड़ा। सात लव परिमाण आयुष्य पूर्व (मनुष्य) भव में कम होने से वे विशुद्ध अध्यवसाय वाले मानव भी मोक्ष में नहीं जा सके।[1]

आराधक श्रमण निर्ग्रन्थों और श्रमणोपासकों को उत्तम देवलोक या मोक्ष की प्राप्ति

यही कारण है कि शास्त्रकारों ने कई श्रमण निर्ग्रन्थों अथवा श्रमणोपासकों के लिए दो गतियाँ बताई हैं–(१) उत्तम देवगति, या (२) मोक्ष गति। 'स्थानांगसूत्र' में तीन मनोरथ द्वारा मन-वचन-काया को ओतप्रोत = भावित करने वाले श्रमण को महानिर्जरा और महापर्यवसान करने वाला बताया है–(१) कब मैं अल्प या बहुत श्रुत (शास्त्रों) का अध्ययन करूँगा? (२) कब मैं एकलविहार प्रतिमा को अंगीकार करके विचरूँगा? (३) कब मैं अपश्चिम-मारणान्तिक संलेखना की आराधना से युक्त होकर भक्तपान का परित्याग कर पादोपगमन संथारा स्वीकार कर मृत्यु की आकांक्षा नहीं करता हुआ विचरूँगा? इसी प्रकार श्रमणोपासक भी तीन मनोरथों से मन-वचन-काया को भावित = ओतप्रोत करता हुआ महानिर्जरा और महापर्यवसान करने वाला होता है–(१) कब मैं अल्प या बहुत परिग्रह का त्याग करूँगा? (२) कब मैं मुण्डित होकर अगार से अनगारिता में प्रव्रजित होऊँगा? (३) कब मैं अपश्चिम मारणान्तिक संलेखना का प्रीतिपूर्वक सेवन करके भक्तपान का परित्याग कर प्रायोपगमन संथारा स्वीकार मृत्यु की आकांक्षा नहीं करता हुआ विचरूँगा?[2]

इसी प्रकार 'स्थानांगसूत्र' में बताया गया है–पाँच स्थानों से श्रमण निर्ग्रन्थ महानिर्जरा (क्रमशः असंख्यातगुणी कर्मनिर्जरा करने वाला) और महापर्यवसान (जन्म-मरण का अन्त या संसार का सर्वथा उच्छेद) करने वाला होता है। यथा–अग्लानभाव से आचार्य, उपाध्याय, स्थविर, तपस्वी और ग्लान (रुग्ण) मुनि की वैयावृत्य करता हुआ। आगे के सूत्र में भी इसी प्रकार पाँच स्थानों से श्रमण निर्ग्रन्थ महानिर्जरा और महापर्यवसान करने वाला होता है–शैक्ष (नवदीक्षित) कुल, गण, संघ और साधर्मिक (समान समाचारी वाले) की वैयावृत्य करता हुआ।[3]

अन्नग्लायक श्रमण निर्ग्रन्थ को महानिर्जरा और महापर्यवसान की उपलब्धि

'भगवतीसूत्र' में एक जगह दो दृष्टान्तों द्वारा अन्नग्लायक को उपमित करके बताया गया है कि जिन अन्नग्लायक श्रमण निर्ग्रन्थों ने अपने कर्म, यथा–स्थूल,

---

१. (क) स्थानांगसूत्र वृत्ति

(ख) भगवतीसूत्र, श. १४, उ. ७, सू. १२/२ विवेचन (आ. प्र. स., ब्यावर), पृ. ४०७

२. स्थानांगसूत्र, स्था. ३, उ. ४, सू. ४९६-४९७

३. भगवतीसूत्र, खण्ड १, श. ५, उ. ४, सू. ४४-४५, विवेचन (आ. प्र. स., ब्यावर), पृ. ४६१-४६२

शिथिल, यावत् निष्ठित किये हैं, यावत् वे कर्म शीघ्र नष्ट हो जाते हैं और वे अन्नग्लायक श्रमण निर्ग्रन्थ महानिर्जरा और महापर्यवसान वाले होते हैं। अन्नग्लायक शब्द के दो अर्थ वृत्तिकार एवं चूर्णिकार ने किये हैं। यथा-"अन्न के बिना ग्लानि पाने वाला।" इसका आशय यह है कि-(१) जो भूख से इतना आतुर हो जाता है कि गृहस्थों के घर में रसोई बनने तक की प्रतीक्षा नहीं कर सकता। भूख न सह सकने वाले ऐसे कूरगड्डूक मुनि की तरह गृहस्थों के घरों में जैसा भी ठंडा, बासी, कूरादि अन्न या पके हुए चावल लाकर प्रातःकाल ही खा जाता है। (२) चूर्णिकार के मतानुसार अन्नग्लायक वह है, जो भोजन के प्रति इतना निःस्पृह है कि जैसा भी अन्न-प्रान्त ठंडा बासी अन्न मिले, उसे निगल जाता है।[1]

इसी प्रकार जिनके सम्यक्त्व-सप्तक (अनन्तानुबन्धी चार कषाय तथा दर्शनमोहनीय त्रिक) का क्षय हो गया है अथवा जो तद्भव मोक्षगामी है, ऐसे एकान्त पण्डित की दो गतियाँ 'भगवतीसूत्र' में कही गई हैं। यथा-या तो वह अन्तःक्रिया (संसार का, कर्मों का या जन्म-मरणादि का अन्त) करता है यानी मोक्ष प्राप्त करता है या वह कल्पोपपत्तिक (सौधर्मादि कल्पों = देवलोकों में उत्पन्न) होता है। वह मनुष्यायु, तिर्यञ्चायु या नरकायु का बन्ध नहीं करता, किन्तु देवायु बाँधकर देवों में उत्पन्न होता है।[2]

'भगवतीसूत्र' के अनुसार-आस्रव द्वारों का निरोध करके संवर की साधना निष्ठापूर्वक करने वाले संवृत अनगार कहलाते हैं। ये छठे गुणस्थान से लेकर चौदहवें गुणस्थान तक होते हैं। संवृत अनगार आयुष्यकर्म के सिवाय शेष गाढ़बन्धन से बद्ध ७ कर्मप्रकृतियों के शिथिल बंधनबद्ध कर देता है, दीर्घकालिक स्थिति वाली कर्मप्रकृतियों को ह्रस्व (अल्प) कालिक स्थिति वाली कर लेता है तथा तीव्र रस (अनुभाव) वाली प्रकृतियों को मन्द रस वाली कर लेता है। बहुप्रदेश वाली प्रकृतियों को अल्पप्रदेश वाली कर देता है। आयुष्यकर्म को नहीं बाँधता तथा असातावेदनीय कर्म का बार-बार उपचय नहीं करता। (अतएव वह) अनादि अनन्त दीर्घ पथ वाले चातुर्गतिक रूप संसारारण्य का उल्लंघन (पार) कर जाता है। इस कारण से ऐसा कहा जाता है कि संवृत अनगार सिद्ध-बुद्ध-मुक्त परिनिर्वृत और सर्वदुःखान्तकर हो जाता है। इसके विपरीत असंवृत अनगार चारों ही प्रकार के बन्धों में वृद्धि करता है, वह चातुर्गतिक संसार का अन्त नहीं करता। संवृत अनगार दो प्रकार के होते हैं-चरमशरीरी और अचरमशरीरी। चरमशरीरी उसी भव में मोक्ष जाते हैं जबकि अचरमशरीरी ७-८ भव तक मोक्ष प्राप्त करते हैं।[3]

---

१. भगवतीसूत्र, खण्ड ३, श. १६, उ. ४, सू. ७, पृ. ५५३

२. वही, खण्ड १, श. १, उ. ८, सू. २, विवेचन (आ. प्र. स., ब्यावर)

३. वही, श. १, उ. १, सू. ११-१२

प्रासुकभोजी मृतादी निर्ग्रन्थ : कौन भवान्तकारक, कौन भवभ्रमणकारी ?

'भगवतीसूत्र' में मृतादी (मडाई) निर्ग्रन्थों का वर्णन है। मडाई का अर्थ है–मृत = निर्जीव–प्रासुक भोजन करने वाला। 'अमरकोश' के अनुसार अर्थ होता है–याचितभोजी। ऐसे जिस प्रासुकभोजी या याचितभोजी मडाई निर्ग्रन्थ ने संसार का, संसार के प्रपंचों का निरोध नहीं किया, जिसका संसार क्षीण नहीं हुआ, जिसका संसार वेदनीय कर्म क्षीण नहीं हुआ, जिसका संसार व्युच्छिन्न नहीं हुआ, जिसका संसार वेदनीय कर्म व्युच्छिन्न नहीं हुआ, जो निष्ठितार्थ (कृतार्थ = सिद्धप्रयोजन) नहीं हुआ, जिसका कार्य (करणीय) समाप्त नहीं हुआ, ऐसा मृतादी (अचित्त निर्दोष आहार करने वाला) अनगार पुनः मनुष्य-भव आदि (नारक-तिर्यंच-देवभव) भवों को प्राप्त करता रहता है, (किन्तु इसके विपरीत जिस मृतादी अनगार ने संसार का, संसार के प्रपंचों का निरोध कर दिया है, जिसका संसार क्षीण और व्युच्छिन्न हो गया है, जिसका संसार वेदनीय कर्म भी क्षीण और व्युच्छिन्न हो गया है, जो निष्ठितार्थ (कृतकार्य) है, जिसने अपना कार्य सिद्ध कर लिया है, ऐसा मृतादी अनगार पुनः मनुष्य-भव आदि भवों को प्राप्त नहीं होता। (ऐसे) पूर्वोक्त स्वरूप वाले निर्ग्रन्थ को सिद्ध, बुद्ध, मुक्त, पारंगत (संसार के पार पहुँचा हुआ), परम्परागत (अनुक्रम से संसार के पार पहुँचा हुआ), अन्तकृत्, परिनिर्वृत एवं सर्वदुःख प्रहीण कहा जा सकता है।[१]

एषणीय आहारादि भोजी श्रमण निर्ग्रन्थ संसार पारगामी

'भगवतीसूत्र' में भगवान महावीर से एक प्रश्न पूछा गया है कि प्रासुक एषणीय आहारादि का उपभोग करने वाला श्रमण निर्ग्रन्थ क्या बाँधता है? क्या करता है? किसका चय या उपचय करता है? इसके उत्तर में भगवान ने कहा–प्रासुक एषणीय (निर्दोष) आहारादि का उपभोग करने वाला श्रमण निर्ग्रन्थ आयुकर्म को छोड़कर शेष सात कर्मों की दृढ़ बंधन से बद्ध प्रकृतियों को शिथिल करता है। उसे संवृत अनगार के समान समझना चाहिए। विशेष बात यह है कि ऐसा अनगार आयुकर्म को कदाचित् बाँधता है, कदाचित् नहीं बाँधता। वह अनादि अनवदग्र, दीर्घकालिक चातुर्गतिकान्त संसारारण्य को पार कर जाता है। पुनः प्रश्न पूछा गया है, वह किस कारण से अनादि यावत् चातुरन्त संसाराटवी को पार कर जाता है? समाधान किया गया–प्रासुक, एषणीय आहारादि भोगने वाला श्रमण निर्ग्रन्थ अपने आत्म-धर्म का उल्लंघन नहीं करता। आत्म-धर्म (आत्मौपम्य धर्म) का उल्लंघन न करने वाला वह श्रमण निर्ग्रन्थ पृथ्वीकाय से लेकर त्रसकाय तक छही जीवनिकाय के जीवों का जीवन चाहता है और जिन जीवों का शरीर उसके उपभोग में आता है, उसका भी वह जीवन चाहता है। इस कारण से वह यावत् संसार-कान्तार को पार कर जाता है।[२]

---

१. भगवतीसूत्र, खण्ड १, श. २, उ. १, सू. ८-९, विवेचन (आ. प्र. स., ब्यावर), पृ. १६७-१६८

२. वही, खण्ड १, श. १, उ. ९, सू. २७, विवेचन, पृ. १५४

क्षीणकांक्षा-प्रदोष श्रमण निर्ग्रन्थ अन्तकर अथवा अन्तिम शरीरी हो जाता है

ऐसा श्रमण निर्ग्रन्थ जिसका कांक्षा-प्रदोष (कांक्षामोहनीय कर्म दोष) क्षीण हो गया है, वह (संसार का) अन्त कर (सर्वकर्मों का या जन्म-मरण का अन्त करने वाला) अथवा अन्तिम शरीरी (चरमशरीरी—इस भव के बाद फिर कभी शरीर धारण नहीं करना पड़ता) हो जाता है। अथवा यदि वह पूर्वावस्था में बुहत मोह वाला) होकर विहरण करे और फिर संवृत (संवरयुक्त) होकर मृत्यु प्राप्त करे तो वह तत्पश्चात् सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हो जाता यावत् सर्वदुःखों का अन्त कर डालता है।[1]

ज्ञान-दर्शन-चारित्र की उत्कृष्ट-मध्यम-जघन्य आराधना का फल

शास्त्रों में ज्ञान, दर्शन और चारित्र तीनों को मोक्षमार्ग कहा है। 'भगवतीसूत्र' में सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र की आराधना (विरतिचाररूप से अनुपालना) का अन्तिम फल बताते हुए कहा गया है—सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन की उत्कृष्ट आराधना करके कितने ही जीव उसी भव में सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हो जाते हैं, कितने ही जीव दो भव ग्रहण करके सिद्ध होते हैं, यावत् सभी दुःखों का अन्त करते हैं, कितने ही जीव कल्पोपपन्न देवलोकों में अथवा कल्पातीत देवलोकों में उत्पन्न होते हैं। किन्तु सम्यक्चारित्र की उत्कृष्ट आराधना करने वाले भी दो भव में सिद्ध-मुक्त होते हैं, किन्तु कितने ही सिर्फ कल्पातीत देवलोकों में उत्पन्न होते हैं। ज्ञान, दर्शन और चारित्र की मध्यम आराधना करने वाले जीव दो भव ग्रहण करके सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हो जाते हैं, तीसरे भव का अतिक्रमण नहीं करते। इसी प्रकार सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की जघन्य आराधना करके कितने ही जीव तीसरा भव ग्रहण करके सिद्ध-बुद्ध-मुक्त होते हैं, परन्तु सात-आठ भव का अतिक्रमण नहीं करते।[2]

कर्त्तव्य-दायित्व वहनकर्त्ता आचार्य और उपाध्याय कितने भव में मुक्त होते हैं ?

जो आचार्य और उपाध्याय अपने विषय (सूत्र और अर्थ की वाचना प्रदान करने अथवा पारणा-वारणा-धारणा-चोयणा-पडिचोयणा द्वारा अपने कर्त्तव्य एवं दायित्व का निर्वाह करने) में गण (गण के साधु-साध्वी समूह) को अग्लानभाव से स्वीकार (संग्रह) करते हैं (सूत्रार्थ पढ़ाते हैं) तथा अग्लानभाव से उन्हें (संयमपालन में) सहायता देते हैं, ऐसे कितने ही आचार्य और उपाध्याय उसी भव में मुक्त हो जाते हैं, कितने ही (देवलोक में जाकर दूसरे भव में मुक्त होते हैं, किन्तु तीसरे भव का अतिक्रमण नहीं करते।[3]

---

१. भगवतीसूत्र, खण्ड १, श. १, उ. ९, सू. १९, विवेचन, पृ. १४७

२. वही, खण्ड २, श. ८, उ. १०, सू. १६, विवेचन, पृ. ४०८-४०९

३. वही, खण्ड १, श. ५, उ. ९, सू. १९, विवेचन

'औपपातिकसूत्र' में ऐसे महाभाग अनगारों का वर्णन है, जो अनारम्भी, अपरिग्रही, अहर्निश सर्वतोभावेन धर्म में ओतप्रोत, सुशील, सुव्रत, स्वात्म-परितुष्ट हैं, जो हिंसादि पाँचं आस्रवों से, अठारह पापस्थानों से तथा सब प्रकार के आरम्भ-समारम्भ करने-कराने से एवं पचन-पाचन आदि से पूर्णतः प्रतिविरत होते हैं तथा कुट्टन-पीटन, ताड़न-तर्जन, बन्धन-पीड़न आदि से सर्वथा विरत होते हैं एवं पाप-प्रवृत्ति से, छल-प्रपंच से युक्त और दूसरे के प्राणों को कष्ट पहुँचाने वाले कार्यों से जीवनभर पूर्ण विरत होते हैं। पाँच समिति और तीन गुप्ति से युक्त, गुप्तेन्द्रिय, गुप्त ब्रह्मचरी, अभय, अकिंचन, छिन्नग्रन्थ एवं छिन्नस्रोत होते हैं। अनेक उपमाओं से उपमित अप्रमत्त, कषायविजय तत्पर होते हैं। निर्ग्रन्थ प्रवचन को सम्मुख रखकर विचरण करते हैं ऐसे श्रमण भगवंतों में से कतिपय श्रमणों को अनन्त, अनुत्तर, निर्व्याघात, निरावरण, कृत्स्न, परिपूर्ण केवलज्ञान-केवलदर्शन समुत्पन्न होता है। वे बहुत वर्षों तक केवली-पर्याय में विचरण करते हैं। अन्तिम समय में भक्त-प्रत्याख्यानपूर्वक अनशन स्वीकार कर जिस प्रयोजन से नग्नभाव-मुण्डभाव स्वीकार किया था, उसकी सम्यक् आराधना करके अपने अन्तिम उच्छ्वास-निःश्वास में सिद्ध-बुद्ध-मुक्त परिनिर्वृत एवं सर्वदुःखरहित होते हैं। जिन कतिपय श्रमणों को केवलज्ञान-केवलदर्शन उत्पन्न नहीं होता, वे बहुत वर्षों तक छद्मस्थ-पर्याय (कर्मावरणयुक्त अवस्था) में रहते हुए संयम का पालन करते हैं। फिर किसी रोगादि विघ्न के उत्पन्न होने या न होने पर वे भक्त-प्रत्याख्यानरूप अनशन संथारा स्वीकार करते हैं। अपने लक्ष्य को सिद्ध करके वे अन्तिम श्वास में केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त करते हैं, तत्पश्चात् सिद्ध-बुद्ध-मुक्त होते हैं। कई श्रमण एक ही भव करने वाले होते हैं। पूर्व आयुष्यादि कर्म (भोगने) बाकी रहने से कालधर्म पाकर उत्कृष्ट सर्वार्थसिद्ध महाविमान में उपन्न होते हैं। वे परलोक के आराधक होते हैं।

इसी प्रकार कई मनुष्य सर्वकामों (शब्दादि कामभोगों) से विरत, सर्वरागभावविरत, सर्वसंगातीत, सर्वस्नेहातिक्रान्त, अक्रोध (क्रोध को विफल करने वाले), निष्क्रोध (क्रोधोदयरहित), क्षीण क्रोध (क्रोध मोहनीय को) जो क्षीण कर चुके हैं, तथैव मान, माया और लोभ भी जिनके क्षीण हो गए हैं। वे आठों ही कर्मप्रकृतियों का क्षय करते हुए लोक के अग्र भाग में (सिद्धालय में) प्रतिष्ठित हो जाते हैं।[1]

संवेग आदि कतिपय गुणों से मोक्षफल-प्राप्ति

'उत्तराध्ययनसूत्र' के २९वें अध्ययन में बताया गया है किन-किन गुणों से मोक्ष प्राप्त होता है ? यथा—संवेग से दर्शनविशोधि से विशुद्ध होकर कई जीव उसी

१. (क) औपपातिकसूत्र, सू. १२५-१२८
(ख) वही, सू. १२९-१३०

भव में मुक्त हो जाते हैं, आयुष्य के अल्प रह जाने से जिनके कुछ कर्म बाकी रह जाते हैं, वे तीसरे भव तक में अवश्य मोक्ष चले जाते हैं। निर्वेद से आरम्भ परित्याग करके संसारमार्ग का विच्छेद करके अन्त में सिद्धिमार्ग को प्राप्त करता है। निन्दना से पश्चात्ताप होता है, उससे वैराग्ययुक्त होकर करणगुणश्रेणी को प्रतिपन्न अनगार मोहनीय कर्म का क्षय करता है। अर्थात् क्षपकश्रेणी पर आरूढ़ होकर क्षीणमोही बन जाता है, फिर केवलज्ञान प्राप्त करके सिद्ध-बुद्ध-मुक्त होता है। **गर्हणा** से अनन्त घाति (कर्म) पर्यायों का क्षय करता है। तत्पश्चात् केवलज्ञान और मोक्ष निश्चित है। **स्तवस्तुतिमंगल** से ज्ञान-दर्शन-चारित्र रूप बोधिलाभ से सम्पन्न होकर जीव या तो अन्तःक्रिया (मुक्ति के योग्य क्रिया) करता है अथवा वैमानिक देवों में उत्पन्न होने योग्य क्रिया करता है। **वाचना** से श्रुत की अनाशातना में प्रवृत्त जीव तीर्थधर्म का अवलम्बन लेकर कर्मों की महानिर्जरा महापर्यवसान कर लेता है। **अनुप्रेक्षा** से अनादि-अनन्त संसार का अन्त कर देता है। संयम, तप और व्यवदान का परम्परागत फल है अक्रिय अवस्था (क्रियरहितता)। तत्पश्चात् सिद्ध-बुद्ध-मुक्त होता है। **विनिवर्तना** से चतुर्गतिक संसाराटवी को पार कर जाता है। **कषाय-प्रत्याख्यान** से वीतरागभाव, **योग-प्रत्याख्यान** से अयोगत्व प्राप्त होता है तथा **शरीर-प्रत्याख्यान** से सिद्धों के अतिशय गुणों से संपन्न होकर लोक के अग्र भाग में पहुँच जाता है। सर्वसंवररूप **सद्भाव-प्रत्याख्यान** से शुक्लध्यान के चतुर्थ भेद की प्राप्ति, केवलज्ञानी होकर ४ अघातिकर्मों का क्षय करके सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हो जाता है। **सर्वगुण-सम्पन्नता** से अपुनरावृत्ति को प्राप्त जीव शरीर और मन के दुःखों का भाजन नहीं होता। **काय-समाधारणता** से यथाख्यातचारित्र को विशुद्ध करके केवली में विद्यमान ४ अघातिकर्मांशों का क्षय करता है, तत्पश्चात् सिद्ध-बुद्ध-मुक्त होता है। **ज्ञान-सम्पन्नता** से संसाररूपी महारण्य में वह विनष्ट नहीं होता। **दर्शन-सम्पन्नता** से अनुत्तर केवलज्ञान-दर्शन से आत्मा को संयोजित कर लेता है और **चारित्र-सम्पन्नता** से शैलेशीभाव को प्राप्त होकर सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हो जाता है। **प्रेम (राग) द्वेष और मिथ्यादर्शन** पर विजय से ज्ञानादि रत्नत्रय की आराधना करने के लिए उद्यत होकर ४ घातिकर्मों का क्षय करता है, फिर केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त करता है। उसकी प्राप्ति के बाद मोक्ष निश्चित है ही।[1]

संवेग-निर्वेदादि ४९ पदों का अन्तिम फल : सिद्धि-मुक्ति

इसी प्रकार 'भगवतीसूत्र' में भी संवेग-निर्वेदादि ४९ पदों का अन्तिम फल सिद्धि-मुक्ति बताया है। यथा—संवेग, निर्वेद, गुरुसाधर्मिक-शुश्रूषा, आलोचना, निन्दना, गर्हणा, क्षमापना, श्रुत-सहायता, व्युपशमना, भाव में अप्रतिबद्धता,

---

१. उत्तराध्ययनसूत्र, अ. २९, सू. १-२, ६-७, १४, १९, २२, २६-२८, ३२, ३६-३८, ४१, ४४, ५८-६१, ७१

विनिवर्तना, विविक्तशय्यासन-सेवनता, श्रोत्रेन्द्रिय-संवर यावत् स्पर्शेन्द्रिय-संवर, योग-प्रत्याख्यान, शरीर-प्रत्याख्यान, कषाय-प्रत्याख्यान, सम्भोग-प्रत्याख्यान, उपधि-प्रत्याख्यान, भक्त-प्रत्याख्यान, क्षमा, विरागता, भाव-सत्य, योग-सत्य, करण-सत्य, मन-समाधारणता, क्रोधविवेक यावत् मिथ्यादर्शनशल्य-विवेक, ज्ञान-दर्शन-चारित्र-सम्पन्नता वेदना-अध्यासनता और मारणान्तिक अध्यासनता। इन सभी गुणों का अन्तिम फल सिद्धि है।[1]

त्रैकालिक तीर्थंकरों द्वारा उक्त चारित्र गुणों से सम्पन्न सिद्ध-बुद्ध-मुक्त

'सूत्रकृतांगसूत्र' में त्रैकालिक तीर्थंकरों ने एक वाक्य में कहा–भिक्षुओ ! पूर्वकाल में भी जो (सर्वज्ञ) हो चुके हैं और भविष्य में भी जो होंगे, उन सभी सर्वज्ञों ने इन्हीं गुणों को मोक्षसाधन कहा है। काश्यगोत्रीय (भगवान ऋषभदेव एवं भगवान महावीर) के धर्मानुगामी साधकों ने भी यही कहा है–"मन-वचन-काया इन तीनों से प्राणियों का प्राणातिपात (हिंसा) न करे तथा स्वहित (कल्याण) में रत रहे, स्वर्गादि सुखों की वाञ्छा (निदान) से रहित संवृत होकर रहे। इस प्रकार (रत्नत्रय) की साधना से भूतकाल में अनन्त (चारित्रगुणों से युक्त) जीव सिद्ध-मुक्त हुए हैं, (वर्तमानकाल में हो रहे हैं) और भविष्य में भी अनन्त जीव सिद्ध-बुद्ध-मुक्त होंगे।[2]

तीन स्थानों से सम्पन्न अनगार : संसार-अरण्य से पार हो जाता है

तीन स्थानों (गुणों) से सम्पन्न अनगार अनादि-अनन्त अतिविस्तीर्ण चातुर्गतिक संसार-कान्तार से पार हो जाता है। यथा–(१) अनिदानता (भोगों की प्राप्ति के लिए निदान न करने) से, (२) दृष्टि-सम्पन्नता (सम्यग्दर्शन की प्राप्ति) से और योगवाहिता (शास्त्र-वाचन के साथ उपधान तपश्चरण अल्पनिद्रा, अल्पाहार, मितभाषण, विकथादि का त्याग) अथवा समाधि स्थायिता से।[3]

एक रात्रि की भिक्षुप्रतिमा के सम्यक्पालन का फल

एक रात्रि की भिक्षुप्रतिमा-प्रतिपन्न अनगार को सम्यक्पालन करने से तीन ज्ञानों में से कोई एक ज्ञान प्राप्त होता है–(१) अवधिज्ञान, (२) मनःपर्यायज्ञान, और (३) केवलज्ञान। केवलज्ञान प्राप्त होने पर मोक्ष निश्चित है ही।[4]

छठ-छठ (बेले-बेले) तप करने वाला वैशाली निवासी वरुण नाग श्रमणोपासक था, व्रतधारी था, जीवादि तत्त्वों का ज्ञाता था, साथ ही वह कुशल योद्धा भी था।

---

१. भगवतीसूत्र, खण्ड ३, श. १७, उ. ३, सू. २२, विवेचन (आ. प्र. स., ब्यावर), पृ. ६२३

२. सूत्रकृतांगसूत्र, श्रु. १, अ. २, उ. ३, गा. २०-२१

३. स्थानांगसूत्र, स्था. ३, उ. १, सू. ८८

४. वही, स्था. ३, उ. ३, सू. ३८९

उसे एक बार राजा, गण और प्रबल जनसमूह के आदेश के आगे झुकना पड़ा, उसकी इच्छा तो नहीं थी रथमूसलसंग्राम (चेटक-कोणिक युद्ध) में जाने की, मगर बिना मन से उदासीनभाव से गया। वह चतुरंगिणी सेना तैयार करके शस्त्र से सज्ज होकर तेले का तप करके सेनापति बनकर संग्राम में पहुँचा। संग्राम में उसका एक नियम था, विपक्ष का सैनिक प्रहार करता, तभी वह प्रति-प्रहार करता था। फलतः विपक्ष के सैनिक ने वरुण नाग पर गाढ़ प्रहार किया किन्तु वरुण नाग ने उसे एक ही प्रहार में धराशायी कर दिया। किन्तु सख्त घायल हुए वरुण ने स्वयं को अशक्त एवं अबल व पराक्रमरहित जानकर रणभूमि से एक ओर जाकर रथ खड़ा किया। दर्भसंस्तारक करके उस पर पर्यंकासन से बैठकर संलेखना-संथारा कर लिया। कवच खोलकर शरीर से बाण को निकाला और समाधिपूर्वक मरण प्राप्त किया।

गौतम स्वामी द्वारा वरुण नाग की गति के विषय में पूछने पर भगवान ने कहा—"वरुण नाग समाधिपूर्वक मरकर सौधर्म देवलोक में आराधक देव के रूप में उत्पन्न हुआ है। उस देवलोक से च्यवकर वह महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेकर सिद्ध-बुद्ध-मुक्त होगा।" वैदिक ग्रन्थों में युद्ध में मरने वालों को सभी को स्वर्ग प्राप्त होता है, ऐसी मान्यता का यहाँ निराकरण करते हुए कहा गया है। 'जैनदर्शन' के अनुसार—युद्ध में मरने वाले सभी स्वर्ग में नहीं जाते। बल्कि अज्ञानपूर्वक तथा तप-त्याग-व्रत-प्रत्याख्यानरहित होकर असमाधिपूर्वक मरने से प्रायः नरक या तिर्यंचगति ही मिलती है। अतः संग्राम करने वाले सभी व्रतधारियों को भी संग्राम करने से या संग्राम में मरने से स्वर्ग प्राप्त नहीं होता, अपितु न्यायपूर्वक संग्राम करने के बाद जो संग्रामकर्त्ता अपने दुष्कृत्यों के लिये पश्चात्ताप, आलोचन, प्रतिक्रमण करके शुद्ध होकर समाधिपूर्वक मरता है, वही स्वर्ग में जाता है।[१]

भगवान महावीर ने अपने केवलज्ञान के प्रकाश में जैसा जाना-देखा, वैसा ही प्ररूपित किया है। उनका किसी की जीव के प्रति पक्षपात, राग, द्वेष या वैर-विरोध नहीं। कोणिक जैसे परम भक्त बने हुए श्रेणिक-पुत्र को भी उन्होंने उसके कुकृत्यों के फलस्वरूप अपना भविष्य पूछने पर छठी नरकभूमि में जाने की स्पष्ट बात कही। किसी प्रकार का मुलाहिजा नहीं रखा।

दूसरी ओर उन्होंने एकेन्द्रिय जीवों के लिये भी भविष्य में मनुष्य-जन्म पाकर सिद्ध-बुद्ध-मुक्त होना स्वीकार किया है। 'भगवतीसूत्र' में माकन्दी-पुत्र अनगार द्वारा भगवान महावीर से प्रश्न पूछा गया है—"भंते ! कापोतलेश्यी पृथ्वीकायिक, अप्कायिक और वनस्पतिकायिक जीव मरकर क्या मनुष्य-शरीर प्राप्त कर सकते हैं और सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हो सकते हैं ?"

१. *भगवतीसूत्र*, श. ७, उ. ९, सू. २०-२४, पृ. १९२

माकन्दी-पुत्र के प्रश्न का आशय यह है—जगत् के समस्त प्राणियों के जीवन के आधार, सबको आधार देने वाले, भूख-प्यास मिटाने वाले पृथ्वीकायिक, अप्कायिक तथा छाया, फल, फूल, लकड़ी, औषध आदि के रूप में उपयोगी वनस्पतिकायिक जीव हैं। ये स्वयं सर्दी, गर्मी, वर्षा, ताप-ठंड आदि सहकर तथा अपने शरीर का बलिदान देकर भी जगत् के जीवों को जिलाते हैं, उपकार करते हैं, तो इसके बदले में इन्हें क्या मिलता है? भगवान ने कहा—"जो पृथ्वीकायिक, अप्कायिक और वनस्पतिकायिक जीव कापोतलेश्या वाले हैं, वे मरकर अनगाररहित (सीधा) मनुष्य-शरीर प्राप्त करते हैं। फिर उस मनुष्य-भव में ही मोक्ष की उत्तम साधना करके केवलज्ञान उपार्जित करते हैं, तत्पश्चात् सिद्ध-बुद्ध-मुक्त होते हैं, सदा-सदा के लिये जन्म-मरणादि दुःखों का अन्त करते हैं।" यहाँ तक कि भगवान से अन्य अनगारों द्वारा इसी प्रश्न को दुबारा पूछने पर उन्होंने कापोतलेश्यी पृथ्वीकायिकादि त्रय की सिद्धि-मुक्ति का तो समर्थन किया ही, साथ ही यह भी बताया कि कृष्ण और नीललेश्या वाले पृथ्वीकायिक, जलकायिक और वनस्पतिकायिक जीव भी कथंचित् मानव-भव पाकर अन्त में सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हो जाते हैं।[1]

शालवृक्ष, शालयष्टिका और उदुम्बरयष्टिका को भविष्य में मानव-भव पाकर मोक्ष-प्राप्ति

भगवान महावीर से पूछा गया—भंते ! सूर्य की गर्मी से पीड़ित, तृषा से व्याकुल, दावानल की ज्वाला से झुलसा हुआ यह (प्रत्यक्ष दृश्यमान) शालवृक्ष का जीव यहाँ से काल करके (मरकर) कहाँ उत्पन्न होगा? उत्तर में भगवान ने कहा— गौतम ! यह शालवृक्ष का जीव इसी राजगृह नगर में पुनः शालवृक्ष के रूप में उत्पन्न होगा। वहाँ वह (पूर्व-पुण्यराशि के फलस्वरूप) अर्चित, वन्दित, पूजित, सत्कृत और सम्मानित, दिव्य (दैवीगुणयुक्त) सत्य, सत्यावपात, सन्निहित प्रातिहार्य (पूर्व-भव सम्बन्धी देवों द्वारा प्रातिहार्य—सामीप्य-प्राप्त) होगा। इसका चबूतरा (पीठ) लीपा-पोता हुआ तथा पूजनीय होगा। वहाँ से आयुष्य पूर्ण (मर) कर महाविदेह क्षेत्र में मनुष्यरूप में जन्म लेकर सिद्ध-बुद्ध-मुक्त होगा। इसी प्रकार शालयष्टिका भी (पूर्व गुणों से युक्त) विन्ध्याचल के पादमूल (तलहटी) में स्थित माहेश्वरी नगरी में शाल्मली (सेमर) वृक्ष के रूप में पुनः उत्पन्न होगी। वहाँ वह अर्चित यावत् पूजनीय होगी। फिर वहाँ से आयुष्य पूर्ण कर वह भी महाविदेह क्षेत्र में मनुष्यरूप में उत्पन्न होकर उत्तम साधना करके सिद्ध-बुद्ध-मुक्त होगी।

इसी प्रकार उदुम्बरयष्टिका (उदुम्बर की शाखा) भी यहाँ से काल करके पाटलिपुत्र में पाटलीवृक्ष के रूप में पुनः उत्पन्न होगी। वहाँ वह अर्चित, पूजित

१. भगवतीसूत्र, खण्ड ३, श. १८, अ. ३, सू. १-७, पृ. ६४८-६८०

होगी। वहाँ से आयुष्य पूर्ण होने पर वह सीधे महाविदेह क्षेत्र में मनुष्यरूप में जन्म लेकर सिद्ध-बुद्ध-मुक्त होगी।[1]

'भगवतीसूत्र' में मनुष्य के लिये तो भगवान ने मोक्ष-प्राप्ति की योग्यता बताई है, फिर श्रमण या श्रमणोपासक बन जाने पर सम्यक् प्रकार से व्रताराधना-साधना करने पर कर्मक्षयार्थ रत्नत्रय एवं सम्यक्तप की साधना करने से उत्कृष्ट देवलोक में या सिद्धगति में जाने का उल्लेख विभिन्न आगमों में बताया है। इतना ही नहीं, जो मनुष्य श्रमण या श्रमणोपासक बनने पर सम्यक् प्रकार से पालन नहीं करता, बाह्य क्रियाकाण्डों को करके सन्तुष्ट हो जाता है, परस्पर वैर-विरोध, राग-द्वेष, पक्षपात, कदाग्रह आदि मन में रखता है और अन्तिम समय में अपने कृत दोषों की आलोचना-प्रतिक्रमणादि करके आत्म-शुद्धि किये बिना ही संलेखना-संथारा करके या किये बिना ही आयुष्य पूर्ण करता है, वह मरकर देवलोक में जाने पर भी वहाँ अच्छा वातावरण प्राप्त नहीं करता, फिर किसी न किसी शुभ योग से उसे अपने कृत्य पर पश्चात्ताप होता है तो वह आराधक बनकर उत्तम देवलोक प्राप्त करता है। वहाँ से महाविदेह क्षेत्र में मनुष्य-भव प्राप्त करके सिद्ध-बुद्ध-मुक्त होता है।

विराधक अभीचिकुमार वैरानुबन्ध के कारण असुरकुमार देव बना

उदयन-पुत्र अभीचिकुमार को पिता द्वारा उत्तम आशय से राज्य न दिये जाने के कारण वह स्पष्ट होकर पिता के प्रति रोष-द्वेष-वैर-विरोध उसके मन में उत्पन्न हुआ। यद्यपि वह बाद में श्रमणोपासक बना। वह जीवादि तत्त्वों का भी ज्ञाता था। व्रतों का भी पालन करता था। उसने अन्तिम समय में अर्ध-मासिक संलेखना-संथारा भी किया। मगर उदायन राजर्षि के प्रति वैरानुबन्धरूप पाप की आलोचना प्रतिक्रमण किये बिना ही वह मरकर असुरकुमार देव बना। वहाँ से वह आयुष्य पूर्ण करके महाविदेह क्षेत्र में मनुष्यरूप में जन्म लेगा। अपनी आत्म-शुद्धि करके सिद्ध-बुद्ध-मुक्त होगा। **जामाली अनगार और आजीवक गोशालक** भी भगवान महावीर के प्रतिद्वन्द्वी बनकर रहे। फिर भी उनकी साधना, विराधना-आराधना के फलस्वरूप उन्हें अनेकानेक भवों के पश्चात् सिद्धि-मुक्ति प्राप्त होगी, ऐसा उल्लेख भगवतीसूत्र में है।[2]

वास्तव में मुमुक्षु जीव, जिसे भविष्य में मोक्ष-प्राप्ति की तमन्ना होती है, वह अपनी साधना बहुत ही तन्मयतापूर्वक करता है, मोक्ष के भावों में ही वह अहर्निश डूबा रहता है, उसी प्रकार के स्वप्न देखता है, स्वाध्याय, मनन, चिन्तन, अनुप्रेक्षण

---

१. भगवतीसूत्र, खण्ड ३, श. १४, उ. ८, सू. १८-२०

२. (क) देखें–अभीचिकुमार का वृत्तान्त, भगवतीसूत्र, खण्ड ३, श. १३, उ. ६, सू. ३५-३६

(ख) देखें–गोशालक का वृत्तान्त, भगवती, श. १५; जामाली का वृत्तान्त, भगवती, श. ९, उ. ३३

भी मोक्षानुरूप करता है। 'भगवतीसूत्र' में बताया है कि एक या दो भवों में जो सिद्ध-बुद्ध-मुक्त होने वाले स्त्री या पुरुष होते हैं, वह निम्नोक्त १४ स्वप्नों में से कोई एक स्वप्न देखकर जाग्रत होता है-(१) स्वप्न के अन्त में अश्वपंक्ति, गजपंक्ति या वृषभपंक्ति देखे, उस पर चढ़ता हुआ देखे, स्वयं को चढ़ा हुआ माने तो उसी भव में मुक्त होता है। (२-३) पूर्व से पश्चिम तक समुद्र को दोनों ओर से छूती हुई बड़ी रस्सी देखे, उसे समेटने और काटने का प्रयत्न करता हुआ समेटे या काटे, ऐसा अनुभव करता हुआ जाग्रत हो तो उसी भव में मुक्त होते हैं। (४) एक बड़े काले या सफेद सूत के पिण्ड को देखे, उसे सुलझाता हुआ देखे या सुलझा देता हो, सुलझा दिया माने तो उसी भव में मुक्त होते हैं। (५) स्वप्न के अन्त में एक बड़ी लौहराशि, ताँबे की राशि, कथीर की राशि या शीशे की राशि, देखने का प्रयत्न करता हुआ देखे, उस पर चढ़ता हुआ चढ़े, स्वयं को उस पर चढ़ा हुआ माने तो उसी भव में मुक्त होता है। (६) स्वप्न के अन्त में चाँदी, सोने या हीरों का ढेर देखता हुआ देखे, उस पर चढ़ता हुआ चढ़े, स्वयं को उस पर चढ़ा हुआ माने, स्वप्न देखकर तत्काल जाग्रत हो तो दूसरे भव में सिद्ध-मुक्त होता है। (७) स्वप्नान्त में तृणराशि, पत्तों की राशि, छाल, भूस, तुष या गोबर की राशि या कचरे का ढेर देखता हुआ देखे, बिखेरता हुआ बिखेरे तथा स्वयं ने बिखेर दिया है, ऐसा माने, ऐसा स्वप्न देखकर तत्काल जाग्रत हो तो उसी भव में सिद्ध-मुक्त होता है। (८) स्वप्न के अन्त में सर-स्तम्भ, वीरण-स्तम्भ, वंशीमूल-स्तम्भ, वल्लीमूल-स्तम्भ को देखता हुआ देखे, उखाड़ता हुआ उखाड़ फेंके, स्वयं ने उखाड़ डाला है, ऐसा माने और तत्काल जाग्रत हो तो उसी भव में मुक्त होता है। (९) एक महान् क्षीरकुम्भ, दधिकुम्भ, घृतकुम्भ या मधुकुम्भ देखता हुआ देखे, उसे उठाता हुआ उठाए, ऐसा माने कि स्वयं ने उसे उठा लिया है, यह स्वप्न देखकर तत्काल जाग्रत हो तो वह व्यक्ति उसी भव में मुक्त होता है। (१०) स्वप्न के अन्त में एक महान् सुरारूप जल का कुम्भ, सौवीररूप जलकुम्भ, तेलकुम्भ या वसाकुम्भ देखता हुआ देखे, फोड़ता हुआ उसे फोड़ डाले, स्वयं ने उसे फोड़ दिया है, ऐसा माने और स्वप्न देखकर तत्काल जाग्रत हो तो दूसरे भव में मुक्त होता है। (११) एक महान् कुसुमित पद्मसरोवर को स्वप्न के अन्त में देखता हुआ देखे, उसमें अवगाहन करता हुआ अवगाहन करे तथा स्वयं मैंने अवगाहन किया है, ऐसा माने और स्वप्न देखकर तत्क्षण जाग्रत हो तो उसी भव में मोक्ष प्राप्त करता है। (१२) स्वप्न के अन्त में तरंगों और कल्लोलों से व्याप्त एक महासागर देखता हुआ देखे, तैरता हुआ पार कर ले, मैंने इसे स्वयं पार किया है, ऐसा माने और तत्काल जाग्रत हो तो उसी भव में मुक्त होता है। (१३) कोई स्त्री या पुरुष स्वप्न के अन्त में सर्वरत्नमय एक महाभवन देखता हुआ देखे, उसमें प्रविष्ट होता हुआ प्रवेश करे तथा मैं स्वयं प्रविष्ट हो गया हूँ, ऐसा माने एवं ऐसा स्वप्न देखकर तत्क्षण जाग

जाए तो वह उसी भव में सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हो जाता है। (१४) कोई नर या नारी स्वप्न के अन्त में सर्वरत्नमय एक महान् विमान को देखता हुआ देखे, उस पर चढ़ता हुआ चढ़े तथा मैं इस पर चढ़ गया हूँ, ऐसा स्वयं अनुभव करे और स्वप्न देखकर वह तत्काल जाग्रत हो जाए तो उसी भव में सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हो जाता है।

स्पष्ट है कि उसी स्त्री या पुरुष को ऐसे स्वप्न दिखाई देते हैं जो मोक्ष का ही चिन्तन, मनन, रटन आचरण करता हो। मोक्ष की ही माला जपता है, मोक्ष के ही ध्यान में रत रहता है, 'सिद्धा सिद्धि मम दिसंतु' का ही जिसका अन्तरनाद हो, मोक्ष के ही मन्दिर में स्वयं की मुक्तात्माओं के बीच में रात-दिन रहता हो, जिन-जिन कारणों से मोक्ष प्राप्त होता है, उन-उन कारणों और उपायों पर विचार करता हो। उन्हीं का अभ्यास करता हो, मोक्ष में जाने का ही स्वप्न देखता हो।[1]

दस कारणों से जीव आगामीभद्रता के कारण शुभ कर्म का उपार्जन करता है

जैसे कि 'स्थानांगसूत्र' में बताया गया है कि दस कारणों से जीव आगामी भद्रता (अगले भव में देवत्व की प्राप्ति और तदनन्तर मनुष्य-भव पाकर मुक्ति-प्राप्ति) के योग्य शुभ कार्यों का उपार्जन करते हैं। यथा–(१) निदान (तप आदि के फल से सांसारिक सुखों की कामना) न करने से, (२) दृष्टि-सम्पन्नता (सम्यग्दर्शन निश्चय-व्यवहार दोनों दृष्टियों से सांगोपांग आराधना-साधना करने) से, (३) योगवाहिता (मन-वचन-काय को समाधिस्थ रखने या श्रुत-विनय-आचार-तप इन चारों द्वारा समाधि रखने) से, (४) क्षान्ति-क्षमणता (समर्थ होकर भी अपराधी को क्षमा करने एवं क्षमा धारण करने, क्षमा देने–माँगने) से, (५) जितेन्द्रियता (पाँचों इन्द्रियों के विषयों को जीतने) से, (६) ऋजुता (मन-वचन-काया की सरलता) से, (७) अपार्श्वस्थता (चारित्र-पालन में शिथिलता न आने देने) से, (८) सुश्रामण्य (श्रमणधर्म का यथाविधि पालन करने) से, (९) प्रवचन-वत्सलता (जिन आगम और शासन के प्रति गाढ़ अनुराग) से, और (१०) प्रवचन-उद्भावनता (जिनागम और शासन की प्रभावना करने) से।[2] सचमुच इन दसों ही बातों को जीवन में रमा लेने, सदैव अप्रमत्ततापूर्वक, विवेकपूर्वक, आत्म-ध्यानपूर्वक अपना लेने वाले के मोक्ष निकट आ जाता है। वैसे भी 'चिन्तामणि पार्श्वनाथ स्तोत्र' के अनुसार–"मुक्तिः क्रीड़ति हस्तयोः।"–उसके दोनों हाथों मुक्ति क्रीड़ा करती–अठखेलियाँ करती रहती है।

वह भावितात्मा बनकर धर्मध्यान से ऊपर उठकर शुक्लध्यान का अभ्यास करे, शुद्ध आत्मा, परमात्मा के ही अनन्त गुणों में रमण करता रहे तो क्षपकश्रेणी पर एक न एक दिन आरूढ़ होकर शीघ्र ही क्षीणमोही बनकर कैवल्य प्राप्त कर सकता है।

---

१. भगवतीसूत्र, श. १६, उ. ६, सू. २२-३५

२. स्थानांगसूत्र, अ. १०, सू. १३३, पृ. ७३१

दस बातें प्रशस्त एवं अन्तकर

इसी प्रकार 'भगवतीसूत्र' में श्रमण निर्ग्रन्थों के लिए जो प्रशस्त एवं अन्तकर १० बातें बताई हैं, उनका विधिवत् सम्यक् प्रकार से अभ्यास करने से भी मोक्ष के निकट पहुँचा जा सकता है। वे इस प्रकार हैं-(१) **लाघव** (शास्त्र-मर्यादा से भी अल्प-उपधि रखना), (२) **अल्पेच्छा** (आहारादि में अल्प-अभिलाषा रखना), (३) **अमूर्च्छा** (अपने पास रही हुई उपधि में भी ममत्व = संरक्षणानुबन्ध न रखना), (४) **अगृद्धि** (आसक्ति का अभाव, भोजनादि के परिभोग काल में भी अनासक्ति रखना), (५) **अप्रतिबद्धता** (स्वजनादि या द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव में स्नेह या राग के बन्धन से प्रतिबद्ध न होना), (६) **अक्रोधत्व**, (७) **अमानत्व** (निरहंकारता, मदरहितता, गर्व न करना), (८) **अमायत्व** (माया, कपट, छल, ठगी, वंचना न करना), (९) **अलोभत्व** (लोभ, तृष्णा, वासना, इच्छा, लालसा, लिप्सा न रखना), (१०) **कांक्षाप्रदोष** (किसी भी सजीव-निर्जीव पदार्थ पर राग और द्वेष, आसक्ति और घृणा न रखना अथवा अन्य दर्शनों का आग्रह-हठाग्रहादि या आसक्ति न रखना अथवा जिस बात को पकड़ रखा है, उस पर स्वत्व मोह, राग तथा उससे भिन्न या विरुद्ध पर द्वेष या घृणा)। इन १० बातों का मुमुक्षु-जीवन में अभ्यास होता रहे तो व्यक्ति संवरयुक्त (संवृत) होकर समाधिपूर्वक देहत्याग करता (मरता) है, जिससे वह सिद्ध, बुद्ध, मुक्त तथा सर्वदुःखान्तकर हो जाता है।[1]

इस प्रकार विभिन्न पहलुओं और विभिन्न उपायों से मोक्ष-प्राप्ति की निश्चितता के विविध सूत्रों पर ध्यान देकर सम्यग्दृष्टि, श्रावक एवं श्रमण निर्ग्रन्थ वर्ग विवेकपूर्वक अभ्यास करे तो इस भव में नहीं तो दो भव, तीन भव या अधिक से अधिक ७-८ भवों में अवश्य ही सर्वकर्मक्षयरूप मोक्ष प्राप्त कर सकता है।

● ●

---

१. भगवती, श. १, उ. ९, सू. १७-१९

१३

मोक्ष-सिद्धि के साधन : पंचविध आचार

यंत्र-चालक पुर्जों और मशीन को चलाये नहीं तो लाभ की अपेक्षा हानि ही अधिक

एक इंजीनियर ने किसी रोग-निवारक दवाई के उत्पादन के लिए एक बड़ी मशीन लगाई। उस मशीन के पाँच बड़े-बड़े पुर्जे हैं। यदि वह इंजीनियर मशीन को चलाए ही नहीं; केवल दिखाने के लिए या प्रसिद्धि के लिए अथवा राज्य सरकार से बड़ी रकम पाने के लिए उस मशीन को एक मकान में पड़ी रखे, तो उससे न तो उत्पादन होगा, न ही प्रदर्शन से उस मशीन से होने वाला कोई अर्थलाभ होगा और प्रसिद्धि भी तभी तक सम्भव है, जब तक समझदार लोगों को पता न लगे, जब तक उक्त मशीन के चालक की कलई नहीं खुले। सरकार भी जाँच-पड़ताल के बाद उक्त मशीन को चलाने के लिए बड़ी रकम लोन देगी, परन्तु ज्यों ही सरकार को पता चलेगा कि मशीन ठप्प पड़ी है, कम्पनी बोगस है, तब वह तुरन्त ब्याज-सहित रकम वसूल कर सकती है। मशीन भी चलाये बिना पड़ी-पड़ी जंग खाकर खराब हो सकती है।

परन्तु मान लो, वह मशीन-चालक पाँच बड़े पुर्जों में से अमुक दो, तीन या चार पुर्जों को ही चलाये, अथवा अमुक-अमुक पुर्जा चले ही नहीं तो मशीन भले ही नई हो, चलेगी नहीं। इसलिए मशीन-चालक यदि मशीन के पुर्जों को बार-बार सँभाले नहीं, कि मशीन ठीक तरह से चल रही है या नहीं, पाँचों बड़े पुर्जे काम कर रहे हैं या नहीं? तब इस प्रकार की लापरवाही से मशीन के बिगड़ने, उत्पादन ठप्प होने और हानि होने की बहुत अधिक सम्भावना है।

मुमुक्षु आत्मा भी ज्ञानादि पंचाचारयुक्त आचारयंत्र को क्रियान्वित न करे तो हानि ही

ठीक इसी प्रकार मुमुक्षु साधक आत्मारूपी इंजीनियर के द्वारा आध्यात्मिक दिशा में गति-प्रगति के लिए, संवर, निर्जरा और मोक्ष के उत्पादन (उपार्जन) के लिए अथवा आत्मा के निजी गुणों—सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्र, सम्यक्तप और सम्यक्बलवीर्य (शक्ति)[१] में, उपयोगपूर्वक आचरण का पराक्रम न किया जाये तो उसकी आचाररूपी मशीन ठप्प हो जायेगी।

---

१. अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त अव्याबाध (आत्मिक) सुख और अनन्त बलवीर्य (आत्म-शक्ति), ये चार आत्मा के निजी गुण हैं।

आचाररूपी यंत्र को चलाते समय उपयोगशून्य

'उत्तराध्ययनसूत्र' में भगवान महावीर ने अपनी अन्तिम देशना में बताया है– "ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, वीर्य और (इनके आचरण में) उपयोग; ये जीव के लक्षण हैं।"[1] आशय यह है कि मुमुक्षु एवं आत्मार्थी साधक को जो आचाररूपी मशीन ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और वीर्य; इन पाँच बड़े पुर्जों के साथ मिली है, उसे वह चलाए नहीं, यदि चलाए तो भी दो या तीन पुर्जों को ही चलाए अथवा इन पाँचों को चलाने से पहले इनकी भलीभाँति देखभाल या जाँच-पड़ताल न करे, आचाररूपी मशीन को चलाते समय उपयोग न रखे कि कहीं ज्ञान के पुर्जे के साथ अज्ञान का कीट तो नहीं लगा है, दर्शन के पुर्जे पर मिथ्यात्व की कालिमा तो नहीं छा गई है? या चारित्र के पुर्जे के साथ कषाय का कालुष्य तो नहीं मिल गया है? अथवा तप के पुर्जे पर लौकिक, भौतिक या सांसारिक इच्छाओं और वासनाओं की मलिन रज तो नहीं लिपट गई है और वीर्य के पुर्जे में कहीं शंका-कांक्षा-विचिकित्सा का तार तो नहीं फँस गया है? यदि ऐसी स्थिति है और आचार-यंत्र का आत्मारूपी चालक जागरूक, सतर्क और सर्वकर्ममुक्तिरूप मोक्षलक्ष्य के प्रति सचेष्ट नहीं है तो न तो वह संवर, निर्जरा और मोक्ष की दिशा में पुरुषार्थ कर पायेगा और न ही वर्तमान में अधिकांश रूप में आत्मा के सुषुप्त, कुण्ठित और आवृत ज्ञान, दर्शन आत्मिक-सुख (आनन्द) और शक्तिरूप निजी गुणों को जाग्रत, अनावृत और प्रखर कर सकेगा। आचाररूपी यंत्र संचालित, सक्रिय और आचरित नहीं होगा और उसके पूर्वोक्त पाँचों पुर्जे या पाँचों में से कोई भी पुर्जा ठप्प रहेगा, स्व-स्वरूप में परिणमन नहीं करेगा तो निश्चयदृष्टि से जीव (आत्मा) की स्व-स्वरूप में पूर्णतया अवस्थिति नहीं हो सकेगी।

ये पाँच आचार केवल नाम, स्थापना, द्रव्यरूप में रहें तो भी मोक्षलक्ष्य की सिद्धि सम्भव नहीं

आशय यह है कि ज्ञान-दर्शन-सुख-शक्तिरूप आत्म-गुणों के प्रतीकरूप ये ज्ञानादि पाँच भावरूप आचार केवल नामरूप में ही जीवन में या मन-मस्तिष्क में रहें या केवल स्थापनारूप में ही शास्त्रों, ग्रन्थों या कागजों पर लिखे रहें अथवा भविष्य में इनका आचारण किये जाने का मनसूबा बाँधा जाये, जिज्ञासु या मुमुक्षु जनता के समक्ष इन पाँचों पर लम्बी-चौड़ी आकर्षक शब्दों में व्याख्या कर दी जाये, इन्हें जीवन में तत्काल क्रियान्वित करने का कोई विचार न किया जाये, तो

---

१. (क) नाणं च दंसणं चेव चरित्तं च तवो तहा।
वीरियं उवओगो य, एयं जीवस्स लक्खणं॥११॥

(ख) नाणं च दंसणं चेव चरित्तं च तवो तहा।
एस (मोक्ख) मग्गुत्ति पन्नत्तो, जिणेहिं वरदंसिहिं॥२॥ *–उत्तरा., अ. २८/११, २*

ऐसी स्थिति में इन पाँचों द्रव्य-आचारों से सर्वकर्मक्षयरूप मोक्षलक्ष्य की सिद्धि नहीं हो सकेगी।[1]

अथवा पंच-आचार को विपरीत रूप में अविधिपूर्वक क्रियान्वित करे तो भी कर्ममुक्तिरूप मोक्षलाभ नहीं

अथवा आचार-यंत्र के आत्मारूपी संचालक को मोहकर्म के कारण अज्ञानता, अविद्या, मोह-मूढ़ता या मिथ्यात्व के वश इन पंचाचार रूप आचार-यंत्र के संचालन का भान ही न हो अथवा देव-गुरु-धर्म-शास्त्र के किंचित् पठन-श्रवण से कदाचित् भान भी हो तो भी भ्रान्ति, अरुचि, अनुत्साह, प्रमाद, विषयासक्ति या देवादि-मूढ़ता, अन्ध-श्रद्धा, अन्ध-विश्वास आदि बाधक कारणों के कारण इनको अपनी भूमिका के अनुसार जीवन में क्रियान्वित या आचरण में परिणत न करे।[2] या किन्हीं नास्तिकों या कुगुरु-कुदेव-कुधर्मों या धर्मध्वजियों, पाखण्डियों के चक्कर में पड़कर इन्हीं पंचाचारों को विपरीत रूप में, अविधिपूर्वक क्रियान्वित करें वह सम्यक्आचार नहीं, मिथ्याचार है।[3]

पंचविध आचार के नाम पर अनाचार में पुरुषार्थ : कैसे-कैसे ?

अथवा ज्ञानाचार के लिए शास्त्रों को घोंट ले, किन्तु उनके अर्थ, रहस्य या तत्त्व का कुछ भी ज्ञान-भान न हो, केवल **'बाबावाक्यं प्रमाणम्'** के अनुसार शास्त्रों को समझ ले, शास्त्रों में विहित सम्यग्ज्ञान का मन-वचन-काया की प्रत्येक प्रवृत्ति में उपयोग न रखे, शास्त्रज्ञ होने का श्रुतमद हो, तो वह ज्ञानाचार ज्ञानानाचाररूप में भी परिणत हो सकता है। इसी प्रकार दर्शनाचार के लिए केवल पंथवादी सम्यक्त्व प्राप्त करके तथाकथित गुरु से देव, गुरु, धर्म, शास्त्र के प्रति श्रद्धा रखने और उनके सिवाय जितने भी विविध नाम के वीतरागी अर्हन्त या सिद्ध (मुक्त) हों, उनके प्रति अथवा उनकी स्व-सम्प्रदायकल्पित रूपकल्पना, वेषकल्पना या चर्याकल्पना के सिवाय इतर सम्प्रदायकल्पित रूप-वेष-चर्या-चरित्र-कल्पना को मिथ्या कहकर उनके प्रति घृणा, द्वेष, विरोध करे; श्रद्धेय गुरु भी अपने सम्प्रदाय-

---

१. (क) णामं ठवणायारो, दव्वायारो य भावमायारो।
एसो खलु आयारे, णिक्खेवो चउव्विहो होई॥५॥
(ख) णाणे दंसण-चरणे, तवे य वीरिये य भावमायारो॥७॥ *–निशीथसूत्र चूर्णि, गा. ५, ७*

२. मोक्ष-साध्य की साधना में यहाँ सक्रिय भाव-आचार ही अभीष्ट, विवक्षित और उपादेय है, नाम-आचार, स्थापना-आचार या द्रव्य-आचार को यहाँ स्थान नहीं है। *–सं.*

३. देखें–'भगवद्गीता' में मिथ्याचार का लक्षण–
कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते॥

मान्य हों। अमुक वेष, अमुक क्रियाकाण्ड या अमुक समाचारी वाले हों, उनके सिवाय. इतर-सम्प्रदाय-मान्य अन्य वेष, अन्य क्रियाकाण्ड या अन्य समाचारी अथवा वेष एक होते हुए भी क्रियाकाण्ड या समाचारी में जरा भी अन्तर हुआ तो उन गुरुओं को अश्रद्धेय मानें, उनके प्रति द्वेष, घृणा, निन्दा या विरोध प्रगट करें; धर्म भी अहिंसा-सत्य आदि आचरणात्मक न मानकर तथाकथित उपासनात्मक या क्रियाकाण्डात्मक माना जाये, मन्दिर, उपाश्रय या धर्मस्थान में जाकर अमुक क्रिया करने को ही धर्म माना जाये अथवा जप, तप, ध्यान आदि साधनाएँ भी प्रायः लौकिक कार्यसिद्धि-प्रयोजन के लिए धर्मनाम से की जाये, साम्प्रदायिक कट्टरता, मजहबी दीवानेपन को धर्म माना जाये, जीवन के समग्र क्षेत्रों में कर्मक्षय की दृष्टि से शुद्ध धर्म को कोई स्थान न दिया जाये, शास्त्र और शास्त्रों के अर्थ में भी अनेकान्तदृष्टि की उपेक्षा करके एकान्तदृष्टि से स्व-सम्प्रदाय-मान्य शास्त्र और उनका अर्थ माना जाये। इस प्रकार का दर्शनाचार वीतरागता या कर्ममुक्ति में साधक न होकर राग-द्वेषवर्द्धक तथा प्रायः कर्मबन्धकारक, कषायवर्द्धक बन जाता है। इसी प्रकार चारित्राचार के नाम पर केवल क्रियाकाण्डों को या साम्प्रदायिक कट्टरता बढ़ाने वाले नियमों को एक ही सम्प्रदाय में अमुक से बोलना, अमुक से नहीं, अमुक से मिलना, शास्त्र पढ़ना या साथ बैठना नहीं, इस प्रकार के संकीर्ण और द्वेष-विरोधवर्द्धक, कर्मबन्धकारक, नियमों, उपासनाओं आदि को चारित्राचार के नाम से चलाने से अचारित्राचार का ही पोषण होता है। इसी प्रकार तपाचार के नाम पर प्रायः बाह्य तप, उपवासादि को ही महत्त्व देना, केवल अज्ञान से शरीर को सुखाना ही तपश्चरण माना जाये, कषायों और राग-द्वेषों के इच्छाओं-वासनाओं-कामनाओं के निरोधरूप वास्तविक तप को तथा सकाम कर्मनिर्जराकारक आभ्यन्तरतप को, प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, ध्यान, व्युत्सर्ग आदि को कोई महत्त्व न दिया जाय, आत्म-शुद्धि को भुलाकर, कर्मक्षय का लक्ष्य विस्मृत करके इहलौकिक-पारलौकिक लाभ या स्वार्थ, प्रशंसा, प्रसिद्धि, कीर्ति आदि की प्राप्ति की दृष्टि से किया गया केवल बाह्यतप कर्मक्षयकारक वास्तविक तपाचार न होकर तपाचार हो जाता है। वैसे ही वीर्याचार के नाम पर अपने-अपने सम्प्रदायों अथवा अपने-अपने पंथों, मार्गों, मतों, सम्प्रदाय-उपसम्प्रदायों आदि की जाहोजलाली, प्रसिद्धि, तरक्की के लिए विभिन्न नामों से धर्मस्थान बनवाने, अन्य संस्थाएँ खड़ी करने आदि में अथवा दूसरे सम्प्रदायों की तरक्की, प्रसिद्धि, प्रचार आदि को रोकने में प्रायः शक्ति लगाई जाये या अपने अनुयायियों में दूसरे पंथ, मत, मार्ग, सम्प्रदाय आदि के अनुयायियों के प्रति कट्टरता, विरोध, असहयोग आदि की दुर्भावना भरने, भड़काने आदि में शक्ति लगाना वीर्याचार के नाम पर राग-द्वेषवर्द्धक आचार हो जाता है। आजकल प्रायः प्रत्येक धर्म-सम्प्रदाय में कट्टरता

और धार्मिक शूरवीरता के नाम पर दूसरे धर्म-सम्प्रदायों से लड़ने-भिड़ने, उन्हें या उनके अनुयायियों को नीचा दिखाने, उनसे ईर्ष्या, द्वेष, वैर-विरोध, कलह, वाद-विवाद करने में, उनकी भर्त्सना करने या उनके साथ मानवता का भी व्यवहार न रखने, उनके आगमों-शास्त्रों को जला देने, फाड़ देने आदि तक का तथाकथित धर्मयुद्ध चलता है। इन हिंसाचारों में शक्ति लगाना वीर्याचार नहीं; कदाचार है, पापाचार है।[१]

पंचविध आचार का पालन केवल वीतरागता-प्राप्ति के लिए करें

पंचविध आचार का पालन किसलिए हो, किसलिए नहीं? इस सम्बन्ध में 'दशवैकालिकसूत्र' में आचार-समाधि के प्रसंग में कहा गया है-"इस लोक की किसी आकांक्षा लाभ या स्वार्थ के लिए आचार का पालन न करे, परलोक की किसी आकांक्षा के लिए आचार-पालन न करे, न ही कीर्ति, प्रशंसा, प्रसिद्धि या प्रतिष्ठा के लिए आचार-पालन करे, किन्तु केवल अर्हत्ता = वीतरागता के हेतुओं से आचार का पालन करे।"[२]

दोषदूषित पंचाचार-पालन से वीतरागतारूप साध्य की सिद्धि नहीं हो सकती

आशय यह है, इन पंचविध आचारों का इहलौकिक या पारलौकिक किसी फलाकांक्षा से, सांसारिक प्रयोजनों से, कामभोगों की प्राप्ति की इच्छा से या किसी अन्य लौकिक स्वार्थ की पूर्ति के लिए पालन किया जाये अथवा इनका पालन यशकीर्ति, प्रशंसा, प्रसिद्धि या प्रतिष्ठा की प्राप्ति की लालसा से किया जाये तो अर्हत्पद-प्राप्ति या वीतरागता-प्राप्ति, कर्मबन्ध के कारणरूप राग-द्वेषादि से मुक्तिरूप लक्ष्य की प्राप्ति नहीं हो सकेगी। अर्थात् ऐसी स्थिति में सर्वकर्ममुक्तिरूप साध्य की प्राप्ति इन दोषदूषित पंचाचारों से नहीं हो सकेगी।

इसके अतिरिक्त अविवेक, गर्व, भय, सांसारिक या वैषयिक लाभ, निदान, संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय, दम्भ, रोष, अबहुमान, शंका, कांक्षा, विचिकित्सा आदि मानसिक दोषों से लिप्त प्रयोजनों से पंचाचार के पालन से भी सर्वकर्मक्षयरूप मोक्ष की प्राप्ति दूरातिदूर होती जायेगी।

पंचाचार-साधना का विशिष्ट उद्देश्य : परमात्म-स्वरूप पाना

पंचविध आचार एक प्रकार की साधना-आराधना है। साधना आत्मा की शुद्धि के लिए, आत्मा में जो अर्हन्त का, सिद्ध परमात्मा का, वीतरागता का स्वरूप

---

१. देखें-समवायांगसूत्र, समवाय ३०, सू. ९७ में महामोहनीय कर्मबन्ध के बोल ३०

२. नो इहलोगट्ठयाए आयारमहिट्ठिज्जा, नो परलोगट्ठयाए आयारमहिट्ठिज्जा, नो कित्ति-वन्न-सद्द-सिलोगट्ठयाए आयारमहिट्ठिज्जा, नन्नत्थ आरहंतेहिं हेऊहिं आयारमहिट्ठिज्जा।

-दशवै., अ. ९, उ. ४, सू. ५

अन्तर्निहित है, उसे पाने के लिए अथवा उसे जाग्रत करने के लिए करनी चाहिए। इसीलिए कहा गया–तन, मन, बुद्धि और इन्द्रियों के कारण ज्ञानादि साधना में जो विकृतियाँ आती हैं, जो इहलौकिक, पारलौकिक, सुखैषणाएँ, भोगलालसाएँ आती हैं, उनको साथ में रखकर पंचाचार की साधना मत कर अथवा पंचाचार-साधना को तोलने के लिए तराजू के दूसरे पलड़े पर पारिवारिक साम्प्रदायिक, जातीय आसक्तियाँ, मानवलोक-स्वर्गलोक के सुख, धनवैभव, यशकीर्ति, प्रतिष्ठा-प्रशंसा आदि के बाँट न रखो। तात्पर्य यह है कि पंचाचार-साधना को तोलने के लिए जीवन की पवित्रता, निश्छलता, सरलता, निर्मलता तथा राग-द्वेषरहितता या राग-द्वेष-कषाय-मन्दता ही होनी चाहिए।[१] तभी वह निष्कलंक, निश्छिद्र एवं निर्दोष आचार हो सकेगा।

ऐसे सम्यक्आचार की क्या आवश्यकता है ? क्या महत्त्व है ?

पौर्वात्य और पाश्चात्य सभी धर्मों-सम्प्रदायों एवं मजहबों ने अपने-अपने ढंग से आचार कों विशेष महत्त्व दिया है। वस्तुतः व्यावहारि क दृष्टि से आचार (सदाचार) व्यक्ति, समाज और राष्ट्र के अभ्युदय का मूलाधार है। समाज और देश की उन्नति और अवनति का मूल कारण सम्यक्आचार और अनाचार है। भगवान महावीर ने द्वादश अंगशास्त्रों का सार आचार को बताया है। आचार्य वेदव्यास, मनु आदि विज्ञों ने स्पष्ट कहा–"**आचारः प्रथमो धर्मः।**" भक्तिमार्गी आचार्यों ने भी कहा–"**आचार-प्रभवो धर्मः।**"–धर्म का प्रभव = प्रादुर्भाव या उत्पत्ति या प्रथम प्रकाश-स्थान 'आचार' है। इसी तथ्य की पुष्टि की है, व्याकरणाचार्य पाणिनि ने। कहना होगा कि आचार = सर्वदोषरहित सम्यक्आचार शुद्ध धर्म का मेरुदण्ड है। आत्मा के द्वारा सर्वकर्ममुक्ति के मूल मार्गरूप रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग के या सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप धर्म के अभ्यास का मुख्य अंग है।[२] 'मनुस्मृति' में आचार-पालन की उपलब्धि बताते हुए कहा गया–"(सत्) आचार से दीर्घायु प्राप्त होती है, सदाचार से श्री, धी, कीर्ति इहलोक-परलोक दोनों में प्राप्त होती है। अन्य वैदिक ऋषियों ने कहा–"सदाचार से विद्या प्राप्त होती है।" 'महाभारत' में भी आचार की महिमा बताते हुए कहा है–"सदाचार से धर्म सफल होता है, आचार से धर्म और धन, श्री और धी दोनों प्राप्त होती हैं।" एक ऋषि ने तो आचार से

---

१. साधना के मूलमंत्र (उपाध्याय अमर मुनि) से भावांश ग्रहण, पृ. २०१

२. (क) 'जैन आचार : सिद्धान्त और स्वरूप' (आचार्य देवेन्द्र मुनि) से भाव ग्रहण, पृ. ३

(ख) अंगाण किं सारो? आयारो। *–आ. निर्युक्ति, गा. १६*

(ग) महाभारत १३/१४९; मनुस्मृति १/२०७

(घ) सवगिमानामाचारः प्रथमं परिकल्प्यते।

(ङ) हरिभक्तिविलास ३/१०

आध्यात्मिक लाभ बताते हुए यहाँ तक कह दिया—"आचार-शुद्धि से सत्त्व-शुद्धि होती है और सत्त्व-शुद्धि से चित्त एकाग्र हो जाता है, चित्त एकाग्र होने के बाद परमात्म-साक्षात्कार या मोक्ष का साक्षात् हो जाता है।" 'मनुस्मृति' में कहा गया है—"सभी प्रकार के तप का मूल आचार है।"[१]

आदर्श सम्यक्आचार ही सर्वकर्ममुक्ति-प्रापक

आचार मुक्तिमहल में प्रवेश करने का भव्यद्वार है। भारतीय संस्कृति में प्रारम्भ से ही आचार शब्द सदाचार का द्योतक रहा है। परन्तु जैनागमों में जिस आचार का कथन किया गया है, वह आत्म-गुणों का अथवा सम्यग्दर्शनादि चतुष्टयरूप मोक्षमार्ग के आचरण में पुरुषार्थ करने का द्योतक है, मोक्षाभिमुख या सर्वकर्ममुक्ति की दिशा में आचरण ही आचार है। इसलिए जिस पंचविध आचरण से सर्वकर्ममुक्ति प्राप्त हो, वही सम्यक्आचार है, वही सम्यक्आचार यहाँ उपादेय है। आशय यह है कि जिस ज्ञानादि के आचरण से यानी सम्यग्ज्ञानादि को जीवन में क्रियान्वित करने से पूर्वबद्ध कर्म-परम्पराएँ नष्ट हों, नये आते हुए कर्मों का निरोध हो, वही आचार यहाँ आदर्श आचार माना गया है। 'सागारधर्मामृत' में कहा है—"अपनी शक्ति अनुसार पवित्र सम्यग्दर्शनादि में जो यत्न किया जाये, उसे आचार कहते हैं।[२]

आचारहीन व्यक्ति आदरणीय नहीं माना जाता

मनुष्य का विचार चाहे जितना उन्नत हो, वह सबके समक्ष तत्त्वज्ञान की ऊँची-ऊँची बातें बघारता हो, किन्तु विचारों के अनुसार आचार सम्यक् न हो तो वह भारतीय जन-जीवन में आदरणीय व्यक्ति नहीं माना जाता। विराट् सम्पत्ति, राजसत्ता, अनेक विद्याओं में पारंगत रावण सदाचारहीन होने से आदरणीय नहीं माना गया, उसे 'राक्षस' जैसे घृणास्पद शब्द से पुकारा गया। दुर्योधन, कंस ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती आदि वैभव-सम्पन्न एवं सत्ताधीश होने के बावजूद अन्याय-अत्याचारमय जीवन होने से आचारहीन और घृणास्पद कहलाये!

---

१. (क) आचाराल्लभते ह्यायुराचाराल्लभते श्रियम्!
आचाराल्लभते कीर्तिं, पुरुषः प्रेत्य चेह च॥ —*मनुस्मृति ४/१५२*

(ख) आचारात् प्राप्यते विद्या।

(ग) आचारात् फलते धर्ममाचारात् फलते धनम्।
आचाराच्छ्रियमाप्नोति आचारो हन्त्यलक्षणम्॥ —*महाभारत अनुशासनपर्व*

(घ) आचारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः, सत्त्वशुद्धौ चित्तैकाग्रता ततः साक्षात्कारः।

(ङ) सर्वस्य तपसो मूलमाचारं जगृहः परम्। —*मनुस्मृति १/११*

२. (क) वीर्याच्छुद्धेषु तेषु .... । —*सागारधर्मामृत ७/३५*

(ख) आचर्यते (मोक्षाभिमुखं आचरणं) इति आचारः।

जो विचार या ज्ञान आचरण में नहीं है, वह बाँझ है, उससे कर्ममुक्ति नहीं हो पाती

इस पर से यह स्पष्ट है कि विचारों का चाहे जितना कच्चा माल मन-मस्तिष्क में भरा हो, जब तक उसे विवेकपूर्वक एकत्रित करके यथास्थान लगाया, जमाया और चलाया नहीं जायेगा, तब तक वह आचाररूप जीवनप्रासाद का रूप नहीं ले सकेगा। कोई कितनी ही विचाररूपी मिट्टी इकट्ठी कर ले, जब तक उसे आचाररूप घट बनाने का पुरुषार्थ नहीं कर लेता, तब तक वह उसे आचाररूप अमृतकलश-सर्वकर्ममुक्ति मन्दिर के शिखर का कलश नहीं बना सकता। आजकल बहुत-से नेता, राजनयिक, साम्प्रदायिक लोग धर्म का आँचल ओढ़कर ऊँचे-ऊँचे विचारों का बहुत प्रचार करते हैं, किन्तु तदनुरूप आचार न होने से उनकी विचारक्रान्ति असफल हो जाती है, अश्रद्धेय बन जाती है। थोथे विचारों से न तो विचारों की शुद्धि होती है और न ही वे विचार राग-द्वेषादिजनित विकारों को ही दूर कर पाते हैं। भगवान महावीर ने कहा–"ऐसे व्यक्ति जो केवल शास्त्रवचनों को, कर्मबन्ध और कर्ममोक्ष के कार्य-कारणमय आश्वासनप्रद वचनों को सुनाते हैं–जनता को केवल भाषण से सन्तुष्ट करते हैं, किन्तु जीवन में आचरित नहीं करते, वे वाणी की शूरवीरता से अपने आप को आश्वासन दे लेते हैं।" उनकी आत्मा कर्मों को मिटाकर शुद्ध और स्वरूप में स्थित नहीं हो सकती।[1] क्योंकि उनके सम्यक्आचारहीन विचार आत्म-शुद्धि नहीं कर पाते, बल्कि वे अहंकारी, प्रपंची, आडम्बरप्रिय और आत्म-वंचक बन जाते हैं। "ऐसे अविद्यावान् व्यक्ति चाहे विभिन्न भाषाओं का ज्ञान कर लें, चाहे वे चित्ताकर्षक मोहक लच्छेदार भाषणों से लोकरंजन कर लें, किन्तु वे भाषण या भाषाएँ उनकी आत्मा का जन्म-मरणादि दुःख प्रदायक कर्मों से रक्षण नहीं कर सकतीं, तब फिर अनेक मंत्र-तंत्र-यंत्र एवं विद्याओं का अनुशासन (शिक्षण-प्रशिक्षण) कैसे उन्हें तार सकता है?" इसीलिए 'महाभारत' में कहा है–"आचारहीन को (अध्ययन किये हुए) वेद भी पवित्र नहीं कर सकते।" वेदों का ज्ञान या विविध विद्याओं या भाषाओं का पठन केवल तोतारटन हो जाता है, आचरण के बिना।[2]

---

१. तुलना करें–

The good man is not he, who know what is good, but who loves it. *–स्वामी विवेकानन्द*

२. (क) 'जैन आचार : सिद्धान्त और स्वरूप' (आचार्य देवेन्द्र मुनि) से भाव ग्रहण, पृ. ४

(ख) भणंता अकरेंता य बंध-मोक्ख-पइण्णिणो।
वाया-विरिय-मेत्तेण समासासेंति अप्पयं॥१०॥

(ग) न चित्ता तायए भासा, कुओ विज्जाणुसासणं।
विसन्ना पावकम्मेहिं बाला पंडियमाणिणो॥११॥ *–उत्तराध्ययन, अ. ६, गा. १०-११*

(घ) आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः। *–महाभारत, अनुशासनपर्व १४९/३७*

केवल पाठ बोलना आचरणहीन तोतारटन है

एक तोते को रटा दिया गया कि बिल्ली आये तो बचकर रहना। इसे वह रटता रहा, न तो उस वाक्य का मतलब समझता था और न ही उसका जीवन में प्रयोग करना जानता था। एक दिन पिंजरा खुला था, वह तोता बोल रहा था- 'बिल्ली आये तो बचकर रहना।' मौका देखकर बिल्ली आ गई और उसने तोते को दबोच लिया।

आचारधर्म : सिर्फ उपासनात्मक न होकर जीवन में आचरणात्मक हो

इसी प्रकार वर्तमान युग के कतिपय साधक सामायिक, प्रतिक्रमण, उपवास आदि बाह्य तप, नाम-स्मरण, स्तोत्र-पाठ, नवकारमंत्र-जाप निर्ग्रन्थ साधु-साध्वियों के दर्शन, भगवद्-भक्ति, प्रवचन-श्रवण आदि उपासनात्मक धर्म के पवित्र अंगों की वर्षों से धर्मक्रिया के रूप में प्रवृत्ति करते हैं। परन्तु एक तो उन सामायिक आदि उपासनात्मक धर्मक्रियाओं के अर्थों को सम्यक् रूप से नहीं समझ पाते, फिर सभी धर्मक्रियाओं का कषायमुक्ति, राग-द्वेषादि विकारों से, कर्मों से छुटकारा पाने का तथा वीतरागता-प्राप्ति का जो उद्देश्य था, उसे प्रायः भूल जाते हैं, इसके अतिरिक्त सामायिक आदि पवित्र धर्मक्रियाओं को अमुक क्षेत्र (उपाश्रय, स्थानक, मन्दिर, मसजिद, गुरुद्वारा, चर्च आदि), अमुक काल, अमुक पंथ-सम्प्रदाय की परम्परा, अमुक जाति या व्यक्ति-विशेष के साथ बाँध देते हैं। फलतः सामायिक आदि का जो उद्देश्य था, वह उपाश्रय आदि अमुक क्षेत्र, प्रातः-सायं या किसी पर्व-तिथि आदि काल अथवा अमुक साधु-साध्वी की उपस्थिति तक या अमुक पंथ-सम्प्रदाय की अथवा जाति की परम्परा तक ही धर्म सीमित हो जाता है उससे बाहर जाते ही घर, दुकान, अमुक समय, अमुक व्यक्ति, अमुक स्थान आदि में वह समता आदि धर्म छूमंतर हो जाता है। जो धर्म जीवनव्यापी था और आचरण में हर समय, हर क्षेत्र और हर व्यक्ति के लिए जीवन में उतारने योग्य था, उस धर्म को आचरणात्मक न रहने का केवल उपासनात्मक और परलोकानुगामी अथवा वृद्धावस्था में आचरणीय बना दिया। इसका मतलब यह नहीं है कि सामायिक, प्रतिक्रमण, पौषध आदि उपासनात्मक धर्म न करना। करना है, परन्तु उस उपासनात्मक धर्म का प्रभाव आत्म-विकासलक्षी, सर्वक्षेत्र-सर्वकालव्यापी और सर्वत्र सम्यक् रूप से आचरणात्मक होना चाहिए। तभी वह सम्यक्आचार धर्म का रूप ले सकेगा और उसके सम्यक् एवं निरतिचार-पालन से कर्ममुक्ति, राग-द्वेषमुक्ति, वीतरागता-प्राप्ति, कषायमुक्ति तथा सर्वदुःखान्तकारिता हो सकेगी। इसलिए सामायिक, पौषध आदि प्रत्येक धर्मक्रिया के साथ अनाचरणीय बातों से दूर रहकर उन्हें सम्यक् रूप से आचरित करने का सन्देश आगमों में दिया गया है।

जैसे तैरने की कला की पुस्तक पढ़ने मात्र से तैरना नहीं आ जाता,[1] विज्ञान की थ्योरी जान लेने मात्र से वैज्ञानिक प्रयोग में सफलता नहीं मिल सकती, पाककला पर लिखी हुई पुस्तक पढ़ने मात्र से पाककला (रसोई बनाने की कला) नहीं आ जाती, इन सबका व्यवस्थित रूप से अभ्यास करने पर पुनः-पुनः आचरण करने पर ये कलाएँ या विद्याएँ हस्तगत होती हैं। इसी प्रकार धर्म या धर्मक्रियाएँ जान लेने या बाह्य रूप से–द्रव्य रूप से कर लेने मात्र से धर्म जीवन में नहीं आ सकता।[2]

धर्म क्या है, क्या नहीं ?

आचार्य कुन्दकुन्द से पूछा गया–धर्म क्या है? तो उस महान् आचार्य ने यह नहीं कहा–अमुक ढंग से, अमुक स्तोत्र पाठ करना, अमुक जाप आदि करना धर्म है ! अमुक प्रकार की वेशभूषा धारण करना या अमुक तरह की क्रियाएँ करना धर्म है ! या अमुक प्रकार से माला फेरना धर्म है, अमुक पंथ या सम्प्रदाय के साधु-साध्वी का दर्शन करना ही धर्म है; अथवा अमुक पंथ या सम्प्रदाय की सम्यक्त्व लेने में धर्म है !

आत्मा का स्व-भाव ही उसका धर्म है

उन्होंने धर्म की बहुत ही सुन्दर और व्यापक परिभाषा बताई–"**वत्थु-सहावो धम्मो**।"–वस्तु का निज-स्वभाव, निज गुण ही धर्म है। जैसे–अग्नि का धर्म तेज है, जलाने पर उष्णता या प्रकाश देना उसका स्वभाव है। अग्नि किसी व्यक्ति, स्थान, काल, सम्प्रदाय या देश-विशेष आदि किसी से प्रतिबद्ध नहीं है। उसे कभी भी, कहीं भी, किसी के भी द्वारा जलाई जाने पर वह अपने स्वभावानुसार उष्णता व प्रकाश देती है। इसी प्रकार आत्मा का जो अपना स्व-भाव–निजी गुण है, वही धर्म है। इस परिभाषा से किसी भी धर्म-सम्प्रदाय का, किसी भी आत्मा का, किसी भी वर्ण, वेष, देश, काल आदि का कोई विरोध नहीं। अपने आप को अधार्मिक या कट्टरपंथी साम्प्रदायिक मानने वाला भी धर्म की इस परिभाषा से अछूता नहीं है। यह आत्म-धर्म है।[3]

---

१. जाणंतोऽवि तरिउं, काइयजोगं न जुंजइ नईए।
सो वुज्झइ सोएणं, एवं नाणी चरणहीणो॥ —*आवश्यकनिर्युक्ति ११५४*

२. (क) 'साधना के मूलमंत्र' से भावांश ग्रहण, पृ. १३९-१४२
(ख) देखें–सामायिक के १० मन के दोष तथा ५ अतिचारों में **सामाइयस्स अणवट्ठियस्स करणयाए** आदि अतिचार तथा पौषध के **पोसहस्स सयं अणणुपालणया** इत्यादि पाठ

३. 'साधना के मूलमंत्र' से भाव ग्रहण, पृ. १४२-१४३

आत्मा के निजी चार गुणों में रमण करने, पर-भावों से विरत और स्वभाव में स्थित होने हेतु पंचाचार हैं

आत्मा के निज गुण या स्वभाव पहले कहे अनुसार ज्ञान, दर्शन, आनन्द और शक्ति है। आत्मा के इस अनन्त चतुष्टयात्मक धर्म गुण अथवा स्वरूप को अपने स्व-भाव (निज गुण) में रखने, पर-भावों से विरत करने और स्वभाव-स्व-स्वरूप में स्थित करने–रमण करने हेतु पंचविध आचार का निर्देश किया गया है।

आत्मा के निजी गुण = स्वभाव में आचरण करना ही धर्म है, पर-भावों में रमण करना नहीं

वस्तुतः स्व-भाव में आचरण ही धर्म है। धर्म आचरण की वस्तु है। वह न तो अहंकार करने की वस्तु है, न अपने धर्माचरण का ढिंढोरा पीटने, दूसरों से ईर्ष्या, घृणा, द्वेष, आसक्ति, मोह, वैर-विरोध करने की वस्तु है। आज के अधिकांश धर्म-सम्प्रदाय के लोग अपने तथाकथित धर्म के लिए दूसरों से लड़ेंगे-भिड़ेंगे, वाद-विवाद एवं पर-निन्दा करेंगे, अपने आप को उच्च कहलाने के लिए दूसरे धर्म-जाति-पंथ वालों को नीचा दिखाने की कोशिश करेंगे, किन्तु अहिंसा-सत्यादि या आत्म-स्वभाव रमणादि धर्म का आचरण नहीं करेंगे। ऐसी स्थिति में आत्मा के स्व-भाव के बदले राग-द्वेष, क्रोधादि कषाय, द्रोह-मोह, ईर्ष्या-घृणा आदि विभावों और पर-भावों में रमण से पापकर्मबन्ध के सिवाय और क्या उपलब्धि होगी? धर्म बीज है, उसे आचरण में लाने से ही फलद्रुप वृक्ष की प्राप्ति होगी। अर्थात् धर्मरूपी बीज को बोने, उसकी सुरक्षा विषय-कषायादि विकारों से करने, उसको शुद्ध आत्म-भावों से सींचने से ही सर्वकर्मक्षयरूप मोक्षफल प्राप्त हो सकता है।

इसी आत्म-धर्म की साधना के लिए ज्ञानादि पंचाचार हैं

यही कारण है कि ज्ञानादि पंच आचार जीवन में आचरण करने, जीवन को ज्ञानादि आचरणमय बनाने एवं ज्ञानादिमय जीवन जीने के लिए बताये गये हैं, ताकि आत्मार्थी एवं मुमुक्षु साधक कर्मबन्ध के कारणभूत कषायों और राग-द्वेष आदि से विरत होकर आत्मा के अपने धर्म में स्थिर हो सके, उसके तन, मन, वचन, बुद्धि, हृदय, इन्द्रियाँ आदि सब आत्म-धर्म की आराधना-साधना में लग सकें।

ऐसे सम्यक्आचार के पाँच प्रकार

अतः भगवान महावीर ने 'स्थानांगसूत्र' में ऐसे सम्यक्आचार के पाँच प्रकार बताये हैं। 'मूलाचार' में भी पंचविध आचार का उल्लेख है। वे इस प्रकार हैं–

(१) ज्ञानाचार, (२) दर्शनाचार, (३) चारित्राचार, (४) तपाचार, और (५) वीर्याचार।[1]

इन्हीं पाँच आचारों को पृथक्-पृथक् समझाने हेतु संख्या-भेद

जैन आगमों में विभिन्न दृष्टियों से आचार के भेद-प्रभेद किये गये हैं। कहीं श्रुतधर्म और चारित्रधर्म के नाम से उसके दो भेद हैं, कहीं सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र के रूप में तीन भेद हैं। 'उत्तराध्ययनसूत्र' में सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्र और सम्यक्तप के रूप में चारों के समन्वित रूप को मोक्षमार्ग कहा गया है। 'स्थानांगसूत्र' में ज्ञानाचार आदि पाँच आचार के रूप में पाँच भेद किये हैं। गहराई से चिन्तन करें तो संख्या-भेद होने पर भी मौलिक एवं सैद्धान्तिक दृष्टि से इनमें कोई अन्तर नहीं है। विभिन्न प्रकार से समझाने के लिए ही ये भेद किये गये हैं। श्रुतधर्म अर्थात् ज्ञान में सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान का और चारित्रधर्म अर्थात् क्रिया में सम्यक्चारित्र का समावेश हो जाता है। इसी प्रकार तप का भी चारित्र में समावेश हो जाता है। आचार के जो पाँच भेद किये गये हैं, उनमें से प्रथम दो का ज्ञान में और अन्तिम तीन का चारित्र में समावेश किया जा सकता है; क्योंकि तप और वीर्य, ये दोनों चारित्र-साधना के अंग हैं। इस प्रकार ज्ञान और क्रिया में, आचार और विचार में सभी भेदों का समावेश किया जा सकता है।[2]

आचार के पाँच भेद आत्मा के चार निजी गुणों को आत्मसात् करने के लिए हैं

परन्तु यहाँ जो आचार के पाँच भेद किये गये हैं, वे आत्मा के निजी चार गुणों को जीवन में आचरित और अभ्यस्त करके उन्हें आत्मसात् करने के लिए हैं। आत्मा ज्ञानमय, दर्शनमय, आनन्दमय और शक्तिमय है, आत्मा के इन चारों गुणों के साथ एकरसता लाने हेतु पृथक्-पृथक् पाँच आचारों का प्ररूपण किया गया है। 'महाप्रत्याख्यान' में कहा गया है–"जिस आचरण से वैराग्य जाग्रत होता है, उसका पूर्ण श्रद्धापूर्वक आचरण करना चाहिए।"[3]

---

१. (क) पंचविहे आयारे पण्णत्ते, तं जहा–णाणायारे, दंसणायारे, चरित्तायारे, तवायारे, वीरियायारे। *–स्थानांगसूत्र, स्था. ५, उ. २, सू. १४७*

(ख) इयाणिं भावायारो भण्णइ। सो य पंचविहो इमो–
नाणे दंसण-चरणे, तवे य विरिये य भावमायारो। *–निशीथभाष्य चूर्णि, गा. ७*

(ग) दंसण-णाण-चरित्ते तवे विरियाचरह्मि पंचविहे।
वोच्छं अदिचारेऽहं कारिदं, अणुमोदिदे अ कदो॥ *–मूलाचार, गा. १९९*

२. 'जैन आचार : सिद्धान्त और स्वरूप' से भाव ग्रहण, पृ. ९८

३. जेण विरागो जायइ, तं तं सव्वायारेण कायव्वं। *–महाप्रत्याख्यान १०६*

चार आचार ही पर्याप्त हैं, पाँचवें वीर्याचार के कथन का क्या प्रयोजन ?

प्रश्न होता है–आत्मा के चार निजी गुणों को जीवन में चरितार्थ करने के लिए तो ज्ञानादि चार आचार ही पर्याप्त हैं, फिर पाँचवें बीर्याचार का विधान किसलिए किया गया है? इसका समाधान 'निशीथभाष्य चूर्णि' में इस प्रकार किया गया है– "आठ प्रकार का ज्ञानाचार, अष्टविध दर्शनाचार, अष्टविध चारित्राचार और बारह प्रकार का तपाचार, ये सब कुल मिलाकर ३६ होते हैं। इन छत्तीस ही आचार-प्रकारों में अपनी कायिक-वाचिक-मानसिक आत्मिक-शक्ति को नहीं छिपाना, जहाँ तक जितना भी आत्मा में उत्थान, कर्म, बल, सामर्थ्य, पराक्रम, उत्साह तथा शक्ति के रूप में वीर्य प्रगट होता है, उसका गोपन नहीं करना चाहिए। यही वीर्याचार का उद्देश्य–प्रयोजन है। आचार्य जिनदास महत्तर के शब्दों में–"वीर्य (शक्ति) को छिपाना नहीं चाहिए। शक्ति (वीर्य) होते हुए दूसरे को (उस कार्य को करने के लिए) आज्ञा नहीं देनी चाहिए।"[१] "संवृत तपस्वीं वीर्य (शक्ति) पाकर कर्मरज को नष्ट करे।" 'उत्तराध्ययन'[२] में यह भगवद्‌वचन है। इसीलिए इन चारों आचारों के बाद वीर्याचार का कथन किया गया है।[३]

'निशीथभाष्य' में भी कहा है–"शक्ति (वीर्य) विहीन व्यक्ति ज्ञान आदि की सम्यक्‌साधना में प्रवृत्त नहीं हो सकता।"[४]

केवल ज्ञानाचार ही मोक्ष के लिए पर्याप्त नहीं, अन्य चार आचार भी अनिवार्य हैं

प्रस्तुत आचार के पाँच भेद करने का एक कारण यह भी रहा है कि कतिपय दर्शन सिर्फ ज्ञान को ही महत्त्व देते हैं। कतिपय एकान्त निश्चय दृष्टिवादी भी इसी मत के प्रायः पक्षधर हैं, उनका कहना है कि एकमात्र आत्मा का ही ज्ञान करना पर्याप्त है, अहिंसादि महाव्रतों का पालन अथवा त्याग, तप, व्रत, नियम, प्रत्याख्यान आदि शरीर से सम्बन्धित होने से शुभ योग हैं, इसलिए उपादेय नहीं हैं। व्यवहारनय अभूतार्थ है।

---

१. न णिण्हवेज्ज वीरियं। संते वीरिए अण्णो न अणाइयव्वो।

२. तवस्सी वीरियं लद्धुं संवुडे निधुणे रयं। *–उत्तरा. ३/११*

३. णाणे दंसण-चरणे तवे य छत्तीसती य भेदेसु।
विरियं ण तु हावेज्जा, सट्ठाणावरोवणा वेंते॥४४॥
अट्ठविहो णाणायारो, दंसणायारो वि अट्ठविहो, चरित्तायारो वि अट्ठविहो, तवायारो बारसविहो, एते समुदिता छत्तीसं भवति। एतेसु छत्तीसईए भेदेसु वीरियं न हावेयव्वं।
वीरियंति वा बलंति वा सामत्थंति वा परक्कमोत्ति वा थामोत्ति वा एगट्ठा। वीरियं णाम शक्तिः।
सति बल-परक्कमे अकरणं गूहणं, ण गूहणं अगूहणं॥४३॥
–निशीथभाष्य चूर्णि, गा. ४४, ४३

४. ण हु वीरिय-परिहीणो पवत्तते णाणमादीसु। *–वही ४८*

इसी प्रकार 'वेदान्तदर्शन'–"सर्वं खल्विदं ब्रह्म, नेह नानास्ति किंचन।"[१]–यह सब एकमात्र ब्रह्म है, नानाविध दिखने वाले कुछ नहीं हैं–जगत् मिथ्या है। अतः एकमात्र ब्रह्मज्ञान कर लेने से ही मुक्ति हो जायेगी। उधर 'सांख्यदर्शन' का भी यह मन्तव्य है–

"पंचविंशति-तत्त्वज्ञो यत्र कुत्राश्रमे रतः।
जटी मुण्डी शिखी वाऽपि मुच्यते, नात्र संशयः॥"

अर्थात् वैदिकधर्म-मान्य चारों आश्रमों में से किसी भी आश्रम में रत हो, वह चाहे जटाधारी हो, मुण्डित हो, चाहे शिखाधारी हो, अगर (सांख्य-योगदर्शन-मान्य) पच्चीस तत्त्वों का ज्ञाता है तो निःसन्देह वह मुक्त हो जाता है।[२]

'उत्तराध्ययनसूत्र' में भी कहा है–"इस (दार्शनिक) जगत् में भी कतिपय व्यक्ति मानते हैं कि पाप का प्रत्याख्यान (त्याग) न करके सिर्फ आर्यधर्म को जानकर ही सर्वदुःखों से मुक्त हो जाता है।" दुर्योधन भी इसी प्रकार कहता था–मैं धर्म के तत्त्व को जानता हूँ परन्तु उसमें मेरी प्रवृत्ति नहीं है, अधर्म को भी जानता हूँ, किन्तु उससे मेरी निवृत्ति नहीं है। किसी हृदयस्थ देव द्वारा जैसे भी प्रेरित या नियुक्त किया जाता हूँ, वैसे करता हूँ।[३] अतः केवल जान लेने मात्र से कर्मों से निवृत्ति नहीं हो सकती, उक्त उपादेयरूप ज्ञात वस्तु के प्रति श्रद्धा, विनय, आचरण तथा तपश्चरण भी आवश्यक है। तभी ज्ञानधर्म सर्वांगीणरूप में जीवन में उतर पाता है। जैसा कि 'स्थानांगसूत्र' में कहा है–"भगवान ने त्रिविधरूप से धर्म को स्वाख्यात कहा है–सम्यक् प्रकार से अध्ययन करना, सम्यक् प्रकार से उसके अर्थ और तत्त्व का ध्यान (चिन्तन) करना और उसके लिए सम्यक्तप करना। जब धर्म सम्यक् प्रकार से अधीत, सम्यक्ध्यात और सम्यक्तपश्चरित हो जाता है, तभी भगवान ने उसे स्वाख्यातधर्म कहा है।"[४] यही आचारधर्म का रहस्य है। इससे स्पष्ट है कि केवल ज्ञानाचार से मोक्षोपाय नहीं होता, बल्कि कोरे ज्ञान से अहंकार और दम्भ बढ़ना संभव है। अतः ज्ञानाचार के अतिरिक्त अन्य चार आचारों का परिपालन करना भी सर्वकर्ममुक्ति के लिए अनिवार्य है।

---

१. वेदान्तसूत्र

२. 'साख्यदर्शन' टीका में उद्धृत श्लोक

३. (क) इहमेके उ मन्नंति अपच्चक्खाय पावगं।
आयरियं विदित्ता णं, सव्वदुक्खा विमुच्चइ॥ –*उत्तरा.* ६/९

(ख) जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिः, जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः।
केनाऽपि देवेन हृदि स्थितेन, यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि॥ –*महाभारत*

४. तिविहे भगवया धम्मे पण्णत्ते, तं.–सुअहिज्झिए, सुज्झाइए, सुतवस्सिए। जया अहिज्झियं भवइ, जया सुज्झाइयं भवइ तया सुतवस्सियं भवइ। से सुअहिज्झिए, सुज्झाइए सुतवस्सिए सुयक्खाएणं भगवया धम्मे पन्नत्ते। –*स्थानांगसूत्र, स्था. ३, उ. ४, सू. २७९*

ज्ञानाचार को ही सर्वाधिक महत्त्व और प्राथमिकता क्यों ?

यद्यपि पंचविध आचारों में ज्ञानाचार का महत्त्व सबसे अधिक है। क्योंकि आत्मा का अभिन्न गुण ज्ञान है, आचारांग आदि शास्त्रों में इसे श्रुतधर्म कहा गया है। दर्शनाचार ज्ञानाचार में समाविष्ट हो जाता है। अब रहा वीर्याचार, वह आत्मिक-शक्ति का ही दूसरा नाम है। शेष रहे चारित्राचार और तपाचार। वर्तमान में कुछ अल्पश्रुतज्ञ महानुभाव इन दो को ही आचार समझ बैठे हैं। वे सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन को इतना महत्त्व नहीं देते। परन्तु शास्त्रों में यत्र-तत्र यह स्पष्ट निर्देश है कि ज्ञान और दर्शन के बिना जो आचार है, वह मिथ्याचार है और जो तप है, वह बालतप। मिथ्याचार एवं बालतप मोक्ष के साधन नहीं हो सकते। ज्ञान के अभाव में थोथा शुष्क क्रियाकाण्ड या कठोर बाह्यतप सम्यक्चारित्र तथा सम्यक्तप नहीं हो सकता। 'दशवैकालिकसूत्र' में स्पष्ट कहा है कि "अज्ञानी आत्मा संयम-असंयम को, श्रेय-अश्रेय को, पुण्य-पाप को या कल्याण-अकल्याण को नहीं जान पाता।"[१] इसलिए चारित्राचार के साथ-साथ वीतरागता-प्राप्ति या सर्वकर्ममुक्तिरूप मोक्ष-प्राप्ति के लिए ज्ञानाचारादि अन्य चार आचारों को जीवन में क्रियान्वित करना अत्यावश्यक है।

'निशीथचूर्णि' में ज्ञानाचार की सर्वप्रथम अनिवार्यता एवं उपयोगिता के लिए कहा है-"सम्यग्ज्ञान के होने पर मुमुक्षु साधक जीव, अजीव, बन्ध, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा और मोक्ष, इन नौ पदार्थों (तत्त्वों) के भलीभाँति हृदयंगम हो जाने पर, इनके सम्यग्ज्ञान से हेय-उपादेय को भलीभाँति जानकर ही साधक चारित्राचार और तपाचार में कर्मक्षय करने की दृष्टि से प्रवृत्त हो सकता है, क्योंकि चारित्र का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है-अज्ञान से उपचित (बद्ध) कर्मचय को रिक्त करना चारित्र है तथा तप का भी निर्वचन किया है-जिससे पापकर्म तपाया जाय, वह तप है।"[२]

---

१. (क) नाणेण विणा न हुंति चरणगुणा।
अगुणिस्स नत्थि मोक्खो ..... ॥ *-उत्तराध्ययन, अ. २८, गा. ३०*

(ख) पढमं नाणं तओ दया, एवं चिट्ठइ सव्वसंजए।
अन्नाणी किं काही, किं वा नाही य सेय-पावणं॥१०॥
जीवाजीवे अयाणंतो कहं सो नाहीह संजमं ?॥१२॥
तया पुण्णं च पावं च बंधं मुक्खं च जाणइ॥१५॥ *-दशवै., अ. ४, गा. १०, १२, १५*

(ग) देखें-'जैन आचार : सिद्धान्त और स्वरूप' में पं. विजय मुनि शास्त्री की प्रस्तावना, पृ. ४१

२. णाणे सुपरिच्छियत्थे, चरण-तव-वीरियं च तत्थेव।
पंचविहं जतो विरियं, तम्हा सव्वेसु अधियारो॥४६॥
जया णाणेण जीवाजीव-बंध-पुण्ण-पावासव-संवर-णिज्जरा-मोक्खो य, एते सुट्ठु परिच्छिन्ना *भवंति, तदा चरणतवा पवत्तंति। अण्णाणोवचियस्स कम्मचयस्स रित्तीकरणं चारित्तं। तप्पते* अण्णेण पावं कम्ममिति तपो। *-निशीथभाष्य चूर्णि, गा. ४६*

सम्यक् पंच-आचारों का प्रयोजन

(१) ज्ञानाचार–ज्ञान से हेय-उपादेय तत्त्व का विवेक होता है, कदाग्रह का अन्त होता है, उससे समभाव-शक्ति और शान्ति बढ़ती है। 'स्थानांगसूत्र' में श्रुत (शास्त्रज्ञान) क्यों सीखा जाता है? इससे उत्तर में कहा गया है–"ज्ञान-वृद्धि के लिए, दर्शन-शुद्धि के लिए, चारित्र-शुद्धि के लिए, कदाग्रह का अन्त करने के लिए तथा यथार्थ भावों को जानने के लिए।"[१] ज्ञानाचार की महत्ता बताते हुए कहा गया है–"अज्ञानी आत्मा जिन पूर्वबद्ध कर्मों को बहु-कोटि वर्षों में क्षय कर पाता है, सम्यग्ज्ञानी उन्हीं कर्मों को सिर्फ एक श्वासोच्छ्वास भर में क्षय कर डालता है।" 'जैनधर्मामृत' में भी इसी तथ्य का समर्थन किया गया है–"अज्ञानी साधक चिरकाल तक तप करते हुए भी अपनी आत्मा को कर्मों से बद्ध कर लेता है, सम्यग्ज्ञानी साधक बाह्यतप न करते हुए भी स्वयं को संयम और तप से आत्म-भावों को भावित करता हुआ कर्मबन्धनों से मुक्त करता रहता है।"[२] जिन लौकिक कार्यों को करते हुए अज्ञानी जीव कर्मों का बन्ध करता रहता है, सम्यग्ज्ञानी जीव उन्हीं कार्यों को करता हुआ कर्मों की निर्जरा कर लेता है।" एक जैनाचार्य कहते हैं–"पापकर्मों से निवृत्ति और कुशल पक्ष (शुभ कर्मों) में प्रवृत्ति तथा विनय की प्राप्ति, ये तीनों ही बातें सम्यग्ज्ञान से सम्पन्न होती हैं।"[३] 'भगवद्गीता' का कथन है–"**ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन !**" –ज्ञानरूपी अग्नि समस्त कर्मों को जलाकर खाक कर देती है। "**नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।**"–इस जगत् में ज्ञान के सदृश कोई पवित्र वस्तु नहीं है। "**ज्ञानान्मोक्षस्ततोऽनन्त-सुख प्राप्तिर्न संशयः।**"–निर्मल ज्ञान से मोक्ष प्राप्त होता है; तत्पश्चात् निःसन्देह *अनन्त सुख की प्राप्ति होती है।*[४]

'उत्तराध्ययनसूत्र' में बताया है–"समग्र ज्ञान के प्रकाश से, अज्ञान और मोह के सर्वथा त्याग से और राग-द्वेष के सम्यक् क्षय से (जीव) एकान्त सुखरूप मोक्ष प्राप्त कर लेता है।"[५]

---

१. पंचहिं ठाणेहिं सुत्तं सिक्खेज्जा तं.–णाणट्ठयाए, दंसणट्ठयाए, चरित्तट्ठयाए, वुग्गह-विमोयणट्ठयाए, अहत्थे वा भावे जाणिस्सामीति कट्टु।

–स्थानांग, स्था. ५, उ. ३, सू. २२४

२. 'जैनधर्मामृत' (पं. हीरालाल शास्त्री), अ. ३ के परिचय से भाव ग्रहण, पृ. १००

३. पावाओ विणिवित्ती, पवत्तणा तह य कुसल पक्खंमि।
विणयस्स य पडिवत्ती तिन्नि वि नाणे समप्पिं ति॥

४. भगवद्गीता, अ. ४, श्लो. ३५, ३८-३९

५. नाणस्स सव्वस्स पगासणाए, अन्नाण-मोहस्स विवज्जणाए।
रोगस्स दोसस्स उ संखए ण, एगंतसोक्खं समुवेइ मोक्खं॥

(२) **दर्शनाचार**–इसके पश्चात् आता है–दर्शनाचार। सम्यग्दर्शन होने पर ही ज्ञान सम्यक् बनता है। दर्शन से देव, गुरु, धर्म और शास्त्र पर श्रद्धा सुदृढ़ होती है। इसलिए श्रद्धा को सुदृढ़ करने और उसका सक्रिय आचरण करने से दर्शनाचार सर्वकर्ममुक्ति का कारण बनता है।

(३) **चारित्राचार**–चारित्राचार इसलिए आवश्यक है कि ज्ञान और दर्शन तो संज्ञी पंचेन्द्रिय, तिर्यंच, देव और अविरत सम्यग्दृष्टि और देशविरत श्रावक में भी हो सकता है, किन्तु चारित्र = सर्वविरितचारित्र द्रव्य से–महाव्रती साधक के होता है, किन्तु भावरूप से सम्यक्चारित्र अन्य गृहस्थों के भी हो सकता है। चारित्र के बिना मोक्ष और निर्वाण सम्भव नहीं है। चारित्र से कषायों और राग-द्वेषादि विभावों को रोकने और क्षय करने की प्रतिरोधात्मक शक्ति प्राप्त होती है, इसलिए चारित्राचार भी आवश्यक है। 'उत्तराध्ययन' में स्पष्ट कहा है–"तदन्तर चारित्राचार के गुणों से युक्त साधक अनुत्तर संयम का पालन करके आस्रवरहित (संवर-सम्पन्न) होकर कर्मों का सम्यक् क्षय करके विपुलोत्तम ध्रुव अचल मोक्षस्थान को प्राप्त कर लेता है।"[१]

(४) **तपाचार**–तपाचार का अन्तर्भाव चारित्राचार में हो जाता है, फिर भी पृथक् बताने का आशय यह है कि बाह्य-आभ्यन्तर तप के बिना कर्मों का अंशतः क्षय (सकामनिर्जरा) नहीं होता और तप के लिए इच्छाओं का निरोध आवश्यक है। सकामनिर्जरा भी तभी हो सकती है, जब कष्टों, उपसर्गों और परीषहों को समभावपूर्वक सहन करने की शक्ति हो। तपश्चर्या से सहन-शक्ति, तितिक्षा और सहिष्णुता बढ़ती है। कषायविजय भी तप से प्राप्त होता है।

(५) **वीर्याचार**–अब रहा वीर्याचार; उसकी आवश्यकता इसलिए है, कई बार मनुष्य में ज्ञान प्राप्त करने, श्रद्धा में दृढ़ रहने की, चारित्र-पालन करने की और बाह्य-आभ्यन्तर तप करने की शक्ति, रुचि, बलवीर्य आदि होते हैं, किन्तु प्रमाद, आलस्य, अनुत्साह, विषाद, अधैर्य, विषयासक्ति की तीव्रता, अष्टविध मद, कषाय, निद्रातिरेक, निन्दारस, विकथा में वृत्ति-प्रवृत्ति आदि होने से वह पराक्रम नहीं कर पाता। वीर्याचार इन सब पूर्वोक्त आचारों में पराक्रम करने की शक्ति (पावर) भरता है, उत्साह और साहस बढ़ाता है। जिससे व्यक्ति के मन में आई हुई हीनभावना, निराशा, अनुत्साह और प्रमादीवृत्ति समाप्त हो जाती है। इसलिए वीर्याचार को पूर्वोक्त चारों आचारों में प्रबल रूप से विधिवत् प्रवृत्त कराने वाला, आत्मा की सुषुप्त शक्ति को जगाने वाला कहा गया है।

---

१. चरित्तमायारगुणन्निए तओ, अणुत्तरं संजम पालियाण।
निरासवे संखवियाण कम्मं, ठवेइ ठाणं विउलुत्तमं धुवं॥

–उत्तराध्ययनसूत्र, अ. २०, गा. ५२

तात्पर्य यह है कि वीर्याचार आत्मार्थी और मुमुक्षु साधक को ज्ञानादि चारों में प्रवृत्त करके अव्यक्त रूप से उसके जीवन को घड़ता है-निर्माण करता है, ताकि बार-बार पूर्वोक्त चारों के अप्रमादपूर्वक अभ्यास से साधक के जीवन में आत्मा के वे निजी गुण रम जाएँ।[1] 'बृहत्कल्पभाष्य' में कहा है-(व्यवहारदृष्टि से) देह का बल ही वीर्य है और बल के अनुसार ही आत्मा में शुभाशुभ भावों का तीव्र-मन्द परिणमन होता है।[2]

अब हम प्रत्येक आचार के निश्चय और व्यवहारदृष्टि से लक्षण बताकर उसके प्रत्येक अंग को जीवन में ओतप्रोत करने की विधि पर प्रकाश डाल रहे हैं।

ज्ञानाचार : स्वरूप तथा ज्ञान-अज्ञान का अन्तर

सर्वप्रथम ज्ञानाचार है। ज्ञान आत्मा का अभिन्न गुण है। ज्ञान भी दो प्रकार का होता है-सम्यग्ज्ञान और मिथ्याज्ञान। यहाँ सम्यग्ज्ञान ही उपादेय है। जिस ज्ञान से आस्रवों अथवा पापकर्मों से विरति हो, रागादि एवं कषायादि विकार नष्ट हों, संवेग, निर्वेद और वैराग्य बढ़े। ज्ञान की सार्थकता आचार में है। ज्ञानाचार का उद्देश्य है-ज्ञान को पचाना, किसी भी वस्तु, व्यक्ति या परिस्थिति को जान-देखकर राग-द्वेष, प्रियता-अप्रियता, हर्ष-शोक, आसक्ति-घृणा, मोह-द्रोह आदि विभावों-पर-भावों को न लाना-केवल ज्ञाता-द्रष्टा बने रहना। ज्ञान को पचाने का मतलब है-ज्ञान पाकर गर्व, प्रमाद, विस्मय, संशय आदि न करना, ज्ञान से देवाधिदेव परमात्मा, सद्गुरु, धर्मात्मा, शास्त्र, तत्त्व आदि भवतारक वस्तु का श्रुतज्ञान होने पर उनके प्रति हृदय में श्रद्धा-भक्ति बहुमान हो, सांसारिक वस्तुओं तथा शरीरादि पर-भावों का ज्ञान बढ़े, परन्तु साथ ही इनके प्रति निर्वेद-वैराग्य में वृद्धि हो, तभी ज्ञान जीवन में आचरित हुआ या पचा हुआ कहा जा सकता है। कहा भी है-"जिस ज्ञान के उत्पन्न होने पर रागादि आन्तरिक वैभाविक दोष फलते-फूलते, चमकते हों, वह ज्ञान नहीं कहलाता, वह अज्ञान है।"[3] 'मरणसमाधि प्रकरण' में कहा है-"ज्ञान और आचरण दोनों की साधना से ही दुःख क्षय होता है।"[4]

ज्ञानाचार के ८ अंग : लक्षण और परिणमन

ज्ञान को पचाने और जीवन में आचरित करने तथा ज्ञानमय जीवन जीने के लिए ज्ञानाचार के ८ अंग बताये गये हैं-(१) काल, (२) विनय, (३) बहुमान, (४) उपधान, (५) अनिह्नवन, (६) व्यंजन, (७) अर्थ, और (८) तदुभय।

---

१. (क) समस्तेतराचार-प्रवर्तक-स्वशक्त्या निगूहनलक्षणं वीर्याचारः।

-प्रवचनसार त. प्र. २०२/२५१

(ख) तस्यैव निश्चय-चतुर्विधाचारस्य रक्षणार्थं स्वशक्त्यानवगूहनं निश्चयवीर्याचारः।

-द्र. सं. टीका ५२/२१९

२. देहबलं खलु विसियं, बलसरिसो चेव होति परिणामो। *-बृ. भा. ३९४८*

३. (क) 'दिव्यदर्शन' के दि. २१-७-९० में प्रकाशित प्रवचन से भाव ग्रहण, पृ. ३१७

(ख) तज्ज्ञानमेव न भवति यस्मिन्नुदिते विभाति रागगणः।

४. नाणेण य करणेण य दोहिं वि दुक्खक्खयं होइ। *-मरणसमाधि प्रकरण १४७*

'मूलाचार' में भी ज्ञानाचार के ये ही आठ अंग बताये गये हैं। ये आठ अंग ज्ञानाचार की शुद्धि के लिए हैं।[१] ज्ञान के ५ भेद हैं—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यायज्ञान और केवलज्ञान। मतिज्ञान और श्रुतज्ञान ये दोनों परोक्षज्ञान हैं, इन्द्रिय-मन-सापेक्ष हैं, शेष तीन ज्ञान अतीन्द्रिय हैं। मतिज्ञान से संसार की प्रत्येक सजीव-निर्जीव वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति का ज्ञान होता है, कुछ इन्द्रियों से होता है, कुछ मन से, कुछ स्मृति, प्रत्यभिज्ञा, उपमान, अनुमान एवं आप्तपुरुषों के द्वारा प्रेरित उपदेश से होता है। मतिज्ञान को आचार रूप में परिणत करने हेतु जो भी, जिस किसी इन्द्रिय या मन-बुद्धि से ज्ञान हो, उसमें तटस्थ ज्ञाता-द्रष्टा या सम रहने का अभ्यास करे, राग-द्वेष का या प्रियता-अप्रियता का भाव न आने दे। यहाँ जो ज्ञानाचार के आठ अंग बताये गये हैं, वे श्रुतज्ञान से सम्बद्ध हैं, वही अध्यात्मज्ञान का स्रोत है। वीतराग-आप्तपुरुषों द्वारा या अतीन्द्रिय ज्ञानियों अथवा वीतरागमार्गानुगामी साधकों द्वारा जो ज्ञान स्वाध्याय के पाँच अंगों या श्रवण-मनन द्वारा प्राप्त होता है, वह श्रुतज्ञान है। ज्ञानाचार में श्रुतज्ञान ही आचरण का विषय है। श्रुतज्ञान का महत्त्वपूर्ण स्रोत आगम या शास्त्र हैं। आगमज्ञान का पठन, श्रवण, वाचन या वाचना देना-लेना कैसे प्रखर और शुद्ध हो, इसके लिए आठ अंग बताये हैं।

(१) सर्वप्रथम अंग है—**काल**। शास्त्रों के स्वाध्याय का जो काल है, उसी काल में स्वाध्याय करना। स्वाध्याय के लिए वर्जित काल (अकाल) या वर्जित परिस्थिति में, निषिद्ध अवसर में स्वाध्याय न करना। जिस प्रकार 'दशवैकालिकसूत्र' में '**काले कालं समायरे**' कहकर प्रत्येक चर्या नियत काल में करना उचित बताया है। जिस प्रकार मंत्रों या विद्याओं की साधना में काल-अकाल का विवेक करना उचित होता है, अन्यथा अकाल में विद्या-साधन उपघातकर होता है। इसी प्रकार काल में स्वाध्याय करना निर्जरा का कारण होता है।[२]

(२) दूसरा अंग है—**विनय**। शास्त्रज्ञान या अध्यात्मज्ञान प्राप्त करने के लिए ज्ञान के प्रति, आगमों, ग्रन्थों या ज्ञान के विविध स्रोतों के प्रति अथवा ज्ञानदाता के प्रति विनय-व्यवहार होना आवश्यक है। ज्ञानदाता से ज्ञान ग्राहक का आसन नीचा, करबद्धता, अंजलि-प्रग्रह, वचन से मधुर वाणी, काया से नम्र चेष्टा आदि होना विनय नम्रता है। गुरु या ज्ञानदाता की या ज्ञान के माध्यमों की आशातना नहीं होनी चाहिए।

---

१. (क) काले विणए बहुमाने, उवधाने तहा अणिण्हवणे।
वंजण-अत्थ-तदुभए अट्ठविधो णाणमायारो॥ —*निशीथभाष्य, गा. ८*

(ख) काले विणए बहुमाणे उवहाणे तहेवाणिण्हवणे।
वंजण-अत्थ-तदुभयं णाणाचारो दु अट्ठविहो॥ —*मूलाचार* २६९

२. जं जंमि होइ काले आयरियव्वं स कालमायारो। वतिरित्तो तु अकालो॥९॥
आहार-विहारादिसु मोक्खधिगारेसु काल-अवकाले।
जइ दिट्ठो तह सुत्ते विज्जाणं साहणे तेव॥११॥ —*नि. भाष्य, गा. ९, ११*

(३) तीसरा अंग है–**बहुमान**। ज्ञान-प्राप्ति के लिए ज्ञानदाता या ज्ञान के स्रोतों के प्रति बहुमान, आदर, सत्कार, भक्ति तथा अनुराग होना चाहिए। 'निशीथचूर्णि' में बहुमान का एक अर्थ यह भी किया है–"ज्ञान-दर्शन-चारित्र-तप एवं भावना आदि गुणों से रंजित साधक का जो रस (रुचि–दिलचस्पी) या प्रीति-प्रतिबन्ध है, वह बहुमान होता है और ज्ञानदाता के आने पर अभ्युत्थान, दण्डग्रहण, पाद-प्रोंछन, आसन-प्रदान तथा अन्य परिचर्या आदि रूप से जो सेवा की जाती है, वह भक्ति है।"[1]

(४) चौथा अंग है–**उपधान**। शास्त्रों के अध्ययन-वाचना आदि के साथ आयंबिल उपवास आदि तप करने का विधान है। उसे उपधान कहते हैं। कालिक, उत्कालिक, अंगसूत्र, उपांगसूत्र के श्रुतस्कन्ध, उद्देशक, अध्ययन, शतक या पद के लिए आगाढ़ और अणागाढ़ के रूप में जिस उपधान का विधान किया है, उसके अनुसार उपधान करने से ज्ञानावरणीय कर्मों की निर्जरा होता है, नये ज्ञानावरणीय कर्म का बन्ध नहीं होता।[2]

(५) पाँचवाँ अंग है–**अनिह्नवन** अर्थात् अगूहन। जिस गुरु, शास्त्र, ग्रन्थ या स्रोत से जो भी ज्ञान प्राप्त हुआ हो, उसका नाम न छिपाना, उसके प्रति कृतज्ञता प्रगट करना। वाचनाचार्य या ज्ञानदाता अथवा ज्ञान के स्रोत का नाम छिपाने से निह्नव कहलाता है। नाम छिपाने से इहलोक में अपयश का भागी, असत्यदोषदूषित तथा इहलोक तथा परलोक में अकल्याणभागी होता है।

(६, ७, ८) **व्यंजन, अर्थ और तदुभय अंग**–सूत्रों में व्यंजनों का परिवर्तन करना व्यंजन दोष है। जैसे '**सव्वं सावज्जं जोगं पच्चक्खामि**' सूत्र का '**सव्वे सावज्जे जोगे पच्चक्खामि**' इस प्रकार पढ़ना, लिखना या उच्चारण करना। अथवा प्राकृत गाथा का संस्कृत में रूपान्तर करना या बिन्दु, अनुस्वार, मात्रा आदि में परिवर्तन करना अथवा सूत्र, अर्थ और सूत्र-अर्थ दोनों में पद, अर्थ तथा आशय में फेरफार करना भी क्रमशः इन तीनों का दोष है। क्योंकि व्यंजनभेद से सूत्र भिन्न हो जाता है, सूत्रभेद से अर्थभेद हो जाता है। अर्थभेद से आचरण या चरण (चारित्र) में भेद (संशय-विपर्यादि) की संभावना है। चारित्रभेद से कर्मनिर्जरा या कर्ममोक्ष नहीं होता। यह तीनों अंगों का प्रयोजन है। शास्त्रों में प्रयुक्त शब्दों का उपहासपूर्वक विपरीत शब्द और विपरीत अर्थ

---

१. अब्भुट्ठाणं डंडग्गह-पायपुंछणासणप्पदाणग्गहणादीहिं सेवा जा सा भत्ती भवति।
णाण-दंसण-चरित्त-तव-भावणादि-गुण-रंजियस्स जोरसो पीति-पडिबंधो सो बहुमाणो भवति॥
–निशीथचूर्णि, गा. १४, पृ. १०

२. तं (उपधाणं) च जत्थ-जत्थ ... उद्देसगे, जत्थ अज्झयणे, जत्थ सुयक्खंधे, जत्थअंगे कालुक्कालिय-अंगाणंगेसु णेया। जं उवधाणं णिव्वीतितादि तं तत्थ तत्थसुते (श्रुते) कायव्वमिति। उद्देसगादी सुतं भणियं तं सव्वं समासओ दुविहं भण्णति–आगाढं अणागाढं वा। आगाढे आगढं उवहाणं कायव्वं, अणागाढे अणागाढं। *–वही, गा. १५*

या आशय व्यक्त करने से भी ज्ञान एवं ज्ञानी की आशातना होती है। अर्थात् वर्ण, पद, वाक्य को शुद्धिपूर्वक पढ़ना, अनेकान्तदृष्टि से शुद्ध अर्थ आशयपूर्वक पढ़ना।

'ज्ञानाचार' के इन आठों ही अंगों का ध्यान रखकर अध्यात्मज्ञान प्राप्त करने से उत्तरोत्तर कर्मनिर्जरा होती है। यह हुआ व्यवहारदृष्टि से ज्ञानाचार का प्रयोग।[1]

निश्चय ज्ञानाचरण का लक्षण

'परमात्मप्रकाश' में निश्चयदृष्टि से ज्ञानाचार का लक्षण यों किया गया है-"उसी निज (आत्म) स्वरूप में संशय, विपर्यय, विमोह, विभ्रम, अनध्यवसायरहित जो स्व-संवेदन ज्ञानरूप ग्राहक बुद्धि सम्यग्ज्ञान है, उसका जो आचरण यानी उस रूप परिणमन (निश्चय) ज्ञानाचार है।" 'द्रव्यसंग्रह टीका' में कहा गया है-"उसी शुद्ध आत्मा को (कर्मादि) उपाधिरहित स्व-संवेदनरूप भेदज्ञान द्वारा मिथ्यात्व-रागादि पर-भावों से भिन्न जानना सम्यग्ज्ञान है, उस सम्यग्ज्ञान में आचरण अर्थात् परिणमन निश्चय ज्ञानाचार है।"[2]

दर्शनाचार : लक्षण और अंग

दर्शनाचार की विशुद्धि के लिए भी आठ अंग बताये हैं-(१) निःशंकित, (२) निष्कांक्षित, (३) निर्विचिकित्सा, (४) अमूढ़दृष्टि, (५) उपबृंहण या उपगूहन, (६) स्थिरीकरण या स्थितिकरण, (७) वात्सल्य, और (८) प्रभावना।

इन्हीं आठ भेदों का उल्लेख 'मूलाचार' में किया गया है। दर्शनाचार का अर्थ यहाँ व्यवहार-सम्यक्त्व का आचरण है। सम्यग्दर्शन व्यवहारदृष्टि से दो प्रकार का है-(१) देव, गुरु और धर्म तथा शास्त्र के प्रति अविचल श्रद्धा, (२) तत्त्वभूत (नौ) पदार्थों के प्रति श्रद्धान। सम्यग्दर्शन को धर्म का मूल माना गया है। दृष्टि शुद्ध होती है, प्रत्येक वस्तु को सम्यक्रूप से ग्रहण कर सकेगा, अगर दृष्टि विकृत, अशुद्ध और एकांगी है तो वह उसे मिथ्यारूप में ग्रहण करेगा। दर्शन (दृष्टि या श्रद्धा) मिथ्या है तो उसका ज्ञान भी मिथ्या होगा। इसीलिए सम्यग्दर्शन को शुद्ध रखने हेतु दर्शनाचार के ये ८ अंग बताये हैं। देव, गुरु, धर्म, शास्त्र, प्रवचन (भगवद्वचन)

---

१. सुत्तं कम्हा वंजणं भण्णति? उच्यते-वंजतित्ति व्यक्तं करोति, जहोदणरसो वंजणसंयोगा व्यक्तो भवति एवं सुत्ता अत्थो वत्तो भवति। एवं वंजणसामत्थातो, वंजणमिति वुच्चते सुत्तं। ... सक्कय-मत्ता-बिन्दू-अक्खर-पय-भेएसु वट्टमाणस्स ... आणाअणवत्थ-मिच्छत्त-विराहणा य भवंति। एवं सुत्तभेओ। सुत्तभेया अत्थभेओ, अत्थभेया चरणभेओ, चरणभेया अमोक्खो, मोक्खाभावा दिक्खादयो ... अफला भवंति। *-निशीथचूर्णि, गा. १७-१८*

२. (क) तत्रैव संशय-विपर्यायानध्यवसाय-रहितत्वेन स्व-संवेदनज्ञानरूपेण ग्राहकबुद्धिः सम्यग्ज्ञानं। तत्र आचरणं परिणमनं ज्ञानाचारः। *-परमात्मप्रकाश ७/१३*

(ख) तस्यैव शुद्धात्मनो निरुपाधि-स्व-संवेदन-लक्षण-भेदज्ञानेन मिथ्यात्व-रागादि-परभावेभ्यः पृथक्-परिच्छेदनं सम्यग्ज्ञानं, तत्राचरणं परिणमनं निश्चयज्ञानाचारः। *-द्रव्यसंग्रह टीका ५२/२१८*

तथा भगवदुक्त तत्त्वों के प्रति जब श्रद्धा, भक्ति, दृष्टि, दर्शन, आस्था शुद्ध और सम्यक् हो जाती है तो वह किसी भी धर्म-सम्प्रदाय का हो, अनेकान्तदृष्टि से, समन्वयवुद्धि, सत्यग्राही दृष्टि एक ही धर्म के विभिन्न उप-सम्प्रदायों में परस्पर पक्षपात, शंका, कांक्षा, विचिकित्सा और मूढ़दृष्टि से सत्य को न देखकर निःशंकतादि की दृष्टि से देखेगा। शंका के यहाँ दो अर्थ हैं–सन्देह और भय। इसी प्रकार कांक्षा के भी दो अर्थ सम्भव हैं–फलाकांक्षा और अन्य धर्म दर्शन के आडम्बरों को देखकर उसकी ओर झुक जाने की वांछा करना। तत्त्वदृष्टि से गुणग्रहण करना दोप नहीं, परन्तु आडम्बर, सुविधा या भौतिक लालसा की दृष्टि से झुकना दोप है। विचिकित्सा के भी दो अर्थ हैं–फल में सन्देह करना या साधु-संतों के प्रति या देव-गुरु-धर्म के प्रति जुगुप्सा या घृणा व्यक्त करना, मूढ़दृष्टि का अर्थ है–सत्यग्राही सम्यक्त्वी का देवमूढ़ता, गुरुमूढ़ता, धर्ममूढ़ता, लोकमूढ़ता आदि में ग्रस्त हो जाना। मूढ़दृष्टि वाला अन्ध-श्रद्धा, मिथ्या दृष्टिकोण एवं कुरूढ़ियों का शिकार हो जाता है। अतः ये चार दोप सम्यग्दर्शन के आचार को दूषित करने वाले होने से त्याज्य हैं। शेष चार अंग सम्यग्दर्शन को व्यावहारिक और सामाजिक दृष्टि से पुष्ट करने वाले हैं। उन्हें अपनाना अनिवार्य है।

निःशंकित आदि सम्यग्दर्शन के ८ अंगों के विषय में 'सम्यक्त्व-संवर' के निवन्ध में हम विशद रूप से लिख आये हैं।

निश्चय दर्शनाचार का लक्षण

निश्चय दर्शनाचार का लक्षण 'परमात्मप्रकाश' में इस प्रकार वताया गया है–"जो चिदानन्द रूप शुद्ध आत्म-तत्त्व है, वही सब प्रकार से आराधन योग्य है, उससे भिन्न जो पर-वस्तु हैं, वे सब त्याज्य हैं। इस प्रकार की दृढ़ प्रतीति या विचलतारहित-निर्मल-अवगाढ़ परम श्रद्धा सम्यग्दर्शन है, उसका जो आचरण-तत्स्वरूप-परिणमन, दर्शनाचार है।" 'द्रव्यसंग्रह टीका' के अनुसार–"(समस्त पर-द्रव्यों से भिन्न) परम चैतन्य विलासरूप लक्षण वाली निज शुद्ध आत्मा ही उपादेय है, ऐसी रुचिरूप सम्यग्दर्शन में जो आचरण यानी परिणमन है, वह निश्चय दर्शनाचार है।"[१]

व्यवहारदृष्टि से चारित्राचार : लक्षण और भेद

सम्यक्चारित्र की शुद्धि के लिए चारित्राचार (व्यवहारदृष्टि से) का कथन किया गया है। चारित्राचार का व्यवहारनय की दृष्टि से अर्थ है–प्रणिधानयोग (शुभ

---

१. (क) सच्चिदानन्दैकस्वभावं शुद्धात्मतत्त्वं .... तदेव सर्वप्रकारोपादेयभूतं, तस्माच्च यदन्यत् तद्धेयम् इति। चल-मलिनावगाढ़-रहितत्वेन निश्चय-श्रद्धानबुद्धिः सम्यक्त्वं, तत्राचरणं परिणमनं दर्शनाचारः। *–परमात्मप्रकाश टीका ७/१३/३*

(ख) परमचैतन्यविलास-लक्षणः स्वशुद्धात्मैवापादेय इति रुचिरूपं सम्यग्दर्शनं, तत्राचरणं परिणमनं निश्चय-दर्शनाचारः। *–द्रव्यसंग्रह टीका ५२/२१८*

अध्यवसाय एवं उपयोग) युक्त समिति-गुप्ति का आचरण। पंचसमितियाँ सम्यक्प्रवृत्तिरूप हैं और तीन गुप्तियाँ निवृत्तिरूप हैं। यों समिति और गुप्ति दोनों ही प्रवृत्ति-निवृत्तिररूप हैं। इसी प्रकार 'मूलाचार' में भी चारित्राचार के इन ८ भेदों के अलावा पंचमहाव्रतों द्वारा चारित्राचार को ५ भेदों वाला भी माना है। इन सबके विषय में हम कर्मविज्ञान के इसी (छठे) भाग में स्वतंत्र निबन्ध के रूप में विवेचन कर आये हैं। व्यवहार चारित्राचार का लक्षण है—मोक्षमार्ग में प्रवृत्ति के कारणभूत पंचमहाव्रत सहित तीन गुप्ति और पंचसमितिरूप सम्यक्चारित्ररूप आचरण चारित्राचार है।

निश्चय चारित्राचार का लक्षण

निश्चय चारित्राचार का लक्षण इस प्रकार 'परमात्मप्रकाश' में अंकित है—उसी शुद्ध स्वरूप में शुभ-अशुभ समस्त विकल्परहित जो नित्यानन्द में निज रस का स्वाद तथा निश्चय अनुभव सम्यक्चारित्र है, उसका आचरण यानी तद्रूप परिणमन (निश्चय) चारित्राचार है। 'द्रव्यसंग्रह टीका' के अनुसार—"उसी शुद्ध आत्मा में, रागादि विकल्परूप उपाधि से रहित स्वाभाविक आत्म-सुखास्वाद से निश्चल चित्त होना वीतराग चारित्र है, उसमें आचरण = परिणमन निश्चय चारित्राचार है।"[१]

तपाचार : लक्षण और भेद

आचार का चतुर्थ भेद **तपाचार** है। जैन आचार-साधना के अनुसार तप का अर्थ केवल काया को कष्ट देना या उपवास ही नहीं है। आत्मा की जिससे शुद्धि हो, आत्मा द्वारा कर्मों को तपाकर बाहर किया जाये, बाह्य और आभ्यन्तर दोनों प्रकार के तपों को जीवन में आचरित करके कर्मनिर्जरा की जाए, यही (व्यवहारदृष्टि से) तपाचार है। तप के मुख्य दो प्रकार हैं—बाह्य और आभ्यन्तर। इन्द्रिय-विषयों की प्राप्ति की, आहार्य पदार्थों के उपभोग की तथा अन्य सुख-सुविधाओं की या लोभादि कषायों से लिप्त इच्छाओं को कम करके, स्वेच्छा से रोकने तथा इनसे निवृत्त करने के लिए दोनों प्रकार के तप आलम्बन हैं। बाह्यतप के छह भेद हैं—(१) अनशन, (२) ऊनोदरी या अवमौदर्य, (३) भिक्षाचरी या वृत्ति-संक्षेप (या वृत्ति-परिसंख्यान), (४) रस-परित्याग, (५) कायक्लेश, और (६) प्रतिसंलीनता। आभ्यन्तरतप के भी छह भेद हैं—(१) प्रायश्चित्त, (२) विनय, (३) वैयावृत्य, (४) स्वाध्याय, (५) ध्यान, और

---

१. (क) पणिधानजोगजुत्तो, पंचहिं समितीहिं तिहिं य गुत्तीहिं।
एस चरित्तायारो, अट्ठविहो होति णायव्वो॥३५॥

(ख) मोक्षमार्ग—प्रवृत्ति-कारण-पंचमहाव्रतोपेतकाय-वाङ्मनोगुप्तीर्य-भाषैषणादाननिक्षेपण-परिष्ठापण-समिति-लक्षण-चारित्राचारः। —*प्रवचनसार त. प्र. २०२/२५०*

(ग) परमात्मप्रकाश टीका ७/१३

(घ) द्रव्यसंग्रह टीका ५२/२१८

(६) व्युत्सर्ग।-इनके आधार से विविध तपश्चरण की साधना से इन्द्रियाँ और मन के निग्रह की क्षमता, साधना में जागरूकता, परस्पर उपग्रह (उपकार) की भावना, आत्म-दमन (नियंत्रण), कषाय-उपशमन की वृत्ति तथा मानसिक एकाग्रता बढ़ती है।[1] तपाचार से आत्मा की पूर्ण शुद्धि तथा कर्मों की निर्जरा से बढ़ते-बढ़ते कर्मों से पूर्णतया मुक्ति प्राप्त होती है। तप के विषय में हमने निर्जरा के सन्दर्भ में पर्याप्त प्रकाश डाला है। निश्चय तपाचार का लक्षण 'परमात्मप्रकाश' के अनुसार है–"उसी परमानन्दस्वरूप में पर-द्रव्य की इच्छा का निरोध कर सहज-आनन्दरूप तपश्चरणस्वरूप परिणमन तपश्चरणाचार है।" 'द्रव्यसंग्रह' के अनुसार–"समस्त पर-द्रव्यों की इच्छा को रोकने से तथा अनशन आदि बाह्यतपरूप बहिरंग सहकारि कारण से जो निज स्वरूप में प्रतपन अर्थात् विजयन निश्चय तपश्चरण है; उसमें जो आचरण यानी परिणमन निश्चय तपश्चरणाचार है।"[2]

वीर्याचार का स्वरूप और कार्य

आचार का पाँचवाँ भेद वीर्याचार है। उसका व्यवहारदृष्टि से लक्षण है–पूर्वोक्त समस्त आचार में प्रवृत्ति कराने वाली स्व-शक्ति का अगोपन तथा अनतिक्रम वीर्याचार है। उसी शुद्धात्मस्वरूप में अपनी शक्ति को प्रकट करके आचरण = तद्रूप परिणमन करना निश्चय वीर्याचार है अथवा पूर्वोक्त चतुर्विध निश्चय-आचार की रक्षा के लिए अपनी शक्ति को न छिपाना निश्चय वीर्याचार है।[3]

पंचविध आचार : सभी वर्गों के लिए पालनीय

इस प्रकार पंचविध आचार सम्यक् रूप से आध्यात्मिक जीवन की घड़ाई करते हैं। जीवन को आध्यात्मिक दिशा में उत्तरोत्तर आगे ले जाते हुए घातिकर्मों का क्षय करके वीतरागता की भूमिका पर स्थिर कर देते हैं। सर्वकर्ममुक्तिरूप मोक्ष के लिए पंचाचार केवल आचार्यों के ही नहीं, समस्त साधुवर्ग तथा श्रावकवर्ग के लिए पालनीय हैं।

● ●

---

१. 'जैन आचार : सिद्धान्त और स्वरूप' से भाव ग्रहण, पृ. १०२

२ (क) तत्रैव परद्रव्येच्छा-निरोधेन सहजानन्दैकरूपेण प्रतपनं तपश्चरणं, तत्राचरणं परिणमनं तपश्चरणाचारः। *–परमात्मप्रकाश टीका ७/१३*

(ख) समस्त-परद्रव्येच्छा-निरोधेन तथैवानशन आदि द्वादश-तपश्चरण-बहिरंग-सहकारिकारणेन च स्वस्वरूपे प्रतपनं विजयनं निश्चयतपश्चरणं, तत्राचरणं = परिणमनं निश्चयतपश्चरणाचारः। *–द्रव्यसंग्रह टीका ५२/२१९*

३. (क) 'जैन आचार : सिद्धान्त और स्वरूप' से भाव ग्रहण

(ख) परमात्मप्रकाश टीका ७/१४

(ग) द्रव्यसंग्रह टीका ५२/२१९

१४

मोक्ष के निकट पहुँचाने वाला उपकारी समाधिमरण

जीवन और मरण दोनों साथ-साथ चलते हैं

जीवन और मरण दोनों प्रत्येक सांसारिक प्राणी के साथ लगे हुए हैं। जहाँ जीवन है, वहाँ मरण भी अवश्य है। जिस सूर्य का प्रभात में उदय होता है, वह सन्ध्याकाल में अन्त भी होता है। जीवन के बाद मरण है, तो मरण के बाद फिर जीवन भी है। इसलिए जीवन और मरण में भेद-रेखा खींचना बहुत ही कठिन है। भगवान महावीर की अनुभवी आँखों ने यह स्पष्ट प्रतिपादित किया है- 'आवीचिमरण' के नाम से। जिस प्रकार समुद्र में एक लहर के समाप्त होने के साथ-साथ दूसरी लहर उत्पन्न होती है, फिर दूसरी के समाप्त होने के साथ-साथ तीसरी लहर पैदा होती है। इसी प्रकार प्राणी के जीवन और मरण की लहरें चलती रहती हैं। दूसरे शब्दों में कहें तो–जीवन के साथ-साथ मृत्यु भी चल रही है। जीवन मरण को छोड़कर नहीं चलता, इसी प्रकार मरण भी जीवन को छोड़कर नहीं चलता। दोनों साथ-साथ चल रहे हैं–जिन्दगी और मौत भी।

प्रतिक्षण होने वाले द्रव्य-भावमरण के प्रवाह में मत बहो

तात्त्विक दृष्टि से देखा जाए तो प्रतिक्षण आयुष्य के क्षण घटते रहते हैं, यानी जीव मरता जाता है। नीतिकार कहते हैं–"जिस रात्रि को जीव माँ के गर्भ में आता है, उसी दिन से अविच्छिन्न गति से वह मृत्यु की ओर प्रयाण करता जाता है।"[1] अर्थात् जिस क्षण में जीव ने इस जन्म में जीना शुरू किया है, उसी क्षण से उसने मरना भी प्रारम्भ कर दिया है। यदि व्यक्ति १०० वर्ष जीता है तो साथ-साथ सौ वर्ष मरता भी है। अज्ञानी पुरुष इस प्रतिक्षण भावमरण के समय जाग्रत नहीं रहता, वह इस भावमरण के प्रवाह में बह जाता है, जबकि ज्ञानी पुरुष प्रतिक्षण होने वाले इस भावमरण के समय सतर्क होकर ज्ञान-बल से इसे रोक लेता है। इसी तथ्य की ओर मोक्षमाला में श्रीमद् राजचन्द्र जी ने अंगुलि-निर्देश किया है–

"क्षण-क्षण भयंकर भावमरणे का अहो राची रहो?"

---

१. यामेव रात्रिं प्रथमामुपैति, गर्भे निवासी नरवीरलोकः।
ततः प्रभृत्यस्खलित-प्रयाणः, स प्रत्यहं मृत्यु समीपमेति॥ *–हितोपदेश*

–हे भव्य जीवो ! प्रतिक्षण होने वाले इस भावमरण के प्रवाह में क्यों बह जाते हो? ज्ञान-साधक तो इस प्रतिक्षणवर्ती भावमरण से बचकर उस पर विजय पा लेता है। वह तो श्वासोच्छ्वास के साथ प्रतिक्षण होने वाले द्रव्यमरण के समय भी सावधान रहता है। वह उसे कोई भी चांस नहीं देता कि द्रव्यमरण उसे पराजित कर दे, उस पर हावी हो जाए। 'चन्द्रवेध्यक प्रकीर्णक' में इसी तथ्य को स्पष्ट रूप से समझाते हुए कहा गया है–"मोक्षमार्ग में लीन (वे साधक) धन्य हैं, जो निरन्तर सद्गुणों (आत्मा के निजी गुणों) में रमण करते हैं तथा इस लोक एवं परलोक में तथा जीवन और मरण (के सम्बन्ध) में सदा अप्रतिबद्ध रहते हैं।"[१]

जीवन के दर्शन की तरह मरण के दर्शन को भी गहराई से समझो

अतः पूर्वोक्त आवीचिमरण (प्रतिक्षण मरण = नित्य मरण) हो या तद्भव-मरण (इस भव में प्राप्त शरीर का छूटना) मृत्यु के इन दोनों प्रकारों में जीवन और मरण दोनों को साथ-साथ ही समझना चाहिए। सम्यग्दृष्टि साधक के लिए यह आवश्यक है कि जितनी गहराई से वह जीवन के दर्शन को समझता है, उतनी ही गहराई से मृत्यु के दर्शन को समझना आवश्यक है। दोनों अन्योन्याश्रित हैं, इसलिए दोनों को साथ-साथ समझना अनिवार्य है।

मृत्यु के बिना जीवन की कोई मूल्यवत्ता नहीं है

वैसे देखा जाए तो जीवनरूपी सरिता के दो किनारे हैं–एक है जन्म तो दूसरा है मृत्यु। जन्म जीवनरूपी पुस्तक का प्रथम पृष्ठ है तो मरण उसका अन्तिम पृष्ठ है। मृत्यु के विना जीवन का कोई महत्त्व नहीं है। जैसे रात के बिना दिन की, अन्धकार के बिना प्रकाश की, दुःख के बिना सुख की, रोग के बिना दवा की, पूर्ण विराम के बिना वाक्य-रचना की कोई उपयोगिता या महत्ता नहीं है, उसी प्रकार मृत्यु के बिना जीने की, जीवन-सुख की क्या उपयोगिता या मूल्यवत्ता है? जिस प्रकार नींद और जागरण, श्वास और उच्छ्वास दोनों के मिलने से शरीर का व्यापार ठीक चलता है; आरोह और अवरोह दोनों मिलकर संगीत के स्वरों को प्राणवान् बनाते हैं, उन्मेष (नेत्रों को खोलना) और निमेष (पलक झपकना) दोनों के मिलने से ही अवलोकन की क्रिया पूर्ण होती है; प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों मिलकर ही चारित्र की साधना कहलाती है, कृष्णपक्ष और शुक्लपक्ष दोनों मिलकर ही 'मास' कहलाता है, इसी प्रकार जन्म और मरण दोनों मिलकर ही जीवन पूर्ण बनता है।[२] अतः यह सत्य है कि जन्म और मृत्यु का या जीवन और मरण का युगल है, जोड़ा है, जीवन की पूर्णता का। तात्पर्य यह है कि जीवन के दर्शन को

---

१. धन्ना अविरहियगुणा विहरंति मोक्खमग्गम्मि लीणा।
इह य परत्थ य लोए, जीविय-मरणे अपडिबद्धा॥ –*चंदावेज्झयं पइण्णयं, गा. १४८*

२. 'जीवन की अन्तिम मुस्कान' (उपाध्याय श्री केवल मुनि जी) से भाव ग्रहण, पृ. ३-४

छोड़कर मृत्यु के दर्शन को नहीं समझा जा सकता; तथैव मृत्यु के दर्शन को छोड़कर भी जीवन के दर्शन को नहीं समझा जा सकता।[१]

जीवन को सुखद बनाने का जितना ध्यान है, उसका शतांश भी मृत्यु का नहीं

परन्तु अफसोस है कि आज के अधिकांश मानव-जीवन के बारे में जितना सोचते-समझते हैं, उतना, उसका शतांश भी मृत्यु की असलियत के बारे में सोचते-समझते नहीं हैं। सच कहें तो जीवन के लिए वैदिक ऋषि की तरह अधिकांश मानव सोचते हैं–"**मैं सौ वर्ष तक सुख से जीऊँ।**"[२] जीवन के अथ से इति तक व्यक्ति प्रायः यही सोचता रहता है–जीवन को येन-केन-प्रकारेण आनन्द और उल्लास के साथ बिताऊँ। मेरे जीवन में कभी कोई विपत्ति, कष्ट या संकट न आए, जीवन को सुखद बनाने के लिए भोगोपभोग के साधन अधिकाधिक जुटाऊँ। दीर्घकाल तक सुख से जीने की इच्छा को मूर्तरूप देने के लिए मनुष्य ने भव्य भवन, उद्यान, ग्राम, नगरों आदि का निर्माण किया; शरीर का कभी वियोग न हो, वह सदैव सुखोपभोग में रत रहे, इसके लिए विविध प्रकार के खाद्य-पेय पदार्थ, औषध, इंजेक्शन आदि जुटाए, मनोरंजन के लिए साहित्य, संगीत, नाटक, वाद्य, चलचित्र, रेडियो, टी. वी., टेलीफोन आदि साधनों का बेखटके उपयोग करने लगा। यात्रा के लिए द्रुतगामी विविध वाहनों का उपयोग धड़ल्ले से करने लगा। इन सब का उपयोग और उपभोग करते समय भी उन मनुष्यों के मन में यह विचार प्रायः नहीं आता कि हमें एक दिन इन सब को, यहाँ तक कि शरीर, इन्द्रियों, स्वजन-परिजनों आदि सबको छोड़कर जाना पड़ेगा। बल्कि वह सुखपूर्वक जीने का ही रंगीन स्वप्न देखता रहता है।

जीवन सबको प्रिय है, मृत्यु नहीं : क्यों और किसलिए ?

शास्त्रकारों के अनुभवपूत वाक्य भी इसी तथ्य को पुष्ट करते हैं–"**सबको जीवन प्रिय है।**" "**सभी जीव जीना चाहते हैं, मरना कोई नहीं चाहता।**"[३] मरने का नाम सुनते ही व्यक्ति घबराता है। किसी को यह कहा जाय कि 'मर जाओ', तब बहुत बुरा लगता है; 'जिन्दा रहो', 'जीते रहो', यह शब्द सबको प्रिय लगता है। जो लोग स्थूलदृष्टि वाले हैं, उनको मृत्यु शब्द के पीछे जो अच्छाई है, वह समझ में नहीं आती, उन्हें अपने शरीर, स्व-जन, धन तथा सभी साधनों के प्रति अत्यन्त मोह होता है, जो नाशवान् हैं, पर-पदार्थ हैं, एक दिन अवश्य छूटने वाले हैं, उनके

---

१. 'जैन आचार : सिद्धान्त और स्वरूप' (आचार्य देवेन्द्र मुनि) से भाव ग्रहण, पृ. ६८९

२. जीवेम शरदः शतम्। *–यजुर्वेद ३६/२४*

३. (क) सव्वेसिं जीवियं पियं। *–आचारांग, श्रु. १, अ. २, उ. ३*

(ख) सव्वे जीवावि इच्छंति जीविउं, न मरिज्जिउं। *–दशवैकालिक ६/१०*

प्रति आसक्ति एवं ममता के कारण उनके वियोग का बहुत दुःख होता है। परन्तु मृत्यु के सुखद, स्वाभाविक होने के दर्शन को न जानने-समझने के कारण मृत्यु का नाम सुनते ही मूढ़तावश वे रोने-चिल्लाने और विलाप करने लग जाते हैं। मृत्यु का नाम ही सुनना नहीं चाहते। अधिकांश अविवेकी मानव यह जानते-मानते हैं कि मृत्यु बहुत ही भयंकर है। सांसारिक विवेक मूढ़ व्यक्तियों की इसी वृत्ति को देखकर कहा गया कि सात प्रकार के भयों में से-"**मरण-समं नत्थि भयं।**"-मृत्य के समान कोई भय नहीं है।

मृत्यु के पीछे जो अच्छाई है, उसे भी समझो

परन्तु भगवान महावीर ने मृत्यु के पीछे जो अच्छाई है, उसे ग्रहण किया। जगत् के लोगों को भी उन्होंने यही सन्देश दिया कि "साधक जीने की भी आसक्तिपूर्ण इच्छा न रखे और न ही रोगादि से घबराकर शीघ्र मृत्यु की आकांक्षा करे। वह जीवन और मरण दोनों विकल्पों से मुक्त होकर अनासक्त बनकर रहे।"[1] भगवान महावीर के जीवन में अनेक मरणान्तक उपसर्ग आए, जिनमें साक्षात् मौत खड़ी थी, फिर भी वे मृत्यु से नहीं घबराए, जीवन और मरण में सम रहे।"

भगवान महावीर का समवसरण लगा हुआ था। राजा श्रेणिक आदि कई विशिष्ट व्यक्ति उपस्थित थे। उसी समय एक व्यक्ति आया और उसने राजा श्रेणिक से कहा-"जीते रहो।" भगवान महावीर से कहा-"मर जाओ।" यह सुनकर राजा श्रेणिक ने मन ही मन रोषादिष्ट होकर भगवान से पूछा-"भंते ! इस असम्बद्ध प्रलाप का अर्थ क्या है?" भगवान ने कहा-"वह ठीक ही कह रहा है।" श्रेणिक ने पूछा-"भंते ! यह कैसे?" भगवान बोले-"तुम्हें जीना प्रिय लगता है। परन्तु तुमने अभी तक सकाम जीवन नहीं जिया। समाधिमरण के अनुरूप जीवन नहीं जिया। इसलिए यह कह रहा है-समाधिमरण की तैयारी न होने से अभी तुम्हारा जीना ठीक है। मुझे मरने का कहने के पीछे इसका अभिप्राय है कि आप क्यों इस शरीरादि या जन्म-मरण के कारागृह में फँसे हैं? आप जितनी जल्दी इससे छूटेंगे (मरेंगे) उतनी ही जल्दी आपकी मुक्ति है।" श्रेणिक नृप के मन का समाधान हो गया।[2]

मृत्यु का आगमन निश्चित है

यह तो सबका अनुभव है कि मृत्यु एक न एक दिन अवश्य ही आएगी। 'भगवद्गीता' में भी कहा है-"जो जन्मा है, उसकी मृत्यु निश्चित है और जो मरता है, उसका पुनः जन्म (जब तक समस्त कर्म नष्ट न हो जाएँ तब तक) भी

---

१. जीवियं नाभिकंखेज्जा, मरणं नाभिपत्थए।
   दुहओ वि न सज्जिज्जा, जीविए मरणे तहा॥ *-आचारांग, श्रु. १, अ. ८, उ. ८, सू. ४*

२. 'जैनधर्म : अर्हत् और अर्हताएँ' (आचार्य महाप्रज्ञ) से भाव ग्रहण, पृ. ७८

निश्चित है।" जन्म-मरण का यह ताँता जब तक सर्वकर्ममुक्ति न हो जाए, तब तक लगा रहेगा। "मृत्यु का आगमन निश्चित है।"[१] कर्मबद्ध मानव चाहे जितना प्रयत्न कर ले मृत्यु से बच नहीं सकता। काल एक ऐसा जुलाहा है, जो जीवन के ताने के साथ मरण का बाना भी बुनता रहता है। रात और दिन के चक्र की तरह मृत्यु और जन्म का चक्र अबाध गति से चलता है। कोई व्यक्ति धन-बल, तन-बल, सत्ता-बल और जन-बल के आधार पर चाहे कि मैं मृत्यु से बच जाऊँ, यह असम्भव है। "चन्द्रवेध्यक प्रकरण' में कहा है–मृत्यु के समय अश्व-बल, गज-बल, योद्धा-बल, धनुष्य-बल या रथ-बल मनुष्य के लिए कोई आलम्बनरूप नहीं होता।"[२] आयुष्य के कण समाप्त होते ही काल (मृत्यु) अवश्य ही आ धमकेगा। एक पाश्चात्य विचारक ने भी कहा है–

"Nothing is sure than death."

–मृत्यु से बढ़कर सुनिश्चित कुछ भी नहीं है। मृत्यु कब आएगी? इसका ज्ञान सबको नहीं होता, किन्तु मृत्यु एक दिन अवश्य आएगी, इसमें रत्तीभर भी शंका की गुंजाइश नहीं है।

सम्यग्दृष्टि ज्ञानी मृत्यु से घबराते नहीं

जो व्यक्ति सांसारिक सुखभोगों में, शारीरिक सुख-सुविधाओं में गले तक डूबे रहते हैं, वे शरीरमोही अद्रष्टा व्यक्ति मृत्यु के बारे में सोचते ही कहाँ हैं? रात-दिन सौ वर्ष तक जीने का सामान जुटाने में अपनी सारी सुध-बुध खोये हुए हैं। किन्तु सम्यग्दृष्टि ज्ञानवान् व्यक्ति जीवन भी शानदार ढंग से जीते हैं और मृत्यु का वरण भी शानदार ढंग से करते हैं। वे मृत्यु से घबराते नहीं हैं। मृत्यु का भी हँसते-हँसते स्वागत करते हैं। वे अपनी आत्मिक-शक्तियों को इस प्रकार तेजस्वी बना लेते हैं कि आत्मा अपने स्वरूप में सोलह कलाओं से निखरने लगती है; वह जब कर्मबन्धनों से मुक्त हो जाती है, तब मृत्यु को भी जीत लेती है, अमर बन जाती है।

मृत्यु से भयभीत होने का कारण

मृत्यु से भयभीत होने का कारण यह है कि अधिकांश व्यक्तियों का ध्यान जीवन पर तो केन्द्रित रहता है, पर वे मृत्यु के सम्बन्ध में सोचने में कभी दिलचस्पी नहीं लेते। उनका प्रबल पुरुषार्थ जीने के लिए होता है। जीने की महत्त्वाकांक्षा में वे जिंदगीभर उखाड़-पछाड़ करते रहते हैं, पर कभी यह नहीं सोचते कि मौत कभी

---

१. (क) जातएय हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म-मृतस्य च। *–भगवद्गीता*

(ख) नाणागमो मच्चु मुहस्स अत्थि। *–आचारांग, श्रु. १, अ. ४, उ. २*

२. *आसबलं हत्थिबलं जोहबलं धणुबलं रहबलं वा।*
पुरिसस्स मरणकाले न होंति आलंबणं किंचि॥ ***–चंदावेज्झयं पँइण्णयं १६१***

भी उन्हें उठा ले जा सकती है। उनके सभी मनसूबों को वह धूल में मिला देगी। उन्होंने जीवन-पट को विस्तार से फैला रखा है, किन्तु उस पट को समेटने की रुचि नहीं है और कला भी नहीं आती।

जीवनकला की तरह मृत्युकला में पारंगत ही सच्चा कलाकार

भगवान महावीर जैसे मूर्धन्य पारगामी वस्तुतत्त्व-द्रष्टाओं ने जैसे जीवन को एक कला कहा है, वैसे मृत्यु को भी एक कला माना है। जो व्यक्ति जीवन और मरण दोनों कलाओं में पारंगत हैं, वही सच्चा और सफल कलाकार है। भारतीय संस्कृति का वज्र आघोष है कि मानव-जीवन में जीवन और मरण का खेल अनन्त काल से चल रहा है। सच्चा खिलाड़ी वह है जो इस खेल को कलात्मक ढंग से खेलता है। जो जीवन के खेल को विवेकपूर्ण कलात्मक ढंग से खेलता है, वह मरने के खेल को भी वीरतापूर्वक खेलता है। जिस साधक ने जीवनकला के साथ-साथ मृत्युकला का भी सम्यक्-प्रकार से अध्ययन और अभ्यास किया है, वह न तो जीवन में आने वाले विविध झंझावातों से झिझकता है और न ही मृत्यु से डरता है। मृत्यु आ भी जाए तो वह हँसते, मुस्कराते उसका स्वागत करता है। बिना किसी उद्विग्नता, खिन्नता या अशान्ति के वह प्राणों का त्याग करता है।

जिसके पास धर्म पाथेय है, वह मोक्षयात्री मृत्यु से घबराता नहीं, प्रसन्न होता है

जिस यात्री के पास पाथेय होता है, वह निश्चिन्तता के साथ मार्ग को तय करता हुआ मंजिल तक पहुँच जाता है, उसी प्रकार जिस मोक्षयात्री के पास रत्नत्रयरूप धर्म का पाथेय है, वह निश्चित और निर्भय होकर मोक्ष-पथ को पार करता हुआ शीघ्र ही मंजिल (मोक्ष) तक सकुशल पहुँच जाता है। जिस साधक ने जीवनकला के साथ-साथ शान्ति, समाधि, समता और बोधि का अभ्यास किया है, उसे मृत्युकला कठिन नहीं लगती, वह मृत्यु से भयभीत, त्रस्त और उद्विग्न नहीं होता।[1] 'आतुर-प्रत्याख्यान' के अनुसार–उसकी अन्तरात्मा का नाद होता है–"मैंने सद्गति का मार्ग ग्रहण किया है (अर्थात् धर्म की आराधना और संयम की साधना की है), इसलिए अब मुझे मृत्यु से भय नहीं है। मेरे लिए मृत्यु विषाद का नहीं, आह्लाद का कारण है।"[2] 'मृत्युमहोत्सव' में स्पष्ट बताया है–"जिन मनुष्यों का चित्त संसार में आसक्त है, उनके लिए मृत्यु भीति का कारण है, जिसका चित्त ज्ञान

---

१. तुलना करें–

मृत्युमार्गे प्रवृत्तस्य वीतरागोददातु मे।
समाधि-बोधि-पाथेयं यावन्मुक्तिपुरी पुरः। –*मृत्युमहोत्सव, गा. १*

२. गहिओ सुग्गइ-मग्गो नाऽहं मरणस्स बीहेमि। –*आतुर-प्रत्याख्यान, गा. ६३*

और वैराग्य से सुवासित है, उनके लिए मृत्यु मोद का कारण है।"[१] भगवान महावीर का उपदेश सुनकर विरक्त बालक अतिमुक्तककुमार ने अपने माता-पिता से यही कहा था—"हे माता-पिता ! मैं जानता हूँ कि जिसने जन्म लिया है, उसे एक दिन अवश्य ही मरना है। परन्तु कब मरना है, यह मैं नहीं जानता।"

मृत्यु की बात को टालने या भूलने से मृत्यु टल नहीं सकती

किसी पर कर्ज चढ़ा हुआ है, वह अगर कर्ज की बात को भूलने का प्रयास करे या उसका स्मरण भी न करना चाहे, इससे कर्ज टलता नहीं, इसी प्रकार मनुष्य अपने मरने की बात को टालना या भूलना चाहे, इससे मरण टल नहीं सकता। कर्ज और मौत दोनों की यात्रा दिन-रात चलती ही रहती है। अतः मरण का स्मरण टालने से मनुष्य ने खोया ही है, कमाया नहीं है। अगर उत्कट रीति से मरण का विचार या दर्शन जागृतिपूर्वक आत्म-शुद्धि की दृष्टि से किया जाए तो मनुष्य बहुत-सी गलतियों, अपराधों, दोषों और भूलों से बच सकता है, उसके आत्म-विश्वास और निर्भयता में वृद्धि हो सकती है। वह अपने जीवन को व्यर्थ की बातों में, पापकर्मों में, दुष्कर्मों में, हिंसादि या कषायादि विकारों में बर्बाद नहीं करेगा। मनुष्य-जीवन को कृतार्थ बनाने में उसे सफलता मिलेगी। अतः जब मरण अनिवार्य है, तब उसी को हम अपने जीवन का पहरेदार क्यों न बनावें ?

मृत्यु के प्रति भीति या भ्रान्ति दोनों जीवन के प्रति आसक्ति और मोह बढ़ाती हैं

कुछ लोगों का तर्क है—जीवन के अन्त में मरण तो आने वाला है ही। फिर अभी से उसका स्मरण करके हम जीवन जीने का आनन्द किरकिरा क्यों करें ? अधिकांश जीवनमोही व्यक्तियों की प्रायः यही वृत्ति होती है। इससे सबसे बड़ी हानि यह होती है कि ऐसे जीवनमोही मनुष्य मरण को पहचान नहीं पाते और मृत्यु के प्रति उसका भय मुख्यतया तीन कारणों से दिन-ब-दिन बढ़ता जाता है—(१) मृत्यु के सम्बन्ध में गलत धारणा, (२) जीवन के प्रति तथा शरीर और शरीर से सम्बद्ध सजीव-निर्जीव पदार्थों के प्रति आसक्ति और जीने का व्यामोह, (३) अगले जन्म के लिए सुगति का या शुभ कर्मों का अभाव अथवा संवर-निर्जरा द्वारा कर्मों से या जन्म-मरणादि से सर्वथा मुक्त होने के प्रयत्न का अभाव।

जीवन एक यात्रा है। आज मानव-यात्री मानव-जीवनरूपी स्टेशन पर रुका है। यात्रा अभी पूरी नहीं हुई है। प्लेटफार्म या धर्मशाला विश्राम-स्थल है, घर नहीं। आज या कल आगे के लिए प्रस्थान करना है। यह प्रस्थान ही मृत्यु है। जैसे यात्री को प्रस्थान से डर नहीं, तो फिर प्राणी को मृत्युरूपी प्रस्थान से डर क्यों ?

१. संसारासक्त चित्तानां मृत्युर्भीत्यै भवेन्नृणाम्।
मोदायते पुनः सोऽपि ज्ञान-वैराग्य-वासिनाम्। —*मृत्युमहोत्सव, गा. १०*

मृत्यु शान्तिदात्री, दयालु, महानिद्रा और नवजीवनदायिनी है, उससे डर कैसा ?

मरण के सम्बन्ध में गलत ख्याल के कारण मनुष्य मृत्यु से भयभीत होता है, उसका नाम भी सुनना नहीं चाहता। परन्तु मृत्यु से डरने की बात वृथा है। जैसे दिन के बाद रात आती है। दिनभर जागने के बाद मनुष्य उस थकान को मिटाने के लिए रात को सोता है। ऐसी स्थिति में वह न तो रात से डरता है और न नींद को भूलता है; न ही भूलना चाहता है। नींद का स्मरण मनुष्य को प्यारा लगता है। मनुष्य जब रोग, चिन्ता, उद्विग्नता या किसी पीड़ा के कारण शय्या पर पड़ा-पड़ा नींद के लिए तड़फता है, बेसब्री से शान्ति की आकांक्षा किया करता है; तब दयालु निद्रा आकर उसे शान्त करती है। इसीलिए निद्रा को एक अंग्रेज कवि ने 'Kind nurse of men--मनुष्य की दयालु दाई' कहा है। वैसे मृत्यु महानिद्रा है, दयालु है, शान्तिदात्री, परम सखा है। वह भगवद्गीता की भाषा में वस्त्र बदलती है। मनुष्य का इस जन्म का आयुष्य पूर्ण होने पर उसे दूसरा नया जन्म पाने का अवसर देती है। जैसे नींद का स्मरण हमें प्यारा लगता है, वैसे ही मृत्यु का स्मरण भी प्यारा लगना चाहिए। अतः मृत्यु डरावनी, त्रासदायिनी या भयंकर लगती है, सिर्फ भ्रान्ति के कारण। एक तरह से वह दुःखमुक्त करने वाली भी है।[१]

मृत्यु के स्मरण से अनेक लाभ

जीवन को जाग्रत रहकर गुणों से समृद्ध बनाने के लिए मरण का स्मरण आवश्यक है। मरण के बिना जीवन की साधना, जीवन में प्रगति, रत्नत्रय की उपासना के लिए अप्रमादपूर्वक जागृति को अवकाश नहीं रहेगा। मरण के चमत्कार के बिना जीवन जड़ता का प्रतिनिधि, आलसी, अकर्मण्य और तामसिक तथा नीरस बन जाएगा। मरण है, इसीलिए ताजगी है, उत्साह है, जीवन को शुद्ध बनाने का अवकाश है। यों कहें तो अत्युक्ति न होगी कि मरण के बिना जीवन में आस्तिकता, पूर्व-जन्म और पुनर्जन्म के प्रति आस्था नहीं टिकेगी।

मृत्यु के आगमन से पूर्व ही हम उसके स्वागतार्थ क्यों न तैयार रहें ?

प्रकृति या आयुकर्म की प्रकृति जीवन और मरण दोनों का अनिवार्य रूप से साथ-साथ देती है। अतः जीवन के प्रति पुरस्कार और मरण के प्रति तिरस्कार का रुख हम क्यों रखें ? दोनों के प्रति हमारा रुख एक-सा होना चाहिए। हम नाहक ही मरण को भूल जाने की भरसक चेष्टा करें और वह दबे पाँव हमारा पीछा करे, यकायक हमारे केश पकड़े और हमें खींचकर ले जाने लगे, हम उसकी उपेक्षा या

---

१. (क) 'परम सखा : मृत्यु' (काका कालेलकर) से भाव ग्रहण, पृ. ६१-६३, ११

(ख) 'जीवन की अन्तिम मुस्कान : समाधिमरण' (उपाध्याय केवल मुनि) से भाव ग्रहण

विस्मृति करके छूटने का प्रयत्न करें, वह हमें रोते-कलपते ही उठाकर ले जाए, यह दृश्य कितना बेहूदा, अभद्र और शर्मनाक है? मरण आए, उससे पहले ही हम तैयार रहें। भव्य और संयम से सुगन्धित जीवन पुष्पमाला हाथ में लेकर हम उसके स्वागत के लिये क्यों न तैयार रहें? मृत्यु के आगमन से पूर्व ही हम सम्यग्दर्शनादि रूप मोक्षमार्ग की साधना करके पक्के, स्थायी और सर्वकर्ममुक्तिरूप मोक्ष को प्राप्त करके सदा-सदा के लिए जन्म-मरणादि रूप चातुर्गतिक संसार का अन्त क्यों न कर दें? मरण का स्वेच्छा से, प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार करके अनन्त ज्ञानादि बहुरूप को प्राप्त करने में अपनी आध्यात्मिक शक्ति क्यों न लगाएँ? ऐसी उच्च स्थिति और सर्वकर्ममुक्तिरूप मोक्ष को पाने के लिये जीवन की तरह मृत्यु को शानदार बनाना क्या अनिवार्य नहीं है?[१]

मृत्यु लाभदायक या हानिकारक : किसके लिए और क्यों ?

सभी मानव यह तो जानते ही हैं कि संसार में मृत्यु न होती तो शायद मनुष्य कीड़े-मकोड़ों की तरह रेंगता रहता। धरती पर पैर रखने की भी जगह न मिलती। मृत्यु के कारण ही संसार का क्रम व्यवस्थित रूप से चल रहा है, मरने से जो बचे हैं, उनके सुखरूप से जीने के लिए साधन उपलब्ध हैं। मृत्यु के बिना जीने का क्रम चल ही नहीं सकता। अगर मनुष्य मृत्यु का यथार्थ स्वरूप समझ ले तथा जिस संसार में वह रह रहा है, उसके साथ शरीर, परिवार, राज्य, राष्ट्र, धन-सम्पत्ति, मकान आदि का क्या सम्बन्ध है? यह सम्बन्ध एक दिन छूटने वाला है या कायम रहने वाला है? इष्ट का संयोग-वियोग, अनिष्ट का संयोग-वियोग क्या है, क्यों है और इनसे मनुष्य सुख-दुःख का अनुभव क्यों करता है? पूर्ण-मृत्यु होने पर क्या-क्या साथ में जाते हैं? परलोक में शुभाशुभ कर्म के सिवाय क्या जाता है? इन और ऐसे सभी प्रश्नों का सही उत्तर जान-समझ लें तो मृत्यु का जो भय दिमाग में घुसा हुआ है, वह निकल सकता है। फिर वह मृत्यु को शत्रुवत् नहीं, मित्रवत् ही देखेगा। संसार में जितने दिन जीएगा, सुख, शान्ति और समाधि के साथ जी सकता है और मृत्यु का भी वह प्रसन्नतापूर्वक स्वागत कर सकता है। अथवा जीवन को सफल बनाने के लिए व्यक्ति सत्कर्म करे, व्रतादि का आचरण करे, अन्तिम समय में समाधिपूर्वक मृत्यु को स्वीकार करे तो उसे मृत्यु के बाद परलोक में जाने में किसी प्रकार का भय नहीं होता। परन्तु जिसने जीवन में सत्कर्म नहीं किया, धर्माचरण से विमुख रहा, हिंसादि पाप करके दूसरों को पीड़ा पहुँचाई, दमन और शोषण किया, दूसरों के घर-परिवार उजाड़े, पंचेन्द्रियों के विषयभोगों में आसक्ति

---

१. (क) 'परम सखा : मृत्यु' से भाव ग्रहण, पृ. ११
(ख) 'जीवन की अन्तिम मुस्कान : समाधिमरण' से भाव ग्रहण, पृ. १९
(ग) उत्तराध्ययनसूत्र, अ. ५, गा. ४-१३

रखी, वही व्यक्ति मृत्यु के समय बुरी तरह पछताता है। 'आचारांगसूत्र' के अनुसार ऐसा व्यक्ति अन्तिम क्षणों में शोक करता है, झूरता है, संतप्त (पीड़ित) होता है, परितप्त होता है, अपने किये पर पछताता है कि मैंने जीवन वर्वाद कर दिया,[1] कुछ भी सत्कर्म नहीं किया और न ही कर्मक्षय-कर्मनिरोध करने का पुरुषार्थ किया, अब मेरा परलोक में क्या हाल होगा?[2]

उसके लिए मृत्यु दुःखदायक या भयोत्पादक नहीं होती

जो मनुष्य प्रारम्भ से ही अपने जीवन का लक्ष्य और कर्त्तव्य समझ लेता है, वह न तो मृत्यु से डरता है और न इन्द्रिय-मनो-विषयों के उपभोगों में तीव्र आसक्ति रखता है और न जीवन में इतना घोर दुष्कर्म, अनाचरण करता है। तब फिर उसे मरने से डर क्यों होगा? जिसे यह दृढ़ निश्चय हो जाता है कि शरीर छूट जाने पर भी आत्मा कभी नष्ट नहीं होती। शरीर और आत्मा दोनों भिन्न-भिन्न हैं। आत्मा तो सचेतन है, ज्योतिर्मय है, अविनाशी है और शरीर पुद्‌गल है, जड़ है, अचेतन है, वह एक दिन अवश्य नष्ट होने वाला है।

शरीर कर्म कारावास से मुक्त होने में डर किसका ? : एक चिन्तन

आत्मा का शरीर को छोड़ देना ही मृत्यु है। शरीर को छोड़ना तो अवश्य है, लेकिन कैसे छोड़ना? किस विधि से छोड़ना? यह अवश्य विचारणीय है। तत्त्वज्ञ पुरुष जानता है कि शरीर भी एक तरह से आत्मा का कारावास है और यही शरीर जाग्रत और तप-संयम में पुरुषार्थी व्यक्ति के लिए कारावास से मुक्त होने का साधन भी है। परन्तु आत्महत्या करने से, दूसरों को मारकर मरने से या भोगासक्त होकर हाय-हाय करने, विवश होकर मरने (यानी शरीर छोड़ने) से तो उलटे उस व्यक्ति को पुनः-पुनः नये-नये अशुभ शरीर धारण करने पड़ते हैं, रोगादि दुःख से मुक्त होने के लिए या दूसरों को मारने के लिए या जीवन से ऊबकर अथवा अन्य किसी चिन्ता, उद्विग्नता, आवेश आदि से जो मरता (शरीर को छोड़ता) है, वह तो वास्तव में मुक्त होने या सुगति पाने के अच्छे-से-अच्छे साधनरूप शरीर का ही नाश करता है। दवा की बोतल फोड़ देने से व्यक्ति रोगमुक्त नहीं हो सकता, इसी प्रकार शरीर को यों ही तोड़-फोड़कर नष्ट कर देने से आत्मा (जीव) शरीररूपी कारागृह से अथवा जन्म-मरणादि के रोग से-कर्मरोग से मुक्त नहीं हो सकता। अतः शरीर कब छोड़ा जाए, कब नहीं? कैसी परिस्थिति में शरीर के प्रति मोह-ममत्व को छोड़ा जाए? शुभ कर्म या संवर-निर्जरारूप धर्म का आचरण करते हुए मृत्यु आ जाए या मृत्यु का अवसर आ जाए उस समय क्या किया जाए? इत्यादि विवेक के साथ

१. सो सोयइ झूरइ तप्पइ परितप्पइ। *—आचारांग, श्रु. १, अ. २, उ. ५*

२. उत्तराध्ययन ५/१६

शरीर आत्मा से अलग होता (छूटता) है, तो वह मृत्यु भी समाधिपूर्वक होगी, उसका जीवन भी समाधियुक्त होगा। वह मृत्यु दुःखदायी नहीं, सुखदायी और सन्तोषकारक होगी। 'महापच्चक्खाण पइण्णयं' के शब्दों में उसे यह दृढ़ निश्चय (विवेक) हो जाता है कि "धीर पुरुष को भी एक दिन अवश्य मरना है और कायर पुरुष को भी। इन दोनों प्रकार के मरणों में धीरतापूर्वक (समाधिभाव से) मरना अवश्य ही श्रेष्ठ है।"[१]

दो प्रकार के मरण : सकाममरण और अकाममरण

इसीलिए भगवान महावीर ने दो प्रकार के मरण वताए हैं-(१) अकाममरण, और (२) सकाममरण। इन्हें ही दूसरे शब्दों में बालमरण और पण्डितमरण कहा जाता है, अथवा इन्हें ही असमाधिमरण और समाधिमरण कहा जा सकता है।

बालमरण : अकाममरण या असमाधिमरण

जो आत्मा अपने स्वरूप से अनभिज्ञ होकर संसार के भोगविलास में आसक्त गृद्ध और मोहमूढ़ बना रहता है। विषयभोगों में आसक्त होकर बेखटके क्रूर कर्म करता है। ऐसा अज्ञानी जीव निःशंक होकर हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्मचर्य, माया, मद्य, माँस आदि का सेवन करता हुआ प्रतिक्षण मन-वचन-काया से पापकर्म करता रहता है। वह भविष्य का या परिणाम का कोई विचार किये बिना यही सोचता और कहता है-"ये कामभोग हस्तगत हैं, इन्हें छोड़कर भविष्य के कामसुखों की आशा कौन करे? फिर परलोक है या नहीं, यह कौन जानता है? परलोक को किसी ने प्रत्यक्ष देखा भी नहीं है। इतने-इतने लोग कामभोगों के सुखों में मग्न हैं, उनकी जो गति होगी, वही मेरी गति होगी। इस प्रकार ढीठ होकर वह अज्ञानी कामभोगों में रचापचा रहता है और त्रस-स्थावर प्राणियों का सार्थक और निरर्थक वध करता रहता है। ऐसे विवेकहीन लोगों का अन्तिम समय शरीर-त्याग करना अकाममरण है। वह अन्तिम समय में शरीर और शरीर से सम्बन्धित सजीव (अपने स्वजन-परिजन) और निर्जीव (धन, मकान, वस्त्राभूषण आदि) पदार्थों में आसक्तिवश चिन्तित, व्यथित, क्लेशयुक्त रहता है और मोहमूढ़ होकर हाय-हाय करते हुए शोकाकुल होकर शरीर छोड़ता है। ऐसे व्यक्ति की मृत्यु को बालमरण-अविवेकपूर्वकमरण या असमाधिमरण कहा गया है।[२]

---

१. (क) 'परम सखा : मृत्यु' से भाव ग्रहण, पृ. १८

(ख) धीरेणवि मरियव्वं कापुरिसेण वि अवस्सं मरियव्वं।
दोण्हंपि य मरणाणं, वरं खु धीरत्तणं मरिउं॥ —म. पं. व्या. १४१

२. उत्तराध्ययनसूत्र, अ. ५ की गाथाओं का भावानुवाद

बालमरण से मरने वालों का निकृष्ट जीवन और चिन्तन

ऐसे बालमरण से मरने वाला व्यक्ति इस जीवन में भी संतप्त, शोकाकुल, उद्विग्न एवं दुःखी रहता है। उसे इस जीवन में भी क्लेश और असन्तोष रहता है और अगले जीवन में भी वह दुःखी एवं शोक-संतप्त होकर भयंकर वेदना भोगता है। उसे एक ही भव के जीवन में अनेक प्रकार की आधि, व्याधि, उपाधि, संकट, क्लेश, विपत्ति के रूप में दुःख आते हैं और जाते हैं। उनमें से कई दुःख साधारण होते हैं, कई भयंकर। बाल्यकाल से लेकर यौवनवय तक अनेक प्रकार की चिन्तायुक्त परिस्थितियाँ, बीमारियाँ, आर्थिक संकट, स्वजन-परिजन वियोग तथा व्यवसाय आदि में कई प्रकार की उलझनें आती हैं, प्रौढ़ावस्था में गंभीर बीमारी, एक्सीडेंट, स्वजन-सम्बन्धी नाना दुःखद एवं व्याकुलकर्त्ता प्रसंग आते हैं। वृद्धावस्था में भी शरीर में अशक्ति, बीमारी, शिथिलता के सिवाय भी नाना प्रकार की विडम्बनाएँ, वेदनाएँ उसके जीवन की कसौटी करने आती हैं। परन्तु उसे सबसे भयंकर दुःखों को न्यौता देने वाली और अज्ञान के कारण संसार-सागर में डुबाने वाली जो मृत्युरूप कसौटी है; उसका भान नहीं रहता। 'गीता' की भाषा में वह आसुरी शक्ति का धनी होकर अपना जीवन नाना दुःखों, विडम्बनाओं और विपत्तियों में तथा नाना विषयभोगों में आसक्त होकर शरीरमोही बनकर जीवन बिताता है। जिस प्रकार कोई गाड़ीवान समतल सीधे मार्ग को छोड़कर विषममार्ग पर गाड़ी ले जाता है, तो उस गाड़ी की धुरी टूट जाने से वह शोक = पश्चात्ताप करता हुआ दुःखी होता है; उसी प्रकार धर्म और सत्कर्म का मार्ग छोड़कर जो व्यक्ति अधर्म और असत्कर्म (पापाचरण) के मार्ग पर चढ़ जाता है, वह अज्ञानी मृत्यु के मुख में जाते समय अपने पापकर्मों पर तथा उन असत्कर्मों के अगले लोक में मिलने वाले अत्यन्त दारुण फल की कल्पना करके घोर पश्चात्ताप (शोक) करता है।

सकाममरण का लक्षण और फल

इसके विपरीत जो प्राणी धर्माचरण करता है या सत्कर्म करता है; सुव्रती है, प्रत्येक कार्य में संयम एवं दया रखता है। वह जो भी व्रताचरण या सत्कर्म करता है, उसके लिए सदैव आश्वस्त-विश्वस्त रहता है। उसका वह मरण **सकाममरण** या **पण्डितमरण** है। मरण का समय आने पर स्वेच्छा से विवेकपूर्वक पुत्र-कलत्रादि सजीव तथा धन-साधन-शरीरादि निर्जीव पर-भावों के प्रति मोह-ममत्वरहित होकर मृत्यु को स्वीकारता है। वह इस जन्म में भी सुखी और सन्तुष्ट रहता है और अगले जन्म में भी वह सुखी होता है, अच्छे धर्मात्मा सुसंस्कारी कुलादि में जन्म लेता है। वहाँ उसे पूर्व पुण्योदय से अच्छा क्षेत्र, मकान, स्वर्णादि धन, पशु आदि तथा पत्नी-माता-पिता-पुत्र आदि श्रेष्ठ स्वजन एवं अच्छे मित्र ज्ञाति, गोत्र, वर्ण आदि मिलते हैं। ऐसे सुव्रती का मरण सकाममरण या समाधिमरण अथवा पण्डितमरण है।

सकाममरण कभी पीड़ादायी नहीं होता। जो व्यक्ति शान्ति, धैर्य और विवेकपूर्वक देह छोड़ता है, उसकी मृत्यु सकाममरण है। यह मरण सर्वोत्तम है।[1]

सकाममरण का उत्तम फल : मोक्ष या उच्च देवलोक

'उत्तराध्ययनसूत्र' में कहा गया है कि जो गृहस्थ श्रावक काया से सामायिक आदि धर्माचरण के अंगों का स्पर्श करता है, महीने के दोनों पक्षों में एक रात्रि के लिए भी पौषधव्रत नहीं छोड़ता, वह इस औदारिक शरीर को छोड़कर (यानी मरण प्राप्त करके) साध्य देवलोक को प्राप्त करता है और जो संवृत (आस्रवों को निरोधक, संवरशील) भिक्षु है, वह ऐसा मरण प्राप्त करके या तो महर्द्धिक देव बनता है अथवा सर्वकर्मरूप दुःखों से मुक्त हो जाता है।

मुख्यतया दो प्रकार के मरण : बालमरण और पण्डितमरण : स्वरूप और प्रकार

'भगवतीसूत्र' में मृत्यु के सम्बन्ध में स्कन्दक-परिव्राजक और भगवान महावीर का संवाद है। स्कन्दक परिव्राजक पूछता है-"भगवन् ! किस प्रकार के मरण से मरते हुए जीव का संसार (जन्म-मरणादि रूप) बढ़ता है और कौन-से मरण से मरने वाले जीव का संसार घटता है? तात्पर्य यह है कि किस प्रकार के मरण से जीव नाना कुगतियों में जन्म-मरण बार-बार करता है और किस प्रकार के मरण से जीव सुगति में जाता है अथवा जन्म-मरण की परम्परा का अन्त करता है?" इसके उत्तर में भगवान ने फरमाया-"हे स्कन्दक ! मैंने दो प्रकार के मरण बतलाए हैं-बालमरण और पण्डितमरण। बालमरण बारह प्रकार का है-(१) वलयमरण (या वलन्मरण) का अर्थ है-भूख-प्यास से तड़फते हुए मरना, (२) वशार्त्तमरण = पराधीनतापूर्वक या विषयवश होकर रिब-रिबकर मरना, (३) अन्तःशल्यमरण = हृदय में शल्य रखकर मरना अथवा शरीर में कोई तीखा शस्त्रादि घुस जाने से मरना अथवा सन्मार्ग से भ्रष्ट होकर मरना, (४) तद्भवमरण = मरकर उसी भव में पुनः उत्पन्न होना और मरना, (५) गिरिपतन = पहाड़ से नीचे गिरने से मृत्यु होना, (६) तरुपतन = पेड़ से गिरकर मरना, (७) जल-प्रवेश = पानी में डूबकर मरना, (८) ज्वलन-प्रवेश = अग्नि में जलकर मरना, (९) विष-भक्षण = जहर खाकर मरना, (१०) शस्त्रावपाटन = शस्त्राघात से मरना, (११) वैहानसमरण = गले में फाँसी लगाकर या वृक्ष, खंभे आदि पर लटककर मरना, और (१२) गृद्ध आदि पक्षियों द्वारा पीठ आदि शरीरावयवों का माँस खाये जाने से होने वाला मरण।" "हे

---

१. (क) 'समाधिमरण' (भोगीलाल गि. शेठ) से भाव ग्रहण, पृ. ८

(ख) 'जीवन की अन्तिम मुस्कान' से भाव ग्रहण, पृ. ११

(ग) उत्तराध्ययनसूत्र, अ. ५, गा. १४-१६ तथा अ. ३, गा. १७-१८

स्कन्दक ! इन बारह प्रकार के बालमरणों से मरता हुआ जीव अनन्त बार नारक-भवों* को प्राप्त करता है तथा नारक, तिर्यंच, मनुष्य और देव; इस अनादि-अनन्त चातुर्गतिक संसाररूप कान्तार (वन) में बार-बार परिभ्रमण करता है। इन बारह प्रकार के बहुत-से तो अनिच्छापूर्वक या किसी कामभोगावेश प्रेरित, स्वार्थ-मोह या कषायावेश से प्रेरित मरण हैं, कषायावेश से प्रेरित मरण स्वेच्छा से होता हुआ भी आत्महत्या (आपघात) की कोटि में आता है। इस प्रकार के मरणों से मरता हुआ जीव अपना अनन्त संसार बढ़ाता है। यह है—बालमरण का स्वरूप।''

बालमरण के इन प्रकारों से स्पष्ट है कि क्रोध, अहंकार, मोह, धर्मान्धता, रूढ़ि, नरबलि, ईर्ष्या, भय, द्वेष, कामवासना, निराशा, प्रणय-विफलता आदि मानसिक आवेशों से प्रेरित होकर शरीर छोड़ना या छूट जाना बालमरण है, जो जन्म-मरण की परम्परा को बढ़ाता है और उसके लिए जन्म-जन्म में त्रास और पीड़ा का कारण बनता है।

पण्डितमरण मुख्यतया दो प्रकार का है—पादपोपगमन (वृक्ष की कटी हुई शाखा-सा स्कन्ध की तरह स्थिर (निश्चल) होकर मरना और भक्त-प्रत्याख्यान (यावज्जीवन तीन या चार आहारों का त्याग करके शरीर की सार-सँभाल करते हुए प्राप्त होने वाला मरण) इसके अन्तर्गत एक **इंगिनीमरण** भी है, जिसमें यावज्जीवन चारों आहार का त्याग करने के बाद साधक एक निश्चित सीमा और स्थान पर स्थिर हो जाता है और उसी स्थान के भीतर रहते हुए शान्तिपूर्वक देह-त्याग करता है।

इन दोनों प्रकार के पण्डितमरणों से मरता हुआ जीव नारकादि अनन्त भवों को प्राप्त नहीं करता यावत् नारक, तिर्यंच, मनुष्य और देव, इस अनादि-अनन्त चातुर्गतिक संसाररूपी अटवी को पार कर जाता है। इस तरह दोनों प्रकार के पण्डितमरणों से मरते हुए जीव का संसार घटता है। यह है पण्डितमरण।[1]

एकान्त बाल, एकान्त पण्डित और बाल-पण्डित का आयुष्यबन्ध

'भगवतीसूत्र' में बताया गया है कि एकान्त बाल यदि महारम्भी, महापरिग्रही, असत्य मार्गोपदेशक तथा पापाचारी हो तो नरकायु या तिर्यंचायु का बन्ध करते हैं, यदि वे अल्पकषायी तथा अकामनिर्जरा और बालतप आदि से युक्त हों तो मनुष्यायु या देवायु का बन्ध होता है। एकान्त पण्डित की दो गतियाँ हैं—**कल्पोपपन्न देवायु का बन्ध या अन्तःक्रिया (मोक्ष)।** जिनके सात **सम्यक्त्वसप्तक प्रकृतियों** का क्षय हो गया है तथा जो तद्भव मोक्षगामी हैं, वे आयुष्यबन्ध नहीं करते, किन्तु

---

१. (क) भगवतीसूत्र, श. २, उ. १, सू. २५-३१

(ख) वही, खण्ड १, श. २, उ. १, विवेचन (आ. प्र. स., ब्यावर), पृ. १८०-१८२

जिसके सात प्रकृतियों के क्षय से पूर्व आयुष्यवन्ध हो गया हो तो वे सिर्फ वैमानिक देवायु का वन्ध करते हैं। जो देशविरत हैं, वाल-पण्डित हैं, वे सिर्फ देवायु का वन्ध करके देवों में उत्पन्न होते हैं।[1]

ज्ञानी साधक की सकाममरणीय दशा

मृत्यु तो सभी जीवों की अवश्यम्भावी है, चाहे वह ज्ञान हो या अज्ञानी। परन्तु ज्ञानी साधक मृत्यु की कला जानकर उसे सफल बना लेता है, जवकि अज्ञानी मृत्यु की कला से अनभिज्ञ होने के कारण जीवन और मरण दोनों को असफल वना लेता है। ज्ञानी की मृत्यु को सकाममरण, पण्डितमरण या समाधिमरण कहा है, जबकि अज्ञानी की मृत्यु को अकाममरण, बालमरण या असमाधिमरण कहा गया है। ज्ञानी साधक यही समझता है कि अगर शरीर की मृत्यु न होती तो वह कभी आगे नहीं बढ़ सकता था। ज्ञानी सम्यग्दृष्टि साधक मृत्यु को भयंकर या दुःखदायक न समझकर परम सखा, सुखद, उपकारी एवं आत्म-विकास की वृद्धि में सहायक, कर्मक्षय में निमित्त मानता है। वह मृत्यु के कल्पित भय से भयभीत न होकर, मृत्यु के काले पर्दे को चीरकर उसके पीछे रहे हुए शुद्ध आत्मा के दर्शन करके निर्भर हो जाता है। ज्ञानी के लिए मृत्युकाल अन्धकारमय न होकर प्रकाशमय बन जाता है। ज्ञानी मृत्यु के समय शरीर और आत्मा के भेदविज्ञान के आलोक से प्रकाशित हो जाता है। इसी कारण वह शरीर और शरीर से सम्बद्ध परिवारादि सजीव तथा धन, मकान, साधन, दुकान, व्यवसाय आदि निर्जीव पर-पदार्थों के प्रति मोह-ममत्वजनित व्यथा, चिन्ता, उद्विग्नता मन में बिलकुल नहीं लाता। ऐसा समाधिमरण का साधक सतत सतर्क रहता है कि कहीं मृत्यु मुझे पराजित न कर दे, मुझ पर हावी होकर जीवन की बाजी न बिगाड़ दे। जीवनभर की साधना को वह पण्डितमरण का साधक मृत्यु के समय अपराभूत होकर सफल बना लेता है। जैसे पक्षी पंख फड़फड़ाकर अपने शरीर पर जमी हुई धूल को झाड़ देता है, वैसे ही ज्ञानी पुरुष मृत्यु के समय जीवन पर लगी हुई सभी प्रकार की वासना की धूल को झाड़कर शुद्ध एवं निर्भय हो जाता है। वह देह आदि में आसक्ति से बँधता नहीं। कदाचित् मृत्यु के समय उसकी आँखें, कान आदि काम करना बंद कर दें, बाह्य इन्द्रियों का भान न भी रहे, किन्तु अन्तर में जाग्रत रहता है। मृत्युकाल में आत्मा की अनन्त गुनी शुद्धि (कर्मनिर्जरा द्वारा) कर लेता है।

मतलब यह है कि सकाममरण वाले महानुभाव साधक पहले से ही अपनी तैयारी कर लेते हैं। वे जानते हैं कि मृत्यु का आगमन निश्चित है; इसलिए ऐसे कार्य न करूँ, जिससे मृत्यु के समय पछताना पड़े। साथ ही वे स्वीकृत गृहस्थधर्म या मुनिधर्म के आचार-विचार का भलीभाँति पालन करते हैं, व्रतविरुद्ध अकारण

---

१. भगवतीसूत्र, खण्ड १, श. १, उ. ८, सू. १-३ (आ. प्र. स., ब्यावर), पृ. १३०-१३२

कोई भी आचरण नहीं करते। कदाचित् अपवादरूप में कोई आचरण व्रतनियम विरुद्ध करना पड़े तो उसकी शुद्धि वे आलोचना प्रायश्चित्त आदि द्वारा कर लेते हैं। शरीर के प्रति मोह-ममत्व का व्युत्सर्ग कर लेते हैं। "मरणान्त समय में ऐसे बहुश्रुत एवं शीलवान् साधक जीवनमरण में सम रहते हैं, इस कारण वे मृत्यु से संत्रस्त नहीं होते।"[1]

अज्ञानी जीव की अकाममरणीय दशा

अकाममरण वाला अज्ञानी जीव मृत्यु के कल्पित भय से काँप उठता है। वह मृत्यु के समय अपने शरीर और शरीर से सम्बद्ध परिवार, धन, व्यवसाय, जमीन-जायदाद आदि के प्रति मोह-ममत्ववश अत्यन्त दुःखी होता है, विलाप करता है, आँसू बहाता है, रोता है। साथ ही उसकी उस मोहजनित वेदना को हवा देने के लिए उसके कुटुम्बीजन आदि बार-बार मोह-ममता में डुबाने वाली बातें याद दिलाते रहते हैं।[2]

सकाममरणयुक्त पण्डितमरण का स्वरूप, महत्त्व और आराधक

जहाँ जन्म हुआ, वहाँ मरण निश्चित है। इस जीने और मरने के बीच में जीवन है। जीवन यदि व्रतनियमादि धर्माचरण–तपश्चरण से युक्त हुआ हो तो मरण सुधरता है। ये सब न हों तो मरण बिगड़ता है। मरण को सुधारना और बिगाड़ना जीव के अपने हाथ में है। यदि एक भव का मरण सुधरता है तो अनेक भव सुधर जाते हैं और एक भव बिगड़ गया तो अनन्त नहीं तो अनेकानेक भव बिगड़ जाते हैं। विवशतापूर्वक, किसी प्रकार के धर्माचरण, आत्म-भाव एवं समाधिभाव के बिना मरण को अकाममरण या बालमरण कहते हैं। किन्तु जहाँ मृत्यु का समय निकट आने पर आत्म-भाव एवं समाधिभावपूर्वक स्वेच्छा से मृत्यु का वरण-संवरण किया जाता है, वहाँ सकाममरण होता है, इसे ही पण्डितमरण कहा गया है। पण्डितमरण मरण सुधारने की कला है। पण्डितमरण का महत्त्व बताते हुए कहा गया है–

"सारं दंसण नाणं, सारं तव-नियम-संजम-सीलं।
सारं जिणवरधम्मं, सारं संलेहणाए पंडिय-मरणं॥"

अर्थात् मानव-जीवन का सार है–सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान। (इन दोनों का) सार है–सम्यक्तप, नियम, संयम और शील। सार है–जिनवरोक्त धर्म, (जीवन के अन्तिम समय में) सारभूत वस्तु है–संलेखनापूर्वक पण्डितमरण।

---

१. न संतसंति मरणंते सीलवंता बहुस्सुया। –*उत्तराध्ययन, अ. ५, गा. २९*

२. 'श्रावकधर्म-दर्शन' (उपाध्याय पुष्कर मुनि) से भाव ग्रहण, पृ. ६२८-६३०

पण्डितमरण का सच्चा आराधक

तात्पर्य यह है कि जिसकी श्रद्धा, प्रतीति, रुचि, विश्वास और आस्था आत्मा में हो; जिसका जीवन सम्यग्ज्ञानमय हो, संयम का मन-वचन-काया से पालन हो, लिये हुए ब्रह्मचर्य के आचरण के नियम को प्राण-प्रण से पालन करता हो, तपश्चर्या के द्वारा कर्मों को क्षय करता हो, केवली-प्ररूपित धर्म की आराधना करता हो, त्रिविधशल्य से रहित हो; भव-सत्य, करण-सत्य और योग-सत्य से ओतप्रोत हो, किसी प्रकार का निदान (नियाणा) न करता हो तथा जो संलेखना-संथारा करके मृत्यु के सहज रूप से आने पर उसका सहर्ष स्वागत करता हो; उसे ही भगवान ने **पण्डितमरण का सच्चा आराधक** कहा है।

सभी मरणों के मुख्य दो प्रकार : समाधिमरण और असमाधिमरण

पूर्वोक्त सभी मरणों को सरलता से समझने के लिए हम उन्हें दो भागों में विभक्त कर सकते हैं–समाधिमरण और असमाधिमरण। जहाँ आत्मा, (अरिहन्त-सिद्ध) परमात्मा, आत्म-धर्म, धर्म-प्राप्ति, उत्तम साधन (शास्त्रादि) या निमित्तरूप–सद्गुरुदेव या सद्धर्मभाव में रहते हुए अन्तिम समय में शान्ति, धैर्य, समता और समाधिपूर्वक देह-त्याग हो, ऐसी मृत्यु समाधिमरण कहलाती है। परिस्थिति एवं चित्तवृत्ति की विविधता के कारण इसके अनेक प्रकार हो सकते हैं। इसके विपरीत जहाँ स्वजन, कुटुम्ब आदि सजीव तथा विषयभोग, कषाय, धन-सम्पत्ति, सुखभोग के साधन आदि किसी भी पर-पदार्थ के प्रति मोह-मायायुक्त संसारभाव में रहते हुए शरीर छूटता है, मृत्यु होती है, वहाँ असमाधिमरण है।

समाधिमरण की सफलता के लिए तीस भावनाएँ–अनुप्रेक्षाएँ

समाधिमरण के लिए मुमुक्षु आत्मा को अपने मरण के समय सावधानी रखकर उसे सुधारना चाहिए। समाधिमरण भी तभी सफल हो सकता है, जब साधक आत्म-स्वरूप में स्थिर होकर स्व-स्वभाव में रहे तथा आधि, व्याधि और उपाधि से मुक्त रहे।[१] समाधिमरण की प्रक्रिया कोई एक दिन में पूर्ण होने वाली नहीं है। समाधिमरण की तीस भावनाओं का प्रतिदिन अथवा कम से कम महीने में दो-चार दिन चिन्तन करना चाहिए, तभी पापभीरुता आ सकती है। जीवन भी अच्छा और समाधिमय बन सकता है और फिर मरण भी समाधिपूर्वक हो सकता है। वे तीस भावनाएँ क्रमशः इस प्रकार हैं[२]–

(१) अनन्त परमाणुओं से बना हुआ यह शरीर देखते-देखते नष्ट हो जाता है। पुद्गलों की कैसी विचित्रता है ! अतः उस (शरीर) पर कैसे भरोसा रखा जा सकता है ? इसलिए धर्माचरण में जरा भी प्रमाद नहीं करना चाहिए।

---

१. *'आत्मार्थी मारे मोक्ष पामवानो उपाय' (श्री शान्तिलाल कालाभाई मेहता) से अनूदित, पृ. २९*

२. *'समाधिमरण' (गुजराती) से हिन्दी में साभार अनुवाद*

(२) "अधुवे असासयम्मि।"—यह जीवन अध्रुव और आशाश्वत है, यह देहरूपी पुद्गल पिण्ड भी नाशवान् है, मैं इसका विचार करता नहीं, यह मेरी कितनी भूल है?

(३) जैसे भरा हुआ कोई मेला विखर जाता है तो किसी को दुःख नहीं होता, उसी प्रकार कुटुम्बरूपी मेला विखर जाए, इसकी फिक्र क्यों?

(४) जगत् का कर्त्ता कोई नहीं है। इष्ट-अनिष्ट का सव संयोग या वियोग कर्मानुसार होता है।

(५) मैं ज्ञान का पुँज, अखण्ड, अविनाशी चैतन्य हूँ, जबकि शरीर ज्ञानरहित, खण्डित होने वाला एवं नाशवान् है। मैं ही व्यवहार से कर्त्ता और भोक्ता हूँ। फिर इस नाशवान् शरीर के नष्ट होने की चिन्ता क्यों? क्योंकि मेरी आत्मा का तो कदापि नाश नहीं होता, नाश होता है—शरीरादि का।

(६) मैं एक दिन शरीर को अपना मानता था, परन्तु मेरी इच्छा के बिना ही (कर्मोदयवश) (शरीर से ही सम्बद्ध) आधि, व्याधि, उपाधि एवं वृद्धावस्था आई और मृत्यु की भी आने की तैयारी हुई। ऐसे स्वामिद्रोही (इस शरीर) को अपना कैसे माना जा सकता है?

(७) अरे भोले जीव ! इस शरीर के माता-पिता, पुत्र-पुत्री, भाई-बहन आदि स्वजन तभी तक सगे-सम्बन्धी हैं, जब तक आत्मा है। आत्मा के चले जाने पर इस मृत शरीर (मुर्दे) को वे जला डालेंगे।

(८) हे आत्मन् ! शरीर-सम्पदा इन्द्रजाल के समान है। बचपन में कोमलता एवं युवावस्था में मस्ती दूसरों को भी आकर्षित करती है। किन्तु जब बुढ़ापा या रोग आता है, तब वही (शरीर या व्यक्ति) कैसा लगता है? किसी को अच्छा नहीं लगता। स्वजन भी सेवा करते-करते घबरा जाते हैं; फिर भी स्वजनों और शरीर का मोह छूटता नहीं है।

(९) जो जीता है, वह मरता नहीं है। मरता है वह शरीर। मृत्यु आत्मा का नाश नहीं कर सकती। शरीररूपी पुद्गल तो क्षण-क्षण में क्षीण होता रहता है। मगर आत्मा वैसा का वैसा ही रहता है; फिर मृत्यु का भय क्यों?

(१०) जीव (आत्मा) आग से जलता नहीं; पानी से गलता या डूबता नहीं; वायु से सूखता या उड़ता नहीं; किसी भी वस्तु द्वारा वह पकड़ में नहीं आता। मैं (आत्मा) तो चैतन्यवान् एवं अरूपी होता हुआ भी सदैव शाश्वत (नित्य) हूँ, फिर मुझे भय किसका? मुझे भयभीत क्यों होना चाहिए?

(११) जैसे किसी धनाढ्य के पुत्र की दोनों जेबों में मेवा भरी होती है, वह जिसमें हाथ डालता है, उसमें से मेवा ही मिलती है। अतः व्यक्ति ऐसा सोचे कि "मैं

जीता रहूँगा तो संयम (धर्म) पालन करूँगा और मर जाऊँगा तो सद्गति में जाऊँगा।''

(१२) जैसे कोई व्यक्ति धनाढ्य बन जाता है तो छोटा घर छोड़कर बड़े घर (बंगले) में रहने जाता है; उसी प्रकार मेरा जीव (आत्मा) भी साधु-जीवन या श्रावक-जीवन में व्रत-नियमों से धर्म-धनाढ्य बनेगा तो अशुचिमय इस शरीरगृह को छोड़कर देव का दिव्य शरीररूपी बंगला प्राप्त करेगा/मिलेगा। परन्तु वहाँ तक पहुँचाने वाला तो समाधिमरण ही है।

(१३) जैसे वणिक् (व्यापारी) मेहनत करके पहले माल संचित करता है, फिर उसकी सुरक्षा करता है और जब तेजी का रंग आता है, तब उस माल पर से ममत्व छोड़ देता है, उसे एकमुश्त बेच देता है, तभी वह कमाई करता है; वैसे ही हम सच्चे वणिक् बनकर अभी ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तपरूपी माल संचित कर लें और जब मृत्युरूपी तेजी आए, तब उमंग-उत्साहपूर्वक इस शरीररूपी माल को बेच डालें तो कितनी कमाई होगी?

(१४) दिवस, महीने या वर्षभर की कमाई (मजदूरी) का फल सेठ देता है, तब जिंदगीभर किये हुए धर्म की मजदूरी का फल (समाधि) मरणरूपी सेठ ही देगा। इसलिए उसका आदर करो।

(१५) जैसे कोई राजा दूसरे राजा को पकड़कर कैद में डाल देता है; तब कोई मित्र राजा सेनासहित आकर उक्त कारागारस्थ अपने मित्र राजा को कैद से छुड़ा देता है; वैसे ही चेतनरूपी राजा को कर्मरूपी राजा ने संसाररूपी जेल में बंद कर रखा है। ऐसी स्थिति में मरणरूपी मित्र रोगरूपी सैन्य से सुसज्जित होकर शरीररूपी कारागृह के दुःख से मुक्त कराने हेतु आता है। अतः उस (मृत्यु) को उपकारी मानकर समाधिपूर्वक उसका सहर्ष स्वागत और आदर करो।

(१६) अतीतकाल में जिन-जिन ने स्वर्ग (उत्तम देवलोक) या मोक्ष के सुख प्राप्त किये हैं, उन्होंने समाधिमरण के प्रताप से प्राप्त किये हैं। अतः हे सुखार्थी आत्मन् ! तुझे भी समाधिपूर्वक मरण प्राप्त करना उचित है।

(१७) कल्पवृक्ष की छाया में बैठकर जैसी इच्छा की जाती है, वैसा फल मिलता है; वैसे ही मृत्यु एक प्रकार से कल्पवृक्ष है, मृत्यु के अवसर पर यदि शुद्ध स्वरूप की-शुद्ध धर्म की भावना रखी जाए तो उसके फलस्वरूप ऐसी अच्छी गति मिलती है कि जहाँ शुद्ध आत्म-धर्म के सभी सुयोग सुलभ होते हैं अथवा सर्वकर्ममुक्तिरूप मोक्ष गति मिलती है, जहाँ एकान्त अव्याबाध सुख मिलता है।

(१८) जिसमें मलमूत्र जैसी अपवित्र वस्तु झर रही हो, ऐसे अशुचि से परिपूर्ण औदारिक शरीर के चक्कर से छुड़ाने वाला और अशरीरी सिद्ध अवस्था अथवा

दिव्य शरीर देने-दिलाने वाला समाधिमरण ही है। अतः उसका सहर्ष स्वागत करना चाहिए।

(१९) जैसे महात्मा पुरुष अनेक दृष्टान्त देकर युक्तियों और तर्कों से शरीर का स्वरूप समझाते हैं और उस (शरीर) पर रही हुई ममता–मूर्च्छा कम कराते हैं; वैसे ही रोग भी प्रत्यक्ष उपदेश देता है कि यह शरीर तेरा नहीं है, फिर इस पर मोह क्यों ?

(२०) मनुष्य अपने शरीर को प्राणों से भी प्रिय समझकर विविध रूप से उसका पोषण करता रहता है। सर्दी लगे, गर्मी लगे, तब हीटर, कूलर, पंखा आदि चालू करने में वायुकाय के जीवों तथा अन्य सूक्ष्म जीवों की और कभी-कभी चिड़िया, कबूतर जैसे पंचेन्द्रिय जीव की भी हिंसा हो जाती है। खाने-पीने की सामग्री के जुटाने और सेवन करने में कितना आरम्भ-समारम्भ (हिंसा) होता है! उन साधनों के प्राप्त करने में कभी झूठ और कभी चोरी का पाप भी लग जाता है। मैथुन-सेवन के लिए कितना खर्च करके विवाह-शादी की जाती है। शरीर के तथा परिवारादि के सुख के लिए परिग्रहं का साधन भी बढ़ाते ही गए हो; फिर भी इस शरीर ने दगा दिया। अनेक उपचारों के बावजूद भी रोग मिटा नहीं। अतः अब भी समय है, इस शरीर का मोह छोड़कर, आत्मा का पोषण कर। समाधिमरण ही इसकी परम औषध है।

(२१) अरे जीव ! यदि तू रोग से घबराता है, तो भी यह रोग एकदम नहीं जायेगा। यह समझ कि रोग तेरे ही किये हुए कर्मों का फल है। अतः उसे मिटाने के लिए आतुर (व्याकुल) होने की जरूरत नहीं है। जब तक (असातावेदनीय) कर्मों का उदय है तब तक उपचारों से भी रोग मिटेगा नहीं। अतः जिनेश्वर भक्ति जैसी परम वैधकीय दवा–कर्म क्षीण करने की दवा–सच्चे दिल से कर, जिससे (भवभ्रमण का) रोग मिटे और मृत्यु आए तो भी सद्गति प्राप्त हो।

(२२) यदि वेदनीय कर्म का अत्यधिक जोर हो तो कर्म की निर्जरा भी अधिक हो सकती है; बशर्ते कि समभाव रहे। सोना अधिक ताप सहता है, तभी विशुद्ध होता है। वेदना के समय समभाव रहे तो कठिन कर्मों का क्षय भी होगा और नये कर्म भी नहीं बँधेंगे, जिससे आत्मा विशुद्ध होता जायेगा।

(२३) गजसुकुमार मुनि ने अंगारों की वेदना सहन की; स्कन्दक मुनि की चमड़ी उधेड़ी गई, मैतार्य मुनि ने स्वर्णकार द्वारा दी गई असह्य वेदना समभावपूर्वक सहन की। इसलिए वे शीघ्र मोक्ष में गए। हमारी वेदना उतनी तो नहीं है न? मान लो, उपाश्रय में प्रवचन में आपने समभाव की बातें सुनीं। घर जाते समय देखा कि किसी ने आपकी चप्पल चुरा ली, अतः नंगे पैर घर की ओर चले। रास्ते में एक जगह जलती हुई बीड़ी पैर के नीचे दब गई। उस समय कैसे भाव

होंगे? समभाव कितना होगा? वीड़ी फेंकने वाले की भूल देखोगे या अपनी? स्वयं देखकर चले होते तो क्या ऐसा होता? अतः कोई भी कष्ट या उपसर्ग आने पर निमित्त को दोष देने के वजाय अपने किसी पूर्वकृत अशुभ कर्म का ही फल है, ऐसा सोचकर उसे समभाव से सहन करोगे तो कर्मनिर्जरा अधिक होगी। मृत्यु के समय भी समभाव रखो तो समाधिमरण होगा।

(२४) हे आत्मन् ! तूने नरक में दस प्रकार की महावेदना भोगी है। परमाधामी देवों की मार खाई है। तिर्यंचगति में भूख-प्यास सही है। देवलोक में अपराध करके इन्द्र के वज्र के प्रहार सहन किये हैं। उन सव की तुलना में यह दुःख कितना कम है? अतः तू अल्प-वेदना भी समभाव से सहन करेगा तो दूसरी योनियों में दुःख भोगने से जो निर्जरा होती थी (हुई); उसकी अपेक्षा अनन्त गुनी निर्जरा यहाँ हो सकेगी; ऐसे विचार कर। यहाँ एक उपवास करोगे तो नरक के एक हजार वर्ष के दुःख नहीं भोगने पड़ेंगे, दो उपवास (वेला या छट्ठ) करोगे तो एक लाख वर्ष के और तीन उपवास (तेला) करोगे तो एक करोड़ वर्ष के कर्मजन्य दुःख नहीं भोगने पड़ेंगे, उतने वर्ष के कर्म क्षय हो जायेंगे; बशर्ते कि वह तप सम्यक् हो। ऐसा विचार करके धर्मध्यान और तपश्चरण में मन लगा।

(२५) संसार में कोई कर्जदार नम्रतापूर्वक साहूकार को मूलधन से भी कम रकम चुकाता है तो वह (उसकी विनम्रता देखकर) उसका खाता चुकता कर देता है। परन्तु यदि वह उद्धतता (उद्दण्डता) करता है, तो साहूकार उससे रकम का ब्याज, वकील की फीस तथा कोर्ट का खर्च भी वसूल कर लेता है। उसी प्रकार वेदनीय आदि कर्मरूपी साहूकार का कर्ज तपरूपी उदीरणा करके (उनके उदय में आने पर यानी तकादा करने पर चुकाने की अपेक्षा) पहले ही (नम्रतापूर्वक) चुका दिया जाए, यानी कर्मों का फल उदय में आने से पहले ही समभाव से भोग लिया जाए अथवा उदय में आने पर समभाव से भोगे जाएँ तो वे कर्म शीघ्र ही नष्ट (चुकता) हो जाते हैं।

(२६) कृतकर्मों को भोगे बिना छुटकारा नहीं हो सकता, यह तथ्य अनुभव-सिद्ध है और बाँधने वाली आत्मा ही कर्मों का क्षय करने में समर्थ है। फिर कर्म का कर्ज चुकाने के अवसर पर मुँह क्यों बिगाड़ता है? सारा कर्ज मानव-भव में ही समभावपूर्वक चुका दे और वह समाधिमरण के द्वारा ही समभावपूर्वक चुकाया जा सकता है।

(२७) जिस प्रकार विचक्षण वणिक् महामूल्यवान् वस्तु कम कीमत में मिलती हो, तो कितने उत्साहपूर्वक खरीदता है? उसी प्रकार स्वर्ग या मोक्ष के महामूल्यवान् सुख सिर्फ थोड़े से समभाव, सम्यग्दृष्टि–समदृष्टि एवं शुद्ध धर्माचरण से समाधिमरण के द्वारा ही मिल सकते हैं तो उस समाधिमरण को क्यों नहीं अपनाएँ?

(२८) जो सैनिक शस्त्रविद्या का प्रशिक्षण (ट्रेनिंग) लेता है, सीखने के बाद प्रतिदिन उसका अभ्यास (कवायद) करता है, वह युद्ध के समय रणभूमि में अपना जौहर दिखाकर शत्रु को पराजित कर सकता है, तब फिर जो साधक मानव-जीवन में ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, संयम और समभाव का प्रशिक्षण (ट्रेनिंग) प्राप्त करके उनका नित्य अभ्यास (परेड = कवायद) करता है; बहिर्मुखी बनी हुई इन्द्रियों को अन्तर्मुखी बनाकर आत्म-सेवा में लगाता है अथवा मन एवं इन्द्रियों को विषयों और कषायों की ओर से मोड़कर आत्म-स्वभाव में रमण करने का अभ्यास कराता है, वह क्यों नहीं समाधिमरण को प्राप्त कर सकता और मोहादि कर्मों को क्यों नहीं पराजित कर सकता?

(२९) 'अतिपरिचयादवज्ञा' इस लोकोक्ति के अनुसार जिसका विशेष परिचय (सम्पर्क) होता है, उसकी कीमत कम हो जाती है। इस दृष्टि से औदारिक शरीर के साथ जीव का विशेष परिचय (सम्पर्क) जन्म-जन्म में रहा है, अतः अब इस मानव-भव में अतिपरिचित इस शरीर की कीमत नगण्य समझकर शरीर की अपेक्षा आत्मा अधिक मूल्यवान् है; ऐसा समझो तथा शरीर के प्रति जो ममता-मूर्च्छा है, उसका व्युत्सर्ग (त्याग) करो और आत्मा के विकास, शुद्धि और कल्याण की ओर विशेष ध्यान इस समाधिमरण के दौरान दो, तभी तुम्हारी आत्मा ऊर्ध्वगामी होगी।

(३०) पुराने (जीर्ण) वस्त्र बदलकर नये वस्त्र पहनने में व्यक्ति को आनन्द आता है; वैसे ही पुराने जीर्णशीर्ण अशुचिमय शरीर का ममत्व छोड़कर समभावपूर्वक मृत्यु का वरण करने से दिव्य शरीररूपी वस्त्र मिलने वाले को कितना आनन्द होगा?

मनुष्य-भव तथा अच्छे संयोग प्राप्त होने पर भी लापरवाही क्यों?

इस प्रकार आत्मा की स्थिति और कर्म के कायदे को जानकर विचार करो कि कर्मानुसार एकेन्द्रिय जीवों में से किसी जीव का शरीर मिले तो वहाँ खाने को नहीं मिलता, तब सूखने का अवसर आ जाता है। उन एकेन्द्रिय जीवों में असंख्यात काल तक कर्म के कायदे के अनुसार जकड़ा रहा। फिर कुछ शुभ कर्मोदयवश दो, तीन या चार इन्द्रियाँ मिलीं, चेतना का कुछ विकास जरूर हुआ, किन्तु तब खाने-पीने की तलाश में तथा अपनी सुरक्षा के लिए दर (बिल आदि) बनाने में ही जिंदगियाँ पूरी हो गईं। नरकों में पाँचों इन्द्रियाँ तो मिलीं, किन्तु लम्बा-लम्बा आयुष्य नाना दुःखों में ही व्यतीत हुआ। देवगति में सुख-सामग्री होते हुए भी परिग्रह में लुब्ध रहा। इन्द्र के वज्र प्रहार सहे, ईर्ष्या-प्रतिस्पर्द्धा आदि से मानसिक संक्लेश रहा। तिर्यंच पंचेन्द्रिय जीवों में जन्म होने पर भी रहने के स्थान, बच्चों की, सुरक्षा की एवं खुराक (खाने-पीने) की चिन्ता ही चिन्ता में जिंदगियाँ गईं।

अनन्त पुण्योदयवश मनुष्य-भव मिला तो सौभाग्य से धर्म की सामग्री भी मिली। निर्ग्रन्थ गुरु भी मिले, जो राग-द्वेष की गाँठ खुलवाते हैं, धर्माचरण की प्रेरणा करते हैं। ऐसा संयोग मिलने पर भी हम लापरवाह रहते हैं। ऐसी मूर्खता में ही जिंदगी पूरी हो जायेगी, फिर तो इसी चौरासी के चक्कर में घूमेंगे न?

मृत्यु के समय समाधि रखने की प्रेरणा

समाधिमरण के आकांक्षी भव्य जीवों को संसार के, देह के और भोगों के यथातथ्य स्वरूप पर बार-बार विचार करके उसमें से वोध लेकर अन्तर में वैराग्यभाव को दृढ़ करते रहना परमावश्यक है।

शरीर छूटने के सम्बन्ध में निर्भय रहना चाहिए। आत्मा अजर, अमर, शाश्वत है, ज्ञान-दर्शनमय है। देह का संयोग होते हुए भी वह देह से भिन्न है। उसे (शरीर को) साता-असातावेदनीय हो तो भी वह जरा भी दुःखमय नहीं है। आत्मा है, वही मेरा स्वरूप है। शरीर को लेकर वेदनीय है। समय आने पर वेदनीय का क्षय होता है। वेदनीय का क्षय होने पर मृत्यु-महोत्सवरूप है। कर्मों का नाश होना ही मृत्यु-महोत्सव है। समाधिमरण से असंख्यात गुणी निर्जरा होने से कर्मों का क्षय होता है। अतः मृत्यु को महोत्सव मानकर चलो। शरीर का हर्ष-शोक करने योग्य नहीं है। ज्ञात-द्रष्टा रहकर इसे तटस्थ दृष्टि से देखते रहो।

मृत्यु के समय समाधि कैसे रहे?

अतः ज्ञानी पुरुष समाधिमरण-साधक को बार-बार कहते हैं—निर्भय रहो, (आत्मा की) मृत्यु है ही नहीं, ऐसा मानकर चलो। मृत्यु को कोई रोकने में समर्थ नहीं है। आयुष्य कर्म क्षय होते ही देर-सबेर शरीर की मृत्यु अवश्य होने वाली है। अतः चित्त में हर्ष-शोक न करो, न ही किसी प्रकार का संकल्प-विकल्प करो। मन में हर्ष-उल्लास लाओ। दुःख को जान लिया, बस इतना ही काफी, उस पर किसी प्रकार का शोक, चिन्ता या आर्त्तध्यान न करो; क्योंकि वह तो जाने वाला है। जैसे म्यान से तलवार अलग है, वैसे ही शरीर से आत्मा अलग है। व्याधि या पीड़ा, ये सब शरीर को लेकर होती हैं, वे सब जाने के लिये आई हैं। मुझे उसके लिए किसी प्रकार का भय नहीं रखना है। कर्मों के उदय से दुःख-सुख आते हैं, वे भोगे जाते हैं, पर वे मेरे (आत्मा के) नहीं हैं। मेरे हैं—ज्ञान, दर्शन और चारित्र।

संकल्प-विकल्प में सर्ववस्तुएँ आती हैं, वे मेरी नहीं हैं। जितना दुःख दिखाई देता है, उसे आत्मा जानती है। आत्मा का सुख आत्मा में है। रोग आता है, वहाँ कर्मक्षय अधिक होता है, बशर्ते कि समभाव से भोगा जाए। समाधिपूर्वक मरण से पापमात्र के नाश होने का शुभ अवसर है। समता और धैर्य रखकर क्षत्रियवृत्ति में रहो। दुःख को जितना भी आना हो, आए, उन सब का नाश होगा और आत्मा की

जीत होगी। अतः सहनशीलता, धैर्य, क्षमा, सहिष्णुता, प्रतिक्रिया विरति, इन गुणों को धारण करने से सुगति होती है। वेदना से घबराना नहीं, वे सब जाने के लिए आती हैं। इससे भी अनन्त गुणी वेदना नरक और निगोद में भोगी है, फिर भी उसका नाश नहीं हुआ। वेदना के समय ज्ञाता-द्रष्टा बनकर समभावपूर्वक भोग लेने से वह जाती रहती है।[1]

समाधिमरण-साधक का चिन्तन और समाधिभाव की प्रेरणा

समाधिमरण का साधक इस प्रकार का चिन्तन करता है—मैंने आज तक नाना भव प्राप्त किये। इन भवों में मैंने शुभ संग भी पाये और अशुभ संग भी। मैं इन भवों में राजा भी बना, सेठ भी। माता, पिता, पुत्र, पुरुष, स्त्री, नपुंसक सब बना, देव-भव में भी अनेक वैषयिक सुख प्राप्त किये। तिर्यंच-भव में मैंने पराधीनतावश अनेक दुःख पाये। नरक के भव में भी भयंकर दुःख पाये, यातनाएँ सहीं। अत्यन्त कठिनता से मनुष्य-भव प्राप्त किया। परन्तु मनुष्य-भव में उत्तम कुल, श्रेष्ठ धर्म आदि साधन प्राप्त होने पर भी मैंने अपने जीवन में आत्म-गुणों की आराधना-साधना नहीं की। इस प्रकार मैंने अनादिकाल से भवभ्रमण किया, किन्तु मनुष्य-भव में न तो मैंने जीवन सुधारा और न ही मरण सुधारा। मैंने हर बार असमाधिपूर्वक मृत्यु प्राप्त की। अपनी शुद्ध आत्मा नहीं पहचानी, विषय-कषायों के वश होकर शरीर को ही अपना जाना-माना। मृत्यु के समय अगर मुझे निज-पर का ज्ञान होता कि शरीर विनाशी है, मैं (आत्मा) अविनाशी और चैतन्यमय प्रकाश से ज्योतिस्वरूप हूँ। पर मैंने आत्मा के सम्यग्ज्ञानादि रत्नत्रय को हृदयंगम नहीं किया। यह शरीर रक्त, माँस आदि सप्त धातुमय है। यह शरीर जिस पर मैं मोहित हूँ, कितना घिनौना है? दुर्गन्धपूर्ण है, देखते ही घृणा होती है। केवल ऊपर से चर्म लपेटा हुआ है, जिससे सुन्दर दिखता है, किन्तु भीतर तो विष्ठा, रक्त, माँस आदि भरे हुए हैं। जो मूर्ख होगा, वही इस पर प्रीति बढ़ाता है। फिर यह शरीर तो जीर्णकुटी के समान है। यह विनष्ट होने वाला है। इस कुटी के बदले में मृत्यु होने पर मुझे नया महल मिलेगा, तब इस पर मोह-ममत्व क्यों रखा जाए? इस शरीर के छूट जाने से क्या हानि है? समभावपूर्वक अगर शरीर छोड़ूँगा तो अगले जन्म में शुभ शरीर मिलेगा। अतः मृत्यु का क्या भय है? मृत्यु तो मित्र है, उपकारी है, जो जीर्ण शरीर लेकर बदले में नया शरीर देता है। श्री आदिनाथ भगवान जैसे उत्तम पुरुष भी जिस देह को नहीं रख सके। फिर हम मन से क्लेश और भय को निकालकर मृत्यु के अवसर पर महोत्सव क्यों न मनाएँ?

---

१. 'समाधिमरण' (गुजराती) से भाव ग्रहण, पृ. २२६

समाधिमरण के लिए मृत्यु-महोत्सव-भावना

अतः समाधिमरण का साधक मृत्युवेला को एक महोत्सव मानकर मृत्यु को समाधिपूर्वक स्वीकार करता है। मृत्यु-महोत्सव-भावना का भावार्थ है–वीतराग प्रभो ! मुक्तिमार्ग में प्रवृत्त मुझे आत्म-परिणामों की स्थिरतारूप समाधि और आत्मा-दर्शन-ज्ञान-रमणतारूप बोधि–जो परलोक-यात्री के मार्ग में सहायक पाथेय हैं, उन्हें दें, ताकि मैं निर्विघ्न मुक्तिपुरी पहुँच सकूँ॥१॥

हे भव्य आत्मन् ! सैकड़ों कृमियों से व्याप्त जर्जरित देहपिंजर यदि टूट जाए तो तुझे जरा भी डरने की आवश्यकता नहीं है; क्योंकि आत्मन् ! तू तो इस जड़ शरीर से पृथक् ज्ञानमूर्ति अविनाशी आत्मा है॥२॥

हे ज्ञानी आत्मन् ! मृत्युरूप महान् उत्सव प्राप्त हुआ है, उससे अब भयभीत क्यों होता है? क्योंकि देही अपने स्व-भावमय स्वरूप में स्थिर होकर दूसरी देह को पाने के लिये प्रस्थान कर रहा है, इसमें भय का क्या कारण है?॥३॥

अगर (समाधिपूर्वक) मृत्यु द्वारा सत्कर्मों का फल–स्वर्गसुखादि मिलते हैं तो सत्साधक को मृत्यु से भय कैसे हो सकता है?॥४॥

गर्भ में आया, तभी से यह मेरा आत्मा कर्मरूपी शत्रु के द्वारा देहरूपी पिंजरे में कैदी की तरह डाल दिया गया और आधि, व्याधि आदि से पीड़ित होकर दुःखी हो रहा है। इसे इस दुःखद स्थिति में से मृत्युरूपी राजा के बिना कौन छुड़ा सकता है?॥५॥

आत्मदर्शी महापुरुष इस मृत्यु नामक मित्र के प्रसाद (कृपा) से सर्वदुःख-प्रदायक देहपिण्ड को छोड़कर, देहभाव का सर्वथा त्याग करके आत्म-भाव के सतत अभ्यास से शाश्वत सुख-सम्पत्ति को प्राप्त करता है॥६॥

मृत्युरूपी कल्पवृक्ष को पाकर भी यदि उससे आत्मार्थ नहीं साधा, अर्थात् समाधि की प्राप्ति नहीं की, तो फिर वह जीव संसाररूपी गहरे कीचड़ में फँस जाएगा, तब अधोगतियों में आत्मोद्धार के लिए क्या कर सकेगा?॥७॥

अर्थात् इस मनुष्य-भव में समाधिमरण के लिए पुरुषार्थ जग जाए तो मरण साक्षात् कल्पवृक्ष के समान उपकारी होकर वांछित (आत्मा के लिए अभीष्ट) प्राप्त कराता है। अगर वैसा न हुआ और 'पर' में ममता व देहाध्यास रखकर मृत्यु हुई तो फिर अधोगति के भ्रमण में आत्मा के उद्धार का अवसर कहाँ से मिलेगा? अतः अभी से सावधान होकर प्रमाद का त्याग करके समाधिमरण को साधने में जाग्रत हो जाना चाहिए। किसी भी मूल्य पर आत्मार्थ नहीं चूकना चाहिए। जिस मृत्यु के प्रताप से जीर्ण हुए शरीर आदि सब छूटकर नवीन शरीरादि प्राप्त होते हैं, उस मृत्यु को भला सन्त (सत्साधक) आनन्द का कारण क्यों नहीं मानेंगे? ऐसी मृत्यु सातावेदनीय के उदय के समान ज्ञानी पुरुषों के लिए हर्षप्रद ही होती है॥८॥

देह में स्थित आत्मा सुख और दुःख को सदैव जानता है और परलोक भी स्वयं (आत्मा) ही गमन करता है, तव फिर परमार्थ से (वास्तव में) देखा जाए तो मृत्यु का भय किसको होता है?॥९॥

तात्पर्य यह है कि आत्मा को देह से भिन्न जानने-मानने वाला यह समझता है कि जो उत्पन्न होता है, वह मरता है। जड़ देहपिण्ड पैदा हुआ है, इसलिए वह नष्ट भी होता है। मैं (आत्मा) तो देहादि से भिन्न शुद्ध चैतन्यस्वरूप अविनाशी आत्मा हूँ। मैं उत्पन्न नहीं हुआ तो मेरा नाश भी नहीं होता। अतः इस देह को छोड़कर अन्य गति में गमन करने में मेरे स्वरूप का नाश तो है ही नहीं, तब फिर मैं मृत्यु का भय क्यों रखूँ? जिन जीवों का चित्त संसार में आसक्त है, उन्हें ही मृत्यु डरा सकती है। जो अपने चिदानन्द-स्वरूप के ज्ञान से युक्त हैं, वे तो संसार से विरक्त होने से मृत्यु उनके लिये आनन्ददायक अर्थात् महोत्सवरूप होती है॥१०॥

अपने द्वारा किये हुए सत्कर्मों का फल भोगने के लिए जब यह आत्मा परलोकगमन करता है, तब पंचभूत के इस शरीरादि के प्रपंच से इसे कौन रोक सकता है?॥११॥

साधकों को मृत्यु के समय जो रोगादि दुःख उत्पन्न होते हैं, वे सब शरीर पर होने वाले मोह का नाश करने के लिए तथा शान्ति से पूर्ण मोक्ष-सुख की प्राप्ति के लिए होते हैं॥१२॥[1]

जो मृत्यु अज्ञानी को ताप (संताप) रूप होती है, वही मृत्यु ज्ञानी के लिए अमृतरूप, अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति कराने वाली सुखरूप होती है। जैसे कच्चा घड़ा अग्नि का ताप सहकर, पककर जल धारण करने में समर्थ होता है, वैसे मृत्युरूपी अग्निताप को जो समभाव से सह लेता है, वह अमृतरूप मोक्ष को प्राप्त करने में समर्थ होता है॥१३॥

दीर्घकाल तक पंच-महाव्रतों का पालन आदि अनेक शुभ क्रियाओं की विडम्बना से जो फल संत पाते हैं, वही फल मृत्यु के समय समाधि (मानसिक-वाचिक-कायिक शान्ति) रखने से सामान्य साधक सुखपूर्वक सहज ही प्राप्त कर लेता है॥१४॥

जिस जीव को मृत्यु के समय आर्त्त (ध्यान के) परिणाम नहीं होते और चित्त शान्त होता है, वह जीव तिर्यंचगति या नरकगति में देह धारण नहीं करता। इसके विपरीत जो जीव धर्मध्यानपूर्वक अनशनव्रत सहित (संथारे सहित) मृत्यु प्राप्त करता है, वह जीव देवलोक में इन्द्र या महर्द्धिक देव होता है॥१५॥

---

१. (क) मृत्युमहोत्सव, श्लो. १-१८ का भावानुवाद

(ख) 'समाधिमरण' (गुजराती) (भोगीलाल गि. शेठ) से भाव ग्रहण, पृ. २३२-२३८

तप के संताप को (समभाव से) सहन करने का, व्रत-पालन का एवं श्रुत (शास्त्रों) के पठन करने का कोई फल हो तो वह समाधिपूर्वक यानी अपने आत्मा द्वारा मन:शान्ति और समतापूर्वक इस देह-गेह-धनादि का त्याग करना है॥१६॥

'अतिपरिचय से अवज्ञा होती है', इस लोकोक्ति के अनुसार जिसका अत्यन्त परिचय हो जाता है, उससे लम्बे अर्से बाद अप्रीति उत्पन्न हो जाती है, नई वस्तु के संग में प्रीति उत्पन्न होती है। अतः हे आत्मन् ! इस शरीर का दीर्घकाल तक तुझे परिचय रहा है, फिर भी तुझे इसके प्रति अप्रीति क्यों नहीं होती? और नये पर्याय (शरीर) के लाभ से भय क्यों करता है॥१७॥

इस प्रकार समाधिमरण की साधना करने वाला भाग्यवान् जीव स्वर्ग में सुख भोगकर पुनः मनुष्यलोक में पवित्र निर्मल कुल में, अनेक लोगों के चित्त को आनन्दरूप जन्म धारण करके अपने स्वजन आदि को विविध प्रकार की वांछा के अनुरूप धनादिरूप फल देकर तथा पूर्व पुण्य से उपार्जित भोगों को अहर्निश भोगकर आयुष्य के अनुसार अल्पकाल तक भूमण्डल में वीतरागभाव से विचरण करके, जैसे नृत्यशाला में नृत्य करने वाला नर्तक पुरुषलोक में आनन्द उत्पन्न करके चला जाता है, वैसे ही सत्साधक (संत) समस्त लोक में आनन्द उत्पन्न करके स्वयमेव देह का त्याग करके शुद्ध, बुद्ध, मुक्त चैतन्यघन पद में विराजमान (सदा के लिए स्थित) हो जाता है॥१८॥[1]

समाधिमरण में सबसे बड़ी तीन बाधाएँ

वस्तुतः समाधिमरण के साथ-साथ जीवन को भी समाधिपूर्ण बनाना आवश्यक है। यदि जीवन समाधिपूर्ण है तो व्यक्ति को समाधिमरण की ओर भी ध्यान केन्द्रित करना होगा। क्योंकि कदापि यह नहीं सोचना चाहिए कि बुढ़ापा आएगा, अवस्था ढलेगी, तब समाधिमरण की तैयारी करेंगे। समाधिमरण की तैयारी क्रमशः करनी होती है। इसमें सबसे बड़ी बाधाएँ तीन हैं—मूर्च्छा, अजागृति और कुसंस्कार। पूर्वोक्त पंक्तियों में मृत्यु को महोत्सवरूप में समझाने पर भी व्यक्ति के मन में मृत्यु का डर निकल गया हो, ऐसा प्रायः प्रतीत नहीं होता। जीने की मूर्च्छा मनुष्य को समाधिमरण की ओर प्रस्थान नहीं करने देती। जबकि एक आचार्य ने कहा है—"अरे मूढ़ ! मृत्यु से क्यों डरता है? क्या मरने वाले को मृत्यु छोड़ देती है? (अतः मृत्यु से बचना हो तो) अजन्मा (जन्म-मरणरहित) होने का प्रयत्न कर; क्योंकि जो जन्म नहीं लेता, उसे मृत्यु पकड़ नहीं सकती।"[2] एक बार समभावपूर्वक

१. (क) 'मृत्युमहोत्सव' (स्व. पं. सदासुख जी कृत वचनिका सहित), पृ. १४-३२
(ख) 'समाधि-साधना' से साभार उद्धृत

२. (क) 'समाधिमरण' (भोगीलाल गि. शेठ) से भाव ग्रहण
(ख) 'जैनधर्म : अर्हत् और अर्हताएँ' (आ. महाप्रज्ञ) से भाव ग्रहण

समाधिमरण हो जाए तो अनन्त काल का असमाधिमरण टल जाता है और वह जीव संसार के आधि, व्याधि और उपाधिरूप समस्त दुःखों से विमुक्त होकर स्व-स्वरूप की शुद्धता प्राप्त करके शिव (सिद्ध-बुद्ध-मुक्त) हो जाता है। निजानन्द और स्वरूप-शान्ति में सदा-सदा के लिए निमग्न हो जाता है। ऐसा है समाधिमरण का अपूर्व प्रभाव। ऐसी है समाधिमरण की विराट्, अद्भुत और तेजस्वी शक्ति !

समाधिमरण में असफलता का कारण : देहादि के प्रति मूर्च्छा

परन्तु समाधिमरण की इतनी महिमा और गरिमा समझने पर भी शरीर और शरीर सम्बद्ध सजीव-निर्जीव वस्तुओं के प्रति मूर्च्छावश अनादिकाल से जीव विपरीत मार्ग पर चला है, सांसारिक सुख की तथा शरीरादि की ममता-मूर्च्छा ने उसे दृढ़ता से बाँध लिया है। मनुष्य जिस अवस्था में है या रहता आया है, उसे छोड़ना नहीं चाहता। जिस मकान या गाँव में रहता है, उसे छोड़ना अत्यन्त कठिन लगता है। उसने जहाँ-जहाँ जिस प्रकार से शरीर धारण करके जन्म लिया है, वहाँ-वहाँ वह देहात्मबुद्धि-देहाध्यास रखकर चला है। देव-गुरु-निर्ग्रन्थ के वचन, शास्त्र-श्रवण, धर्मक्रियाएँ करने पर भी अन्तकाल में देह, स्त्री-पुत्रादि तथा समस्त अचेतन पदार्थों के प्रति ममत्वभाव रखकर शरीर-त्याग किया, इससे असमाधिमरण ही उसने प्राप्त किया ! प्रत्येक बार मरण के अवसर पर वह ऐसे ही करता आया है। देव-दुर्लभ मनुष्यदेह इससे पूर्व अनन्त बार प्राप्त होने पर भी इसकी उत्तमता को नहीं समझने से कुछ भी सफलता नहीं मिली।

कुसंस्कार : समाधिमरण की साधना में बाधक

समाधिमरण में दूसरी बाधा है–**कुसंस्कार**। व्यक्ति के कुसंस्कार इतने सघन बन जाते हैं कि वह इस शरीर के प्रति ममता-मूर्च्छा को छोड़ना नहीं चाहता। इतना ही नहीं, इस शरीर से जो सम्बन्ध बना हुआ है, उसे छोड़ने का उसका मन नहीं होता। वह मान लेता है कि परिवार, घर और धन आदि सब छूट जाएँगे। बीमारी बढ़ रही है। ठीक से खाया-पीया भी नहीं जाता। साँस लेने में भी दिक्कत होती है, फिर भी उसका प्रयत्न रहता है–जैसे-तैसे जीने का। जीने में कोई सार नहीं है, फिर भी स्वेच्छा से समभावपूर्वक शान्ति से मृत्यु को स्वीकार करना उसे अच्छा नहीं लगता। ये ममता-मूर्च्छा के कुसंस्कार समाधिपूर्वक देह को छोड़ने नहीं देते। समाधिमरण का एक विशिष्ट प्रयोग है–**मृत्युमहोत्सव**। यह जिसे हृदयंगम हो जाता है, उस व्यक्ति को मृत्यु की चिन्ता नहीं सताती। जो इस प्रकार की निश्चिन्तता का जीवन जीता है, वही इसकी अनुभूति कर सकता है। उसे न तो जीने की चिन्ता सताती है, न ही

पिछले पृष्ठ का शेष–

(ग) मृत्योर्विभेषि किं मूढ़ ! भीतं मुंचति नो यमः।
अजातं नैव गृह्णाति, कुरु यत्नमजन्मनि॥ *–अज्ञात*

मरने की और न मरने के बाद की। मूर्च्छाग्रस्त व्यक्ति सोचता है-मेरा अमुक काम रह गया है, अमुक प्राप्त करना शेष है। इस प्रकार की मूर्च्छा जिसकी समाप्त हो जाती है, जिसे परिपूर्णता का-जीवन की सन्तुष्टि का-सूत्र प्राप्त हो जाता है, वही समाधिपूर्वक मृत्यु का आलिंगन कर सकता है।

अजागृति : समाधिमरण की सबसे बड़ी बाधा

समाधिमरण में तीसरी बाधा है-**अजागृति**। समाधिमरण का साधक मृत्यु के आने से पहले ही मृत्यु के आसार दिखते ही, अथवा मृत्यु का कोई लक्षण दिखाई न देता हो तो भी प्रतिक्षण सावधान और जागरूक रहता है। उसके मन-मस्तिष्क में 'उत्तराध्ययनसूत्र' की यह गाथा अंकित रहती है कि जिस व्यक्ति की मृत्यु के साथ मैत्री हो, अथवा जो दूर कहीं भागकर मृत्यु से छूट सकता हो, अथवा जिसे यह निश्चय हो जाए कि मैं कदापि नहीं मरूँगा, वह भले ही सुख से सो सकता है। किन्तु ज्ञानी एवं जाग्रत साधक को तो दृढ़ निश्चय होता है कि ये तीनों बातें असंभव हैं।[1] मृत्यु का देर-सबेर से आगमन निश्चित है, उससे भागना या छटकना असम्भव है, किसी देहधारी के न मरने की कल्पना ही आकाश-कुसुमवत् असम्भव है। मृत्यु प्रत्येक देहधारी प्राणी के लिए अनिवार्य है। वह किसी के साथ मैत्री या रियायत नहीं करती, न ही किसी के मुलाहिजे में आती है। प्राणी का आयुष्य क्षीण होते ही मृत्यु निश्चित रूप से आती है। ऐसी स्थिति में आत्मा का उपयोग पर-भाव या विभावों में लीन रहे; मृत्यु के समय समता और शान्ति सुरक्षित न रहे, इहलौकिक-पारलौकिक आशंसाओं में ग्रस्त हो जाए तो ऐसा अजाग्रत साधक समाधिमरण प्राप्त नहीं कर पाता। ऐसे अजाग्रत और देह-मोहग्रस्त व्यक्ति की मृत्यु निष्फल हो जाती है। ऐसे मरण तो अनेक बार हुए हैं, परन्तु समाधिपूर्वक न होने से जन्म-मरण के अनेकानेक चक्कर लगाने पड़ते हैं, पड़े हैं।[2]

समाधिमरण-साधक मृत्यु के प्रति सदा आशंकित, जाग्रत और सतर्क रहता है

समाधिमरण का साधक यदि प्रतिक्षण मृत्यु से आशंकित रहता है तो 'आचारांगसूत्र' में कहा गया है-"**माराभिसंकी मरणा पमुच्चइ।**"-जो मृत्यु से सदा आशंकित रहता है, यानी मृत्यु को प्रतिक्षण सिरहाने खड़ी देखता है, वह मरण से प्रमुक्त हो जाता है।

---

१. **जस्सत्थि मच्चुणा सक्खं, जस्स वऽतित्थ पलायणं।**
जो जाणे न मरिस्सामि, सो हु कंखे सुएसिया॥ *-उत्तराध्ययन, अ. १४, गा. २७*

२. (क) 'जैनधर्म : अर्हत् और अर्हताएँ' से भाव ग्रहण, पृ. ७९-८०
(ख) 'समाधिमरण' (गुजराती) से भाव ग्रहण, पृ. १९
(ग) 'श्रावकधर्म-दर्शन' से भाव ग्रहण, अ. ४, पृ. ६२५

इसीलिए समाधिमरण-साधक यह भलीभाँति जानता-मानता है कि मृत्यु का कोई विश्वास नहीं है कि वह कब, किस क्षण आ जाय? इसलिए वह हर समय सावधान और जाग्रत रहता है। काल पहले से ही चेतावनी या सूचना दिये बिना अकस्मात् आ धमकता है। ज्ञानी पुरुषों के सिवाय प्रायः इस बात का निश्चित ज्ञान पहले से सर्वसाधारण को नहीं होता कि मृत्यु कब, किस दिन और किस घड़ी में आएगी? इसलिए वह बुढ़ापे, रुग्णता, अशक्ति या अमुक अवस्था के भरोसे निश्चिन्त होकर नहीं बैठ जाता कि अभी तो मृत्यु के कोई लक्षण नहीं हैं। यह तो प्रायः सबका प्रत्यक्ष अनुभव भी है कि अपने देखते-देखते स्वस्थ, बलिष्ठ, जवान और होनहार व्यक्ति भी मौत के मुँह में चले गये हैं। यही कारण है कि समाधिमरण के साधक पहले से ही सतर्क रहते हैं। इसीलिए विचारक एवं आराधक साधक पहले से ही जाग्रत और सतर्क होकर शरीर और शरीर से सम्बन्धित जड़-चेतन पदार्थों के प्रति मोह-ममता से रहित होने का सतत प्रयत्न करते हैं। वे अपना अधिकांश समय आत्म-चिन्तन, आत्म-निरीक्षण, स्वाध्याय, ध्यान, समाधि एवं आत्म-शुद्धि करने में बिताते हैं।[१]

मृत्यु की बेला में कठोर परीक्षा में कौन सफल, कौन असफल ?

जीवन की अन्तिम घड़ी में जब आत्मा शरीर से विदाई ले रहा हो, तब शरीर में आत्म-बुद्धि छूट जाए, समता और शान्ति सुरक्षित रहे तो समझना चाहिए कि मृत्यु की कठोर परीक्षा में साधक सफल हुआ है। किन्तु यदि शरीर छूटते समय आत्मा का उपयोग देह-मोहवश देह में चिपटा रहे, देह में उसकी आत्म-बुद्धि रहे तो समझ लो इस परीक्षा में वह असफल हुआ है। इस प्रकार प्रत्येक बार मृत्यु के समय जीव बाजी हारता चला गया। मानव देह की श्रेष्ठता उसकी समझ में नहीं आई।

समाधिमरण की प्रबल कसौटी : मृत्यु

वस्तुतः मृत्यु साधक के लिए जबर्दस्त कसौटी है। इसका यह अर्थ नहीं है कि मृत्यु के समय ही असातावेदनीय कर्म के उदयवश भयंकर दुःख, कष्ट, वेदना या पीड़ा सहन करनी पड़ती है, कई बार जीवितकाल में भी भयंकर कष्ट असातावेदनीय के उदय से भोगने पड़ते हैं। जीवितकाल में भी वे उसके लिए कसौटी के साधन हैं, मृत्युकाल में तो विशेष रूप से जागृति के प्रेरक हैं। मृत्यु की घड़ियों में आत्मा कितनी शान्ति और समता रख सकता है? वह धर्मभावना का उस समय कितना सहारा लेता है? परमात्मा या शुद्ध आत्म-देव का कैसा और

---

१. (क) आचारांग, श्रु. १, अ. २, उ. १

(ख) एस मरणा पमुच्चइ, से हु दिट्ठपहे मुणी। —*आचारांग, अ. ३, उ. २*

(ग) 'श्रावकधर्म-दर्शन' से भाव ग्रहण, पृ. ६२३

कितना स्मरण रखता है? देह-त्याग की कसौटी की बेला में देहात्म-बुद्धि कितनी कम है? इसी को ज्ञानी पुरुष समाधिमरण की प्रबल कसौटी कहते हैं।

आराधना-विराधना की प्रबल कसौटी भी मृत्यु है

सचमुच, आराधना और विराधना की या समाधिमरण की सफलता-असफलता की कसौटी मृत्यु ही है। मृत्यु के पैमाने से आराधक और विराधक को नापा जाता है। मृत्यु के समय ही वास्तव में पता लगता है कि अमुक साधक आराधक है या विराधक? यों तो कहने को सभी लोग अपने-अपने मृत पारिवारिक जनों या साम्प्रदायिक पुरुषों को आराधक कह देते हैं। परन्तु किसी की आराधकता या विराधकता की सच्ची कसौटी तो मृत्युकाल में ही होती है? कई साधक जीवन के पूर्वार्द्ध में जीवनकला में सिद्धहस्त एवं सफल दिखाई देते हैं, किन्तु जीवन के उत्तरार्द्ध में मृत्यु के निकट आने पर वे उस परीक्षा में असफल हो जाते हैं। जबकि कई साधक जीवन के पूर्वार्द्ध में जीवनकला में बिलकुल पिछड़े, अनभ्यस्त, पामर और अज्ञ-से दिखाई देते हैं, किन्तु जीवन के उत्तरार्द्ध में वे ही लोग सँभल जाते हैं। अपने पिछले अशुभ जीवन को आलोचना, गर्हा, पश्चात्ताप (आत्म-निन्दना) और प्रायश्चित्त द्वारा तथा कषाय और शरीर को समभाव से कृश करके संलेखना की आग में झोंककर सौ टंच सोने-सा शुद्ध बना लेते हैं और अन्तिम समय में प्रसन्नतापूर्वक समाधिमरण (संथारे) सहित मृत्यु का सहर्ष आलिंगन करते हैं। वे मृत्यु को पराजित कर देते हैं, मृत्यु उन्हें पराजित नहीं कर पाती। इस प्रकार वे अपनी अन्तिम परीक्षा में सफल आराधक हो जाते हैं। वैसे मृत्यु किसी सम्प्रदाय, जाति, धर्म, कौम, प्रान्त या राष्ट्र के गण्य-मान्य व्यक्ति की परवाह नहीं करती। वह हर एक के पास आती है और परीक्षा करके चली जाती है। उस परीक्षा में जो सफल होता है, खरा उतरता हैं, उसे आराधक कहा जाता है और जो असफल होता है, खरा नहीं उतरता, उसे विराधक। जीवन की सन्ध्या के समय टिमटिमाते हुए जीवन दीपक के बुझने की बेला में जो साधक अपनी बाजी जीत जाता है, मृत्यु उस पर आराधक की और जो हार जाता है, उस पर विराधक की छाप लगाकर चली जाती है।

जीवितकाल की अन्यान्य कसौटियों की अपेक्षा मृत्युकाल की कसौटी बलवती होती है। जीवितकाल की कसौटी तो आती है और चली जाती है, जबकि मृत्युकाल की कसौटी तो अन्तिम होती है, वह आकर सदा के लिए चली जाती है। वह व्यक्ति के दुर्भाग्य या सौभाग्य का, आराधक या विराधक का अथवा सफलता या असफलता का फैसला करके ही जाती है। समाधिमरण के साधक एवं आराधक के लिए तो जीवितकाल की कसौटियाँ भी जागृति-प्रेरक एवं बोधदायक हैं, वह इनसे बोध प्राप्त करके प्रतिक्षण जाग्रत रहकर अन्तिम समय में भी एकमात्र आत्मा के

स्व-भावों में, निज-गुणों में रमण करता हुआ संसार-सागर को पार कर जाता है, सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हो जाता है, अथवा उच्च देवलोक को प्राप्त करके अगले भव में मनुष्य-जन्म पाकर सिद्ध-बुद्ध-मुक्त परमात्मा बन जाता है, जन्म-मरण से सदा के लिए विमुक्त हो जाता है। अतः समाधिमरण प्राप्त करने के इच्छुक व्यक्ति को मृत्यु का विभिन्न पहलुओं से अध्ययन, मनन और मन्थन करना आवश्यक है। उसे मृत्यु का स्पष्ट दर्शन होना चाहिए।

मृत्यु के प्रकार, निमित्त और समाधि-असमाधिपूर्वक मरण

समाधिमरण-साधक को मृत्यु के मुख्य प्रकार तथा मृत्यु किन-किन निमित्तों को लेकर होती है? यह जानना आवश्यक है। 'भगवतीसूत्र' में मरण के मुख्यतया पाँच प्रकार बताए गए हैं–(१) **आवीचिकमरण** (वीचि से तरंग के समान प्रतिसमय भोगे जाते हुए आयुष्यकर्मदलिकों के उदय के साथ-साथ क्षय रूप अवस्था का चालू रहना), (२) **अवधिमरण** (अवधि = मर्यादासहित मरण यानी नरकादि भवों के कारणभूत वर्तमान आयुकर्मदलिकों को भोगकर जीव एक बार मर जाए तदनन्तर यदि पुनः उन्हीं आयुकर्मदलिकों को भोगकर मृत्यु प्राप्त करें तो पुनर्ग्रहण की अवधि तक जीव का मृत रहना अविधमरण है), (३) **आत्यन्तिकमरण** (नरकादि आयुष्यकर्म के रूप में जिनदलिकों को एक बार भोगकर जीव मर जाए, पुनः कदापि उनको भोगकर न मरना अत्यन्त रूप से मरना), (४) **बालमरण** (अविरत = व्रतादिरहित प्राणियों का मरण), और (५) **पण्डितमरण** (सर्वविरत साधु-साध्वी का मरण)।[1]

मृत्यु होने के बाह्य कारण तो सर्वविदित हैं–शारीरिक व्याधि, मानसिक आधि (व्यथा, उद्विग्नता, तनाव, पीड़ा आदि) से; अकस्मात् (दुर्घटना = एक्सीडेंट) से, उपसर्ग (देवकृत, मनुष्यकृत या तिर्यंचकृत उपसर्ग = उपद्रव या कष्ट प्रदान) से और आयुष्य पूर्ण होने पर सहजभाव से तथा स्वेच्छा से।

व्याधि के निमित्त से मरण और समाधिभाव कैसे और कैसे नहीं?

शारीरिक व्याधि अनेक प्रकार की होती है। कई व्याधियाँ ऐसी होती हैं, जिनके उत्पन्न होने पर तत्काल मृत्यु हो जाती है, जैसे–हार्टफेल, ब्रेन हेमरेज, दम घुटना आदि। कई रोई ऐसे दुःसाध्य होते हैं, जो कुछ लम्बे समय चलते हैं और अन्त में रोगी मरणशरण हो जाता है। जैसे–कैंसर, एड्स, टी. बी. (क्षयरोग), दमा, मधुमेह, किडनी का फेल हो जाना आदि। इन रोगों के चंगुल में फँसने पर एक दिन शरीर अवश्य छूट जाता है। वृद्धावस्था भी एक प्रकार की व्याधि है। बुढ़ापे में शारीरिक शक्ति क्षीण हो जाती है, इन्द्रियों का बल घट जाता है,

१. भगवतीसूत्र, श. १३, उ. ७, सू. २३

शारीरिक अंगोपांग शिथिल हो जाते हैं। शरीर निस्तेज हो जाता है। ऐसे में अत्यन्त शारीरिक, मानसिक दुर्बलता के कारण शरीर छूट जाता है। इन सब के निमित्त से मृत्यु के समय अगर शान्ति, समाधि और समता न हो, शरीरादि के प्रति ममता-मूर्च्छा का त्याग न हो, आहार, शरीर, उपधि तथा अट्ठारह पापस्थानों का अन्तर से त्याग न हो, सब जीवों से क्षमापनापूर्वक समाधिभाव न हो तो उस मरण को समाधिमरण नहीं कहा जा सकता। क्योंकि समाधिमरण जीव के आन्तरिक शुभ या शुद्ध मनोभावों पर निर्भर है। अगले भव का आयुष्यबन्ध, गति और योनि का निश्चय तथा पुण्य-पाप के फलस्वरूप मिलने वाले संयोग भी जीव के अन्तिम समय के परिणामों की धारा पर निर्भर हैं।[1]

आकस्मिक मरण क्या, कैसे-कैसे और समाधिभाव कैसे ?

इसके बाद आकस्मिक मरणों का नम्बर आता है। ये किसी न किसी कारण से अकस्मात् होते हैं। वे कारण प्रायः ये हैं–भूकम्प, बाढ़, हार्टफेल, रेल-मोटर दुर्घटना, बिजली का गिरना, अग्निकाण्ड, विमान दुर्घटना, हत्या आदि। ऐसे मरण प्रायः अस्वाभाविक, अकाल-प्राप्त और करुणाजनक होते हैं। इनसे स्वयं को तथा स्नेहीजनों–स्वजनों को बहुत आघात लगता है। ऐसे आकस्मिक मरण के समय जीव के परिणाम स्थिर तथा सम रहने अत्यन्त कठिन होते हैं। किसी दुर्घटनाओं के समय व्यक्ति का उपयोग प्रायः देहभाव में ही लगा रहता है। इस कारण मन में आर्त्तध्यान करते हुए असमाधिपूर्वक ही देह-त्याग होता है। ऐसे आकस्मिकमरण के समय कोई विरलता ही सम्यग्दृष्टि और दृढ़धर्मी श्रावक या श्रमण देहादि पर ममत्वबुद्धि हटाकर समाधिभाव से प्रसन्नतापूर्वक मृत्यु का वरण करता है। हृदय का दौरा पड़ने अथवा हृदयगति बन्द हो जाने से जो मृत्यु होती है, उस समय ज्ञानी साधक ही समाधिपूर्वक मृत्यु का वरण कर पाता है। पैर रपटने से गिर पड़ने पर अथवा ठेस लगने से दूर फेंके जाने पर मस्तक किसी ठोस पत्थर आदि के साथ टकरा जाय और उससे शरीर छूट जाय, इसकी गणना भी आकस्मिक मृत्यु में की जा सकती है। अज्ञानी के परिणामों की धारा ऐसे अकस्मातों के अवसर पर संक्लिष्ट होने से उसकी मृत्यु को समाधिमरण की संज्ञा नहीं दी जा सकती। यदि बेभान दशा में मृत्यु हो जाए तो उसे एकान्ततः समाधिमरण नहीं कहा जा सकता। समाधिमरण तो तब कहा जा सकता है, जब अन्तिम समय में बाहर से भान न होते हुए भी अन्तर्मन में वह जाग्रत हो, उसे अपनी मृत्यु की स्पष्ट प्रतीति हो, लक्ष्य की ओर दृष्टि हो।

---

१. 'समाधिमरण' (गुजराती) से भाव ग्रहण, पृ. २५

उपसर्ग से मृत्यु होने में निमित्त और समाधिपूर्वक मरण वरण

उपसर्ग से मृत्यु होने में देव, मनुष्य या संज्ञी तिर्यंच पंचेन्द्रिय जीव निमित्त बनते हैं। पूर्व-जन्म के या पूर्वकृत वैर के उदय से किसी के द्वारा प्राण-हरण करना है अथवा किसी कारणवश कष्ट देना अथवा विपत्तियों की बौछार करना उपसर्ग कहलाता है। ऐसे उपसर्ग ज्ञानी पर भी आ सकते हैं, अज्ञानी पर भी। भावी तीर्थंकर पर आने वाले उपसर्ग समभाव से सहे जाने के कारण प्रायः निष्फल हो जाते हैं। भावी केवलज्ञानी पर आए हुए उपसर्ग प्राणघातक हों या न हों, वे अन्तकृत्केवली बन जाते हैं। वे अपने कर्मों का फल समभाव से सहकर जन्म-मरण का समूल अन्त कर देते हैं। जैसे—गजसुकुमार मुनि पर सोमल द्वारा दिया हुआ उपसर्ग उनके प्राणों का घातक होने पर भी उनके द्वारा समाधिपूर्वक मृत्यु का स्वीकार होने से वह उनके लिए सर्वकर्ममुक्तिरूप मोक्ष का कारण बना।

देवकृत उपसर्ग के समय समभाव-समाधिभाव रखना कठिन

व्यन्तर जाति के देवी-देव द्वारा किया गया उपसर्ग मनुष्यों को भयभीत और आतंकित कर डालता है। ऐसे समय में मृत्यु के अवसर पर समभाव व समाधिभाव रखना बहुत ही कठिन होता है। जैसे—अर्हन्नक श्रावक को धर्म से विचलित करने के लिए एक व्यन्तरदेव ने कई तरह डराया-धमकाया और मरणान्त कष्ट पहुँचाने का उपक्रम भी किया। उसके जहाज को भी उलटा दिया। किन्तु शान्ति और धैर्य से उस उपसर्ग को सहकर वह धर्म पर दृढ़ रहा। अतएव देव ने अपना उपसर्ग दूर किया।

मनुष्यकृत उपसर्ग के समय समाधिभाव रखना कितना कठिन, कितना आसान ?

मनुष्य के द्वारा मनुष्यों पर कहर बरसने वाला उपसर्ग भयंकर प्राणघातक होता है। लेकिन ऐसे उपसर्ग के समय भी ज्ञानी साधक समाधिपूर्वक मृत्यु का वरण करते हैं। श्रावस्ती से विहार करके स्कन्दककुमार मुनि अपने ५०० शिष्यों के सहित अपनी सहोदरी बहन पुरंदरयशा को प्रतिबोध देने हेतु कुम्भकटकपुर पहुँचे। वहाँ के राजा दण्डक का मंत्री पालक महापापी क्रूर तथा जैनधर्म का द्वेषी था। उसने जब सुना कि स्कन्दक मुनि आये हैं, तो राजा को भड़काकर पालक के राजा ने यथेच्छ करने की आज्ञा ले ली। उसने निर्दयतापूर्वक ५०० ही स्कन्दक शिष्यों को घाणी में पील दिया। परन्तु उन्होंने समाधिपूर्वक मृत्यु का वरण किया। अन्त में स्कन्दक मुनि को भी पकड़कर कोल्हू में पील दिया, परन्तु वे समाधिस्थ न रह सके। इसी प्रकार श्रावस्ती के राजकुमार स्कन्दक मुनि बनकर अपनी बहन सुनन्दा को दर्शन देने हेतु कुन्तीनगर गये। पारणे के दिन राजमहल के नीचे से गुजरे तब सहसा वहाँ के राजा पुरुषसिंह ने प्रकुपित होकर इनकी चमड़ी उतारने का आदेश

दिया। उस समय भयंकर वेदना होते हुए भी समाधिस्थ रहे। अद्‌भुत तितिक्षा के कारण मुनि को केवलज्ञान और मोक्ष प्राप्त हो गया।[1]

उपसर्ग के समय निर्भय होकर देहोत्सर्ग करना समाधिमरण है

यथाविष्ट अर्जुनमाली के आतंक के समय राजगृहनगरवासी सुदर्शन श्रमणोपासक ने अपने पर उपसर्ग आया जानकर समाधिपूर्वक सागारी संथारा (आमरण अनशन) कर लिया था और अर्जुनमाली का उपसर्ग दूर हो जाने पर उसे पार लिया था। इसी प्रकार ज्ञानी साधक ऐसे उपसर्गों के आने पर घबराता नहीं, बल्कि निश्चल, निर्भय और निश्चिन्त होकर देहादि के प्रति ममत्व का त्याग करके सागारी अनशन करता है। यदि उस उपसर्ग में ही उसकी मृत्यु हो जाती, तो वह धर्म-पालन करते हुए प्रसन्नता एवं समाधिपूर्वक मृत्यु का आलिंगन करता है।

समत्वयोगी मृत्युंजयी गजसुकुमार मुनि महाकाल श्मशान में एक अहोरात्रि की बारहवीं भिक्षुप्रतिमा धारण करके कायोत्सर्ग में स्थित थे। तभी संध्या समय सोमिल ब्राह्मण पूर्वभवबद्ध वैर का बदला लेने हेतु वहाँ आया। मुनि के सिर पर गीली मिट्टी की पाल बाँधी और जलती हुई चिता में से धधकते अंगारे लाकर मस्तक पर उँडेल दिये। हड्डी, माँस और रक्त तपने/पकने लगा। असत्य मारणान्तिक वेदना थी। परन्तु इस मनुष्यकृत उपसर्ग को समभाव से, धैर्य और शान्ति से उन्होंने सहन किया। सोचा—देह जल रहा है, मेरी आत्मा तो नहीं जल रही है। मेरे ज्ञान-दर्शन-चारित्र-सुख आदि आत्म-गुणों पर तो कोई भी आँच नहीं आ रही है। जिसने मुझ पर यह उपसर्ग किया है, वह तो मुझे संसार से, जन्म-मरणादि से मुक्त होने, सर्वकर्मक्षय करने में सहायता करने वाला सहायक है, मित्र है। इस प्रकार उनकी आत्म-समाधि बिलकुल खण्डित नहीं हुई और उक्त समाधिमरण के प्रभाव से उसी रात्रि में देह छूटते ही वे सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हो जाते हैं। मनुष्य द्वारा मनुष्य पर किये गए घोर उपसर्ग के अवसर स्व-धर्मरक्षा के लिए समाधिपूर्वक मृत्यु का स्वीकार करके समभावपूर्वक देह छोड़ने का यह ज्वलन्त उदाहरण है।[2]

इसी प्रकार का एक उदाहरण मानवकृत उपसर्ग के समय शीलरक्षा के लिए समाधिपूर्वक मरण का चन्दनबाला की माता धारणी का है। शतानीक द्वारा

१. (क) 'श्रावकधर्म-दर्शन' से भाव ग्रहण, पृ. ६३२-६३३
(ख) देखें—गजसुकुमार मुनि का वृत्तान्त अन्तकृद्दशा में
(ग) देखें—ज्ञातासूत्र, अ. ८ में अर्हन्नक श्रेष्ठी का वृत्तान्त
(घ) देखें—निशीथचूर्णि एवं त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र, प. ७ में स्कन्दककुमार मुनि का वृत्तान्त
(ङ) देखें—आवश्यककथा में स्कन्दक मुनि का वृत्तान्त

२. (क) देखें—सुदर्शनश्रमणोपासक का वृत्तान्त अन्तकृद्दशांगसूत्र में
(ख) देखें—गजसुकुमार मुनि पर आये हुए मरणान्तक उपसर्ग का वृत्तान्त अन्तकृद्दशांकसूत्र में

चम्पानगरी पर किये गये आक्रमण के दौरान निरंकुश सैनिकों ने नगरी में लूटपाट शुरू कर दी। एक रथ सैनिक राजमहलों से धारणी रानी और उसकी कन्या वसुमती (चन्दनबाला) को जबर्दस्ती अपने रथ में बिठाकर चल पड़ा। रास्ते में उसने धारणी रानी को अपनी निकृष्ट वासनापूर्ति का शिकार बनाना चाहा। बहुत समझाने पर भी वह नहीं माना तो इस मानवकृत उपसर्ग के समय शीलरक्षा के लिए अन्य कोई उपाय न देखकर जीभ खींचकर समाधिपूर्वक प्राणोत्सर्ग कर दिया। 'स्थानांगसूत्र' में बताया है–साधक/साधिका के शील पर, धैर्य पर, व्रत पर या आत्मा पर किसी के द्वारा उपसर्ग (संकट) आया हो; उस समय उस निमित्त पर रोषादि या द्वेषादि आवेशरहित होकर शील, धर्म, व्रत या आत्मा की रक्षा के लिए समभावपूर्वक प्राणोत्सर्ग करने वाला समाधिमरण का आराधक है, विराधक नहीं। वह आत्म-हत्या नहीं, आत्म-रक्षा है।[१]

मनुष्य द्वारा मनुष्यों–तिर्यंच पशुओं पर होने वाले उपसर्ग कृत मरण

इस प्रकार मनुष्य द्वारा मनुष्य पर तथा तिर्यंच पशुओं पर होने वाले प्राण-हानि पर्यन्त के उपसर्ग के अनेक उदाहरण इतिहास में तथा आज भी प्रसिद्ध हैं। वैर का बदला लेते समय, युद्ध के समय, कलह-क्लेश के समय, स्वतंत्रता-संग्राम के समय, किसी निकृष्ट स्वार्थ के समय, बड़े राजनैतिक अपराधों की खोज के समय, आन्तरिक आन्दोलन के समय अथवा डाकुओं, उग्रवादियों, आतंकवादियों के आतंक के समय, शासक और जनता अथवा अधिकारी और जनता के बीच वैर-विरोध के उदय से होने वाले रक्तपात के समय, धर्मान्धता और असहिष्णुता के कारण उत्पन्न होने वाली घटनाओं के समय में तथा जर, जोरू और जमीन के लिए होने वाले झगड़ों एवं इन और ऐसे ही अन्यात्य प्रसंगों के समय जो मनुष्य के द्वारा मनुष्यों का घात होता है। वे सभी मरण उपसर्ग की कोटि में आते हैं। और प्रायः वे सब असमाधिमरण होते हैं, इस रूप में सभी समाधिमरण भी होते हैं। उदाहरण के तौर पर–राष्ट्रपिता महात्मा गांधी जी की हत्या प्रार्थना के समय नाथूराम गोड़से द्वारा हुई थी। उस मरणान्त समय में भी उनके मुख से 'हे राम' शब्द निकला था। इसी प्रकार धर्मिष्ठ व्यक्ति को धर्मान्धों द्वारा प्राणघातक उपसर्ग होने पर समाधिमरण होता है।[२]

---

१. (क) देखें–चंदनबाला (वसुमती) चरित्र (आचार्य श्री जवाहरलाल जी महाराज) में, धारिणी रानी के प्राणोत्सर्ग का वृत्तान्त

(ख) स्थानांगसूत्र, स्था. ३

(ग) आवश्यकनिर्युक्ति

२. 'समाधिमरण' (गुजराती) से भाव ग्रहण, पृ. २७-२८

तिर्यंचकृत उपसर्ग के समय प्रायः असमाधिमरण, क्वचित् समाधिमरण

तिर्यंचकृत उपसर्ग संज्ञी तिर्यंच पंचेन्द्रिय हिंस्र जीवों (बाघ, भेड़िया, सिंह, सर्प, चीता आदि जानवरों) के निमित्त से होता है और उसी उपसर्गवश मनुष्य की मृत्यु हो जाती है। ऐसे उपसर्ग ज्ञानी पर भी आते हैं और अज्ञानी पर भी। ज्ञानी पुरुष ऐसे उपसर्ग के समय निर्भय, निश्चल, देहात्मबुद्धिरहित और समभाव एवं समाधिभाव में होते हैं। उनकी मृत्यु समाधिमरण कहलाती है। सुकौशल मुनि का द्रष्टान्त इस उपसर्ग के सम्बन्ध में उपयुक्त है। अपने पिता कीर्तिधर राजा जब विरक्त होकर मुनि बन गए तो एक दिन अपनी माता सहदेवी रानी के राजर्षि के प्रति दुर्व्यवहार को देखकर सुकौशल भी उनके पास दीक्षित हो गया। रानी सहदेवी-पुत्र के मुनि बन जाने से विलाप करती हुई आर्त्तध्यानवश मरकर एक वन में व्याघ्री बनी। एक बार कीर्तिधर और सुकौशल मुनि पर्वत की गुफा से निकलकर चातुर्मासिक तप का पारणा करने नगर की ओर जा रहे थे, तभी वह व्याघ्री पूर्व-भव के वैरवश सुकौशल मुनि पर झपट पड़ी। मारणान्तिक तिर्यंच उपसर्ग आया जानकर वे संथारा करके कायोत्सर्गस्थ हो गए। व्याघ्री ने उनके शरीर को क्षतविक्षत कर डाला। माँस और रक्त-सेवन करने लगी। मुनि को समाधिभाव और समभाव के कारण केवलज्ञान प्राप्त हो गया और उनकी आत्मा शरीर-व्युत्सर्ग करके सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हो गई। यह है ज्ञानी पुरुष का तिर्यंचकृत मरणान्त उपसर्ग के समय समाधिमरणपूर्वक काया का उत्सर्ग ! परन्तु अज्ञानी जीव ऐसे मरणान्त उपसर्ग के समय असावधान होते हैं। वे निमित्त पर रोष-द्वेष करते हुए तथा आर्त्त-रौद्रध्यान करते हुए एवं शरीर और शरीर-सम्बद्ध सभी वस्तुओं पर आसक्त होकर हाय-हाय करते हुए देह-त्याग करते हैं, अथवा बेहोशी में ही उनका शरीर छूट जाता है। इसलिए उनका वह मरण असमाधिमरण होता है। अत्यन्त भयभीत करने और कँपाने वाले ऐसे उपसर्गों के समय चित्त में स्थिरता या समाधि रहनी अथवा धर्मध्यान में एकाग्र होना अत्यन्त दुष्कर है। इसी कारण अज्ञानी जीवों का उपयोग देह के प्रति ममत्व के कारण उन्हें समाधिमरण प्राप्त होना कठिन है।[१]

समाधिमरण की तैयारी के लिए चिन्तन-बिन्दु

एक बार आत्मा की पूर्ण नित्यता का अनुभव हो जाने के पश्चात् आत्मा तुरंत ही निर्भय हो जायेगा। फिर सारे जगत् के जीवों को डराने-कँपाने वाली मृत्यु के सामने वह निर्भय होकर खड़ा रहेगा ही। उसकी आत्मा शूरवीर बन जायेगी। आत्मा में अनन्त शक्ति है। .... ऐसी दशा प्राप्त करने के लिए पहले से ही

१. 'समाधिमरण' से भाव ग्रहण, पृ. २८

निरुपाधिक निवृत्ति प्राप्त करनी चाहिए। साथ ही उसे ज्ञानी पुरुषों की संगति करनी चाहिए। सभी जीवों से क्षमायाचना भी कर लेनी चाहिए। .... ऐसा करने से वह साधक अपने साध्य को नहीं भूलता और मरणादि प्रसंग उपस्थित होने पर सच्चा योद्धा बन जाता है।

इस पर विचार करके समाधिमरण की तैयारी के रूप में सद्विचार, कषाय की मन्दता-उपशान्तता या क्षय, मोह और देहाध्यास के त्याग आदि के लिए द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से निवृत्ति का सेवन करना चाहिए। और आज से ही सत्संग, सत्समागम, सद्ग्रन्थों का वाचन, सत्पुरुषों और उनकी वाणी का बहुमानपूर्वक श्रवण-मनन, वैराग्य तथा उपशमादि की आराधना करनी अनिवार्य है। यदि सम्यग्दृष्टिपूर्वक समाधिमरण की आराधना इस भव में इसी प्रकार की जाए तो अनेक भवों का भ्रमण रुक जाता है, जन्म-मरण का अन्त भी हो सकता है।[१]

अकस्मात् और उपसर्गों से सम्बन्धित प्रसंगों में किये जाने वाले समाधिमरण को देखते हुए उसे दो भागों में विभक्त कर सकते हैं—आकस्मिक समाधिमरण और संलेखनापूर्वक समाधिमरण। आकस्मिक समाधिमरण को आपत्कालीन समाधिमरण भी कहा जा सकता है। परन्तु दोनों ही प्रकार के समाधिमरणों में शान्ति, समाधि, धैर्य आदि का होना अनिवार्य है।

●●

---

१. 'समाधिमरण' से भाव ग्रहण, पृ. २२७

१५

संलेखना-संथारा : मोक्ष यात्रा में प्रबल सहायक

जीवनकला जितनी महत्त्वपूर्ण है, उससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण है मृत्युकला! जीवन जीना यदि अध्ययनकाल है तो मृत्यु परीक्षाकाल है। जो व्यक्ति परीक्षाकाल में जरा-सी भी असावधानी करता है, वह परीक्षा में अनुत्तीर्ण हो जाता है। जिस छात्र ने वर्षभर कठिन परिश्रम किया है, वह परीक्षा देते समय घबराता नहीं है। उसके मन में एक प्रकार का उत्साह होता है कि मैं परीक्षा में सफल होकर आगे की उच्च कक्षा में प्रविष्ट हो जाऊँगा। ऐसा छात्र प्रथम श्रेणी में समुत्तीर्ण भी होता है। वैसे ही श्रमणव्रत की या श्रमणोपासक (श्रावक) व्रत की साधना जिस साधिका/साधक ने की है, वह समाधिमरण के अंगभूत संलेखनाव्रत एवं तदुत्तर संथारा (भक्त-प्रत्याख्यान) की साधना से घबराता नहीं, बल्कि उसके मन में आनन्द और उल्लास होता है।

हम श्रमण-जीवन या श्रमणोपासक के जीवन को सूर्य की उपमा से अलंकृत करें तो कह सकते हैं–श्रमण-दीक्षा या श्रावकव्रत का ग्रहण करना सूर्य का उदयकाल है। उसके पूर्व की श्रमण की वैराग्य-अवस्था तथा श्रावक की नैतिक (मार्गानुसार) जीवन की अवस्था साधक-जीवन का उषाकाल है। जब श्रमण या श्रावक साधक या साधिका उत्कृष्ट तप, जप, धर्मध्यान एवं ज्ञान-दर्शन-चारित्र की साधना करता है, उस समय उसकी साधना का मध्याह्नकाल होता है और जब (साधु या गृहस्थ) साधक संलेखना प्रारम्भ करता है, उस समय उसकी साधना का संध्याकाल होता है। सूर्योदय के समय पूर्व दिशा मुस्कराती है। उषासुन्दरी का दृश्य अतीव लुभावना होता है, उसी प्रकार संध्याकाल में पश्चिम दिशा का दृश्य भी मनभावना होता है। संध्या की सुहावनी लालिमा भी दर्शक के हृदय को आनन्दविभोर कर देती है। वही स्थिति (साधु या गृहस्थ) साधक की है। उसके मन में जीवन के प्रभात में जो उत्साह होता है, वही उत्साह जीवन के संध्याकाल-मरणकाल में होता है। जैन कथानुयोग में संलेखनायुक्त समाधिमरण प्राप्त करने वाले हजारों श्रमण-श्रमणियों तथा गृहस्थ श्रावक-श्राविकाओं का उल्लेख है, जिन्होंने जीवन के संध्याकाल में उत्साह के साथ समाधिपूर्वक मरण का वरण किया है। भगवान महावीर के पश्चात् द्वादशवर्षीय दुष्कालों के समय

संयम-साधना में अनेक बाधाएँ उपस्थित होने लगीं, तब उन वीर श्रमणों ने संलेखना-संथारायुक्त समाधिमरण स्वीकार करके एक ज्वलन्त आदर्श उपस्थित किया। इसी प्रकार उपासकदशांगसूत्र वर्णित आनन्द, कामदेव आदि श्रमणोपासकों ने भी अपने जीवन के संध्याकाल में संलेखना-संथारायुक्त समाधिमरण स्वीकार करके गृहस्थ-जीवन का आदर्श उपस्थित किया।[1]

स्वेच्छा से होने वाले मरण के दो प्रकार : आत्महत्या से और संलेखना-संथारे से

यद्यपि समाधिमरण भी स्वेच्छा से मरण है और आत्महत्या आदि से की जाने वाली मृत्यु भी स्वेच्छामरण है। परन्तु कई लोग इस प्रकार की संलेखनापूर्वक समाधिमरण से होने वाली मरणकला को स्वाकीर न करके दूसरे प्रकार के स्वेच्छामरण को स्वीकार करके जीवन के आदर्श से च्युत एवं पतित हो जाते हैं।

आत्महत्या से होने वाले मरण : कारण और दुःखद फल

संसार के दुःखों के अतित्रास से, देहव्याधि की अत्यन्त पीड़ा से, किसी स्वजनादि की मृत्यु या धन-सम्पत्ति के नष्ट होने के समाचार से राजभय या अपकीर्तिभय के आवेशयुक्त भाव से, मानसिक निर्बलता और असहिष्णुता के कारण से, कौटुम्बिक या संघीय जीवन में असत्य प्रहार से, मनोज्ञ इच्छा पूर्ण न होने से, उत्पन्न हुए आघात से अथवा इसी प्रकार का कोई सदमा पहुँचने से जीव आत्महत्या करने को उद्यत हो जाता है। उसमें भी किसी प्रियजन के वियोग से, धनहानि से, स्वयं की मृत्यु का भविष्य जानकर भयोत्पादक समाचार से ऐसी आत्महत्या के प्रसंग प्रायः तत्काल बनते हैं। जबकि किसी घोर पीड़ा आदि के निमित्त से व्यक्ति आत्महत्या करने की पहले से तैयारी करता है और आत्महत्या के भाव को बार-बार घोंटकर आत्म-वीर्य (पराक्रम) प्रकट करता रहता है। फिर वह आत्महत्या करने का निश्चय करता है। एक-दो बार निष्फल प्रयत्न भी करता है और अन्त में, कषायभाव के अतिरेक से चित्त की उन्मत्त दशा में गले में फाँसी लगाकर, जहर पीकर, अग्नि-स्नान कर, जल में डूबकर, ट्रेन के नीचे कटकर, ऊपरी मंजिल से या पहाड़ से कूदकर तथा इन और ऐसे ही किसी प्रकार से जीवन का अन्त लाता है। परन्तु इस प्रकार के आत्म-हनन से या करने में तीव्र कषायभाव होने से, जीवन के प्रति निराशा, कुण्ठा, घृणा एवं द्वेष, दुर्भाव होने से समाधिमरण के बजाय असमाधिमरण ही होता है, जिसका कटुफल तिर्यंच या नरकगति में भोगना पड़ता है तथा कषायभाव की

१. 'जैन आचार : स्वरूप और सिद्धान्त' (आचार्य देवेन्द्र मुनि) से भाव ग्रहण, पृ. ७३०, ७१८-७१९

गहरी छाप अन्तर में अंकित हो जाती है। उस कर्म के उदय से जीव बार-बार जन्म-मरण के नाना दुःखों को भोगता रहता है। ऐसी असमाधिपूर्वक मृत्यु पाने वाले जीव को मोहकर्म के उद्रेकवश देव-गुरु-धर्म के प्रति आस्था या श्रद्धा नहीं होती।[1]

इसीलिए तीर्थंकर आदि ज्ञानी पुरुषों ने पूर्वबद्ध कर्मों के क्षय करने के लिए उन कर्मों का फल समभाव से, शान्ति से भोगकर समाधिभाव से देह को छोड़ने की उत्तम शिक्षा दी है। आत्महत्या करने से कर्मों से मुक्त नहीं हुआ जा सकता। प्रत्युत कषायभाव की तीव्रता से नये चिकने कर्म बँधते हैं, जिनके फल अवश्य भोगने पड़ते हैं। कदाचित् किसी जीव को अकृत्य करने का पश्चात्ताप होता है, वह प्रभु से क्षमायाचना करता है, सब जीवों को भी खपाता है, पूर्वकृत किसी पुण्योदय से सच्ची श्रद्धा करता है। ऐसा करने से नया कर्मबन्ध शिथिल हो जाता है और देहान्त के बाद उसे देवगति प्राप्त होनी सम्भव है। परन्तु इस प्रकार के आकस्मिक समाधिमरण के लिए भी पहले से तैयारी करनी अनिवार्य है।

स्वेच्छा से मरण का दूसरा प्रकार : संलेखना-संथारा : स्वरूप

स्वेच्छा से मरण के दूसरे प्रकार में संलेखना-संथारा आता है। संलेखना द्वारा मृत्यु का समाधिपूर्वक वरण किया जाता है। संलेखना का अर्थ है–"जिस तपोविशेष या धर्मक्रिया आदि से शरीर, कषाय आदि का संलेखन = अपकर्षण किया जाये अथवा आगमोक्त विधि से शरीर आदि को कृश किया जाये। आचार्य पूज्यपाद ने संलेखना की परिभाषा की है–"सम्यक् प्रकार से काया और कषाय का लेखन (कृश) करना संलेखना है। अर्थात् बाह्य संलेखना शरीर की और आभ्यन्तर संलेखना कषायों की क्रूरता तथा काय और कषायों को पुष्ट करने वाले साधनों को उत्तरोत्तर घटाते हुए भलीभाँति लेखन (कृश) करना संलेखना है। आशय यह है कि पूर्वोक्त उपसर्गादि-जनित आपत्कालीन प्रसंगों में संलेखना करने का समय नहीं रहता, अतः कदलीघात की तरह एकदम नहीं, किन्तु दुर्भिक्ष आदि या रोगादि उपस्थित होने पर धर्मरक्षार्थ अंतरंग और बहिरंग परिग्रह का त्याग करके जीवन-मरण की आशा (आशंसा) से रहित होकर शरीर एवं कषायों को क्रमशः कृश करते हुए देहोत्सर्ग करना संलेखना है।"

'पंचास्तिकाय' में द्रव्य-भाव-संलेखना का सुन्दर लक्षण दिया गया है– "आत्म-संस्कार के अनन्तर उसके लिए ही क्रोधादि कषायरहित अनन्त ज्ञानादि गुण लक्षण परमात्म-पदार्थ में स्थित होकर रागादि विकल्पों को कृश करना (घटाना) भाव-संलेखना है और उस भाव-संलेखना के लिए कायक्लेशरूप अनुष्ठान

१. 'समाधिमरण' (गुजराती) से भाव ग्रहण, पृ. २९-३०

करना अर्थात् भोजनादि का त्याग करके शरीर को कृश करना द्रव्य-संलेखना है। इन दोनों प्रकार का आचरण करना द्रव्य-संलेखनाकाल है।[1]

संलेखना और संथारे में अन्तर

यों तो संलेखना और संथारा दोनों ही समाधिमरण की प्रक्रियाएँ हैं। आजीवन संथारा यों ही नहीं लिया जाता। संथारे की तैयारी के लिए पहले संलेखना (काय-कषायकृशीकरणरूप संलेखना) करना आवश्यक है। संलेखना दीर्घकालिक साधना है, शरीर और शरीर से सम्बद्ध पदार्थों से ममत्व-अहंत्व दूर करने की तथा साथ ही प्रत्येक सजीव-निर्जीव पदार्थ, घटना, परिस्थिति, इष्टानिष्ट संयोग के प्रति राग-द्वेष-मोह, क्रोधादि कषायों को अत्यन्त कम करने की, नष्ट करने की। संलेखना की साधना के दौरान शरीर, मन, वाणी, आहार आदि सबसे अधिकाधिक निवृत्ति और निःसंगता-निर्लिप्तता तथा आत्मा एवं आत्म-स्वभाव में स्थिरता बढ़ाने की प्रक्रिया है। यावज्जीव संथारा स्वीकार करने से पहले उसकी पूर्व तैयारी के लिए संलेखना द्वारा अभ्यास किया जाता है, तत्पश्चात् यावज्जीव संथारे की योग्यता, क्षमता, मनःस्थिति देख-सोचकर आजीवन मारणान्तिक संथारा ग्रहण किया जाता है। दोनों का फल समाधिमरण है। इस दृष्टि से संलेखना और संथारे में अन्तर यही है कि संलेखना कारण है और संथारा उसका कार्य है। ये दोनों समाधिमरण के प्रति कारण-कार्यभावरूप हैं। संलेखना एक प्रकार से समता, वीतारागता और निःसंगता-निर्लिप्तता का अभ्यास परिपक्व करना है, फिर मारणान्तिक यावज्जीव संथारे में पूर्वोक्त अभ्यास के कार्यरूप में परिणत करना है।

विभिन्न विमोक्षों के रूप में संलेखना-संथारा की साधना और उनका प्रतिफल

'आचारांगसूत्र' के आठवें अध्ययन में विभिन्न दृष्टियों से विमोक्ष के रूप में समाधिमरण की साधना की विस्तृत प्रक्रिया का वर्णन है। उसमें यावज्जीव समाधिमरण की तैयारी के रूप में कषाय-विमोक्ष, आहार-विमोक्ष, वैयावृत्य-प्रकल्प, शरीर-विमोक्ष, अनाचरणीय-विमोक्ष, आरम्भ-विमोक्ष, असम्यक्-आचार-विमोक्ष,

---

१. (क) आगमोक्तविधिना शरीराद्यपकर्षणे। *–प्रवचनसारोद्धार, गा. १३५ की टीका*

(ख) संलिख्यतेऽनया शरीर-कषायादीति संलेखना तपोविशेषे। *–स्थानांग, स्था. २, उ. २ की टीका*

(ग) सम्यक्-काय-कषाय-लेखना संलेखना। कायस्य बाह्यस्याभ्यन्तराणां च कषायाणां तत्कारण-हायनक्रमेण सम्यक् लेखना संलेखना। *–तत्त्वार्थसूत्र सर्वार्थसिद्धि टीका ७/२२*

(घ) आत्मसंस्कारानन्तरं तदर्थमेव क्रोधादि-कषायरहिताऽनन्त-ज्ञानादि-गुण-लक्षण- परमात्म-पदार्थे स्थित्वारागादि-विकल्पनां सम्य संलेखनं तनुकरणं भावसंलेखना। तदर्थं च कायक्लेशानुष्ठानं द्रव्यसंलेखना। तदुभयाचरणं संलेखनाकालः। *–पंचास्तिकाय १७३/२५३*

वाणी-विमोक्ष, वस्त्र-विमोक्ष, अग्निसेवन-विमोक्ष, आस्वाद-विमोक्ष, इन्द्रिय-विषय-विमोक्ष, समूह-विमोक्ष, भयादि-विमोक्ष आदि का स्पष्ट प्रतिपादन है, ताकि संलेखना-संथारा द्वारा समाधिमरण के साधक की उसकी पूर्व तैयारी के रूप में निर्लिप्तता, निःसंगता, पर-भावों के प्रति उदासीनता, विभावों की मन्दता, पर-सम्बन्ध के प्रति निर्मोहता तथा स्व-भाव में रमणता, देह-त्याग के अवसर पर दृढ़ता, निर्भयता, निर्मोहता और निःसंगता जितनी परिपक्व होगी, उतनी ही आत्म-स्वभाव में निमग्नता एवं अन्तिम समय में यथार्थ समाधिभाव तथा उदयगत सभी अवस्थाओं में समभाव रहेगा। यह भी उतना ही सत्य है कि मृत्यु की घड़ियों में आत्म-भाव एवं आत्म-स्वरूप को मद्देनजर रखकर जितने अंशों में तन-मन-वचन-बुद्धि और दृष्टि में समभाव एवं समाधिभाव होगा, उतनी ही मोक्ष-प्राप्ति की तीव्रता तथा मोक्षपद की निकटता सम्भव है। मोक्षरूप लक्ष्य के प्रति उतनी ही तीव्र एवं द्रुत गति-प्रगति होगी।[1]

संलेखना के दो प्रकार : काय-संलेखना और कषाय-संलेखना

काय-संलेखना—उपवास के साथ अथवा आहार को क्रमशः कम करने की प्रक्रिया के साथ कषाय को क्षीण करने की प्रक्रिया अध्यात्मविज्ञान की विशिष्ट पद्धति है। उपवास आदि तप से प्रारम्भ में लगता है कि शारीरिक बल क्षीण हो रहा है, लेकिन उपवास आदि से धीरे-धीरे शरीर की शुद्धि, निर्मलता बढ़ती है। शरीर-शुद्धि होने से मनोबल बढ़ता है। इन्द्रिय-बल कुछ क्षीण होने पर भी आत्मिक-शक्ति, प्राण-शक्ति एवं सहन-शक्ति बढ़ती है। इसलिए काय-संलेखना का मुख्य फल है—तितिक्षा-शक्ति का विकास।

कषाय-संलेखना का अर्थ है—क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, क्लेश, वैर-विरोध आदि कषायों का अल्पीकरण-क्षीणकरण। इन कषायों को क्षीण करने से, विभावों के प्रति विरति करने से तथा पर-भावों के प्रति राग-द्वेष, अहंता-ममता अत्यन्त कम करने से, प्रियता-अप्रियता का विकल्प न करने से आत्मा में शान्ति, धैर्य, निर्भयता, प्रसन्नता और निःसंगता बढ़ती है। कषाय-संलेखना से अन्तर में कषायों की तपन कम होती है, मोह का आवेग-उद्रेक-आवेश क्षीण होता है, इच्छाओं का द्वन्द्व घटता जाता है, फलतः आत्मा में समरसता, आत्म-भावों में स्थिरता की वृद्धि होती है।[2]

---

१. (क) देखें—आचारांगसूत्र, श्रु. १, अ. ८, उ. १-७, विविध विमोक्ष का वर्णन

(ख) 'जीवन की अन्तिम मुस्कान : समाधिमरण' (स्व. उपाध्याय केवल मुनि) से भाव ग्रहण, पृ. ३०-३१

(ग) 'समाधिमरण' (गुजराती) से भाव ग्रहण, पृ. ३३-३४

२. (क) 'जीवन की अन्तिम मुस्कान : समाधिमरण' से भाव ग्रहण, पृ. ३४-३५

(ख) 'सर्वार्थसिद्धि' से भाव ग्रहण ७/२२/२६३

त्रिविध संलेखना की विधि और अवधि

श्वेताम्बर परम्परानुसार आगमोक्त विधि से शरीर और कषाय आदि को कृश करने की संलेखना काल की अपेक्षा से तीन प्रकार की है–जघन्या, मध्यमा और उत्कृष्टा। जघन्या संलेखना १२ पक्ष (६ महीने) की, मध्यमा संलेखना १२ मास की और उत्कृष्टा संलेखना १२ वर्ष की है। उत्कृष्ट संलेखना में ४ वर्ष तक उपवास, बेला, तेला, चौला, पंचौला आदि विचित्र तप यथाशक्ति करे। तप के पारणे के दिन श्रावक सचित्ताहार वर्जित आहार करे और साधु-साध्वी उद्गमादि दोषों से रहित शुद्ध आहार करे। तत्पश्चात् दूसरे ४ वर्ष भी इसी प्रकार विभिन्न तप और पारणे में विग्गइ (विकृति) रहित आहार करे। उसके बाद दो वर्ष तक एकान्तर उपवास करके पारणे में आयम्बिल करे। ग्यारहवें वर्ष के पहले के ६ महीने में उपवास या बेले से आगे तप न करे, पारणे में ऊनोदरीयुक्त आयम्बिल करे। द्वितीय ६ मास में विकृष्ट तप यानी तेले से लेकर अठाई तक तप करे, पारणे में भरपेट आयम्बिल तप करे। 'निशीथचूर्णि' के अनुसार बारहवें वर्ष में कोंटिसहित (लगातार) हायमान आयम्बिल करे और पारणे में भी आयम्बिल करे। कोटिसहित आयम्बिल से तात्पर्य है–आयम्बिल के बाद पारणे में भी आयम्बिल करे (बीच में कोई व्यवधान न हो), हायमान का मतलब है–प्रत्येक आयम्बिल में पूर्व आयम्बिल की अपेक्षा आहार-पानी की मात्रा कम करते-करते वर्ष के अन्त में इस स्थिति में पहुँच जाये कि एक दाना (कण) अन्न, एक बूँद (या घूँट) पानी ग्रहण करे। साधक इस स्थिति से पीछे न लौटे। इस संलेखना को पूर्ण करने के बाद वह तीन प्रकार के संथारे में से किसी एक संथारे की तरफ ही बढ़ता है। जघन्या और मध्यमा संलेखना की तपोविधि भी इसी प्रकार समय के क्रमानुसार समझ लेनी चाहिए।

'चारित्रसार' एवं 'रत्नकरण्डक श्रावकाचार' में काय-संलेखना की विधि इस प्रकार निर्दिष्ट की है–पहले ठोस आहार छोड़कर स्निग्ध तरल आहार (पय पदार्थ) पर रहे, जैसे–दूध, छाछ आदि। तदनन्तर दूध-छाछ आदि को छोड़कर खरपान–यानी छाछ के ऊपर का पानी (आछ), काँजी, गर्म पानी आदि का सेवन करे। फिर धीरे-धीरे गर्म जल आदि का भी त्याग करे और अन्त में पंच नमस्कार मंत्र का मन ही मन स्मरण करता हुआ समाधिपूर्वक शरीर का त्याग करे। तात्पर्य यह है कि क्रमशः आहार को हायमान करते हुए उपवास तक पहुँचकर काय-संलेखना करे।[1]

---

१. (क) 'श्रावकधर्म-दर्शन' से भाव ग्रहण, पृ. ६३७
(ख) निशीथचूर्णि
(ग) भगवती आराधना, गा. २४६-२४९
(घ) चत्तारि विचित्ताइं विगइ-निज्जूहियाइं चत्तारि।
संवच्छरे य दोन्नि, एगंतरियं च आयामं॥ ९८२॥
नाइविगिट्ठो य तवो छम्मासे परिमियं च आयामं।
अवरे वि य छम्मासे होइ विगिट्ठं तवोकम्मं॥९८३॥

–अभिधान राजेन्द्र कोष, भा. ७, पृ. २१८

दिगम्बर-परम्परा के अनुसार–मुनि या श्रावक क्रमशः अनशनादि तप को बढ़ाते हुए अपने देह को कृश करके शरीर-संलेखना करते हैं। फिर क्रमशः आहार को कम करने के लिए प्रतिदिन गृहीत नियमानुसार कभी उपवास, कभी आचाम्ल, कभी वृत्ति-संक्षेप, कभी रस-परित्याग आदि तपश्चरण क्रमशः करते हुए शरीर कृश करते हैं। यदि आयु तथा देह की शक्ति अभी पर्याप्त हो तो मुनि बारह भिक्षु-प्रतिमाओं तथा श्रावक ग्यारह श्रावक-प्रतिमाओं को स्वीकार करके शरीर कृश करता है। उन प्रतिमाओं से क्षपक या श्रावक को कोई पीड़ा नहीं होती। शरीर-संलेखना के साथ ही राग-द्वेष-कषायादि रूप परिणामों की विशुद्धि भी अनिवार्य है; अन्यथा केवल शरीर को कृश करने से संलेखना का उद्देश्य पूरा नहीं होता।[1]

वास्तव में उभयविध संलेखना शरीर को कृश करके कष्ट-सहिष्णु तथा आत्मा को प्रशान्त रस में निमग्न बनाने की साधना है। मुमुक्षु साधक को संलेखना केवल आत्म-कल्याण और मोक्ष के उत्कृष्ट हेतु से करनी है। इसलिए शल्यरहित तथा कषायभावरहित होकर ही संलेखना करनी चाहिए। किसी सांसारिक स्वार्थ, लाभ, यशःकीर्ति, पूजा-सत्कार, स्वर्गादि सुख की वांछा या लौकिक-भौतिक कामना से प्रेरित होकर नहीं करनी चाहिए अथवा किसी प्रकार के निदान (नियाणा) सहित बन्धकारक उद्देश्य से अन्न-पानी का त्याग करके देह छोड़े तो उसमें लेशमात्र भी स्वात्म-कल्याण नहीं है। ऐसी लोभयुक्त क्रिया केवल भव-भ्रमण बढ़ाने वाली है तथा आगामी भवों में दुःख उत्पन्न करने वाली है। इस दृष्टि से जहाँ सच्ची संलेखना उत्तम-अमृतफल-प्रदायिनी (स्वर्ग-मोक्षादि-दायिनी) है, वहाँ असद्भावयुक्त एवं मिथ्या संलेखना विषरूप है।[2]

संलेखना-साधक संथारा-ग्रहण से पहले क्या करे ?

'आचारांगसूत्र' में भक्त-प्रत्याख्यान, इंगिनीमरण तथा पादपोपगमन इन तीन यावज्जीव-अनशन-संथारों का वर्णन है, किन्तु इनकी पूर्व भूमिका के या तैयारी के रूप में पहले संलेखना का विधान है। जैसा कि वहाँ कहा गया है–"धर्मतत्त्व में

पिछले पृष्ठ का शेष–

(ङ) दुवालसं परिसं निरंतरं हायमाणं आयंबिलं करेइ।
कोडिसहियं भवइ जेणं अंबिलस्स कोडीकोडीए मिलइ॥ *–निशीथचूर्णि*

(च) आहारं परिहाप्य क्रमशः स्निग्धं विवर्धयेत् पानम्।
स्निग्धं च हापयित्वा खरपानं पूरयेत् क्रमशः॥ *–सागारधर्मामृत ८/५७, ६४-६७*
खरधनं हायमानमपि कृत्वा, कृत्वोपवासमपिशक्त्या।
पंच नमस्कारमनास्तनूं त्यजत् सर्वयत्नेन॥
–रत्नकरण्डक श्रावकाचार १२४-१२८; चारित्रसार ४८/२

१. भगवती आराधना, गा. २४६-२४९
२. 'समाधिमरण' (गुजराती) से भाव ग्रहण, पृ. ३१-३२

पारंगत विद्वान् (प्रबुद्ध) साधक जब यह जानें कि अब हमें शरीर और कषाय दोनों प्रकार से कृशीकरण (संलेखन) करना है, तब वे क्रमशः (यथाक्रम) आरम्भादि (बाह्य) प्रवृत्तियों से स्वयं को निवृत्त करें। सर्वप्रथम कषायों को पतले (क्षीण) करें, फिर अल्पाहारी (उपवासादि तप करके) बनकर आहार-त्याग की ओर बढ़ें तथा उपसर्ग-परीषहों को सहन करें।" किन्तु ऐसा करते हुए वे संलेखना साधक न तो जीवन (जीने) की आकांक्षा करें और न ही शीघ्र मरने की आशा या अभिलाषा करें। जीवन और मरण दोनों में आसक्ति न रखें। अर्थात् जीवन से मोह भी न हो तो जीवन से घृणा (नफरत) भी न हो, साथ ही मृत्यु की आकांक्षा न हो तो मृत्यु से भय भी न हो। दोनों ही स्थितियों में सम रहें, मध्यस्थ रहें, निर्जरापेक्षी रहें। समाधि का अनुपालन करें। अन्तर और बाह्य दोनों प्रकार से शरीरादि पर-भावों तथा राग-द्वेषादि विभावों का व्युत्सर्ग करके शुद्ध अध्यात्म की गवेषणा करें, उसी में तन्मय हो।[1]

संलेखना : संथारा की पूर्व तैयारी है भी, नहीं भी

'आचारांगसूत्र' के आठवें अध्ययन से यह भी ध्वनित होता है कि संलेखना (यावज्जीव अनशन-संथारा), भक्त-प्रत्याख्यान आदि की तैयारी है भी और नहीं भी है। क्योंकि 'आचारांग' के इसी अध्ययन के आठवें उद्देशक की तीसरी गाथा के द्वितीय चरण–'**अहभिक्खू गिलाएज्जा आहारस्सेव अंतियं**' के टीकाकार ने दो प्रकार के अर्थ और अभिप्राय प्रगट किये हैं–(१) आहार न करने से यदि भिक्षु ग्लान (रुग्ण) हो जाये, मूर्च्छा चक्कर आदि आने लगे (उस दुःसह पीड़ा या वेदना को सहने में अक्षम होता जाये) तो आहार ग्रहण कर ले, (२) यदि आहार से ग्लानि (अरुचि) होने लगे तो क्रमशः आगे बढ़ता हुआ भक्त-प्रत्याख्यान (संथारे) की तरफ गति करे।"

पूर्व तैयारी के रूप में संलेखना और मारणान्तिकी संलेखना में अन्तर

इस गाथा के दूसरे अभिप्राय के अनुसार संलेखना यावज्जीवन अनशन-संथारे की पूर्व तैयारी भी है। समाधिमरण-साधक संलेखना द्वारा अपनी शारीरिक,

---

१. दुविहं पि विदित्ताणं बुद्धा धम्मस्स पारगा।
आणुपुव्वीए संखाए, आरंभाओ तिउट्टति॥२॥
कसाए पयणुए किच्चा, अप्पाहारी तितिक्खए।
अहभिक्खू गिलाएज्जा आहारस्सेव अंतियं॥३॥
जीवियं णाभिकंखेज्जा, मरणं णावि पत्थए।
दुहओ वि ण सज्जेज्जा, जीविए मरणे तहा॥४॥
मज्झत्थो णिज्जरापेही, समाहिमणुपालए।
अंतो बहिं विउसिज्ज, अज्झत्थं सुद्धमेसए॥५॥ –आचा. ८/८

मानसिक एवं आध्यात्मिक शक्ति एवं क्षमता का पूर्व अनुमान एवं अनुभव कर लेता है। इस संलेखना के वाद यदि उक्त साधक को यह लगे कि मेरा शरीर वहुत ही दुर्वल और निढाल हो गया है, मैं अपनी दैनिक धर्मक्रिया तथा आध्यात्मिक साधना इस शरीर से नहीं कर पा रहा हूँ। अव शरीर का उपयोग कम है, अधिक भारभूत हो गया है, तव धीरे-धीरे शरीर के प्रति अनासक्त होकर आजीवन संलेखना-संथारा की ओर वढ़ता है। समाधिमरण की पूर्व तैयारी के रूप में संलेखना करके वह अब मारणान्तिक संलेखना-संथारा स्वीकार करता है और उस दौरान वह ध्यानयोग में स्थिरता वढ़ाकर जीवन में लगे हुए दोषों की आलोचना, निन्दना (पश्चात्ताप) गुरु या समाज की साक्षी से गर्हणा (गुरु या वड़ों अथवा संघ के समक्ष दोष प्रकट करना) तथा प्रायश्चित्त ग्रहण करके आत्म-शुद्धि करता है। निष्कर्ष यह है कि **पहली संलेखना** समाधिमरण की पूर्व तैयारी है, जवकि यह **द्वितीय संलेखना** मारणान्तिकी है, जिसे पूर्वोक्त यावज्जीवन भक्तपरिज्ञादि अनशन संथारा कहा जाता है। 'तत्त्वार्थसूत्र' एवं 'आवश्यकसूत्र' के अनुसार मृत्युकाल नजदीक आने पर साधक प्रीतिपूर्वक मारणान्तिक संलेखना धारण करता है।[१] इसमें साधक अन्तिम श्वास तक प्राणों के व्यामोह से मुक्त होकर वीरता-धीरता-निर्भयतापूर्वक शान्ति और प्रसन्नता के साथ मृत्यु का सामना करता है, इस संलेखना द्वारा वह मृत्यु-विजय की ओर कूच करता है।[२]

संलेखना-संथारा कब करना चाहिए, कब नहीं ?

यों तो संलेखना-संथारा सभी साधकों (साधुवर्ग व श्रावकवर्ग) के लिए है। परन्तु यों ही स्वस्थ, हृष्ट-पुष्ट एवं चलते-फिरते संलेखना या संथारा नहीं किया जाता। उसके लिए श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों जैनशास्त्रों और ग्रन्थों में एक विशेष योग्यता, शरीर कषायोपशमन तथा काल का विधान है। अत्यन्त वृद्धावस्था आ जाये, शरीर में इतनी अशक्ति आ जाये कि चलना-फिरना, यहाँ तक कि नित्य नियम, धर्मध्यान करना भी दुःशक्य हो जाये, शरीर कोई दुष्प्रतीकार्य या दुःसाध्य रोग का शिकार हो जाये, जिसमें जीवन के बचने की कोई आशा न रही हो या क्षीण हो गई हो, इन्द्रियों तथा शरीर का बल भी क्षीण हो गया हो, जिनसे आवश्यक क्रिया भी न की जा सके, तभी संलेखना की जाती है या पूर्वोक्त तीन

---

१. मारणान्तिकी संलेखनां जोषिता। *—तत्त्वार्थसूत्र*

२. (क) अहभिक्खू गिलाएज्जा आहारस्सेव अंतियं।

—आचारांग, श्रु. १, अ. ८, उ. ८ की श्रीलांक टीका

(ख) जस्स णं भिक्खुस्स एवं भवइ, से गिलामि च खलु अहं इमेसिं समए इमं सरीरं अणुपुव्वेण परिवहित्तए; से आणुपुव्वेण आहारं संवट्टे (ट्टे) ज्जा, आणुपुव्वेणं आहारं संवट्टं (ई) त्ता, कमाए पयणुए किच्चा पमाहियच्चे फलातवयट्ठी।

—आचा. श्रु. १, अ. १६

प्रकार के संथारों में से कोई एक संथारा ग्रहण किया जाता है। 'रत्नकरण्डक श्रावकाचार' में कहा गया है–कोई निष्प्रतीकार्य देवकृत, मनुष्यकृत या तिर्यंचकृत उपसर्ग आ जाये या दुष्प्रतीकारक भयंकर दुर्भिक्ष का संकट उपस्थित हो, अत्यन्त वृद्धावस्था आ जाये (जिससे अपने व्रत, नियम या चारित्र का पालन दुष्कर हो) या मृत्युदायक रोग हो तो धर्म (रक्षार्थ) शरीर-त्याग का (मारणान्तिक) संलेखना कहते है।

'भगवती आराधना' में कहा है–अथवा कोई व्यक्ति लोभाविष्ट होकर अनुकूल शत्रु के रूप में चारित्र नष्ट करने को उद्यत हो जाये या हिंसक पशुओं से परिपूर्ण भयानक वन में दिशा या मार्ग भूल जाने पर, आँख, कान या जंघाबल अत्यन्त क्षीण हो जाने पर, इन और ऐसे ही अत्यन्त गाढ़ कारण उपस्थित होने पर गृहस्थ या साधु भक्त-प्रत्याख्यान (संथारे) के योग्य समझे जाते हैं अथवा अपने आयुष्यकालपरक द्वारा या उपसर्ग द्वारा निश्चित रूप से आयुष्यक्षय सम्मुख होने पर यानी जिस समय मृत्यु के आगमन की निश्चित संभावना हो, अथवा ऐसी कोई परिस्थिति उत्पन्न हो जाये कि मृत्यु को स्वीकार किये बिना धर्म (कर्त्तव्य) भ्रष्टता से बचने का और कोई उपाय न हो, अथवा जिन देहादि विकारों के होने पर शरीर निश्चित रूप से टिक नहीं सकता हो, अथवा उसके कारण उपस्थित हो जाने पर या आयुक्षय का निश्चय हो जाने पर ही साधक संलेखना की आराधना में लगता है।

जिस श्रावक-श्राविका या साधु-साध्वी का चरित्र निर्विघ्न पल रहा है, जिसे निर्यापक (संलेखना-संथारा कराने वाले) का योग नहीं है तथा दुर्भिक्ष, रोग आदि का कोई भय नहीं है, वह साधक भक्त-प्रत्याख्यान (संलेखना-संथारा) के अयोग्य है।[1]

संलेखना-संथारा में अन्तिम समय की प्रधानता क्यों ?

यहाँ एक शंका यह होती है कि संलेखना-संथारा में अन्तिम समय की प्रधानता क्यों रखी गई है? इसका समाधान यह है कि भगवतीसूत्र, भगवती आराधना, भगवद्गीता में मृत्यु से सम्बद्ध एक सिद्धान्त यह बताया गया है कि "**जल्लेसे मरइ, तल्लेसे उववज्जइ।**"–जीव जिस लेश्या से परिणत होकर मरण को प्राप्त होता है, वह उत्तर-भव में उसी लेश्या का धारक होकर देव-मनुष्यादि गतियों में उत्पन्न होता है। एक कहावत भी प्रसिद्ध है–"अन्तमति सो गति।" इसलिए

---

१. (क) जरा-रोगेन्द्रियहानिभिरावश्यक परिक्षये। —*राजवार्तिक ७/२२*

(ख) उपसर्गे दुर्भिक्षे जरसि रुजायां च निष्प्रतीकारे।
धर्माय तनुविमोचनमाहुः संलेखनामार्याः॥ —*रत्नक. श्रा. १२२*

(ग) अरण्णम्मि एयारिंस मि आगाढकारणे जोइ।
अरिहो भत्तपइण्णए होदि, विरदो अविरदो वा॥ —*भगवती आराधना ७४*

संलेखना-संथारा व्रतराज है, यह जीवन की अन्तिम वेला में की जाने वाली एक उत्कृष्ट साधना है।[1]

जिंदगीभर की हुई आराधना मृत्युकाल में विराधना में परिणत हो सकती है

मृत्यु समग्र जीवन का निचोड़ है। साधना की जीवनभर की हुई साधना की परीक्षा मृत्यु के समय होती है। 'भगवती आराधना' में कहा गया है- "ज्ञान-दर्शन-चारित्ररूप धर्म (मोक्षमार्ग) की किसी साधक ने चिरकाल तक निरतिचार साधना की, किन्तु मरण के समय इस आत्म-धर्म की विराधना कर ली, तो ऐसा साधक अनन्त काल तक संसार में परिभ्रमण करता देखा गया है।" इसी प्रकार आचार्य समन्तभद्र ने भी कहा है-"कोई साधक जीवनभर अन्तःक्रिया की आधारभूत बाह्याभ्यन्तर तपःसाधना करता रहे, किन्तु अन्तिम समय में यदि वह राग-द्वेष के दलदल में फँस जाये तो उसका जीवन निष्फल हो जाता है। इसलिए यथाशक्ति समाधिमरण के लिए प्रयत्न करना चाहिए।" किसी साधक ने जिंदगीभर ज्ञान-दर्शन-चारित्र की उत्कृष्ट आराधना की, सबसे अच्छा व्यवहार रखा, सरलता और सादगी अपनाई, कषायों की भी मन्दता रही, किन्तु जीवन के सन्ध्याकाल में, मृत्युवेला में, इस लोक से विदा होते समय उसने बाजी बिगाड़ ली, कषायों की तीव्रता आ गई, तृष्णा बढ़ गई; शरीर के तथा शरीर से सम्बन्धित सजीव-निर्जीव प्रिय, मनोज्ञ पर-पदार्थों के प्रति मोह, ममता-आसक्ति आ गई। मोहमूढ़ होकर विलाप करने लगा, तन-मन की पीड़ा से उद्विग्न होकर आर्त्तध्यान करने लगा। इस प्रकार मृत्यु के समय में शान्ति, धैर्य, समता और समाधि के स्थान पर अशान्ति, बेचैनी, अधीरता, चिन्ता, शोक, भय, मोह, दुःख या क्रोधादि अधिक होने से असमाधि के संक्लिष्ट परिणामों ने घेर लिया। फलतः अन्तिम समय में वह समाधिमरण-साधना का आराधक न रहकर विराधक बन गया। वह अपनी की-कराई साधना को मिट्टी में मिला देता है। ऐसा साधु या श्रावक अन्तिम समय में संलेखना-संथारे (भक्त-प्रत्याख्यानरूप यावज्जीव अनशन) को स्वीकार कर लेने पर भी समाधिमरण की साधना से भ्रष्ट हो जाता है। नन्दन मणियार श्रावकव्रत धारण करके व्रताराधना सम्यक् प्रकार से करता रहा। किन्तु बीच में ही मिथ्यात्व का प्रबल अन्धड़ उसके जीवन में आया और उसी दौरान उसने अट्ठम पौषध किया। उस पौषध में अकरणीय संकल्प करके सुन्दर जीवन को असुन्दर बना लिया। उस

---

१. (क) भगवतीसूत्र

(ख) जो जाये परिणमित्ता लेसाए संजुदो कुणइ कालं।
तल्लेसो उववज्जइ, तल्लेसे चेव सो सण्णे॥ —*भगवती आराधना १९२२*

(ग) यं यं वाऽपि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय ! सदा तद्भाव-भावितः॥ —*भगवद्गीता, अ. ८, श्लो. ६*

अकरणीय संकल्प के अनुरूप उसने विशाल वावड़ी वनवाई तथा उसके कारण *मिलने वाली प्रतिष्ठा में आसक्त व मूर्च्छित होकर जीवन की बाजी हार गयी।* इतने दान और परोपकार के साथ प्रशंसा की भूलभूलैया में पड़कर तथा शरीर और शरीर-सम्बद्ध पदार्थों के प्रति मोह-ममत्व में फँसकर वह अपने अन्तिम समय में जीवन की वाजी सुधार न सका; संलेखना-संथारा करके भी समाधिपूर्वक मृत्यु को अंगीकार न कर सका। इसी कारण तो वह जीवन की वाजी हार गया।[१]

जिन्दगी में की हुई अनाराधना, मृत्युकाल में आराधना में परिणत हो सकती है

इसके विपरीत "पूर्व जीवनकाल में न आराधी हुई रत्नत्रय की आराधना को यदि कोई अन्तिम समय में भी अपना ले तो वह जीव भी उसी प्रकार रत्नत्रय को अकस्मात् प्राप्त कर लेता है, जिस प्रकार अन्धे को खम्भे से टकराने पर भाग्यवश नेत्र खुल जाने से वहाँ से रत्न-प्राप्ति हो जाती है।" इसी प्रकार कई व्यक्तियों के जीवन की बाजी अपने जीवितकाल में तो बिगड़ती जाती है। कहीं किसी अप्रिय घटना को लेकर आत्महत्या करने को उद्यत हो जाता है या किसी इष्टजन अथवा प्रिय पदार्थ के वियोग के गम में गले में फाँसी लगाकर मरने को तैयार हो जाता है। किसी व्यापार या कल-कारखाने में घाटा लग जाने के कारण किसी जलाशय या कुएँ में गिरकर या ट्रेन के नीचे कटकर जिन्दगी को समाप्त करने की सोचता है। परन्तु ज्यों ही जीवन की सन्ध्या आ घेरती है, मृत्यु की छाया आँखों के सामने आ खड़ी होती है, इन्द्रियाँ शिथिल हो जाती हैं, सारा शरीर रोग या बुढ़ापे के कारण अशक्त या जर्जर हो जाता है; तब एकदम जागृति आ जाती है। धर्म के पूर्व संस्कारों के कारण उसे अपने जीवन की आलोचना, प्रतिक्रमण, आत्म-निन्दा (पश्चात्ताप), गर्हा, प्रायश्चित्त आदि करके क्षमापना के साथ आत्म-शुद्धिपूर्वक आमरण अनशन (संलेखना-संथारा) करने की सुन्दर स्फुरणा उत्पन्न होती है और वह जिन्दगी की बिगड़ी हुई बाजी को मारणान्तिक संलेखना करके अन्तिम समय में सुधार लेता है।[२]

---

१. (क) सुचिरमवि णिरदिचारं विहरित्ता णाण-दंसण-चरित्ते।
मरणे विराधयित्ता अणंत संसारिओ दिट्ठो॥ *—भगवती आराधना १९२४*

(ख) अन्तक्रियाधिकरणं तपः फलं सकलदर्शिनः स्तुवते।
तस्माद् यावद् विभवं समाधिमरणे प्रयतितव्यम्॥ *—समन्तभद्र, समीचीन धर्मशास्त्र ६-२*

(ग) आराद्धोऽपि चिरं धर्मो, विराद्धो मरणे मुधा।
स त्वाराद्धस्तत्क्षणेऽहः क्षिपत्यपि चिरार्जितम्॥ *—सागार धर्मामृत १६*

(घ) 'श्रावकधर्म-दर्शन' से भाव ग्रहण, पृ. ६३७, ६१९

(ङ) देखें—ज्ञाताधर्मकथा में नन्दन मणिहार का वृत्तान्त

२. (क) भगवती आराधना १९२३

(ख) 'श्रावकधर्म-दर्शन' से भाव ग्रहण, पृ. ६१९

(ग) स त्वाराद्धस्तत्क्षणेऽहः क्षिपत्यपि चिरार्जितम्॥ *—सागार धर्मामृत १६*

प्रदेशी राजा अपने जीवन के पूर्वार्द्ध में बाजी पर बाजी हारता जा रहा था। अहंकार, हत्या, अत्याचार, क्रूरता आदि पापकर्म उसके जीवन में प्रविष्ट हो गये थे। शासक-पद के मद में आकर वह नरपिशाच बना हुआ था। परन्तु जब श्री केशीकुमार श्रमण के सम्पर्क में आकर उसने जीवन और मरण की कला का पाठ सीखा, उसे शरीर की नश्वरता और आत्मा की अमरता का वास्तविक बोध मिला; वह प्रबुद्ध, जाग्रत और रमणिक हो गया। अनासक्त भाव से जीवन और मरण से निरपेक्ष तथा सांसारिक सुखभोगों से विरक्त होकर आत्म-साधना में रत हो गया। इसी दौरान प्रदेशी राजा की इस साधना और धर्माराधना की अन्तिम परीक्षा हुई। रानी सूरिकान्ता ने उसे भोगों में लिपटाने की बहुत कोशिश की। जब वह किसी भी तरह से भोगों के प्रति आकर्षित नहीं हुआ तो रानी ने उसे अपने मार्ग का काँटा समझकर पौषध के पारणे में विष-मिश्रित भोजन देकर समाप्त करने का निश्चय कर लिया। राजा भोजन का ग्रास मुँह में लेते ही उसे विष-मिश्रित जान गया। फिर भी रानी को दोष न देकर अपने पूर्वोपार्जित कर्मों को ही इसके लिए उत्तरदायी ठहराया। विषाक्त भोजन करते ही जीवन का अन्त निकट जानकर यावज्जीवन संलेखना-संथारा अंगीकार कर लिया। इस दौरान न उसे जीवन के प्रति मोह रहा और न मरण के प्रति घृणा या शोक। न रही सांसारिक सुखभोगों की स्पृहा और न रही अपने किसी स्वजन-सम्बन्धी के प्रति आसक्ति या घृणा। अपनी साधना के प्रतिफल के रूप में किसी पदार्थ की इच्छा (निदानरूप भोगेच्छा) भी नहीं रही। राजा प्रदेशी मृत्यु के साथ प्रसन्नतापूर्वक खेलते हुए समाधिमरणपूर्वक इस संसार से विदा हुए। इस प्रकार पूर्वार्द्ध जीवन में विराधक एवं परीक्षा में असफल राजा प्रदेशी, जीवन के उत्तरार्द्ध में मृत्यु के समय संलेखना-संथारा करके अन्तिम परीक्षा में आराधक एवं सफल हुए।

यही बात मंखली-पुत्र गोशालक के जीवन में चरितार्थ हुई। वह भगवान महावीर का विरोधी बनकर साम्प्रदायिक व्यामोह, नाम और प्रतिष्ठा की आसक्ति के चक्र में फँसकर अपने जीवन की बाजी को हारता ही हारता रहा। किन्तु अन्तिम समय में मृत्यु की घड़ी के पूर्व उसे पश्चात्तापपूर्वक अन्तःस्फुरणा हुई—"तूने यह क्या और किसलिए इतना उखाड़-पछाड़ किया? आत्मा को इससे कोई लाभ नहीं हुआ, बल्कि तेरे द्वारा किये गये ये सब कुकृत्य शरीर से सम्बद्ध होने से हानि ही हानि हुई। अतः तुझे अपने जीवन की अन्तिम बाजी हारनी नहीं चाहिए।" यह सोचकर गोशालक के मन में भगवान महावीर के प्रति श्रद्धा और सद्भावना जागी। वह मन ही मन घोर पश्चात्ताप और आत्म-निन्दा करके ही न रह गया, उसने अपने तथाकथित आजीवक संघ के समक्ष अपने अपराधों और दोषों को प्रगट (गर्हा) किया। उसकी शारीरिक स्थिति ऐसी नहीं थी कि चलकर भगवान महावीर तथा सम्बद्ध व्यक्तियों से अपने अपराध के लिए क्षमा माँगता, किन्तु

पश्चात्तापपूर्वक हृदय से भावपूर्वक क्षमायाचना की। अपने अनुयायियों से भी कहा कि मेरा शरीर छूट जाने के पश्चात् इसे बाँधकर इस पर कोड़ों से प्रहार करना, ताकि जनता को मेरे अपराधों और दम्भों का पता लग जाये। इस प्रकार मंखली-पुत्र अन्तिम समय में समाधिमरणपूर्वक आराधक बनकर इस लोक से विदा हुआ। तात्पर्य यह है कि गोशालक ने पहले निष्फल हुई अपनी जिंदगी अन्तिम समय में सफल बना ली, अपनी बिगड़ी हुई बाजी सुधार ली।

इसलिए संलेखना में अन्तिम समय (मरणान्तकाल) की प्रधानता रखी गई है। इस अन्तिम काल के संलेखना-संथारे से यह लाभ है कि जीवन के पूर्वार्द्ध में निष्फल एवं विराधक बना हुआ जीव यदि मृत्यु के समय समाधिपूर्वक धर्माराधना कर लेता है तो चिरकाल से उपार्जित पापों को भी नष्ट कर देता है। इसके विपरीत चिरकाल से आराधित धर्म भी यदि मृत्यु के समय छोड़ दिया जाये या उसकी विराधना की जाये तो मृत्यु के समय असमाधिपूर्वक जीवन का अन्त होने से वह निष्फल और विराधक बन जाता है, अनन्त संसार बढ़ा लेता है।[1]

शरीर-कषाय-संलेखना पहले से ही क्यों ?

संलेखना से सम्बन्धित एक प्रश्न यह भी है कि यदि मरणकाल में ही आगम की सारभूत रत्नत्रय की परिणति होती हो तो उससे भिन्न (पूर्व) काल में (संलेखना की पूर्व निर्दिष्ट कालावधि के अनुसार) कषाय-संलेखना के लिए सम्यक्चारित्राराधन और शरीर-संलेखना के लिए तपश्चरण की क्या आवश्कता है?

'भगवती आराधना' में इसका समाधान इस प्रकार दिया गया है-जैसे युद्ध-विद्या के प्रशिक्षणार्थी को युद्धकाल से पूर्व (काफी अर्से तक) शस्त्र-विद्या का अभ्यास, प्रशिक्षण, कवायद इसलिए करने पड़ते हैं कि युद्ध के समय कुशलतापूर्वक अपना जौहर दिखा सके, मृत्यु का साहसपूर्वक वरण करके भी युद्ध में विजय प्राप्त कर सके, वैसे ही जो साधुवर्ग या श्रावकवर्ग समाधिपूर्वक मरण की साधना-आराधना के लिए पहले से ही कषाय-संलेखना और शरीर-संलेखना के लिए तद्-योग्य त्याग, तप, प्रत्याख्यान, व्रत-नियम, कायोत्सर्ग आदि का नित्य अभ्यास करता है, गुरुजनों से प्रशिक्षण लेता है, भेदविज्ञान का भी अभ्यास करता है, ताकि मन, बुद्धि, इन्द्रिय आदि पर पूर्ण नियंत्रण करके आत्म-भाव में, स्व-स्वरूप में रमण कर सके, मोक्ष के उद्देश्य से आत्म-शुद्धि तथा तपश्चरणादि

---

१. (क) देखें-'रायप्पसेणी सुत्तं' में प्रदेशी राजा का जीवन-वृत्त

(ख) देखें-भगवतीसूत्र, श. १५ में मंखली-पुत्र गोशालक का जीवन-वृत्त

(ग) आराद्धोऽपि चिरं धर्मो, विराद्धो मरणे सुधा।
स त्वाराद्धस्तत्क्षणेऽहः क्षिपत्यपि चिरार्जितम्॥ *-सागार धर्मामृत, गा. १६*

(घ) 'श्रावकधर्म-दर्शन' से भाव ग्रहण, पृ. ६२२, ६२०, ६३७

करके कर्मक्षय करने का पुरुषार्थ कर सके, जिससे अन्तिम समय में समाधिपूर्वक मृत्यु का वरण करने में उसे किसी प्रकार की अड़चन न हो। मृत्यु के समय आत्म-ध्यान में, शुभ ध्यान में संलग्न रह सके।

दूसरी बात यह है कि यदि साधक द्वारा देहादि या कषायादि की संलेखना पहले से नहीं की जायेगी, तो मरणान्त प्रसंग उपस्थित न होने पर एकदम प्राण-त्याग करने में उसे बहुत ही संक्लेश होगा, बहुत ही जोर पड़ेगा। अनभ्यस्त होने के कारण सहसा मरण-प्रसंग उपस्थित होने पर आर्त्त-रौद्रध्यान भी हो सकता है, अपने उपादान (आत्मा) को समाधिस्थ एवं शुद्ध करने के बजाय वह निमित्तों पर भी दोषारोपण कर सकता है। यदि आर्त्त-रौद्रध्यान करते-करते या शरीर और शरीर-सम्बद्ध सजीव-निर्जीव पदार्थों पर मोह-ममत्व या आसक्ति के साथ मरण होगा तो वह बाहर से संलेखना-संथारा ग्रहण करने पर भी समाधिमरण नहीं, असमाधिमरण होगा। अतः शास्त्रोक्त विधिपूर्वक अन्तिम समय या संथारे से काफी अर्से पूर्व संलेखना करने से संसार-वृक्ष के बीजरूप आर्त्त-रौद्रध्यान आदि की सम्भावना भी नहीं रहेगी और स्वयं को तथा सम्बन्धित व्यक्तियों को भी इस प्रक्रिया से संक्लेश नहीं होगा।

तीसरी बात–मरण निश्चित है, किन्तु मरणकाल अनिश्चित है। इसलिए अल्पकाल या दीर्घकाल की पूर्व तैयारी के बिना समाधिमरण का अपूर्व लाभ प्राप्त होना अतीव कठिन है। अनादिकाल से देहात्म-बुद्धि और वासना, पर-पदार्थों तथा पर-भावों में गाढ़ आसक्ति, मोह, द्वेष, घृणा आदि के कारण होने वाली विषमता एकदम मिट जाये, ऐसा होना बहुत ही दुर्लभ है। अतएव इस प्रकार के दोषों की क्षीणता एवं उनसे निवृत्ति के लिए पूर्व तैयारी के रूप में पूर्वोक्त संलेखनाद्वय का अभ्यास करना अत्यावश्यक है। वह अभ्यास भी तभी परिपक्व होता है, जब धर्मरुचि और धर्मश्रद्धा के पूर्व संस्कार जाग्रत हों, उपशम-स्वरूप ज्ञानी पुरुषों के अध्यात्म-रससिक्त वचनामृत के श्रवण से, शास्त्र या धर्मग्रन्थों के वाचन-मनन से, अध्यात्म पथ-प्रदर्शक उपकारी निमित्त से अथवा ज्ञानी पुरुषों के समागम से या संसार के राग-रंग के या जन्म-मरणादि दुःख के प्रति वैराग्य से होता है।[१]

संलेखना की भावना भी भव-भ्रमणनाशिनी है

संलेखना की भावना भी भव-भ्रमणनाशिनी है। एकमात्र संलेखना से ही धर्मरूपी धन मेरे साथ चल सकता है। इस प्रकार श्रद्धा-भक्तिपूर्वक मरणान्त संलेखना-संथारे की सतत भावना करनी चाहिए कि "मैं मरणान्त समय में

---

१. (क) भगवती आराधना, गा. १८-२१

(ख) निशीथचूर्णि

(ग) 'श्रावकधर्म-दर्शन' से भाव ग्रहण, पृ. ६४०

शास्त्रोक्त विधि से संलेखना-संथारा करके अवश्यमेव समाधिमरण प्राप्त करूँ;" इस प्रकार की भावना करके मरणकाल प्राप्त होने से पहले ही शरीर और कषाय की संलेखना करनी चाहिए। यदि कोई दुर्निवार्य प्रतिरोधी कर्म उदय में न आये तो सम्यक् प्रकार से पूर्वभावित रत्नत्रय के कारण साधक[१] अन्तकाल में अवश्य ही आराधक होता है। जिस व्यक्ति ने मारणान्तिक संलेखना-संथारा करने के लिए तीर्थक्षेत्र या निर्यापक (संथारा करने वाला या संथारे में सहायक) की ओर गमन कर दिया है, वह यदि मार्ग में ही मृत्यु को प्राप्त हो जाये तो उस भावना के कारण आराधक ही माना जाता है, क्यों भावना भवनाशिनी है।

कभी-कभी तत्काल संथारे का निर्णय करना होता है

कभी-कभी संलेखना किये बिना ही जब अकस्मात् मृत्यु का अवसर आता है, उस समय तत्काल सागारी संथारा किया जाता है, किन्तु सागारी संथारा हो या मारणान्तिक संलेखना-संथारा, दोनों में समाधिपूर्वक मृत्यु के लिए भेदविज्ञान का तथा तप, त्याग का, कषाय और शरीर की संलेखना का पहले से अभ्यास होना आवश्यक है। संलेखनापूर्वक समाधिमरण में आध्यात्मिक वीरता है। यदि की हुई सत्प्रतिज्ञा को भंग करने का अवसर आता है तो वह संयमवीर श्रावक-श्राविका या साधु-साध्वी उस प्रतिज्ञा-भंग को नहीं सह सकता। वह प्रतिज्ञा-भंग की अपेक्षा प्रतिज्ञा-पालन (धर्म-पालन) करता हुआ प्रसन्नतापूर्वक मरण स्वीकार करता है। जब देह और आध्यात्मिक सद्गुण, संयम (व्रतादि) या चारित्र दोनों में से किसी एक की रक्षा का सवाल आये, वहाँ ऐसे विषम समय में धर्मप्राण व्यक्ति देह-रक्षा की परवाह नहीं करता, वह देह की समाधिपूर्वक बलि देकर भी अपने विशुद्ध आत्म-गुणों की, संयम की या चारित्र की रक्षा करेगा, देह की नहीं। परन्तु उस स्थिति में भी वह व्यक्ति समत्व रखेगा, न किसी पर रुष्ट या भयभीत होगा और न किसी सुविधा पर तुष्ट। जैसे कोई सती शीलरक्षा का अन्य उपाय न देखकर प्राण-त्याग के द्वारा भी सतीत्व (शील) रक्षा कर लेती है, उसी प्रकार पहले वह साधक शरीर और चारित्र दोनों को बचाने का प्रयत्न करेगा, परन्तु चारित्र-रक्षा करते हुए भी स्थूल शरीर नहीं बचता हो तो वह शान्तिपूर्वक उसका व्युत्सर्ग कर देगा, किन्तु चारित्र की रक्षा करेगा। जैसे कोई व्यक्ति अपना सारा घर जलता देखकर कोशिश करने पर भी नहीं बचा पाता है, तो आखिर वह समग्र घर आदि को जलता छोड़कर अपने आप को बचाता है। यही स्थिति समाधिमरण के साधक की है। प्राणान्त अनशन से देहरूप घर को नष्ट होने देकर वह दिव्य जीवनरूप अपनी आत्मा को रागादि में जलने से बचा लेता है, वह व्यर्थ ही देहनाश नहीं करता, किन्तु संयम रक्षा के निमित्त समाधिपूर्वक देहनाश को कर्त्तव्यरूप मानता है।[२]

---

१. 'श्रावकधर्म-दर्शन' से भाव ग्रहण, पृ. ६४०

२. वही, पृ. ६४२.

संलेखना-संथारा और आत्महत्या में महान् अन्तर

कई अविवेकी व्यक्ति कह देते हैं कि संथारा आत्महत्या है, जान-बूझकर मृत्यु को बुलाना है, किन्तु यह उनका निरा भ्रम है। आत्महत्या करने वाले की मनःस्थिति में क्षणिक आवेश, विचारशून्यता, पीड़ा वर्दाश्त न करने की दीनता, परीक्षा में असफलता, मानसिक कुण्ठा, पागलपन, किंकर्त्तव्यविमूढ़ता, जीवन के प्रति घोर निराशा, प्रेम (वासनाजन्य) में असफलता, आर्त्तध्यान, असहनशीलता, कर्जदारी से पीड़ितता, रोगग्रस्तता, दुःसाध्य व्याधि से ऊब, व्यापार में अचानक भारी घाटा या अन्य किसी मानसिक आवेगों से अथवा अपमान व उद्वेगों से घिरकर उन-उन दुःखों के झटकों को सहन करने की अक्षमता होती है, जिसके कारण वह आत्महत्या जैसा जघन्य कृत्य कर बैठता है। जबकि संलेखना-संथारा करने वाले की मनःस्थिति और मनोवृत्ति में कायरता, दीनता, आर्त्तध्यान, असहिष्णुता, आवेश, कषायाविष्टता, पश्चात्ताप जैसी कोई चीज नहीं होती। संथारे में व्यक्ति शान्त आत्म-सन्तुष्ट और इच्छाओं से मुक्त-सा रहता है। वह अपनी खान-पान की लालसा एवं सुख-भोगों की इच्छाओं को पूर्णतया छोड़ देता है। अठारह पापस्थानों (पापबन्ध के कारणों) को वह त्यागने के लिए संकल्पबद्ध होता है। वह परिवार, समाज या संघ आदि की ममता तथा चल-अचल सम्पत्ति की आसक्ति तीव्र क्रोध, मान आदि कषायों को तपोवश त्याग देता है। मृत्यु के प्रति अभय होकर एवं जीवन-मरण में सम रहकर वह मोहरहित होकर समाधिपूर्वक प्राण त्याग करता है। वह क्षुधाजयी एवं कषायजयी होकर अन्त में मृत्युंजयी बन जाता है। अपनी वृत्ति-प्रवृत्तियों को शान्त और समाधिस्थ कर लेता है। अतः संथारा मृत्यु का निमंत्रण नहीं, मृत्यु पर विजय पाने का अभिमान है। संथारा में स्थूल जीवन के लोभवश आध्यात्मिक गुणों से च्युत होने और मृत्यु से पलायन करने की कायरता नहीं है और न स्थूल जीवन से ऊबकर मृत्यु के मुख में पड़ने की आत्महत्या कहलाने वाली मूढ़ता है। वह जीवन-प्रिय अवश्य है, किन्तु जीवन-मोही नहीं। वस्तुतः संलेखना-संथारा मृत्यु को आमन्त्रित करने की पद्धति नहीं, किन्तु स्वतः आने वाली मृत्यु के स्वागत की निर्भयतापूर्वक तैयारी है। एक जैनाचार्य ने कहा है–"समाधिमरण की यह (संथारा) क्रिया मरण (को बुलाने) के निमित्त से नहीं, अपितु मृत्यु के प्रतीकार के लिए है। जैसे–फोड़े के नश्तर लगाना आत्म-विराधनारूप नहीं, स्वस्थता के लिए होता है।" अतः संलेखना-संथारा करने में न किसी भय को अवकाश है, न ही दबाव को और न प्रलोभन को। जैसे कि 'तत्त्वार्थसूत्र' में कहा गया है– "मारणान्तिकीं संलेखना जोषिता।"–वह साधु या श्रावक मरण के अन्त समय में की जाने वाली या वर्तमान शरीर का अन्त होने तक स्वीकृत संलेखना-संथारा का प्रीतिपूर्वक सेवन = पालन करता है। इसलिए संलेखना-संथारा बहुत ही सोच-समझकर शरीर और कषायों के प्रति मोह-ममत्व के त्यागपूर्वक ग्रहण किया

जाता है, वलात् नहीं।[1] अतः संथारा मरण को श्रेष्ठ रूप से निष्पन्न करने का प्रकार है।

ये सब प्राणोत्सर्ग प्रयोग समाधिमरण नहीं हैं

जैनधर्म में जैसे संलेखना में काय और कषाय दोनों तपश्चर्या आदि द्वारा कृश करके समाधिपूर्वक प्राणोत्सर्ग का विधान है; वैसे ही अन्य धर्मों के ग्रन्थों में भी जलसमाधि (जल में डूबकर मरने), झंपापात (पर्वत से गिरकर मरने), भैरवजप, कमलपूजा या विषपान करके अथवा मिट्टी में दबकर जीवित समाधि लेने का या अपने इष्ट देवी-देव के सामने अपना सिर काटकर समर्पण करके, आत्म-बलि के रूप में या ऐसे अनेकों प्रकार से प्राणोत्सर्ग करने का विधान है। संलेखना-संथारा में दीर्घकालिक तप द्वारा धीरे-धीरे शरीर को समाधिपूर्वक छोड़ने की प्रेरणा है; जबकि वैदिकादि धर्मोक्त जलसमाधि आदि उपायों द्वारा प्राणोत्सर्ग करने नें झटपट शरीर छूट जाता है, मरण शीघ्र हो जाता है। कोई अधिक देर भी नहीं लगती; ऐसी स्थिति में जैनधर्म ने इन पूर्वोक्त शीघ्र-मरणोपायों का विधान या समर्थन क्यों नहीं किया ?

इसका समाधान यह है कि जैनधर्म में स्वेच्छा से जिस प्रकार के प्राणोत्सर्ग का विधान है, वह है समाधिपूर्वक मरण का। वह भी विशेष परिस्थिति में, जबकि शरीर तप, संयम, नियम-धर्म के पालन में बिलकुल अक्षम–असमर्थ हो जाये, दूसरों के लिए भारभूत हो जाये; अथवा प्राकृतिक या पर-प्राणिकृत ऐसी विपत्तियाँ आ जाएँ कि वह न तो अपना ही कल्याण कर सके, न जगत् का ऐसी स्थिति में संलेखना-संथारारूप समाधिमरण का मार्ग स्वीकार करना ही अभीष्ट और उचित है। पहाड़ से गिरने, जल में डूबने, विषपान करने अथवा देवी-देवों के आगे स्वयं की आत्म-बलि कर देने, भैरव जाप आदि उपायों में समाधिभाव प्रायः नहीं रहता। आर्त्तध्यान की ही मात्रा अधिक दिखाई देती है। विविध उपायों से मरने की ये प्रथाएँ भूतकाल में कुछ तो धर्म-सम्प्रदाय-मत-पंथ के नाम पर चलती थीं, कुछ लौकिक या सांसारिक कारणों से या देवी-देवों को प्रसन्न करने के निमित्त से चलती थीं; इनकी नींव प्रायः अन्ध-श्रद्धा पर टिकी हुई थी। इनसे जीवन में कोई अभीष्ट धर्माराधना, कषायादि विकारों पर विजय की साधना या चारित्र-रक्षा की कोई उपयोगिता सिद्ध नहीं होती। किसी देवी-देव को खुश करने के लिहाज से मर जाना

---

१. (क) 'जीवन की अन्तिम मुस्कान : समाधिमरण' से भाव ग्रहण, पृ. २८

(ख) 'श्रावकधर्म-दर्शन' से भाव ग्रहण, पृ. ६४३

(ग) तत्त्वार्थसूत्र, अ. ७, सू. १७

(घ) मरण-पडियारभूया एसा, एवं च ण मरणणिमित्ता।
जह गंडच्छेय-किरिया, णो आय-विराहणारूवा॥

–दर्शन और चिन्तन, पृ. ५३६ से उद्धृत

महज अन्ध-विश्वास का भयंकर परिणाम है। अमुक स्थान पर मरने से या अमुक का नाम लेकर मरने से स्वर्ग या मोक्ष मिल जायेगा, इस प्रकार की अन्ध-वासना से प्राण-त्याग करने का कोई (कर्मक्षयरूप) फल नहीं है, ये एक प्रकार से आत्महत्याएँ ही हैं। फिर वीतरागता के उपासक जैनधर्मी का ध्येय उसके धर्मतत्त्व ज्ञान के अनुसार पदार्पण या पर-प्रसन्नता नहीं है, अपितु आत्म-संशुद्धि मात्र है, जो किसी देव को खुश करने हेतु प्राणोत्सर्ग से या मूढ़तापूर्वक जीवन का अन्त कर देने से नहीं होती। जैनधर्म के साहित्य में इस तरह से किये जाने वाले प्राणनाश का निषेध है, जो किसी ऐहिक या पारलौकिक सम्पत्ति की इच्छा से, कामिनी की कामना से, भोगोपभोगों की वांछा से, पत्नी द्वारा मृत पति-मिलन के अन्ध-विश्वास से, इह-पारलौकिक किसी भी स्वार्थपूर्ति की लालसा से या अन्य लौकिक अभ्युदय की वांछा से, प्रमाद या आसक्तिपूर्वक धर्म भ्रम की बुद्धि से आत्म-वध को हिंसा मानता है, जिसके पीछे प्रमत्त योग का कषायभाव हो, अथवा कोई न कोई आसक्तिभाव-प्रेरक तत्त्व हो।

संलेखना-संथारा स्व-हिंसा नहीं, स्व-पर-दया है

संलेखना-संथारे में अनशन आदि तप द्वारा जो प्राण-त्याग किया जाता है, उसमें हिंसा का लक्षण घटित नहीं होता, क्योंकि उसके द्वारा स्वेच्छा से, होशहवास में, समझ-बूझपूर्वक, विचारपूर्वक गुरु आदि की साक्षी से प्राण (शरीर) त्याग किया जाता है। हिंसा का लक्षण है–**प्रमत्तयोगों से प्राणों का विनाश करना।**[१] जो विचारपूर्वक संलेखना करता है, उसमें राग-द्वेष-मोह आदि तथा कषाय के आवेगरूप परिणाम का अभाव होने से प्रमत्तयोग नहीं होता। बल्कि निर्मोहत्व और वीतरागत्व की साधना में सिद्धि की भावना से यह व्रत निष्पन्न होता है। इस भावना की सिद्धि के कारण ही यह पूर्णता को प्राप्त होता है, इसलिए संलेखना-संथारा आत्महत्या नहीं है और न ही स्व-हिंसा है। आत्महत्या तो किसी कषायावेश का परिणाम होता है, जबकि संलेखना त्याग और स्व-पर-दया का परिणाम है। जब अपने जीवन की कोई उपयोगिता नहीं रह गई हो, दूसरों को व्यर्थ ही कष्ट उठाना पड़ता हो, तब संलेखना-संथारा द्वारा यावज्जीव अनशन द्वारा शरीर-त्याग करना दूसरों पर दया है, अपनी आत्मा की भी दया है।[२]

संलेखना-संथारा मृत्यु को अमरता में बदलने के लिए किया जाता है

सबसे विशिष्ट बात यह है कि संलेखना-संथारा मृत्यु के लिए नहीं किया जाता, संथारा करने वाले का लक्ष्य मृत्यु नहीं होता, अपितु आती हुई सहज मृत्यु

---

१. प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा। —*तत्त्वार्थसूत्र, अ. ७, सू. ८*

२. (क) 'श्रावकधर्म-दर्शन' से भाव ग्रहण, पृ. ६४१

(ख) 'दर्शन और चिन्तन' (स्व. पं. सुखलाल जी) से भाव ग्रहण

को अमरता में बदलना ही उसका लक्ष्य होता है, ताकि मरण की परम्परा ही समाप्त हो जाये। अतएव संथारा बार-बार जन्म-मरण की प्रक्रिया को रोकने की कला है। इसीलिए 'स्थानांगसूत्र' के तृतीय स्थान में साधु और श्रावकों के तीन मनोरथों का (उत्तम मन-वचन-काया से उक्त भावनाओं) महानिर्जरा-महापर्यवसान रूप फल बताया गया है। उनमें से दोनों के लिए अन्तिम मनोरथ इस प्रकार है–"कब मैं अपश्चिम मारणान्तिक संलेखना (संथारा) की आराधना से युक्त होकर भक्त-पान का परित्याग कर, प्रायोपगमन (पादपोपगमन) संथारा स्वीकार कर मृत्यु की आकांक्षा नहीं करता हुआ विचरूँगा।" श्रमण निर्ग्रन्थ या श्रमणोपासक के द्वारा किये गये संलेखना-संथारे के पीछे कितनी सुन्दर भावना है और उक्त भावना (मनोरथ) का सुफल है–महानिर्जरा और महापर्यवसान। जब कर्मनिर्जरा विपुल-प्रमाण में असंख्यात-गुणित क्रम से होती है, तब वह महानिर्जरा कहलाती है। महापर्यवसान के दो अर्थ होते हैं–समाधिमरण और अपुनर्मरण। जिस साधक के कर्मों की महानिर्जरा होती है, वह या तो समाधिमरण को प्राप्त होता है या फिर कर्मों से सर्वथा मुक्त होकर अपुनर्मरण को प्राप्त होता है। या तो वह समाधिमरण के फलस्वरूप उत्तम जाति के देवों में उत्पन्न होकर फिर क्रमशः मोक्ष प्राप्त करता है या फिर वह सर्वकर्ममुक्त होकर जन्म-मरण के चक्र से सदा-सदा के लिए छूटकर सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हो जाता है।

इस शास्त्रोक्त पाठ से स्पष्ट ध्वनित होता है कि संलेखना-संथारा आत्महत्या नहीं है, क्योंकि संथारा करने वाले के मन-मस्तिष्क में कषायों का आवेग नहीं होता, अपितु शान्ति और समाधि होती है। वह इस नश्वर शरीर को, जोकि अब संयम-नियम के पालन में अक्षम हो गया है, प्रसन्नतापूर्वक त्यागता है। उसका उद्देश्य या लक्ष्य मृत्यु को आमन्त्रित करना नहीं, अपितु मृत्यु के सहज आने पर आत्म-समाधिपूर्वक स्वीकार करना है। मृत्यु उसे न तो प्रिय होती है और न ही अप्रिय। मृत्यु को वह एक वस्त्र-परिवर्तन की घटना की तरह मानता है। उसको या उसके सम्बन्धित परिवार आदि को संलेखना-संथारा द्वारा मृत्यु होने से कोई दुःख नहीं होता, अपितु अनासक्ति की अनुभूति से अनिर्वचनीय आनन्द-ब्रह्मानन्द प्राप्त होता है, मृत्यु को महोत्सव माना जाता है।[1]

---

१. (क) तिहिं ठाणेहिं समणे णिग्गंथे समणोवासए महाणिज्जरे महापज्जवसाणे भवति, तं.–उ. कयाणं अहं अपच्छिम-मारणंतिय-संलेहणा-झूसणा-झूसिते भत्त-पाण-पडिआइक्खित्ते पाओवगते कालं अणवकंखमाणे विहरिस्सामि? एवं समणसा सवयसा सकायसा पागड़ेमाणे समणे णिग्गंथे। समणोवासए महाणिज्जरे महापज्जवसाणे भवति।

–स्थानांग. स्था. ३, उ. ४, सू. ४९६-४९७

(ख) स्थानांगसूत्र, विवेचन (आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर), स्था. ३, उ. ४, पृ. १८८

(ग) 'जीवन की अन्तिम मुस्कान' से भाव ग्रहण, पृ. ४८

संलेखना-संथारा : जीवन की अन्तिम आवश्यक अध्यात्म-साधना

वस्तुतः संलेखना-संथारा मृत्यु पर विजय प्राप्त करने की कला सिखाती है। वह जीवन-शुद्धि के साथ-साथ मरण-शुद्धि की भी प्रक्रिया है। जिस साधक ने मदन (काम) के मद को गलित कर दिया है, जो बाह्य-आभ्यन्तर परिग्रह-पंक से मुक्त हो चुका है या मुक्त होने का अभ्यास करता है तथा सदा-सर्वदा आत्म-चिन्तन में लीन रहता है, वही व्यक्ति संलेखना-संथारापूर्वक समाधिमरण के मार्ग को अपनाता है। संलेखना में सामान्य मनोबल वाला व्यक्ति विशिष्ट मनोबल प्राप्त कर लेता है। संलेखनापूर्वक यावज्जीव अनशन मन की उच्चतम अवस्था का सूचक है। संलेखना-संथारा-साधक जीवन के अन्तिम क्षणों में सावधान होकर चलता है। वह यों ही अकारण मृत्यु का आह्वान नहीं करता, परन्तु मृत्यु उसके जीवनद्वार पर आ पहुँचती है तो वह मित्र की तरह उसे भेंटने के लिए उत्सुक होकर कहता है–"मित्र ! आओ, मैं तुम्हारा स्वागत करता हूँ। मुझे अब शरीर पर मोह नहीं है। मैंने अपने कर्त्तव्य को पूर्ण कर लिया है, इसलिए मुझे अब तुम्हारा (मृत्यु का) डर नहीं है, क्योंकि मैंने सुगति का मार्ग ग्रहण कर लिया है।"[१] ऐसे साधक की मृत्यु समाधि का कारण बनती है, असमाधि का नहीं। एक संत कवि ने कहा है–"जैसे कोई नववधू डोले पर बैठकर ससुराल जा रही हो, तब उसके मन में अपार आह्लाद होता है, वैसे ही साधक को भी दिव्यलोक जाते समय या मुक्तिपुरी जाते समय अपार प्रसन्नता होती है।"[२] यही कारण है कि संलेखना-संथारा को जीवन-मन्दिर का सुरम्य कलश तथा परम आध्यात्मिक आवश्यक साधना माना गया है। इसलिए संलेखना-संथारा व्रत को आत्महत्या कहना निराधार है।[३]

संलेखना-संथारा बहुत ही भावना और विचार के पश्चात् होता है, आत्महत्या में ऐसा नहीं होता

पहले कहा जा चुका है कि संलेखना-संथारे द्वारा जो समाधिपूर्वक मरण होता है, उसमें और आत्महत्या में मौलिक अन्तर है। आत्महत्या करने वाला व्यक्ति संघर्षों से ऊबकर पलायन करना चाहता है। आत्महत्या में वीरता नहीं, कायरता है। तीव्र कषाय और वासना की उत्तेजना है। समाधिमरण का साधक संघर्षों से भयभीत होकर पलायन नहीं करता। उसके मन में कषायों, वासनाओं और इच्छाओं की तीव्रता नहीं होती। संलेखना-संथारा करने वाले में वीरता होती है। आत्महत्या में व्यक्ति दीर्घदृष्टि से सोचे-विचारे बिना आवेश में आकर झटपट प्राण-त्याग करता है, जबकि संलेखना-संथारे का आराधक अकस्मात् इस

---

१. लहिओ सुग्गइ-मग्गो ना हं मच्चुस्स वीहेमि। —*महापच्चक्खाण पइण्णयं*

२. सजनि ! डोले पर हो जा सवार, लेने आ पहुँचे हैं कहार।

३. 'जैन आचार : सिद्धान्त और स्वरूप' से भाव ग्रहण, पृ. ६९८-६९९

महत्त्वपूर्ण व्रतराज का स्वीकार नहीं करता, वह बहुत ही सोच-विचार के पश्चात् ही इसे स्वीकारता है। महाव्रती साधु या अणुव्रती श्रावक जब अपने महाव्रतों–अणुव्रतों का निर्दोषरूप से पालन करने में अक्षम हो जाता है, शरीर जर्जर एवं निढाल हो जाता है या अतीव व्याधिग्रस्त होने से धर्म-पालन के अयोग्य हो जाता है, तभी वह इस संलेखना व्रत को स्वीकार करता है। अन्तकृद्दशा, भगवती, अनुत्तरौपपातिक, औपपातिक या उपासकदशांग आदि आगमों में जहाँ भी किसी साधु-साध्वी या श्रावक-श्राविका के द्वारा संलेखना-संथारा करने का वर्णन है, वहाँ प्रायः ऐसा विवरण मिलता है–सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र एवं विशिष्ट तप की आराधना करते-करते जब शरीर अत्यन्त कृश हो गया, कषाय भी उपशान्त हो गया, शरीर के प्रति ममत्व भी कम हो गया, तब एक रात धर्म-जागरण करते-करते ऐसा अध्यवसाय (चिन्तन) हुआ–जब तक मुझमें उत्थान, कर्म, बल, वीर्य एवं पुरुषार्थ (पराक्रम) है, धर्म के प्रति श्रद्धा, धृति, उत्साह, संवेग आदि है, तब तक मेरे लिए यह श्रेयष्कर है कि में कल प्रातःकाल ही आहार, शरीर और उपधि तथा १८ पापस्थानों का सर्वथा त्याग करके, सबसे क्षमापना करके मारणान्तिक भक्त-पान प्रत्याख्यानपूर्वक संलेखना-संथारा स्वीकार कर लूँ। **"तथाकालं अणवकंखमाणस्स विहरित्तए।"** अर्थात् मरण की कामना न करता हुआ शान्तिपूर्वक आत्म-भावों में रमण करूँ, धर्माराधना करता हुआ समाधिभाव में विचरूँ। इस प्रकार शान्त-चित्त से चिन्तन करके **'एवं संपेहेई'**–इस प्रकार सम्यक् सम्प्रेक्षण किया और फिर दृढ़ निश्चयपूर्वक अपने संकल्प को साकार करने हेतु उसने यावज्जीव का मारणान्तिक संलेखना-संथारा स्वीकार किया और अत्यन्त शुभ, प्रशान्त, निर्मल अध्यवसायों (भावों) में रमण करने लगा।[1]

संलेखना-संथारा और आत्मघात में आध्यात्मिक और व्यावहारिक दोनों दृष्टियों से अन्तर

संलेखना-संथारा और आत्मघात दोनों में शरीर-त्याग भले ही समान रूप से हो, किन्तु कौन, कैसे, किस विधि से तथा क्यों शरीर को छोड़ रहा है? यह महत्त्वपूर्ण अन्तर है। संलेखना में वही साधक शरीर का व्युत्सर्ग करता है, जिसने अपने जीवन में अध्यात्म और सद्धर्म की गहन साधना की है, जो भेदविज्ञान की बारीकियों से भलीभाँति परिचित हो गया है, जिसका चिन्तन स्वस्थ, कषायमुक्त

---

१. (क) 'श्रावकधर्म-दर्शन' से भाव ग्रहण

(ख) ...... पुव्वरत्ता जाव धम्मजागरियं जागरमाणस्स अयं अज्झत्थिए ...... एवं खलु अहं इमेणं ...... जाव धम्मणिसंतए जाए, तं अत्थिता मे उट्ठाणे कम्मे बले वीरिए पुरिसक्कार-परक्कमे सद्धा-धिइं-संवेगे, तं जाव ...... जसंते अपच्छिम-मारणंतिय-संलेहणा-झूसणा-झूसियस्स भत्तपाणपडियाइरियस्स कालं अणवकंखमाणस्स विहरित्तए एवं संपेहेइ संपेहित्ता ......। *–उपासकदशा, अ. १ आनन्द श्रावकाधिकार*

और सुचिन्तित है। मैं (आत्मा) केवल शरीर ही नहीं हूँ, किन्तु मेरा स्वतंत्र अस्तित्व है। शरीर मरणशील है, आत्मा अमर एवं शाश्वत है। अतः पृथक्-पृथक् और स्वतंत्र अस्तित्व वाले जीव और पुद्गल, जो एकमेक हो गये हैं, संलेखना उन्हें पृथक् करने का सुनियोजित प्रयास है, आत्मघात में ऐसा कुछ भी नहीं होता।

व्यवहारदृष्टि से सोचें भी तो संलेखना और आत्मघात में दिन और रात का अन्तर है। आत्मघात करते समय व्यक्ति की मुखमुद्रा विकृत और तनावपूर्ण होती है, उसके चेहरे पर भय की रेखाएँ झलकती हैं। किन्तु संलेखना-संथारा-साधक की मुखमुद्रा पूर्ण शान्त और तनावमुक्त होती है। उसके चेहरे पर किसी प्रकार के भय की या आकुलता की रेखा नहीं झलकती। आत्मघात करने वाले का स्नायुतंत्र तनावयुक्त होता है, जबकि संलेखना-साधक का स्नायुतंत्र तनाव से मुक्त होता है। आत्मघात करने वाले व्यक्ति की मृत्यु अकस्मात् होती है, जबकि संलेखना-साधक की मृत्यु आत्म-भावों पर आधारित होती है। आत्मघाती लुक-छिपकर किसी को स्थान बताये बिना मौत को अपनाता है, जबकि संलेखना-संथारा-साधक का स्थान पूर्व निर्धारित, प्रकट और सबको ज्ञात हो जाता है। एक की वृत्ति में कायरता है, जबकि दूसरे की वृत्ति में प्रबल पराक्रम है, कर्त्तव्य-परायणता है।

संलेखना की जाती है–शरीर और कषाय दोनों को कृश करके, जबकि आत्मघात में ऐसा कुछ नहीं किया जाता। संलेखना में सूक्ष्म समीक्षण भी किया जाता है और जब तक तन-मन और भोजन पर पूरा नियंत्रण नहीं किया जाता, तब तक संलेखना-संथारे की अनुमति नहीं दी जाती। जब सम्यक् चिन्तन-मनन द्वारा मानसिक संयम पूर्णतया पक जाता है, तभी संथारा ग्रहण किया जाता है। संलेखना का लक्ष्य किसी प्रकार का लौकिक-पारलौकिक त्याग नहीं है, न ही पार्थिव समृद्धि या सांसारिक सिद्धि है, अपितु जन्म-मरण के चक्र से मुक्ति कर्मों से मुक्ति है। संलेखना-संथारा जीवन के अन्तिम क्षणों में किया जाता है, जबकि आत्मघात किसी भी समय किया जाता है।

अतः जिस प्रकार जहर और अमृत, आग और पानी में कोई समानता नहीं हो सकती, वैसे ही आत्मघात और संथारे में कोई समानता नहीं है।[१]

संलेखना-संथारे में पाँच अतिचारों से बचने का निर्देश

फिर संलेखना-संथारा निर्दोष-निरतिचारपूर्वक हो, इसके लिए संलेखना के ५ अतिचारों से साधक को बचने का निर्देश दिया गया है, जबकि आत्महत्या स्वयं मरणाशंसा नामक दोष है, अर्थात् आत्मघात में मृत्यु की इच्छा और कषाय की तीव्रता रहती है। संलेखना-संथारा एक प्रकार की असंग (सर्वसंग-परित्याग) की

---

१. 'जैन आचार : सिद्धान्त और स्वरूप' से भाव ग्रहण, पृ. ७१९-७२०

मनोदशा है; शुद्ध आत्म-स्वरूप में रमण करने की अवस्था है, उसमें किसी प्रकार की वासना, कामना, वांछा, भय, विषयासक्ति या पूर्व-स्नेहस्मृति आदि होती है तो वहाँ समाधिमरण की विराधना है, दोष है। संलेखना-संथारे में निम्नोक्त पाँच दोषों (अतिचारों) से बचना आवश्यक बताया है-(१) इहलोकाशंसा-प्रयोग, (२) परलोकाशंसा-प्रयोग, (३) जीविताशंसा-प्रयोग, (४) मरणाशंसा-प्रयोग, और (५) कामभोगाशंसा-प्रयोग। सावधानी रखने पर भी प्रमाद का अज्ञान के कारण जिन दोषों के लगने की सम्भावना है, उन्हें अतिचार कहते हैं। साधक को इन दोषों से बचने का प्रयत्न करना चाहिए। इन पाँचों का स्वरूप इस प्रकार है-

(१) **इहलोकाशंसा-प्रयोग**-इस लोक में जो भी परिवार, स्व-जन, सम्प्रदाय-जन आदि सजीव तथा धन, मकान, जमीन आदि निर्जीव इष्ट पदार्थ हैं, उसकी मोह, ममत्व, आसक्ति की दृष्टि से बार-बार आकांक्षा करना तथा चिन्ता करना इहलोकाशंसा-प्रयोग नामक दोष है। संलेखना-संथारा ग्रहण करने के बाद साधक को इस लोक की सभी वस्तुओं, यहाँ तक कि शरीर, मन, बुद्धि, सम्प्रदाय, पद, उपधि; प्रतिष्ठा, गुरु आदि सभी वस्तुओं को पर-भाव समझकर अपने से भिन्न समझना चाहिए। उनका चिन्तन करना तथा मन ही मन उनको पाने की कामना करना त्याग की हुई वस्तु को पुनः भोगना है। मन से भी इष्ट-अनिष्ट, सजीव-निर्जीव वस्तुओं के प्रति न राग करना चाहिए, न द्वेष। जैसे आकाश सर्वभावों से निर्लिप्त तथा उनकी वासना से रहित है, वैसे संथारा-आराधक को, अपनी आत्मा को सर्व पर-पदार्थों से निर्लिप्त तथा उनकी वासना से रहित समझना चाहिए। उसे एकमात्र शुद्ध आत्म-स्वरूप में रमण तथा उसी का चिन्तन करना चाहिए। 'तत्त्वार्थसूत्र' में इसे मित्रानुराग नामक अतिचार कहा है। इसका तात्पर्य भी उपर्युक्त है।

(२) **परलोकाशंसा-प्रयोग**-कई संलेखना-साधकों को इस लोक की चिन्ता तो नहीं होती, किन्तु परलोक की चिन्ता सताती रहती है कि परलोक में कैसी गति, कैसी योनि मिलेगी? वहाँ स्वर्गादि सुख मिलेगा या नहीं? इस प्रकार की परलोक से सम्बन्धित किसी भी बात की इच्छा रखना संलेखना-साधना को दूषित करना है। उसे इहलोक या परलोक की सुखाकांक्षा या सुख-चिन्ता छोड़कर एकमात्र आत्म-लोक में ही विचरण-रमण करना चाहिए। 'तत्त्वार्थसूत्र' में इसका नाम **सुखानुबन्ध** है, जिसका तात्पर्य भी वही है।[१]

(३) तीसरा अतिचार है-**जीविताशंसा-प्रयोग**। संलेखना-साधना के दौरान लोगों की ओर से खूब वाहवाही, प्रशंसा, प्रसिद्धि या यशःकीर्ति मिल रही है, लोग

---

१. (क) इहलोगासंसप्पओगे परलोगासंसप्पओगे जीवियासंसप्पओ मरणासंसप्पओगे, कामभोगासंसप्पओगे। —*स्थानांग, स्था. ५*

(ख) जीवितमरणाशंसा-सुखानुबन्ध-मित्रानुराग-निदान करणानि। —*तत्त्वार्थ ७/३२*

उसका गुणगान कर रहे हों, जय-जयकार के नारे लगा रहे हों, अथवा अपनी प्रेरणा या प्रयत्न से होने वाला कोई महत्त्वपूर्ण, किन्तु अभी अधूरे कार्य को पूर्ण हुआ देखने की लालसा से अथवा कोई गृहस्थ अपने पौत्र-पौत्री आदि देखने की लालसा से मन में यह सोचे कि जीवन कुछ और लम्बा हो जाता या आयुष्य के क्षण कुछ और बढ़ जाते तो कितना अच्छा होता? कितनी सुहावनी लग रही है मुझे अपनी प्रशंसा ! अथवा मेरे द्वारा की गई इस महत्त्वपूर्ण कारकिर्दी को थोड़ा और जी लेता तो देख लेता ! इस प्रकार साधक की दीर्घकाल तक जीवित रहने की आकांक्षा भी संथारे का दूषण है।

(४) चौथा अतिचार है—**मरणाशंसा-प्रयोग**। जिन्दगी कष्टमय पीड़ा से पूर्ण हो, दुःसाध्य व्याधि की भयंकर वेदना हो, व्याधि से छुटकारा न हो रहा हो, वह लम्बी होती जा रही हो, उस समय संलेखना-साधक यह सोचे कि मेरी जिन्दगी झटपट समाप्त हो जाय, शीघ्र ही मौत आ जाय तो कितना अच्छा हो। इस प्रकार शीघ्र मृत्यु की वांछा करना भी दोष है। संलेखना-साधक को न तो अधिक जीने की आकांक्षा करनी चाहिए और न ही शीघ्र मरने की अभिलाषा !

(५) पाँचवाँ अतिचार है—**कामभोगाशंसा-प्रयोग**। मन ही मन नाना प्रकार के इन्द्रिय-विषयभोगों तथा इच्छाओं—कामनाओं एवं वासनाओं की पूर्ति की आकांक्षा करना, आत्म-चिन्तन एवं आत्म-भावों में रमण को छोड़कर कामभोगों के चिन्तन में डूबा रहना, संथारे के दौरान नाना सुख-सुविधाओं को पाने की लिप्सा रखना, मनोज्ञप्रिय भोगों की आकांक्षा करना, नाना संकल्प-विकल्प करना तथा नियाणा (निदान) करना कि मेरी तपस्या, धर्मकरणी या चारित्र-पालन का कुछ फल हो तो मुझे अभी या भविष्य में परलोक में अमुक-अमुक भोग मिलें, मेरी अमुक, अतृप्त कामना तृप्त हो। ये और इस प्रकार का कोई भी निदान करना संलेखना-संथारे का भयंकर दूषण है। 'तत्त्वार्थसूत्र' में इसे 'निदान' नामक अतिचार कहा गया है।

संथारा के साधक को न तो जीने की इच्छा करनी चाहिए और न मरने की। क्योंकि जीने की इच्छा में प्राणों के प्रति मोह झलकता है और मरने की इच्छा में जीने के प्रति अनिच्छा व्यक्त होती है। अतः संलेखना-साधक जीवन और मरण दोनों ही विकल्पों से मुक्त एवं अनासक्त होकर सदैव आत्म-भावों में स्थित होकर रहे। वर्तमान जीवन के कष्टों से मुक्त होने और स्वर्ग के कमनीय सुखों को प्राप्त करने की रमणीय कल्पना से प्रेरित होकर जिन्दगी की डोरी को काटना एक प्रकार से आत्महत्या है। साधक के अन्तर्मानस में न तो लोभ का साम्राज्य हो और न भय की विभीषिकाएँ हों, न मन में निराशा के बादल मँडराएँ और न ही आत्म-ग्लानि की आँधी आये। इसी प्रकार उसके मन में न तो पंचेन्द्रिय विषयों या आहारादि के प्रति आसक्ति हो और न शारीरिक सुख-सुविधाओं या साज-सज्जा के प्रति। उसकी संलेखना-संथारा की साधना एकान्त निर्जरा (कर्मक्षय से आत्म-शुद्धि) के लिए हो।

आचार्य अमितगति ने तो स्पष्ट कहा है–"हे भद्र साधक ! यह संलेखना-संथारा न तो समाधि (सुख-सुविधाओं की प्राप्ति) का साधन है, न ही लोक-पूजा का और न ही संघ (प्रशंसक जन-समूह) की भीड़ इकट्ठी करने का साधन है। वस्तुतः संथारा तो समस्त बाह्य वासनाओं–कामनाओं, सुख-सुविधाओं को तिलांजलि देकर एकमात्र आत्मा में अध्यात्म-भावों में अहर्निश रमण करने की साधना है। 'महाप्रत्याख्यान प्रकीर्णक' में भी बताया गया है कि "न तो तृणमय संस्तारक (तृणशैय्या) समाधिमरण का हेतु है, न प्रासुक भूमि ही। जिसका मन विशुद्ध होता है वही आत्मा संस्तारक (संसार-समुद्र से तारने वाली) होती है।"[१]

संलेखना-संथारा ग्रहण करने से पूर्व सांसारिक सम्बन्धों से सम्बन्ध-विच्छेद आवश्यक

'रत्नकरण्डक श्रावकाचार' में बताया है कि "संलेखना (संथारा) व्रत ग्रहण करने से पूर्व संलेखना व्रतधारी को विचारों की विशुद्धि के लिए सभी सांसारिक सम्बन्धों से सम्बन्ध-विच्छेद कर लेना चाहिए।"[२]

भ्रान्तियुक्त सम्बन्ध क्या और किन-किन से ?

सांसारिक सम्बन्ध क्या है? उससे विच्छेद कैसे करना चाहिए? किन-किन से सम्बन्ध है? इस विषय में 'कल्याण' (मासिकपत्र) में इससे सम्बन्धित निम्नोक्त चिन्तन-बिन्दु विचारणीय हैं–इस नाशवान् शरीर और संसार की किसी भी वस्तु को 'मेरी' मानकर उससे सुख प्राप्त करने की आशा–आकांक्षा रखना ही (भ्रान्तियुक्त) सम्बन्ध है। 'यह मेरी है और इससे मुझे सुख मिलेगा'; इस भावना (पर-भाव–विभाव) का नाम ही सम्बन्ध है। जिनके संयोग और अनुकूलता में हमें सुख और जिनके वियोग और प्रतिकूलता में हमें दुःख का अनुभव होता है, बस उन्हीं से हमारा सम्बन्ध है। इस प्रकार मनुष्य का सांसारिक (शरीर और शरीर से सम्बद्ध प्रायः तीन (सजीव-निर्जीव पदार्थों) से रहता है–(१) शरीर से, (२) शरीर के सजीव सम्बन्धियों से, (३) शरीर के निर्जीव सम्बन्धित पदार्थों से। मिले हुए स्थूल शरीर (शरीर के अंगोपांगों तथा मन, वाणी, शरीर, बुद्धि, इन्द्रियाँ, प्राण आदि) से तथा सूक्ष्म (तैजस्) शरीर एवं कारण (कार्मण) शरीर से अधिकतर

---

१. (क) 'श्रावकधर्म-दर्शन', अ. ४, पृ. ६४९-६५०

(ख) 'जैन आचार : सिद्धान्त और स्वरूप' से भाव ग्रहण, पृ. ७०३

(ग) न संस्तरो भद्र ! समाधि-साधनं, न लोकपूजा, न च संघमेलनम्।
यतस्ततोऽध्यात्मरतो भवानिशं, विमुच्य सर्वामपि बाह्यवासनाम्॥ *–सामायिक पाठ २३*

(घ) न वि कारणं तणमओ संथारो, न वि य फासुयाभूमी।
अप्पा खलु संथारो, होइ विसुद्धमणो जस्स॥ ***–महापच्चक्खाण, प. ९६***

२. 'रत्नकरण्डक श्रावकाचार' (आचार्य समन्तभद्र) से भाव ग्रहण, श्लो. १२४-१२८

मोहजनित सम्बन्ध होता है। फिर सम्बन्ध होता है–शरीर के सजीव सम्बन्धियों (परिवार, कुटुम्ब, ज्ञाति, वर्ण, वर्ग, सम्प्रदाय, संघ, समाज, पंथ, प्रान्त, राष्ट्र, ग्राम, नगर आदि के सदस्यों से तथा गाय, भैंस, घोड़ा, ऊँट, हाथी, कुत्ता आदि पालतू पशु-पक्षियों) से। तत्पश्चात् सम्बन्ध होता है–मिली हुई साधन-सामग्री, सम्पत्ति आदि निर्जीव पदार्थों (धन, जमीन, जायदाद, मोटर, बंगला, दुकान, मकान, बाग, कोठी, फर्म, कारखाना, मिल तथा चल-अचल सम्पत्ति आदि) से। अर्थात् इन तीनों से मनुष्य सांसारिक सम्बन्ध रखता है।[१]

इन तीनों सम्बन्धियों से सम्बन्ध छोड़कर जाना पड़ेगा

मनुष्य चाहे जितना प्रयत्न कर ले, वह किसी भी उपाय से इन तीन प्रकार के सम्बन्धियों के साथ सदैव नहीं रह सकता और न ही ये हमारे साथ सदैव रह सकते हैं।[२] उसके साथ जो मैं और मेरा का सम्बन्ध है, उसे भी वह सुरक्षित नहीं रख सकेगा। एक दिन वह आयेगा, जब विवश होकर इन तीन प्रकार के सम्बन्धियों को छोड़कर जाना पड़ेगा।

शरीर के रहते-रहते इन सम्बन्धियों से सम्बन्ध नहीं तोड़ने पर

यदि शरीर के रहते-रहते मनुष्य तीनों प्रकार के सम्बन्धियों से अपना सम्बन्ध नहीं तोड़ता है तो स्थूल शरीर के नाश हो जाने पर भी उसका वह (भ्रान्तिजन्य ममत्वयुक्त) सम्बन्ध नहीं टूटता, नष्ट नहीं होता। मृत्यु के बाद (स्थूल) शरीर को जलाकर, गाड़कर, नष्ट कर देने के बाद भी सम्बन्ध एकदम वैसा का वैसा यथावत् बना रहता है। अतः शरीर के रहते-रहते वह सम्बन्ध स्वेच्छा से (संलेखना-संथाराव्रत के द्वारा) तोड़ देने से (कायोत्सर्ग कर देने = काया और काया से सजीव-निर्जीव सम्बन्धियों के प्रति अहंत्व-ममत्वभाव का त्याग कर देने से) मृत्यु के बाद सम्बन्ध रहने का प्रश्न ही नहीं रहता।

मृत्यु के बाद भी सम्बन्ध क्यों और कैसे रहता है ?

मृत्यु के बाद भी सम्बन्ध क्यों और कैसे रहता है ? इसका समाधान यह है कि मृत्यु तो स्थूल (दृश्यमान) शरीर की होती है, सूक्ष्म और कारण (तैजस् और कार्मण) शरीर की नहीं। ये दोनों शरीर जीव (आत्मा) के साथ परलोक में जाते हैं। मनुष्य (पर-भावों और राग-द्वेषादिजनित विभावों के कारण होने वाला) अपना (भ्रान्तिमय) सम्बन्ध कर्मशरीर (सूक्ष्मतम कारण शरीर) से जोड़ लेता है; (अथवा जुड़ जाता है–बद्ध हो जाता है); इसलिए वह (भ्रान्तिमय) सम्बन्ध (कर्मबद्ध) सूक्ष्म

---

१. 'कल्याण' (मासिक), अगस्त १९९१ के अंक से भाव ग्रहण

२. जेहिं वा सद्धिं संवसति ते वा णं एगया नियया पुव्विं परिवयंति, सो वा ते णियगे पच्छा परिव्वएज्जा। *–आचारांगसूत्र, श्रु. १, अ. २, उ. ३*

शरीर (तैजस्-कार्मण शरीर) के साथ आगे (आगामी गति, योनि या भव तक) चला जाता है। हमारे में (अवीतरागावस्था के दौरान) रहने वाले (राग, द्वेष, क्रोधादि कषाय, मोह, ममत्व आदि वैभाविक) वैकारिक भावों (परिणामों या अध्यवसायों) से ही हमारा कर्मशरीर (सूक्ष्मशरीर) बनता है। अहंकार-ममकार (मैं और मेरे पन) का भाव ही कर्मशरीर का कारण है।

अन्तिम समय में मानव जिन-जिन पर-भावों के प्रति राग-द्वेष-मोह-कषायादि विभावात्मक भावों की स्मृतियों को लेकर स्थूल (औदारिक) शरीर को छोड़ता है; उन्हीं से बना हुआ उसका सम्बन्ध रह जाता है यानी कर्मशरीर के साथ वैसा ही सम्बन्ध जुड़ जाता है। स्थूल शरीर के नष्ट होने के साथ ही उन पूर्वोक्त स्मृतियों के अनुसार निर्मित कार्मण शरीर के अनुरूप दूसरा शरीर (दूसरी गति, योनि, भव और शरीरादि) मिल जाता है। लेकिन उस शरीर में भी पूर्व सम्बन्ध की स्मृति बनी रहती है। यही कारण है कि कई लोगों की पूर्व-जन्म की स्मृति हो आती है, क्योंकि पूर्व-जन्म के संस्कार भी साथ में आते हैं।

अन्तिम सम्बन्ध-विषयक स्मृति आगामी जन्म एवं शरीर की कारण

यह एक नियम है कि अन्तिम समय में मनुष्य को प्रायः उसी की स्मृति रहती है, जिसके साथ उसका सम्बन्ध रहता है। शरीर, परिवारादि एवं सम्पत्ति आदि के साथ सम्बन्ध रखने से–सम्बन्ध-विच्छेद न करने से इन्हीं की स्मृति बनी रहती है। अतः सांसारिक सम्बन्ध के विच्छेद न करने से मनुष्य बार-बार जन्म-मरणादिरूप संसार-चक्र में चक्कर लगाता रहता है और सांसारिक सम्बन्ध का अन्तिम समय में (संलेखना-संथारा द्वारा विच्छेद करके शुद्ध आत्मा तथा परमात्मा के भावों के स्मरण में रहने से जन्म-मरणादिरूप संसार-सम्बन्ध–कर्मशरीरादि का अन्त हो जाता है।

पूर्वोक्त सांसारिक सम्बन्धियों से, सम्बन्ध-विच्छेद करने में मुख्य हिदायतें

अतः पूर्वोक्त तीनों मुख्य सांसारिक सम्बन्धियों से सम्बन्ध-विच्छेद की साधना (संलेखना-संथारा द्वारा) करनी आवश्यक है। सम्बन्ध-विच्छेद करने के लिए निम्नोक्त बातों पर ध्यान देना आवश्यक है–

(१) **परिवर्तन अपेक्षित नहीं**–सम्बन्ध-विच्छेद करने के लिए किसी भी प्रकार के परिवर्तन की किंचित् भी आवश्यकता नहीं है। न ही स्थान बदलने की जरूरत है और न वस्त्र बदलने की। न परिवार (या संघादि) को छोड़ने की आवश्यकता है और न किसी निर्जन स्थान पर जाने की। व्यक्ति जहाँ भी जायेगा, उसका एक सम्बन्धी–'शरीर' तो उसके साथ ही रहेगा। हाँ, यदि स्थानादि के परिवर्तन से मोह-ममत्व-आसक्तियुक्त सम्बन्ध को तोड़ने–काया का उत्सर्ग करने में, विक्षेप का

अभाव होने में सुगमता रहे परिवर्तन बुरा नहीं है, किन्तु मूल में पूर्वोक्त तीनों मुख्य सम्बन्धियों से सम्बन्ध-विच्छेद करने के लिए हमें उनके प्रति राग-द्वेष, क्रोधादि कषाय, मोह, दुर्भाव आदि छोड़ना यानी विभावों को छोड़कर स्व-भाव में रमण करना है।

(२) **यह क्रियासाध्य नहीं है**–सम्बन्ध-विच्छेद के लिए तन, मन, इन्द्रियाँ आदि के जरिये किसी क्रिया को करने की आवश्यकता नहीं है। मनुष्य का सांसारिक सम्बन्ध बनता है–ममत्व का भाव रखकर उनसे सुख प्राप्त करने की आशा-आकांक्षा से, उन भावों (विभावों) को छोड़ना ही सम्बन्ध तोड़ना है।

(३) **इसमें पराश्रय, पराधीनता या श्रम भी जरूरी नहीं**–सम्बन्ध-विच्छेद में लेशमात्र भी पराश्रय (परभावाश्रय), पराधीनता या परिश्रम की आवश्यकता नहीं होती, बल्कि इसमें तो पर-भावों के आश्रय और विभावों की पराधीनता के त्याग करने का पुरुषार्थ जरूरी है, जो आत्म-भावों में रमण करने से हो सकता है।

(४) **समय भी अपेक्षित नहीं**–सम्बन्ध-विच्छेद अभी इसी क्षण एक झटके में किया जा सकता है। इसमें एक पल का भी समय नहीं लगता। मोह-सम्बन्ध को मोक्ष-सम्बन्ध में परिणत करना है। केवल दृष्टि, अध्यवसाय एवं भाव बदलना है।[1]

संलेखना-संथारा ग्रहण करने से पूर्व क्षमापना और आत्म-शुद्धि भी अनिवार्य

सम्बन्ध-विच्छेद के सन्दर्भ में 'रत्नकरण्डक श्रावकाचार' में बताया गया है कि संलेखना-संथारा व्रत ग्रहण करने से पूर्व यदि किसी भी जीव या व्यक्ति के प्रति मन में आक्रोश हो तो उससे क्षमायाचना कर लेनी चाहिए। मेघ मुनि, धन्ना अनगार आदि सभी श्रमणों तथा काली-महाकाली आदि श्रमणियों ने तथा आनन्द, कामदेव आदि श्रावकों ने संलेखना-संथारा ग्रहण करने से पूर्व सभी निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों, श्रावक-श्राविकाओं तथा अन्य सभी जीवों से क्षमा का आदान-प्रदान कर लिया था। इसके अतिरिक्त मानसिक शान्ति, हृदय की विशुद्धि एवं कर्मनिर्जरा द्वारा आत्म-शुद्धि के लिए सर्वप्रथम योग्य गीतार्थ सद्गुरु के समक्ष निःशल्य होकर आलोचना करके प्रायश्चित्त ग्रहण कर शुद्ध हो जाना चाहिए। आलोचना करते समय मन में किंचित्मात्र भी संकोच नहीं करना चाहिए। अपने जीवन में जिस किसी प्रकार से तन-मन-वचन से कुछ भी पाप–दोष लगे हों, अपराध कृतः कारित-अनमोदित रूप से हुए हों, उनकी आलोचना करके आत्म-शुद्धि कर लेनी चाहिए। सद्गुरु का योग न हो तो बहुश्रुत श्रावक-श्राविका के समक्ष या फिर अर्हंत भगवन्तों की साक्षी से अपने दोषों को प्रकट कर देना चाहिए। पंच परमेष्ठी का ध्यान करना चाहिए।

---

१. 'कल्याण' (मासिक), अगस्त १९९१ के अंक से भाव ग्रहण

आचार्य वीरनन्दी ने 'आचारसार' ग्रन्थ में लिखा है–साधक को संलेखना-संथारा की सफलता के लिए योग्य स्थान का चुनाव करना चाहिए। जहाँ के शासक के मन में धार्मिक भावना हो, जहाँ की प्रजा के अन्तर्मानस में धर्म और आचार्य के प्रति गहन निष्ठा–श्रद्धा हो, जहाँ के निवासी आर्थिक दृष्टि से समृद्ध और सुखी हों; जहाँ का वातावरण तप:साधना के लिए व्यवधानकारी न हो। साथ ही साधक को अपने शरीर तथा चेतन-अचेतन किसी भी पदार्थ के प्रति मोह-ममता न हो। यहाँ तक कि (साधु को) अपने शिष्यों (गृहस्थों को अपने पुत्र-पुत्रियों आदि) के प्रति मन में किंचित् भी आसक्ति न हो; वह परीषहों और उपसर्गों को समभाव से सहन करने में सक्षम हो।[१]

संलेखना-संथारा से पूर्व जीवन-मरण की अवधि जानना भी आवश्यक

संलेखना-संथारा ग्रहण करने से पूर्व इस बात की जानकारी शरीर के कुछ लक्षणों या संकटों से या किसी मित्रदेव द्वारा दिये गये संकेत से, ज्ञानी द्वारा दिये गये सूचन से अथवा प्रातिभज्ञान सें कर लेनी आवश्यक है कि जीवन और मरण की अवधि कितनी है? यदि शरीर में कोई व्याधि ऐसी हो गई है, जो लम्बे अर्से तक चलने वाली है, अथवा जीवन की अवधि लम्बी है तो संलेखना-संथारा ग्रहण करने का विधान नहीं है। दिगम्बर परम्परा के तेजस्वी आचार्य समन्तभद्र को भस्मक रोग हो गया था, उससे वे अत्यन्त पीड़ित रहने लगे। उन्होंने अपने गुरुदेव से संलेखना-संथारे की अनुमति चाही। परन्तु उनके गुरुदेव ने अनुमति नहीं दी, क्योंकि उन्होंने देखा कि इनका आयुष्यबल अधिक है तथा इनसे जिन-शासन की प्रभावना होगी।[२] श्वेताम्बर आचार्यों ने मृत्युकाल की ज़ानकारी के लिए अनेक उपाय बताये हैं। उपदेशमाला के व आम्नाय आदि के द्वारा आयु का समय सरलता से जाना जा सकता है।

भक्त-प्रत्याख्यान, इंगिणीमरण और पादपोपगमन : स्वरूप, प्रकार और विश्लेषण

पहले हम पण्डितमरण के स्वरूप और प्रकार का उल्लेख कर चुके हैं। उसी सन्दर्भ में 'उत्तराध्ययन' की बाह्य टीका में पण्डितमरण के तीन प्रकार और उनके सहित पाँच भेद बताये हैं–(१) भक्तपरिज्ञा (भक्त-प्रत्याख्यान) मरण, (२) इंगिणीमरण, और (३) पादपोपगमनमरण तथा छद्मस्थमरण और केवलीमरण। पादपोपगमन-संथारा का साधक अपने शरीर की परिचर्या न तो स्वयं

---

१. (क) रत्नकरण्डक श्रावकाचार, श्लो. १२५-१२८

(ख) आचारसार, गा. १०

२. 'जैन आचार : सिद्धान्त और स्वरूप' से भाव ग्रहण, पृ. ७१२, ७१७

करता है और न दूसरे से करवाता है। विशिष्ट संहनन और संस्थान वाले ही इस मरण का वरण करते हैं।

भक्त-प्रत्याख्यान और इंगिणीमरण में यह अन्तर है कि भक्त-प्रत्याख्यान में साधक स्वयं अपनी शुश्रूषा करता है, दूसरों से भी शुश्रूषा लेता है। वह त्रिविध आहार का भी त्याग करता है और चतुर्विध आहार का भी तथा अपनी इच्छा से जहाँ भी जाना चाहे, जा सकता है। किन्तु इंगिणीमरण में चतुर्विध आहार का त्याग होता है। वह नियत प्रदेश में ही इधर-उधर जा सकता है, उसके बाहर नहीं जा सकता। वह दूसरों से शुश्रूषा भी नहीं करवाता। **भक्त-प्रत्याख्यान के दो भेद हैं**–सविचार और अविचार। अविचार भक्त-प्रत्याख्यान मृत्यु की आकस्मिक संभावना होने पर किया जाता है। **अविचार भक्त-प्रत्याख्यान के तीन प्रकार हैं**–निरुद्ध, निरुद्धतर और परम निरुद्ध। जिस श्रमण के शरीर में दुःसाध्य व्याधि हो, आतंक से पीड़ित हो, जिसके पैरों की शक्ति क्षीण हो चुकी हो, इस कारण दूसरे गण में जाने में जो असमर्थ हो, उसका भक्त-प्रत्याख्यान निरुद्ध अविचार कहलाता है। ऐसा साधक शरीर में शक्ति हो, तब तक अपना कार्य स्वयं करता है। जब वह असमर्थ हो जाता है, तब दूसरा श्रमण उसकी शुश्रूषा करे। पैरों की शक्ति निरुद्ध हो जाने के कारण ही उस भक्त-प्रत्याख्यान को निरुद्ध अविचार कहा गया है। जहरीले सर्प के काट खाने पर, अग्नि आदि का प्रकोप होने पर तथा इसी प्रकार के मृत्यु के अन्य तात्कालिक कारण उपस्थित होने पर उसी क्षण जो भक्त-प्रत्याख्यान किया जाता है, वह निरुद्धतर है। सर्पदंश या अन्य किसी ब्रेन हेमरेज आदि के अन्य कारण से वाणी अवरुद्ध हो जाती है, किन्तु उसने पहले से अन्य साधकों को भक्त-प्रत्याख्यान संथारा कराने का संकेत कर दिया है, ऐसी स्थिति में, जो भक्त-प्रत्याख्यान किया जाता है, उसे परम निरुद्ध कहते हैं।[1]

सागारी संथारा : स्वरूप और प्रकार

प्रकारान्तर से पण्डितमरण के **सागारी संथारा** और **सामान्य संथारा** ये दो भेद किये जा सकते हैं। विशेष उपसर्ग, आपत्ति या असह्य पीड़ा या मारणान्तिक कष्ट उपस्थित होने पर जो संथारा ग्रहण किया जाता है, उसे **सागारी संथारा** कहते हैं। यह संथारा मृत्यु-पर्यन्त के लिए नहीं होता। जिस परिस्थिति-विशेष के कारण वह संथारा किया गया है, वह परिस्थिति यदि शान्त और समाप्त हो जाती है, आपत्ति और उपसर्ग दूर हो जाते हैं तो उस संथारे की मर्यादा पूर्ण हो जाती है, वह पार लिया जाता है।

---

१. (क) उत्तराध्ययन पाइय टीका, अ. ५

(ख) मूलाचार, आश्वास २, गा. ६५; आ. ७, गा. २०११, २०१३-२०२२

सुदर्शन श्रमणोपासक ने सागारी संथारे का आदर्श प्रस्तुत किया

राजगृह निवासी सुदर्शन श्रमणोपासक ने नगर के बाहर गुणशीलक उद्यान में भगवान महावीर का पदार्पण सुना और अर्जुनमाली का भयंकर आतंक छाया हुआ है, यह भी जाना फिर भी दृढ़-निश्चयी वीर सुदर्शन मृत्यु से न डरकर भगवान के दर्शनार्थ नगर के बाहर निकल पड़ा। किन्तु नर-हत्या के लिए उद्यत अर्जुन को साक्षात् मृत्यु के रूप में सामने आता देखकर सुदर्शन वहीं एक स्वच्छ स्थान पर स्थिर होकर भगवान महावीर को वन्दन करके पूर्वगृहीत व्रतों का स्मरण करता है, उनकी शुद्धि करता है और फिर आपत्ति पर्यन्त चारों आहार तथा अठारह पापस्थान एवं शरीर आदि का त्याग करता है। वह ऐसा आगार (छूट) रखता है— "यदि मैं इस उपसर्ग से मुक्त हो जाऊँ तो मुझे आहार आदि का ग्रहण करना कल्पता है। यदि उपसर्ग से मुक्त नहीं होऊँ तो मुझे यावज्जीवन के लिए आहार आदि का यह प्रत्याख्यान है।" सुदर्शन का उपसर्ग टल गया। उसने सागारी संथारे का पारणा किया। इस स्वल्पकालिक सागारी प्रतिमा (संथारे) में भी साधक शरीर, प्राण तथा शरीर-सम्बद्ध सजीव-निर्जीव पर-पदार्थों के मोह से मुक्त होकर मृत्यु से निर्भय निष्कम्प रहता हुआ धर्मध्यान में स्थित होकर आत्म-लक्ष्यी बनता है।[1] पण्डितमरण या संथारे का साधक मृत्यु को मित्र मानकर उसका स्वागत करता है। वह अपने जीवन का अन्तर्निरीक्षण करता रहता है। उसका मन इससे स्फटिकधत् निर्मल हो जाता है।

सागारी संथारे का दूसरा प्रकार : संथारा पोरसी

यह अनुभव सिद्ध बात है कि सोते समय जब मानव की चेतना-शक्ति भी सो जाती है, शरीर भी निश्चेष्ट हो जाता है, उस समय व्यक्ति होश में नहीं रहता। यह 'निद्रा' एक प्रकार से अल्पकालिक मृत्यु ही है। उस समय साधक अपनी रक्षा का ज़रा भी प्रयास नहीं कर सकता। इसलिए जैनाचार्यों ने प्रतिदिन रात्रि में सोते समय सागारी संथारा करने का विधान किया है, जिसे संथारा-पोरसी कहा जाता है। सोने के पश्चात् पता नहीं प्रातःकाल व्यक्ति उठ सकेगा या नहीं? इसीलिए साधक को प्रतिक्षण जीवन और मरण से सावधान रहने का निर्देश दिया गया है। जीने के मोह की प्रबलता से मृत्यु को न भूला जाये उसे भी प्रतिक्षण याद रखा जाये। ममत्वभाव से हटकर समत्व में रमण किया जाये। संथारा-पोरसी से एक विशेष

---

१. (क) 'अन्तकृद्दशांग, वर्ग ६, अ. ३

(ख) 'जैन आचार : सिद्धान्त और स्वरूप' से भाव ग्रहण, पृ. ६९६

(ग) जइ णं एत्तो उवसग्गाओ मुच्चिस्सामि तो मे कप्पइ परित्तए।
अहण्णं एत्तो उवसग्गाओ न मुच्चिस्सामि तो मे तहा पच्चक्खाए॥

—अन्तकृद्दशा में सुदर्शन श्रमणोपासक का अधिकार, वर्ग ६, अ. ३

लाभ यह भी है कि सोते समय यदि शुद्ध भावना रहती है तो स्वप्न भी अच्छे विचारों के आते हैं। संथारा-पोरसी में रात्रि में शुभ संकल्प लेकर व्यक्ति सोता है कि प्रातःकाल जाग्रत होने तक तन, धन, परिवार आदि की ममता से मुक्त रहूँ एवं इस शुभ संकल्प के साथ सोऊँ–

"आहार शरीर उपधि पचखूं पाप अठार।
मरण पाऊँ तो वोसिरे, जीऊँ तो आगार॥"[1]

यावज्जीवन अनागारी संथारा की विधि

अनागारी यावज्जीवन संलेखना-संथारा तभी ग्रहण किया जाता है, जब दुःसाध्य रोग, वृद्धावस्था, दुष्काल आदि के कारण शरीर अत्यन्त क्षीण हो जाये, मृत्यु सम्मुख खड़ी दिखाई दे। इसीलिए इसे मारणान्तिक संलेखना (संथारा) कहा जाता है। प्राचीनकाल में जो भी साधक इस प्रकार का संथारा करता था, वह पहले काय और कषाय दोनों की संलेखना (कृशीकरण) करता था। उसके पश्चात् यावज्जीवन मारणान्तिक अनागारी संथारा ग्रहण करता था। हाँ, यदि कोई आकस्मिक कारण आ जाता तो संलेखना के बिना ही संथारा ग्रहण कर समाधिपूर्वक मरण का वरण किया जाता है।

इस दृष्टि से यावज्जीवन अनागारी संथारा ग्रहण करने की विधि इस प्रकार है–

'ऐसा संथारा ग्रहण करने वाला साधक सर्वप्रथम अपने गुरुदेव के समक्ष सम्यक्त्व और व्रतों में लगे हुए दोषों का अन्तर्निरीक्षण करके उनकी आलोचना निन्दना (पश्चात्ताप) और गर्हणा करे। यदि साधु जी उपस्थित न हों तो वृद्ध बहुश्रुत गम्भीर श्रावक-श्राविका या फिर इनमें से कोई भी योग न मिले तो पंच परमेष्ठी और अपनी आत्मा की साक्षी से आलोचनादि करके प्रायश्चित्त ग्रहण कर आत्म-शुद्धि करे। तत्पश्चात् पौषधशाला, उपाश्रय, स्थानक या गिरि-कन्दरा आदि किसी शान्त-प्रशान्त, निरवद्य स्थान में जाकर भूमि का प्रतिलेखन–प्रमार्जन करे। उच्चार-प्रस्रवण (स्थण्डिल) भूमि का भी प्रतिलेखन करे। फिर गमनागमन का प्रतिक्रमण करे। तत्पश्चात् उस निरवद्य शुद्ध स्थान में अपना आसन जमाए, दर्भ, घास या पराल आदि में से किसी एक का संथारा (बिछौना) बिछाये। उस पर पूर्व या उत्तर दिशा की ओर मुख करके बैठे या बैठने की शक्ति न हो तो लेटे। तत्पश्चात् दोनों करतल (हाथ) संपरिगृहीत कर (जोड़कर) शिरसावर्त कर (मस्तक से लगाकर मस्तक पर अंजलि करके) दो बार **'नमोत्थुणं अरिहंताणं भगवंताणं'** से जाव **संपत्ताणं** (प्रथम बार और दूसरी बार) जाव **संपाविउकामाणं** कहे। यों बोलकर

---

१. *'जीवन की अन्तिम मुस्कान : समाधिमरण' से भाव ग्रहण, पृ. ९१*

बीस विहरमान तीर्थंकरों को वन्दना–नमस्कार करे। साधु-साध्वी प्रमुख चारों तीर्थों से क्षमापना करके, समस्त जीवराशि से क्षमायाचना करके पहले जो व्रतों/महाव्रतों–का स्वीकार किया है, उनमें जो अतिचार (दोष) लगे हों, उन सब की आलोचना, प्रतिक्रमणा, निन्दना, गर्हणा करके निःशल्य होकर तीन बार नवकार मंत्र, तीन बार वन्दना, इच्छाकारेणं, तस्स उत्तरीकरणेणं, लोगस्स का पाठ (ध्यान में और प्रगट में) बोलकर तीर्थंकर भगवान की साक्षी से यों निवेदन करे– "भगवन् ! मैं अभी से सागारी या अनागारी अपश्चिम मारणान्तिक संलेखना (भक्त-प्रत्याख्यान संथारे) का यावज्जीवन प्रीतिपूर्वक सेवन एवं आराधना करता हूँ। (अर्थात् अशन, पान, खादिम-स्वादिम यों चारों प्रकार या तीन प्रकार के आहार का त्याग करता हूँ।) प्राणातिपात से लेकर मिथ्यादर्शनशल्य तक १८ प्रकार के पापस्थानों का त्याग करता हूँ। जिस शरीर को इष्ट, कान्त, मनोज्ञ, मनोरम, धैर्यदाता, विश्वसनीय, आदेय (माननीय), अनुमत, बहुमत, भाण्डकरण्डकसमान, रत्नों के पिटारे के समान माना तथा जिसके विषय में इतनी सावधानी रखी कि इसकी क्षुधापिपासा मिटाकर एवं सर्दी-गर्मी से रक्षा कर सदैव जतन किया, सर्प, चोर, डांस, मच्छर आदि से इसका रक्षण किया तथा वात, पित्त, कफ, श्लेष्म, सन्निपात आदि विविध रोगों, आतंकों, परीषहों, उपसर्गों आदि से भी बचाया, विविध प्रकार के अप्रिय स्पर्शों से सुरक्षित रखा। इस प्रकार सुरक्षा-प्राप्त इस शरीर पर मैंने अब तक मोह-ममत्व किया था। अब मैं इसे अन्तिम श्वासोच्छ्वास तक त्यागता (वोसराता) हूँ। अब मुझे इसकी कोई चिन्ता न होगी,[१] क्योंकि अब यह शरीर धर्म-पालन में समर्थ न रहा, बोझरूप हो गया, जीर्ण-शीर्ण एवं असक्त हो गया या विविध रोगों से आक्रान्त हो गया।" इस प्रकार शरीर के ममत्व का व्युत्सर्ग करके दो बार नमोत्थुणं के पाठ से विधिवत् तीर्थंकरों और सिद्धों की स्तुति एवं प्रणिपात करे। इसके बाद वह संथारा-साधक सदैव सतर्क एवं सावधान रहे, अपनी प्रतिज्ञा पर दृढ़ रहे। शीघ्र मृत्यु की आकांक्षा न करता हुआ विचरे।

पहले बताया जा चुका है कि संलेखना के पश्चात् संथारा किया जाता है। संलेखना के पश्चात् जो संथारा किया जाता है, उससे अधिक निर्मलता और विशुद्धता निष्पन्न होती है। संलेखना के साथ 'मारणान्तिकी' विशेषण जहाँ प्रयुक्त होता है, वहाँ अन्य तपःकर्म से इस संलेखना-संथारा की विशेषता और पृथकता ज्ञात होती है। संलेखना-संथारापूर्वक समाधिमरण के साधक को मृत्यु को स्वीकार करने में अपूर्व आनन्द होता है। वह सोचता है–"यह आत्मा अनन्त काल से कर्मजाल में फँसी हुई है। उस जाल को तोड़ने का मुझे अपूर्व अवसर मिला है। कर्मबन्धन के जाल में आत्मा के फँसने का विशिष्ट कारण मिथ्यात्व और मोह है।

१. (क) देखें–आवश्यकसूत्र में बड़ी संलेखना का पाठ

(ख) 'जैन आचार : सिद्धान्त और स्वरूप' से भाव ग्रहण, पृ. ७१०

मिथ्यात्व के कारण ही मैं देह और आत्मा को अब तक एक मानता रहा। परन्तु वास्तव में जैसे चना और उसका छिलका, मौसम्बी और उसका छिलका पृथक्-पृथक् हैं; वैसे ही शरीर और आत्मा ये दोनों पृथक्-पृथक् हैं। आत्मा निश्चयनय की दृष्टि से पूर्ण विशुद्ध है। वह सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और अनन्त आनन्द तथा अनन्त अव्याबाध सुख (आनन्द) से युक्त है, आत्मा पर राग-द्वेष, मोहादि के कारण ज्ञानावरणीय, मोहनीय आदि कर्मों का आवरण है, इसके कारण ही पूर्वोक्त गुण प्रगट नहीं हो रहे हैं। समाधिमरण की इस साधना में राग-द्वेषादि विकारों को नष्ट करने तथा आत्मा के साथ बँधे हुए कर्म मैल को दूर करने का सामर्थ्य है। संथारा भेदविज्ञान तपश्चर्या द्वारा आत्म-शुद्धि, कर्मों से मुक्ति की एक अनूठी साधना है। संलेखना-संथारा स्वेच्छा से ग्रहण किया जाता है, किसी के दबाव में आकर नहीं। संलेखना साधक में तनिक मात्र भी विषमता, वासना, दुर्भावना, वैमनस्य, वैर-विरोध आदि नहीं होते, उसके हृदय में समता, वासनामुक्ति, सद्भावना, मैत्री, निर्वैरता, क्षमापना आदि भावनाएँ प्रतिक्षण लहराती रहती हैं। संलेखना-संथारा आत्म-भाव में स्थिर रहने का महान् उपाय है। संलेखना-संथारा- साधक का शरीर अकाल में नष्ट होने का प्रसंग हो, तब वह समभावपूर्वक देह का ममत्व त्याग देता है, आत्म-भावों में स्थिर हो जाता है। संथारा-साधक लोकैषणा, वित्तैषणा, पुत्रैषणा, प्रसिद्धि-प्रशंसा की एषणा आदि से दूर रहता है तथा पहले बताये गये पाँच अतिचारों से सदैव बचकर चलता है।

पहले बताया जा चुका है कि पूर्वोक्त समाधिमरणों में से किसी भी मरणयुक्त साधक (श्रावक या साधु) संलेखना-संथारा की विशिष्ट भावना (मनोरथ, संकल्प) से ही महानिर्जरा और महापर्यवसान (उच्चतम देवलोक या जन्म-मरण का सदा के लिए अन्तरूप अपुनर्गमन = मोक्ष) प्राप्त करता है। 'महाप्रत्याख्यान प्रकीर्णक' में बताया है कि जो संयमी साधक समाधिमरण की आराधना से युक्त होकर सम्यक् प्रकार से मृत्यु को प्राप्त करता है, वह अधिक से अधिक तीन भव करके निर्वाण (मोक्ष = सर्वकर्मक्षयरूप मुक्ति) प्राप्त करता है। संस्तारक अर्थात् संलेखना संथारक पर आरूढ़ साधक पुराने कर्मों का क्षय करता है और अन्य नये कर्म संचित नहीं करता तथा कर्मकलंकरूपी लता का छेदन करता है।

'रत्नकरण्डक श्रावकाचार' के अनुसार–संलेखना-संथारा का साधक धर्मरूपी अमृत का पान करने के कारण संसार के सभी दुःखों से मुक्त हो जाता है तथा अभ्युदय और निःश्रेयस के अपरिमित सुखों को प्राप्त कर लेता है। 'भगवती आराधना' में कहा है–"जो जीव एक ही पर्याय में समाधिपूर्वक मरण प्राप्त करता है, वह सात-आठ पर्याय से अधिक संसार में परिभ्रमण नहीं करता।" 'सागार धर्मामृत' में भी कहा है–जिस महासाधक ने संसार-परम्परा को समग्र रूप

से उन्मूलन करने वाले समाधिमरण को धारण किया है, उसने धर्मरूपी महाविधि को पर-भव में जाने के लिए साथ ले लिया है। इस जीव ने अनन्त बार मरण प्राप्त किया, किन्तु समाधि सहित पुण्यमरण नहीं हुआ। यदि समाधि सहित पुण्यमरण हुआ होता तो यह आत्मा संसाररूपी पिंजड़े में कदापि बंद होकर नहीं रहती।" आचार्य समन्तभद्र के अनुसार–"जीवन में आचरित तपों का फल अन्त समय में गृहीत संलेखना-संथाराव्रत है।" 'अन्तकृद्दशांग' में जिन ९० साधक-साधिकाओं का वर्णन है, वे सभी अपने अन्तिम समय में संलेखना-संथारापूर्वक यावज्जीव अनशन करके उसी भव में सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हुए हैं। अन्य साधकों में भी जिन-जिनने संलेखना-संथारा किया है, या तो उन्होंने सीधे ही उसी भव में मुक्ति प्राप्त की है, अथवा मुक्ति-प्राप्ति में सहायक समाधिमरण प्राप्त उच्च देवलोक में गये हैं, अगले भव में या तीन-चार अथवा सात-आठ भवों में वे अवश्य ही मुक्ति प्राप्त करेंगे। इस प्रकार संलेखना-संथारा मोक्ष-यात्रा में प्रबल सहायक है, इसमें कोई संदेह नहीं।[1]

● ●

---

१. (क) 'जैन आचार : सिद्धान्त और स्वरूप' से भाव ग्रहण, पृ. ७१६, ७११
(ख) स्थानांग, स्था. ३, उ. ४
(ग) महाप्रत्याख्यान प्रकीर्णक, गा. १३१, १३०
(घ) रत्नकरण्डक श्रावकाचार, श्लो. १३०, १२३
(ङ) भगवती आराधना ६५०, ६७६
(च) सागार धर्मामृत ७, ५८, ८, ३७-३८

१६

मोक्षप्रापक विविध अन्तःक्रियाएँ : स्वरूप, अधिकारी, योग्यता

विविध अन्तःक्रियारूपी सरिताएँ : मोक्षसागर में अवश्य विलीनता

विभिन्न दुर्भेद्य पर्वतों को काटकर भिन्न-भिन्न टेढ़े-मेढ़े मार्गों से वहती हुई सरिताएँ अन्त में समुद्र में जाकर अवश्य विलीन हो जाती हैं। कुछ छोटी नदियाँ उन महानदियों में मिलकर बाद में देर से समुद्र में मिल जाती हैं। इसी प्रकार आध्यात्मिक जगत् में विभिन्न मोक्षाभिमुख साधकों द्वारा विभिन्न साधनाओं से पूर्वबद्ध कठिन या सुगम कर्मरूपी पर्वतों को अपने अन्तिम एक ही मनुष्य-भव में काटकर, विभिन्न उपायों से समस्त कर्मों, भवों एवं शरीरों का अन्त की हुई, वे अन्तःक्रियारूपी सरिताएँ सर्वकर्मक्षयरूप मोक्षसागर में समा जाती हैं, विलीन हो जाती हैं। उन अन्तःक्रियाओं को करने वाले विभिन्न अन्तकृत् साधक अपनी-अपनी भूमिका में स्थित रहते हुए उसी भव में जन्म-मरणादिरूप संसार (भव) का सदा के लिए अन्त करके सिद्ध, बुद्ध, मुक्त, परम शुद्ध परमात्मा बनकर मोक्षधाम में पधार जाते हैं; जहाँ उनके कोई नाम, रूप, शरीर, गति, जाति, मोह, माया, कर्म, कर्म के कारणभूत राग, द्वेष, मोह, कषायादि विभाव-विकार आदि शेष नहीं रहते। अन्तःक्रिया से सर्वकर्ममुक्त सिद्ध परमात्मा बन जाने पर वहाँ कोई भी असमानता, विसदृशता, भिन्नता या पृथक्रूपता नहीं रहती। वहाँ सब आत्म-स्वरूपमात्र रहते हैं। अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त अव्याबाध आत्मिक-सुख, अनन्त आत्म-शक्ति उन्हें प्राप्त हो जाती है। वे कर्मों, कषायों, राग-द्वेषादि विभावों–विकारों को सदा-सदा के लिए तिलांजलि देकर अपने आत्म-गुणों में रमण करते हैं, अपने शुद्ध आत्म-स्वभाव में, आत्म-स्वरूप में स्थित हो जाते हैं। 'भगवतीसूत्र वृत्ति' में अन्तःक्रिया का यही अर्थ किया गया है–"कर्मों का (जन्म-मरणादि एवं शरीरादि के कारणभूत कर्मों का सर्वथा) अन्त (नाश) करने वाली क्रिया अन्तःक्रिया है। अर्थात् सम्पूर्ण कर्मक्षयरूप मोक्ष की प्राप्ति ही वस्तुतः अन्तःक्रिया है।"[1]

---

१. कर्मान्तस्य क्रिया-आत्मक्रिया कृत्स्न-कर्म-क्षय-लक्षणा। *–भगवतीसूत्र, श. २, उ. २ टीका*

अन्तःक्रिया का स्वरूप : लौकिक और लोकोत्तर दृष्टि से

सामान्यतया अन्तःक्रिया शब्द का लोक-प्रचलित शब्दशः अर्थ किया जाता है–अन्तिम क्रिया। मृत्यु के बाद निर्जीव शरीर का जब दहन या दफन किया जाता है, उस अन्तिम संस्कार को लोक-व्यवहार में अन्तःक्रिया या अन्त्येष्टि क्रिया कहा जाता है। यहाँ उस अर्थ में अन्तःक्रिया विवक्षित नहीं है। 'प्रज्ञापनासूत्र' के २०वें अन्तःक्रिया पद में वृत्तिकार मलयगिरि ने अन्तःक्रिया पद के सूत्रानुरूप दो अर्थ किये हैं–पहला अर्थ है एक-भव के शरीरादि से छूटना-मरना (जैनागमों में देवों के मरण के लिये 'च्यवन', मनुष्यों के मरण के लिए 'कालगत' और नाटकों के मरण के लिये 'उद्वृत्त' शब्द प्रयुक्त हुआ है)। दूसरा अर्थ है–मनुष्य-भव का सदा-सदा के लिये अन्त करके जन्म-मरण की परम्परा से, औदारिक-वैक्रिय-तैजस्-कार्मण आदि शरीरों से, कर्मों से सर्वथा मुक्त हो जाना, मोक्ष प्राप्त कर लेना। अतः अन्तःक्रिया शब्द के दो अर्थ प्रतिफलित होते हैं–मरण और मोक्ष। मरण का फलितार्थ है–इस भव के शरीरादि से छुटकारा तथा मोक्ष का फलितार्थ है जन्म-मरणादि का शरीरादि से, कर्मों का तथा दुःखों का सदा-सदा के लिये अन्त कर देना, उनसे छुटकारा–मुक्ति। पहली अन्तःक्रिया एक-भव का अन्त करने वाली है, जबकि दूसरी सदा के लिए भवों (जन्म-मरण-परम्परा) का अन्त करने वाली क्रिया है।[१]

लोकोत्तर अन्तःक्रिया और उसके चार प्रकारों का निरूपण

'स्थानांगसूत्र' में एक ही प्रकार की लोकोत्तर अन्तःक्रिया का निरूपण किया गया है, लौकिक अन्तःक्रिया का नहीं। वहाँ अन्तःक्रिया का परिष्कृत अर्थ किया गया है–"जन्म-मरण की परम्परा का अन्त करने वाली तथा सर्वकर्मों का क्षय (अन्त) करने वाली योगनिरोध करने की क्रिया अन्तःक्रिया है।" अर्थात् एकमात्र मोक्ष-प्राप्ति के अर्थ में ही वहाँ चार प्रकार की अन्तःक्रियाओं का वर्णन है।[२]

प्रज्ञापनासूत्रोक्त मरणार्थक अन्तःक्रिया के वर्णन का भी आशय शुभ

फिर भी 'प्रज्ञापनासूत्र' में जो एक-भव के स्थूल शरीर से छूटने = मृत्यु हो जाने के अर्थ में जो अन्तःक्रिया मान्य करके उसका भी उस पद में विविध पहलुओं से वर्णन किया है, उसके पीछे भी शास्त्रकार का आशय शुभ है।

---

१. (क) अन्तो भवान्तः कृतो ये न स अन्तकृत्। *–अन्तकृद्दशांग वृत्ति*

(ख) 'प्रज्ञापनासूत्र' के २०वें पद के प्राथमिक से भाव ग्रहण, पृ. ३७४

(ग) अन्तक्रियामिति-अन्तः-अवसानं, तच्चेह प्रस्वावात्कर्मणामवसातव्यम्। तस्य क्रिया = करणमन्तक्रिया-कर्मान्तकरणं मोक्ष इति भावार्थः।

–प्रज्ञापना पद २०, मलयवृत्ति पत्र ३९७

२. देखें–स्थानांगसूत्र, स्था. ४, उ. १, सू. १ का विवेचन (आ. प्र. समिति, ब्यावर), पृ. २०२

भारत का प्रत्येक आस्तिक धर्म, दर्शन या मत-पंथ पुनर्जन्म और मोक्ष में आस्था रखता है तथा एक-भव के स्थूल शरीर से छूटने के बाद (मरने के पश्चात्) भी अगला जन्म अच्छा मिले अथवा जन्म-मरण से सदा-सदा के लिए सर्वथा छुटकारा (मोक्ष) मिले। इसके लिए प्रत्येक धर्म या दर्शन तप, त्याग, संयम, नियम, व्रत, प्रत्याख्यान तथा विविध धार्मिक-आध्यात्मिक अनुष्ठानों तथा साधनाओं का विधान करता है। प्राणी का जन्म लेना जितना महत्त्वपूर्ण है उतना ही, बल्कि उससे भी अधिक उसके जीवन का अन्तिम पराक्षेप महत्त्वपूर्ण माना जाता है। जीवन का यह अन्त दो प्रकार की प्रक्रिया से होता है जिसने अपना नैतिक-धार्मिक जीवन जीया है, उसके जीवन में पुण्यकर्म तो अधिक हुआ है, किन्तु कर्मक्षयरूप संवर-निर्जरामय धर्म का आचरण शुद्ध रूप में नहीं हुआ है तथा अभी तक तैजस्-कार्मण शरीर का भी अन्त नहीं हुआ है, उस व्यक्ति की अन्तःक्रिया शुभ होती है। उसका इस भव के स्थूल शरीरादि से छुटकारे के रूप में मृत्युरूप अन्तःक्रिया अच्छी हुई है तो उसे अगला भव भी अच्छा मिल सकता है। तात्पर्य यह है कि यदि उसे देव-भव या नारक-भव भी मिलता है तो वहाँ से च्यवन या उद्वृत्त करके स्थूल शरीरादि से छुटकारा मिल जाने पर अगला जन्म भी अच्छा पा सकता है। इहभविक लौकिक अन्तःक्रिया अच्छी हुई है तो अगला भव भी अच्छा मिल सकता है, मनुष्य-भव मिल जाए तो वह लोकोत्तर अन्तःक्रिया भी कर सकता है जिससे सदा के लिए जन्म-मरणादि का अन्त करके मोक्ष प्राप्त कर सकता है। इनके सिवाय जिसकी इहभविक लौकिक अन्तःक्रिया अच्छी नहीं होती है, पापकर्मों का ही जिसके जीवन में अधिक संचय हुआ है, जिसने जीवन में हिंसादि क्रियाएँ ही अधिक की हैं, उसकी अन्तःक्रिया अर्थात् उस भव के स्थूल शरीर के छूटने–मृत्यु के पश्चात् अगला जन्म भी अच्छा नहीं मिलता। 'प्रज्ञापनासूत्र' में वर्णित इस लौकिक अन्तःक्रिया से मुमुक्षु साधक यह जान सके कि किसकी यह अन्तःक्रिया अच्छी होती है और क्यों?[1]

लौकिक अन्तःक्रिया की प्ररूपणा क्यों ?

वहाँ इस लौकिक अन्तःक्रिया के साथ इस बात की प्ररूपणा भी की गई है कि लोकोत्तर अन्तःक्रिया का अधिकारी एकमात्र मनुष्य ही है। वह भी रत्नत्रयसाधक मनुष्य ही हो सकता है, साथ ही इस तथ्य का भी संकेत किया गया है कि नरक, तिर्यंच और देवगति में से किस गति और किस योनि का जीव अगले भव में या अनेक भवों के पश्चात् मनुष्य-भव पा सकता है और अनन्तर (साक्षात्) या

---

१. (क) देखें–प्रज्ञापनासूत्र, २०वें अन्तःक्रिया पद के प्राथमिक का विश्लेषण (आ. प्र. स., ब्यावर), पृ. ३७५

(ख) 'अन्तकृद्दशा महिमा' से भावांश ग्रहण, पृ. १२

परम्परा से लोकोत्तर अन्तःक्रिया कर सकता है? इससे आत्मार्थी या मुमुक्षु जीवों को यह भी प्रेरणा मिल सकती है तथा उनकी निराशा अथवा हीन भावना दूर हो सकती है कि अमुक गति, अमुक भव या अमुक योनि से अथवा इस भव में नहीं तो अगले जन्म या जन्मों में लौकिक शुभ अन्तःक्रिया होने पर मनुष्य-जन्म की प्राप्ति और उसमें भी जन्म-मरण का अन्त करने वाली क्रिया करने से लोकोत्तर अन्तःक्रिया हो सकती है और उससे मोक्ष अवश्यमेव प्राप्त हो सकता है। जिन जीवों की लौकिक अन्तःक्रिया शुभ नहीं होती, उन्हें अगले जन्म में मनुष्य-भव की प्राप्ति और लोकोत्तर अन्तःक्रिया करने का चांस नहीं मिल सकता। परन्तु शास्त्रकार का जोर या रुझान अन्ततोगत्वा मोक्ष-प्राप्तिरूप लोकोत्तर अन्तःक्रिया के प्रति ही है।[1]

अन्तःक्रिया : स्वयं पुरुषार्थ से ही प्राप्त होती है, माँगने से नहीं

'प्रज्ञापनासूत्र' में वर्णित लौकिक शुभ-अशुभ अन्तःक्रिया तथा लोकोत्तर अवश्य मोक्ष-प्राप्तिरूप अन्तःक्रिया से श्रमण-संस्कृति का यह तथ्य भी ध्वनित होता है कि लौकिक शुभ अन्तःक्रिया अथवा लोकोत्तर मोक्ष-प्राप्तिरूप अन्तःक्रिया कोई विशेष प्राणी स्वयं के सत्-पुरुषार्थ–पराक्रम से ही प्राप्त कर सकता है, दूसरा कोई भगवान, परमेश्वर, देवी-देव या कोई भी साधु-साध्वी या अन्य प्रबल व्यक्ति उसके बदले न तो शुभ लौकिक अन्तःक्रिया कर सकता है और न ही लोकोत्तर मोक्ष-प्राप्तिकारिणी अन्तःक्रिया। अर्थात् एक व्यक्ति के बदले दूसरा कोई भी व्यक्ति दोनों प्रकार की अन्तःक्रिया नहीं कर सकता है। हाँ, उसे शुभ या शुद्ध अन्तःक्रिया के लिए अरिहन्त केवली वीतराग परमात्मा, सिद्ध (मुक्त) परमात्मा, आचार्य, उपाध्याय या साधु-साध्वीगण आदि से प्रेरणा, मार्गदर्शन या समाधान आदि प्राप्त हो सकते हैं, परन्तु अन्तःक्रिया के लिए उसे ही गति-प्रगति करनी होगी। दूसरे किसी भी व्यक्ति, भगवान या देवी-देव आदि से माँगने या प्रार्थना करने से भी शुभ लौकिक या मोक्ष-प्राप्तिरूप शुद्ध अन्तःक्रिया प्राप्त नहीं हो सकती, न ही कोई दे सकता है। व्यक्ति स्वयं ही अपने सत्पुरुषार्थ से उभय अन्तःक्रिया प्राप्त कर सकता है।

'प्रज्ञापनासूत्र' के बीसवें पद के प्रथम *अन्तःक्रियाद्वार में मोक्ष-प्राप्तिरूप* अन्तःक्रिया के विषय में प्रश्न किया गया है–"भंते ! क्या जीव अन्तःक्रिया करता है?" उसका समाधान किया गया है–"कोई जीव अन्तःक्रिया करता है, कोई नहीं करता।"[2]

---

१. देखें–प्रज्ञापनासूत्र, खण्ड २, पद २० का प्राथमिक एवं प्रथम अन्तःक्रियाद्वार का विवेचन (आ. प्र. स., ब्यावर), पृ. ३७५, ३७९

२. जीवे णं भंते ! अंतकिरिया करेज्जा?
गोयमा ! अत्थेगइए करेज्जा, अत्थेगइए णो करेज्जा।
एवं णेरइए जाव वेमाणिए। *–प्रज्ञापनासूत्र, पद २०, खण्ड २, सू. १४०७/१-२*

संज्ञी मनुष्यपर्याय में ही मोक्ष-प्राप्तिरूपा अन्तःक्रिया सम्भव

इस सूत्रपाठ में मोक्ष-प्राप्तिरूपा अन्तःक्रिया के सम्बन्ध में प्रश्न है और उसका समाधान चौबीस दण्डकवर्ती समुच्चय जीवों की अपेक्षा से दिया गया है। अगले ३-४ सूत्रपाठों में चौबीस दण्डकवर्ती जीवों में से पृथक्-पृथक् प्रत्येक दण्डकवर्ती जीव के सम्बन्ध में प्रश्न पूछा गया है और उसके समाधान का निष्कर्ष यह है कि संज्ञी मनुष्यपर्याय के सिवाय कोई भी अन्य दण्डकवर्ती जीव मोक्ष-प्राप्तिरूपा अन्तःक्रिया नहीं कर सकता है।[१]

मोक्ष-प्राप्तिरूपा अन्तःक्रिया का स्वरूप और प्राप्ति-अप्राप्ति का रहस्य

इसके कारणों की मीमांसा करने से पूर्व मोक्ष-प्राप्तिरूपा अन्तःक्रिया का विशद स्वरूप समझ लेना चाहिए। 'प्रज्ञापनासूत्र' के २०वें पद के अन्तःक्रियाद्वार में इसका परिष्कृत स्वरूप इस प्रकार बताया गया है-"जो जीव तथाविध भव्यत्व के परिपाकवश मनुष्यत्व आदि समग्र सामग्री प्राप्त करके, उस सामग्री के बल से प्रकट होने वाले अतिप्रबल वीर्य के उल्लास से क्षपकश्रेणी पर आरूढ़ होकर केवलज्ञान प्राप्त करके केवल चार घातिकर्मों का ही नहीं, शेष रहे चार अघातिकर्मों का भी क्षय (अन्त) कर देता है, वही मनुष्य अन्तःक्रिया कर पाता है, अर्थात् समस्त कर्मों का सर्वथा क्षय करके मोक्ष प्राप्त करता है। इससे विपरीत प्रकार का जीव, चाहे मनुष्य ही क्यों न हो, अन्तःक्रिया (मोक्ष-प्राप्ति) नहीं कर सकता। इस स्पष्टीकरण के अनुसार समस्त जीवों की मोक्ष-प्राप्तिरूपा अन्तःक्रिया की प्राप्ति-अप्राप्ति समझ लेनी चाहिए।[२]

नारक और देव अपनी-अपनी पर्याय में अन्तःक्रिया क्यों नहीं कर सकते ?

इस पर से यह स्पष्ट है, तथाविध मनुष्य के सिवाय नारकों से लेकर वैमानिक देवों तक के जीव अपनी-अपनी पर्याय में रहते हुए, इसलिए अन्तःक्रिया नहीं कर सकते कि समस्त कर्मों का क्षय (मोक्ष) तभी होता है, जब सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, ये तीनों मिलकर प्रकर्ष को प्राप्त हों, यानी सम्यग्दर्शन भी क्षायिक हो, साथ ही सम्यग्ज्ञान भी केवलज्ञानरूप हो और सम्यक्चारित्र भी यथाख्यातरूप हो। 'उत्तराध्ययनसूत्र' में स्पष्ट कहा है-"सम्यग्दर्शनरहित व्यक्ति को सम्यग्ज्ञान नहीं होता और सम्यग्ज्ञान के बिना चारित्रगुण प्राप्त नहीं होता एवं सम्यक्चारित्रगुण-प्राप्ति के बिना मोक्ष (सर्वकर्मक्षय) नहीं हो सकता और मोक्ष के बिना निर्वाण (अचल चिदानन्दरूप) नहीं होता।"[३] सम्पूर्ण कर्मक्षय तीनों की पूर्ण

---

१. देखें-प्रज्ञापनासूत्र, खण्ड २, पद २०, सू. १४०१/२ की व्याख्या (आ. प्र. समिति, ब्यावर), पृ. ३७९

२. देखें-वही, विवेचन, पृ. ३७९; प्रज्ञापना मलय. वृत्ति, पृ. ३९७

३. नादंसणिस्स हुंति नाणं, नाणेण विणा न हुंति चरणगुणा।
अगुणिस्स नत्थि मोक्खो, नत्थि अमोक्खस्स निव्वाणं॥ *-उत्तराध्ययन, अ. २८, गा. ३०*

प्रकर्षता में ही सम्भव है तथा समग्र कर्म निर्मूल हुए विना विदेहमुक्ति (निर्वाण-प्राप्ति) नहीं हो सकती। तथाविध मनुष्य के सिवाय नारकादि २३ दण्डकवर्ती जीवों में कदाचित् किसी नारक को नैरयिकपर्याय में क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव में कदाचित् सम्यग्दर्शन का प्रकर्ष हो भी जाए, किन्तु सम्यग्ज्ञान के प्रकर्ष की योग्यता तथा सम्यक्चारित्र के परिणाम नारकपर्याय में उत्पन्न नहीं हो सकते, क्योंकि नारक-भव का ऐसा ही स्वभाव है।[1]

इसी प्रकार नारक जीव यदि नरक से उद्वृत्त होकर (निकलकर) असुरकुमारों से लेकर स्तनितकुमारों में, पृथ्वीकायिक आदि एकेन्द्रियों में, पंचेन्द्रिय-तिर्यंचों में तथा वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क एवं वैमानिक देवों में उत्पन्न हो गया हो, तो भी वह वहाँ मोक्ष-प्राप्तिरूपा लोकोत्तर अन्तःक्रिया नहीं कर सकता। इसका कारण भी वही भव-स्वभाव है।[2]

मनुष्यपर्याय में सर्वकर्मक्षयकर्त्ता ही अन्तःक्रिया करता है

हाँ, कोई नारकीय जीव नरक से निकलकर मनुष्यपर्याय में आया हो तथा जिसे मनुष्यत्व आदि की परिपूर्ण सामग्री प्राप्त हो गई हो, वह मनुष्य पूर्वोक्त प्रकार से क्रमशः समस्त कर्मों का सर्वथा क्षय करके अन्तःक्रिया कर सकता है, किन्तु नरक से मनुष्यपर्याय में आया हुआ वह जीव भले ही मनुष्य हो, तब तक अन्तःक्रिया नहीं कर पाता, जब तक उसे पूर्वोक्त प्रकार की तथाविध परिपूर्ण सामग्री प्राप्त नहीं होती और जिसके सर्वकर्मों का क्षय नहीं हुआ हो।

इसी प्रकार मनुष्यपर्याय में आये हुए असुरकुमारादि देवों से लेकर वैमानिक देवों तक के जीव, जिन्हें पूर्वोक्त तथाविध परिपूर्ण सामग्री प्राप्त हो जाती है, वे समस्त कर्मों का क्षय करके मोक्ष-प्राप्तिरूपा लोकोत्तर अन्तःक्रिया कर सकते हैं। सौ बात की एक बात है कि नारकों या चारों प्रकार के देवों में से निकलकर कोई जीव मनुष्यपर्याय में आकर ही तथा मनुष्यपर्याय में भी तथारूप परिपूर्ण-सामग्री प्राप्त एवं सर्वकर्मक्षयकर्त्ता मनुष्य ही मोक्ष-प्राप्तिरूपा लोकोत्तर अन्तःक्रिया कर सकते हैं।[3]

'सूत्रकृतांगसूत्र' में स्पष्ट कहा है कि तीर्थंकर भगवान के लोकोत्तर प्रवचन से मैंने (सुधर्मास्वामी ने) सुना है कि मनुष्य ही सम्यग्दर्शन आदि की आराधना करके कृतकृत्य हो जाते हैं, यानी सर्वकर्मक्षय करके, मोक्ष प्राप्त करके कृतार्थ हो जाते

---

१. देखें-प्रज्ञापना, खण्ड २, पद २०, सू. १४०८/१-३ एवं उनके विवेचन (आ. प्र. स., ब्यावर), पृ. ३८०

२. देखें-वही, खण्ड २, पद २०, सू. १४०८/३ का विवेचन (आ. प्र. स., ब्यावर), पृ. ३८१

३. देखें-वही, खण्ड २, पद २०, सू. १४०९ का विवेचन, पृ. ३८०-३८१

हैं। कई मनुष्य जिनके कुछ कर्म शेष रह जाते हैं, वे सौधर्म आदि वैमानिक देवों में उत्पन्न होकर देव हो जाते हैं।

मनुष्यगति में ही मोक्ष-प्राप्ति होती है, वह भी किन्हीं विरले मनुष्यों को ही। मनुष्यगति या योनि से भिन्न गति या योनि वाले प्राणियों को मनुष्यों जैसी कृतकृत्यता या मुक्ति प्राप्त नहीं होती। अर्थात् मनुष्य ही सर्वकर्मों का क्षय करके मुक्ति प्राप्त कर सकता है। जो मनुष्य नहीं है, वह मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता। क्योंकि मनुष्य के अतिरिक्त जो तीन गतियाँ हैं, उनमें सम्यक्चारित्र का परिणाम नहीं है; इसलिए मनुष्य के समान दूसरे जीवों को मोक्ष-प्राप्ति नहीं हो सकती।[1]

देव सर्वदुःखों का अन्त नहीं कर सकते : क्यों और कैसे ?

किन्हीं मतवादियों का यह कथन युक्तिसंगत नहीं है कि देव ही उत्तरोत्तर उच्च स्थानों को प्राप्त करते हुए समस्त दुःखों का अन्त (अन्तःक्रिया) कर सकते हैं, मनुष्य नहीं। यह कथन इसलिए युक्ति, प्रमाण एवं सिद्धान्त से सम्मत नहीं है कि देव आदि भवों में सम्यग्दर्शन-ज्ञान के सिवाय सम्यक्चारित्ररूप धर्माराधन का अभाव है। अतः वे देव आदि भवों में मोक्षगति प्राप्त नहीं कर सकते, न ही वे सर्वदुःखों का अन्त कर सकते हैं। इसके विपरीत आर्हत् मत में तीर्थंकर गणधर आदि का कथन है कि मनुष्य ही समस्त दुःखों का अन्त (अन्तःक्रिया) कर सकता है और मोक्ष प्राप्त कर सकता है, दूसरे प्राणी नहीं। अतः मानव ही परिपूर्ण सामग्री पाकर मोक्ष-प्राप्तिरूप अन्तःक्रिया कर सकता है, देव नहीं।

मनुष्य-भव में धर्माराधना की पूर्ण सामग्री सम्भव

साथ ही गणधर आदि का कहना है कि मनुष्य-भव में ही धर्माराधना की परिपूर्ण सामग्री की प्राप्ति संभव है। इसलिए मनुष्य-भव के बिना मनुष्य-शरीर, उत्तम क्षेत्र, सद्धर्म-श्रवण, श्रद्धा और चारित्र में पराक्रम आदि सब समुच्छ्रय = अभ्युदय प्राप्त होना दुर्लभ है; फिर मोक्ष पाने की बात तो बहुत दूर है अथवा मनुष्य-शरीररूप अभ्युदय का प्राप्त करना भी अतीव दुर्लभ है। जो व्यक्ति धर्माचरण नहीं करता है, जिसके पुण्य प्रबल नहीं हैं, उसे मानव-शरीर का प्राप्त होना उसी प्रकार अतिदुर्लभ है, जिस प्रकार महासागर में गिरे हुए रत्न का पुनः पाना अतिदुर्लभ है।[2]

---

१. (क) निट्ठियट्ठा व देवा वा, उत्तरीए इयं सूयं।
सूयं च मयेयमेगेसिं, अमणुस्सेसु णो तहा॥ *—सूत्रकृतांग, अ. १५, श्लो. १६*

(ख) देखें—इस गाथा का अन्वयार्थ, भावार्थ एवं विवेचन, पृ. ९७२-९७३

२. (क) अंतं करंति दुक्खाणं, इहमेगेसिं आहियं।
आघायं पुण एगेसिं, दुल्लभेऽयं समुस्सए॥ *—सूत्रकृतांगसूत्र १/१५/१७*

(ख) देखें—इस गाथा का विवेचन, अमरसुखबोधिनी व्याख्या में, पृ. ९७३-९७४

धर्माराधना न करने वाले को सम्बोधि और शुभलेश्या की प्राप्ति अतिदुर्लभ

निष्कर्ष यह है कि जो जीव मनुष्य-जन्म पाकर भी देवदुर्लभ धर्माराधना या संयम-पालन नहीं करता, नवीन पुण्य भी अर्जित नहीं करता, वह संयम-पालन या धर्माराधन से रहित पशुतुल्य मानव इस देवदुर्लभ मानव-शरीर से या उत्तम धर्म से भ्रष्ट होकर इस संसार की अटपटी कुगतियों और कुयोनियों में भटकता है। उसे एक बार मानव-शरीर से इस प्रकार भ्रष्ट होने पर दूसरी तिर्यंच आदि गतियों–योनियों सम्बोधि–सम्यग्दृष्टि का पाना तथा सम्यग्दृष्टि (सम्बोधि) पाने के योग्य शुभ लेश्या (आत्मा या अन्तःकरण की शुद्ध परिणति) की प्राप्ति भी अत्यन्त कठिन है। अथवा तेजस्वी मानव-शरीर उसे प्राप्त नहीं होता, जिसने धर्मरूपी बीज नहीं बोया है। तब फिर आर्यक्षेत्र, उत्तम कुल में जन्म, सर्वेन्द्रियों की पूर्णता आदि सामग्री का मिलना तो और भी दुर्लभ है। इस परिपूर्ण सामग्री की प्राप्ति और अभ्युदय के बिना सर्वकर्मक्षयरूपा मोक्ष-प्राप्ति के लिये अन्तःक्रिया करना तो दुर्लभतम है।[1]

अन्तःक्रिया (सर्वकर्मों का अन्त) करने के बाद पुनः जन्म-मरणादि नहीं होता

'सूत्रकृतांगसूत्र' में यह तथ्य भी प्रकाशित किया गया है–जो मनुष्य मोक्ष-प्राप्तिरूपा लोकोत्तर अन्तःक्रिया कर लेता है, यानी सर्वकर्मों का अन्त (क्षय) कर डालता है, वह संसार में न तो पुनः जन्म ग्रहण करता है और न ही मरता है। संसार में उसका पुनरागमन नहीं होता, क्योंकि कर्मबन्ध का सदा के लिए सर्वथा उच्छेद करने के बाद वह नया कर्म नहीं करता। और जो मनुष्य नये कर्म का बन्ध नहीं करता, उसके पुनः जन्म-मरण करने का प्रश्न ही नहीं उठता। अन्तःक्रियाकृत् जो मानव इतनी उच्च भूमिका पर पहुँच जाते हैं, उनके लिए पुनः जन्म लेने की बात ही नहीं सोची जा सकती। जिसका पुनः जन्म ही नहीं होता, उसके मरण के बारे में तो स्वप्न में भी नहीं सोचा जा सकता, क्योंकि उसके कर्मबीज नष्ट हो चुके हैं। 'दशाश्रुतस्कन्ध' की पाँचवीं दशा में कहा गया है–"जैसे बीज जल जाने पर उसमें से कोई अंकुर बिलकुल नहीं फूटता (उत्पन्न होता), वैसे ही कर्मबीज जल जाने पर संसाररूप अंकुर उत्पन्न नहीं होता।" 'सूत्रकृतांग' में भी पुनः इस तथ्य को दोहराया गया है–जो महान् आत्मा इस संसार में पुनः न आने के लिए पुनरागमन से रहित होकर मोक्ष में पहुँच गए हैं, वे मेधावी (केवलज्ञानी) महापुरुष क्या यहाँ लौटकर

---

१. (क) इओ विद्धंसमाणस्स, पुणो संबोहि दुल्लहा।
दुल्लहाओ तहच्चाओ, जे धम्मट्ठं वियागरे॥ –*सूत्रकृतांगसूत्र, श्रु. १, अ. १५, गा. १८*

(ख) देखें–इस गाथा का विवेचन, अमरसुखबोधिनी व्याख्या में, पृ. ९७३-९७४

फिर उत्पन्न हो सकते (जन्म ले सकते) हैं? कदापि नहीं। क्योंकि जन्म-मरण के कारणभूत उनके समस्त कर्म नष्ट हो गए हैं। अतः उनके वापस लौटकर संसार में आने और जन्म-मरण करने का कोई भी कारण नहीं है।[1]

अन्तःक्रिया करने वाले पुनः संसार में लौटकर नहीं आते

इस युक्ति, आगमोक्ति और अनुभूति से उन दार्शनिकों और धर्म-मतों की इस मान्यता का खण्डन हो जाता है कि "सर्वकर्मक्षय हो जाने (मोक्ष-प्राप्तिरूपा अन्तःक्रिया करने) के पश्चात् वे ज्ञानी पुरुष भी जब अपने धर्मतीर्थ (संघ) की अवेहलना होती देखते हैं, तो पुनः संसार में लौटकर आ जाते हैं।" यह मान्यता न तो युक्तिसंगत है और न सत्य ही, क्योंकि जब अन्तकृत् महापुरुष समस्त क्रियाओं का अन्त कर देते हैं, उन क्रियाओं के कारणभूत उसके मन-वचन-कायारूप त्रिविधयोग भी नष्ट हो जाते हैं और वह तन-मन-वचन से कोई भी कार्य (व्यापार) नहीं करता। ऐसी स्थिति में उनके ज्ञानावरणीयादि नवीन कर्मों के बन्ध की कोई गुंजाइश ही नहीं रहती। दर्शनशास्त्र का यह नियम है कि कारण का जब अभाव हो जाता है तो कार्य का अभाव स्वतः ही हो जाता है। अन्तःक्रिया करके मुक्ति में पहुँचे हुए महापुरुष के कर्मों का जब सर्वथा अभाव हो जाता है, तब कर्मों के अभाव में वह संसार में पुनः कैसे आ सकते हैं? क्योंकि कर्म ही संसार का कारण है और फिर मुक्त जीव सभी संगों, संयोगों, आसक्तियों, बन्धनों, ग्रन्थियों, राग-द्वेष, मोह-द्रोह आदि द्वन्द्वों से रहित हो जाता है, तब उसका अपना-पराया कुछ भी नहीं होता। वह यदि स्व-पर की मोह-ममता में, पक्षपात में पड़ जाएगा तो पुनः राग-द्वेष से लिप्त हो जाएगा। अतः राग-द्वेष-मोह से सर्वथा मुक्त वीतराग महापुरुष को अपने तीर्थ की निन्दा-प्रशंसा या अवहेलना से कोई सरोकार नहीं रहता, न ही ऐसा पक्षपातयुक्त विचार आता है।[2]

---

१. (क) अकुव्वओ णवं णत्थि, कम्मं नाम विजाणइ।
विन्नाय से महावीरे, जेण जायइ पमिज्जइ॥ *–सूत्रकृतांगसूत्र, श्रु. १, अ. १५, गा. ७*

(ख) देखें–इस गाथा का विवेचन, अमरसुखबोधिनी व्याख्या में, पृ. ९६०-९६१

(ग) दग्धे बीजे यथाऽत्यन्तं, प्रादुर्भवति नांकुरः।
कर्मबीजे तथा दग्धे, न रोहति भवांकुरः॥ *–सूत्रकृतांग, विवेचन, पृ. ९७५*

(घ) जहा दड्ढाणं बीयाणं, न जायंति पुणंकुरा।
कम्मबीएसु दड्ढेसु, न जायंति भवंकुरा॥ *–दशाश्रुतस्कन्ध, पंचमी दशा, गा. १२३*

(ङ) कओ कयाइ मेहावी, उप्पज्जंति तहागया।
तहागया अपडिन्ना, चक्खू लोगस्सणुत्तरा॥ *–सूत्रकृतांग, श्रु. १, अ. १५, गा. २०*

(च) देखें–इस गाथा का विवेचन, अमरसुखबोधिनी व्याख्या में, पृ. ९७६

२. (क) देखें–सूत्रकृतांगसूत्र, श्रु. १, अ. १५, गा. ७ का विवेचन, अमरसुखबोधिनी व्याख्या में, पृ. ९६०-९६१

मोक्ष-प्राप्तिरूपा अन्तःक्रिया करने वालों की अर्हताएँ

लोकोत्तर अन्तःक्रिया करने वाला आत्मा के मुख्य गुणों—अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त अव्याबाध आत्मिक-सुख एवं अनन्त आत्म-शक्ति से सम्पन्न हो जाता है, तब वह 'सूत्रकृतांग' की गाथा के अनुसार--उसके नवीन कर्मों का वन्ध सर्वथा रुक जाता है। उस समय केवलज्ञान के प्रकाश में वह अष्टविध कर्मों, उनके कारणों और फलों को भलीभाँति जान लेता है, साथ ही कर्मों के प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशों के रूप में होने वाले वन्धों तथा उनसे सम्वद्ध उदय, उदीरणा, सत्ता आदि को भी सम्यक् प्रकार से जान लेता है। इसके अतिरिक्त कर्मों के निरोधरूप संवर और कर्मों के अंशतः क्षयरूप निर्जरा के उपायों और अपायों को भी अच्छी तरह जानकर कर्मविदारण करने में समर्थ वह महान् वीर पुरुष ऐसा पराक्रम करता है, जिससे घाति-अघाति कुल के समस्त कर्मों का वह क्षय कर डालता है। इस प्रकार अन्तःक्रिया (कर्मों का सर्वथा अन्त, जन्म-मरणादि रूप त्रिविध शरीरों का अन्त एवं समस्त दुःखों का अन्त) कर पाता है। इसीलिए कहा गया है कि मोक्ष-प्राप्तिरूपा अन्तःक्रिया करने के बाद वह न तो संसार में पुनः जन्म लेता है और न ही मरता है। अर्थात् वह जन्म-मरण का सर्वथा अन्त कर डालता है।[1]

ऐसा मोक्षाभिमुख साधक ही अन्तःक्रिया करने में सफल होता है

मोक्ष-प्राप्तिरूपा अन्तःक्रिया करने वाले मुमुक्षु साधक पहले मोक्षाभिमुख होते हैं। मोक्षाभिमुखी साधना कैसी होती है और उसके लिए क्या-क्या पराक्रम अपेक्षित हैं? इसका निरूपण 'सूत्रकृतांगसूत्र' की छह गाथाओं में किया गया है। उनका भावार्थ इस प्रकार है—जिनका मुख मोक्ष की ओर हो गया है, वह अब संसार तथा संसार के विषयभोगों, सुख-सुविधाओं, लुभावनी भोग-सामग्री, उत्तम स्वादिष्ट आहार-पानी, सुन्दर मकान, शरीर-प्रसाधन, साज-सज्जा आदि की ओर झाँककर भी नहीं देखता। अर्थात् वह संसार या संसार के बन्धन में डालने वाले कर्मों या कारणों से विमुख हो गया है। इस प्रकार वीर वनकर जिसने संसार या संसार के जन्म-मरणादि बंधन में डालने वाले कर्मों तथा कर्मों के कारणों = आस्रवों तथा राग-द्वेष, कषायादि को नष्ट करने या पूर्ववद्ध कर्मों की निर्जरा करने के लिए

पिछले पृष्ठ का शेष—

(ख) ज्ञानिनो धर्मतीर्थस्य कर्तारः परमं पदम्।
गत्वाऽऽगच्छंति भूयोऽपि भवं तीर्थ निकारतः॥

—*अमरसुखवोधिनी व्याख्या में उद्धृत, पृ. ९६०*

१. (क) देखें—सूत्रकृतांगसूत्र, श्रु. १, अ. १५, सू. ७ के उत्तरार्द्ध का विवेचन, अमरसुखवोधिनी व्याख्या में, पृ. ९६१

(ख) 'विन्नाय से महावीरे, जे न जायइ, ण मिज्जई' का भावार्थ, पृ. ९६०

कमर कस ली है। जो संसार-सागर को पार करके मोक्ष के तट पर पहुँच गया है। जो मोक्ष-प्राप्तिरूपा अन्तःक्रिया के लिए कटिबद्ध होकर मजबूत कदमों से मोक्ष की ओर अहर्निश गति-प्रगति कर रहा है। वह देह-निरपेक्ष जीवन-निरपेक्ष, प्रसिद्धि-प्रशंसा-पूजा-सत्कार-नामना-कामना आदि से सर्वथा निरपेक्ष होकर एकमात्र मोक्ष की ही आराधना में तत्पर रहता है। मोक्ष का ही ध्यान, चिन्तन, मनन करता है, मोक्ष के ही अनुष्ठानों में रुचि रखता है, मोक्ष की ही क्रिया उसके द्वारा सहज होती रहती है, मोक्ष का ही वह उपदेश देता है। संसार से या सांसारिक सम्बन्धों से कोई वास्ता नहीं रखता। ऐसे महान् महावीरता-सम्पन्न साधक को मोक्षाभिमुख कहा जा सकता है। ऐसे ही मोक्षाभिमुख साधक अन्तःक्रिया करने में सफल होते हैं।[1]

अन्तःक्रिया करने वाले मोक्षाभिमुख साधक की पहचान

'सूत्रकृतांगसूत्र' में अन्तःक्रिया की तैयारी करने वाले मोक्षाभिमुख साधक की पहचान बताते हुए कहा गया है—पूर्वोक्त मोक्षाभिमुखी साधक जीवन (असंयमी जीवन या प्राणधारणरूप जीवन) के प्रति निरपेक्ष होकर ज्ञानावरणीयादि अष्टविध कर्मों का अन्त (क्षय) कर लेते हैं, यानी वे जीने की इच्छा का त्याग करके ज्ञानावरणीयादि चार घातिकर्मों का अथवा घाति-अघाति कुल ८ कर्मों का अन्त करने में तत्पर रहते हैं। तात्पर्य यह है कि वे जीवन-निरपेक्ष साधक उत्तम ज्ञान-दर्शन-चारित्र-तपरूप मोक्षमार्ग की साधना-आराधना करके संसार-सागर के अन्तस्वरूप, समस्त द्वन्द्वों के अभावरूप (भाव) मोक्ष को प्राप्त कर लेते हैं। यद्यपि वे मोक्षाभिमुखी साधक समस्त दुःखों की निवृत्तिरूप या सर्वकर्मक्षयरूप मोक्ष को अभी तक प्राप्त नहीं कर सके हैं, तथापि तप-संयम आदि की तथा निश्चय सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय की विशिष्ट धर्मसाधना के द्वारा मोक्ष के सम्मुख हैं और चार प्रकार के घातिकर्मों का क्षय करके दिव्य ज्ञान से युक्त एवं मोक्षपद के अभिमुख हैं।

मोक्ष-प्रापिणी अन्तःक्रिया करने वाले साधक के विशिष्ट गुण

ऐसे मोक्षाभिमुख साधक का मोक्षमार्ग पर अनुशासन = आधिपत्य होता है। यानी जिनका मोक्षमार्ग पर इतना असाधारण अधिकार होता है कि वे संसारमार्ग की ओर जरा भी मुड़ते नहीं। उनकी गति, मति और प्रगति एकमात्र मोक्ष की ओर अटल होती है। वे मोक्षमार्ग का ही उपदेश देते हैं। मोक्षमार्ग का अनुशासक या

---

१. (क) देखें—सूत्रकृतांग, श्रु. १, अ. १५, गा. १०-१५ की पूर्वभूमिकायुक्त व्याख्या, अमरसुखबोधिनी व्याख्या में, पृ. ९६७-९६८

(ख) जीवियं पिट्ठिओ किच्चा, अंतं पावंति कम्मुणं।
कम्मुणा सम्मुही भूता, जे मग्गमणुसासई॥ —*सूत्रकृतांग, अ. १५, गा. १०*

मोक्षोपदेशक अथवा मोक्षाभिमुख वही हो सकता है जो संयम-धन से युक्त हो, पूजा-प्रतिष्ठा, नामना-कामना, प्रसिद्धि या यशःकीर्ति में जो बिलकुल दिलचस्पी न रखता हो, जो विषयभोगों की वासना से रहित हो, जो इन्द्रियों और मन का स्वेच्छा से दमन (नियंत्रण) करता हो, अपनी महाव्रतादि की प्रतिज्ञा पर जो अटल हो, देवों और नरेन्द्रों आदि द्वारा दिये गए वैषयिक प्रलोभनों से जरा भी विचलित न होकर अपने मन, नियम एवं संकल्प पर दृढ़, अटल और अविचल रहता हो, जो मैथुनादि इन्द्रिय-सम्बन्धी भोगों से बिलकुल निवृत्त-विरत हो, ऐसा जीवन्मुक्त साधक ही मोक्षमार्ग का अनुशासक या मोक्षाभिमुख होता है।

ऐसा मोक्षाभिमुख जीवन्मुक्त साधक स्त्री प्रसंग में कदापि लीन या ग्रस्त नहीं होता। वह आस्रव द्वारों या संसारगमन द्वारों (पंचेन्द्रिय विषयभोगों के द्वारों) को छिन्न-भिन्न करने वाला छिन्न स्रोत होता है। विषयभोगों में प्रवृत्त न होने के कारण वह स्वस्थचित्त होता है। ऐसे अनुपमा गुणों से युक्त महापुरुष ही अनुपम भावसन्धि (कर्मक्षयरूप मुक्ति या अन्तःक्रिया के सुअवसर की प्राप्ति) कर लेते हैं।[1]

छिन्नस्रोत, खेदज्ञ एवं सर्वजीवों का आलोक ही अन्तःक्रिया करने में सक्षम

ऐसा अन्तःक्रिया तत्पर मोक्षाभिमुख साधक अनन्यसदृश संयम या वीतराग प्ररूपित धर्म का मर्मज्ञ होता है। अथवा अनन्यसदृश धर्म या संयम का पालन करने में मुमुक्षु साधक को कितने खेदों, उपसर्गों, परीषहों या आफतों का सामना करना पड़ता है, इसका वह ज्ञाता अनुभवी होता है। ऐसा मोक्षाभिमुख साधक मन-वचन-काया से किसी भी प्राणी के प्रति वैर-विरोध नहीं रखता, न ही करता है अपितु सबके प्रति मैत्रीभावना, गुणग्राहकता, मुदिता (प्रमोद), अभिन्नता या आत्म-तुल्य भावना रखता है, करुणा एवं माध्यस्थ्य भावना भी उसके अन्तःकरण में अठखेलियाँ करती रहती हैं। वह महान् साधक चित्त को शान्त एवं मैत्रीभावना से ओतप्रोत रखता है, वचन से किसी के प्रति अपशब्द या कटुशब्द का प्रयोग नहीं करता, अपितु हित, मित, पथ्य, तथ्य बोलता है। शरीर से भी वह संयमविरोधी कोई भी चेष्टा या व्यवहार नहीं करता।[2]

---

१. (क) अणुसासणं पुढो पाणी, वसुमं पूयणासए।
अणासए जए दंते, दढे आरयमेहुणो॥११॥

(ख) णीवारे ण लीएज्जा, छिन्नसोए अणाविले।
अणाइले सया दंते, संधिपत्ते अणेलिसं॥१२॥

(ग) देखें—इन दोनों गाथाओं का विवेचन, अमरसुखबोधिनी व्याख्या में, पृ. ९६८

२. (क) अणेलिसस्स खेयन्ने, ण विरुज्झेज्ज केणई।
मणसा वयसा चेव, कायसा चेव चक्खुमं॥१३॥

(ख) देखें—इस गाथा का विवेचन, अमरसुखबोधिनी व्याख्या में, पृ. ९६८

वह मोक्ष या संसार के अन्त तक पहुँच जाता है

वस्तुतः वह दिव्य विचारचक्षु से सम्पन्न या परमार्थ तत्त्वदर्शी तथा सर्वोत्तम तीर्थंकरोक्त धर्म या संयम का मर्मज्ञ होने से मनुष्यों का नेत्र = नेता या मार्गदर्शक है। क्योंकि वह शब्दादि समस्त विषयों का अन्त कर चुका होता है, अथवा समस्त आकांक्षाओं के अन्त (सिरे) पर स्थित होता है। जैसे उस्तरा या छुरा अन्त (प्रान्त या अग्र) भाग से ही काम करता है, रथ का पहिया भी अन्त = अन्तिम सिरे से मार्ग पर चलता है, जैसे इन दोनों का अग्र भाग ही कार्यसाधक होता है; वैसे ही अन्तःक्रिया साधक संसार का या संसार-परिभ्रमण अथवा कषाय-नोकषायरूप मोहनीय आदि कर्मों का अन्त करके संसार के अन्त (पार) तक या मोक्ष के अन्त (किनारे) पर पहुँच जाता है। संक्षेप में, ऐसे विशिष्ट गुणों से युक्त साधक मोक्ष-प्राप्तिरूपा अन्तःक्रिया करके ही दम लेता है।[1]

वे संसार का तथा समस्त दुःखों का अन्त कैसे कर देते हैं ?

वे इसलिए संसार का या समस्त दुःखों का अन्त कर देते हैं कि वे परीषहों और उपसर्गों को समभाव, धैर्य और शान्ति से सहते हैं, वे वीर, धीर और कष्ट-सहिष्णु होते हैं। वे विषयों के प्रति निरपेक्ष और अनासक्त होते हैं। वे उदर को भाड़ा देने के लिए ठंडा, बासी, अन्त, प्रान्त, रूखा-सूखा आहार करके जीवन-निर्वाह करते हैं। ऐसे ही मोक्षाभिमुखी साधक मनुष्यलोक में क्षमादि उत्तम धर्मों की आराधना करके संसार-सागर का अन्त कर पाते हैं। इस प्रकार वे संसार के कारणभूत कर्मों का अन्त करते हैं।[2]

ऐसे मोक्षाभिमुखी एवं अन्तःक्रिया-तत्पर पुरुष केवल तीर्थंकर, गणधर आदि ही नहीं, दूसरे मानव भी सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रयरूप धर्म की आराधना करके कर्मभूमि में संख्यात वर्ष की आयु वाले गर्भज होकर मोक्षमार्ग की तथा अन्य सदनुष्ठान की पूर्ण सामग्री पाकर संसार का अन्त करने (अन्तःक्रिया करने) वाले अन्तकृत् हुए हैं, होते हैं, होंगे।[3]

---

१. (क) से हु चक्खु मणुस्साणं, जे कंखाए व अन्तए।
अंतेण खुरो वहइ, चक्कं अंतेण लोट्टइ॥१४॥

(ख) देखें—सूत्रकृतांग, श्रु. १, पद २०, गा. १४ का विवेचन, अमरसुखबोधिनी व्याख्या में, पृ. ९७०

२. (क) अंताणि धीरा सेवंति, तेण अंतकरा इह।
इह माणुस्सए ठाणे, धम्ममाराहिउं णरा॥१५॥

(ख) देखें—सूत्रकृतांग, श्रु. १, पद २०, गा. १५ की व्याख्या, पृ. ९७१

३. वही, पृ. ९७१

अन्तःक्रिया करने वाले अन्तकृत् महापुरुषों के जीवन अन्तकृद्दशा में वर्णित

तीर्थंकर आदि के अतिरिक्त भी 'अन्तकृद्दशासूत्र' में वर्णित विभिन्न प्रकार से अन्तःक्रिया करने वाले ९० अन्तकृत् साधकों का जीवन इसके लिए ज्वलन्त उदाहरण हैं। इनमें बालक भी हैं, वृद्ध भी हैं, युवक भी हैं, महिलाएँ भी हैं, प्रौढ़ भी हैं, राज-रानियाँ भी हैं, भोगों में पले हुए युवक भी हैं, किशोर भी हैं, गृहस्थ भी हैं, गृहस्थ में से साधु-जीवन में दीक्षित हुए अनगार भी हैं। ये सब अन्तकृत् महापुरुष इसलिए कहलाए कि इन्होंने उसी भव में समस्त कर्मों का अन्त करने वाली अन्तःक्रिया की।[1]

'अन्तकृद्दशांगसूत्र' में विविध प्रकार से अन्तःक्रिया करने वाले अन्तकृत् साधकों के ८ वर्ग हैं। इसमें दो तीर्थंकरों—भगवान अरिष्टनेमि और भगवान महावीर के धर्म-शासनकाल में हुए विभिन्न भूमिका के अन्तकृत् साधकों के अन्तःक्रिया करने की संक्षिप्त जीवनगाथाएँ दी गई हैं। प्रथम वर्ग में द्वारिका के अन्धकवृष्णि नामक राजा एवं धारिणी रानी के गौतम, समुद्र, सागर, गम्भीर, स्तिमित, अचल, कांपिल्य, अक्षोभ, प्रसेन, विष्णु; इन १० कुमारों (राजपुत्रों के नाम से १० अध्ययन हैं। इन दसों ही राजकुमारों ने यौवनवय में पाणिग्रहण किया, तत्पश्चात् संसार की एवं भोगों की असारता, अनित्यता जानकर वैराग्यवासित हुए और भगवान अरिष्टनेमि से दीक्षा ग्रहण की। ग्यारह अंगशास्त्रों का अध्ययन किया, तप-संयम अपनी आत्मा को भावित करते हुए मासिक भिक्षु-प्रतिमा अंगीकार की, गुणसंवत्सर तप किया। अन्तिम समय शत्रुंजय पर्वत पर मासिक संलेखना-संथारा अंगीकार किया। इस प्रकार अन्तःक्रिया द्वारा अपने समस्त कर्मों का क्षय करके सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हुए।

इसी प्रकार द्वितीय वर्ग में ८ अध्ययन अक्षोभ, सागर, समुद्र, हिमवन्त, अचल, धरण, पूरण और अभिचन्द नाम से हैं। इन्होंने भी यौवनवय में विरक्त होकर रत्नत्रय की तप-संयम की आराधना की और गुणरत्न संवत्सर आदि तपश्चरण किया। मासिक संलेखना से अन्तःक्रिया द्वारा अपने समस्त कर्मों का क्षय करके मुक्ति प्राप्त की। इन १८ अध्ययनों के महान् आत्माओं ने यौवनवय में विरक्त होकर सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-तप रूप मोक्षमार्ग की सम्यक् आराधना करके अन्तःक्रिया की ओर मोक्ष प्राप्त किया।

तीसरे वर्ग में १३ अध्ययन हैं। जिनमें भद्दिलपुर नगर के नाग नामक गृहपति की सुलसा नाम की भार्या के ६ सहोदर पुत्रों (अनीकसेन, अनन्तसेन, अजितसेन, अनिहतरिपु, देवसेन और शत्रुसेन) की विरक्ति तथा बेले-बेले तपस्या और पारणे

---

१. देखें—अन्तकृद्दशासूत्र में वर्णित ९० महापुरुषों की विभिन्न उपायों से की गई अन्तःक्रिया का वर्णन

के दिन देवकी महारानी के यहाँ दो-दो मुनियों का संघाटक (संघाड़ा) भिक्षा के लिए पहुँचने, महारानी को विस्मय और संशय हुआ। उसका निवारण पिछले मुनिद्वय के संघाटक ने किया। संशय निवारणार्थ देवकी रानी का अरिष्टनेमि भगवान के पास पहुँचना, भगवान द्वारा उसी के पुत्र बताने पर देवकी रानी का मोह, वात्सल्य और फिर पुत्र-पालन न करने की चिन्ता, श्रीकृष्ण द्वारा पुत्र-प्राप्ति होने का आश्वासन तथा गजसुकुमाल का जन्म तथा दीक्षा ग्रहण एवं उसी दिन १२वीं भिक्षु प्रतिमा में सोमल द्वारा दिये गये घोर उपसर्ग को समभाव से सहन करने एवं एकमात्र आत्म-स्वरूप में स्थिर होने पर अन्तःक्रिया करके सर्वकर्मक्षय कर मोक्ष प्राप्त करने का प्रेरक और रोचक वर्णन है। गजसुकुमाल मुनि के सिवाय शेष १२ मुनियों में से ६ सहोदर मुनियों ने १४ पूर्वों का अध्ययन किया, १२ वर्ष तक निर्दोष संयम-पालन किया और अन्तिम समय में शत्रुंजय पर्वत पर समाधिमरणपूर्वक अन्तःक्रिया करके सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हुए। शेष ६ मुनियों के बलभद्र राजा पिता और धारिणी रानी माता थी। उन्होंने भी यौवनवय में विरक्त होकर दीक्षा ली और ज्ञानादि चतुष्टय की आराधना करके अन्तःक्रिया कर मोक्ष प्राप्त किया।[1]

चौथे वर्ग में १० अध्ययन हैं। श्रीकृष्ण और रुक्मिणी के अंगज जाली, मयाली, उवमाली, पुरुषसेन, वारिषेण एवं प्रद्युम्न, ये ६ सहोदर भाई थे, शाम्बकुमार जाम्बवती रानी का पुत्र था, अनिरुद्ध प्रद्युम्न-पुत्र था, सत्यनेमि और दृढ़नेमि ये दोनों समुद्रविजय जी के पुत्र थे। इन सबने यौवनवय में विषयभोगों से विरक्त होकर दीक्षा ग्रहण की और पूर्ववत् ज्ञानादि चतुष्टयरूप मोक्षमार्ग की आराधना करके अन्तःक्रिया की और मोक्ष प्राप्त किया।

पंचम वर्ग में श्रीकृष्ण जी की १० पटरानियों (पद्मावती, गौरी, गान्धारी, लक्ष्मणा, सुषीमा, जाम्बवती, सत्यभामा, रुक्मिणी, मूलश्री और मूलदत्ता) के द्वारा विरक्त होकर अन्तःक्रिया करके और मुक्ति प्राप्त करने का वर्णन है। इन दसों की विरक्ति और अन्तःक्रिया करने के पीछे एक बहुत बड़ा निमित्त मिला द्वैपायन ऋषि द्वारा द्वारिका नगरी के विनाश का और श्रीकृष्ण जी द्वारा उद्घोषणा का कि जो अपना आत्म-कल्याण करने के लिए तत्पर होंगे, वे सुरक्षित रह सकेंगे। यही निमित्त बना—चतुर्थ और पंचम वर्ग में उल्लिखित २० महान् आत्माओं द्वारा अन्तःक्रिया करके मोक्ष प्राप्त करने का।

श्रीकृष्ण जी द्वारा भागवती दीक्षा ग्रहण करने वालों को आश्वासन एवं अनेक लोगों को दीक्षा दिलाने में निमित्त बनने से सर्वोच्च पुण्यराशिरूप तीर्थंकर नामगोत्र

---

१. (क) अन्तकृद्दशांगसूत्र, वर्ग १-३, संक्षिप्त सारगर्भित वर्णन
(ख) मासियाए संलेहणाए बारस वरिसाइं परियाए जाव सिद्धे। *—प्रथम वर्ग*
(ग) सोलसवासाइं परियाओ सेत्तुंजे मासियाए संलेहणाए जाव सिद्धे। *—द्वितीय वर्ग*
(घ) वीसं वासा परियाओ चोद्दस (पु.) सेत्तुंज्जे जाव सिद्धा। *—तृतीय वर्ग, अ. १-६*

का वन्ध क्रिया जाना बहुत बड़ी उपलब्धि है। क्षायिक सम्यक्त्व एवं तीर्थंकर नामकर्म के कारण भविष्य में निश्चित ही मनुष्य-भव में अन्तःक्रिया करने और मोक्ष प्राप्त करने की।

छठे वर्ग से आठवें वर्ग तक भगवान महावीर के धर्म-शासन के अन्तकृत् साधक-साधिकाओं का वर्णन है। छठे वर्ग में १६ अध्ययन हैं, जिनमें मंकाई, किंकम्म, मोग्गरपाणी, काश्यप, क्षेपक, धृतिधर, कैलाश, हरिचन्दन, बारत्तक, सुदर्शन, पूर्णभद्र, सुमनभद्र, सुप्रतिष्ठ, मेघ; ये १४ तो सामान्य गृहस्थ थे। १५वाँ अतिमुक्तककुमार पोलासपुर के राजा विजय एवं रानी श्रीदेवी का आत्मज था। १६वाँ अलक्ष नामक राजा था। मोग्गरपाणी और अतिमुक्तककुमार के सिवाय शेष अध्ययन में वर्णित अन्तकृत् साधकों ने सम्यग्ज्ञानादि चतुष्टय की साधना की तथा तीव्र तपःसाधना एवं संलेखना-संथारा के साथ अन्तःक्रिया की। अर्जुनमालाकार यक्षाविष्ट होकर भारी-भरकम मुद्गर घुमाता हुआ प्रतिदिन ६ पुरुष और एक स्त्री की हत्या करने लगा। छह महीने में १,१४१ व्यक्तियों की हत्या कर डाली। अन्तःक्रिया-योग्य मनुष्य-जीवन पाकर भी अर्जुन ने जीवन का पूर्वार्द्ध पापकर्मों में बिताया, लेकिन एक दिन सुदर्शन श्रमणोपासक के निमित्त से उसका यक्षावेश दूर हुआ, शान्त और स्वस्थ होकर वह भगवान महावीर के दर्शनार्थ पहुँचा। श्रद्धापूर्वक वन्दन, प्रवचन-श्रवण तथा अन्त में संसार से विरक्त होकर मुनि दीक्षा ग्रहण की। दीक्षा लेते ही आजीवन छट्ठ-छट्ठ तप करने का संकल्प लिया। पारणे के दिन राजगृह जाता, पर वहाँ के नागरिकों ने भूतपूर्व हत्यारे अर्जुन के रूप में उन्हें तरह-तरह से उपसर्ग दिये। क्षमाशील अर्जुन मुनि ने समभाव से उन सब कष्टों को सहन किया, समभाव से यथालाभ संतोष किया। फलतः छह महीने में ही पूर्वबद्ध समस्त कर्मों का क्षय करके वह अन्तःक्रियापूर्वक मुक्त हुए।[1]

बालमुनि अतिमुक्तककुमार बाल्यवय में ही विरक्त होकर दीक्षा लेने के लिए उद्यत हुए। माता-पिता के समक्ष अपनी भावना व्यक्त की। माता ने कहा-"पुत्र ! तू अभी बालक है, क्या जानता है तू धर्म को?" अतिमुक्तक ने विलक्षण बुद्धिपूर्वक उत्तर दिया-"माँ ! मैं जिसे जानता हूँ, उसे नहीं जानता और जिसे नहीं जानता, उसे जानता हूँ।" बालक की ऐसी विरोधी बातें सुनकर माँ ने पूछा-"इसका रहस्य समझाओ।" इस पर अतिमुक्तक ने कहा-"मैं यह जानता हूँ कि जो जन्मा है, वह एक दिन अवश्य मरेगा, किन्तु यह नहीं जानता कि वह कब, कहाँ और कैसे मरेगा? तथा मैं यह नहीं जानता कि किन कर्मों से, कौन जीव नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देवों में उत्पन्न होगा, परन्तु यह अवश्य जानता हूँ कि मनुष्य

१. बारसंगी, सोलसवासा परियाओ, सेसं जहा गोयमस्स, जाव सेत्तुंज्जे सिद्धे।

—चतुर्थ वर्ग, अ. २

अपने-अपने कर्मों के कारण नरक, तिर्यंच, मनुष्य या देवों में उत्पन्न होगा।" आखिर निरुत्तर होकर उसके माता-पिता ने दीक्षा लेने की अनुमति दे दी। दीक्षित हुआ शास्त्राध्ययन, गुणरत्नसंवत्सर तप तथा संयम की आराधना कर राजगृह के विपुलाचल पर अनशन करके अन्तःक्रियापूर्वक सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हुए।[1]

सप्तम वर्ग में श्रेणिक नृप की भोगों में आरक्त १३ रानियों का वर्णन है जिनके नाम हैं–नन्दा, नन्दवती, नन्दोत्तरा, नंदिसेनिका, महयारुमा, सुमरुया, महामरुया, मरुदेवा, भद्दा, सुभद्दा, सुजाया, सुमणा, भूयदिण्णा। इन तेरह रानियों को भगवान महावीर का धर्मोपदेश सुनकर विरक्ति हुई। दीक्षित होकर ग्यारह अंगों का अध्ययन तथा २०-२० वर्ष तक संयम-पालन किया तथा अन्तःक्रिया करके सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हुईं।[2]

अष्टम वर्ग में भी श्रेणिक राजा की दस रानियों की अन्तःक्रिया का वर्णन है। इन दस रानियों के नाम थे–काली, सुकाली, महाकाली, कृष्णा, सुकृष्णा, महाकृष्णा, वीरकृष्णा, रामकृष्णा, पितृसेनकृष्णा और महासेनकृष्णा। ये दसों रानियाँ संसार के विषयभोगों में डूबी हुई थीं, किन्तु जब इन दसों रानियों के कालीकुमार आदि दसों पुत्र कोणिक राजा का चेडा महाराजा के साथ संग्राम में काम आ गए। भगवान महावीर के मुख से यह वृत्तान्त सुनते ही दसों रानियों को पर-पदार्थों की अनित्यता और असारता जानकर विरक्ति हुई। दीक्षा ग्रहण की। शास्त्राध्ययन के साथ-साथ रत्नावली, कनकावली, क्षुद्रसिंह-निष्क्रीड़ित, महासिंह-निष्क्रीड़ित, अष्ट-अष्टमिका भिक्षुप्रतिमा, क्षुद्रसर्वतोभद्र, महासर्वतोभद्र, भद्रोत्तर प्रतिमा, मुक्तावली एवं आयंबिल वर्द्धमान आदि कठोर तपश्चर्या करके समस्त कर्मों के क्षयरूप अन्तःक्रिया की और सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हुईं।[3]

निष्कर्ष यह है कि अन्तकृद्दशासूत्र के आठों ही वर्गों में वर्णित महान् अन्तकृत् साधक-साधिकाओं के द्वारा विविध भूमिकाओं और विभिन्न परिस्थितियों में अन्तःक्रिया की गई।

'अन्तकृद्दशासूत्र' में विविध प्रकार से विविध भूमिकाओं में रहे हुए मानवों के द्वारा अन्तःक्रिया करने का वर्णन पढ़ने से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि किसी को सर्वकर्मक्षयरूपा अन्तःक्रिया करने में दीर्घकाल लगता है, किसी के अल्पकाल में ही अन्तःक्रिया सम्पन्न हो जाती है, किसी साधक को अनेक भवों के बँधे हुए कठोर कर्मों को काटने में तप, संयम हेतु बहुत ही पराक्रम = पुरुषार्थ करना पड़ता है, अनेक परीषह और उपसर्ग समभावपूर्वक सहने पड़ते हैं और कई साधकों को तप-संयम में थोड़ा-सा पुरुषार्थ करने से ही उनकी अन्तःक्रिया हो जाती है। यही

---

१. अन्तकृद्दशा, वर्ग ६, अ. १-३, १५
२. वही, वर्ग ७, अ. १-१३
३. वही, वर्ग ८, अ. १-१०

कारण है कि अन्तःक्रियाएँ अनेक प्रकार की होती हैं। विभिन्न भूमिकाओं में स्थित आत्माएँ, विभिन्न निमित्तों के मिलने से अन्तःक्रियाएँ अनेक उपायों और मार्गों से होती हैं। 'स्थानांगसूत्र' के चतुर्थ स्थान में मुख्यतया चार प्रकार की अन्तःक्रिया उदाहरणपूर्वक प्रतिपादित की गई हैं। उस पाठ का भावार्थ इस प्रकार है–

(मुख्यतया) अन्तःक्रिया चार प्रकार की कही गई हैं। उनमें पहली अन्तःक्रिया यह है–

प्रथम अन्तःक्रिया

प्रथम अन्तःक्रिया–कोई मनुष्य अल्पकर्मों के साथ (पूर्व-जन्म में तप, संयम आदि की आराधना से विशेष-रूप से कर्मों के क्षय करने से अल्पकर्म शेष रह गए हों, वैसा लघुकर्मी (हलुकर्मी जीव अल्पकर्मा होकर) मनुष्य-भव को प्राप्त हुआ। वह विरक्त होकर द्रव्यभाव से मुण्डित होकर घर-बार त्यागकर अनगाररूप में प्रव्रजित हो जाता है। फिर संयम-बहुल, संवर-बहुल और समाधि-बहुल होकर (संयम, संवर और ध्यान-समाधि की साधना-आराधना में विशेष रूप से उद्यत होकर), रूक्ष (रूखा-सूखा आहार करने वाला या स्नेहरागरहित होकर, तीर का अर्थी (संसार-समुद्र को पार करने का इच्छुक या संसार-समुद्र के तट पर पहुँचने का अभिलाषी), उपधानवान् (श्रुताराधना हेतु तप करने वाला) तथा दुःख का क्षयकर्त्ता बाह्याभ्यन्तर–तपस्वी होता है।

उसके न तो उस प्रकार का (दीर्घकालिक) घोर तप होता है और न ही उस प्रकार की तीव्र वेदना होती है।

इस प्रकार का पुरुष दीर्घकालिक मुनिपर्याय द्वारा (दीर्घकाल तक साधुधर्म का पालन करता हुआ) सिद्ध होता है, बुद्ध होता है, मुक्त होता है और परिनिर्वाण को प्राप्त होता है तथा समस्त दुःखों का अन्त कर देता है। जैसे कि चातुरन्त चक्रवर्ती भरत राजा हुआ, यह प्रथम अन्तःक्रिया है।

जन्म-मरण की परम्परा का अन्त करने और सर्वकर्मों का क्षय करने वाली योग-निरोधिका चार प्रकार की अन्तःक्रियाओं में से पहली अन्तःक्रिया अल्पकर्म के साथ आए और दीर्घकाल तक साधुपर्याय पालने वाले अन्तकृत् साधक की कही गई है। उदाहरण प्रस्तुत किया गया है–भरत चक्रवर्ती का।[1]

---

१. (क) चत्तारि अंतकिरियाओ पण्णत्ताओ. तं जहा–तत्थ खलु पढमा अंतकिरिया–अप्पकम्म-पच्चायाते यावि भवति। से णं मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइए, संजमबहुले, संवरबहुले, समाहिबहुले लूहे तीरट्ठी उवहाणवं दुक्खक्खवे तवस्सी। तस्स णं णो तहप्पगारे तवे भवति, णो तहप्पगारा वेयणा भवति। तहप्पगारे पुरिसजाते दीहेणं परियाएणं सिज्झति, बुज्झति, मुच्चति परिणिव्वाति सव्वदुक्खाणमंतं करेइ; जहा से भरहे राया चाउरंत चक्कवट्टी। पढमा अंतकिरिया।

–स्थानांग, स्था. ४, उ. १, सू. १/१

भगवान ऋषभदेव के ज्येष्ठ-पुत्र भरत चक्रवर्ती षट्खण्डाधिपति सम्राट् थे। उनके पास अपार वैभव और ऋद्धि-समृद्धि थी। फिर भी राज्य-सम्पदा, सांसारिक सुखभोगों एवं वैभव के प्रति वे अनासक्त एवं निर्लिप्त थे। चक्रवर्ती भरत षट्खण्ड राज्य के अधिपति होते हुए स्वयं को स्वामी नहीं, पालक-पोषक एवं रक्षक मानते थे। इतनी निःस्पृहता थी भरत चक्रवर्ती के मन में।

एक बार भगवान ऋषभदेव ने धर्मोपदेश देते हुए कहा-"इतने विशाल साम्राज्य का स्वामी होते हुए भी भरत निर्लिप्त है, वह अल्पकर्मा और चरमशरीरी है, इसी भव में मोक्ष प्राप्त करेगा।" भगवान के इस कथन पर एक व्यक्ति को शंका हुई कि "भगवान भी अपने पुत्र का पक्ष लेते हैं। इतने विशाल साम्राज्य का स्वामी होते हुए भी भरत अल्पकर्मा और निर्लिप्त है और में अत्यन्त निर्धनता में जीवनयापन करने वाला महाकर्मा?"

चक्रवर्ती भरत को उस व्यक्ति की शंका का पता चला तो उन्होंने युक्तिपूर्वक उसकी शंका का निवारण करने हेतु उसे बुलाकर कहा-"लो, यह तेल से लबालब भरा कटोरा लेकर समूची अयोध्या नगरी में घूमकर आओ। तुम्हारे साथ ये चार संतरी नंगी तलवार लिये रहेंगे। यदि तेल की एक बूँद भी नीचे गिराई तो तुम्हारा सिर धड़ से अलग कर देंगे।" वह व्यक्ति राजाज्ञा के अनुसार विवश होकर नगरी में कहीं नृत्य-गीत, कहीं हास्य-विनोद एवं नाटक हो रहे थे, कहीं विभिन्न वस्तुओं से दुकानें सजी थीं। मगर उस चहल-पहल एवं राग-रंग की ओर बिलकुल न झाँककर, अपनी दृष्टि सारे रास्तेभर तेल के कटोरे में टिकाये रहा। जब वह सारी नगरी में परिक्रमा देकर लौटा तो चक्रवर्ती भरत ने पूछा-"कहो, शहर में तुमने कहाँ-कहाँ, क्या-क्या देखा?" वह बोला-"राजन् ! मेरी दृष्टि तो एकमात्र इस तेल के कटोरे पर ही केन्द्रित रही, अतः मैंने अन्य कुछ भी नहीं देखा, क्योंकि इससे दृष्टि हटते ही तेल की बूँद नीचे गिर जाती और मेरी मृत्यु निश्चित थी। इसलिए इस भय से मैं तो उसी पर दृष्टि टिकाये चलता रहा।" भरत ने इस पर से रहस्य खोलते हुए कहा- "बन्धु ! मैं भी इसी भाँति जी रहा हूँ। मेरी दृष्टि सिर्फ अपनी आत्मा पर केन्द्रित रहती है। अगर मैंने जरा भी इस पर से दृष्टि हटाकर राज्य, वैभव, भोग-विलास आदि पर-भावों पर आसक्तियुक्त दृष्टि लगाई कि कर्मबन्ध के कारण मेरे सिर पर भी जन्म-मरण का चक्र घूमने लगेगा। इसलिए मैं विशाल साम्राज्य, वैभव, सुखभोग के साधकों से स्वयं को निर्लिप्त रखकर अल्पकर्मा बनकर जी रहा हूँ।" चक्रवर्ती भरत की निर्लिप्त, अनासक्त और अल्पकर्मा होने की बात उसकी समझ में आ गई।

पिछले पृष्ठ का शेष-

(ख) स्थानांगसूत्र, विवेचन, स्था. ४, उ. १, सू. १

(ग) संयम और संवर समानार्थक प्रतीत होते हैं, किन्तु उनके स्वरूप में अन्तर है।

एक बार भरत चक्रवर्ती अपने शीशमहल में वस्त्राभूषणों से सुसज्जित होकर बैठे थे। सहसा उनके दाहिने हाथ की अँगूठी भूमि पर गिर पड़ी। उन्हें वह अँगुली शोभाहीन प्रतीत होने लगी। फिर उन्होंने एक-एक करके सभी आभूषण उतार डाले। बाहरी आभूषण हटते ही शरीर-सौन्दर्य फीका लगने लगा। सोचा—क्या इस शरीर की शोभा—सुन्दरता इन बाह्य आभूषणों से ही है? शरीर तो नाशवान्, असार और अनित्य है, इसके बाह्य सौन्दर्य का क्या मूल्य है? आन्तरिक सौन्दर्य ही वास्तविक है, स्थायी है, वह है आत्म-गुणों का—आत्म-भावों का ! यों अन्तर्मुखी बनकर चिन्तन करते-करते उन्हें केवलज्ञान (केवलबोधि) की प्राप्ति हुई। भावचारित्र की परिणति हो गई। तदनन्तर मुनिवेश धारण करके दीर्घकाल तक विचरण कर वे सुखपूर्वक अन्तःक्रिया करके सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हुए।

इस कथा पर से स्पष्ट है कि भरत चक्रवर्ती अनासक्त वृत्ति के अल्पकर्मा थे। उन्हें मोक्ष-प्राप्ति के लिए अन्तःक्रिया करने में न तो कठोर या दीर्घकालिक तप करना पड़ा और न ही घोर उपसर्ग या तीव्र वेदना सहनी पड़ी। सुखपूर्वक दीर्घकाल तक संयम-यात्रा करते हुए वे मोक्ष पहुँचे।[1]

दूसरी अन्तःक्रिया

दूसरी अन्तःक्रिया—यह पहली अन्तःक्रिया से ठीक विपरीत है। इस अन्तःक्रिया में कोई पुरुष बहुत भारी कर्मों के साथ मनुष्य-भव को प्राप्त होता है। फिर वह द्रव्यभाव से मुण्डित होकर घर-बार छोड़कर अनगारधर्म में प्रव्रजित हो जाता है। तत्पश्चात् संयम-बहुल, संवर-बहुल और समाधि-बहुल होकर रूक्ष (स्नेहराग से और आहारासक्ति से रहित) बना हुआ, वह तीरार्थी, उपधानवान्, दुःखक्षयकर्त्ता एवं बाह्य आभ्यन्तर तपस्वी होता है।

(इस प्रकार की अन्तःक्रियाकर्त्ता अल्पसमय की संयम-साधना में) घोर तपश्चरण और घोर (तीव्र) वेदना होती है, जिसे समभावपूर्वक सहन करके वह पुरुष अपनी अल्पकालिक साधुपर्याय में सर्वकर्मों का क्षय करके सिद्ध होता है, बुद्ध होता है, मुक्त होता है, परिनिर्वाण को प्राप्त होता है और समस्त दुःखों का अन्त कर डालता है।

तात्पर्य यह है कि इस अन्तःक्रिया में पूर्वबद्ध कर्मों की सघनता और प्रबलता होती है, किन्तु इस अन्तःक्रिया के साधक द्वारा उग्र तपश्चरण, कठोर उपसर्ग एवं परीषह का समभावपूर्वक सहन एवं निर्मल शुक्लध्यान की ऐसी तीव्र चोट पड़ती है

---

१. (क) 'आवश्यक मलयवृत्ति' में भरत चक्रवर्ती की कथा
(ख) 'अन्तकृद्दशा महिमा' से भावांश ग्रहण, पृ. १५-१६

कि अत्यल्प समय में ही कर्मों के सघन बन्धन क्षीण हो जाते हैं। इस अन्तःक्रिया के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है जैसे कि गजसुकुमाल अनगार।[1]

गजसुकुमाल की अन्तःक्रिया का संक्षिप्त वर्णन

श्रीकृष्ण वासुदेव ने अपने लघुबन्धु गजसुकुमाल को साथ लेकर भगवान अरिष्टनेमि के दर्शनार्थ जाते हुए, रास्ते में अपनी सखियों के साथ खेलती हुई सोमल-विप्र की कन्या सोमा को गजसुकुमाल के लिए उपयुक्त समझकर सोमल-विप्र की अनुमति से उसकी मँगनी (सगाई) अपने लघुबन्धु गजसुकुमाल के साथ कर ली।

परन्तु भगवान अरिष्टनेमि का धर्म-प्रवचन सुनते ही गजसुकुमाल की अन्तरात्मा प्रबुद्ध हो उठी। माता-पिता तथा श्रीकृष्ण भैया के बहुत मनाने पर भी उसके वैराग्य का दृढ़ रंग नहीं उड़ा। अन्ततोगत्वा सभी ने गजसुकुमाल के प्रबल विरक्तिपूर्ण आग्रह को मानकर दीक्षा की अनुमति दी। जिस दिन दीक्षित हुए उसी दिन तीसरे प्रहर में भगवान अरिष्टनेमि से बारहवीं भिक्षु-प्रतिमा की आराधना की। आज्ञा लेकर महाकाल नामक श्मशान में पहुँचे और वहाँ स्थानादि का प्रमार्जन-प्रतिलेखन करके एकाग्रचित्त होकर कायोत्सर्ग करके ध्यानस्थ खड़े हो गए। संध्या समय सोमिल-विप्र समिधा आदि यज्ञ सामग्री लेकर लौट रहा था कि श्मशान में मुण्डित मस्तक ध्यानस्थ खड़े हुए गजसुकुमाल को देखकर क्रोध से आगबबूला हो गया कि मेरी निर्दोष कन्या का जीवन क्यों बर्बाद किया? क्रोधान्ध सोमिल ने निकटवर्ती तालाब से गीली मिट्टी लाकर गजसुकुमाल मुनि के सिर के चारों ओर उसकी पाल बाँधी। फिर एक जलती हुई चिता से एक ठीकरे में धधकते अंगारे लाकर मुनि के मस्तक पर उँडेल दिये और चला गया। किन्तु मुनि के नव-मुण्डित मस्तक पर रखे अंगारों के घोर ताप से उनके मस्तक का रक्त उबलने लगा। अत्यधिक असह्य वेदना और पीड़ा उठी। परन्तु इस वेदना और पीड़ा के समय गजसुकुमाल मुनि एकाग्रचित्त होकर अपने समत्व और आत्म-ध्यान में स्थिर रहे। अपकारी के प्रति उन्होंने जरा भी दुर्भाव नहीं किया, उसे भी क्षमा कर दिया। आत्म-ध्यानलीन क्षमावतार गजसुकुमाल मुनि के द्वारा इस घोर उपसर्ग को समभाव

---

१. (क) अहावरा दोच्चा अंतकिरिया—महाकम्म-पच्चायाते यावि भवति। से णं मुंडे भवित्ता आगाराओ अणगारियं पव्वइए, संजमबहुले संवरबहुले (समाहिबहुले लूहे तीरट्ठी) उवहाणवं दुक्खक्खवे तवस्सी। तस्स णं तहप्पगारे तवे भवति, तहप्पगारा वेयणा भवति। तहप्पगारे पुरिसजाए णिरुद्धेणं परियाएणं सिज्झति (बुज्झति, मुच्चति परिणिव्वाति) सव्वदुक्खाणमंतंकरेति। जहा से गयसुकुमाले अणगारे—दोच्चा अंतकिरिया। *—स्थानांग, स्था. ४, उ. १, सू. १/२*

(ख) 'अन्तकृद्दशा महिमा' से भावांश ग्रहण, पृ. १७

(ग) स्थानांगसूत्र, विवेचन, स्था. ४, उ. १, सू. १/२ (आ. प्र. स., ब्यावर), पृ. २०२

से सहने से उनके पूर्वबद्ध सभी कर्मों के बन्धन टूट गए। वे अन्तःक्रिया करके सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हो गए। इस प्रकार गजसुकुमाल मुनि ने कुछ समय की संयम-पर्याय में ही भव का सदा के लिए अन्त कर दिया और अन्तःक्रिया में सफल हुए।[1]

तृतीय अन्तःक्रिया

तीसरी अन्तःक्रिया इस प्रकार है—कोई पुरुष अत्यधिक सघन कर्मों के सहित मनुष्य-भव को प्राप्त हुआ। फिर वह मुण्डित होकर गृह-त्यागकर अनगारधर्म में प्रविष्ट होता है तथा संवर-बहुल, संयम-बहुल और समाधि-बहुल होकर रूक्ष, तीरार्थी, उपधानवान्, दुःखक्षयकर्त्ता एवं बाह्यान्तर तपस्वी होता है अर्थात् तृतीय अन्तःक्रिया साधक अत्यधिक सघन कर्मों के सहित जन्म लेता है और दीर्घकालिक संयम-साधना में तीव्र वेदना भी (समभावपूर्वक) भोगता है एवं समस्त कर्मों का अन्त (नाश) कर देता है।

इस अन्तःक्रिया में कर्मों की सघनता होने से अन्तःक्रिया साधक के उस प्रकार का घोर तप भी होता है तथा उस प्रकार की तीव्र वेदना भी होती है। इस प्रकार का अन्तःक्रिया साधक व्यक्ति के दीर्घकालिक साधु-पर्याय का पालन करके वह सिद्ध-बुद्ध-मुक्त परिनिर्वाण को प्राप्त तथा सर्वदुःखों का अन्त करता है। तात्पर्य यह है कि इस अन्तःक्रिया में अत्यधिक भारी कर्म भी होते हैं, जिन्हें सर्वथा क्षय करने के लिए दीक्षा-पर्याय भी लम्बी होती है। वह दीर्घकाल तक वेदना का अनुभव करता है, उपसर्ग और परीषह (समभावपूर्वक) सहन करता है। इस प्रकार पूर्वबद्ध कर्मों के प्रबल बन्धन को तोड़ डालता है और अन्तःक्रिया करके सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हो जाता है। इसके उदाहरण के रूप में प्रस्तुत है—सनत्कुमार चक्रवर्ती। जिन्होंने दीर्घकाल तक संयम-पर्याय का पालन किया, विविध परीषह और उपसर्गों के कष्ट भोगे और समस्त कर्मों का अन्त करके सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हुए।[2]

सनत्कुमार चक्रवर्ती : दीर्घकर्मा—दीर्घसंयमकाल वाला

हस्तिनापुर के अश्वसेन नृप और सहदेवी रानी के आत्मज सनत्कुमार अपने पिता के दिवंगत हो जाने के पश्चात् हस्तिनापुर के राजसिंहासन पर बैठे। अपने

---

१. (क) अन्तकृद्दशांगसूत्र, वर्ग ३, अ. ८

(ख) 'अन्तकृद्दशा महिमा' से भाव ग्रहण, पृ. १७

२. (क) अहावरा तच्चा अंतकिरिया—महाकम्म-पच्चायाते यावि भवति। से णं मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइए, (संजमबहुले, संवरबहुले समाहिबहुले लूहे तीरट्ठी उवहाणवं दुक्खक्खवे तवस्सी। तस्स णं तहप्पगारे तवे भवति, तहप्पगारा वेयणा भवति। तहप्पगारे पुरिसजाते) दीहेणं परियाएणं सिज्झति (बुज्झति, मुच्चति परिणिव्वाति) सव्वदुक्खाणमंतं करेति। जहा—से सणंकुमारे राया चाउरंत चक्कवट्टी-तच्चा अंतकिरिया। *—स्थानांग, स्था. ४, उ. १, सू. १/३*

(ख) 'अन्तकृद्दशा महिमा' से भाव ग्रहण, पृ. १८

पुण्यबल एवं भुजबल से चक्रवर्ती पद पाया। सनत्कुमार चक्रवर्ती का शरीर-सौन्दर्य अनुपम था।

एक बार सौधर्मेन्द्र ने सनत्कुमार की रूप-सम्पदा की प्रशंसा की, जिसे सहन न कर सकने से दो विप्रवेशधारी देव उनकी वास्तविकता जानने हेतु आए। व्यायाम करके ज्यों ही सनत्कुमार बाहर आए, त्यों ही उन्हें देखकर विप्रवेशी देव बोले–"आपके अनुपम सौन्दर्य की जैसी चर्चा सुनी थी, उससे भी अधिक है आपकी रूप-सम्पदा।" चक्रवर्ती अपनी प्रशंसा गर्वस्फीत होकर बोले–"अभी तो मेरा रूप धूलि-धूसरित है, जब मैं स्नानादि करके वस्त्राभूषणों से सुसज्जित होकर राजसभा में सिंहासन पर बैठूँ, तब मेरे रूप को देखना।" विप्रवेशी देव स्वीकृतिसूचक सिर हिलाकर चले गए। जब चक्रवर्ती सिंहासनासीन होकर बैठे थे, तभी वे दोनों विप्रवेशी देव आए। उन्हें देखर चक्रवर्ती ने गर्वोन्मत्त होकर कहा–"अब देखो मेरा रूप ! बताओ, मेरा शरीर-सौन्दर्य कितना अनूठा लगता है?" दोनों ने सिर हिलाकर निःश्वास लेते हुए कहा–"राजन् ! अब वैसा रूप नहीं रहा। अब आपका शरीर सोलह भयंकर रोगों से आक्रान्त हो गया है। विश्वास न हो तो पीकदानी में थूककर देख लें।" चक्रवर्ती ने ऐसा ही किया और देखा तो अपने थूक में कीड़े कुलबुलाते हुए नजर आए। यह देख चक्रवर्ती का रूपगर्व बिलकुल उतर गया। शरीर को क्षणभंगुर और असार जानकर वे विरक्त होकर मुनिधर्म में प्रव्रजित हो गए। अब उन्हें ज्ञानादि चतुष्टय की निर्दोष निरतिचार आराधना-साधना से कई लब्धियाँ प्राप्त हो गईं, वे चाहते तो रोगों को मिटा सकते थे। परन्तु उन्होंने रोगों के साथ मैत्रीभाव स्थापित किया और सोचा–रोग मेरे आत्म-कल्याण में कर्मक्षय करने में मित्र–सहायक हैं। इन्हें समभाव से भोगने से ही मेरी कर्मनिर्जरा होगी। अतः शरीर से निरपेक्ष होकर रोगों की असह्य वेदना भोगते हुए वे ज्ञानादि पंचाचार में तल्लीन रहे। वे दोनों देव इन्द्र के मुख से उनकी तितिक्षा की प्रशंसा सुनकर पुनः परीक्षा के लिये वैद्य का रूप बनाकर आए और कहने लगे–"मुनिवर ! हम वैद्य हैं। आपके रोगों की चिकित्सा करके आपको स्वस्थ कर देंगे।" सनत्कुमार मुनि बोले–"वैद्यो ! मुझे शरीर के रोगों की चिन्ता नहीं है, उन्हें तो मैं जब चाहूँ तभी मिटा सकता हूँ। मैं कर्मरोगों को मिटाने में अहर्निश जुटा हुआ हूँ। कर्मरोगों को आप मिटा नहीं सकते।" यों कहकर उन्होंने अपनी एक अंगुलि पर थूक लगाया तो वह रोगरहित होकर चमकने लगी। यह देख दोनों आश्चर्यचकित देव अपने मूलरूप में प्रगट हुए और मुनि को वन्दन करके उनकी समाधि और तितिक्षा की भूरि-भूरि प्रशंसा करके चले गए। इस प्रकार सनत्कुमार मुनि ने ७०० वर्षों तक बाह्याभ्यन्तर तपश्चरण और समभावपूर्वक वेदना सहन की और सर्वकर्मक्षय करके अन्तःक्रिया की एवं सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हुए। इस प्रकार पूर्वबद्ध गुरुतर सघन कर्मों के सहित आए सनत्कुमार ने दीर्घकाल तक साधु-पर्याय

में रहकर तपश्चरणपूर्वक दीर्घकाल तक तीव्र वेदना सहन की, सर्वकर्मों का क्षय किया, यह तीसरी अन्तःक्रिया का उदाहरण है।[1]

चतुर्थ अन्तःक्रिया

चौथी अन्तःक्रिया इस प्रकार है–जिसमें कोई मनुष्य अत्यल्प कर्मों के सहित मनुष्य-भव को प्राप्त होता है। फिर वह मुण्डित होकर (या मन-वचन-काया के योगों के निरोधरूप संयम ग्रहण कर) (गृह-त्यागकर अनगारत्व–भाव-संयम–ग्रहण कर प्रव्रजित होता है) संयम-बहुल, संवर-बहुल, समाधि-बहुल, रूक्ष, तीरार्थी, उपधानवान्, सर्वदुःखक्षयी एवं तपस्वी होता है।

उसके न तो इस प्रकार का घोर तप होता है और न इस प्रकार की घोर वेदना होती है। इस प्रकार का व्यक्ति अल्पकालिक संयम-पर्याय (मन-वचन-काया के योग-निरोधरूप भाव-संवर) से सिद्ध, बुद्ध, मुक्त होता है, परिनिर्वाण को प्राप्त होता है और सर्वदुःखों का अन्त कर देता है। जैसे कि भगवती मरुदेवी। यह चौथी अन्तःक्रिया है।

आशय यह है कि इस चतुर्थ अन्तःक्रिया में न तो अधिक तपश्चरण होता है, न ही किसी प्रकार की वेदना भोगनी पड़ती है, न दीर्घकाल तक संयम-पर्याय का पालन करना पड़ता है। यहाँ तक कि केवलज्ञान-पर्याय भी अधिक समय तक नहीं रहती, कैवल्य-प्राप्ति के पश्चात् शीघ्र ही आयु पूर्ण होने से वह व्यक्ति अन्तःक्रिया करके सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हो जाता है। इस अन्तःक्रिया के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत है–भगवती मरुदेवी माता की अन्तःक्रिया। माता मरुदेवी ने किंचित् भी कष्ट नहीं भोगा। यहाँ तक कि व्यवहारदृष्टि से प्रव्रज्या भी ग्रहण नहीं की, केवल भावदीक्षित = भावसंयमी रहीं और मुक्त हो गईं।[2]

भगवती मरुदेवी युगादि तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव की जननी थीं। भगवान ऋषभदेव ने जब समाज-व्यवस्था और राज्य-व्यवस्था स्थापित करने के पश्चात् श्रमण दीक्षा ग्रहण कर ली और गृह-त्याग करके चले गए। तब से माता मरुदेवी अपने पुत्र ऋषभदेव की चिन्ता में व्यथित–चिन्तित रहने लगीं। बार-बार अपने पौत्र भरत (चक्रवर्ती) से ऋषभदेव के समाचार जानने के लिए उत्सुक रहतीं। जब यह समाचार ज्ञात हुआ कि ऋषभदेव को केवलज्ञान प्राप्त हो गया और वह विनीता नगरी के बाह्य भाग में विराजमान हैं, तो मरुदेवी की उनसे मिलने की उत्सुकता और बढ़ गई। वह हाथी पर सवार होकर ऋषभदेव से मिलने हेतु सहर्ष–सोत्साह चल पड़ीं।

---

१. (क) देखें–उत्तराध्ययनसूत्र के १८वें अध्ययन में सनत्कुमार चक्रवर्ती की कथा
(ख) 'अन्तकृद्दशा महिमा' से भाव ग्रहण, पृ. १९-२०

२. (क) वही, पृ. २१-२२
(ख) स्थानांगसूत्र, विवेचन, स्था. ४, उ. १ (आ. प्र. समिति, ब्यावर), पृ. २०२

वहाँ समवसरण में भगवान ऋषभदेव को देवों और मनुष्यों के अपार समूह के बीच विराजमान देखा तो समवसरण की शोभा और तीर्थंकरोचित वैभव एवं ऐश्वर्य का चिन्तन करते-करते मरुदेवी अन्तर की गहराई में डूब गईं। सांसारिक सम्बन्धों की निःसारता की अनुभूति होने लगी। मोह नष्ट हो गया। धर्मध्यान का चिन्तन करते-करते शुक्लध्यान की क्षपक श्रेणी पर आरूढ़ हो गईं। चार घातिकर्मों के क्षय के साथ-साथ कैवल्य-प्राप्ति हुई। कैवल्य-प्राप्ति के कुछ क्षण बाद ही शेष चार अघातिकर्म भी नष्ट हो गए और वे अन्तःक्रिया करके सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हो गईं।

मरुदेवी माता अत्यल्पकर्मा थीं, उन्हें तनिक भी वेदना का अनुभव नहीं हुआ, न ही अधिक काल तक भावसंयम में रहना पड़ा। भगवान ऋषभदेव ने कहा– "मरुदेवी सिद्ध हो गई। इस अवसर्पिणीकाल की वे प्रथम विदेहमुक्त सिद्ध हैं।" यह चतुर्थ अन्तःक्रिया का उदाहरण है।[1]

सर्वकर्ममुक्त चारों अन्तःक्रियाओं में से किसी एक से हुए हैं, होंगे

उत्तराध्ययनसूत्र, औपपातिक, अनुत्तरोपपातिक, प्रज्ञापना, भगवतीसूत्र तथा अन्तकृद्दशांगसूत्र आदि आगमों में वर्णित जो भी व्यक्ति आज तक सर्वकर्ममुक्त होकर सिद्ध-बुद्ध हुए हैं, भविष्य में होंगे अथवा वर्तमान में जो अन्तःक्रिया की साधना कर रहे हैं, वे सब उक्त चार कोटि की अन्तःक्रियाओं में से किसी भी एक प्रकार की अन्तःक्रिया करके ही मुक्त हुए हैं और भविष्य में होंगे।[2]

कर्मविदारण में वीर साधक भी मोक्षाभिमुखी बनकर अन्तःक्रिया करते हैं

'सूत्रकृतांगसूत्र' में कहा है–"ऐसे कर्म का विदारण करने में समर्थ बहुत-से वीर साधक भूतकाल में हो चुके हैं, भविष्य में भी उत्तम संयम का अनुष्ठान करने वाले बहुत-से साधक होंगे, वर्तमान में भी वैसे वीर साधक हैं, जिन्होंने दुःख से प्राप्त करने योग्य सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग की अन्तिम सीमा (पराकाष्ठा) पर पहुँचकर दूसरों के समक्ष उस मार्ग को प्रकाशित किया एवं पूर्वकथित मोक्षाभिमुखी बनकर स्वयं उसका आचरण किया और संसार-सागर से पार हुए हैं, हो रहे हैं और होंगे।"[3]

---

१. (क) देखें–जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, उसहचरियं, त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित में माता मरुदेवी का जीवन-वृत्तान्त

(ख) 'अन्तकृद्दशा महिमा' से भाव ग्रहण, पृ. २१-२२

२. स्थानांगसूत्र, विवेचन, स्था. ४, उ. १ (आ. प्र. स., ब्यावर), पृ. २०२-२०३

३. (क) *अभविंसु पुरा धीरा, आगमिस्सा हि सुव्वया।*

दुन्निबोहस्स मग्गस्स, अंते पाउकरा तिन्ने॥ *–सूत्रकृतांग, श्रु. १, अ. १५, गा. २५*

सर्वोत्तम संयम की आराधना करके कतिपय उच्च साधक अन्तःक्रिया कर लेते हैं

काश्यपगोत्रीय भगवान महावीर द्वारा कथित संयम नामक सर्वोत्तम प्रधान स्थान की आराधना करके पाप से निवृत्त और शुभ क्रिया में प्रवृत्त कतिपय धीर पुरुषों ने कषायाग्नि को प्रशान्त किया, शीतल बने और अन्त में, संसार-चक्र का अन्त करने में समर्थ हुए। इस प्रकार जन्म-मरण के अन्तरूप अन्तःक्रिया करके सिद्धि = सर्वकर्ममुक्ति प्राप्त कर लेते हैं।[1]

ये विशुद्ध आत्मा भी अन्तःक्रिया करके उच्च भूमिका पर पहुँच जाते हैं

जो महापुरुष विशुद्ध अन्तःकरण वाले हैं, राग-द्वेषरहित हैं, केवलज्ञान-सम्पन्न हैं, सारे जगत् को हस्तामलकवत् देखते हैं, परहितरत रहते हैं, वे आयतचारित्र होने से धर्म-परिपूर्ण हैं, समस्त उपाधियों से रहित होने से शुद्ध हैं या यथाख्यात चारित्रात्मा हैं एवं जो सबसे उत्तम और उत्कृष्ट है, उस धर्म का कथन और आचरण करते हैं। ऐसे अन्तःक्रियोधत महापुरुष एक दिन अन्तःक्रिया करके उस स्थान को या उस परमात्म पद को प्राप्त कर लेते हैं, जो समस्त द्वन्द्वों, दुःखों, क्लेशों से रहित हैं। वह स्थान अन्तःक्रिया करने वाले ऐसे अनुपम ज्ञानदर्शन-चारित्र-सम्पन्न महापुरुष को मिला करता है। जो इतनी उच्च भूमिका पर पहुँच जाते हैं, उनके लिए पुनः जन्म लेने की बात तो सोची ही नहीं जा सकती। जिनका जन्म नहीं होता, उनका मरण तो होता ही नहीं। क्योंकि उनके कर्मबीज नष्ट हो चुके हैं।[2]

मनुष्य के सिवाय दूसरे जीवों में भी अन्तःक्रिया की योग्यता : अनन्तरागत और परम्परागत

उपर्युक्त तथ्यों तथा प्रज्ञापनासूत्र सूत्रकृतांगसूत्र, स्थानांगसूत्र एवं अन्तकृद्दशासूत्र से यह स्पष्ट है कि अमुक-अमुक योग्यता वाले मनुष्य (नर-नारी)

पिछले पृष्ठ का शेष–

(ख) सूत्रकृतांग, विवेचन (आ. प्र. स., ब्यावर), श्रु. १, अ. १५, गा. २५ की अमरसुखबोधिनी व्याख्या, पृ. ९८०

१. (क) अणुत्तरे य ठाणे से, कासवेण पवेइए।
जं किच्चा णिव्वुडा एगे, णिट्ठं पावंति पंडिया॥ *–सूत्रकृतांग, श्रु. १, अ. १५, गा. २१*

(ख) सूत्रकृतांग, अमरसुखबोधिनी व्याख्या, श्रु. १, अ. १५, गा. २१ की व्याख्या, पृ. ९७७

२. (क) जे धम्मं सुद्धमक्खंति, पडिपुन्नमणेलिसं।
अणेलिसस्स जं मणं, तस्स जम्मकहा कओ? *–सूत्रकृतांग, श्रु. १, अ. १५, गा. १९*

(ख) सूत्रकृतांग, अमरसुखबोधिनी व्याख्या, श्रु. १, अ. १५, गा. १९ की व्याख्या, पृ. ९७५

ही अन्तःक्रिया कर सकते हैं। स्थानांगसूत्रोक्त चतुर्विध अन्तःक्रिया की प्रक्रिया में यह बताया गया है कि कोई जीव अल्पकर्मा होकर मनुष्य-जन्म प्राप्त करता है, कोई दीर्घ-सघनकर्मा होकर इत्यादि भिन्नताओं पर से यह प्रश्न उठता है कि वे अन्तःक्रिया करने वाले मनुष्य किस गति या योनि से आकर मनुष्य-भव में अन्तःक्रिया कर सकते हैं? तथा ऐसे कौन-से जीव हैं, जो अपने वर्तमान-भव से सीधे ही मनुष्य-भव में आकर अन्तःक्रिया कर सकते हैं? अथवा ऐसे भी कौन-से जीव हैं, जो अपने वर्तमान-भव से कई अन्य भवों में जन्म लेकर फिर किन्हीं पुण्यकर्मोदयवश मनुष्य-भव प्राप्त करके अन्तःक्रिया कर सकते हैं? इन तीनों प्रश्नों का समाधान प्रज्ञापनासूत्र में बहुत ही युक्तिपूर्वक किया गया है। प्रज्ञापनासूत्र के अन्तःक्रियापद (२०वें) के अनन्तरद्वार में दो शब्द इसके लिए प्रयुक्त किये गए हैं–अनन्तरागत अन्तःक्रिया और परम्परागत अन्तःक्रिया। जो जीव नरक, तिर्यंच या देव आदि में से व्यवधानरहित सीधे मनुष्यरूप में जन्म लेकर अन्तःक्रिया करते हैं–उनकी अन्तःक्रिया को अनन्तरागत अन्तःक्रिया कहा जाता है और जो जीव नरक आदि भवों से निकलकर तिर्यंच आदि दो-तीन या अनेक भव करके फिर मनुष्य-भव में उत्पन्न होकर अन्तःक्रिया करते हैं, उनकी अन्तःक्रिया को परम्परागत अन्तःक्रिया कहा जाता है।[१]

कौन अनन्तरागत अन्तःक्रिया करता है, कौन परम्परागत ?

यह शास्त्र-सम्मत तथ्य है कि मोक्ष-प्राप्तिरूपा अन्तःक्रिया केवल मनुष्य-भव में ही हो सकती है। इसलिए अन्तःक्रियापद के द्वितीय अनन्तरद्वार में नारक से लेकर वैमानिक तक चतुर्विंशति-दण्डकवर्ती जीवों के विषय में प्रश्न है कि वे नारक आदि जीव जो मोक्ष-प्राप्तिरूपा अन्तःक्रिया करते हैं, वे नारकादि भव से मरकर व्यवधानरहित सीधे मनुष्य-भव में आकर **अनन्तरागत अन्तःक्रिया** करते हैं या नारकादि भव के बाद एक या अनेक भव करके फिर मनुष्य-भव में आकर **परम्परागत अन्तःक्रिया** करते हैं? यह प्रज्ञापनासूत्रोक्त इन सभी सूत्रगत प्रश्नों का आशय है।

इन सब प्रश्नों का समाधान इस प्रकार किया गया है कि "समुच्चय रूप से नारक जीव दोनों प्रकार से मोक्ष-प्राप्तिरूपा अन्तःक्रिया करते हैं अर्थात् नरक से सीधे मनुष्य-भव में आकर (जन्म लेकर) भी अन्तःक्रिया करते हैं और नरक से निकलकर तिर्यंच आदि के भव करके फिर मनुष्य-भव में आकर भी अन्तःक्रिया करते हैं। किन्तु विशेष रूप से रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, वालुकाप्रभा और पंकप्रभा, इन चारों नरक भूमियों के नारक अनन्तरागत अन्तःक्रिया भी करते हैं, परम्परागत

---

१. देखें–प्रज्ञापनासूत्र के २०वें अन्तःक्रियापद के द्वितीय अनन्तरद्वार का विश्लेषण, खण्ड २, पृ. ३८२

अन्तःक्रिया भी। शेष तीन (धूमप्रभा, तमःप्रभा और तमस्तमःप्रभा) नरकभूमियों के नारक केवल परम्परागत अन्तःक्रिया करते हैं। इसका कारण भी पहले बताया जा चुका है।

असुरकुमार (भवनपति देव) से लेकर स्तनितकुमार तक १० प्रकार के भवनपति देव तथा पृथ्वीकायिक, अप्कायिक और वनस्पतिकायिक, ये तीन प्रकार के एकेन्द्रिय जीव अनन्तरागत और परम्परागत दोनों प्रकार से अन्तःक्रिया करते हैं। तेजस्कायिक, वायुकायिक जीव मरकर सीधे मनुष्य होते ही नहीं, इस कारण और तीन विकलेन्द्रिय (द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय) जीव भव-स्वभाव के *कारण परम्परागत अन्तःक्रिया* ही कर पाते हैं। अर्थात् ये जीव सीधे मनुष्य-भव में आकर अन्तःक्रिया नहीं कर सकते। ये अपने-अपने भव से निकलकर तिर्यंचादि भव करके फिर मनुष्य-भव में आकर अन्तःक्रिया कर सकते हैं। इनके अतिरिक्त पंचेन्द्रिय तिर्यंच, मनुष्य, वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक देवों में से जिनकी पूर्वोक्त प्रकार की योग्यता होती है, वे अनन्तरागत अन्तःक्रिया करते हैं और जिनकी योग्यता नहीं होती, वे परम्परागत अन्तःक्रिया करते हैं। इस सम्बन्ध में पूर्वोक्त युक्ति ही समझनी चाहिए।[1]

जो जीव नारकों आदि में से निकलकर मनुष्य-पर्याय पाकर अनन्तरागत या परम्परागत अन्तःक्रिया करते हैं, उनकी पूर्वभविक योग्यता के विषय में प्रज्ञापनासूत्र में थोड़ी-सी झाँकी दी गई है। उसका सारांश यह है कि नारक-जीव नारकों में से निकलकर सीधा नारकों में, भवनपति देवों में और विकलेन्द्रियों में उत्पन्न नहीं हो सकता। उसका कारण पूर्वोक्त ही है। प्रज्ञापनानुसार वह नारकों में से निकलकर सीधा तिर्यंच-पंचेन्द्रियों और मनुष्यों में उत्पन्न हो सकता है। तिर्यंच-पंचेन्द्रिय और मनुष्य में उत्पन्न होने वाले भूतपूर्व नारकों में से कोई-कोई जीव केवलि-प्रज्ञप्त धर्म-श्रवण, केवल (शुद्ध) बोधि, श्रद्धा, प्रतीति, रुचि, आभिनिबोधिक (मति) ज्ञान, श्रुतज्ञान तथा शीलव्रत-गुणव्रत, विरमण-प्रत्याख्यान-पौषधोपवास-ग्रहण एवं अवधिज्ञान तक प्राप्त कर सकते हैं; किन्तु मनुष्यों में उत्पन्न होने वाले भूतपूर्व नारकों में से कोई-कोई इससे आगे बढ़कर अनगारत्व, मनःपर्यायज्ञान, केवलज्ञान और सिद्धत्व को भी प्राप्त कर सकते हैं अर्थात् वे सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हो सकते हैं, सर्वदुःखों का अन्त कर सकते हैं।[2]

---

१. (क) प्रज्ञापनासूत्र, खण्ड २, पद २०, द्वार २, सू. १४१०-१४१३

(ख) देखें—प्रज्ञापनासूत्र, विवेचन (आ. प्र. स., ब्यावर), खण्ड २, पद २०, द्वार २, पृ. ३८२-३८३

२. (क) प्रज्ञापनासूत्र, खण्ड २, पद २०, द्वार ४ (उद्वृत्तद्वार), सू. १४२०/१-८; १४२१/१-५

(ख) प्रज्ञापनासूत्र, विवेचन, खण्ड २, पद २०, द्वार ४, सू. १४२०-१४२१, पृ. ३८९

तीर्थंकरपद-प्राप्ति किनको होती है, किनको नहीं ?

इसके अतिरिक्त नारकों और वैमानिक देवों में से मरकर सीधा मनुष्य होने वाला जीव तीर्थंकरपद भी प्राप्त कर सकता है, तीर्थंकरपद-प्राप्ति के बाद केवलज्ञान, अन्तःक्रिया और मोक्ष-प्राप्ति निश्चित है। परन्तु रत्नप्रभादि तीन नरक पृथ्वी के जिस नारक ने पूर्वकाल में तीर्थंकर नामकर्म का बन्ध किया है और बाँधा हुआ वह कर्म उदय में आया है, वही आदि के तीन नरकों का नारक तीर्थंकरपद प्राप्त कर सकता है, जिसने पूर्वकाल में तीर्थंकर नामकर्म का बंध ही नहीं किया अथवा बंध करने पर भी जिसके उक्त कर्म का उदय नहीं हुआ, वह तीर्थंकरपद प्राप्त नहीं कर पाता। पंक, धूम, तमः और तमस्तमः इन अन्तिम चार नरकपृथ्वियों के नारक अपने-अपने भव से निकलकर तीर्थंकरपद प्राप्त नहीं कर सकते, किन्तु वे चार क्रमशः अन्तःक्रिया (मोक्ष-प्राप्ति) सर्वविरति, देशविरति चारित्र तथा सम्यक्त्व मनुष्य-भव में आकर प्राप्त कर सकते हैं। असुरकुमार आदि से लेकर वनस्पतिकायिक दण्डकवर्ती जीव अपने-अपने भव से निकलकर मनुष्य-भव में आकर सीधे तीर्थंकरत्व प्राप्त नहीं कर सकते, वे अन्तःक्रिया कर सकते हैं।[1]

किनकी, कहाँ उत्पत्ति और क्या उपलब्धि सम्भव/असम्भव ?

नारकों के भव-स्वभाव के कारण वे नैरयिकों में से मरकर सीधे नैरयिकों में तथा भवनपति, वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक देवों में उत्पन्न नहीं होते; क्योंकि नैरयिकों के नैरयिक-भव या देव-भव का आयुष्यबन्ध होना असम्भव है। इसी तरह पृथ्वीकायिक जीव नारकों और देवों में सीधे उत्पन्न नहीं होते, क्योंकि उनमें विशिष्ट मनोद्रव्य सम्भव नहीं होता, इस कारण इनमें तीव्र संक्लेश एवं विशुद्ध अध्यवसाय नहीं हो सकता। मनुष्यों में उत्पन्न होने पर ये अन्तःक्रिया भी कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त असुरकुमारादि दशविध भवनपति देव पृथ्वी-वायु-वनस्पति में उत्पन्न होते हैं। उधर ईशान (द्वितीय) वैमानिक देव तक में उनकी उत्पत्ति होती है। इन दोनों में उत्पन्न होने पर वे केवलि-प्रज्ञप्त धर्म-श्रवण नहीं कर सकते। शेष सब बातें नैरयिकों के समान समझ लेनी चाहिए। तेजस्कायिक और वायुकायिक ये दोनों जीव सीधे मनुष्यों में उत्पन्न नहीं हो सकते, क्योंकि इनके परिणाम संक्लिष्ट होने से इनके मनुष्यगति, मनुष्यानुपूर्वी और मनुष्यायु का बन्ध होना असम्भव होता है। किन्तु ये तिर्यंच-पंचेन्द्रियों में उत्पन्न

---

१. (क) प्रज्ञापनासूत्र, २०वाँ अन्तःक्रियापद, द्वार ५ (तीर्थंकरद्वार), सू. १४४४-१४५८
   (ख) प्रज्ञापना, मलयवृत्ति पत्र ४०३
   (ग) प्रज्ञापना, प्रमेयबोधिनी टीका, भा. ४, पृ. ५५५
   (घ) प्रज्ञापना, विवेचन, खण्ड २, पद २०, द्वार ५, सू. १४४४-१४५८, पृ. ४०२-४०३

होकर श्रवणेन्द्रिय प्राप्त होने से केवलि-प्रज्ञप्त धर्म-श्रवण कर सकते हैं, मगर संक्लिष्ट परिणाम होने से कैवलिकी (केवलि प्ररूपित) बोधि (बोध) प्राप्त नहीं कर सकते। द्वि-त्रि-चतुरिन्द्रिय जीव, पृथ्वीकायिकों के समान देवों और नारकों को छोड़कर शेष समस्त स्थानों में उत्पन्न हो सकते हैं। ये तथाविध भव-स्वभाव के कारण अन्तःक्रिया नहीं कर पाते; किन्तु मनुष्यों में उत्पन्न होने पर वे अनगार बनकर मनःपर्यवज्ञान तक प्राप्त कर सकते हैं।[1]

अनन्तरागत या परम्परागत अन्तःक्रिया करने वालों की योग्यता, क्षमता और उपलब्धि का क्रम

इसके अतिरिक्त भगवतीसूत्र में तथा स्थानांगसूत्र में उपासना से लेकर अक्रियासिद्धि (अन्तःक्रिया से मोक्ष-प्राप्ति) तक के उत्तरोत्तर फल का निर्देश किया गया है, वह भी इसी तथ्य को उजागर करता है कि नारकादि भवों से भी आगामी मनुष्य-भव में अनन्तरागत या परम्परागत अन्तःक्रिया करने वाले जीव में उपासना, श्रवण, ज्ञान, विज्ञान (सम्यक्त्व) आदि की योग्यता होगी तो वह चाहे लघुकर्मा हो, गुरुकर्मा हो या गुरुतरकर्मा हो देर-सवेर से अन्तःक्रिया करके सिद्ध-बुद्ध-मुक्त और परिनिर्वृत हो सकता है। भगवतीसूत्र में तथा स्थानांगसूत्र में उपासना से अक्रिया और सिद्धि (मुक्ति-प्राप्ति) तक के उस पाठ का भावार्थ इस प्रकार है—"भंते ! तथारूप श्रमण अथवा माहन की पर्युपासना करने वाले को उस पर्युपासना का क्या फल मिलता है?" "गौतम ! पर्युपासना का फल सद्धर्म-श्रवण है।" "भंते ! धर्म-श्रवण का क्या फल है?" "धर्म-श्रवण का फल ज्ञान (सम्यग्ज्ञान) की प्राप्ति है।" "भंते ! ज्ञान-प्राप्ति का क्या फल होता है?" "ज्ञान-प्राप्ति का फल विज्ञान (उपादेय-हेय के विवेक अथवा सम्यग्दृष्टि) की उपलब्धि है।" "भंते ! विज्ञान-प्राप्ति का क्या फल होता है?" "विज्ञान-प्राप्ति का फल प्रत्याख्यान (हिंसादि पापों का त्याग करना) है।" "भंते ! प्रत्याख्यान का क्या फल है?" "प्रत्याख्यान का फल संयम है।" "भंते ! संयम का क्या फल है?" "संयम का फल है—अनास्रव (कर्मों के आस्रव का निरोध)।" "भंते ! अनास्रव का क्या फल होता है?" "अनास्रव का फल तप है।" "भंते ! तप का क्या फल होता है?" "तप से व्यवदान (कर्मनिर्जरा) होता है।" "भंते ! व्यवदान का क्या फल होता है?" "व्यवदान (उत्कृष्ट सकामनिर्जरा से समस्त कर्मों का क्षय होने) से अक्रिया (अर्थात् अन्तःक्रिया = कर्मों का सर्वथा क्षय हो जाने से मन-वचन-काया

---

१. (क) प्रज्ञापना, खण्ड २, पद २०, द्वार ४ (उद्वृत्तद्वार), सू. १४१७-१४४३

(ख) प्रज्ञापना, विवेचन (आ. प्र. स., ब्यावर), खण्ड २, पद २०, द्वार ४, सू. १४१७-१४४३, पृ. ३९८

(ग) प्रज्ञापना, मलय. वृत्ति, पत्र ४००-४०२

के योगों का पूर्ण निरोध = अयोग स्थिति) प्राप्त होती है।" "भंते ! अक्रिया से क्या फल प्राप्त होता है?" इसके उत्तर में 'भगवतीसूत्र' में तो सीधा उत्तर दिया गया है–"अक्रियावस्था से सिद्धि (मुक्ति) प्राप्त होती है। जिससे जन्म-मरणादि, समस्त शरीरादि तथा कर्मों का अवसान (अन्त) हो जाता है।" 'स्थानांगसूत्र' में बताया है–"अक्रिया का फल निर्वाण है।" "भंते ! निर्वाण का क्या फल है?" "आयुष्मन् श्रमण ! निर्वाण का फल सिद्धिगति (सर्वकर्ममुक्ति) को प्राप्त करके संसार-परिभ्रमण (जन्म-मरणादि) का अन्त करना है।" 'भगवतीसूत्र' में इस प्रश्नोत्तरी के अन्त में उत्तरोत्तर उत्कृष्ट फल-प्राप्तिसूचक एक गाथा दी गई है–

"सवणे णाणे य विण्णाणे पच्चक्खाणे य संजमे।
अणण्हए तवे चेव, वोदाणे अकिरिया सिद्धी॥"[1]

यहाँ दोनों प्रकार से अन्तःक्रिया (अक्रिया) करने वाले नारक, तिर्यंच, मनुष्य और देव; चारों गतियों एवं योनियों के तथा एकेन्द्रिय एवं विकलेन्द्रिय जीवों की उपलब्धियों के सम्बन्ध में विचार करने पर पूर्व पृष्ठ में चतुर्विंशति दण्डकवर्ती जीवों की योग्यता, क्षमता और उपलब्धियों के विषय में की गई प्ररूपणा के साथ संगति बैठ जाती है। एकेन्द्रिय श्रवण नहीं कर सकते, किन्तु भावमन से विचार कर सकते हैं। ज्ञानांश होता है, उनमें भी। विकलेन्द्रिय भी श्रवणेन्द्रिय न होने से भले ही श्रवण न कर सकें, उनमें भी ज्ञान हो सकता है। बाकी तिर्यंच पंचेन्द्रियों–उपासना, श्रवण आदि से लेकर प्रत्याख्यान तक की उपलब्धि हो सकती है। देवों में उपासना, श्रवण, ज्ञान, विज्ञान तक की उपलब्धि हो सकती है। नारकों में भी क्षायिक सम्यक्त्व तक की उपलब्धि हो सकती है। और मनुष्यों में तो उपासना से लेकर अकिरिया सिद्धि तक की उपलब्धि और क्षमता प्राप्त हो सकती है। किन्तु अन्तःक्रिया करने वाले तथारूप मनुष्य ही हो सकते हैं, बशर्ते कि उनमें पूर्व पृष्ठों में उक्त अर्हताएँ हों और अन्तःक्रिया के पश्चात् तो मोक्ष-प्राप्ति अवश्यम्भावी है ही।

● ●

---

१. (क) देखें–भगवतीसूत्र, श. २, उ. ५, सू. १११ में वह पाठ
(ख) देखें–स्थानांगसूत्र, स्था. ३, उ. ३, सू. ४१८ तथा उस पाठ का अर्थ, भावार्थ (आ. प्र. स., ब्यावर), पृ. १६८-१७०

१७

अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान से प्रमत्त संयत गुणस्थान तक–

मुक्ति के आध्यात्मिक सोपान

मुक्ति की साधना के सोपान : एक चिन्तन

मुमुक्षु और आत्मार्थी साधक का अन्तिम लक्ष्य मुक्ति, सिद्धि, मोक्ष या अपवर्ग है। मुक्ति का अर्थ है--आत्मा के साथ लगे हुए पर-भावों, विभावों या कर्म-पुद्‌गलों से आत्मा का सर्वथा पृथक् हो जाना या आत्मा का अपने शुद्ध स्वरूप में अवस्थित हो जाना। किन्तु चाहे व्यक्ति सम्यग्दृष्टि हो, देशविरत हो, सर्वविरत हो, अप्रमत्त संयत हो, चाहे इससे भी उच्च दशम गुणस्थान तक में स्थित ही हो, जब तक संसारदशा में है, तब तक तन, मन, वाणी, बुद्धि, हृदय, इन्द्रियों से तथा विभिन्न सजीव-निर्जीव पदार्थों से उसका एक या दूसरे प्रकार से वास्ता पड़ेगा ही, भोजन, वस्त्र, मकान तथा अन्य उपकरणों आदि निर्जीव पदार्थों तथा परिवार, ग्राम, नगर, संघ, सम्प्रदाय, समाज, प्रान्त, राष्ट्र या अन्य राष्ट्रों, अन्य धर्म-सम्प्रदायों आदि के सजीव व्यक्तियों से भी एक या दूसरे प्रकार से संयोग भी आएगा। अतः इनसे (पर-पदार्थों से) अलग-थलग रहकर यों किनाराकसी करके व्यक्ति एकान्त जगह में, अकेला, प्रच्छन्न, मौन और शान्त होकर एक कोने में दुबककर कैसे बैठ जाएगा? ऐसी स्थिति में कोई भी मुमुक्षु साधक अपनी आत्मा से पर-भावों तथा कषायादि या राग-द्वेषादि विभावों (विकारों) को कैसे सर्वथा दूर कर सकेगा? अथवा आत्मा को शरीर और शरीर से सम्बद्ध सजीव-निर्जीव वस्तुओं से कैसे पृथक् कर सकेगा? अथवा स्वभाव को विभावों या पर-भावों से कैसे भिन्न कर सकेगा? अथवा तहदिल से, सर्वतोभावेन तलवार से म्यान की तरह आत्म-भाव और अनात्म-भाव की पृथकता का कैसे अनुभव प्राप्त कर सकेगा? भेदविज्ञान करके आत्मा में स्थायी स्थिरता कब और कैसे कर सकेगा? पर-भावों और विभावों, इन्द्रिय-विषयों के प्रति आसक्ति और अनासक्ति, कषायों-नोकषायों तथा राग-द्वेष-मोह, ईर्ष्या, मत्सर, मद आदि विभावों (मनोविकारों) के प्रति लगाव को सर्वथा दूर करके शुद्ध आत्म-भाव में एकाग्रता, रमणता या स्थिरता कैसे और किस क्रम से साधना करने से प्राप्त होगी? ऐसा न होने पर सर्वकर्मक्षयरूप या आत्मा के शुद्ध स्वरूप या भाव में अवस्थानरूप मुक्ति, मोक्ष अथवा सिद्धि (लक्ष्यसिद्धि) दूरातिदूर होती जायेगी। इन्हीं सब समस्याओं, उलझनों और

विकृतियों अथवा विघ्न-बाधाओं को मद्देनजर रखते हुए जैन जगत् के विख्यात अध्यात्म तत्त्वदर्शी साधक श्रीमद् राजचन्द्र जी ने मुक्ति या लक्ष्यसिद्धि के क्रमशः सोपानों का 'अपूर्व अवसर एवो क्यांरे आवशे ?' नामक २१ पद्यों में सांगोपांग निरूपण किया है, उस पर स्व. मुनि श्री संतबाल जी ने सुन्दर विश्लेषणयुक्त विवेचन किया है।

जैनागमों में प्रसिद्ध चौदह गुण (जीव) स्थान मोक्षमहल तक पहुँचने की क्रमशः चौदह सीढ़ियाँ हैं। इनमें मोक्षयात्री की चेतना के ऊर्ध्वारोहण के लिए साधनात्मक और दार्शनिक दोनों दृष्टियों से आध्यात्मिक विकासक्रम का सांगोपांग निरूपण है। इन इक्कीस पद्यों में जो आध्यात्मिक विकास की प्ररूपणा है, उन सव के वींज जैनागमों में यत्र-तत्र मिलते हैं। इसलिए इन सब में उल्लिखित निरूपण जैन-सिद्धान्त और कर्मविज्ञान के अनुरूप है तथा आत्मा की पूर्ण मुक्ति तक पहुँचने की, यानी मुक्ति की मंजिल तक पहुँचने की तथ्य-सत्य संगत बातें किसी भी आस्तिक दर्शन से एवं धर्म-सम्प्रदाय से विरुद्ध नहीं हैं।

मुक्ति के सोपानों पर आरोहण करने की योग्यता किसमें ?

मुक्ति के सोपानों पर आरोहण से पूर्व जैनदृष्टि से जन्म-मरणादि रूप संसार और इस संसारसागर के सर्वथा अन्तरूप मोक्ष के बीच में आत्मा की मुख्यतया तीन दशाओं को तथा इनमें से कौन-सी दशा वाला मनुष्य मुक्ति के सोपानों पर आरोहण करने के योग्य है ? इस तथ्य को समझना चाहिए।

संसार और मोक्ष इन दोनों स्थितियों के बीच में आत्मा की मुख्यतया तीन दशाएँ होती हैं–बहिरात्म-दशा, अन्तरात्म-दशा और परमात्म-दशा। मोहरूपी निद्रा में सोये हुए जीव द्वारा आत्मा के शुद्ध स्वभाव को भूलने से भ्रान्तिवश शरीर आदि को आत्मा मानने से होने वाली प्रवृत्ति बहिरात्म-दशा है। सम्यग्दर्शन एवं सम्यग्ज्ञान या विवेक द्वारा भ्रम हटने से अपने आत्म-स्वभाव के प्रति रुचि होकर शरीर और शरीर से सम्बद्ध सजीव-निर्जीव आदि पर-पदार्थ या वैभाविक भाव अपनी आत्मा से भिन्न हैं, इस प्रकार के भेदविज्ञान का प्रकाश जिस दशा में मिले, वह अन्तरात्म-दशा है और इससे ऊपर उठकर वीतरागभाव पराकाष्ठा वाली अवाच्य, निष्कलंक, निर्मल, घातिकर्मों या सर्वकर्मों से मुक्त परम शुद्ध दशा परमात्म-दशा है।

इन तीनों दशाओं में से जब मध्यवर्ती अन्तरात्म-दशा–सम्यग्दृष्टि की दशा आती है, तब उस दशा वाले जीव को सर्वोपरि दशा की तेजस्विता, महत्ता और शुद्ध आत्मा की पराकाष्ठा की झलक और बोधि मिलती है। ऐसी स्थिति में उस अन्तरात्म-दशा-प्राप्त सम्यग्दृष्टि में उक्त भव्य सर्वोपरि पूर्ण मुक्ति, लक्ष्य-सिद्धि की दशा प्राप्त करने की उत्कण्ठा, पिपासा, तीव्रता और उत्कृष्टभावरसता जागती है। बस, उसी अवस्था, मनःस्थिति और परमात्म-दशा का यहाँ क्रमशः दिग्दर्शन कराया

गया है। यह अन्तरात्म-दशा से लेकर परमात्म-दशा तक की उत्तरोत्तर भूमिकाओं का आर्षदर्शन है। इसे ध्यान में लेकर क्रमशः गति-प्रगति, सम्प्रेक्षा और अनुप्रेक्षा करते रहने से साधक एक दिन अवश्य ही मुक्ति के सर्वोच्च प्रासाद तक पहुँच सकता है, स्वयं परमात्म-दशा प्राप्त कर सकता है।[1]

इस दृष्टि से यहाँ चतुर्थ गुणस्थान से आरोहण करके साधक क्रमशः चौदहवें गुणस्थान में पूर्ण सिद्धि के सर्वोच्च शिखर पर कैसे पहुँच सकता है? इसका वर्णन किया गया है।

प्रथम सोपान : बाह्याभ्यन्तर निर्ग्रन्थता : सर्वसम्बन्धों के बन्धन की उच्छेदक

चतुर्थ गुणस्थानवर्ती साधक को जब यह तथ्य स्पष्ट प्रतीत हो जाता है कि आत्मा से भिन्न जो सजीव या निर्जीव पर-भाव हैं–पर-पदार्थ हैं, उनके साथ जितना-जितना सम्बन्ध–राग-द्वेषात्मक सम्बन्ध अथवा मनोज्ञामनोज्ञता का सम्बन्ध होता है, उतना-उतना मोक्ष (सर्वकर्ममुक्तिरूप या स्वरूपस्थितिरूप मोक्ष) से व्यक्ति दूरातिदूर होता जाता है। इसके विपरीत जितना-जितना पर-भावों एवं विभावों से राग-द्वेषात्मक सम्बन्ध टूटता जाता है, उतना-उतना साधक मोक्ष के निकट पहुँचता जाता है। इसलिए चतुर्थ गुणस्थानवर्ती सम्यग्दृष्टि-साधक में सर्वप्रथम आत्मा से भिन्न पदार्थों के साथ जो तीक्ष्ण, गाढ़ एवं चिक्कण सम्बन्ध हो गया है, वह कैसे टूटे? इसकी तीव्र उत्कण्ठा जागती है। क्योंकि राग-द्वेष मोहात्मक जितने भी सम्बन्ध हैं, चाहे वे परिवार, समाज, राष्ट्र, धर्मसंघ, प्रान्त आदि किसी भी घटक के साथ हों, वे ही शुभाशुभ कर्मबन्ध के कारण हैं। कई बार तो वे मधुर सम्बन्ध या जिन्हें प्रेम-सम्बन्ध कहा जाता है, मोहरूप, ममत्वरूप या आसक्तिरूप होकर घोर कर्मबन्ध के कारण बन जाते हैं। कई बार वे ही राग-मोहात्मक प्रेम-सम्बन्ध स्वार्थ, द्वेष, दुर्भावना एवं वैर-विरोध के कारण घोर अशुभ कर्मबन्ध के हेतु हो जाते हैं। अतः मुमुक्षु आत्मार्थी साधक को सभी बन्धनों को ज्ञपरिज्ञा से जानकर प्रत्याख्यान-परिज्ञा से उनमें राग, द्वेष, मोह, स्वार्थ, घृणा, ईर्ष्या, आसक्ति, ममत्व आदि विकारों और विभावों के विष को सर्वप्रथम दूर करके मुक्ति के प्रथम सोपान पर आरोहण करना चाहिए।[2]

बन्धनों को तोड़ने के लिए ग्रन्थमुक्त होने के विवेकसूत्र

और यह बात भी सत्य है कि जब तक सम्बन्धों में से बाह्य और आभ्यन्तर ग्रन्थों (परिग्रहों) को छोड़ा या तोड़ा नहीं जाएगा, तब तक शुभाशुभ कर्मों से मुक्ति

---

१. 'सिद्धि के सोपान' (विवेचक : मुनि श्री संतबाल जी म.) से भाव ग्रहण. पृ. १-२

२. अपूर्व अवसर एवो क्यारे आवशे? क्यारे थइशुं बाह्यान्तर-निर्ग्रन्थ जो।
सर्व-सम्बन्धनुं बन्धन तीक्ष्ण छेदीने, विचरशुं कव महापुरुषने पंथ जो॥

–पद्य १ के आधार पर

दूर ही रहेगी। इसलिए बन्धन चाहे वे सजीव पर-पदार्थ के साथ हों या निर्जीव पर-पदार्थ के साथ, दोनों में निम्नोक्त विवेकसूत्र या यतनासूत्र अपनाने होंगे। पहला विवेक तो यह करना होगा कि उन सम्बन्धों में से कौन-से सजीव-निर्जीव पर-पदार्थों के साथ सम्बन्ध रखना अत्यावश्यक है ? दूसरा विवेक यह करना होगा कि जिसके साथ सम्बन्ध अत्यावश्यक होने से जोड़ा गया या जोड़ा जाय, वह राग-द्वेष-कषाय-नोकषाय आदि विकारों के कारण कर्मबन्धकारक न हो जाय, इसके प्रति जाग्रत रहा जाए। तीसरा विवेक यह हो कि सजीव-निर्जीव पर-पदार्थों का भी अनिवार्य आवश्यकता से अधिक परिग्रह, संग्रह न किया जाए, अन्यथा उनके प्राप्त करने, उनका रक्षण करने में और वियोग होने से महान् चिन्ता-शोक, उद्विग्नता, ईर्ष्या आदि होंगे, जो तीक्ष्ण भयंकर कर्मबन्ध के कारण बन जायेंगे। चौथा विवेक यह करना होगा कि बाह्य परिग्रह की मर्यादा करने पर भी जो मर्यादा से अधिक परिग्रह था, उसे अपने पुत्र, पुत्री, पत्नी या परिवार के किसी सदस्य के नाम पर या साधुवर्ग द्वारा किसी भक्त-भक्ता या संस्था के नाम पर करके, अंतर में उसके प्रति अपना ममत्व या आधिपत्य न रखा जाए।

निर्ग्रन्थता के अभ्यास में विवेक करना चाहिए

इसलिए सर्वसम्बन्धों के साथ बँध जाने वाले तीक्ष्ण बन्धनों के उच्छेदन के लिए बाह्य और आभ्यन्तर दोनों प्रकार के ग्रन्थों (परिग्रहों) से मुक्तिरूप निर्ग्रन्थता प्राप्त करनी चाहिए अथवा निर्ग्रन्थता का अभ्यास करना चाहिए। कई बार साधक अपने परिवार, समाज, धर्म-सम्प्रदाय, जाति, प्रान्त, राष्ट्र, भाषा, परम्परा, रीति-रिवाज, रूढ़ि, प्रथा, शिष्य-शिष्या, पुत्र-पुत्री आदि के साथ अपने आत्मोत्कर्ष के लिये सम्बन्ध बाँधता है, किन्तु वे उसे राग, मोह, मद, पक्षपात, आसक्ति आदि से ऐसे जकड़ लेते हैं कि वह अन्य परिवार, समाज, धर्म-सम्प्रदाय आदि के प्रति द्वेष, घृणा, वैर-विरोध, ईर्ष्या, मात्सर्य, द्रोह आदि करने लग जाता है, तब वे ही पवित्र सम्बन्ध तीक्ष्ण कर्मबन्धक बन जाते हैं।

कई उच्च कोटि के साधक भी सम्बन्धों में निर्लिप्त न रहकर ऐसे स्वार्थ और मोह आदि से ओतप्रोत सम्बन्धों को अधिकाधिक बढ़ाते हैं, अपनी प्रशंसा, प्रसिद्धि, यशःकीर्ति, नामवरी एवं स्वार्थसिद्धि के लिए अनावश्यक सम्बन्ध सजीव-निर्जीव पदार्थों से बढ़ाते हैं और कर्मबन्ध की गाँठों को अधिकाधिक मजबूत करते जाते हैं।

बाह्य-आभ्यन्तर ग्रन्थ : स्वरूप, प्रकार और ग्रन्थों से मुक्ति का उपाय

इन गाँठों को तोड़ने और नयी रागात्मक गाँठों को न जोड़ने के लिए बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रहरूप ग्रन्थों से मुक्त होने का सतत जागरण, विवेक और यत्नाचारपूर्वक अभ्यास और पुरुषार्थ करना चाहिए। तभी उन वीतरागी महापुरुषों के द्वारा अनुभूत, निर्दिष्ट और अभ्यस्त मुक्ति-पथ पर विचरण करने का मनोरथ

सफल हो सकता है। 'भगवती आराधना' के अनुसार-जो संसार को गूँथते हैं, रचते हैं, दीर्घकालिक स्थिति वाला करते हैं, वे ग्रन्थ हैं।

जैनागमों में बाह्य ग्रन्थ के १० प्रकार बताए हैं-(१) धन, (२) धान्य, (३) क्षेत्र, (४) वास्तु, (५) हिरण्य, (६) सुवर्ण, (७) द्विपद, (८) चतुष्पद, (९) कुप्य धातु, और (१०) भाण्ड उपकरणादि। इन दस का संग्रह, परिग्रह करने से ममता-मूर्च्छा आदि होती है। वे प्रायः गृहस्थ के लिए परिग्रहरूप ग्रन्थ हैं। इसी प्रकार साधु के लिये भी आहार-पानी, वस्त्र, पात्र, शय्या, वसति, रजोहरण, पुस्तक, ग्रन्थ, क्षेत्र, शिष्य-शिष्या, भक्त-भक्ता, सम्प्रदाय-पंथ आदि बाह्य परिग्रहरूप ग्रन्थ बन सकते हैं, यदि वह इन पर ममता-मूर्च्छा-आसक्ति आदि रखता है। 'भगवती आराधना' में मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, असंयम, कषाय, अशुभ मन-वचन-काययोग, इन परिणामों को ग्रन्थ कहा गया है।

'ज्ञानार्णव' में इनसे भी अतिभयंकर १४ प्रकार के आभ्यन्तर ग्रन्थ बताए हैं-(१) मिथ्यात्व, (२-३-४) स्त्री-पुरुष-नपुंसकवेद, (५) काम, (६) हास्य, (७) रति, (८) अरति, (९) शोक, (१०) जुगुप्सा, और (११ से १४) क्रोधादि चार कषाय।

'धवला' में कहा गया है-"व्यवहारनय की अपेक्षा क्षेत्रादि ग्रन्थ हैं, क्योंकि वे आभ्यन्तर ग्रन्थ के कारण हैं और इनका त्याग करना निर्ग्रन्थता है। निश्चयनय की अपेक्षा से मिथ्यात्व आदि ग्रन्थ हैं, क्योंकि वे कर्मबन्ध के कारण हैं और इनका त्याग करना निर्ग्रन्थता है।" अतः साधक के लिए बाह्य ग्रन्थों की अपेक्षा आभ्यन्तर ग्रन्थ बहुत ही भयंकर और दुस्त्याज्य हैं। इनसे मुक्त होने का उसे तीव्रतर प्रयत्न करना चाहिए। तभी निर्ग्रन्थता के राजमार्ग पर चलकर साधक मुक्ति के प्रथम सोपान पर आरूढ़ हो सकता है।[1]

बाह्य परिग्रह का त्याग होने पर मन में ग्रन्थों को पाने की ललक

कभी-कभी ऐसा होता है, व्यक्ति बाह्य परिग्रहों का प्रचुर मात्रा में त्याग करके संयम-यात्रा के लिए आवश्यक साधनों के प्रति भी ममता-मूर्च्छा का त्याग कर देता

१. (क) ग्रन्थंति रचयन्ति दीर्घीकुर्वन्ति संसारमिति ग्रन्थाः।

-भगवती आराधना वि. टीका ४३/१४१/१०

(ख) क्षेत्रं वास्तु धनं धान्यं द्विपदं च चतुष्पदं।
कुप्यं भाण्डं हिरण्यं सुवर्णं च बहिर्दश। *-दर्शनपाहुड टीका १४-१५*

(ग) देखें-ज्ञानार्णव १६/१४, ६ में आभ्यन्तर ग्रन्थ के १४ भेदों की व्याख्या

(घ) ववहारणयं पडुच्च खेत्तादी गंथो, अब्भंतर-गंथकारणत्तादो। एदस्य परिहरणं णिग्गंथत्तं। णिच्छयणयं पडुच्च मिच्छत्तादो गंथो, कम्मबंधकारणात्तादो। तेसिं परिच्चागो णिग्गंथत्तं। *-धवला ९/४, १, ६७/३२३*

(ङ) मिथ्यादर्शनं मिथ्याज्ञानं असंयमः कषायाः अशुभयोगत्रयं चेत्यमी परिणामाः ग्रन्थाः।

-भगवती आराधना ४३/१४१/२०

है, अथवा बाह्य परिग्रहों की मर्यादा कर लेता है; किन्तु दूसरों के पास सुन्दर एवं मनोरम्य वस्त्र, आभूषण, सुगन्धित पदार्थ, आलीशान बंगले, उत्कृष्ट शय्या, साज-सज्जा या सौन्दर्य प्रसाधन की साधन-सामग्री, वाहन, सुन्दरियों एवं भोगोपभोग सामग्री की प्रचुरता, धन-सम्पत्ति की प्रचुरता देखकर मन ही मन उन्हें पाने की लालसा, तृष्णा या वासना करता है या उन वस्तुओं के स्वामी के प्रति ईर्ष्या करता है, तो ऐसे व्यक्ति या साधक को ग्रन्थ-त्यागी या निर्ग्रन्थता का साधक नहीं कहा जा सकता।[1] ऐसे व्यक्ति के जीवन में ग्रन्थ-मुक्ति या निर्ग्रन्थता की साधना तब तक सफल नहीं होती, जब तक कि वह स्वेच्छा से, अन्तर्मन से, बिना किसी के दबाव या भय से, अथवा किसी के प्रलोभन के वशीभूत न होकर वस्तु पास में न हो, अथवा सहजता से प्राप्त हो सकती हो, फिर भी बाह्य ग्रन्थों का त्याग कर देता है, यानी वह पूर्वोक्त १४ प्रकार के आभ्यन्तर ग्रन्थों के परिप्रेक्ष्य में त्यक्त अथवा संयम-यात्रा के लिये गृहीत बाह्य ग्रन्थों (सजीव-निर्जीव वस्तुओं) भोगोपभोग पदार्थों की मन से भी–अन्तःकरण से भी पाने या भोगने की इच्छा नहीं करता। "**मणसा वि न पत्थए।**"–मन से भी उन पर-पदार्थों को पाने की अभ्यर्थना–अभिलाषा नहीं करे। इस सूत्र को सदैव दृष्टिगत रखकर विचरण करता है। कदाचित् मन में किसी त्यक्त या गृहीत वस्तु के प्रति अहंता-ममता या स्वामित्व की भावना या इच्छा अथवा ललक उठे तो उसे 'दशवैकालिकसूत्र' के इस राग-त्याग के सूत्र के अनुसार मन में तुरन्त सावधान होकर 'मिच्छामि दुक्कडं' के चिन्तन करना चाहिए–"**न सा महं, नो वि अहं पि तीसे।**"–न तो मैं, यह वस्तु या व्यक्ति मेरी है और न ही मैं उसका हूँ।[2] 'आचारांगसूत्र' के अनुसार–

"एगो अहमंसि, न मे अत्थि कोइ, न चाहमवि कस्सइ।
एवं से एगागिणमेव अप्पाणं समभिजाणिज्जा, लाघवियं आगममाणे॥"[3]

–मैं अकेला हूँ, मेरा कोई नहीं है, न ही मैं किसी का हूँ। शेष सब बाह्य भाव (सजीव-निर्जीव पदार्थ) संयोग रूप हैं, कर्मोपाधिक हैं। इस प्रकार अपने आप को आत्म-बाह्य समस्त सजीव-निर्जीव पर-पदार्थों से पृथक् सम्यक् प्रकार से जाने और लाघव (हलकापन) लाए, प्राप्त करे। इन दोनों सूत्रों के अनुसार रागभाव का त्याग करे।

---

१ जे य कंते पिए भोए लद्धे विपिट्ठीकुव्वइ।
साहीणे चयइ भोए, सेहु चाइत्ति वुच्चइ॥३॥
वत्थ-गंधमलंकारं इत्थीओ सयणाणि य।
अच्छंदा जे न भुंजंति, न से चाइत्ति वुच्चइ॥२॥ *–दशवैकालिक* २/३, २

२. दशवैकालिक, अ. २, गा. ४

३. आचारांगसूत्र, श्रु. १, अ. ८, उ. ६, सू. ७५६

धर्माचरणी के लिए पंच आश्रय स्थान भी बन्धनकारक न बन जाएँ

'स्थानांगसूत्र' में कहा गया है कि धर्माचरण (संवर-निर्जरारूप धर्म में पुरुषार्थ) करने वालों के लिए पाँच आश्रय स्थान हैं-(१) षट्काय, (२) गण (धर्मसंघ), (३) शासक (राज्यकर्त्ता), (४) गृहपति, और (५) शरीर।[1] मुमुक्षु साधक जव इन पाँचों का आलम्वन स्वीकार करता है, तव इन पाँचों से एक या दूसरे प्रकार से सम्वन्ध जुड़ता है। यद्यपि इन पाँचों का संयोग सम्वन्ध होता है, परन्तु वह इन्हें भ्रमवश पर-भाव न मानकर इनसे मोह, ममत्व, राग-द्वेषवश बँध जाता है, इनका परिग्रहण कर लेता है, इसी प्रकार इनका आश्रय ग्रहण करना-भगवदाज्ञा मानकर *अमुक द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव* के षट्कायादि *अहंकार-ममकारवश वँध जाता है*, इससे भिन्न अन्य द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव के षट्कायादि के प्रति द्वेष: घृणा, वैमनस्य, ईर्ष्या आदि करने लगता है, इस प्रकार वीतरागता, मुमुक्षुता या निर्ग्रन्थता को ताक में रखकर अधिकाधिक राग-द्वेष, कषाय, परिग्रहरूप ग्रन्थों के चक्कर में पड़ जाता है। अतः बाह्यरूप से ग्रन्थ-त्यागी निर्ग्रन्थ का आँचल ओढ़कर भी उसमें सच्ची निर्ग्रन्थता नहीं आ पाएगी, उसमें सच्ची निर्ग्रन्थता कैसे आए?

द्वितीय सोपान : सर्वभावों के प्रति उदासीनता, विरक्ति एवं निर्लिप्तता

इसके लिए **द्वितीय सोपान** के रूप में समस्त पदार्थों के प्रति उदासीन भाव = वैराग्य भाव की जागृति का निर्देश किया गया है।

मोक्ष के भावों से भावित सम्यग्दृष्टि के पाँच लक्षण

चतुर्थ गुणस्थानवर्ती साधक की पहचान के लिए शास्त्रकारों ने पाँच लक्षण बताए हैं-शम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा और आस्तिक्य। उसका जीवन परमुखापेक्ष न रहकर स्वयं आध्यात्मिक श्रम, कषायों का उपशम और समभाव से युक्त होगा। उसका मन, बुद्धि, चित्त, हृदय आदि अन्तःकरण तथा वचन-काय-इन्द्रिय आदि बाह्यकरण सदैव मोक्ष के भावों से भावित रहेंगे। मोक्ष की लहरें उसके जीवन को आप्लावित करती रहेंगी, वह उसी में *तन्मय, तत्पर, तद्भावमग्न रहेगा। उसके संवर-निर्जरारूप* धर्म या सम्यग्ज्ञानादि चतुष्टय धर्म के पालन में सहायक पूर्वोक्त आलम्बन आवश्यकतानुसार ग्रहण करता हुआ भी इनके प्रति अन्तर से निर्लेप रहेगा, विरक्त रहेगा, उसकी मनोवृत्तियों में इनसे विरक्ति उदासीनता रहेगी। बिना षट्कायिक जीवों, गण (धर्म-संघ) के सदस्यों, गृहपतियों, शासकवर्ग आदि सजीव पदार्थों से एक ओर से उसका सम्बन्ध रहेगा, दूसरी ओर से उन सम्बन्धों में राग-द्वेष मोह, कषायभाव तनिक भी न आने पाए, इसकी जागृति प्रतिक्षण रहेगी,

---

१. धम्मस्स णं चरमाणस्स पंचनिस्साठाणा पण्णत्ता, तं.-छक्काए मणे, राया, गिहवइ, सरीरं।

-स्थानांगसूत्र, स्था. ५, उ. ३, सू. ४४७

उन सजीव पदार्थों को अपने निमित्त से किसी प्रकार का कष्ट न हो, हिंसादिरूप में विराधना न हो, इसकी अनुकम्पा उसके रोम-रोम में रहेगी और वीतराग प्रभु ने कर्मों के आस्रव और बन्ध के तथा संवर और निर्जरा के जो कारण और परिणाम बताए हैं, जीवादि नौ तत्त्वों के प्रति तथा देव-गुरु-धर्म और शास्त्र के प्रति पूर्ण आस्था होगी। इस प्रकार उक्त साधक अपनी संयम-यात्रा में सहायक यथावश्यक सभी सजीव-निर्जीव पदार्थों के प्रति सम्बन्ध रखता हुआ भी अन्तर से उनसे निर्लिप्त, विरक्त, उदासीन रहेगा।

निर्ग्रन्थता की सिद्धि के लिए वृत्तियों का ऊर्ध्वमुखीकरण

उसकी वृत्तियों में उदासीनता होगी, अर्थात् वह वृत्तियों का ऊर्ध्वमुखीकरण कर लेगा। वृत्तियों के अधोमुखी रुख के कारण ही वे अमुक पदार्थों के सेवन के लिए लालायित-प्रेरित होती हैं। जब वृत्तियों का ऊर्ध्वमुखीकरण हो जाएगा, तब किसी भी पर-पदार्थ ग्रहण के प्रति उसकी वृत्ति नहीं दौड़ेगी। उदाहरणार्थ—कुत्ता हड्डी को देखते ही चाटने लगता है, किन्तु हंस भूखा होने पर भी उसके सामने नहीं ताकता, क्योंकि उसने इससे उच्च प्रकार का रसास्वादन किया है। इस कारण उसकी वृत्ति उसमें नहीं जाती। इसी प्रकार निर्ग्रन्थता के अभ्यासी साधक की वृत्तियों का रुख ऊर्ध्वमुखी हो जाएगा, अनावश्यक तथा मोहक-आकर्षक विषयों, पर-पदार्थों या सजीव पर-प्राणियों के प्रति या दूर व निकट के सभी निरर्थक पदार्थों व भावों के प्रति तो उसकी वृत्ति जाएगी ही नहीं, संयम-यात्रा के लिए सहायक व्यक्तियों, समूहों तथा आवश्यक उपकरणों के प्रति सम्बन्ध रखते हुए भी वह निःस्पृह, निर्लिप्त, निराकांक्ष रहेगा। तभी वह शुद्ध आत्मा के स्वभाव में स्थित रह सकेगा, निर्ग्रन्थता साध सकेगा।[१]

तृतीय सोपान : शरीर के प्रति किंचित् भी मूर्च्छा : निर्ग्रन्थता में बाधक

इस प्रकार साधक जब निर्ग्रन्थता की साधना करता है, तब कई बार उसे यह भ्रम हो जाता है कि मैं बाह्य सम्बन्धी जनों तथा संयमोपकारक पदार्थों के प्रति तो मेरा आसक्तिमय लगाव कम हो गया, किन्तु शरीर तो मेरा अतिनिकटवर्ती साथी है, संयम-पालन या धर्म-पालन में सहायक है, इस धर्मसाधक शरीर को टिकाए रखने तथा शरीर को सुरक्षित रखने के लिये मैं यह या वह उपाय करता हूँ। इस या ऐसे बहाने से अगर शरीर के प्रति चिन्ता करता रहता है तो निर्ग्रन्थता खटाई में पड़ जाएगी। क्योंकि शरीर को स्वस्थ रखने के लिए संयममय, यत्नाचारपूर्वक प्रयत्न करना जायज बात है, किन्तु शरीर-स्वस्थता की ओट में शरीर को मोटा,

---

१. सर्वभावथी 'औदासीन्यवृत्ति करी, मात्र देह ते संयम हेतु होय जो।
अन्य कारणे अन्य कशुं कल्पे नहीं, देहे पण किंचित् मूर्च्छा नव जोय जो॥अपूर्व.॥२॥

तगड़ा और पुष्ट बनाने की चिन्ता करना उसे चिरकाल तक टिकाये रखंने के लिए पौष्टिक रसायन सेवन करना अन्य बात है और शरीर से संयम-पालन के प्रति जागरूक रहते हुए, यथावश्यक आहार-पानी आदि देना, उसका लाड़-प्यार न करना, उसकी अवस्थाएँ परिवर्तित होने पर जरा भी चिन्ता न करना, दूसरी बात है। पहली में शरीर और शरीर-सम्बद्ध सजीव-निर्जीव पदार्थों के प्रति पद-पद पर चिन्ता है, दूसरी बात में शरीर के प्रति आवश्यकतानुसार जागृति है।

पहली बात में शरीर के प्रति मूर्च्छा-ममता है, अश्रद्धायुक्त चिन्ता है। शरीर पर हद से ज्यादा देखभाल रखने से वह सुकुमार, सुविधावादी और भौतिक सुखलोलुप बन जाता है। भौतिक सुखलोलुपता से शरीर को पालने-पोसने से मन भी कमजोर और अस्वस्थ बन जाता है। फलतः निर्ग्रन्थता और स्वरूप-स्थिरता टिकनी असम्भव हो जाती है। अतः मुमुक्षु को चेतावनी दी गई है–"**देहे पण किंचित् मूर्च्छा नव जोय जो।**" धर्म-पालन करते हुए अगर शरीर छूट जाता है तो इससे बढ़कर आत्म-साधना क्या होगी? जब मुमुक्षु साधक की शरीर और शरीर से सम्बन्धित सजीव-निर्जीव वस्तुओं पर से मूर्च्छा, आसक्ति, इच्छा आदि भी दूर हो जाएगी, तब परिवार, गण, सम्प्रदाय या शिष्य-शिष्या, भक्त-भक्ता आदि अथवा मान-प्रतिष्ठा आदि पर तो मूर्च्छा (आसक्ति) रहेगी ही कैसे? इस प्रकार मुक्ति के तृतीय सोपान के रूप में सर्वभावों के प्रति उदासीनता–विरक्ति के साथ-साथ शरीर के प्रति भी वैराग्यमय अभ्यास के द्वारा मूर्च्छा निवारण करना आवश्यक है। साधक का शरीर केवल संयम का साधन बनकर रहना चाहिए। ऐसे संयममूर्ति साधक को संयम-साधना के निमित्त कारण के सिवाय अन्य किसी भी कारण से कोई भी वस्तु इच्छनीय या उपादेय नहीं रहनी चाहिए। ऐसी स्थिति में पेट माँगे, जब अवश्य ही क्षुधा-निवारणार्थ खाद्य पदार्थ लिया जा सकता है, किन्तु जीभ माँगे वह पदार्थ कतई नहीं लिया जा सकता। इस प्रकार शरीर की मूर्च्छा दूर होगी। ऐसी स्थिति में उसका आहार विषयपूर्ति के लिये नहीं, अपितु शरीर को पर्याप्त जीवन-शक्ति देकर टिकाने के लिये औषधरूप बन जाएगा। संयम-यात्रा के लिए थोड़े-से पदार्थों की आवश्यकता होने से परिग्रह भी यानी परिगृहीत पदार्थ भी कम हो जाएगा। जो कुछ पदार्थ रहेंगे, वे आत्मोत्कर्ष के लिए होंगे।

चतुर्थ सोपान : दर्शनमोह का सागर पार होने से केवल चैतन्य का बोध

कई बार साधक क्षणिक आवेश, ज्ञात मन से हुए वैराग्य और दूसरों की देखादेखी त्याग के प्रवाह में बहकर यह समझ लेता है कि मुझे संसार के समस्त सजीव-निर्जीव पदार्थों के प्रति विरक्ति हो चुकी है, यहाँ तक कि शरीर के प्रति भी ममता-मूर्च्छा नहीं रही; परन्तु उसके अवचेतन (अज्ञात) मन में दीर्घकाल से दबे हुए,

शान्त पड़े हुए विषयासक्ति, राग-द्वेष-मोह तथा कषायों के संस्कार निमित्त मिलते ही उभरकर आ जाते हैं और राख के ढेर में दबी हुई शान्त आग के समान उपशान्त वृत्ति साधक को भुलावे में डाल देती है। अमुक प्रसंगों में निर्विकारी दिखाई देने वाला मन प्रबल निमित्त मिलते ही साधक को विकारों के दलदल में—वापस उसी या उससे भी नीची विकारी दशा में धकेल देता है। इसलिए जब तक दर्शनमोह का महासागर अच्छी तरह पार न हो जाए तब तक पर-पदार्थों का तथा शरीरादि के प्रति ममता-मूर्च्छा का त्याग तथा सर्व-पर-पदार्थों के प्रति उदासीनता-ऊर्ध्वमुखी वृत्ति या विरक्ति सर्वथा कृतकार्य नहीं हो सकेगी। अर्थात् दर्शनमोह पहले दूर हो तभी चारित्रमोह के क्षय करने की पगडंडी पर चला जा सकेगा।[1]

इसलिए सर्वप्रथम दर्शनमोह का दूर होना अत्यावश्यक है। मोहनीय कर्म का एक भेद—दर्शनमोहनीय तभी दूर होगा, जब साधक को यह दृढ़ प्रतीति हो जाएगी कि चेतन देह से बिलकुल पृथक् है। आत्मा का समूचे सचेतन शरीर में व्याप्त होते हुए भी चैतन्य-शक्ति अपने स्व-भाव (स्व-धर्म) में अचल रूप से स्थिर है; शरीर, कर्म आदि पुद्‌गलों का धर्म—पर-धर्म (पर-भाव) इससे पृथक् है। साथ रहते हुए भी चेतन (आत्मा) इस पर-भाव में मिल नहीं जाता। ऐसे यथार्थ आत्म-स्वरूप का ज्ञान = अनुभव दर्शनमोह दूर होने पर हो जाता है। दृष्टिमोह को पार करने के बाद आत्मा (चेतन) देह से सर्वथा भिन्न है, ऐसा यथार्थ ज्ञान दृढ़ हो जाता है।

दर्शनमोह दूर होने पर सम्यक्ज्ञान के विचार-विवेकरूप नेत्रद्वय खुल जाते हैं

तात्पर्य यह है कि जिस वस्तु को जीवन में उतारना हो, तद्विषयक दृष्टि पहले परिशुद्ध कर लेनी चाहिए। सम्यक्‌दृष्टिरूपी शाण के दो पहलू हैं—विचार और विवेक। विचार का अर्थ है—पदार्थ के चारों ओर सर्वतोमुखी मानसिक परिक्रमा करके उसमें गहरे उतरना और विवेक का अर्थ है—उस वस्तु का विश्लेषण करके उसमें विद्यमान सत्य को बाहर निकाल लेना। ये दोनों सम्यग्ज्ञान की आँखें हैं। विवेक और विचार से रहित ज्ञान अन्धा होता है। अतः विचार और विवेक की आँखों से वस्तु (शुद्ध चेतना) की जाँच-पड़ताल करने के बाद भावना और धारणा के पात्र में उसका स्थान सुदृढ़ हो जाता है, फिर वह प्रबल से प्रबल निमित्तों के मिलने पर भी अपने यथार्थ स्वरूप के आचरण में विचलित नहीं हो सकता। ऐसा होने पर त्याज्य का अनायास ही त्याग किया जा सकता है और ग्राह्य का सहजभाव से ग्रहण किया जा सकता है। अतः दर्शनमोह दूर होते ही पहले कभी

---

१. (क) दर्शनमोह व्यतीत थई, उपज्यो बोध जो, देहभिन्न केवल चैतन्यनुं ज्ञान जो।
एथी प्रक्षीण चारित्रमोह विलोकीए, वर्ते एवुं शुद्धस्वरूपनुं ध्यान जो॥अपूर्व.॥३॥

(ख) 'सिद्धि के सोपान, पद्य ३' के विवेचन से भाव ग्रहण, पृ. ८-९

न हुआ तो, इस प्रकार का शरीर और आत्मा की भिन्नता का बोध होता है, कभी अनुभूत न हुआ हो, ऐसा अनुभव होता है। देहभिन्न चैतन्य का ज्ञान ही सम्यक्दर्शन है।

देह से भिन्न एकमात्र चैतन्य के दर्शन कितने दुर्लभ, कितने सुलभ ?

इसलिए दृष्टि में विलसित चैतन्यभाव देखने की गुप्त शक्ति जाग्रत न हो, यानी बाहर के पार्थिव-पटल को भेदन कर अन्तरंग चक्षु न खुलें, वहाँ तक देह से चैतन्य भिन्न है, ऐसा ज्ञान ही स्फुरित नहीं होता और जब तक ऐसा ज्ञान स्फुरित न हो, तब तक दृष्टि में निरन्तर चैतन्य के अमृत-झरने बह नहीं सकते। अतः देह से भिन्न चैतन्य के दर्शन करने के लिए देह की अत्यन्त गहराई में निगूढ़रूप से जो चैतन्य का प्रकाश चमक रहा है, उसे दृष्टि को दिखाकर उसको उज्ज्वल बनानी होगी। अत्यन्त गहराई में इसलिए कि देह से लेकर आत्मा के द्वार तक पहुँचने के लिए बीच में मन, प्राण, चित्त और बुद्धि के क्षेत्रों की अथाह नहरें इतने भँवरजालों और प्रलोभनों की भयंकरता से परिपूर्ण हैं कि उस सँकड़ी पगडंडी में से साधना की नौका को चैतन्य के ज्ञानरूप तट तक सही-सलामत पहुँचाना अतीव दुष्कर है।

देह से भिन्न केवल चैतन्य का अनुभवात्मक ज्ञान सुदृढ़ होने पर

देह से भिन्न तो आत्मा के सिवाय अनेक अन्तःकरण-बाह्यकरण हैं, कहीं साधक की दृष्टि उनमें न उलझ जाए, इसलिए शरीर से भिन्न केवल चैतन्य का सुदृढ़ अनुभवात्मक ज्ञान ही दर्शनमोह के सागर को पार करने के लिए अभीष्ट है।[1] ऐसा न होने पर देह ही चैतन्य है, इस प्रकार का आभास अवचेतन मन में होते रहने से मोहक पदार्थ शृंगारिक चित्र, स्वादिष्ट खान-पान, झूठी प्रशंसा का श्रवण आदि इन्द्रियों और मन के विषय उसे आकर्षित करते रहेंगे और उनमें वह सुखानुभूति करने लगेगा।[2]

दृष्टिमोह दूर होने पर ही चारित्रमोह की क्षीणता संभव

भवसागर से पार उतरने में बाधक कारण दो हैं–दृष्टिमोह और चारित्रमोह। दृष्टिमोह में असद्भावना, कुविचार, अधम अध्यवसाय, कुविकल्प, दुष्ट परिणति, मिथ्यादृष्टि, कदाग्रह एवं पूर्वाग्रह आदि का समावेश होता है। दृष्टिमोह के कारण देवूढ़ता, गुरुमूढ़ता, धर्ममूढ़ता, समय (सिद्धान्त) मूढ़ता, शास्त्रमूढ़ता एवं लोकमूढ़ता आदि तथा जीव धर्म, साधु, मुक्त, संसारमार्ग तथा अधर्म, असाधु,

१. अवि अप्पणो वि देहंमि, नायरंति ममाइयं। –*दशवैकालिकसूत्र*

२. (क) 'सिद्धि के सोपान से' साभार उद्धृत, पृ. ९, ११

(ख) मोहनीय कर्म के मुख्य दो भेद हैं–दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय। दर्शनमोहनीय के तीन भेद हैं–सम्यक्त्वमोहनीय, मिथ्यात्वमोहनीय और मिश्रमोहनीय।

अमुक्त और मोक्षमार्ग, इनके विषय में विपरीत मान्यता हो जाती है।[1] दृष्टिमोह सत्य के नाम पर कदाग्रह, पक्षपात और स्वत्वमोह की पकड़ में डाल देता है। क्रोध आदि चार कषायों तथा हास्य, भय आदि नौ नोकषायों का मूल भी दृष्टिमोह है। अतः दृष्टिमोहरूपी सागर को पार किये बिना वैभाविक प्रवृत्तिरूप चारित्रमोह का क्षय करना आकाश-कुसुम के समान है। अतः कषायादि वैभाविक प्रवृत्तियों से बचने के लिये दृष्टिमोह को निर्मूल करना अत्यावश्यक है।

दृष्टिमोह दूर होने पर केवल चैतन्य का ज्ञान अन्तःकरण में बद्धमूल हो जाए तो काम, क्रोधादि जो शत्रु साधक का आध्यात्मिक विकास रोकते हैं, उनका जोर ठंडा पड़ जाएगा। किन्तु चारित्रमोह का बल कुछ समय तक क्षीण दिखाई दे, फिर प्रबल वेग के साथ साधक पर धावा बोलकर उसे पछाड़ दे, ऐसी कृत्रिम चारित्रमोह क्षीणता या क्षणिक क्षीणता से सावधान रहना चाहिए। अतः चारित्रमोह की क्षीणता स्थायी होनी चाहिए। यानी उक्त चारित्र के प्रकाश में केवल चैतन्य का गहन निरीक्षण अर्थात् अपरोक्ष अनुभव कर सके। ऐसा देहभिन्न केवल आत्मा (चेतन) का व्यवहार्य साक्षात्कार होना चाहिए। वह साधक के अपरोक्ष अनुभव की क्रिया में झलकना चाहिए।

केवल चैतन्य के ज्ञान का फल शुद्ध स्वरूप का ध्यान है

निष्कर्ष यह है कि दृष्टिगोचर के अन्त से शुद्ध चैतन्य का अनुभवात्मक ज्ञान होने पर चारित्रमोह क्रमशः क्षीण होना अवश्यम्भावी है। अतएव उस सम्यग्ज्ञान के बाद साधक की नस-नस में उसी शुद्ध चैतन्य की अमृतधारा का आचरण, चाहे देर से ही हो, होगा। अनात्म आचरण तो हो ही नहीं सकता।[2]

ऐसी स्थिति में केवल चैतन्य के ज्ञान का फल ध्यान होगा। यानी ऐसी दशा का एकाग्रतापूर्वक ध्यान यानी शुद्ध स्वरूप का स्थायी चिन्तन होना या प्रतिक्षण ध्यान रखना अनिवार्य है। तभी केवल शुद्ध चैतन्य का = शुद्ध आत्म-स्वरूप का भाव रग-रग में ओतप्रोत होगा। ऐसे शुद्ध आत्म-स्वरूप के ध्यान में लीन साधक को विषय-विकार आकृष्ट नहीं कर सकते, क्योंकि वह आत्मानुभव का रसास्वादन कर चुका होता है।

---

१. (क) अदेवे देवबुद्धिः स्यादधर्मे धर्मधीरिह।
अगुरौ गुरुबुद्धिर्या ख्याता देवादिमूढ़ता॥ —*पंचाध्यायी (उ.)*

(ख) लोहय-वेदिय-सामाइएसु तह अण्णदेवमूढत्तं। —*मूलाचार, गा.* २५६

(ग) देवतामूढ-लोकमूढ-समयमूढ़-भेदेन मूढ़त्रयं भवति। —*द्रव्यसंग्रह, टीका ४१/१६६*

२. (क) दर्शनमोह व्यतीत थई उपज्यो बोध जे, देहभिन्न केवल चैतन्यनुं ज्ञान जो।
एथी प्रक्षीण चारित्रमोह विलोकीए, वर्ते एवुं शुद्धस्वरूपनुं ध्यान जो॥अपूर्व.॥३॥

(ख) 'सिद्धि के सोपान' से भाव ग्रहण, पृ. १२

पंचम सोपान : योगत्रय में आत्म-स्थिरता

दर्शनमोह के सागर को पार करने के बाद जब सम्यग्ज्ञान का प्रकाश होता है, तब विचार, वाणी और व्यवहार में–संक्षेप से मन-वचन-काया, इन तीनों योग में आत्मा की सतत स्मृति रहनी चाहिए। यहाँ योग का अर्थ है–आत्मा और प्रवृत्ति का जुड़ना। वह प्रवृत्ति तीन माध्यमों से होती है–मन से, वाणी से और काया से। सक्रिय मन के साथ आत्मा के जुड़ने को विचार, वाचा के साथ आत्मा के जुड़ने को वाणी और काया के साथ आत्मा के जुड़ने को व्यवहार (वर्तन) कहा जाता है। दृष्टि की मूढ़ता दूर हो जाने से जब देहभिन्न केवल चैतन्य का ज्ञान-भान होता है, तब सर्वप्रथम विचार और भावना के क्षेत्र में आमूलचूल परिवर्तन होता है। फलतः वाणी चेतनाशील, मधुर अमृतोपम और प्रमाणभूत बनती है और व्यवहार में सत्य करवटें लेने लगता है। यद्यपि बेसमझ व्यक्ति (अज्ञानी) के भी विचार, वाणी और व्यवहार आत्मा के साथ संयोग से रहित नहीं होते, किन्तु ज्ञानी और अज्ञानी के विचार, वाणी और व्यवहार में अन्तर यह है कि अज्ञानी की दृष्टि में मूढ़ता होने से ज्ञान सम्यक् नहीं होता, फलतः आत्मा से जुड़ने पर भी तीनों में सत्यलक्षी परिवर्तन नहीं होता, कदाचित् हो तो भी क्षणिक् होता है, जबकि ज्ञानी के इन तीनों योगों में सत्यलक्षी परिवर्तन हो जाता है, साथ ही उसके विचार, वाणी और व्यवहार के साथ आत्मा का संयोग सत्यलक्षी और स्थायी होता है, उनमें आत्म-स्थिरता आजीवन बनी रहती है। इसीलिए कहा गया है–"**आत्म-स्थिरता त्रण संक्षिप्त योगनी, मुख्यपणे तो वर्ते देहपर्यन्त जो।**"

आत्म-स्थिरता यानी सतत आत्म-स्मृति या आत्म-जागृति से लाभ

आत्म-स्थिरता से लाभ यह है कि जिसके विचार में आत्म-स्थिरता होती है, वह दूसरों के लिए या अपने लिए भी बुरा चिन्तन नहीं करता, वाणी में आत्म-स्थिरता होने पर वह विचार, वाणी और आचरण में असत्य को कदापि स्थान नहीं दे सकता। जिसके कार्य (काया) में आत्म-स्थिरता होती है, वह कोई भी चेष्टा या व्यवहार आत्म-विरुद्ध या लोक-विरुद्ध कर नहीं सकता। आत्म-स्थिरता साधक का कोई भी शत्रु नहीं रहता। उसके लिए '**आत्मवत् सर्वभूतेषु**' स्वाभाविक हो जाता है। जिसने आत्म-स्थिरता का आनन्द लूटा है, उसकी दृष्टि में विकार या स्पर्श हो ही नहीं सकता। भक्त तुकाराम की भावना के अनुसार वह अन्धा होना कबूल कर सकता है, परन्तु पापमयी वासना (दुर्भावना, दुर्दृष्टि) को कभी स्थान नहीं दे सकता।[1] उसके प्रत्येक कार्य में जब आत्म-स्थिरता आ जाएगी तो प्रत्येक प्रवृत्ति यतनामय, संयममय, सत्य से ओतप्रोत होगी। प्रत्येक कायिक, वाचिक और

---

१. पापाची वासना न को दाऊं डोला, त्याहुनी आंधला वरा च मी।

मानसिक प्रवृत्ति के साथ आत्म-स्थिरता हो जाने पर यानी शुद्ध आत्मा की स्मृति जुड़ जाने पर उस साधक के संयम-यात्रा पथ में घोर से घोर उपसर्ग या परीषह है, अथवा विपत्ति, कष्ट या विघ्न-बाधाओं के आने पर भी उसकी आत्म-स्थिरता अडोल रहेगी। उस कार्य की समाप्ति तक आत्म-स्मृति सतत बनी रहती है, प्रचण्ड आत्म-विश्वास के साथ वह टिका रहेगा।

आत्म-स्थिरता वाला साधक घोर उपसर्ग-परीषहों के समय भी अविचल रहता है

आत्म-स्थिरता वाला साधक अनुकूल या प्रतिकूल कैसा भी परीषह आए; समभावपूर्वक शान्ति, धैर्य और आत्म-विश्वास के साथ एकीकृत धर्ममार्ग पर डटा रहता है, धर्म-पालन के लिए वह बड़े से बड़े कष्ट को हँसते-हँसते सह लेता है, किसी भी हालत में धर्ममार्ग से भ्रष्ट नहीं होता। भय और प्रलोभन के समय वह वृत्ति के अधीन न होकर समभावपूर्वक उस समस्या को हल कर लेता है, एक इंच भी अपनी प्रतिज्ञा से डिगता नहीं।[१]

मुमुक्षु जीवन में आत्म-स्थिरता की आवश्यकता क्यों ?

अतः वीतरागता अथवा सर्वकर्ममुक्ति के पथिक के लिए आत्म-स्थिरता की कदम-कदम पर आवश्यकता है। संसार में जितनी भी भूलें होती हैं, फिर वे व्यावहारिक या सामाजिक आदि क्षेत्रों में हुई हों या आध्यात्मिक या नैतिक-धार्मिक क्षेत्र में, सर्वत्र आत्म-स्थिरता का अभाव ही उनका मूल कारण है। अज्ञानी और प्रमादी व्यक्ति प्रायः आत्म-स्थिरता = आत्म-स्मृति का भान खो बैठते हैं। मिथ्याभिमानी अथवा अष्टविध मदग्रस्त जीव में जब तक आत्म-स्थिरता नहीं होगी, तब तक बाह्य रूप से ग्रहीत व्रत, नियम, त्याग-प्रख्याख्यान में बार-बार भूलें, गलतियाँ, अतिचार (दोष) होते रहेंगे, जबकि आत्म-स्थिरता वाले साधक के रग-रग में देह-पर्यन्त सतत आत्म-स्मृति रहने से वह मिथ्याभिमानियों, साम्प्रदायिक मोहाविष्ट लोगों के बीच में रहकर भी अपनी मृदुता-नम्रता और सरलता के अमोघ-शस्त्र का इस्तेमाल करके विजयी बन जाएगा। बहुत-से साधना-प्रिय व्यक्ति भी व्यक्तिगत स्वार्थ, मोह या लोभ के आते ही आत्म-स्थिरता खो बैठते हैं। बाहर से विचार, वाणी और व्यवहार से स्नेह का प्रदर्शन होते हुए भी अन्तर में माया (कपट) का जोर व्याप्त हो जाने पर आत्म-स्थिरता खो बैठना मुमुक्षुसाधक की हार है।

---

१. (क) आत्मस्थिरता त्रण संक्षिप्त योग नी, मुख्यपणे तो वर्ते देहपर्यन्त जो।
घोर परीषह के उपसर्ग भये करी, आवी शके नहीं, ते स्थिरतानो अंत जो॥ अपूर्व.॥४॥

(ख) 'सिद्धि के सोपान' से भाव ग्रहण, पृ. १५, ११

आत्म-स्थिरता की कसौटी : परीषह और उपसर्ग

आत्म-स्थिरता की कसौटी होती है–अनुकूल या प्रतिकूल परीषहों, कष्टों, भय-प्रलोभनों तथा उपसर्गों के समय। परीषह और उपसर्ग में स्पष्ट अन्तर है। परीषह धर्म (संवर-निर्जरारूप) मार्ग से भ्रष्ट न होने के लिए निर्जरा के हेतु समभावपूर्वक कष्ट-सहन करने के अर्थ में है, जबकि उपसर्ग हैं–अनिच्छा से अप्रत्याशित रूप से आ पड़ने वाले देवकृत, मनुष्यकृत या तिर्यंचकृत उपद्रव या कष्ट। जैसे–कोई साधक नंगे पैर पैदल विहार कर रहा है। गर्मी का मौसम है। गाँव अभी दूर है। सख्त धूप पड़ रही है। मार्ग पथरीला या कँटीला है। रास्ते में कई अपरिचित गँवार मिलते हैं। वे सही रास्ता बताने के बजाय गलत बताते हैं। हँसी उड़ाते हैं। ऐसे समय में मुमुक्षु साधक निमित्तों को दोष न देकर या उन पर जरा भी क्रोध न करके, निर्जरा का अवसर समझकर आत्म-स्थिरता वाला साधक इस परीषह को समभावपूर्वक सह लेता है। किन्तु आत्म-स्थिरताविहीन साधक ऐसे समय में आपे से बाहर होकर निमित्तों के साथ बकझक, गाली-गलौज या अभद्र व्यवहार करके उक्त कर्म भोगने में अल्प-निर्जरा के बजाय बहुत-से अशुभ कर्मों का बंध कर लेता है, जबकि आत्म-स्थिरता वाला साधक सत्य और अहिंसा के पालन के लिए सत्य हरिश्चन्द्र, मैतार्य मुनि आदि की तरह अपने प्राणों को न्यौछावर करने को तैयार हो जाता है। उपसर्ग तो अकस्मात् आता है, उसकी कल्पना तक नहीं होती। जैसे–किसी साधक को कड़ाके की भूख लगी है। आहार करना आवश्यक है, उसकी इच्छा भी भोजन करने की है। पास में ही आहार लाया हुआ पड़ा है। किन्तु अचानक कोई व्यक्ति उपद्रव करके उसे बिगाड़ देता है। ऐसे उपसर्ग के समय यदि वह क्रोध करता है तो उससे बिगड़ा हुआ भोजन सुधारने वाला नहीं, परन्तु आत्म-स्थिरता खो दी कि उस मौके पर आवेश आ सकता है, कदाचित् सामने वाले के समक्ष आवेश प्रगट न किया जाए, फिर भी वृत्ति में उत्तेजना आ सकती है। यह उत्तेजना भी आत्म-विस्मृति की सूचक है। ये दोनों उदाहरण तो सामान्य परीषह और उपसर्ग के हैं। परन्तु मुक्ति के पंचम सोपान पर आरोहण करने वाले के समक्ष घोर से घोर परीषह या उपसर्ग आएँ, जो वृत्ति में उल्कापात मचा दें, अथवा उपसर्ग के आने का भय भी कोई दिखाए, अथवा प्रलोभन देकर संयम से डिगाना चाहे, तो आत्म-स्थिरता वाला साधक कदापि वृत्ति में अस्थिरता = विचलता नहीं लाएगा।[१]

छठा सोपान : निजस्वरूप में लीनता के लिए संयम हेतु से योग प्रवृत्ति और स्वरूपलक्षी जिनाज्ञाधीनता

"ज्ञानस्य फलं विरतिः।" इस नियम के अनुसार सम्यग्ज्ञानी और आत्म-दृष्टि-परायण सम्यग्दर्शी–समदर्शी साधक संयम के बिना रह ही नहीं सकता।

---

१. 'सिद्धि के सोपान' के आधार पर, पृ. १८-२१

वह जैन-सिद्धान्त के अनुसार–त्रस और स्थावर प्राणियों के प्रति संयम के सिवाय अजीवों पर भी संयम रखेगा, पाँचों इन्द्रियों और मन भी उनके विषयों के प्रति प्रेक्षा, उपेक्षा, अपहृत्य आदि संयम रखने में जरा भी प्रमाद नहीं करेगा, अपने मन, वाणी और काया (अंगोपांगों) को जरा भी असंयम की ओर नहीं जाने देगा। उसके संयम-पालन में परीषह और उपसर्ग भी बाधक बनकर खड़े हो जाते हैं, यहाँ तक इन दोनों का भय भी उसे विचलित करने के लिए आता है, मगर आत्म-स्थिरता से आगे की भूमिका में रग-रग में संयम को रमाने वाले साधक के जीवनमार्ग में वे परीषह और उपसर्ग, आधि-व्याधि और उपाधि, भीति और प्रलोभन सभी उसकी कर्मनिर्जरा में सच्चे साथी या जाग्रत रखने वाले बन जाते हैं। आशय यह है, छठे सोपान में पिछली दशा से उच्च भूमिका यानी छठे गुणस्थान में आने पर उस मुमुक्षु साधक के मन, वचन और काया के प्रत्येक योगों की प्रवृत्ति सिर्फ संयम के हेतु से होगी। वह मन-वचन-काया से अपने योगों की चंचलता को अत्यन्त कम करके केवल संयम-यात्रा के लिए आवश्यक प्रवृत्ति करेगा। उसमें भी उसका संयम आत्मलक्षी–स्वरूपलक्षी और वीतराग की आज्ञा के अधीन होगा। परन्तु ऐसा तभी तक होगा, जब तक उसकी साधक-दशा में कभी-कभी प्रमत्तावस्था आती है। यानी ऐसा लक्ष्य–कार्य, कारण और कर्त्ता की प्रमादयुक्त साधना-दशा में ही होगा। किन्तु ज्यों-ज्यों उसमें इससे उन्नत अवस्था की सहजता आती जाती है, त्यों-त्यों वह इन सबके भिन्नत्व-पृथक्त्व को तोड़ देता है, ये सब उसके निज-स्वरूप में ही विलीन हो जाते हैं। तात्पर्य यह है कि ध्येय, ध्यान और ध्याता तीनों सहज रूप से उसमें एकाकार हो जाते हैं।

आत्म-स्थिरता से आगे की भूमिका : संयम हेतु योगों की प्रवृत्ति

यह आत्म-स्थिरता से आगे की भूमिका है। इसमें संयम के हेतु से ही योगों की प्रवर्तना इसलिए आवश्यक है कि साधक के पूर्वबद्ध कर्म उदयावलिका में प्रविष्ट होकर उसे पूर्णतया विरक्तिभाव–समभाव में नहीं रहने देते। ऐसी स्थिति में संयम की साधारण स्फुरणा प्रमाद और कषायरूप प्रच्छन्न चोरों के आक्रमण को रोक नहीं पाती। परन्तु ऐसी स्थिति में संयम के हेतु से ही त्रिविध योगों की प्रवृत्ति का सूत्र अहर्निश उसके स्मृति-पथ पर रहना आवश्यक है। ऐसी साधना एक ओर से भावना, विचार और क्रियमाण कर्म में प्रबल शुद्धि लाती है, तो दूसरी ओर से स्वरूपलक्षी जिनाज्ञाधीनता होने से पर-भावों और विभावों से अनायास विरक्ति या विरति कर्म-संस्कारों के पूर्वकालीन अध्यासों के जोर को ठंडा करके विरक्तिमुखी अभिरुचि को प्रबल बनाती है।[१]

---

१. (क) संयमना हेतुथी योग-प्रवर्तना, स्वरूपलक्षे जिन-आज्ञा-अधीन जो।
ते पण क्षण-क्षण घटती जाती स्थितिमां, अंते थासे निजस्वरूपमां लीन जो॥अपूर्व.॥५॥

(ख) 'सिद्धि के सोपान' से भाव ग्रहण, पृ. २२-२३

आत्म-स्थिरता वाले मुमुक्षु का प्रभाव और अभ्यास की परिपक्वता कब ?

जैनागमों में बताये हुए पंचम गुणस्थानवर्ती साधक के लिए यह विधान है। इस भूमिका वाले गृहस्थ साधक को सरागसंयमी, संयमासंयमी, विरताविरती या व्रतबद्ध श्रमणोपासक या व्रती श्रावक कहते हैं। इस भूमिका में औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक, ये तीनों भाव हो सकते हैं। परन्तु यहाँ तो क्षायिकभाव में स्थिर रहने की पंचम गुणस्थानवर्ती व्रतधारी श्रावक से अपेक्षा है। जैसे–'उपासकदशांगसूत्र' में वर्णित व्रतधारी श्रमणोपासक आनन्द, कामदेव, महाशतक आदि पर कई प्रकार के उपसर्ग आए, फिर भी वे उस समय अधिकांश रूप से धर्म पर दृढ़ रहे। यदि श्रमणोपासकवर्ग क्षायिकभाव का लक्ष्य रखे तो उपशमभाव या क्षयोपशमभाव में उदय में नहीं आए हुए या अनुदीर्ण कर्मों की उपशान्त दशा होने से मौलिक शुद्धि में कमी रह जाती है। और जितनी कमी रहती है, उतना ही भय है–परीषहों और उपसर्गों के आने पर फिसलने का। क्योंकि साधक का मुख्य उद्देश्य तो परीषहों और उपसर्गों का समभावपूर्वक मुकाबला करना और अन्त में उन पर सम्पूर्ण रूप से विजय प्राप्त करना है। ऐसा तभी हो सकता है, जब मुमुक्षु आत्मार्थी साधक आधि, व्याधि और उपाधि के आने पर अपना संयम खोये बिना अपने धर्म (आत्म-धर्म) पर डटा रहे। ऐसी अनुप्रेक्षा-सम्प्रेक्षा करे कि ये उपसर्ग या परीषह या उपद्रवमात्र मेरी आत्म-स्थिरता, मुमुक्षुता या उच्च दशा की परीक्षा करने के लिए आए हैं, आते हैं। ये संकट, कष्ट या उपद्रव मेरे द्वारा पहले या वर्तमान में किये गए अपराध और उससे होने वाले अशुभ कर्मबन्ध के परिणाम हैं। ऐसा मानकर वह चित्त को शान्ति और प्रसन्नता से परिपूर्ण रखने का प्रयास करता है। अभ्यास और वैराग्य द्वारा साधक अपनी प्रत्येक क्रिया या वृत्ति-प्रवृत्ति में अहिंसा और सत्य का सहजभाव से पालन करेगा। ऐसे सहज अभ्यास के कारण विपरीतवृत्ति-हिंसकवृत्ति-प्रवृत्ति वाला देहधारी भी उसका सामना करने से पहले उसके प्रभाव के समक्ष ठंडा पड़ जाएगा। जिस प्रकार राजगृह निवासी सुदर्शन श्रमणोपासक की आत्म-स्थिरता और अहिंसा से प्रभावित होकर यक्षाविष्ट अर्जुनमाली का जोश शान्त हो गया। कदाचित् एक बार तीव्र आदेशवश वह अनर्थ भी कर बैठेगा, तो भी आखिरकार उसे सत्यार्थी और आत्म-स्थिरतायुक्त साधक के समक्ष झुकना ही पड़ेगा, उसकी अन्तरात्मा भी उसे चैन से बैठने नहीं देगी, उसके प्रति नतमस्तक हुए बिना नहीं रहेगी। जैसे–अभया रानी ने सत्यार्थी शीलवान् सुदर्शन सेठ पर एक बार तो कलंक का टीका लगा दिया था, परन्तु सत्य प्रगट होने पर तथा सुदर्शन सेठ द्वारा उसकी प्राण-रक्षा किये जाने पर अन्त में उसे झुकना ही पड़ा। अतः आत्म-स्थिरता वाले साधक अहिंसा, सत्य और शील को जीवन में पचा–रमा लेते हैं, वे समय आने पर सत्य, शील और अहिंसा के लिए प्राणों का अर्घ्य भी चढ़ा सकते हैं। भयंकर से भयंकर बीमारी के समय भी

आत्म-स्थिरतायुक्त साधक जाग्रत रहकर समभावपूर्वक उस दुःख को सहेगा, हायतोबा नहीं मचाएगा, न ही बहम और पामरता की मूर्ति बनेगा और न सेवा करने वालों पर बार-बार कुढ़ेगा। वह रोग से मुक्त होने के लिए सात्त्विक उपचार अवश्य करेगा, परन्तु ऐसे समय में आत्म-स्थिरता और संयम खोकर दूसरे जीवों को जरा भी कष्ट नहीं देगा, उनके प्राणों को संकट में नहीं डालेगा। बल्कि दूसरों के दुःख और कष्ट में स्वयं कष्ट सहकर उसकी सेवा करेगा। पापी व्यक्ति को भी कष्ट और संकट में पड़ा देखकर करुणा और अनुकम्पाभाव से उसे सान्त्वना देगा, उसके दुःख के निवारण में सहायक होगा।[1]

संयमी के मन, वचन, काया, हाथ, पैर आदि अंगोपांग तथा इन्द्रियाँ भी हैं। इन सभी का समावेश शरीर के अन्तर्गत हो जाता है। शरीर होने से उसे चलना, फिरना, सोना, उठना, बैठना, खाना-पीना, पहनना-ओढ़ना, लेना-रखना, बोलना आदि सभी क्रियाएँ करनी पड़ती हैं, परन्तु असंयमी और संयमी की प्रत्येक प्रवृत्ति में अन्तर होगा। संयमी जो कुछ भी मन, वचन और काया से क्रिया करेगा, वह सब संयम की सीमा में रहकर करेगा, जबकि असंयमी की क्रियाओं में कोई मर्यादा होगी ही नहीं, कदाचित् होगी, (सम्यग्दृष्टिसाधक की अपेक्षा से) तब भी संयमी के जितनी या संयमी के जैसी नहीं होगी।

वैराग्य विवेकयुक्त सम्यग्ज्ञान होने से संयम में वृद्धि व सुदृढ़ता

यह तथ्य भी विचारणीय है कि संयमी साधक में भी जितने अंश में पूर्वोक्त सर्वांगीण संयम होगा, उतने अंश में विवेक होना अवश्यम्भावी है, क्योंकि सम्यग्ज्ञान वैराग्ययुक्त विवेक के बिना टिक ही नहीं सकता और उक्त सम्यग्ज्ञानविहीन संयम सौ टंची (खरा) संयम नहीं माना जा सकता। इसलिए ऐसे संयमी को प्रतिक्षण आत्मभान रहता है।

इस दृष्टि से पूर्वोक्त संयमी अपने जीवन की आवश्यकताओं को सीमित कर लेगा। इतना ही नहीं, किसी भी आवश्यक उपकरण पर स्वामित्व-हक रखने की वृत्ति भी उसे अब भारभूत मालूम होगी। ऐसा संयमी व्यक्ति घर छोड़कर जंगल में, गुरुकुल में या साधु-संस्था में जाए ही, ऐसा कोई निश्चित नियम नहीं है। गृहस्थ-जीवन में अपने पत्नी-पुत्रादि के साथ रहते हुए भी वह सपत्नीक ब्रह्मचर्यरत गृहस्थ पूर्वोक्त संयम की साधना कर सकता है। महात्मा गांधी, रामकृष्ण परमहंस आदि की तरह पति-पत्नी दोनों ब्रह्मचर्य-परायण रहकर आजीवन संयमी रह सकते हैं। 'उत्तराध्ययनसूत्र' में स्पष्ट कहा है–

"संति एगेहिं भिक्खूहिं गारत्था संजमुत्तरा।"[2]

---

१. 'सिद्धि के सोपान' के आधार पर, पृ. २०-२१

२. उत्तराध्ययनसूत्र, अ. ५, गा. २०

–कतिपय भिक्षुओं की अपेक्षा गृहस्थ संयम में उत्कृष्ट होते हैं।

किन्तु तथाकथित संयम-परायण गृहस्थ अपनी मानी हुई समस्त चल-अचल सम्पत्ति जगत् के चरणों में समर्पित करके फूल-सा हल्का को जाएगा या केवल उसका तटस्थ ट्रस्टी रहेगा, अपना स्वामित्व उस पर से उठा लेगा। वह धन-सम्पत्ति, जमीन-जायदाद ही नहीं, अपितु परिगृहीत स्त्री-पुत्रादि पर से भी ममता, मूर्च्छा या आसक्ति हटा देगा। जिसने पत्नी पर से पत्नीत्वभाव को दूर कर दिया, पुत्र पर से 'यही मेरा पुत्र है', इस प्रकार का संकीर्ण ममत्व हटा दिया और जगत् के समस्त मानवों जैसा ही वह सहज स्वाभाविक रूप से मानव हो गया, तो उसके लिये घर भी तपोवन हो सकता है। घर में रहते हुए भी उसका घर संयम का नन्दनवन बन जाएगा। ऐसा गृहस्थ साधक अपने वीर्य का दुरुपयोग या व्यय न करके उसे संचित करके भौतिकवासना के क्षय करने में, इन्द्रिय और नोइन्द्रिय के संयम में, विश्व के चराचर सकल जीवों के प्रति वात्सल्य बहाने में उसका सदुपयोग करेगा। जब उसने अपने शरीर और शरीर से सम्बन्धित सजीव-निर्जीव वस्तुओं पर से ममता-मूर्च्छा दूर करने के पुरुषार्थ की साधना स्वीकार कर ली, तब उसकी संतानैषणा की वृत्ति तो मूल से ही सहज ही उखड़ जाएगी। वह एक कुटुम्ब का न रहकर सारी वसुधा का कुटुम्बी होगा। तब उसका विश्वास **सर्वभूतात्मभूत** (सव्वभूयप्पभूय) या आत्मवत् सर्वभूतेषु में सुदृढ़ हो जाएगा।[1]

सागारी और अनगारी दोनों के जीवन में संयम का अमोघ प्रभाव

इस प्रकार का संयमी साधक चाहे गृहस्थ हो या साधु, जब विश्व के समस्त प्राणियों के प्रति आत्मौपम्य भावना रखेगा, तब पानी की एक भी बूँद का या आहार के एक भी कण जरूरत के बिना कैसे इस्तेमाल करेगा? जहाँ उसने विश्व के चरणों में सर्वस्व समर्पण कर दिया तथा प्रभु की साक्षी से '**अप्पाणं वोसिरामि**' कहकर शरीर और शरीर से सम्बद्ध सजीव व्यक्ति या निर्जीव वस्तु का वह स्वस्थतापूर्वक ममत्व-व्युत्सर्ग करता है, वहाँ वह आवश्यक वस्तुओं का भी संग्रह किसलिए करेगा? वस्त्र भी विभूषा या आडम्बर के लिये अमर्यादित क्यों रखेगा? उसका वचन तो अमूल्य होगा ही, वह उसका व्यय भी असत्प्रवृत्ति में कैसे कर सकेगा? एक भी आत्मघातक विचार को भी वह दिमाग में संचित करके नहीं रखेगा। इसी प्रकार खुद के पास जो अमूल्य बौद्धिक निधि है, उसका भी जाग्रत रहकर जनसेवा में उपयोग करेगा, बाहोश रहकर अपने संयम कार्यों में इस्तेमाल करेगा। वह गाफिल रहकर अपनी इन्द्रियों का उपभोग तथा तन-मन-नमन आदि का उपयोग निरर्थक कार्यों, कषायों-नोकषायों में नहीं करेगा। जाग्रत रहकर अपनी

१. (क) 'सिद्धि के सोपान' से भाव ग्रहण, पृ. २२-२४

(ख) देखें–'गांधी जीं की आत्मकथा' तथा 'रामकृष्ण परमहंस' का वृत्तान्त

प्रत्येक प्रवृत्ति की चौकी वफादार चौकीदार की तरह करेगा। नींद आए तो भी अन्तर में जागता रहेगा। ऐसे साधक पर स्वप्न में भी कुविचार आकर हमला नहीं कर सकते। ऐसे संयमी साधक के लिए गीता की भाषा में कहा है–

"या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि, सा निशा पश्यतो मुनेः॥"

–जो समस्त प्राणियों की रात्रि है यानी शयनकाल है, उसमें संयमी पुरुष जागते हैं और समस्त प्राणी जहाँ जागते हैं, वह द्रष्टा मुनि के लिए रात्रि समान है।

इसी प्रकार 'आचांरागसूत्र' में भी कहा गया है–"**सुत्ताऽमुणिणो, मुणिणो सया जागरंति।**"[1] अमुनि (असंयमी) जहाँ सोये रहते हैं, वहाँ मुनि (संयमी) सदा जाग्रत रहते हैं। अर्थात् संयमी पुरुष सोते हुए भी जागते हैं, बाहोश रहते हैं। उसकी ब्रह्मचर्य-साधना जगत् को संयम में रहने की प्रेरणा देती है। निष्कर्ष यह है कि उसका प्रत्येक विचार, वचन या कार्य जगत् को प्रभावित और परिवर्तन करने की क्षमता रखता है बशर्ते कि उक्त संयमी के मन-वचन-काया की एकरूपता संयम के हेतुरूप हो।

संयम स्वरूपलक्षी होगा, तभी उसका सुपरिणाम दिखाई देगा

कई बार यह देखा जाता है कि कई प्रवृत्तियों में संयम को प्रामाणिक रूप से कारणभूत माना जाता है, फिर भी संयम का या साधक के संयमी जीवन का उपर्युक्त प्रभाव और परिणाम प्रायः दृष्टिगोचर नहीं होता। अतः प्रश्न यह है कि प्रत्येक प्रवृत्ति में संयम का हेतु कैसे सुरक्षित रहे? इसी के समाधानार्थ इस पद्य की पंक्ति में कहा गया है–"**स्वरूपलक्षे जिन-आज्ञा-अधीन जो।**" अर्थात् वह संयम स्वरूपलक्षी हो तथा जिनाज्ञाधीन हो, तभी संयम के सुपरिणाम का अनुभव होगा।

संयम स्वरूपावस्थान रूप साध्य का साधन है, साध्य नहीं

आशय यह है कि संयम के लिए संयम नहीं होना चाहिए। अगर ऐसा होगा तो पद-पद पर साधक तन, मन, वचन और इन्द्रियों की अनिवार्य आवश्यकताओं पर ब्रेक लगाता रहेगा, दमन करता रहेगा, जो अन्ततः मन-वचन-काया के लिए दण्ड हो जाएगा। इसलिए मोक्षलक्षी इस साधना में साध्य तो स्वरूपदशा है, संयम उसका साधन है। संयम को साधन के बदले साध्य मान लिया जाएगा तो आत्म-विकास और विश्व-वात्सल्य ध्येय रुक जाएगा, आध्यात्मिक विकास की पराकाष्ठा जो स्व-स्वरूपावस्थानरूप मोक्ष है, उसके उपकरणों का यथेष्ट उपयोग न होने से मनुष्य जड़वत् बनकर रह जाएगा।

---

१. आचारांगसूत्र, श्रु. १

स्वरूपलक्षी संयम कैसा होता है, कैसा नहीं ?

दूसरी बात–जहाँ सही माने में संयम होता है, वहाँ 'हम' तो अपना (स्वयं की आत्मा का) ही करें, हमें विश्व से क्या सरोकार? ऐसी असम्बद्ध (असंगत) बातें नहीं हो सकतीं। वहाँ सर्वभूतात्मभूत, आत्मौपम्य या निःस्वार्थ विश्व-वात्सल्य की भावना कैसे मूर्त्तरूप लेगी? वहाँ वीतराग भगवन्तों की "जगत् के सर्व जीवों की आत्म-रक्षारूप दया के लिए भगवान ने प्रवचन सम्यक्‌रूप से कहा।" यह आगमोक्ति विश्व के समस्त प्राणियों को आत्मवत् माने बिना कैसे सिद्ध हो सकती है? अतः संयमी साधक स्वरूपलक्षी (विश्वात्मलक्षी) होकर स्वयं को जगत् का माता-पिता (षट्‌काया का पीहर) मानकर सर्वभूतात्मभूत बनकर समस्त प्राणियों को आत्म-सम मानेगा, समदर्शी बनेगा, तभी पूर्वोक्त संयमी के जीवन में संयम का उक्त प्रभाव दिखाई देगा। फिर उसका लक्ष्य समग्र विश्व (प्राणिमात्र) को अपने में समा लेने का लक्ष्य होगा। जहाँ सारा विश्व अपना है, सारी वसुधा ही कुटुम्ब है, वहाँ अपने-पराये के भेद कैसे हो सकते हैं?[1] "जे एगं जाणइ, से सव्वं जाणइ।" सूत्र का रहस्य भी यही है।

विश्वमैत्री का सूत्र उसके जीवन में ओतप्रोत हो जाएगा। फिर उसके लिए अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रहरूप संयम के अंगों का पालन सहज हो जाएगा। सर्वभूतात्मभूत होने पर यानी सबको अपने मानने पर किसी की हिंसा, असत्य, चौर्य आदि में प्रवृत्त ही नहीं हो सकेगा। इस प्रकार के स्वरूपलक्षी पुरुष के लिए एक विचारक ने कहा है–

"वह स्वयमेव क्यों अपनी आत्मा को, करेगा खण्डित, भेद-रेखाएँ खींचकर।
क्योंकि खण्डों (भेदों = भिन्नताओं) से खण्डित होता, तेरा स्वरूप अमर॥"

अतः आत्मार्थी संयमी-साधक की स्वरूपलक्षिता अपनी संयम-साधना से अभिन्नता–अखण्डता या अद्वैतता सिद्ध करने के अभ्यासरूप होगी। ऐसी स्थिति में सर्वभूतहितरत स्वरूपलक्षी साधक अपने आसपास होने वाली विषम परिस्थितियों

---

१. (क) 'सिद्धि के सोपान' से भाव ग्रहण, पृ. २६
(ख) अप्पसमं मन्निज्ज छप्पिकाए। *–दशवैकालिक*
(ग) सव्वभूयप्पभूयस्स समं भूयाइं पासओ।
पिहि आसवस्स दंतस्स पावकम्मं न बंधइ॥ *–वही ४/९*
(घ) जे एगं जाणइ, से सव्वं जाणइ।
जे सव्वं जाणइ, से एगं जाणइ। *–आचारांग, श्रु. १, अ. ३, उ. ४*
(ङ) सव्वजगज्जीव रक्खण-दयट्ठयाए पावयणं भगवया सुकहियं। *–प्रश्नव्याकरण*
(च) जे एगं नामे, से बहुं नामे, जे बहुं नामे, से एगं नामे। दुक्खं लोयस्स जाणित्ता।
–आचारांगसूत्र, श्रु. १, अ. ३, उ. ४

(अंनिष्टों, बुराइयों या पाप-प्रवृत्तियों) को अपनी अशुद्धि या उपादान-शुंद्धि की न्यूनता का परिणाम समझेगा और अपनी आत्म-शुद्धि (उपादान-शुद्धि) के लिए अधिकाधिक पुरुषार्थ करेगा। वह अपनी भूलों, अशुद्धियों, दुर्बलताओं और विवशताओं का टोकरा दूसरों (निमित्तों आदि) के सिर पर डालकर, वृत्ति-विवश होकर उससे भागना–उदासीनता या उपेक्षा धारण करना कदापि पसंद नहीं करेगा। जो एक को झुकाता है, वह बहुतों को झुकाता है, लोक के, वह समग्र लोक के दुःखों को जानकर ही ऐसी उपलब्धि प्राप्त कर पाता है। ये हैं स्वरूपलक्षी संयम की उपलब्धियों के सुपरिणाम।

छठे सोपान का उत्तरार्द्ध : स्वरूपलक्षी संयम भी जिनाज्ञाधीन है

यहाँ तक पहुँचने के बाद भी एक महाभय मुमुक्षु संयमी साधक के सिर पर मँडराता रहता है, वह यह है कि पूर्वोक्त प्रकार से साधक को संयम स्वरूपलक्षी होने पर भी अध्यात्मज्ञान, शास्त्रज्ञान के अजीर्ण का, अपने स्वरूपलक्षी होने के अहंकार का अथवा जाति, कुल, बल, रूप, श्रुत, ऐश्वर्य, लाभ, तप आदि के मद का। प्रशंसा से मन में होने वाले बवंडर का अथवा अहंत्व के अभिमान का भी बहुत बड़ा खतरा है। अकारण होने वाली निन्दा को पचा जाना, पी जाना सरल है, किन्तु प्रशंसा को पी जाना या पचा जाना बहुत कठिन है। जुल्मों और अपमानों का सहना सरल है, किन्तु 'आओ, पधारो', 'घणी खम्मा' की या 'जय-जयकार' की कर्णप्रिय टंकार सुनाई दे रही हो, उसके वचनों को सुनने के लिये मानवमेदिनी के कान उत्सुक हों, आँखें उसके दर्शन-नमन करने के लिए अपलक रूप से गड़ी हों, उस समय की श्रद्धा, आशा और सम्मान-पूजा को पचाना अत्यन्त कठिन है। इसीलिए यहाँ कहा गया कि संयम स्वरूपलक्षी तो हो, मगर उसके साथ-साथ स्वच्छन्दता तथा अहंता-ममता, निन्दा-प्रशंसा एवं पूजा-प्रतिष्ठा के मगरमच्छ उसकी संयम-साधना को निगल न जाएँ, इसलिए स्वरूपलक्षता के साथ जिनाज्ञाधीनतारूपी सुरक्षा अवश्य होनी चाहिए, ताकि इन पूर्वोक्त दोषों से साधक बच सके, साथ ही साधक-दशा में संयमी को जो प्राथमिक साक्षात्कार, प्रसिद्धि, सिद्धि, उपलब्धि, लब्धि आदि प्राप्त होती हैं, उनमें पतन होने के खतरे से वह बच सके। इसके लिए जिनाज्ञाधीनता की ढाल साथ में रहनी जरूरी है। जिन यानी वीतराग, उनकी आज्ञा, अर्थात् वीतरागता का मार्ग, उसमें विचरण करना और अधीनता का अर्थ है–उसके लिए सर्वस्व समर्पण करना। आशय यह है कि स्वरूपलक्षी संयम के फलस्वरूप जो भी उपलब्धि, सिद्धि, प्रसिद्धि आदि प्राप्त हो, उसे परम श्रद्धा-भक्तिपूर्वक वीतराग देव के चरणों में समर्पण करना चाहिए। दूसरे शब्दों में उसके तथारूप संयम के साथ वीतरागता आनी चाहिए। वीतरागता आने पर उक्त सिद्धि, प्रसिद्धि, उपलब्धि आदि की प्राप्ति के प्रति उसकी निःस्पृहता, निर्लेपता,

निरीहता होगी। न तो राग होगा, *न द्वेष; न आसक्ति होगी और न घृणा। ऐसे वीतरागता*-समर्पित साधक को किसी प्रकार की उपाधि नहीं होगी। कोई निन्दा करे या स्तुति, वह तो इन दोनों ही प्रकार के शब्द-पुष्पों को वीतरागी महापुरुषों को ही यह कहकर चढ़ा देगा–"**त्वदीयं वस्तु गोविंद ! तुभ्यमेव समर्पये।**"–आपकी ही वस्तु आप ही को समर्पित करता हूँ।[1]

आशय यह है कि स्वरूपलक्षी संयम भी वीतराग देव के प्रति समर्पित होने पर साधक को जो कुछ भी पूजा या सम्मान, प्रतिष्ठा मिलेगी, उसे भी वह भगवान (मूल पुरुष) के चरणों में चढ़ा देगा। फिर उसे किसी प्रवृत्ति में 'ऐसा हो या वैसा हो', 'यह मिले या वह मिले', इस प्रकार की किंचित् भी विकल्प वांछा नहीं होगी। कहा भी है–

"भक्तहृदय भगवान्मय, चहे न कुछ प्रतिदान।
सर्वसमर्पण भक्त का, कहाँ रखे प्रतिदान ?"

अर्थात् सर्वस्व समर्पण करने के बाद साधक का कुछ नहीं रहा और न ही कुछ प्रतिदान वह वीतराग प्रभु से चाहता है। यानी बदले में वह कुछ चाहता नहीं। परन्तु जो कुछ नहीं चाहता, उसे भी बदला तो अचूक रूप से मिलता है। जो आत्म-भोग (Sacrifice) देता है, वह तो सचमुच आत्मानन्द का अमृतपान करता ही है।

भेद-भक्ति से अभेद-भक्ति की ओर प्रस्थान करने के लिए

परन्तु आखिर तो यह भेद-भक्ति ही होगी और संयमी-साधक को तो स्वयं आत्मा से परमात्मा बनना है, वह यदि इस वीतराग-भक्ति के अवलम्बन में, फिर वह अवलम्बन में ही अटक जाता है। चाहे वीतराग-प्रभु के वचनरूप हो, चाहे उनके शरीररूप हो, अथवा निराकारपदरूप हो, अथवा उपशम-दशा को ही पर्याप्त मानकर (उसी उपशम-दशा में ही संतोष मानकर) वहीं रुक जाता है, अथवा प्रस्फुटित आत्म-वीर्य की बाह्य चमत्कारिता में ही फँस जाता है। अतः जैसे निज-स्वरूप की लीनता में प्रतिबन्ध और स्वच्छन्द, ये दोनों रुकावटें डालने वाले थे, इसलिए प्रतिबन्ध को रोकने के लिए आत्म-स्थिरतापूर्वक त्रिकरणत्रियोगी संयम की आवश्यकता बताई तथा स्वच्छन्दता को रोकने के लिये वीतराग-वचनों में अटल श्रद्धा रखकर उनके अनुसरणरूप समर्पणता आवश्यक बतायी, वैसे ही समर्पणरूप-भक्ति में जिन-प्रभु मुझसे भिन्न है, ऐसी जो भेदभावना की प्रतीति होती है, उसी में ही रुक जाने की प्रतिबन्धता को रोकने के लिए अभेद-भक्ति भी

---

१. (क) 'सिद्धि के सोपान' से भाव ग्रहण, पृ. २६-२७
(ख) स्वरूपलक्षे जिनाज्ञा-अधीन जो॥अपूर्व.॥५॥
(ग) आत्मस्वभाव अगम्य ते, अवलम्बन आधार।
जिनपदथी दर्शावियाँ तेह स्वरूप-प्रकार॥ –*श्रीमद् राजचन्द्र*

आवश्यक है। अभेद-भक्ति से जिन-स्वरूप ही मेरा निज-स्वरूप है, ऐसी दृढ़ प्रतीति होने लगेगी। श्रीमद् राजचन्द्र जी ने भी कहा है–"**जिनपद-निजपद-एकता भेदभाव नहीं कांई।**" 'मैं अर्हत्स्वरूप हूँ, मैं सिद्धस्वरूप हूँ', ऐसी प्रतीति, अभेद-भक्ति से हो जाएगी। जो जिसका दृढ़ हृदय से स्मरण करता है, वह वैसा (तथारूप) ही हो जाता है। जैसे कि कहा है–

"इयल भ्रमरी-ध्यान थी, भ्रमरी बनती जेम।
जिनध्याने करी भविकजन, जिनपण बनतो तेम॥"

निश्चयदृष्टि से आत्मा स्वयं ही परमात्मा है। सिर्फ विभाव के कारण वह कर्मों से बँधा हुआ है। बन्धन छुड़ाने के लिए अहेतुकी भेद-भक्ति का अवलम्बन लिया गया, जिसमें इस भक्ति का उद्देश्य था, वीतराग वचनों के माध्यम से अन्तःकरण में विराजमान प्रभु के साथ धीरे-धीरे तद्रूपता आ जाती है, अतः संयम और अर्पणता के बाद अभेद-भक्ति के लिए प्रस्थान करता है और क्रमशः शुद्ध आत्मा में लीन हो जाता है। जैसे कि कहा गया है–"**ते पण क्षण-क्षण घटती जाती स्थितियाँ, अन्ते थामे निजस्वरूपमां लीन जो।**"

फलितार्थ यह है कि पहले जो अर्पणभाव अप्रमत्तता उपयोगपूर्वक साधकर, सावधान रहकर लाया जा सकता था और जो संयम रखा जा सकता था, वह संयम अब सहज हो जाता है अथवा संयम के फलस्वरूप प्राप्त होने वाला परम आनन्द सहज हो जाता है। इस दशा में 'ऐसे-वैसे' बन्धन नहीं होते। इसमें सर्व-क्रिया, सर्व-भक्ति और सर्व-ज्ञान के पुरुषार्थ के फलस्वरूप अन्त में निज के द्वारा निज-स्वरूपलीनता का प्रकाश-स्तम्भ बताया गया है।

निज-स्वरूपलीनता की शुद्ध प्रक्रिया का निष्कर्ष

निष्कर्ष यह है कि इस छठे सोपान में छठे गुणस्थान की भूमिका में स्थित साधक वैराग्यपूर्वक संयम-साधना करता हुआ मुक्ति की अनुप्रेक्षा क्रमशः इस प्रकार करता है–अब मेरी सूक्ष्म या स्थूल मानसिक, वाचिक, कायिक सभी प्रवृत्तियाँ एकमात्र संवर (संयम) के हेतु से हो। असंयम का एक भी विकल्प मेरे जीवरूपी नाले में न आ जाए, इसकी सावधानी रहे। कदाचित् आ भी जाए तो उस शल्य को प्रतिक्रमण द्वारा निकाले बिना मुझसे रहा ही न जाए। इस प्रकार संयम के साथ-साथ इच्छा और वृत्ति पर नियंत्रणरूप तप द्वारा अनायास ही उसका निर्जरण (क्षय) कर दिया जाए।"

साथ ही मेरे संयम का कुतुबनुमा (दिशादर्शक यंत्र) वीतरागता के ध्रुव तारे के अभिमुख होना चाहिए, ताकि मार्ग में राग-द्वेष, विषयासक्ति और कषायों-नोकषायों की टेढ़ी-मेढ़ी पगडंडियाँ या भूलभुलैया आ भी जाएँ तो भी मुझे दिशाभ्रम न हो, ताकि मैं अपनी स्वरूपलीनता की मंजिल तक निर्बाधरूप से पहुँच सकूँ।

"यद्यपि मैंने अपने मन, बुद्धि, चित्त, हृदय, प्राण, शरीर आदि सब अपने वीतरागरूप आप्तपुरुष के चरणों में समर्पित कर दिये हैं, किन्तु वहाँ वीतराग की और मेरी कोई भिन्नता न होने से, स्वरूपदृष्ट्या एकता होने से मेरा कहलाने वाला 'आप्त' (वीतराग) भी 'मैं रूप है', वहाँ मैं-तू की भेददृष्टि ही नहीं रही। क्योंकि मुझे जो कुछ पाना है, वह मेरे में ही है। सिर्फ मैं अपने आप को भूला हूँ। चलना भी मुझे है और वह भी अपने पैरों से और पहुँचना भी मुझे अपने स्थल में है। वहाँ 'पहले', 'आज' या 'बाद में' ऐसे भेददर्शक काल का भी बन्धन नहीं है। गति या स्थिति में सहायक रूप तत्त्वों की भी आवश्यकता नहीं है। वहाँ केवल स्वरूप-स्थिति है। वाणी तो वहाँ पहुँच ही कैसे सकती है? यद्यपि वर्तमान में ऐसी दशा प्राप्त नहीं है, तथापि इस दशा का मनोरथ भी मुझे ऋद्धि, सिद्धि, उपलब्धि या अन्य प्रलोभनों और बाह्य चमत्कारों से बचा सकने में उपयोगी है।" इतनी स्मृति, जागृति और अनुप्रेक्षा कदम-कदम पर हो तो एक दिन मंजिल तक पहुँचा जा सकता है। इसके आगे के गुणस्थानों की भूमिका की सोपान-प्रक्रिया पर हम अगले निबन्ध में प्रकाश डालेंगे।

● ●

१८

अप्रमत्त-संयत गुणस्थान से उपशान्त-मोह गुणस्थान तक–

मुक्ति के अप्रमत्तताभ्यास के सोपान

सप्तम सोपान : अप्रमत्तता तथा अप्रतिबद्धता का अभ्यास

स्वरूपलक्षी संयम के हेतु योगों की प्रवृत्ति जिनाज्ञाधीन होने पर तथा तदनन्तर भेद-भक्ति से अभेद-भक्ति की ओर बढ़ने पर साधक की स्वरूप-दशा कैसी होती है और क्रमशः कैसी होती जाती है? इसे छठे पद्य में संक्षेप में इस प्रकार बताया गया है–

"शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श; इन पंचेन्द्रिय-विषयों के प्रति राग और द्वेष दोनों का अभाव रहे, यानी मनोज्ञ और अमनोज्ञ दोनों ही परिस्थितियों पर समभाव–माध्यस्थ्य रहे तथा पाँच प्रकार के प्रमादों से मन की स्थिति क्षुब्ध (चंचल) न हो और कायिक, वाचिक और मानसिक प्रवृत्ति सिर्फ उदयभाव के अधीन होकर हो, परन्तु उसमें ऐसा ही हो, ऐसा नहीं या इससे ही हो, इत्यादिरूप से किसी प्रकार का द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव का प्रतिबन्ध (बन्धन) न हो और न ही उसमें किसी प्रकार की फलाकांक्षा (फलासक्ति) हो। दूसरे शब्दों में, प्रत्येक प्रवृत्ति में निर्लोभता, अनासक्ति, समता या आशा-स्पृहारहितता हो। अप्रमत्तभाव से ऐसी सुदृढ़ या परिपक्व साधना हो।"[1]

राग-द्वेषरहितता का तात्पर्य, अभ्यासविधि, जागृति

तात्पर्य यह है कि जिस छठे गुणस्थानवर्ती साधक ने सगे-सम्बन्धियों, जमीन-जायदाद या धन-सम्पत्ति पर से स्वामित्व (अहंत्व-ममत्व) हटाकर अकिंचन याचकवृत्ति (यथालाभ सन्तोष वाली सर्वसम्पत्करी भिक्षावृत्ति) अंगीकार की है, उस त्यागवीर भिक्षु को संयम-साधना के लिये अत्यावश्यक साधन समाज से प्राप्त करने के लिए आत्म-भाव खोये बिना पुरुषार्थ करे तो उसे मिल ही जाते हैं। परन्तु ये अत्यावश्यक साधन उसके द्वारा प्राप्त किये जाने पर या उसे प्राप्त होने पर उनमें उसका माध्यस्थ्यभाव–समत्वभाव टिका रहना चाहिये। अर्थात् न तो उनके कारण

---

१. पंचविषयमां राग-द्वेषविरहितता, पंचप्रमादे न मले मननो क्षोभ जो।
द्रव्यक्षेत्रे कालभावप्रतिबन्ध विण, विचरवुं उदयाधीन वीतलोभ जो॥अपूर्व.॥६॥

मोह हो और न घृणा हो। राग और द्वेष या मोह और घृणा, आसक्ति और अरुचि, ये एक ही वृत्तिरूप फुआरे की दो धाराएँ हैं। जहाँ एक आई, वहाँ दूसरी आती ही है।

शब्दादि विषयों के प्रति राग-द्वेषरहितता से अलभ्य लाभ

उदाहरणार्थ–किसी भक्त या सज्जन ने साधक के लिए यों कहा कि 'ये कितने महापुरुष हैं', कानों से इन शब्दों को सुनते ही जो साधक तुरन्त सावधान और मध्यस्थ हो जायेगा, उसे इन शब्दों को सुनने से अभिमान तो आएगा ही नहीं, बल्कि अधिक जागृति और उत्साह बढ़ेगा। इतना ही नहीं, वह उन सुने हुए शब्दों की अपने आन्तरिक और बाह्य जीवन के साथ तुलना करेगा और इस प्रकार तुलना करने से उसे अपनी कमी का अधिकाधिक ख़्याल आने लगेगा। ऐसी स्थिति में न तो उसे उन शब्दों पर या शब्द कहने वाले व्यक्ति पर मोह (रागभाव) होने का कारण रहेगा, न ही उसकी भूल बताने वाले पर उसे द्वेष या घृणा होगी। बल्कि अपनी भूल बताने वाले की जिज्ञासा का समाधान करने के लिये वह सदैव तैयार रहेगा। युक्तिपूर्वक समझाने पर भी भूल बताने वाला अपना मन्तव्य बदले या न बदले, तो भी उसे हर्ष-शोक नहीं होगा।[1]

इसके विपरीत कानों से सुना हुआ कोई भी प्रशंसावाचक, शब्द आकर्षक, मनोज्ञ एवं मोहक लगा तो वह अहंकार से गर्वित हो उठेगा, उसका लेप उसकी आत्मा को और चेप उसकी वृत्ति को लगेगा। ऐसा होने पर वह स्वयं को नम्र या अणु मानकर महत्ता की ओर बढ़ने से रुक जायेगा और जितने अंश में वह रुक जायेगा, उतने अंश में वृत्ति की लापरवाही आ जाने से भूलें होने लगेंगी और जब कोई उसे उसकी भूलों का भान करायेगा, तब उसके शब्द उक्त साधक को मर्मस्पर्शी चोट जैसे असह्य लगेंगे। वह उन शब्दों में से शुभ तत्त्व या सार न लेकर उलटे घृणा करने लगेगा। सावधान करने वाले व्यक्ति पर भी उसे अरुचि या घृणा पैदा होगी। फिर ऐसे साधक की जो हाँ में हाँ मिलाने वाला या जी-हजूरी करने वाला होगा, वही उसे अच्छा लगेगा। ऐसे खुशामदखोरों की बातें ही उसे सुहाएँगी। फिर वह पूर्वाग्रह या हठाग्रहवश अपनी अनर्थकर या अयथार्थ बात भी लोगों से मनवाने के लिए अनर्थ भी करेगा। जिस वस्तु का स्वयं को अच्छा ज्ञान नहीं है उसे भी लोगों के आगे कहकर या बढ़ा-चढ़ाकर कहकर प्रस्तुत करने में तथा दूसरों की सत्य बात को भी असत्य सिद्ध करने हेतु कुतर्क, कुयुक्ति एवं असत्य का सहारा लेगा। जिसके प्रति उसे घृणा या अरुचि है, उसे नीचा दिखाने व बदनाम करने के लिए षड्यंत्र रचने के हेतु हर प्रसंग पर उसका मानस तैयार हो जायेगा। इस प्रकार चित्त की धारा जब दो भागों में बँट जायेगी तो मध्यस्थता, समता या तटस्थता, चौपट हो जायेगी, इसमें कोई सन्देह नहीं है।

१. 'सिद्धि के सोपान' से भाव ग्रहण, पृ. ३२-३३

जैसे–शब्द के विषय में राग-द्वेष से हानि और राग-द्वेषविरहितता से अलभ्य आत्म-लाभ होता है, वैसे ही रूप, रस, गन्ध और स्पर्श के उभयविध प्रयोग से हानि-लाभ होता है। जैसे–रूपदर्शन के विषय में राग-द्वेष से विरहित, विरक्त, स्थितप्रज्ञ समभावी साधक नयनाभिराम कोई अच्छी वस्तु या वस्त्रादि मिले तो भी वह उस पर मोहित नहीं होगा और न नेत्रों को अरुचिकर कोई वस्तु मिले तो भी वह उस अमनोज्ञ वस्तु के प्रति घृणा नहीं करेगा। इसी प्रकार सुगन्ध या दुर्गन्ध आकस्मिक (स्वाभाविक) हो, वहाँ भी वह अपनी स्थिरता (सन्तुलन) नहीं खोएगा। खाद्य पदार्थों का सेवन भी वह स्वाद के लिए नहीं, अपितु जीवन-शक्ति के सिंचन हेतु आवश्यक रस के लिए करेगा। इसी प्रकार शय्या वगैरह कोमल हो या कर्कश, वह मध्यस्थ रहेगा। इसके विपरीत शब्दादि विषयों के प्रति अविरक्त व्यक्ति मनोज्ञ-अमनोज्ञ शब्दादि मिलने पर राग-द्वेष में लिप्त हो जायेगा।

राग-द्वेषविरहितता के लिए विरक्ति और जागृति आवश्यक

अतः इस सप्तम गुणस्थानवर्ती स्थितप्रज्ञ एवं अप्रमत्तताभ्यासी साधक की कोई भी प्रवृत्ति अकल्याणकारी न होकर स्वयं के और जगत् के लिए कल्याणकारी होगी। उसका चिन्तन ऐसा होगा कि पंचविषयों के सेवन करते समय राग-द्वेषविरहितता यानी विषयों के प्रति अत्यन्त विरक्त वृत्ति हो। क्योंकि थोड़ी देर के लिए भले ही हम इन्द्रियों को बंद करके आते हुए विषयों को महत्त्व न दें, किन्तु उसके बाद इन्द्रियाँ हैं तो विषय भी आयेंगे और हमें आकर्षित करने का प्रयत्न करेंगे, अतः उन विषयों के साथ जो राग-द्वेषरूप बन्धन है, उससे दूर रहना चाहिए, अर्थात् बन्धन से दूर रहने के लिए विषयों के प्रति विरागभाव जागना चाहिए। ऐसा न होने पर विषयों को थोड़ी देर के लिए दूर करने पर उनके प्रति आसक्ति या राग-द्वेषवृत्ति न मिटी तो वे बाहर से दिखने बंद हो जायेंगे, किन्तु ज्ञात-अज्ञात मन की कल्पना में आ धमकेंगे। इसलिए विरागभाव जाग्रत होने से पहले अथवा वैराग्यभाव को जाग्रत और सुदृढ़ करने हेतु अभ्यास करते समय कदाचित् इन्द्रियों को विषयों से अलग रखना पड़े तो वैसा करें, लेकिन विषयों में रस लेने का त्याग करने के बाद भी यदि आसक्ति या राग-द्वेषवृत्ति को कम करने का जरा भी अभ्यास या प्रयत्न नहीं होगा तो इन्द्रियाँ उस साधक को बलात् विषयों की ओर खींच ले जायेंगी। विषय अपने आप में बुरे नहीं हैं; किन्तु मन में रही हुई राग-द्वेषवृत्ति या आसक्ति ही विषयों में दोष का विष घोलती है, वही जीवन में विभिन्न दूषणों को बढ़ाती है। इसलिए विषयों से विरक्त सप्तम गुणस्थानवर्ती साधक आत्म-शक्ति बढ़ाने तथा स्व-परहित के लिए ही अपने आत्मिक वीर्य का उपयोग करते हैं। वे 'आचारांगसूत्रगत' "जे आसवा ते परिस्सवा।" इस भगवद्‌वचन का रहस्य हृदयंगम कर लेते हैं।

प्रमाद : साधक के सुदृढ़ जीवन भवन को प्रकम्पित करने वाला

परन्तु ऐसे विरक्त साधक द्वारा इन्द्रियों से विचलित न होने तथा मन को नियंत्रण में रखे जाने पर भी एक आध्यात्मिक शत्रु ऐसा है, जो भूकम्प के झटके की तरह साधक के सुदृढ़ जीवन-भवन को भी हिला देता है, वह है–'प्रमाद'। इसीलिए निर्देश दिया गया–"पंच-प्रमादे न मिले, मननो क्षोभ जो।"

अर्थात् पाँच प्रकार से पीड़ित करने वाले प्रमाद से साधक का मन जरा भी क्षुब्ध–विचलित या चंचल न हो। उसकी आत्म-स्थिरता की = स्थितप्रज्ञता की सुदृढ़ और टिकाऊ इमारत प्रमादरूपी भूकम्प के झटके से जरा भी क्षुब्ध न हो, हिले नहीं, यह ध्यान उसे सतत रखना चाहिए।

पंचप्रमाद : स्वरूप, विश्लेषण और विवेक

प्रमाद के मुख्यतया पाँच प्रकार हैं–मद, विषय, कषाय, निन्दा (या निद्रा) और विकथा।

प्रमाद का प्रथम अंग : मद या मद्य

मद के बदले कहीं-कहीं मद्य शब्द भी प्रयुक्त होता है। मद्य के दो भेद हैं–द्रव्यमद्य और भावमद्य। द्रव्यमद्य वे हैं, जो मनुष्य की सात्त्विक बुद्धि को लुप्त कर देते हैं।[1] जैसे–मदिरा, भाँग, गाँजा, चरस, तम्बाखू (बीड़ी-सिगरेट) आदि। भावमद्य वे हैं, जो मद यानी अभिमानजन्य अहंकार, गर्व, घमण्ड आदि भाव पैदा करने में निमित्त हैं। वे आठ हैं–जाति, कुल, बल, रूप, तप,[2] श्रुत (विद्या), लाभ और ऐश्वर्य का मद।

मद के प्रकार–मेरा समाज, मेरा धर्मसंघ, मेरा पंथ, सम्प्रदाय या मार्ग, मेरी जाति, मेरा राष्ट्र, मेरा प्रान्त ही सच्चा है, ऊँचा, उन्नत है, श्रेष्ठ है, बाकी सब समाज आदि झूठे, नीचे या कनिष्ठ हैं। दूसरों की अपेक्षा मैं कितना बड़ा नेता, राजा, मंत्री, राज्याधिकारी, उच्च पदाधिकारी या अगुआ हूँ। दूसरे सब मेरी सलाह लेकर ही चलते हैं, नतमस्तक होकर चलते हैं। मेरे बिना इन्हें पूछता ही कौन है?" ये और इस प्रकार के अभिमान से आगे बढ़ती हुई आत्मा पछाड़ खाकर गिर पड़ती है। इसीलिए इसे प्रमाद का प्रथम अंग बताया गया है। विचार, वाणी और व्यवहार में उद्दण्डता, उच्छृंखलता, स्वच्छन्दता, उड़ाऊपन आने पर[3] पद, अधिकार

---

१. बुद्धिं लुम्पति यद् द्रव्यं मदकारि तदुच्यते।

२. तप के अन्तर्गत त्याग, प्रत्याख्यान, व्रत, नियम, जप, भजन, ध्यान आदि का समावेश हो जाता है।

३. निर्धारित बाजी के सफल होने पर 'मैं कितना होशियार हूँ' इस प्रकार का गर्व लाभमद कहलाता है। ऐसा गर्व दूसरों के प्रति तुच्छ भावना और तिरस्कार पैदा करता है।

या प्रभुत्व सन्तोष देने के बदले असन्तोषवर्द्धक अथवा उस पद आदि से भ्रष्ट होने का समय आ जाता है। उच्च शिक्षा, साधन और अधिकार[1] मिलने पर ऐसे लोग अहंकारवश संक्लिष्ट, ईर्ष्यालु और दुःखी होते रहते हैं।[2]

प्रमाद का द्वितीय अंग : विषय

प्रमाद का दूसरा अंग है–विषय। विषय का सम्बन्ध विशेषतया विकार से है। इतनी उच्च कोटि पर पहुँचा हुआ साधक पंचेन्द्रिय विषयों के प्रति राग-द्वेष का, मनोज्ञता-अमनोज्ञता का, प्रियता-अप्रियता का भाव न आने देने की जागृति रखेगा। स्पर्शेन्द्रिय विषय से निवृत्त रहने के लिए स्त्रीमात्र के प्रति मातृभाव रखेगा या स्व-परिणीत स्त्री के साथ भी विकृत सम्बन्ध नहीं रखेगा। साधक की मनोभूमि में शरीर-स्पर्शजन्य कामविकार के संस्कार क्षीण नहीं होंगे तो बाह्य (ज्ञात) मन से निवृत्त होने पर भी अज्ञात मन में पड़े कुसंस्कारवश किसी न किसी निमित्त के मिलते ही वे प्रादुर्भूत हो जायेंगे और मन को क्षुब्ध कर डालेंगे। इसीलिए विषय को प्रमाद का अंग माना गया है। क्योंकि प्रमाद का अर्थ है–आत्म-स्खलन, आत्मा की स्थिरता को विचलित करना।

वस्तुतः जननेन्द्रिय के स्पर्शसुखजन्य कामवासना-संस्कार ठेठ आत्मा के उच्च-स्तर तक दृढ़ता के साथ पहुँचकर गहरा प्रभाव डालते हैं और आगे बढ़ते हुए साधक को जितना पीड़ित करते हैं, उतने अन्य इन्द्रियों के विषय पीड़ित नहीं करते। यद्यपि सभी इन्द्रियों के विषय परस्पर एक-दूसरे के निकटवर्ती या दूरवर्ती संगी-साथी तो हैं ही। परन्तु इनका सम्बन्ध राजा और राजसैन्य जैसा है। राजा को जीत लिया तो उसका सारा सैन्य स्वतः ही जीता जाता है। इसी तरह स्पर्शेन्द्रिय विषय को जीत लिया तो दूसरे विषय प्रायः जीत लिये समझो। श्रीमद् राजचन्द्र ने कहा है–

"एक विषय ने जीततां, जीत्यो सौ संसार।
नृपति जीततां जीतिए, दल, पुर ने अधिकार॥"

प्रमाद का तृतीय अंग : कषाय

कषाय प्रमाद का तीसरा अंग है। अप्रमत्त दशा में उत्तरोत्तर आगे बढ़ने से ही निर्ग्रन्थ साधक विकार पर सर्वोपरि काबू पा सकता है। फिर भी कषाय का अंश

---

१. ऐश्वर्य का अर्थ है–सहज रूप से पच सके, वैसा अधिकार। अधिकार-प्राप्त मानव यदि गर्व करता है, तो अपना व विश्व का अनिष्ट बढ़ाता है।

२. कर्युं करुं छुं भजन आटलुं ज्यां त्यां वात कराय नहीं।
हूं मोटो मुजने सहु पूजे, ए अभिमान कराय नहीं॥
इस भजन की कड़ी का भी यही तात्पर्य है।

तो बारहवें गुणस्थान में न पहुँचे, वहाँ तक रहता है। उसी को लेकर उपशम कोटि की विकास श्रेणी तक विकास-प्राप्त जीव ग्यारहवें गुणस्थान से क्रमशः गिरता-गिरता केवल अज्ञानी की कोटि में आ जाता है। कषाय और नोकषाय मिलकर चारित्र मोहनीय के २५ प्रकार हैं। पर उन सबका मूल है—मोह। अज्ञान के नष्ट होने पर मोह दूर होता है। परन्तु यह निर्मोहता जब तक विचार, वाणी और व्यवहार में पूर्ण रूप से और सहज न उतरे, वहाँ तक जीव साधक-दशा में रहता है। इतना ही नहीं, बल्कि असावधानी से अपना पतन भी कर लेता है। इसलिए निर्ग्रन्थ साधक को अप्रमत्तता का अभ्यास करने के लिये सतत सावधानी रखनी अनिवार्य है।[१]

प्रमाद का चतुर्थ अंग : निन्दा या निद्रा

प्रमाद का चतुर्थ अंग निन्दा या निद्रा है। किसी व्यक्ति का स्वयं को प्रतीत होने वाला दोष दूसरे के समक्ष खुला करके उस व्यक्ति को बदनाम करना, नीचा दिखाना, निन्दा का स्थूलरूप है। ऐसा करने से दोषी व्यक्ति का दोष कम नहीं हो जाता, प्रायः व्यक्ति अपने दोष की निन्दा सुनकर छोड़ता भी नहीं, बल्कि उस दोष का चेप निन्दा करने और सुनने वाले, दोनों को लगता है। इसीलिए कहा गया है—निन्दा के समान कोई अनिष्ट नहीं है। निन्दा की बेल वहीं पनपती है, जहाँ आलस्य और अज्ञान होता है। निन्दा के स्थूल स्वरूप की अपेक्षा उसका सूक्ष्म स्वरूप भयंकर है। साधक की गफलत से—अपने से दूसरे के विचार, वचन और आचार-व्यवहार निम्न कोटि हैं, ऐसा विचार आते ही सूक्ष्म निन्दा प्रविष्ट हो जाती है। जहाँ दूसरे की यशःकीर्ति, प्रतिष्ठा, विद्या, प्रभाव, अनुकूलता, लाभ या शक्ति में अधिक देखकर उसके प्रति ईर्ष्या, द्वेष, असूया, चुगली, द्रोह, नीचा दिखाने की या उसके प्रति लोक श्रद्धा गिराने की या असहिष्णुता या गुणग्रहण भावरहितता की वृत्ति आई कि अदृश्य रूप से अन्तःकरण में निन्दा आ गई; जो भावहिंसा है, आत्म-रस को चूसने वाली महाराक्षसी है। द्रव्यनिद्रा भी प्रमाद है, किन्तु भावनिद्रा तो महाप्रमाद है; जिसके कारण साधक ज्ञानादि पंचाचार के प्रति आलसी, अपुरुषार्थी, असावधान, प्रमत्त, अनुत्साही और उपेक्षक बन जाता है।

प्रमाद का पंचम अंग : विकथा

प्रमाद का पंचम अंग विकथा है। इसके चार प्रकार हैं—(१) **स्त्री-विकथा**—स्त्रियों के रूप-लावण्य, अंगचेष्टा आदि की कामोत्तेजक कथा, (२) **भक्त-कथा**—भोज्य पदार्थों की आसक्तिजनक कथा, जिससे स्वादेन्द्रिय-आसक्ति बढ़े, (३) **देश-विकथा**—देश-विदेश के भोगोपभोग के विलासी साधनों की तथा परिग्रह

१. 'सिद्धि के सोपान' से भाव ग्रहण, पृ. ३६-३८

की कथा, और (४) राज-कथा–राजनैतिकों की युद्धोत्तेजक कथा। स्त्रियों के गीतों, अभिनयों, अंगचेष्टाओं और सौन्दर्य एवं सुन्दरियों का विकारोत्तेजक ढंग से वर्णन करना स्त्री-सम्बन्धी विकथा है। जैसे–महिला-सम्बन्धी विकारोत्तेजक वर्णन पुरुष को लागू होता है, वैसे ही पुरुष-सम्बन्धी विकारोत्तेजक वर्णन स्त्री को लागू होता है। वाह ! कितना बढ़िया साग बना है ! रायता कितना स्वादिष्ट है ! इस प्रकार रसनेन्द्रिय की आसक्तिजनक बातें करना भक्त-विकथा है। इसी प्रकार नये फैशन के कपड़े, गहने और नई प्रसाधन-सामग्री, बंगला, फर्नीचर आदि भोगविलास के साधनों की प्रशंसा करने से परिग्रह, विलास और असंयम की प्रेरणा मिलती है; यह परिग्रह-कथा है। इसी प्रकार अमुक व्यक्ति या देश के साथ युद्ध करना चाहिए। युद्ध किये बिना उसकी अक्ल ठिकाने नहीं आयेगी। अच्छा हुआ, अमुक हार गया या अमुक जीत गया ! कोई हिन्दू है तो–'इस दंगे में बहुत-से मुस्लिम मारे गये !' अथवा कोई मुस्लिम है तो–'बहुत अच्छा हुआ, हिन्दुओं की चटनी हो गई !' इस प्रकार की युद्धोत्तेजक बातें करने से वैर-विरोध, क्रोध, आवेश, कुतूहल, हास्य, शोक या भय की वृत्ति पैदा होती है; जो स्व-पर दोनों के लिए घातक है।

प्रमाद के ये पाँचों ही अंग आत्मारूपी सूर्य को ढक देते हैं। आत्मा के अनन्त वीर्य (बल) को धूल में मिलाकर उसे कायर और पामर बना देते हैं। इन सब का मूल है–मोह। मोहरहित होने के लिए पाँच प्रमादों द्वारा होने वाले आत्म-विकासावरोधक मानसिक कोलाहल से दूर रहना चाहिए।[१]

चारों प्रकार के प्रतिबन्ध भी वीतरागता-प्राप्ति में बाधक

व्यापक वीतरागता के लिए **प्रतिबन्ध** भी बाधक ही है। वह आत्म-शान्ति को टिकने नहीं देता। वह प्रतिबन्ध भी चार प्रकार का है–द्रव्य का, क्षेत्र का, काल का और भाव का। (१) **द्रव्य-प्रतिबन्ध**–मुझे अमुक वस्तु, व्यक्ति, संस्था या सम्प्रदाय आदि हो तभी मैं अपना विकास कर सकता हूँ, अन्यथा नहीं। (२) **क्षेत्र-प्रतिबन्ध**–मुझे अमुक क्षेत्र (कार्य-क्षेत्र या विचरण-क्षेत्र; गुजरात, राजस्थान, बंगाल, उत्तर प्रदेश या बिहार आदि प्रान्तों में से एक) अच्छा लगता है, दूसरा नहीं। अथवा मैं मानव-जीवन के पारिवारिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, राजनैतिक या सांस्कृतिक आदि क्षेत्रों में किसी एक क्षेत्र में ही काम कर सकता हूँ, दूसरे में नहीं। (३) **काल-प्रतिबन्ध**–मैं अमुक अवस्था, अमुक उम्र या अमुक समय पर ही अमुक कार्य या बात कर सकता हूँ, दूसरे समय आदि में नहीं। (४) **भाव-प्रतिबन्ध**–मैं अमुक भावों, संयोगों या परिस्थितियों में ही यह साधना कर सकूँगा या सत्याचरण कर सकूँगा, दूसरे भावों या संयोगों आदि में नहीं। ये और इस प्रकार के द्रव्यादि प्रतिबन्ध-चतुष्टय साधक के आध्यात्मिक अभ्युदय या स्वतंत्र आत्म-विकास में

---

१. 'सिद्धि के सोपान' से भाव ग्रहण, पृ. ३९-४०

बाधक, विघ्नकारक एवं बन्धनकारक हैं। कदाचित् उदीयमान साधक को प्राथमिक अवस्था में द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावों का ऐसा सम्यक् अवलम्बन साधक हो सकता है, किन्तु साधना में आगे बढ़े हुए या आगे बढ़ने के = उच्च गुणस्थान में पहुँचने के इच्छुक साधकों को इन्हें हेय अथवा उपेक्षणीय समझने चाहिए।

अप्रतिबद्ध दशा-प्राप्ति के लिये उदयाधीन विचरण

अप्रतिबद्ध दशा का आचरण और विचरण कैसा होना चाहिए? इस सम्बन्ध में कहा गया है–"**विचरणुं उदयाधीन पण वीतलोभ जो।**"

अर्थात् बन्धन (प्रतिबन्ध) रहित विहरण, चाहे वह अन्दर का हो या बाहर का, उदयाधीन होना चाहिए। उदयाधीन का तात्पर्यार्थ है–सहज-स्फुरित और वह सहज-स्फुरण या आन्तर-ध्वनि सत्य है या मिथ्या? इसकी जाँच-परख का गुर यह है कि वह विचरण उद् + अय् + अ = उदय, यानी ऊँचा ले जाने वाला प्रतीत होना चाहिए। आशय यह है कि साधक को जिनाज्ञा और गहन आत्म-चिन्तना से ऐसा लगे कि यह कार्य स्व-पर के विशेष उत्कर्ष = कल्याण का कारण है, तो उसे किसी भी भाव के बन्धन के बिना कार्यरूप में परिणत करना उदयाधीन विचरण है। उपर्युक्त कसौटी पर कसने पर साधक को लगे कि वह विचरण व आचरण ऊँचा ले जाने वाला है, फिर भी निर्ग्रन्थ (छद्मस्थ) साधक को उससे भी प्रतिक्षण सावधान रहना चाहिए। क्योंकि प्रतिष्ठा, प्रशंसा, यशःकीर्ति, सुविधा-प्राप्ति, शिष्य-शिष्या-प्राप्ति, भक्त-वृद्धि, खान-पान-प्राप्ति या आदराधिक्य आदि किसी भी प्रकार का लोभ, साधक के अवचेतन (अन्तर) मन के किसी कोने में सूक्ष्म रूप से भी पड़ा हो तो वह एक गाँठ से छुड़ाकर दूसरी गाँठों में बाँध देता है। इसीलिए इस पद्य के अन्तिम चरण में उदयाधीन के साथ एक विशेषण और जोड़ा गया है– '**वीतलोभ**'। यानी अप्रतिबद्ध विचरण (प्रवृत्ति) उदयाधीन हो तो भी यह वीतलोभ (लोभरहित) अर्थात् किसी भी प्रकार की कामना, स्पृहा, लालसा या आकांक्षा से रहित उदयाधीनता होनी चाहिए। क्योंकि जिसने कर्मों (क्रियाओं) के फलमात्र की कामना छोड़ दी है, जिसने स्वयं को वीतराग चरण में या वीतराग के चुस्त उपासक गुरुचरण में समर्पित कर दिया है और विश्वात्म सिन्धु में विलीनता प्राप्त कर ली है, उसकी ऐसी सहज दशा होनी स्वाभाविक है।[1]

निष्कर्ष यह है कि अप्रतिबद्धता के अभ्यासी साधक को अपनी भूमिका के अनुसार किसी भी द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के प्रतिबन्ध में लिप्त हुए

१. (क) 'सिद्धि के सोपान' से भाव ग्रहण, पृ. ४०-४२
(ख) भगवान महावीर को जहाँ और जिस दशा में अमुक द्रव्य, क्षेत्र, काल या भाव प्रतिबन्धक प्रतीत हुआ, वहाँ वे जाग्रत और प्रतिबुद्ध होकर अप्रतिबद्धता की दिशा में आगे बढ़ गए। –सं.

बिना किसी भी प्रकार के प्रलोभन की स्पृहा रखे बिना अप्रतिबद्ध, अस्तब्ध (बिना रुके), अप्रतिहत या अस्खलित रूप से इसके आचरण के लिये तैयार रहना चाहिए।

अष्टम सोपान : कषाय और नोकषायों पर विजय के लिए तैयारी

इससे पहले के पद्य में राग, द्वेष और प्रमाद पर विजय प्राप्त करने की बात समुच्चय में कही गई थी। यद्यपि छठे पद्य से लेकर तेरहवें पद्य तक में कही गई बातें क्रमशः कषायविजय, नोकषायविजय, योगों की निश्चलता, धर्म-शुक्लध्यान एवं वीतराग-अवस्था से सम्बन्धित हैं।

आशय यह है कि सातवें से लेकर ग्यारहवें गुणस्थान तक मन की परिणाम धाराएँ हैं। उनकी उत्कृष्ट स्थिति भी एक मुहूर्त्त से भी कम बताई गई है। इसलिए बारहवें गुणस्थान पहुँचने तक साधना-जीवन पतन और उत्थान या ज्वार और भाटे की तरंगों के बींच झूलता रहता है। ऐसा होते हुए भी उनकी आन्तरिक दशा में तरतमता (न्यूनाधिकता) होने से उनकी पृथक्-पृथक् कक्षाएँ नियत की गई हैं। सातवें गुणस्थान से लेकर दसवें गुणस्थान तक क्रोध, मान और माया भाव तथा नौ नोकषाय भाव नष्ट हो जाते हैं, दसवें गुणस्थान में संज्वलन का (सूक्ष्म) लोभ ही रह जाता है। यही कारण है कि अगर उपशमश्रेणी वाला जीव हो तो ग्यारहवें गुणस्थान की भूमिका का स्पर्श करके फौरन पतन के चक्र में वापस लौट जाता है। यदि वह क्षपकश्रेणी वाला हो तो ग्यारहवें गुणस्थान का स्पर्श न करके दसवें से सीधा बारहवें (क्षीणमोह) गुणस्थान की भूमिका में प्रतिष्ठित हो जाता है, फिर उसके पतन का खतरा बिलकुल नहीं रहता। फलतः अन्तुर्मुहूर्त्त जितने समय में ही वीतरागता की पराकाष्ठा पर पहुँचकर वह अपने सहज परिपूर्ण केवलज्ञान-केवलदर्शन को प्राप्त कर लेता है।

कषायों से शुद्ध आत्मा की रक्षा कैसे करें ?

परन्तु सम्पूर्ण केवलज्ञान की स्थिति तक पहुँचने से पूर्व राग, द्वेष और कषायों से प्रतिपल सावधान रहकर उत्तरोत्तर कैसे उच्च सोपानों पर आरोहण कर सकता है? इसके लिए कषाय पर पूर्ण विजय के लिए सातवाँ और आठवाँ पद्य इस प्रकार है–

"क्रोध प्रत्ये तो वर्ते क्रोध-स्वभावता,
मान प्रत्ये तो दीनपणानुं मान जो।
माया प्रत्ये माया साक्षी भावनी,
लोभ प्रत्ये नहि लोभ-समान जो॥७॥

बहु उपसर्गकर्ता प्रत्ये पण क्रोध नहि,
वंदे चक्री तथापि न मले मान जो।
देह जाय पण माया थाय न रोममां,
लोभ नहि छो प्रबल सिद्धि-निदान जो॥८॥''

इनकी पूर्व भूमिका यह है कि सातवें और आठवें पद्य में राग और द्वेष के क्रोध, मान, माया, लोभ रूप चार सेनानियों (युद्ध-विशारदों) के साथ अप्रमत्त-साधनाशील आत्मा को अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगाकर एक बार तो भिड़ ही जाना पड़ता है। जब आमने-सामने विजय-गर्विष्ठ योद्धा (आन्तरिक) युद्ध के मैदान में उतर पड़ते हैं, तब दोनों पक्षों में जोश होता है, दोनों पक्ष एक-दूसरे पर जोर-शोर से हावी होने लगते हैं। ऐसे आन्तरिक महासमर के समय अप्रमत्त साधनाशील साधक की कसौटी होती है। ऐसे समय में क्रोधादि का सामना साधक कैसे करे? इसके लिए सप्तम पद्य में दिशा-निर्देश दिया गया है।[1]

क्रोध जब हावी होने को आए, तब उसके प्रति सहज रूप से क्रोध हो, अर्थात् उस समय होश के साथ अक्रोधता का जोश स्वाभाविक बना रहे। मान आने के लिए उद्यत हो, उस समय अत्यन्त दीनता (अत्यन्त नम्रता) का मान यानी स्वाभाविक आदर हो। माया (छल-कपट) जब आने के लिए उद्यत हो, तब माया के प्रति प्रीति खोकर साक्षीभाव के प्रति माया (प्रीति) उत्पन्न हो तथा लोभ के प्रति लोभ के तुल्य न बनूँ। अर्थात् जैसे—लोभ दूसरों को लुभाकर अपनी ओर खींच लेता है, वैसे ही आत्मा शुभ या अशुभ किसी भी सांसारिकभाव को लुब्ध होकर न खींचे। यदि पूर्वाध्यास के कारण शुभाशुभ भाव खींचे चले आएँ तो भी स्वयं निर्लेपभाव (अलुब्धभाव) में स्थित रहे।

क्रोध के प्रति स्वभाव-रमणता का जोश कैसे रहे?

आवेश, रोष, कोप, गुस्सा, द्वेष, ईर्ष्या, वैर-विरोध आदि सब क्रोध के परिवार हैं। कषायों में सबसे पहला नम्बर क्रोध का है। यह तो स्पष्ट है कि क्रोधी मनुष्य अधिक समय तक अपना स्वरूप शायद ही छिपा सकता है। क्रोध जल्दी से जल्दी सर्वप्रथम खुला (प्रकट) हो जाता है। क्रोध के समय क्रोधी के मानसिक उतार-चढ़ाव, चेहरा और उसकी वृत्ति या खासियत का तुरन्त पता लग जाता है, उसकी फौरन कलई खुल जाती है। क्रोध का पता लगाने में ये लक्षण दर्पण का काम करते हैं। इतनी आसानी से मान, माया और लोभ की परख नहीं हो सकती।

---

१. (क) 'सिद्धि के सोपान' से भाव ग्रहण, पृ. ४४-४५
(ख) 'अपूर्व अवसर', पद्य ७-८, उनका अर्थ और रहस्य

क्रोध के प्रति स्वाभाविक क्रोध पैदा हो तो आत्मा अपना भव्यत्व प्रगट कर रहा है, यह समझना चाहिए। क्रोध का अर्थ यहाँ आवेश किया जाए तो आवेश का तात्पर्य अनात्मभाव होने से शरीर पर इसका मुख्य असर होता है। विद्या चाहे जितनी प्राप्त की हो, किन्तु क्रोध आया कि क्षणभर में उसका पानी उतर जाता है। शक्ति और सुन्दरता चाहे जितनी प्राप्त हो जाए, क्रोध के आते ही उसमें हिंसा और बेडौलपन आ जाता है। जैनागम में बताया गया है—नारक जीवों में क्रोध अधिक होता है, इस कारण उनका शरीर बिलकुल बेडौल और दुर्गन्धयुक्त होता है। क्रोधी का अन्तरंग शरीर भी शायद ही इस लक्षण से विपरीत हो। इसीलिए कहा गया है कि क्रोधादि के समय स्वभाव-रमणता का जोश कायम रहना चाहिए।

क्षपकश्रेणी पर चढ़ गया, वह अवश्य ही कषायों पर विजय प्राप्त करेगा

जो आत्माएँ क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त कर चुकी होती हैं, उनके पक्ष में लगभग क्रोधादि चारों कषायों पर इसी दृष्टि से विजय प्राप्त होने की संभावना है और इसी अवस्था (क्षपकश्रेणी प्रारम्भ करने के दौरान) यदि उसने पूर्ण संयम, आत्म-स्थिरता और अप्रमत्तता के शस्त्रों से इस अवशिष्ट सूक्ष्म (संज्वलनीय) क्रोध को जीत लिया तो फिर वह क्रमशः शेष सभी शत्रुओं (मानादि कषायों तथा नौ नोकषायों) पर विजय प्राप्त करके ही दम लेता है। अर्थात् आठवें गुणस्थान से ही जो जीव क्षपकश्रेणी पर चढ़ गया, वह अवश्य ही (कर्मबन्ध या मोह के मुख्य कारणभूत) (समस्त कषायों-नोकषायों पर) विजय प्राप्त कर लेगा, यह अध्यात्म दृष्टि से कर्मविज्ञानवेत्ताओं की भविष्यवाणी है।[1]

लोभ जीतने पर सर्वस्व जीत लिया, नहीं तो क्रोधादि मूल से क्षीण नहीं हुआ

ऐसी क्षपकश्रेणी वाले साधक के सर्वप्रथम सूक्ष्म क्रोध विदा हो जाता है, तदनन्तर मान और फिर माया और सबसे अन्त में लोभ विदा हो जाता है। लोभ को सर्वांगरूप से जीत लिया तो समझ लो सर्वस्व जीत लिया।

परन्तु लोभ को इतना जल्दी पहचाना नहीं जाता, न ही वह सहसा पकड़ में आता है; इतनी गूढ़ चीज है। संसार का मूल लोभ से प्रारम्भ होता है, इस तथ्य का 'बृहदारण्यक उपनिषद्' में सुन्दर ढंग से प्रतिपादन किया गया है—"**सोऽकामत, एकोऽहं बहुस्याम्। स तेन तपोऽतप्यत।**" अर्थात् उसने यह कामना की कि मैं एक (अकेला) हूँ, अनेक हो जाऊँ और उसके लिये उसने कामनामूलक तप किया और संसार शुरू हुआ।

---

१. (क) 'अपूर्व अवसर', पद्य ७ का अर्थ
   (ख) सप्तम पद्य का रहस्य
   (ग) 'सिद्धि के सोपान' से भाव ग्रहण, पृ. ४६

चारों कषायों में लोभ का प्रभाव सर्वाधिक : क्यों और कैसे ?

क्रोध का प्रभाव शरीर-पर्यंत जल्दी पहुँच जाता है, मान का प्रभाव बुद्धि और मन तक रह सकता है तथा माया का प्रभाव हृदय-पर्यंत भी रह सकता है। किन्तु लोभ का प्रभाव ठेठ आत्मा तक प्रगाढ़ और प्रच्छन्नरूप से रह सकता है। इस प्रकार ये सब उत्तरोत्तर सूक्ष्म, सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतम हैं। प्रवृत्ति शुभ हो या अशुभ, सत्य वृत्ति हो या असत्य प्रवृत्ति, लोभ उनमें गूढ़रूप से रहता है। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव सर्वत्र वह अपना पंजा जमाये रहता है। लोभ कैसे प्रच्छन्नरूप से क्रोधादि को ले आता है? इसके लिए उदाहरण लीजिए–मान लो इस अप्रमत्त साधनाशील साधक को एक अच्छी बात को, दूसरे के दिमाग में ठसाने का लोभ हुआ। यानी अमुक आत्मीय जन को मेरी सुन्दर बात माननी ही चाहिए, ऐसा उसके प्रति आग्रह (जो अपने प्रति होना चाहिए, उसके बदले दूसरे के प्रति) हुआ। उक्त साधक ने उक्त व्यक्ति से अपनी बात मनवाने के लिए उसके समक्ष इस ढंग से प्रस्तुत की, जिसमें कितनी ही बातें छिपानी पड़ीं, इसलिए माया हुई। फिर यदि वह बात उक्त साधक के निकटवर्ती जनों में से किसी ने या किन्हीं ने मान ली; तो उक्त साधक को उसका गर्व (अभिमान) हुआ और जिन लोगों ने नहीं मानी, उनके प्रति रोष, घृणा या आवेश पैदा हुआ, अतः क्रोध हुआ, इस प्रकार यह कषाय चौकड़ी, भले ही संज्वलन की हो, एक-दूसरे के साथ अच्छी तरह जुड़ी हुई है।

दूसरा उदाहरण लीजिए–मान लो, किसी अप्रमत्त साधनाशील साधक को किसी मोहक पदार्थ के प्रति आकर्षण हुआ, उस पदार्थ को पाने के लिए उस साधक के प्रतिद्वन्द्वी भी आकर्षित हो गए। अतः उक्त मोहक पदार्थ को सबसे पहले प्राप्त करने की लालसा उक्त साधक में जगेगी। अपने मित्रजनों के समक्ष ऐसी लालसा स्पष्टतः जिक्र करने में बाधक बनेगी, इसके लिए वह कपट का या कपटपूर्ण भाषा का आश्रय लेगा। कदाचित् उस बारे में वे कभी पूछ बैठेंगे, तो वह टालमटूल करने का प्रयास करेगा या विश्वासघात या अन्य प्रपंच करेगा। उक्त पदार्थ को पाने की चिन्ता में वह साधक अपनी विशालता को खो देगा या माया आ जाएगी। यदि किसी प्रकार से वह पदार्थ उसे प्राप्त होने वाला है या हो चुका है, इसका पता लगते ही वह गर्व से फूल उठेगा। कदाचित् उक्त पदार्थ को पाने की प्रतिद्वन्द्विता में दूसरे सफल हो गए और वह साधक हार गया तो वह चाहे उक्त साधक का घनिष्ट मित्र या और कोई स्वजन-परजन हो, वह उस पर क्रुद्ध होकर बरस पड़ेगा। इस प्रकार एक लोभ के कारण यह सर्वनाश का क्रम शुरू हो जाता है। एक लोभ के साथ शेष कषाय भी आ धमकते हैं।

इसी तथ्य को 'दशवैकालिकसूत्र' में स्पष्ट कहा है–

"कोहो पीईं पणासेइ, माणो विणयणासणो।
माया मित्ताणि नासेइ, लोभो सव्वविणासणो॥"

—क्रोध प्रीति का, मान विनय का, माया मैत्री का और लोभ सब का विनाश कर डालता है। इस दृष्टि से लोभ सर्वनाश का मूल है। मोह और लोभ, ये दोनों बदले हुए वेष के सिवाय, एक ही सिक्के के दो बाजू हैं। मूल में ये दोनों एक ही हैं।

उपशमश्रेणी वाले साधक के लिए कितनी सावधानी की जरूरत ?

उपशमश्रेणी वाले साधक में कदाचित् संज्वलन क्रोध, मान और माया के बाह्यरूप से उपशान्त दिखाई देते हों, परन्तु संज्वलन का लोभ सर्वथा क्षय नहीं हो पाता। यही कारण है कि वह दसवें से सीधा बारहवें गुणस्थान में न पहुँचकर ग्यारहवें गुणस्थान में जाता है। फलतः उसका मोह सर्वथा क्षीण नहीं हो पाता, उपशान्त रहता है, जरा-सा निमित्त मिलते ही उस साधक का पतन हो जाता है। इसलिए इस सोपान में सूक्ष्म कषायों पर भी पूर्ण विजय प्राप्त करने की साधना और सावधानी बताई गई है।

जहाँ तक सर्वकर्ममुक्ति की भूमिका पर स्थिर न हो जाए, वहाँ तक साधक के लिए कदम-कदम पर फिसलने का भय रहा हुआ है। काजल की कोठरी में सदैव रहने वाले के लिये निर्लेप रहना अतीव कठिन, महाकठिन है। यहाँ जिन कषायों की बात कही गई है, वे संज्वलन कोटि के होते हैं। क्योंकि इस भूमिका में अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानी और प्रत्याख्यानी, ये तीनों कषाय-चौकड़ियाँ नहीं होतीं, किन्तु मूल में देखा जाए तो संज्वलन कषाय और अनन्तानुबन्धी कषाय में कषायत्व द्रव्य की अपेक्षा से कोई अन्तर नहीं पड़ता। अन्तर सिर्फ काल, क्षेत्र और भाव का है। यानी अनन्तानुबन्धी की अपेक्षा अप्रत्याख्यानी, प्रत्याख्यानी और संज्वलन कषाय उत्तरोत्तर क्रमशः कम काल तक टिकते हैं, कम हैरान करते हैं, सभी कारणों पर क्रमशः कम प्रभाव डालते हैं। परन्तु जहाँ तक मूल मौजूद है, वहाँ तक वह उच्च साधक को दम नहीं लेने देता, यह प्रत्यक्ष अनुभव की बात है।

यद्यपि संज्वलन कोटि का क्रोध पानी पर खींची हुई रेखा के समान है। फिर भी इतनी उच्च भूमिका पर आरूढ़ आत्मा को इस रेखावत् क्रोध की विद्यमानता का भी अपार दुःख होता है; क्योंकि आत्मार्थी पुरुष को आत्मा में गड़ा हुआ यह काँटा पहले जितनी तकलीफ देता था, उसकी अपेक्षा अब आत्मा की समाधि-अवस्था के स्पर्श में विक्षेप डालकर अधिक पीड़ा देता है; इसलिए अधिक खटकता है। जैसे किसी तैराक को जलाशय का किनारा दिखने लगे, उसी समय उसके हाथ थक जाएँ या कोई जीव उसे पकड़कर हैरान करे तो उसे जितना दुःख होता है, वैसा और उतना ही दुःख इस तीरासन्न साधक को होता है। क्षमा क्रोध को जीतने का हथियार अवश्य है, मगर स्व-भाव की स्मृति (जागृति) स्थिर हुए बिना क्रोध का बीज जलता नहीं है। वह एक निमित्त को छोड़कर दूसरे मिमित्त के साथ साधक को भिड़ाकर दुःखित करता रहता है। यदि दुर्गुण के प्रति सही माने में

विरक्ति पैदा हो तो उस दुर्गुण के हटते ही सद्गुण उसकी जगह ले लेता है। क्रोध पर वास्तव में क्रोध हुआ हो तो विभाव को हटाकर स्व-भाव उसकी जगह ले लेगा। जो जितना अल्पक्रोधी होगा, वह उतना ही उदार और वात्सल्य-प्रेमी होगा।

सूक्ष्म मान कैसे पकड़ता है, उससे छुटकारा कैसे हो ?

इस प्रकार संज्वलन के क्रोध को पार करने के बाद मान की बारी आती है। इसलिए सातवें पद्य में कहा है–"**मान प्रत्ये दीनपणानुं मान जो।**"

–मान (गर्व, अहंकार या अभिमान) ही विश्व जितने विराट् स्वरूप (मनुष्य) को शरीर में पूरित करके रखता है। ठाठें मारते हुए वात्सल्यरस-सिन्धु को अमुक ही पात्र में बंद करके रखता है। अभिमानी मानव ज्यों-ज्यों अलग-थलग और अकेला होकर जाता है, त्यों-त्यों उसकी विकसित होती हुई शक्तियों का प्रवाह सिमटता और रुकता जाता है। एक साधारण मानव से लेकर सप्तम गुणस्थान के अधिकारी अप्रमत्त साधनाशील मानव में क्रोध का अभाव हो जाने पर भी न्यूनाधिकरूप में मान (अभिमान) कषाय का काँटा रहता है। यद्यपि इसमें साधारण मानवों की अपेक्षा मान सूक्ष्म रूप से रहता है, फिर भी ऐसा साधक मान के सूक्ष्म अंकुर को मिटाने के लिए तत्पर रहता है। सूक्ष्म मान के दर्द को वह अत्यन्त विनीत होकर मिटाता है। जब भी साधक के मन पर मान (अहंत्व, गर्व, मद आदि) का जरा-सा भी आक्रमण होता है, तभी वह तुरन्त सावधान होकर उसे अणु-स्वरूप हीनता, नम्रता, विनीतता, मृदुता, कोमलता, फकीरी के मान (सम्मान) के रूप में परिणत कर लेता है। ज्यों ही उसके मन में ऐसा विचार आता है कि 'मेरी महिमा के कितने सुन्दर गीत गाये जा रहे हैं?' त्यों ही वह इसके खिलाफ अपने मन को आन्दोलित करेगा–"अरे ! महिमागान तो नाथ का होता है, चाकर का नहीं।" मैं तो ज्ञानी पुरुषों का, वीतराग प्रभु का चरणकिंकर हूँ। इस शरीर की गाई जाने वाली 'महिमा तो दीनानाथ प्रभु की है; मैं तो उनके चरणों में समर्पित हो चुका हूँ'; ऐसा विचार साधक को अपरिमेय (असीम) विनयभावों की ओर खींच ले जायेगा। 'मैं बड़ा हूँ', इसके बदले 'मैं लघु से भी लघु हूँ', यह भाव आते ही ग्रन्थि भी टूट जायेगी कि 'मैं इसे कैसे नमन करूँ?' और हृदय भी सहज रूप से विशाल हो जायेगा। यह एक नैसर्गिक नियम है कि जो स्वयं को अणु से अणु मानता है, वही महान् से भी महान् बनता है। अर्थात् जिसे अणुरूप बनने के प्रति आदर है, वास्तव में वही महान् (दीनानाथ) बनता है। यहाँ दीनता दैन्य, हीनता, पामरता, तुच्छता या अपने में मानसिक अशान्ति के अर्थ में नहीं, अपितु नम्रता, निरभिमानता, निरहंकारता तथा विनीतता के अर्थ में विवक्षित है। यही कारण है कि परमात्मा के प्रति हृदय की इतनी दीनता (नम्रता या विनयशीलता करने वाला साधक सांसारिक प्रलोभनों के आगे पामर बनकर कदापि नहीं झुकता, न ही

संकटों के सामने दीन-हीन बनता है। वह अपने में आत्म-शक्तिरूपी पूँजी की अमीरी की विशेषता रखता है) फलतः आठवें गुणस्थान में पहुँचकर वह सूक्ष्म मान की बेड़ी को भी तोड़ डालता है; जबकि 'अहं ब्रह्मास्मि' कहने वाला ऐसे संकटों के अवसर पर पामर, दीन, कंगाल और कायर बन जाता है।

सूक्ष्म माया कैसे पकड़ती है, उससे छुटकारा कैसे हो ?

इतने सूक्ष्म बन्धनों से छूटने के बाद भी साधक को माया का मगरमच्छ पकड़ लेता है। 'मैं बड़ा हूँ' इसके बदले 'मैं लघु से लघु हूँ', यह भाव आया कि फिर 'मैं कैसे नमन करूँ?' यह ग्रन्थि टूट जाती है और हृदय सहज ही विश्व विशाल हो जाता है। फिर अपनी भूलों को नम्रतापूर्वक खुल्लमखुल्ला प्रगट करने आदि का उसे अनायास ही अभ्यास हो जाता है। ऐसे साधक में भी अमुक बात उत्तम है, परन्तु अमुक समय में और अमुक को ही कहने जैसी है; दूसरे को नहीं; ऐसी सात्त्विकता को भी छिपाने या अपने हृदय में संगृहीत करके रखने की वृत्ति रह जाती है। स्त्री-जन्म मिलने का कारण भी ऐसी सूक्ष्म माया है। जहाँ तक अस्पष्टता है, वहाँ तक माया है और माया है, वहाँ तक जन्म-मरण का चक्कर है।

ऐसे उच्च साधक में बहुत सूक्ष्म माया हो सकती है, अतः इससे छुटकारा पाने का उपाय बताया गया है–"**माया प्रत्ये माया साक्षी भावनी।**" अर्थात् माया भले ही हो, पर वह माया (यानी प्रीति) साक्षी भाव के प्रति हो। और ऐसी भूमिका में क्षपकश्रेणी वाला जीव इसी भाव को रखकर (नवम गुणस्थान में) माया को पार कर जाता है। अर्थात् जब भी माया करने (छिपाने) का भाव आया कि तत्काल उसका वह निराकरण कर लेता है। उधार बिलकुल नहीं रखता। ऐसे साधक को एक भी विकल्प का परिग्रह रखना नहीं पोसाता। वह तो साक्षीभाव में ही रहता है। जैसे–न्यायालय में वादी-प्रतिवादी कितने ही उबलें, एक-दूसरे पर गुस्से में कितने ही उछलें, परन्तु आदर्श साक्षी (प्रत्यक्ष द्रष्टा, गवाह) तो सिर्फ उसने जो कुछ देखा है, वही ठंडे कलेजे से कहता है, न तो अधिक, न ही कम। इसी प्रकार उच्च कोटि का साधक आत्मा न तो इसमें शामिल होता है, न उसमें। वह जल-कमलवत् निर्लेप रहता है। अगर वह मेरी बात जान लेगा, तो क्या होगा? इसके बदले–जहाँ सारा विश्व मेरा कुटुम्ब है; वहाँ मैं किससे और क्या छिपाऊँ? यह (साक्षी) भाव आया कि भले ही उस साधक के विचार, वाणी और व्यवहार (कार्य) एक कोने में प्रवर्तित हों, किन्तु उसका स्थान अखिल विश्व के हृदय में नियत (स्थापित) हो चुकेगा। अतः जितने अंश में साक्षीभाव के प्रति माया (प्रीति) बढ़ती है, उतना-उतना संसार (जन्म-मरण का चक्र) छूटता जाता है। इसके विपरीत जितने अंश में संसार के प्रति (मोह) माया लगती है, उतने अंश में साक्षीभाव छूट जाता है। साक्षीभाव का स्पष्ट सचोट और समता की पराकाष्ठा का चित्र कामविजेता

स्थूलभद्र मुनि के कोशावेश्या के यहाँ चातुर्मास निवास के प्रसंग से जान लेना चाहिए। साक्षीभाव के प्रति पूर्ण वफादारी के बिना ऐसी परिस्थिति में गर्व अथवा पतन से बचना अशक्य है।

सूक्ष्म लोभ की पकड़ से कैसे छूटें ?

इतनी उच्च भूमिका पर पहुँच जाने के बाद भी एक अन्तिम, किन्तु सबसे बड़ा आवरण सूक्ष्म लोभ है, जो आत्म-सूर्य के पूर्ण प्रकाश को रोके रखता है। उससे बचने के लिए कहा है-"**लोभ प्रत्ये नहि लोभ समान जो।**"-लोभ के समक्ष लोभ जैसा नहीं बनना; यह बात बहुत ही दुष्कर है। इससे पूर्व के पद्य में '**वीतलोभ**' की बात बताई गई थी। परन्तु यहाँ उससे भी ऊँची बात है। इतना उच्च साधक (नौवें गुणस्थान में) सूक्ष्म माया के भी सर्वथा छूट जाने पर स्वयं उसकी ओर खींचने का लोभ न करे, स्वयं किसी प्रकार की इच्छा (लोभ) न रखे, यह बहुत सम्भव है। परन्तु उसके पास खिंचकर कोई चला आए तथा गले ही पड़ जाए तो उसका क्या इलाज? वैसे तो कोई उक्त साधक के प्रति स्वयं आकर्षित होकर आये और गले ही पड़ जाए, उसके पीछे भी सूक्ष्म (कर्मोदयिक) कारण अपने में ही रहे हुए हैं, अन्यथा ऐसा कभी सम्भव नहीं होता। इसलिए ऐसा साधक न तो लोहा बने और न चुम्बक ही। लोभी को जैसे लोभ खींच लेता है, तो अन्त में लोभी और लोभप्रदाता दोनों ही पीड़ित होते हैं। वैसे ही ऐसे साधक में समस्त शक्तियाँ सांगोपांग रूप से विकसित हो जाने से जगत् उसकी ओर तारक या परमात्मा के रूप में निहारने लगता है। ऐसी स्थिति में यदि वह विचलित हो गया, अर्थात् वह अपनी अपूर्णता को पूर्णता मानकर अटक गया तो ठेठ पैंदे में जाकर बैठने का अवसर आ जाता है। वह स्वयं भी डूबता है और उसकी शक्तियाँ भी।[1]

क्षपकश्रेणी वाला साधक ऐसे प्रसंग पर ज्ञाता-द्रष्टा बनकर यह सब नाटक (तटस्थ भाव से) देखता रहता है। इसीलिए डोरी पर नाचते हुए नट की तरह वह अपनी सूरता (आत्म-ध्यान) निश्चल रूप से टिकाये रखता है और इस सारे इन्द्रजाल के तमाशे को उच्च भावों से अन्तर्मुहूर्त्त में ही निपटा (समेट) कर पुनः सदा के लिये (वीतराग के) सच्चे राजपथ पर आ जाता है। इस प्रकार की वर्णित भूमिका में धर्मध्यान और शुक्लध्यान दोनों होते हैं। परन्तु क्षपकश्रेणी वाले आत्मा के लिये अन्तिम प्रतिष्ठान क्षेत्र तो शुक्लध्यान ही है। उसी में उसे एकाग्र होना है।

---

१. (क) 'सिद्धि के सोपान' से भाव ग्रहण, पृ. ५२-५४
   (ख) उत्तराध्ययन, अ. २९, गा. ६७-७०
   (ग) दशवैकालिक, अ. ८, गा. ३७

अष्टम सोपान का उत्तरार्द्ध

अगले (अष्टम) पद्य में ऐसे उच्च कोटि के साधक की मनोदशा कैसी होनी चाहिए तथा उसका जीवनव्यापी परिणाम प्रगट में कैसा होगा? इसके लिए कहा गया है–

"बहु उपसर्गकर्ता प्रत्ये पण क्रोध नहि,
वंदे चक्री तथापि न मले मान जो।
देह जाय पण माया थाय न रोममां,
लोभ नहि छो, प्रबल सिद्धि-निदान जो॥८॥"

अर्थात् प्रत्यक्ष कोई भी कारण न हो, फिर भी बचने का कोई भी मौका दिये बगैर या सावधान किये बगैर प्राणों पर अकस्मात् आक्रमण करने वाले के प्रति भी लेशमात्र आवेश न आए। सत्ता, सम्पत्ति, शक्ति, साधना और शासन, इन पाँचों पदार्थों में सर्वोपरि समझे जाने वाले चक्रवर्ती का किसी के आगे नहीं झुकने वाला मस्तक भी झुक-झुककर उसकी चरण-धूलि अपने सिर पर चढ़ाए, फिर भी अभिमान का एक भी अंकुर पैदा न हो। शरीर जाता हो तो भले जाए, परन्तु मेरे एक भी रोम में माया का स्पर्श न हो। सारे संसार को अपने चमत्कार से प्रभावित कर दे, ऐसी प्रबल सिद्धियाँ (लब्धियाँ) स्वाभाविक रूप से हाथ जोड़े खड़ी हों, फिर भी पर-वस्तु में स्वयं न फँसे, सिर झुकाए हाजिर खड़ी सिद्धियों को भी संसार का प्रत्यक्ष कारण जानकर उससे आत्मा अलिप्त रहे। ऐसी उत्कृष्ट परिणामधारा दशम गुणस्थानवर्ती साधक की होनी अनिवार्य है।

एक-एक कषाय नष्ट होने की क्रमशः कसौटी कैसे होती है?

इतनी उच्च अप्रमत्त दशा जिसे सहज प्राप्त हो चुकी, उस साधक का अव्वल नम्बर का आध्यात्मिक शत्रु क्रोध तो नष्ट हो ही चुका, समझो। परन्तु क्रोध जड़मूल से चला गया, इसकी प्रतीति क्या? इसलिए उसकी मनोदशा का वर्णन किया गया है–

"बहु उपसर्गकर्ता प्रत्ये पण क्रोध नहि।"

क्रोध विनाश का पहला परिणाम यह आता है कि उपसर्ग करने वाले की दृष्टि से भी दिखाई देने वाला महान् उपसर्ग उसके लिए बोध और समभाव का महाप्रेरक साधन बन जाता है। वह उपसर्ग भी उसके लिए पूर्ण समभाव से आत्म-स्थिरतापूर्वक सह लेने से सर्वकर्मक्षयरूप मोक्ष का वरदान देने वाला हो जाता है। उसे यह भी प्रत्यक्ष बोध हो जाता है कि विश्व में होने वाली एक छोटी से छोटी घटना भी अहेतुक नहीं है।[१]

---

१. (क) 'सिद्धि के सोपान' से भाव ग्रहण, पृ. ५६
(ख) उत्तराध्ययन, अ. २, गा. ३८, ११, २६, ४३-४४
(ग) आचारांगसूत्र, श्रु. १, अ. ९, उ. ३, गा. ९

गजसुकुमार मुनि की उपसर्ग के समय आत्म-स्थिरता

गजसुकुमार मुनि का जीवन इसका ज्वलन्त साक्षी है। अपने जामाता गजसुकुमार को सोमल ब्राह्मण ने जब श्मशान भूमि में ध्यानस्थ खड़े देखा तो उसके मन में तीव्र वैर-भाव जाग उठा। सुनसान श्मशान के एक कोने में नंगे पैर मुण्डित सिर श्री गजसुकुमार मुनि कायोत्सर्ग में खड़े हैं। परिणामों की उत्तरोत्तर उन्नत धारा से उनकी आत्मा ऊपर अध्यात्म-गगन में उड़ रही है। क्षमा और शान्ति के शीतल फुहारों से चित्त शान्त और शीतल हो चुका है। ठीक उसी समय क्रोध के प्रति क्रोध स्वभावता की सिद्ध हुई साधना की कसौटी होती है।

सोमिल ब्राह्मण का पराकाष्ठा पर पहुँचा हुआ क्रोध पहले तो मर्मस्पर्शी तीव्र कठोर वाणी की चोट करता है। जब वह हथियार निष्फल हो गया तो मुनि के मस्तक के चारों ओर गीली मिट्टी की पाल बाँध एक चिता में से धधकते हुए खैर के अंगारे एक ठीकरे में भरकर लाता है और मुनि के मुण्डित मस्तक पर उँडेल देता है। बस फिर क्या था, मुनि के मस्तक की कोमल चमड़ी तड़ातड़ फटती हैं। सारे शरीर में अंगार-ज्वाला व्याप्त हो जाती है। परन्तु धीर-वीर, मुनिपुंगव गजसुकुमार की शुक्लध्यान-धारा जरा भी विचलित न हुई; क्योंकि उन्होंने इस प्रसंग को अपने पूर्वकृत कर्म का फल समझकर पूर्ण समभाव से भोगा और एकमात्र आत्म-शुद्धि की ओर ही अपनी दृष्टि रखी। उस समय मुनि ने अन्तरतम की गहराई में उतरकर यही सोचा कि मैं भले ही गजसुकुमार के देह में पूरित हूँ किन्तु स्वभाव से अखण्ड से अखण्ड और निर्बन्ध आत्मा हूँ। इसी से उन्होंने अनुभवजन्य आनन्द लूटा। अन्यथा, ऐसे प्रसंग में आत्म-स्थिरता नहीं रह सकती थी। गजसुकुमार मुनि का आवेशरहित प्रशमभाव अन्त तक तभी टिक सका, क्योंकि उनका मानकषाय सर्वथा नष्ट हो गया था। 'मैं गजसुकुमार हूँ। मुझ निर्दोष को इतना दण्ड !' यदि इतना भी (देह का) अभ्यास होता तो वे क्षमाशील भले ही रह सकते, परन्तु उनका बेड़ा पार न होता। 'अन्तकृद्दशांगसूत्र'[१] में कहा गया है– गजसुकुमार मुनि को पुनः शरीर नहीं धारण करना पड़ा। उनकी आत्मा अपुनरागमन धाम में पहुँच गई।

अनुकूल-प्रतिकूल मान-उपसर्ग के समय मन में दृढ़ समभाव रहे

ऐसे उच्च कोटि के क्षमाशील साधक में जरा-सा सूक्ष्म मान भी न रहे, इसके लिए कहा गया है–

"वंदे चक्री, तथापि न मले मान जो।"

---

१. देखें–अन्तकृद्दशासूत्र में गजसुकुमार मुनि का वृत्तान्त

सूक्ष्म मान (सम्मान) का अनुकूल उपसर्ग होने पर भी मन विचलित न हो, इसका ज्वलन्त उदाहरण है—महानिर्ग्रन्थ अनाथी मुनि का। चक्रवर्तीतुल्य मगध-सम्राट् श्रेणिक नृप का मस्तक वीतराग भगवान या वीतरागता-पथिक साधु-साध्वी के सिवाय अन्य के चरणों में नहीं झुकता था। एक दिन मंडीकुक्ष उद्यान में उसने एक ध्यानस्थ सौम्यमूर्ति, युवक मुनि को देखा। देखते ही उसके मन में विचार आया- कैसी भव्य मुखमुद्रा ! कितनी भव्य कान्ति ! मुनि ने जब कायोत्सर्ग पारित किया तो उनसे पूछा-"आपने इस यौवन अवस्था में, सर्वगुण-सम्पन्न होते हुए भी यह कठोर निर्ग्रन्थता का मार्ग क्यों अपनाया?" मुनि ने अति नम्रातिनम्र भाषा में कहा- "राजन् ! मैं अनाथ था।" श्रेणिक ने उन्हें प्रलोभित करने के लिए भक्तिभावपूर्वक कहा-"तो लो, मैं आपका नाथ बनता हूँ, मेरे पास सभी सुखभोग सामग्री है, वह आपको सौंपता हूँ।" परन्तु श्रेणिक नरेश की अपने प्रति अनुपम व अनुकूल भक्ति देखकर अनाथी मुनि ने नम्रातिनम्र अनाथ शब्द का प्रयोग करके उसे पूर्णतया हजमा करके सत्कार-सम्मान परीषह पर विजय प्राप्त कर ली। अनाथी श्रमण की ऐसी अकृत्रिम सहज व्यापकता देखकर तो श्रेणिक नृप को और अधिक आश्चर्य हुआ। मुनि को तो इससे भी अधिक ऊँचा उठना था। इस दृष्टि से उन्होंने अपनी अनाथता सिद्ध करके बता दी। अतः अन्त में मुनि के मुख से सनाथता-अनाथता का विवेचन सुनकर राजा को यह स्फुरणा हुई कि जिसे इतनी सहज-सिद्धि प्राप्त हुई है, फिर भी जो स्वयं को अनाथ बतलाता है, तो एकाध गाँव जीतने पर या अधीनस्थ राजाओं द्वारा मुझे नमन किये जाने पर मूँछों पर ताव लगाने वाला मैं किस बिसात में हूँ ! मुने के प्रेरणाप्रद विवेचन से श्रेणिक राजा को जबर्दस्त प्रेरणा मिली। अगर उस समय नृपति के द्वारा नमस्कार और प्रशंसात्मक वाक्यों से ऐसा अभिमान पैदा होता कि "मैं कुछ विशिष्ट व्यक्ति हूँ"; तो श्रेणिक के समक्ष वह निरभिमानतापूर्ण उद्गार नहीं प्रकट कर सकते थे और न ही श्रेणिक के मन पर इतना प्रबल प्रभाव भी पड़ता।

सूक्ष्म माया नाश की प्रतीति कैसे हो, कैसे नहीं ?

इस प्रकार मान को फिर भी नष्ट किया जा सकता है, किन्तु माया को नष्ट करना अतीव दुष्कर है। वैदिक पुराणों में आख्यान है कि माया की मोहनी में महादेव जैसे भी चक्कर खा गये और इतिहास-सिद्ध बात है कि धधकती खाई में भी शूरवीरों के अटल निश्चय-बल टिके रहे, किन्तु वे ही सुन्दरियों के मृदु-स्मित और कटाक्ष के मायाजाल के आगे विचलित हो गए। इसीलिए उच्च कोटि के साधक के लिए कहा है-"देह जाय, पण माया थाय न रोममां।"

माया के चार अर्थ और उन पर विजय का ज्वलन्त उदाहरण : सुदर्शन सेठ का

माया का अर्थ यहाँ वेदभाव (काम के कपटजाल) से सम्बन्धित है। इस सम्बन्ध में सुदर्शन सेठ का एक पूर्वार्द्ध जीवनचित्र प्रमाणरूप में प्रस्तुत किया जा सकता है।

जिन-जिनकी सुन्दरता पर अनेक सुन्दरियाँ आसक्त हो जायें, फिर भी जिनके एक *रोम में भी विकार जाग्रत न हो, ऐसे पुरुषों के उदाहरण विश्व में विरले ही हैं।* सुदर्शन सेठ के देह का सौन्दर्य दिव्य और मोहक था, उसके सौन्दर्य पर मोहित होकर उसी के नगर की राजरानी और रूपरानी एक बार एकान्त पाकर सेठ से अपनी कामवासना शान्त करने की अनिच्छनीय याचना करती है, योगियों का योग विचलित हो जाय, तपस्वी तपोभ्रष्ट हो जाय; ऐसे भयंकर क्षण में भी कामवासना से अलिप्त, अविचलित रहकर सुदर्शन महाराज को आँख के इशारे पर नचाने वाली उक्त मोहनी-शक्ति को उत्तर देते हैं—"राजमाता ! आप माता हैं, जगज्जननी हैं। जननी के हृदय पर शिशु का मुख होता है, हाथ नहीं। शिशु का मस्तक माता के चरणों में सुशोभित होता है। माँ ! आप तो अमरता की खान हैं, वात्सल्य रस पिलाइए और पीजिए। माँ, आपको कोटिशः वन्दन हो !" परन्तु रानी को वासना का नशा जोरदार चढ़ा हुआ था, सुदर्शन द्वारा दिया गया मातृत्वबोध सफल न हुआ। रानी के फेंके हुए पासे निष्फल हो गए। सुदर्शन की निश्चलता देखकर रानी का गर्विष्ट दिमाग सर्प की तरह फुफंकार उठा। वह जोर से चिल्लाई—"दौड़ो-दौड़ो ! यह बनिया मेरी लाज लूटने आया है।" सेठ पर आरोप लगा और झूठा होने पर भी सच्चा सिद्ध कर दिया गया। इज्जत मिट्टी में मिल गई, सेठ को शूली की सजा भी घोषित की गई। परन्तु सुदर्शन सेठ का एक रोम भी इस माया से कम्पित न हुआ। फलतः शूली उसके लिये सिंहासन बन जाय, इसमें कोई सन्देह नहीं।

माया का अर्थ मूर्च्छा करें तो भी सुदर्शन के लिये शूली का दण्ड घोषित किये जाने पर उसकी अपने शरीर पर मूर्च्छा नहीं थी। माया का अर्थ छल करें तो भी महारानी के छल के विरोध में उसने सत्य की ध्वजा स्पष्टतः फहराये रखी। माया का अर्थ भ्रान्ति करे तो भी रानी के सामने सुदर्शन अडोल और निर्भ्रान्त रहे, यों कहा जा सकता है। इस प्रकार शील की रक्षा करने में निर्मायी सुदर्शन सेठ का अद्वितीय दृष्टान्त है। इसी प्रकार शरणागत की रक्षा करने में क्षत्रिय-प्रण के पालन करने में अपने शरीर का बलिदान देने के लिए तत्पर निर्मायी मेघरथ राजा का दृष्टान्त प्रसिद्ध है।

"रघुकुल रीति सदा चली आई, प्राण जाय पर वचन न जाई।"

इस कहावत को चरितार्थ करने मर्यादा पुरुषोत्तम राम के प्रण-पालन का आदर्श चरित्र प्रसिद्ध है।

लोभरूप महाशत्रु पर विजय की प्रतीति कैसे हो ?

इतनी उच्च भूमिका पर आरूढ़ होने के बाद भी लोभरूप महाशत्रु को नहीं जीता, वहाँ तक सब काता-पींजा कपास के बराबर है। अतः ऐसे साधक के लिए लोभ की परीक्षा में उत्तीर्ण होने की प्रतीति के लिए कहा गया—"**लोभ नहि छो, प्रबल सिद्धि-निदान जो।**"

योग-साधना तथा तपःसाधना से प्राप्त होने वाली सिद्धियाँ या शरीरगत लब्धियाँ, जिनके पीछे संसार के अधिकांश जन पागल बने हुए हैं, वे प्राप्त हो जायें तो भी उनमें न फँसना, उनके चक्कर में न पड़ना, बहुत ही असाधारण और कठिन है।

प्रलोभन के दो अंग : लैंगिक और सिद्धियों का आकर्षण

प्रलोभन के मुख्यतया दो अंश हैं-(१) लैंगिक आकर्षण की अन्तिम सीमा, तथा (२) दिव्य सिद्धियों की प्राप्ति।

प्रथम प्रलोभन पर विजय का ज्वलन्त उदाहरण : सती राजीमती का

प्रथम प्रलोभन पर विजय प्राप्त की थी, सती राजीमती ने। एकान्त स्थान, असहाय (एकाकी) दशा, सद्यः अंगीकृत त्यागमय जीवन, तरुण एवं पूर्व-परिचित योगी रथनेमि द्वारा स्वयं कामयाचना; फिर भी साध्वी राजीमती निश्चल रहीं, डिगी नहीं। इतना ही नहीं, डिगते या संयम से विचलित होते हुए तरुण योगी को भी उन्होंने संयम में स्थिर किया। स्त्री-शक्ति की निर्भयता, निष्कम्पता और सर्वोत्कृष्ट प्रतिभा का यह उज्ज्वल चित्र है। साध्वी राजीमती की भूमिका वेदभाव (कामवासना) को पार कर चुकी थी, इसी कारण वे इतना कर सकीं और उस तरुण योगी रथनेमि की आत्मा भी उस भूमिका के अतिनिकट पहुँच गई थी, तभी तो वे उस महासती के उद्‌गारों को पचा सके। यह है लैंगिक आकर्षण की चरम सीमा पर विजय का ज्वलन्त उदाहरण !

प्रलोभन का दूसरा बड़ा अंग : निदानशल्य

प्रलोभन के इस एक अंग के जीत लेने पर भी यदि दूसरे निदानरूप बड़े अंग को जीतना बाकी रह गया तो लोभ पर सम्पूर्ण विजय नहीं समझा जायेगा। अर्थात् अणिमा, महिमा आदि अष्ट-सिद्धियों तथा सत्ता, धन, पद, अधिकार, चमत्कार आदि की उपलब्धियों आदि के चक्कर में न फँसना, इन फिसलनों से सर्वथा अलिप्त रहना अत्यन्त दुष्कर है। फिर भी कतिपय विरल आत्माएँ इन फिसलनों के मोहजाल से-निदान से युक्त होने की साधना में सफल हुए हैं।

निदानशल्यरूप लोभ पर हार और जीत

चित्त और सम्भूति दोनों मुनि सहोदर भाई थे। लगातार पाँच जन्मों तक अपने स्नेह सम्बन्ध के कारण विविध गतियों में बन्धुत्व भाव से पैदा हुए और जीए। छठे जन्म में एक ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती के रूप में और दूसरा चित्त मुनि के जीव के रूप में पृथक्-पृथक् रूप से जन्मे। छठे जन्म में दोनों की पृथक्ता का कारण यह बना- चित्त मुनि ने पूर्व-भव में घोर तपस्वी होते हुए भी अपनी आत्म-समृद्धि को सनत्कुमार चक्रवर्ती जैसे भौतिक समृद्धि के लिये बेचा नहीं, जबकि सम्भूति मुनि ने

चक्रवर्ती की रानी ने केश स्पर्श तथा चक्रवर्ती की समृद्धि को देखकर काम-भोग में लुब्ध होकर अगले जन्म में उसे पाने का निदान (नियाणा) कर चुका था।[1]

निदान से भौतिक विकास के साथ आध्यात्मिक घोर पतन

इसी निदान के कारण इतने-इतने विकास के पश्चात् एक का अधःपतन और अनिदान के कारण दूसरा उन्नति की पराकाष्ठा पर पहुँचा। इतने बड़े अन्तर की चौड़ी खाई पड़ जाने का कारण था—निदानशल्य। इस निदान के पीछे पड़कर तो न जाने कितने ज्ञानियों, ध्यानियों, तपस्वियों और योगिजनों ने अपनी उच्च साधना को धूल में मिला दिया है। जैनागम और धर्मग्रन्थ इसके साक्षी हैं। जिस साधक को प्रभु-कृपा से, स्व-पुरुषार्थ से शुद्ध आत्मपद में अडोल श्रद्धा प्राप्त हुई हो, वही प्रबल मोहोत्पादक प्रलोभनकारी भौतिक सिद्धियों—उपलब्धियों के निदान से अलिप्त रह सकता है।

भगवान महावीर की साधना में चारों कषायों पर विजय प्राप्त करने के अमोघ चित्र मिलते हैं। चण्डकौशिक विषधर के प्रचण्ड विष उगलने पर जरा भी कोप किये बिना वात्सल्यामृत सिंचन किया, यह क्रोधविजय का ज्वलन्त उदाहरण है। मगध-नरेश श्रेणिक की अनुपम भक्ति के बजाय, पूणिया श्रावक में उत्कृष्टता के दर्शन, मानविजय का ज्वलन्त उदारहण है। गोशालक ने भगवान महावीर के दो शिष्यों पर उनकी कृपा से प्राप्त तेजोलेश्या का प्रहार करके उसका दुरुपयोग किया, फिर भी 'गोशालक का कल्याण हो', इस प्रकार के सद्भावों में रमण, माया पर विजय का उदाहरण है तथा बार-बार दैवी तत्त्वों और आहारक-लब्धि, वैक्रिय-लब्धि आदि अनेक लब्धियों—सिद्धियों (चमत्कारपूर्ण अतिशयों) के उपस्थित होने पर भी उनसे निर्लिप्त रहे। उन पर जरा भी नजर न दौड़ाई। त्रिलोकीनाथ होते हुए भी पैदल विहार किया, सेवकों और भक्तों के अक्षय भण्डारों एवं भक्ति के बावजूद भी उन्होंने अमीरी भिक्षा ग्रहण करते रहे। इस प्रकार साधक जगत् को उन्होंने—'लोभ नहि, छो प्रबल सिद्धि-निदान जो' की दशा (लोभविजय) की शक्यता की प्रतीति करा दी।

इस प्रकार सातवें से लेकर बारहवें गुणस्थान तक के आत्म-विकास के सोपानों (गुणस्थानों) का साधनाक्रम, चारों कषायों पर सर्वांगी—सर्वतोमुखी विजय पूर्ण वीतरागता-प्राप्ति तथा शुद्ध आत्मा के मूल गुणरूप ज्ञानादि चतुष्टय की अनन्तता के दर्शन करा देता है।

---

१. (क) 'सिद्धि के सोपान' से भाव ग्रहण
(ख) देखें—उत्तराध्ययनसूत्र, अ. २२ में राजीमती का आख्यान
(ग) देखें—वही, अ. १३ में चित्त-सम्भूतीय संवाद।

नवम सोपान : द्रव्य-भावमय संयमरूप पूर्ण निर्ग्रन्थ-साधना की सिद्धि

'मैं सच्चा कैसे कहलाऊँ, मैं जन-समाज में अच्छा कैसे कहलाऊँ और मैं सुन्दर कैसे दीखूँ?' ये तीन प्रकार की भावनाएँ सभी जीवों में प्रायः प्रबल मात्रा में दिखाई देती हैं। ये भावनाएँ मूल में तो **'सत्यं शिवं और सुन्दरम्'** से अनुप्राणित आत्म-स्वरूप की हैं, इन्हीं का पूर्ण आध्यात्मिक रूप है—सत्, चित् और आनन्द की परिपूर्णता। किन्तु जहाँ तक देहाध्यास होता है, वहाँ तक 'मैं शरीर, मन और प्राण हूँ' ऐसा भान जीव को होता है, अथवा ऐसा भान होने की सम्भावना रहती है। इसलिए पूर्वोक्त त्रिपुटी का भाव शारीरिक चाल-ढाल, वाचिक बोलचाल तथा बौद्धिक हलचल और मानसिक संकल्प-विकल्पों में उतरकर कृत्रिमता का अधिकाधिक पोषण करता है। वह कृत्रिमता का पोषण इसलिए करता है कि आत्मा के मौलिक धर्म (स्वभाव) आत्मा से पृथक् शरीर आदि में स्वाभाविक रूप से कभी प्रादुर्भूत हो ही नहीं सकते। जो बातें आत्मा के धर्म (स्वभाव) में न हों, उन्हें औपचारिक रूप से लाने का प्रयत्न करना ही कृत्रिमता का पोषण कहलाता है।[१]

निर्ग्रन्थता : आत्मा के निजी स्वाभाविक गुणों को प्रगट करने का पुरुषार्थ

वस्तुमात्र का यह एक व्यापक और सनातन नियम है कि उसके स्वाभाविक गुणों को विकसित करने के लिये बाह्य व्यक्ति, साधन एवं सामग्री की सहायता की अपेक्षा बहुत कम रहती है; जबकि वैभाविक गुणों को बाह्य सामग्री की सहायता की बहुत जरूरत पड़ती है। परन्तु वे स्वाभाविक गुणों से परे होने के कारण स्थायी नहीं रहते और न ही वास्तविक प्रसन्नता प्राप्त करा सकते हैं। इसलिए अन्त में तो जीव को स्वाभाविक गुणों के विकास करने के राजमार्ग पर ही आना पड़ता है और पहले ली हुई सारी सहायता और मेहनत बेकार जाती है। इतना ही नहीं, इनके कारण आत्मा के स्वाभाविक गुण जितनी मात्रा में दब गये हैं, उतनी ही गहराई में जाकर उन्हें ऊँचा लाने का उसे प्रयत्न भी करना पड़ता है। इस दृष्टि से निर्ग्रन्थता का यह अर्थ सही उतरता है कि आत्मा के स्वाभाविक गुणों को प्रकट करके विकसित करने की उत्कृष्ट साधना। इस प्रकार जैसे उपर्युक्त कथन में भाव-संयम की दृष्टि मालूम हो जाती है, वैसे ही इस (अगले) पद्य में द्रव्य-संयम की दृष्टि पर भार दिया गया प्रतीत होता है। पूर्व पद्य में "सूक्ष्म जगत् में वह साधक कैसा होना चाहिए?" इसका दर्शन है, जबकि इस पद्य में यह बताया गया है कि "वह साधक अपने आप के प्रति स्थूल जगत् में कैसा होना चाहिए।"[२]

---

१. 'सिद्धि के सोपान' से भाव ग्रहण, पृ. ६६-६७

२. कोई क्रिया को कहत मूढ़मति, और ज्ञान कोई प्यारो रे।
मिलत भावरस दोऊ में प्रगटत, तू दोनों से न्यारो रे॥
चेतन ! अब मोहे दर्शन दीजे॥

"नग्नभाव मुण्डभाव सहअस्नानता,
अदन्तधावन आदि परम प्रसिद्ध जो।
केश, रोम, नख के अंगे शृंगार नहि,
द्रव्य-भाव-संयममय निर्ग्रन्थ सिद्ध जो॥९॥"

अर्थात् शरीर से दिगम्बर, मस्तक मुण्डित, स्नानभाव से पर तथा दतौन का एक टुकड़ा भी नहीं रखने वाले (अर्थात् वस्त्र, केश, स्नान और दतौन आदि), शरीर-प्रसाधन की प्रसिद्ध वस्तुओं का त्याग करने वाले, केश, रोम, नख या अंग पर लेशमात्र भी शृंगार न करने वाले साधक द्रव्य से और भाव से भी संयमी साधक पूर्ण सिद्ध निर्ग्रन्थ होता है। इस पूरे पद्य का आशय यह है कि "शरीर-सुकुमारता तथा देहविभूषा के लिए ऐसा निर्ग्रन्थ श्रमण किसी प्रकार की प्रवृत्ति न करे।"

दंतपंक्ति की शोभा, वस्त्राभूषणों से अंग पर टीपटाप, बालों की सजावट और स्नान-विलेपन आदि को रसशास्त्र में शृंगार रस के उद्दीपक साधन बताये गए हैं। इसलिए शान्त रस सरोवर में निरन्तर डुबकी लगाने वाले साधक के जीवन में सहज नहीं होते। अतः नग्नत्व, मुंडन, अस्नान, अदन्तधावन आदि भाव अपने आप के प्रति वफादारी रखकर सहज रूप में साधने चाहिए।

क्या इन साधारण जीवों को भी नग्न या मुंडित मान लिया जाय ?

यहाँ एक प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या लज्जा-निवारण या शील-रक्षा या संयम-यात्रा के लिये भी वस्त्र नहीं रखने चाहिए? मस्तक मुँड़ाना ही केवल मुण्डित होने का अर्थ है, क्रोधादि चार कषायों पंचेन्द्रिय-विषयों के प्रति राग-द्वेष से रहित–भाव से मुण्डित होना। क्या किसी भी हालत में नहाना या दाँत साफ नहीं करना चाहिए? इसी में ही सारी साधुता आ गई? यदि ऐसा है तो बहुत-से आदिवासी लोग बिलकुल नंगधड़ंग रहते हैं या केवल एक लँगोटी लगाकर रखते हैं, मस्तक मुँड़ाकर भी अनेक वेषधारी कुव्यसनों में डूबे हुए घूमते हैं, स्नान या दतौन न करने वाले भी तिब्बत आदि प्रदेशों के लोभ या आलस्य-मूर्ति व्यक्ति होते हैं, बालक और पशु भी नग्न रहते हैं, क्या इसी कारण उन्हें निर्ग्रन्थ मान लेना चाहिए?[१]

इसका उत्तर तीसरे चरण में दिया गया है–"केश, रोम नख के अंगे शृंगार नहि।" आशय यह है कि किसी व्यक्ति का मर्यादा सुरक्षित रखने की दृष्टि से (सभ्य समाज के बीच रहते हुए) सीधेसादे श्वेत वस्त्र, रक्षण के लिये पर्याप्त केश

---

१. 'सिद्धि के सोपान' से भाव ग्रहण, पृ. ७०-७१

एवं आरोग्य की दृष्टि से दाँत साफ रखने या अंग स्वच्छ रखते हुए भी शृंगारजन्य दोषों और विकारों से दूर रहना अशक्य नहीं है। परन्तु शृंगारजन्य विकारों और दोषों से दूर न रहे, खुद को और दूसरों को अपने शरीर के प्रति मोह बढ़े, इस प्रकार का आचरण हो तो वह साधक अशुभ कर्मबन्ध से दूर नहीं रह सकता। 'दशवैकालिकसूत्र' के अनुसार–" 'मैं सुन्दर कैसे दीखूँ ?' ऐसी शरीर-सौन्दर्यवृत्ति रखकर विभूषा में पड़ा हुआ भिक्षु चिकने कर्म बाँधता है। वह उन कर्मों के फलस्वरूप दुस्तर और घोर संसार-सागर में गिरता है।"[1] इसलिए इस पद्य में वर्णित कथन का तात्पर्य इतना ही है कि साधक कायिक मूर्च्छा न बढ़े, इस दृष्टि से मूर्च्छावर्धक अंगों से सावधान रहे। अर्थात् कायिक अमूर्च्छा सदा बनी रहे, इस प्रकार का व्यवहार होना चाहिए।

कोई साधक स्वादेन्द्रिय पर तो काबू न रखे और तले हुए, मिष्टान्न या दुष्पाच्य गरिष्ठ या मिर्च-मसालों से युक्त पदार्थ सेवन करता जाए, किन्तु दाँतों को साफ न रखे तो पायोरियां आदि दंतरोग होने की संभावना है। इसी तरह शरीर पर सतत वस्त्र लपेटे रखे और जमी हुई मैल की परत को शरीर पर से उतारे नहीं तो बदबू से सारा वातावरण गंदा होगा, जूँ, लीख आदि त्रीन्द्रिय जीवों की उत्पत्ति होगी और वह उनकी विराधना में निमित्त रूप बनेगा। सभ्य जनों के बीच रहते हुए भी नंगा फिरे तो वह नग्नत्व अपने और देखने वाले दोनों के लिए साधक के बदले प्रायः बाधक बनते हैं। मानव बुद्धि ने मनुष्य को प्रकृति से जितना दूर रखा, उतने ही अधिक टीपटाप, ऊपरी टीपटाप, साजसज्जा, आडम्बर और रागरंग संसार में बढ़े हैं। फलतः विकारी विकल्पों और देहमूर्च्छा के कारण होने वाले खानपान तथा रहन-सहन शरीर में पसीने और मैल की दुर्गन्ध को बढ़ा देते हैं। परन्तु जो साधक प्रकृति के 'सत्य, शिव और सुन्दर' की त्रिवेणी वाले मार्ग में विचरण करते हैं, उन्हें शरीर परिकर्म (शरीर सत्कार), शृंगार आदि की कोई खटपट नहीं करनी पड़ती। इसलिए इस भूमिका वाले साधक को कदाचित् स्नान, दंतधावन, केश प्रसाधन या वस्त्र-परिधान की जरूरत न पड़ती हो, फिर भी अंग-शुद्धि, मुख-शुद्धि, आरोग्य और स्वाभाविकता सुरक्षित रहती है, तो उसका प्रकाशमान सत्य-शिव-सुन्दर रूप विश्व-प्रेरक और सर्वाकर्षक बना रह सकता है। मगर इस भूमिका में पहुँचने की साधना में शरीर शृंगार या देहासक्ति (शरीर-मूर्च्छा) को उत्तेजित करने वाले साधनों से उतना ही दूर रहना चाहिए, जितना कि अंग-चेष्टादि द्वारा शृंगार-पोषण और कामोत्तेजन होने के खतरे से दूर रहा जाता है।

---

१. विभूसावत्तियं भिक्खू कम्मं बंधइ चिक्कणं।
संसार-सायरे घोरे, जे पडइ दुवरुत्तरे॥ *–दशवै., श्रु. ६, गा. ६६*

शृंगारोत्तेजक बाह्य साधनों के अतिसहवास से विरक्त वृत्ति को भी विकृत मार्ग की ओर मुड़ने का खतरा है।

इसीलिए अन्तिम चरण में स्पष्ट किया है–"द्रव्यभाव-संयममय निर्ग्रन्थ सिद्ध जो।' अर्थात् द्रव्य और भाव दोनों प्रकार से संयममय रहने से ही निर्ग्रन्थता सिद्ध होती है। द्रव्य और भाव, व्यवहार और निश्चय दोनों एक ही सिक्के की दो बाजू हैं। द्रव्य न हो, वहाँ भाव अकेला होता नहीं, तथैव भाव हो, वहाँ द्रव्य (दीखे या न दीखे) है ही। वहाँ अदृश्यरूप से द्रव्य रहता ही है। भाव मूल आत्मा है, उसकी शुद्धि या उस पर आई हुई विकृति की निवृत्ति के लिए द्रव्य से भी संयम रखना आवश्यक है। अर्थात् संयम की भावना और संयम का व्यवहार दोनों आवश्यक हैं, छद्मस्थ साधक की भूमिका में। ज्ञान और क्रिया दोनों मोक्ष के साधक होते हैं। ज्ञान का अर्थ यहाँ जिम्मेवारी का सक्रिय भान और क्रिया का अर्थ तदनुरूप मर्यादित संयम व्यवहार है। दोनों का सन्तुलन आवश्यक है।[१]

● ●

---

१. 'सिद्धि के सोपान' से भाव ग्रहण, पृ. ६९-७०

कर्म विज्ञान :
कर्म सिद्धान्त का विश्व कोष

■ लोकभाषा में कहा जाता है–'यथा बीज तथा फलं' जैसा बीज वैसा फल। न्यायशास्त्र की भाषा में इसको कार्य-कारणभाव और अध्यात्मशास्त्र की भाषा में इसे क्रियावाद या कर्म-सिद्धान्त कह सकते हैं। भगवान महावीर अपने को क्रियावादी कहते थे। क्रिया ही कर्म बन जाती है। जो क्रियावादी होगा, वह लोक-परलोकवादी होगा। परलोकवादी आत्मवादी होगा। आत्मवादी का जीवन धर्म, नीति, लोक व्यवहार सभी में आदर्श और सहज पवित्रता लिये होगा।

■ भगवान महावीर द्वारा प्रतिपादित कर्मवाद या कर्म-सिद्धान्त विश्व के समस्त दर्शनों और आचार शास्त्रों में एक तर्कसंगत, नीति नियामक सिद्धान्त है। यह अध्यात्म की तुला पर जितना खरा है, नीतिशास्त्र, समाजशास्त्र, न्यायशास्त्र और आचारशास्त्र की दृष्टि में भी उतना ही परिपूर्ण और व्यवहार्य है। संक्षेप में जो कर्म-सिद्धान्त को जानता है/मानता है और उसके अनुसार जीवन व्यवहार को संतुलित/संयमित रखता है वह एक आदर्श मानव, एक आदर्श नागरिक और आदर्श अध्यात्मवादी का जीवन जी सकता है।

जैनमनीषियों ने कर्मवाद या कर्म-सिद्धान्त पर बहुत ही विस्तार से सूक्ष्मातिसूक्ष्म चर्चा की है। जीवन और जगत् की सभी क्रिया-प्रतिक्रियाओं के फल की संगति बैठाकर उसे वैज्ञानिक पद्धति से व्याख्यायित करने का प्रयास किया गया है। जिसे आधुनिक भाषा में कर्म-विज्ञान कह सकते हैं। यह मनोविज्ञान और परामनोविज्ञान की दृष्टि से भी महत्वपूर्ण है।

अतीत से वर्तमान तक के सैंकड़ों विद्वान विचारकों, व लेखकों के तथ्यपूर्ण निष्कर्षों के प्रकाश में तथा पौराणिक एवं अनुभूत घटनाओं के परिप्रेक्ष्य यह कर्म विज्ञान पुस्तक आपको कर्म-सिद्धान्त का विश्व कोष प्रतीत होगा। आठ भागों में समाप्त यह पुस्तक पठनीय, मननीय और सन्दर्भ देने के लिए अत्यन्त उपयोगी है।

कर्म विज्ञान : जीवन का विज्ञान है

कर्म विज्ञान हमारे जीवन की प्रत्येक क्रिया का कारण, उसका फल (प्रतिक्रिया) और उसके निवारण (अवक्रिया) का वैज्ञानिक युक्तिसंगत समाधान देता है। मन की उलझी हुई अबूझ गुत्थियों और सृष्टि की विचित्र अप्रत्याशित/अलक्षित घटनाओं को जब हम 'प्रभु की लीला' या होनहार एवं नियति मानकर चुप हो जाते हैं, तब कर्मविज्ञान उनकी तह में जाकर बड़े तर्कपूर्ण व्यावहारिक ढंग से सुलझाता है। मन का **समाधान जीवन का समाधान देता है कर्म विज्ञान।**

—आचार्य श्री देवेन्द्र मुनि

❈ प्रकाशक ❈

श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय,
उदयपुर

कर्म विज्ञान